नमस्ते जी

ऋषि दयानंद द्वारा प्रचारित वैदिक विचारधारा ने सैकड़ो हृदय को क्रन्तिकारी विचारो से भर दिया | जो वेद उस काल में विचारो से भी भुला दिए गए थे | ऋषि दयानंद ने उन हृदयों को वेदों के विचारो से ओतप्रोत कर दिया और देश में वेद गंगा बहने लगी | ऋषि के अपने अल्प कार्य काल में समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, और व्यक्तिगत विचार धारा को बदल के रख दिया | ऋषि के बाद भी कही वर्षो तक यह परिपाटी चली पर यह वैचारिक परिवर्तन पुनः उसी विकृति की और लौट रहा है | और इसी विकृति को रोकने के लिए वैदिक विद्वान प्रो॰ राजेंद्र जी जिज्ञासु के सानिध्य में "पंडित लेखराम वैदिक मिशन" संस्था का जन्म हुआ है | इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदों को समाज रूपी शरीर के रक्त धमनियों में रक्त के समान स्थापित करना है | यह कार्य ऋषि के जीवन का मुख्य उद्देश्य था और यही इस संस्था का भी मुख्य उद्देश्य है | संस्था के अन्य उद्देश्यों में सम्लित है साहित्य का सृजन करना | जो दुर्लभ आर्य साहित्य नष्ट होने की और अग्रसर है उस साहित्य को नष्ट होने से बचाना और उस साहित्य को क्रम बद्ध तरीके से हमारे भाई और बहनों के समक्ष प्रस्तुत करना जिससे उनकी स्वाध्याय में रूचि बढ़े और वे तुलनात्मक अध्यन कर सकें जिससे उनकी स्वधर्म में रूचि बढ़े और अन्य मत मतान्तरो की जानकारी उन्हें प्राप्त हो और वे विधर्मियो द्वारा लगाये जा रहे विभिन्न आक्षेपों का उत्तर दे सकें विधर्मियो से स्वयं भी बचें और अन्यो की भी सहयता करें | संस्था का उद्देश्य है समाज के समक्ष हमारे गौरव शाली इतिहास को प्रस्तुत करना जिससे हमारा रक्त जो ठंडा हो गया है वह पुनः गर्म हो सके और हम हमारे इतिहास पुरुषो का मान सम्मान करें और उनके बताये गये नीतिगत मार्ग पर चलें | संस्था का अन्य उद्देश्य गौ पालन और गौ सेवा को बढ़ावा देना जिससे पशुओ के प्रति प्रेम, दया का भाव बढ़े और इन पशुओं की हत्या बंद हो, समाज में हो रहे परमात्मा के नाम पर पाखण्ड, अन्धविश्वास, अत्याचार को जड़ से नष्ट करना और परमात्मा के शुद्ध वैदिक स्वरुप को समाज के समक्ष रखना, हमारे युवा शक्ति को अनेक भोग, विबिन्न व्यसनों, छल, कपट इत्यादि से बचाना |

इन कार्यो को हम अकेले पूरा करने का सामर्थ्य नहीं रखते पर, यह सारे कार्य है तो बड़े विशाल और व्यापक पर अगर संस्था को आप का साथ मिला तो बड़ी सरलता से पूर्ण किये जा सकते है | हमारा समाजिक ढाचा ऐसा है की हम प्रत्येक कार्य की लिए एक दुसरे पर निर्भर है | आशा करते है की इस कार्य में आप हमारी तन, मन से साहयता करेंगे | संस्था द्वारा चलाई जा रही वेबसाइट www.aryamantavya.in और www.vedickranti.in पर आप संस्था द्वारा स्थापित संकल्पों सम्बन्धी लेख पड़ सकते है और भिन्न-भिन्न वैदिक साहित्य को निशुल्क डाउनलोड कर सकते है | कृपया स्वयं भी जायें और अन्यो को भी सूचित करे यही आप की हवी होंगी इस यज्ञ में जो आप अवश्य करेंगे यही परमात्मा से प्रार्थना करते है |

जिन सज्जनों के पास दुर्लभ आर्य साहित्य है एवं वे उसे संरक्षित करने में संस्था की सहायता करना चाहते हैं वो कृपया निम्न पते पर सूचित करें

ptlekhram@gmail.com

धन्यवाद् !

पंडित लेखराम वैदिक मिशन

आर्य मंतव्य टीम

ओ३म्

अथर्ववेदभाष्यम्

(प्रथमो भागः)

भाष्यकार :
पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

सम्पादक :
स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक :
श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धमार्थ न्यास
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी,
राजस्थान-३२२२३०

यह वेद श्री हरिश्चन्दजी साहित्यानी, दाहोद द्वारा प्रदत्त स्थिरनिधि के ब्याज द्वारा घाटा उठाकर दिया जा रहा है। हम आपके स्वास्थ्य, दीर्घायुष्य की कामना करते हैं। —प्रभाकरदेव आर्य

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी, (राज०)-३२२ २३०
दूरभाष : ०७४६९-२३४६२४, ०९३५१२६-७०४४८
चलभाष : ०-९४१४०-३४०७२

संस्करण : २०६३ विक्रमी संवत्, २००७ ई०

मूल्य : २५०.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान :
१. **टङ्कारा साहित्य सदन**
आर्यसमाज, हिण्डौन सिटी, (राज०) दूरभाष : ०७४६९-२३४९००
२. **श्री हरिकिशन ओमप्रकाश**
३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली-११०००६,
दूरभाष : २३९५८८६४
३. **श्रेष्ठ साहित्य सदन, सैंती, चित्तौड़गढ़ (राज०)**
शाखा-पहुँना, जिला-चित्तौड़गढ (राज०) दूरभाष : ०१४७१-२२२०६४
४. **डॉ० अशोकजी आर्य**
११६, मित्रविहार, मण्डी डबवाली, (हरियाणा)
५. **श्री गणेशदास-गरिमा गोयल,** २७०४, प्रेम-मणि निवास,
नया बाजार, दिल्ली-११००६, दूरभाष : ०११-५५३७९०७०
६. **श्री दयारामजी पोद्दार,** झारखण्ड राज्य आर्य प्रतिनिधि सभा,
आर्यसमाज मन्दिर, स्वामी श्रद्धानन्द पथ,
राँची (झारखण्ड)-८३४ ००१
७. **श्री राजेन्द्रकुमार,** १८, विक्रमादित्यपुरी, स्टेट बैंक कालोनी,
बरेली (उ०प्र०) दूरभाष : ०५८१-२५४३९४४

शब्द-संयोजक : **स्वस्ति कम्प्यूटर्स,** कैलाशनगर, दिल्ली
दूरभाष : ०९२५५९-३५२८९, ०१७४५-२७४५६८ (निवास)

मुद्रक : **राधा प्रेस,** कैलाशनगर, दिल्ली-११० ०३१

भूमिका

वेद सृष्टि के आदि में परमात्मा द्वारा दिया गया दिव्य, अनूठा, अनुपम ज्ञान है। वेद सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं। यह ज्ञान सारे संसारवासियों और मनुष्यमात्र के लिए है।

वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। चारों वेद चार ऋषियों के हृदय में एक-साथ प्रकट हुए। ऋषियों ने वेद की रचना नहीं की। यह ज्ञान तो परमात्मा ने अपनी करुणा और कृपा से उनके हृदय में उँडेल दिया था। ऋषि मन्त्रों के निर्माता नहीं थे, वे केवल मन्त्रों के अर्थों के साक्षात्कर्त्ता थे।

ऋग्वेद ज्ञानकाण्ड है। यजुर्वेद कर्मकाण्ड है। सामवेद उपासनाकाण्ड है और अथर्ववेद विज्ञानकाण्ड है। भाष्यकार के शब्दों में ऋग्वेद मस्तिक का वेद है, यजुर्वेद हाथों का वेद है। सामवेद हृदय का वेद है और अथर्ववेद उदर=पेट का वेद है। उदर-विकारों से ही नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। इस वेद में नाना प्रकार की ओषधियों का वर्णन करके शरीर को नीरोग, स्वस्थ और शान्त रखने के उपायों का वर्णन है।

राष्ट्र में उपद्रव और अशान्ति होने पर राष्ट्र की सुरक्षा के लिए नाना प्रकार के भयंकरतम अस्त्र और शस्त्रों का वर्णन भी इस वेद में है। इसप्रकार यह युद्ध और शान्ति का वेद है। यही इस वेद का प्रमुख विषय है।

अर्थवेद में बीस काण्ड, ७३१ सूक्त और ५९७७ मन्त्र हैं। सबसे छोटा सूक्त एक मन्त्र का है। एक-एक, दो-दो और तीन-तीन मन्त्रों के अनेक सूक्त हैं। सबसे बड़ा सूक्त ८९ मन्त्रों का है।

इस वेद को ब्रह्मवेद भी कहते हैं। इस वेद के अनेक सूक्तों में ब्रह्म=परमेश्वर का हृदयहारी वर्णन है, जिसे पढ़ते-पढ़ते पाठक भावविभोर हो उठता है। वह अध्यात्म के सरोवर में डुबकियाँ लगाने लगता है। ऐसे कुछ सूक्त हैं—२। १; ४। २; ४। १६ आदि।

गृहस्थ के सौहार्द का जो मनोहारी वर्णन ३। ३० में किया है, उसकी छटा देखते ही बनती है। इसी प्रकार का एक सूक्त ७। ६२ भी है। इन सूक्तों में वर्णित शिक्षाओं पर आचरण किया जाए तो घर निश्चय ही स्वर्ग बन जाए। चौदहवाँ काण्ड तो सारा ही दाम्पत्य सूक्त है, जिसमें पति-पत्नी के कर्त्तव्यों तथा विवाह के नियमों और गृहस्थ की मान-मर्यादाओं का उत्तम विवेचन है।

बारहवें काण्ड का प्रथम सूक्त संसार का प्रथम राष्ट्रगीत है। इसमें एक आदर्श राष्ट्र और उसकी रक्षा के उपायों का सर्वाङ्गीण चित्रण हुआ है। वेद ने सारे संसार को एक सार्वभौम राज्य माना है और भूमिमाता के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने की प्रेरणा दी है।

पाश्चात्यों के अनुसार अथर्ववेद जादू-टोने का वेद है। इसमें शत्रुओं के मारण, मोहन और उच्चाटन का वर्णन है। इसमें कृत्या द्वारा शत्रु-हनन के प्रयोग हैं। ये सारी धारणाएँ भ्रान्त हैं। इस भाष्य को पढ़ने से इस भ्रान्त धारणा का उन्मूलन हो जाएगा।

'ऋग्वेद पहले बना। तत्पश्चात् यजुर्वेद और सामवेद का संकलन हुआ और सबसे बाद में अथर्ववेद बना', यह विचारधारा भी आधारशून्य है। जब ऋग्वेद और यजुर्वेद में चारों वेदों के नाम दिये हुए है, तब अथर्ववेद को अथवा किसी भी वेद को बाद का बना कैसे माना जा

सकता है?

पहले वेद एक था महर्षि व्यास ने इसके चार भाग किये, यह मान्यता भी थोथी है। वेद में चारों वेदों का उल्लेख है—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

—ऋ० १०। ९०। ९

इस मन्त्र में **ऋचः**=ऋग्वेद, **सामानि**=सामवेद, **छन्दांसि**=अथर्ववेद और **यजुः**=यजुर्वेद चारों वेदों के नाम दिये हुए हैं।

चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः।

—गोपथ० १। २। १६

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः॥

—मुण्डक० १। १। ५

इसप्रकार के अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं।

अथर्ववेद पर पं० क्षेमकरणदासजी त्रिवेदी, पं० जयदेवजी शर्मा विद्यालङ्कार, पं० दामोदरजी सातवलेकर, पं० विश्वनाथजी विद्यामार्तण्ड के भाष्य उपलब्ध हैं। हमारे विचार में पण्डित हरिशरणजी का भाष्य इन सबसे अनूठा है। इसे सरल तो बनाया ही गया है, परन्तु भाष्यकार ने न तो कहीं खेंचातानी की है और न ही मनमाने अर्थ किये हैं। जहाँ कोई विशेष अर्थ किया है, वहाँ प्रमाण में प्राचीन ग्रन्थों—यथा ब्राह्मणग्रन्थों, निरुक्त, उणादिकोश, निघण्टु, व्याकरण आदि के उद्धरण दिये हैं। अर्थ पढ़ते-पढ़ते भाव हृदयपटल पर अङ्कित हो जाता है। हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि पाठक इसे अपनाएँगे, रुचिपूर्वक इसका अध्ययन करेंगे और अपने जीवनों को सफल बनाएँगे।

वेद प्रकाशन का गुरुतर कार्य हाथ में ले लिया है। साधन सीमित हैं। व्यय बहुत अधिक है, फिर भी पूर्ण शक्ति के साथ लगा हुआ हूँ। प्रभुकृपा से शीघ्र पूरा करने का प्रयत्न करूँगा।

विदुषामनुचरः
—जगदीश्वरानन्द सरस्वती

वेद सदन
एच-१। २ मॉडल टाउन
दिल्ली- ११०००९

ओ३म्

अथर्ववेदभाष्यम्

दो शब्द

ऋग्वेद 'विज्ञानवेद' होता हुआ मस्तिष्क का वेद है तो यजुर्वेद 'कर्मवेद' होता हुआ हाथों का वेद कहा जाता है। 'उपासनावेद' रूप सामवेद का सम्बन्ध हृदय से है और अथर्ववेद का सम्बन्ध इससे निचले भाग उदर से ही होना चाहिए। वस्तुतः उदर-विकार से ही सब रोग व युद्ध हुआ करते हैं और इस अथर्व में हम आयुर्वेद (Science of Medicine) तथा युद्धवेद (Science of War) को विस्तार से देखते हैं। इन विकारों से ऊपर उठाकर यह वेद हमें ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य बनाता है, अतः यह 'ब्रह्मवेद' कहाता है। इन विकारों से बचने का सङ्केत यह प्रथम मन्त्र में ही 'वाचस्पति' शब्द से कर रहा है। यदि हम वाक् व जिह्वा के पति बन जाएँ तो न तो लड़ाइयाँ ही हों और न ही रोग। सब लड़ाइयाँ बोलने के असंयम के कारण होती हैं और सब रोग खाने में असंयम के कारण। यदि ये दो संयम परिपक्व हो जाएँ तो कोई गड़बड़ ही न हो–'Eating little and speaking little can never do harm.' इसके विपरीत 'अतिभुक्तिरतीवोक्तिः सद्यः प्राणापहारिणी'। इस अथर्व का आरम्भ आचार्य द्वारा शिष्य को उपदेश करने से होता है। यह आचार्य 'अथर्वा' है (न थर्व) डाँवाडोल वृत्तिवाला नहीं। यह स्थितप्रज्ञ 'अथर्वा' ही इन मन्त्रों का ऋषि है। यह आचार्य विद्यार्थी को पूर्ण स्वस्थ जीवन बिताने के लिए शिक्षित करता है—

अथ प्रथमं काण्डम्

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वाचस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

संसार के घटकभूत इक्कीस तत्त्व

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥ १॥

१. 'महत्तत्त्व, अहङ्कार व पञ्च तन्मात्राएँ'—ये सात तत्त्व हैं, जो संसार के सब रूपों का निर्माण करनेवाले हैं। 'सत्त्व, रजस् व तमस्' के भेद से ये तीन-तीन प्रकार के हैं। इसप्रकार ये **त्रिषप्ताः**=जो तीन गुणा सात=इक्कीस तत्त्व हैं, **विश्वा रूपाणि बिभ्रतः**=सब रूपों का धारण करते हुए **परियन्ति**=चारों ओर गति करते हैं और सर्वतः व्याप्तिवाले होते हैं। २. **वाचस्पतिः**=सम्पूर्ण वाङ्मय का स्वामी आचार्य **तेषाम्**=उन इक्कीस तत्त्वों के **तन्वः**=शरीर-सम्बन्धी **बला**=शक्तियों को **अद्य**=आज **मे**=मुझमें **दधातु**=धारण करे। जो तत्त्व ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं, वे ही तत्त्व हमारे इन पिण्डों (शरीरों) का भी निर्माण करनेवाले हैं। उन सब तत्त्वों की शक्ति शरीर में सुरक्षित रहेगी तभी हम पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त करेंगे। ३. एवं, यह स्पष्ट है कि आचार्य से दिये जानेवाले ज्ञान का मूल-विषय संसार के ये इक्कीस तत्त्व ही होने चाहिएँ। इनका हमारे जीवन

कि हम **शरस्य**=शर के **पितरम्**=जन्म देनेवाले **शतवृष्ण्यम्**=शतशः शक्तियोंवाले अथवा सौ वर्ष तक शक्ति को स्थिर रखनेवाले **पर्जन्यम्**=मेघ को **विद्म**=जानते हैं। वृष्टिजल से इस शर की उत्पत्ति हुई है और वृष्टिजल ने मेघ की शक्तियों को इस शर में स्थापित किया है। २. **तेन**=उस शर से **ते**=तेरे **तन्वे**=शरीर के लिए **शम्**=शान्ति **करम्**=करता हूँ। इस उद्देश्य से **ते**=तेरे **पृथिव्याम्**=पृथिवीरूप शरीर में **निषेचनम्**=इस शर के रस का निषेचन होता है और इसके परिणामस्वरूप शरीर का सब दोष **बाल् इति**=क्योंकि यह शर शरीर को प्राणित करनेवाला है, (बल प्राणने), अतः **बहिः अस्तु**=बाहर हो जाए। शर में प्राणित करने की शक्ति है, इस कारण इसके रस का शरीर में निषेचन होने पर शरीर निर्दोष हो जाता है।

भावार्थ—शर मेघ-जल से उत्पन्न होने के कारण शतशः शक्ति-सम्पन्न है, अतः यह शरीर को निर्दोष बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

मित्र (अहन्)

वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॑ मि॒त्रं श॒तवृ॑ष्ण्यम्।
तेना॑ ते त॒न्वे॒३ शं क॑रं पृथि॒व्यां ते॑ नि॒षेच॑नं ब॒हिष्टे॑ अस्तु॒ बालिति॑॥ २॥

१. हम **शरस्य**=शर के **पितरम्**=जन्म देनेवाले **शतवृष्ण्यम्**=शतशः शक्तियोंवाले **मित्रम्**=अहन् (दिन) को (अहोरात्रौ वै मित्रावरुणौ—तां० २५।१०।१०) **विद्म**=जानते हैं। दिन में सूर्य का प्रकाश इस शर में अपनी शतशः शक्तियों को स्थापित करता है। २. **तेन**=उस शर से **तन्वे**=तेरे शरीर के लिए **शं करम्**=शान्ति करता हूँ। **ते पृथिव्याम्**=तेरे पृथिवीरूप शरीर में **निषेचनम्**=इस शर से रस का निषेचन हो और **बाल् इति**=क्योंकि यह शर प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला है, अतः **ते**=तेरे शरीर से सब दोष **बहिः अस्तु**=बाहर निकल जाए।

भावार्थ—दिन में शर सूर्य-किरणों से अपने में प्राण-शक्ति लेता है और इसप्रकार हमें शतवर्षपर्यन्त शक्तिशाली बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

वरुण (रात्रि)

वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॒ वरु॑णं श॒तवृ॑ष्ण्यम्।
तेना॑ ते त॒न्वे॒३ शं क॑रं पृथि॒व्यां ते॑ नि॒षेच॑नं ब॒हिष्टे॑ अस्तु॒ बालिति॑॥ ३॥

१. हम **शरस्य**=शर के **पितरम्**=पितृभूत **वरुणम्**=रात्रि को **विद्म**=जानते हैं। यह वरुण भी **शतवृष्ण्यम्**=शतशः शक्तियों को देनेवाला है। इस रात्रिरूपी वरुण में चन्द्रमा ओषधीश होने के कारण सब ओषधियों में रस का सञ्चार करता है। इस शर को भी वह रसान्वित करता है। २. **तेन**=इस शर के द्वारा **ते तन्वे**=तेरे शरीर के लिए **शं करम्**=शान्ति करता हूँ। **ते पृथिव्याम्**=तेरे इस पृथिवीरूप शरीर में **निषेचनम्**=इस रस का सम्यक् सेचन हो और **बाल् इति**=क्योंकि यह शर प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला है, अतः **ते बहिः अस्तुः**=तेरे शरीर से सब दोष बाहर हो जाएँ। शर का प्रयोग शरीर को निर्दोष बनाता है।

भावार्थ—चन्द्रमा से रस प्राप्त करके शतशः शक्तियों से युक्त यह शर हमारे शरीर को निर्दोष व स्वस्थ बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

चन्द्र

वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॑ च॒न्द्रं श॒तवृ॑ष्ण्यम्।
तेना॑ ते त॒न्वे॒३ शं क॑रं पृथि॒व्यां ते॑ नि॒षेच॑नं ब॒हिष्टे॑ अस्तु बालिति॑॥ ४॥

१. हम **शरस्य**=शर के **पितरम्**=पितृस्थानभूत **शतवृष्ण्यम्**=शतशः शक्तियों को जन्म देनेवाले **चन्द्रम्**=चन्द्र को **विद्म**=जानते हैं। यह चन्द्रमा शरादि ओषधियों में रस का सञ्चार करता है और ओषधियों को पुष्ट कर उन्हें आह्लादजनक बनाता है। २. **तेन**=इस शर से **ते तन्वे**=तेरे शरीर के लिए **शं करम्**=मैं शान्ति करता हूँ। **ते पृथिव्याम्**=तेरे पृथिवीरूप शरीर में **निषेचनम्**=इस शर के रस का निषेचन होता है और इस निषेचन के द्वारा **बाल् इति**=क्योंकि यह प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला है, अतः **ते बहिः अस्तु**=तेरे शरीर का सारा दोष शरीर से बाहर हो जाए। इसप्रकार तीसरे मन्त्र की भावना ही यहाँ स्पष्टरूप से प्रतिपादित हो गई है।

भावार्थ—शर प्राणशक्ति के सञ्चार के द्वारा हमारे शरीरों को निर्दोष बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

सूर्य

वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॒ सूर्यं॑ श॒तवृ॑ष्ण्यम्।
तेना॑ ते त॒न्वे॒ ३ शं क॑रं पृथि॒व्यां ते॑ नि॒षेच॑नं ब॒हिष्टे॑ अस्तु बालिति॑॥ ५॥

१. हम **शरस्य**=शर के **पितरम्**=पितृभूत **शतवृष्ण्यम्**=शतशः शक्तियों के उत्पादन में उत्तम **सूर्यम्**=इस सूर्य को **विद्म**=जानते हैं। २. इस सूर्य के द्वारा उस शर में सब प्राण स्थापित किये जाते हैं, **तेन**=उस प्राणशक्ति-सम्पन्न शर से **ते तन्वे**=तेरे शरीर के लिए मैं **शं करम्**=शान्ति करता हूँ। **ते पृथिव्याम्**=तेरे पृथिवीरूप शरीर में **निषेचनम्**=इस शर के रस का सेचन होता है और **बाल् इति**=क्योंकि यह प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला है, अतः **ते बहिः अस्तु**=तेरे शरीर से सब दोष बाहर हो जाए।

भावार्थ—सूर्य से शक्ति-सम्पन्न होकर शर हमारे शरीरों को निर्दोष बनाता है।

सूचना—इस सूक्त के पाँच मन्त्रों में से प्रथम मन्त्र में पर्जन्य को शर का पिता कहा गया है, चतुर्थ में चन्द्र को तथा पाँचवें में सूर्य को। द्वितीय और तृतीय मन्त्र में मित्र और वरुण इस शर के पिता हैं। ये मित्र और वरुण वस्तुतः '**प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ**' इस शतपथवचन (१।८।३।१२) के अनुसार प्राण और उदान हैं। 'प्राण' अम्लजन है और 'उदान' उद्रजन है। ये दोनों मिलकर ही प्रथम मन्त्र के पर्जन्य का निर्माण करते हैं। एवं, ये दोनों मन्त्र प्रथम मन्त्र के व्याख्याभूत हो जाते हैं। **अर्धमासौ वै मित्रावरुणौ, य एव आपूर्यते स वरुणः, यो उपक्षीयते स मित्रः**(शतपथ २।४।४।१८) के अनुसार मित्र और वरुण कृष्ण व शुक्लपक्ष हैं और इनका सम्बन्ध चतुर्थ मन्त्र के चन्द्र से है। '**अहोरात्रौ वै मित्रावरुणौ**' (तां० २५।१०।१०) के अनुसार मित्र और वरुण दिन और रात हैं जिनका निर्माण सूर्य के अधीन है। यह सूर्य ही पञ्चम मन्त्र में शर का पितर कहा गया है। इस सारे विवेचन से यह स्पष्ट है कि मित्र और वरुण का सम्बन्ध 'पर्जन्य, चन्द्र और सूर्य' तीनों से है। यहाँ मित्र-वरुण के एक ओर पर्जन्य है तो दूसरी ओर चन्द्र और सूर्य। इस क्रम द्वारा भी उपर्युक्त सम्बन्ध सङ्केतित हो रहा है। इस सूक्त के पाँच मन्त्रों में पर्जन्य आदि पाँच को शर का पिता कहा गया है। वे सब शर में शतशः शक्तियों का आधान करते हैं और इसप्रकार हमारे शरीरों को निर्दोष बनाता है। इस सूक्त के

अगले चार मन्त्रों में मूत्र-दोष निवारण का उल्लेख है। इस दोष के दूरीकरण पर ही स्वास्थ्य का बहुत कुछ निर्भर होता है—

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'मूत्र-निरोध'-निवारण

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रुतम्।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥ ६॥

१. **यत्**=जो **मूत्रम्**=मूत्र-जल **आन्त्रेषु**=आँतों में, **गवीन्योः**=मूत्र-नाड़ियों में, **यत्**=जो **वस्तौ**=मूत्राशय में **अधिसंश्रुतम्**=(श्रवति=to go, move) गतिवाला हुआ है—वहाँ एकत्र हो गया है, **ते मूत्रम्**=तेरा वह मूत्र-जल **एव**=शर के प्रयोग से इसप्रकार **बहिः मुच्यताम्**=बाहर छूट जाए, **इति**=जिससे कि **सर्वकम्**=सम्पूर्ण शरीर **बाल्**=प्राणशक्ति-सम्पन्न बने। २. शरीर में मूत्र के रुक जाने से शरीर में विष फैल जाता है और तब यूरेमिया आदि रोग मृत्यु का कारण बनते हैं। मूत्र द्वारा ये विष शरीर से बाहर हो जाते हैं। इन विषों के निकल जाने पर शरीर के सब अङ्ग ठीक से प्राणशक्ति-सम्पन्न हो जाते हैं।

भावार्थ—शर का प्रयोग हमें मूत्र-निरोध आदि रोगों से मुक्त करे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मेहन-प्रभेद

प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्याइव।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥ ७॥

१. मूत्र-निरोध से पीड़ित व्यक्ति को आथर्वणी चिकित्सा में निपुण वैद्य कहता है कि मैं **ते मेहनम्**=तेरे मूत्रद्वार को इसप्रकार **प्रभिनद्मि**=खोल देता हूँ **इव**=जैसेकि **वेशन्त्याः वर्त्रम्**=एक महान् सरोवर के बन्ध को खोल देते हैं। २. **एव**=इसप्रकार करने से **ते मूत्रम्**=शरीर में रुका हुआ यह मूत्र-द्रव **बहिः मुच्यताम्**=बाहर निकल जाता है। इसके साथ ही निरुद्ध विष भी निकल जाते हैं और **इति**=इस व्यवस्था से **सर्वकम्**=शरीर के सब अङ्ग **बाल्**=(बल सञ्चरणे) ठीक से कार्य करने लगते हैं।

भावार्थ—मूत्र-द्वार का विकार दूर होकर मूत्र-द्रव बाहर हो और शरीर निर्विष बने।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मूत्राशय का उद्बन्धन

विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥ ८॥

१. गतमन्त्र का वैद्य ही कहता है कि **ते**=तेरा **वस्तिबिलम्**=मूत्राशय का द्वार मैंने ऐसे **विषितम्**=खोल दिया है, **इव**=जैसेकि **उदधेः**=जल के धारण करनेवाले **समुद्रस्य**=समुद्र का द्वार खोल दिया जाता है। २. **एव**=इस व्यवस्था से **ते**=तेरा यह **मूत्रम्**=नाना विषों से युक्त मूत्र-द्रव **बहिः मुच्यताम्**=बाहर निकल जाए और **इति**=इसप्रकार **सर्वकम्**=शरीर के सब अङ्ग **बाल्**=पुनः अपने में जीवन-शक्ति का सञ्चय (Hoard again) करनेवाले हों।

भावार्थ—मूत्राशय का उद्बन्धन होकर सविष मूत्र-द्रव शरीर से पृथक् हो और शरीर में पुनः शक्ति-सञ्चय हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मूत्रावसर्जन

यथेषुका परापतदवसृष्टाऽधि धन्वनः।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥ ९॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **अधिधन्वनः**=धनुष् पर से **अवसृष्टा**=छोड़ा हुआ **इषुका**=बाण **परापतत्**=सुदूर जा गिरता है, **एव**=इसीप्रकार बन्धनों के हट जाने पर (अवसृष्ट) **ते मूत्रम्**=तेरा यह विषैला मूत्र-द्रव **बहिः मुच्यताम्**=बाहर छूट जाए और **इति**=इसप्रकार **सर्वकम्**=तेरे सारे अङ्ग **बाल्**=सबल हो जाएँ। २. मूत्र-द्रव के ठीक प्रकार से बाहर निकल जाने पर ही स्वास्थ्य का बहुत कुछ निर्भर करता है, अतः वैद्य इसकी व्यवस्था करके रुग्ण पुरुष को नीरोग बनाने के लिए यत्नशील होता है।

भावार्थ—मूत्र-प्रवाह के ठीक होने से शरीर नीरोग रहता है।

विशेष—इन मन्त्रों में कहा है कि—मूत्र-निरोध का निवारण किया जाए (६)। आवश्यक होने पर मेहन-प्रभेद किया जाए (७)। मूत्राशय के द्वार को खोला जाए (८)। मूत्रावसर्जन होकर शरीर नीरोग हो (९)। इस स्वास्थ्य के लिए जल का प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है—

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मधुमिश्रित पय

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। पृञ्चतीर्मधुना पयः॥ १॥

१. प्रभु ने वेद के द्वारा जीव को यज्ञों का उपदेश दिया है। इन यज्ञों व अध्वरों को अपनानेवाले व्यक्ति प्रभु के सच्चे पुत्र हैं। ये प्रभु आज्ञा को पालते हुए प्रभु का समादर करते हैं—'**तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्**'। इन यज्ञों के द्वारा वृष्टि की व्यवस्था करके प्रभु नदियों का प्रवाह चलाते हैं एवं, ये नदियाँ प्रभु की पुत्रियों के समान हैं। यज्ञशील पुरुष प्रभु के पुत्र हैं और नदियाँ यज्ञशील पुरुषों की बहिनों के रूप में यहाँ चित्रित हुई हैं। २. **अध्वरीयताम्**=यज्ञशील पुरुषों की **जामयः**=बहिनों के तुल्य **अम्बयः**=('अवि शब्दे' से अम्बि, जैसे 'नद शब्दे' से नदी) नदियाँ **अध्वभिः यन्ति**=मार्गों से चलती हैं। नदी का मार्गों से चलने का महत्त्व यह है कि न तो वे सूख ही जाती हैं और न ही उनमें पूर (Flood) आते हैं। इसप्रकार ये नदियाँ इन यज्ञशील पुरुषों का उसी प्रकार हित करती है जैसे बहिन भाई का। ३. ये नदियाँ यज्ञों से उत्पन्न होने के कारण **पयः**=अपने जल को **मधुना**=मधु से—सब ओषधियों के सार से **पृञ्चन्तीः**=सम्पृक्त करती हैं। इन नदियों का जल औषध-गुणों से युक्त होता है। यज्ञों में आहुत हुआ घृत व हव्य-पदार्थ सूक्ष्मतम कणों में विभक्त होकर वृष्टिजल के बिन्दुओं का केन्द्र बनता है। प्रत्येक बूँद के केन्द्र में, अग्निहोत्र में हुत, घृतकण विद्यमान होता है। इसप्रकार यह जल शक्ति व नीरोगता देनेवाला बनता है।

भावार्थ—यज्ञों के अनुष्ठान से नदियों का जल शक्तिप्रद व नीरोगता का जनक होता है।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सूर्य-किरणों के सम्पर्कवाला जल

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। ता नो हिन्वन्त्वध्वरम्॥ २॥

१. गतमन्त्र की नदियों के जल का सङ्केत करते हुए कहते हैं कि **अमूः**=वे **याः**=जो जल

उप सूर्ये=सूर्य के समीप हैं, **वा**=अथवा **सूर्यः याभिः सह**=सूर्य जिनके साथ है, **ताः**=वे जल **नः**=हमारे **अध्वरम्**=यज्ञ को—यज्ञ के भाव को **हिन्वन्तु**=बढ़ाते (Promote further) हैं। २. सूर्य के सम्पर्क में स्थित जलों के इस गुण का कितना महत्त्व है कि वे प्रयुक्त होने पर हमारी यज्ञिय भावना की वृद्धि करते हैं। वे जल जो सदा अन्धकारवाले प्रदेश में होते हैं उनमें शरीर व मन को निर्दोष बनाने के गुणों में भी कमी आ जाती है। नदियों के जल का सदा यही महत्त्व है कि वे सदा सूर्य-किरणों के सम्पर्क में हैं, इससे उस जल के रोग-कृमियों का नाश हो जाता है और उनमें प्राणदायी तत्त्व की स्थापना हो जाती है।

भावार्थ—जल वही ठीक है जो सूर्य के सम्पर्क में है।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

उत्तम दूध, उत्तम अन्न

अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः। सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः ॥ ३ ॥

१. मैं **देवीः अपः**=दिव्य गुणोंवाले जल को **उपह्वये**=पुकारता हूँ—इन दिव्य गुणोंवाले जलों की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता हूँ। **नः**=हमारी **गावः**=गौएँ **यत्र**=यहाँ **पिबन्ति**=शुद्ध जल का पान करती हैं। शुद्ध जलों को पीकर ही तो वे दिव्य गुणयुक्त दूध देनेवाली होंगी। पेय-जल के गुण ही तो उनके दूध में आएँगे। २. इसके अतिरिक्त **सिन्धुभ्यः**=नदियों के द्वारा **हविः कर्त्वम्**=हव्य पदार्थों को उत्पन्न करने के लिए इन जलों की आराधना करता हूँ। दिव्य गुणवाले जलों से अन्न भी उत्तम उत्पन्न होता है। वृष्टिजल से उत्पन्न अन्न इसीलिए सर्वोत्तम होता है।

भावार्थ—दिव्य गुणयुक्त जलों के पान से गौओं का दूध भी उत्तम होता है और इस जल से उत्पन्न अन्न भी सात्त्विक होता है।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद् बृहती** ॥

अमृतं भेषजम्

अप्स्व१ न्तरमृतमप्सु भेषजम्।
अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः ॥ ४ ॥

१. **अप्सु अन्तः**=जलों में **अमृतम्**=अमृतत्व है—नीरोगता है। **अप्सु**=इन जलों में ही **भेषजम्**=औषध है। इनके प्रयोग से हम रोगों को रोकनेवाले बनते हैं और उत्पन्न रोगों को नष्ट कर सकते हैं। २. **उत**=और **अपाम्**=जलों के **प्रशस्तिभिः**=प्रशस्त गुणों से **अश्वाः**=अश्व **वाजिनः**=शक्तिशाली **भवथ**=बनते हैं तथा **गावः**=गौएँ **वाजिनीः**=शक्तिशालिनी **भवथ**=होती हैं। यहाँ 'अश्व' पुरुष का प्रतीक है 'गावः' स्त्रियों का प्रतीक हैं। पुरुष और स्त्री इन जलों के ठीक प्रयोग से ही शक्ति-सम्पन्न बनते हैं। वस्तुतः जल ही शरीर में शक्ति के रूप में निवास करते हैं। पुरुष में ये वीर्य और स्त्री में रज के रूप में रहते हैं। शक्ति ही मनुष्य को नीरोग बनाती है और अगली सन्तति को जन्म देकर यह हमें शरीर के दृष्टिकोण से भी अमर बनाती है—'**प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्**'।

भावार्थ—जल अमृत हैं, ये भेषज=औषध हैं और शक्ति देनेवाले हैं।

विशेष—इस सूक्त के आरम्भ में कहा है कि यज्ञों के प्रचलन से वृष्टि होकर बहनेवाली नदियों का जल मधुमय होता है (१)। सदा सूर्य-किरणों के सम्पर्क में रहनेवाले जल उत्तम होते हैं (२)। इनसे उत्तम दूध व उत्तम अन्न प्राप्त होता है (३)। इनमें अमृत व भेषज निहित है (४)। यह जल सचमुच कल्याण करनेवाला है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मयोभुवः आपः

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥ १॥

१. **आपः**=जल **हि**=निश्चय से **मयोभुवः**=कल्याण-जनक **स्थ**=हैं (ष्ठा=स्थ)। इनके ठीक प्रयोग से शरीर, मन व मस्तिष्क सभी ठीक होते हैं और हमारा जीवन कल्याणमय होता है। २. **ताः**=ये जल **नः**=हमें **ऊर्जे**=बल और प्राणशक्ति के लिए **दधातन**=धारण करें। साथ ही **महे**=महत्त्व के लिए, उचित भार के लिए, हमें धारण करें। इनके प्रयोग से हम शरीर को यथोचित्त भार (Standard Weight) में स्थापित कर सकते हैं। **रणाय**=रमणीयता के लिए अथवा (रण शब्दे) शब्द-शक्ति के लिए ये हमें स्थापित करें। इनके ठीक प्रयोग से हमारी वाणी की शक्ति बढ़ती है। **चक्षसे**=ये जल हमें दृष्टिशक्ति के लिए धारण करें। इनके ठीक प्रयोग से ही हमारी दृष्टि की शक्ति स्थिर रहेगी।

भावार्थ—जल नीरोगता देते हैं, बल बढ़ाते हैं, उचित भार प्राप्त कराते हैं, वाक्शक्ति को ठीक रखते हैं और दृष्टि को तीव्र करते हैं।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

शिवतम-रस

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥ २॥

१. हे जलो! **यः**=जो **वः**=आपका **शिवतमः**=अत्यन्त कल्याण करनेवाला **रसः**=रस है, **नः**=हमें **इह**=इस जीवन में **तस्य**=उसका **भाजयत**=भागी बनाओ। जलों का गुण रस है। यह रस ही उनके सब गुणों का अधिष्ठान है। इस रस को प्राप्त करके मैं उनके सब गुणों को अपनानेवाला बनता हूँ। २. हे जलो! आप मुझे इस गुण को इसप्रकार प्राप्त कराओ **इव**=जैसेकि **उशतीः मातरः**=हित की कामनावाली माताएँ अपनी सन्तानों को स्वास्थ्यवर्धक दुग्धरस प्राप्त कराती हैं। वस्तुतः ये दिव्य जल हमारे लिए उतने ही हितकर हैं, जितना कि बच्चों के लिए मातृदुग्ध हितकर है।

भावार्थ—जलों का शिवतम-रस हमें प्राप्त हो।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

जनन-शक्ति

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः॥ ३॥

१. हे **आपः**=जलो! हम **वः**=आपके **तस्मै**=उस रस के लिए **अरम्**=पर्याप्तरूप से **गमाम**=प्राप्त हों **यस्य क्षयाय**=जिसके निवास के कारण **जिन्वथ**=आप हमें प्रीणित करते हो। जलों में एक रस है, उसके द्वारा हमारे शरीर की सब शक्तियों का वर्धन होता है। २. **च**=और हे जलो! आप **नः**=हमें **जनयथ**=जनन-शक्ति से युक्त करो। जलों के ठीक प्रयोग से बन्ध्यत्व व नपुंसकत्व का निराकरण होकर हम उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाले हों।

भावार्थ—जलों के रस से शरीर की शक्तियों का वर्धन होता है और जनन-शक्ति ठीक होती है।

ऋषि:—**सिन्धुद्वीप: कृतिर्वा** ॥ देवता—**आप:** ॥ छन्द:—**गायत्री** ॥

वार्यों का ईशान

ईशा॑ना॒ वार्या॑णां॒ क्षय॑न्तीश्चर्षणी॒नाम्। अ॒पो या॑चामि भेष॒जम्॥ ४॥

१. मैं **अप:**=जलों से **भेषजं याचामि**=औषध माँगता हूँ—इन जलों में सब औषधगुण तो हैं ही। इन जलों से मैं उस औषध को माँगता हूँ जोकि **वार्याणाम्**=सब वरणीय गुणों व तत्त्वों के **ईशाना:**=ईशान हैं। इनमें कौन-सी वरणीय वस्तु नहीं है? वस्तुत: इसी कारण से ये **चर्षणीनाम्**=मनुष्य के **क्षयन्ती:**=उत्तम निवास का कारण हैं (क्षि निवासे)। शरीर के लिए सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त कराके ये जल हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं।

भावार्थ—सब वरणीय तत्त्वों के ईशानभूत ये जल हमारे लिए औषध हैं। ये हमारे सब रोगों का निवारण करके हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं।

विशेष—इस सूक्त के आरम्भ में जलों को कल्याणकारक कहा है (१)। इनमें प्रभु ने अत्यन्त कल्याणकारक रस की स्थापना की है (२)। ये उस रस के द्वारा हमें जनन-शक्ति से युक्त करते हैं (३) और सब वरणीय वस्तुओं के ईशान होते हुए ये जल सब रोगों के औषध बनकर हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं (४)। ये शान्ति देनेवाले तथा रोगों पर आक्रमण करके हमारी रक्षा करनेवाले हैं—

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषि:—**अथर्वा कृतिर्वा** ॥ देवता—**आप:** ॥ छन्द:—**गायत्री** ॥

रोगशमन—भययावन

शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑। शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः॥ १॥

१. **न:**=हमारे लिए **देवी:**=रोगों को जीतने की कामनावाले (दिव् विजिगीषा) **आप:**=जल **शम्**=शान्ति देनेवाले हों। ये जल **अभिष्टये**=रोगों पर आक्रमण करने के लिए हों और इसप्रकार **पीतये**=रक्षण के लिए **भवन्तु**=हों। जल रोगों को जीतने की कामना करते हैं, उनपर आक्रमण करते हैं और उन्हें समाप्त करके हमारा रक्षण करते हैं। यहाँ विजय-प्राप्ति के क्रम का अति सुन्दरता से उपक्षेप हुआ है—'कामना, आक्रमण, विजय'। विजय-प्राप्ति के लिए प्रत्येक क्षेत्र में सर्वप्रथम कामना की आवश्यकता होती है, उसके बाद पुरुषार्थ और तब विजय सम्भव होती है। २. **शंयो:**=शान्ति देनेवाले, रोगों का शमन और भयों का यावन करनेवाले ये जल **न:**=हमारे **अभि**=दोनों ओर **स्रवन्तु**=प्रवाहित हों। अन्दर पीने के रूप में तथा बाहर स्नान के रूप में इनका प्रयोग होता है। इस प्रयोग में सामान्य नियम है कि 'अन्दर गरम, बाहर ठण्डा'। ठण्डे पानी से स्नान पौष्टिक है और 'गरम पानी पीना' कफ-रोगों को न होने देने का साधन है।

भावार्थ—जल रोगों पर आक्रमण करके हमारा रक्षण करते हैं। ये रोगों का शमन व भयों का यावन (दूर) करनेवाले हैं।

ऋषि:—**अथर्वा कृतिर्वा** ॥ देवता—**आप:** ॥ छन्द:—**गायत्री** ॥

जल+अग्नि

अ॒प्सु मे॒ सोमो॑ अब्रवीद॒न्तर्विश्वा॑नि भेष॒जा। अ॒ग्निं च॑ वि॒श्वश॑म्भुवम्॥ २॥

१. **सोम:**=उस सोम परमात्मा ने **मे**=मेरे लिए **अब्रवीत्**=यह उपदेश किया है कि **अप्सु अन्त:**=जलों में **विश्वानि भेषजा**=सब औषध हैं। जल सब रोगों का प्रतीकार करनेवाले हैं। एक जल-चिकित्सक विविध प्रयोगों से शरीर को नीरोग करता है। जल का 'भेषजम्'

यह नाम ही पड़ गया है। यह सचमुच औषध है। जल के विषय में निम्न नियमों का पालन शरीर को स्वस्थ रखता है—(क) उषःकाल में अधिक-से-अधिक जल पीने का प्रयत्न करना, (ख) भोजन के आरम्भ व अन्त में जल न लेकर बीच-बीच में थोड़ा-थोड़ा करके लेना, (ग) पीने के लिए गरम पानी का प्रयोग करना, गर्मियों में भी बर्फ का प्रयोग न करना, (घ) स्नान के लिए ठण्डे पानी का ही प्रयोग करना, स्नान स्पञ्जिङ्ग रूप में करना। २. उसी सोम प्रभु ने **च**=यह भी बताया कि **अग्निं विश्वशंभुवम्**=अग्नि सब शान्तियों को उत्पन्न करनेवाला है। गरम पानी में अग्नि व जल का मेल हो जाता है और ये दोनों मिलकर रोगों को शान्त करनेवाले होते हैं। शरीर में गरमी होती है, अतः वहाँ ठण्डा पानी भेजना ठीक नहीं। बाहर से शरीर ठण्डा है, वहाँ ठण्डे पानी का प्रयोग ही ठीक है।

भावार्थ—जल में सब औषध हैं। अग्नि व जल दोनों मिलकर शान्ति देनेवाले हैं।

ऋषिः—**अथर्वा कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

आरोग्य कवच

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम। ज्योक्च सूर्यं दृशे॥ ३॥

१. **आपः**=हे जलो! आप **भेषजम्**=रोग-निवारक गुण को **पृणीत**=अपने में सुरक्षित करो। (पृणाति to protect, to maintain)। इस रोग-निवारक गुण के द्वारा आप **मम तन्वे**=मेरे शरीर के लिए **वरूथम्**=(Cover) आच्छादन होओ। आपसे सुरक्षित हुआ मैं किसी रोग का शिकार न होऊँ। २. **च**=और रोगों का शिकार न होता हुआ मैं **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **सूर्यं दृशे**=सूर्य को देखने के लिए होऊँ। सूर्य-दर्शन करता हुआ दीर्घ-जीवन प्राप्त करूँ। जल 'वारि' है, ये रोगों का निवारण करते ही हैं। रोग-निवारण के द्वारा ये जीवन को सुखी बनाते हैं, अतः इनका नाम 'कम्' है।

भावार्थ—रोग-निवारण के गुणवाले ये जल मेरे लिए आच्छादन का काम करें। मैं दीर्घ-जीवनवाला बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

विविध जल

शं न आपो धन्वन्या३ः शमु सन्त्वनूप्याः। शं नः खनित्रिमा
आपः शमु याः कुम्भ आभृताः शिवा नः सन्तु वार्षिकीः॥ ४॥

१. **नः**=हमारे लिए **धन्वन्याः**=मरुस्थल के शाद्वल प्रदेशों में होनेवाले **आपः**=जल **शम्**=शान्तिकर हों, **उ**=और **अनूप्याः**=कच्छ प्रदेशों, खादर में होनेवाले जल भी **शं सन्तु**=शान्ति देनेवाले हों। **खनित्रिमाः**=भूमि को खोदकर कुओं से प्राप्त होनेवाले **आपः**=जल **नः**=हमें **शम्**=शान्ति दें। **उ**=और **याः**=जो **कुम्भे**=घड़े में **आभृताः**=भरकर रक्खे गये हैं, वे जल भी हमारे लिए शान्ति दें और अन्त में **वार्षिकीः**=वृष्टि से प्राप्त होनेवाले जल **नः शिवाः**=हमारे लिए कल्याणकर हों। एवं, ये विविध प्रकार के जल हमें अनुकूलता के साथ नीरोग करते हुए शान्ति दें व हमारा कल्याण करें। २. भिन्न-भिन्न जल प्राप्त होते हैं, यहाँ इन सब जलों से नीरोगता के लिए प्रार्थना की गई है।

भावार्थ—विविधरूप में प्राप्त होनेवाले जल हमारा कल्याण करें।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि जल रोगों का शमन व भयों का यावन करनेवाले हैं (१)। इनमें सब औषध निहित हैं (२)। ये आरोग्य के लिए कवच हैं (३)। विविध

प्रकार के जल हमारा कल्याण करें (४)। जलों के प्रयोग से शरीर को निर्दोष बनाकर अब उत्तम प्रचार व दण्ड-व्यवस्था से समाज-शरीर को निर्दोष बनाने का प्रकरण उपस्थित करते हैं। बहाव के धर्मवाले जलों का अन्दर-बाहर दो प्रकार से प्रयोग करके अपना रक्षण करनेवाला 'सिन्धुद्वीप' ४ व ५ सूक्तों का ऋषि था। 'सिन्धूनां द्विधा प्रयोगेण आत्मानं पाति' इति सिन्धुद्वीपः। अठारहवें सूक्त के दो भाग हैं। एक भाग वह है जिसमें अशुभ लक्षणों का प्रतिपादन है और दूसरा भाग वह है जिसमें उन लक्षणों को दूर करने के उपायों का प्रतिपादन है। ये दोनों भाग मिश्र-से अवश्य हैं, परन्तु वे अत्यन्त स्पष्ट हैं। क्या शरीर के और क्या मन के सभी विकार 'निर्माणात्मक कार्यों में लगे रहने से, द्वेष न करने से, स्नेह से, काम-क्रोध-लोभ को काबू करने से, अनुकूल मति से, अनुकूल आत्म-प्रेरणा से व प्रभु-स्मरण से' दूर होते हैं। विकारों का दूर होना ही सौभाग्य प्राप्ति है। समाज के दोषों का नाश करनेवाला 'चातन' 'चातयति नाशयति' इति चातनः ७ व ८ सूक्तों का ऋषि है—

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

परिवर्तन

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम्।
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ॥ १॥

१. एक ब्राह्मण उन व्यक्तियों में प्रचार-कार्य आरम्भ करता है जो सदाचार का जीवन न बिताकर कदाचार में पड़ जाते हैं। उसके उपदेश से प्रभावित होकर वे अपने जीवन में परिवर्तन लाते हैं और इस प्रचारक का स्तवन करनेवाले होते हैं कि इसने जीवन में उत्तम परिवर्तन ला दिया। इन परिवर्तित जीवनवाले व्यक्तियों को यह ब्राह्मण फिर से समाज का अङ्ग बनाता है। मन्त्र में कहते हैं कि हे **अग्ने**=ज्ञानप्रकाश के द्वारा उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले ब्राह्मण! तू **स्तुवानम्**=इन स्तुति करनेवालों को **आवह**=समाज में ले-आ। आज तक ये **यातुधानम्**=पीड़ा का आधान करनेवाले बने हुए थे तथा **किमीदिनम्**=इनका प्रतिक्षण यही बोल होता था कि 'किम् अदानि' क्या खाऊँ। ये औरों को पीड़ित करते थे और उनके द्रव्यों को अन्याय से छीनकर भोगों के बढ़ाने में लगे हुए थे। २. हे **देव**=ज्ञान-प्रकाश देनेवाले ज्ञानिन्! **त्वं हि**=आप ही निश्चय से **वन्दितः**=इन परिवर्तित जीवनवाले यातुधानों से वन्दित होते हुए **दस्योः**=(दस् उपक्षये) इन क्षय करनेवालों के **हन्ता**=नाशक **बभूविथ**=होते हो। इनकी दस्युवृत्ति को समाप्त करके आप इन्हें दस्यु नहीं रहने देते। औरों को पीड़ा न देने के कारण अब ये 'यातुधान' नहीं रहे। प्रतिक्षण 'क्या खाऊँ' इस बात का जाप न करने से ये अब 'किमीदिन्' नहीं रहे। क्षय की वृत्ति से ऊपर उठ जाने से इनका दस्युत्व समाप्त हो गया है।

भावार्थ—राष्ट्र में ब्राह्मण जोकि अग्नि और देव है, वे 'यातुधानों, किमीदिनों व दस्युओं' के जीवन को ज्ञान-प्रचार के द्वारा परिवर्तित करके उन्हें फिर से समाज का अङ्ग बना देते हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रचारक का युक्ताहारवाला जीवन

आज्यस्य परमेष्ठिञ्जातवेदस्तनूवशिन्। अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान्वि लापय॥ २॥

१. सुधारक ब्राह्मण से कहते हैं कि **परमेष्ठिन्**=उच्च स्थान में स्थित होनेवाले, प्रकृति व जीव से ऊपर उठकर हृदयस्थ 'प्रभु' में स्थित होनेवाले! **जातवेदः**=प्रभु में स्थित होकर ज्ञान

का प्रकाश प्राप्त करनेवाले! **तनूवशिन्**=अपने शरीर को वश में करनेवाले! **अग्ने**=ज्ञानप्रकाश के द्वारा उन्नति के कारणभूत ब्राह्मण! **आज्यस्य**=घी का **तौलस्य प्राशान**=तोलकर प्रयोग करनेवाला बन। तेरा भोजन मपा-तुला हो। यह परिमित व युक्त आहार ही तेरे स्वास्थ्य को ठीक रक्खेगा और वस्तुतः तेरी इस संयतवृत्ति का ही उन यातुधान और किमीदिन लोगों पर प्रभाव पड़ेगा। तू संयत जीवन के क्रियात्मक उपदेश के द्वारा **यातुधानान्**=इन पीड़ित करनेवाले दुष्टों को **विलापय**=नष्ट कर दे, रुला दे। ये अपने रद्दी जीवन पर पश्चात्ताप में विलाप करें। इनकी वृत्ति में परिवर्तन हो ये 'यातुधान' न रह जाएँ।

भावार्थ—प्रचारक ब्राह्मण युक्ताहारवाले होकर अपने संयत जीवन से यातुधानों के जीवन में भी परिवर्तन कर दें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुधार-कार्य में जनता का सहयोग

वि लपन्तु यातुधाना अत्रिणो ये किमीदिनः।
अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम्॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार ज्ञानी पुरुषों का प्रचार इसप्रकार से हो कि उससे प्रभावित होकर **ये**=जो **यातुधानाः**=प्रजा में पीड़ा का आधान करनेवाले, **किमीदिनः**=प्रतिक्षण 'क्या खाऊँ' इस राग को आलापनेवाले, **अत्रिणः**=अपने मज़े के लिए औरों को खा-जानेवाले (अद् भक्षणे) लोग हैं; वे पश्चात्ताप से युक्त होकर **विलपन्तु**=विलाप करनेवाले हो जाएँ। उन्हें अपने हीन कर्मों का दुःख हो और वे अपने जीवन-सुधार का निश्चय करें। २. इस सुधार-कार्य में जनता का सहयोग इस रूप में हो सकता है कि वे इस कार्य के लिए कुछ आहुति दें, अतः वे कहते हैं कि **अथ**=अब हे **अग्ने**=ज्ञान-प्रसारक ब्राह्मण! आप **च**=और **इन्द्रः**=शासन करनेवाला राजा **इदम्**=इस **नः**=हमारी **हविः**=आहुति को—कर के रूप में दिये गये धनांश को तथा दान के रूप में दिये गये धन को **प्रतिहर्यतम्**=प्रेमपूर्वक स्वीकार करो। जनता का इस रूप में सहयोग होगा तो यह सुधार-कार्य बड़ी उत्तमता से चलेगा और राष्ट्र का उत्थान हो सकेगा।

भावार्थ—जनता के आर्थिक सहयोग से राजा ज्ञान-प्रसारक ब्राह्मणों द्वारा सुधार-कार्य को उन्नति दे।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यातुधानों का आत्मसमर्पण

अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान्। ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्य॥ ४॥

१. **अग्निः**=ज्ञान-प्रसार द्वारा उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाला ब्राह्मण **पूर्वः आरभताम्**=प्रथम अपने कार्य को आरम्भ करे। ब्राह्मण का यह कार्य बहुत उत्तमता से तभी चल सकता है जबकि राज्य-शक्ति उसकी पीठ पर हो, अतः मन्त्र में कहा गया कि **बाहुमान्**=शक्तिशाली **इन्द्रः**=राजा **प्रनुदतु**=उन प्रचारकों को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करनेवाला हो। इन सुधारकों को राजा की ओर से सब प्रकार की सुविधा प्राप्त हो। २. इन सुधारकों का कार्यक्रम इतना प्रभावोत्पादक व मधुर हो कि **सर्वः यातुमान्**=प्रजा में पीड़ा का आधान करनेवाले सब दुर्जन लोग प्रभावित होकर उस अग्नि के प्रति अपना समर्पण (surrender) करनेवाले हों और **एत्य**=आकर **ब्रवीतु**=स्वयं कहें कि **अयम्**=यह **अस्मि इति**=मैं हूँ। मैं आपकी शरण में हूँ। आप से दिये जानेवाले दण्ड को मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा और आगे से इस असत् कार्य में मैं कभी प्रवृत्त न होऊँगा।

भावार्थ—राज्यशक्ति की सहायता प्राप्त करके सुधारक अपना कार्य इस सुन्दरता से करें कि सब दुर्जन अपनी दुर्जनता को छोड़ने का निश्चय कर, आत्मसमर्पण कर दें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्राह्मण की शक्ति

पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान्नृचक्षः।
त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात्त आ यन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम्॥ ५॥

१. राजा सुधारक से कहता है—हे **जातवेदः**=(जातः वेदः यस्मात्) जिससे वेदमन्त्रों में उल्लिखित यातुधानों में ज्ञान का प्रचार करनेवाले ज्ञानिन्! **ते वीर्यं पश्याम**=हम तेरे पराक्रम को देखें। हे **नृचक्षः**=मनुष्यों के लिए मार्ग-दर्शन का कार्य करनेवाले ब्राह्मण! तू **यातुधानान्**=इन प्रजा-पीड़कों के प्रति **नः**=हमारे सन्देश को **प्रब्रूहि**=अच्छी प्रकार कह दे। राजा का सन्देश यही तो है कि 'तुम यातुधानत्व को छोड़कर सज्जनों का जीवन बितानेवाले बनो, इसी में तुम्हारा और सारे राष्ट्र का कल्याण है'। ब्राह्मण की शक्ति इसी में तो है कि वह इन यातुधानों को यह सन्देश प्रभावशाली रूप से सुना सके। २. हे ब्राह्मण! **त्वया**=तुझसे—तेरे उपदेश से प्रभावित होकर **ते सर्वे**=ये सारे यातुधान **परितप्ताः**=सन्ताप व पश्चात्ताप अनुभव करते हुए **पुरस्तात् आयन्तु**=अपने छिपने के स्थानों को छोड़कर सामने आ जाएँ। **इदम्**=अपने पश्चात्ताप को **प्रब्रुवाणाः**=कहते हुए वे **उप**=हमारे समीप प्राप्त हों। ब्राह्मणों के उपदेश का इन यातुधानों पर यह प्रभाव हो कि वे राजा के प्रति अपना समर्पण कर दें और अपने पश्चात्ताप की भावना को स्पष्टरूप से कह दें।

भावार्थ—ब्राह्मण का प्रभाव तभी व्यक्त होता है जब उसके उपदेश से प्रभावित होकर यातुधान अपने छिपने के स्थानों को छोड़कर राजा के प्रति अपना अर्पण कर दें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

राजा का सहायक ब्राह्मण

आ रंभस्व जातवेदोऽस्माकार्थाय जज्ञिषे।
दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान्वि लापय॥ ६॥

१. हे **जातवेदः**=ज्ञान का प्रादुर्भाव करनेवाले ब्राह्मण! **आरभस्व**=तू अपने कार्य को आरम्भ कर। **अस्माकार्थाय**=राष्ट्र को उत्तम व सुखी बनानेरूप हमारे कार्य के लिए **जज्ञिषे**=तू उत्पन्न हुआ है। राजा का कर्त्तव्य 'प्रजापालन' ही तो है। इस प्रजापालनरूप कार्य के दो मुख्य अंश ये हैं—(क) बाह्य शत्रु के साथ युद्ध तथा (ख) अन्तः दुर्जनों को दण्डादि से सुधारना। इनमें इस पिछले कार्य में ब्राह्मण राजा के लिए बड़ा सहायक होता है। २. इस ब्राह्मण से राजा कहता है कि हे **अग्ने**=ज्ञान-प्रसार के द्वारा उन्नति-पथ पर ले-जानेवाले ब्राह्मण! तू **नः**=हमारा **दूतः**=सन्देशवाहक **भूत्वा**=होकर **यातुधानान्**=पीड़ा देनेवाले इन दुर्जनों को **विलापय**=पश्चात्ताप से विलाप करनेवाला बना दे। ये अपने कुकर्मों के लिए रो उठें और फिर से न करने के लिए दृढ़ निश्चयी हों।

भावार्थ—राष्ट्र से दुर्जनों को दूर करने के कार्य में ब्राह्मण राजा का दाहिना हाथ बनें। वे उन्हें ज्ञान देकर सुधरने की भावना से भर दें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुधार व समाप्ति

त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धाँ इहा वह। अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु॥ ७॥

१. हे **अग्ने**=ज्ञान-प्रसारक ब्राह्मण! **त्वम्**=तू **उपबद्धान्**=जो आगे से पाप न करने के निश्चय में अपने को बाँध चुके हैं, उन **यातुधानान्**=प्रजापीड़कों को **इह**=यहाँ—समाज में **आवह**=सर्वथा प्राप्त करानेवाला हो। ब्राह्मण इन्हें ज्ञान दे। उस ज्ञान से प्रभावित होकर यदि ये आत्मसमर्पण कर दें और पुनः पाप न करने का निश्चय करें तो इस दृढ़ निश्चय के बन्धन में बद्ध इन भूतपूर्व यातुधानों को पुनः समाज का अङ्ग बना दिया जाए। २. परन्तु यदि कोई यातुधान किसी भी प्रकार से सुधरता न दिखे तो **अथ**=अब, विवशता में **इन्द्रः**=असुरों का संहार करनेवाला राजा **एषां शीर्षाणि**=इनके सिरों को **वज्रेण**=वज्र से **अपि वृश्चतु**=निश्चय से काट दे। स्वस्थ न होनेवाले अङ्ग को अन्ततः काटना ही पड़ता है, इसीप्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी भी प्रकार से सुधरता प्रतीत न हो तो राजा उसे दण्ड देकर समाप्त कर देता है, जिससे वह प्रजा को पीड़ित न कर सके।

भावार्थ—ब्राह्मण सुधरे हुए जीवनवाले यातुधानों को फिर से समाज का अङ्ग बना देता है, परन्तु जो सुधरें ही नहीं, राजा उन्हें दण्ड द्वारा समाप्त कर प्रजा का रक्षण करता है।

विशेष—इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में दस्युओं के दस्युत्व के नाश का उल्लेख है (१)। यह कार्य युक्ताहारवाला ज्ञानी ब्राह्मण ही कर पाता है (२)। जनता धन देकर इस सुधार-कार्य में सहयोग देती है (३)। ब्राह्मण की शक्ति इसी में होती है कि यातुधान अपनी गुहाओं से बाहर आ जाएँ और अपने को राज्य-शक्ति के प्रति सौंप दें (५)। इसप्रकार ब्राह्मण प्रजा-रक्षण-कार्य में राजा का सहायक होता है (६)। यदि कोई सुधरता ही नहीं तो राजा उसे समाप्त कर देता है (७)। प्रजा को इस सुधार-कार्य के लिए दिल खोलकर सहायता करनी चाहिए।

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिरग्नीषोमौ च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नदी जैसे झाग को

इदं हविर्यातुधानान्नदी फेनमिवा वहत्।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥ १ ॥

१. प्रजा कहती हैं कि **इदं हविः**=हमारे द्वारा दान व कर-रूप में दिया हुआ यह धन **यातुधानान्**=पीड़ा का आधान करनेवाले लोगों को **आवहत्**=उसी प्रकार बहा ले-जाए **इव**=जैसेकि **नदी फेनम्**=नदी झाग को बहा ले-जाती है, अर्थात् इस धन का प्रयोग मार्ग-भ्रष्ट लोगों में ज्ञान-प्रसार के लिए किया जाए, जिससे वे परिष्कृत जीवनवाले बन जाएँ और समाज में यातुधानों का अभाव ही हो जाए। २. यह ज्ञान-प्रसार का कार्य इसप्रकार हो कि **यः पुमान्**=जो भी पुरुष अथवा **स्त्री**=स्त्री **इह**=यहाँ **इह अकः**=इस समाज को पीड़ित करने का कार्य करता था **सः जनः**=वह मनुष्य इस कार्य से पराङ्मुख होकर अब इस प्रचारक की **स्तुवताम्**=स्तुति करनेवाला हो जाए। वह अनुभव करे कि इस ज्ञानदाता अग्नि ने मार्ग-दर्शन करके हमारा वस्तुतः कल्याण किया है।

भावार्थ—प्रजा की आर्थिक सहायता से ज्ञान-प्रसार के द्वारा समाज से यातुधानों का विलोप हो जाए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिरग्नीषोमौ च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्वागत

अयं स्तुवान आगमदिमं स्म प्रति हर्यत। बृहस्पते वशे लब्ध्वाग्नीषोमा वि विध्यतम् ॥ २ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार परिवर्तित जीवनवाला **अयम्**=यह भूतपूर्व यातुधान **स्तुवानः**=अपने ज्ञानदाता की प्रशंसा करता हुआ **आगमत्**=आया है। यह अब पुनः समाज का अङ्ग बनना चाहता है, अतः आप **इमम्**=इससे **स्म**=अवश्य **प्रतिहर्यत**=प्रीति करनेवाले होओ—इसे अपने में मिला लेने की कामनेवाले होओ। यदि इसे अब भी घृणा से देखते रहे तो इसके पुनः गलत मार्ग पर चले जाने का भय हो सकता है। २. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के पति ब्राह्मण! अब ऐसी व्यवस्था करो कि **अग्निषोमा**=अग्नि और सोम इसे **वशे लब्ध्वा**=अपने वश में करके **विविध्यतम्**=विशेषरूप से विद्ध करें। इसमें अग्नि व सोम बनने का भाव प्रबल हो, वह भाव इसके हृदय में जड़ जमाए। यह निश्चय कर ले कि मुझे आगे बढ़नेवाला अग्नि बनना है और उन्नत होकर सोम—'विनीत' बने रहना है। निरभिमानता मेरी उन्नति का भूषण बनेगी।

भावार्थ—भूतपूर्व यातुधान अपने जीवन को परिष्कृत करके समाज में आता है तो सामाजिकों को चाहिए कि प्रेम से उसका स्वागत करें। यह प्रेम उसे 'अग्नि और सोम' बनने की भावना में दृढ़ करनेवाला होगा।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रेम से सुधार

यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च।
नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम्॥ ३॥

१. हे **सोमप**=सोम का—वीर्यशक्ति का अपने अन्दर ही पान करनेवाले, अतएव उत्साह-सम्पन्न ज्ञान-प्रसारक विद्वन्! तू **यातुधानस्य**=इन प्रजापीड़कों की **प्रजाम्**=सन्तति को **जहि**=(हन् गतौ) प्राप्त करनेवाला हो **च**=और उन्हें ज्ञान देकर **नयस्व**=उत्तम मार्ग से ले-चल। २. तुम्हारे प्रेमभरे कार्यों को देखकर यातुधान को भी लज्जा अनुभव हो कि 'कहाँ मैं और कहाँ ये लोग'। 'औरों को कष्ट पहुँचाना ही मेरा पेशा बना हुआ है' और उन्होंने किस प्रकार लोक-सेवा का कार्य अपनाया है।' इसप्रकार **स्तुवानस्य**=ज्ञान-प्रसारकों की स्तुति करते हुए इस पश्चात्तापयुक्त पुरुष की **परम्**=उत्कृष्ट, अर्थात् दक्षिण **उत**=और **अवरम्**=निचली, अर्थात् वाम **अक्षि**=आँख को **निपातय**=तू झुकानेवाला हो। ज्ञान-प्रसारक क्रूरचित्त यातुधान को अपने व्यवहार से लज्जित करके ही सुधार सकता है।

भावार्थ—यातुधानों की सन्तति से मेल करके उन्नति-पथ पर ले-चलने का यत्न होना चाहिए। इस प्रेमभरे कार्य को देखकर यातुधान भी लज्जित होंगे और अवश्य सन्मार्ग का ग्रहण करेंगे।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बार्हतगर्भात्रिष्टुप्** ॥

यातुधानत्व की परम्परा का विनाश

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्रिणां जातवेदः।
तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने॥ ४॥

१. हे **जातवेदः अग्ने**=ज्ञान का प्रसार करनेवाले और ज्ञान द्वारा ही उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले ब्राह्मण! **एषां गुहा सताम्**=गुफाओं में छिपकर रहनेवाले इन **अत्रिणाम्**=औरों को खा-जानेवाले—हानि पहुँचानेवाले यातुधानों के **जनिमानि**=उत्पन्न सन्तानों को **यत्र**=जहाँ भी **वेत्थ**=जानते हो, जहाँ भी इनके वंशजों का पता लगे, वहीं पहुँचकर **त्वम्**=तू **तान्**=उन सबको **ब्रह्मणा**=ज्ञान के प्रसार से **वावृधानः**=खूब ही वृद्धि-पथ पर ले-चलता हुआ **अग्ने**=हे ब्राह्मण!

तू **एषां शततर्हं जहि**=इनका शतशः प्रकारों से विनाश कर दे। इनके जीवन की कमियों को दूर करके इनके जीवन को सुन्दर बना दे।

भावार्थ—यातुधानों की प्रजाओं के सुधार से यातुधानत्व की परम्परा चल नहीं पाती। उसका मूल में ही विनाश हो जाता है।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि प्रजा के धन का समाज-सुधार के लिए ऐसा उपयोग हो कि यातुधान इसप्रकार नष्ट हो जाएँ जैसेकि नदी फेन को नष्ट कर देती है (१)। सुधरने के सङ्कल्पवाले आगत यातुधानों का हमें स्वागत करना चाहिए (२)। सुधार प्रेम से ही सम्भव है (३)। इनकी सन्तानों को प्रेम से सुधारकर यातुधानत्व की परम्परा को मूल में ही विनष्ट कर देना चाहिए। इस प्रकार वैयक्तिक व सामाजिक सुधार होने पर प्रार्थना करते हैं—

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वस्वादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वसु व ज्योति की प्राप्ति

अस्मिन्वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः।
इममादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरस्मिञ्ज्योतिषि धारयन्तु॥ १॥

१. **अस्मिन्**=इस डाँवाडोल न होनेवाले व्यक्ति में **वसवः**=(प्राणो वै वसवः—जै० ४।२।३) प्राण **वसु धारयन्तु**=प्राणशक्ति को धारण करें। यह स्वस्थ शरीरवाला व प्राणशक्ति-सम्पन्न होकर ही तो यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हो सकेगा। २. **इमम्**=इस प्राणशक्ति-सम्पन्न पुरुष को **इन्द्रः**=इन्द्र, **पूषा**=पोषण की देवता, **वरुणः**=द्वेष-निवारण के द्वारा श्रेष्ठता का सम्पादन करनेवाली देवता, **मित्रः**=स्नेह की देवता, **अग्निः**=अग्रगति की देवता, **आदित्याः**=सब स्थानों से उत्तमता का आदान करने की देवता **उत**=और **विश्वेदेवाः च**=सब दिव्य भावनाएँ भी **उत्तरस्मिन् ज्योतिषि**=सर्वोत्कृष्ट ज्योति में, अर्थात् परमात्मा में **धारयन्तु**=धारण करें। ये जितेन्द्रियता (इन्द्र), शक्ति का पोषण (पूषा), निर्द्वेषता (वरुण), स्नेह (मित्र), अग्रगति (अग्नि), गुणों का आदान (आदित्य) व दिव्य भावनाएँ प्रभु-प्राप्ति के साधन हैं।

भावार्थ—प्राणशक्ति-सम्पन्न शरीर में जितेन्द्रियता आदि को धारण करके हम प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वस्वादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उत्तम 'नाकलोक' का अधिरोहण

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम्।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम्॥ २॥

१. **अस्य**=गतमन्त्र के अनुसार अपने-आपको वसु व उत्कृष्ट ज्योति में धारण करनेवाले पुरुष के **प्रदिशि**=आदेश में, कथन में, **ज्योतिः अस्तु**=ज्योति हो। यह जो कुछ बोले वह औरों को ज्ञान देनेवाला हो। इसके कथन में **सूर्यः**=सूर्य हो, **अग्निः**=अग्नि हो **उत वा**=और या **हिरण्यम्**=हितरमणीय ज्योति हो। इसके कथन मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान का सूर्य उदय करनेवाले हों। उदर में जाठराग्नि को ठीक रखनेवाले हों और हृदयान्तरिक्ष में हितमरणीय ज्योति को स्थापित करनेवाले हों। २. इस सब उपदेश का यह परिणाम हो कि **सपत्नाः**=काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रु **अस्मत् अधरे भवन्तु**=हमारे नीचे हों, अर्थात् हम उन्हें पाँवों तले कुचलने में समर्थ हों। ३. इसप्रकार लोकहित के कार्यों में लगे हुए **इमम्**=इस ज्ञान-प्रसारक पुरुष को **उत्तमं**

नाकम्=उत्कृष्ट स्वर्गलोक में **अधिरोहय**=अधिरूढ़ कीजिए। यह स्वर्ग को प्राप्त करनेवाला हो, इसका जीवन सुखी हो।

भावार्थ—प्राणशक्ति व प्रभु की ज्योति को प्राप्त करके हम लोकहित के लिए ज्ञान का प्रसार करें। उस ज्ञान से लोगों के मस्तिष्क, शरीर व हृदय को हम सुन्दर बनाने का प्रयत्न करें। लोग काम, क्रोध, लोभ को जीतने की भावना से भरे हों। इस लोकहित के द्वारा हम स्वर्ग के अधिकारी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

श्रेष्ठ पद-प्राप्ति

येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम्॥ ३॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **येन**=जिस **उत्तमेन**=सर्वोत्कृष्ट **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **पयांसि**=आप्यायनों को—शक्तियों के वर्धन को **समभरः**=आप भरते हो—जिस ज्ञान के द्वारा आप अन्नमयकोश में तेज को, प्राणमयकोश में वीर्य को, मनोमयकोश में ओज व बल को, विज्ञानमयकोश में मन्यु को तथा आनन्दमयकोश में सहस् को भरते हैं, **तेन**=उसी ज्ञान से हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **इह**=यहाँ—समाज में **इमम्**=इस वसु व उत्कृष्ट ज्योति को धारण करनेवाले पुरुष को **वर्धय**=बढ़ाइए—सब प्रकार से उन्नत कीजिए। २. इसप्रकार ज्ञान से उन्नत करके आप **एनम्**=इसे **सजातानाम्**=सजात पुरुषों में—समवयस्क पुरुषों में **श्रैष्ठ्ये**=श्रेष्ठ स्थान में **आधेहि**=स्थापित कीजिए। यह ज्ञान के द्वारा औरों से आगे बढ़ जाए। हे अग्ने! आपका अग्नित्व इसे आगे बढ़ाने में ही तो प्रमाणित हो सकता है। ज्ञान के द्वारा यह सब प्रकार का वर्धन करके श्रेष्ठ बने और औरों का कल्याण करनेवाला हो।

भावार्थ—ज्ञान से ही सारा आप्यायन होता है, उसे प्राप्त करके हम समवयस्कों में आगे बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञ व वर्चस्

ऐषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्तान्यग्ने।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम्॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सजातों में श्रेष्ठ बननेवाला व्यक्ति कहता है हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आपके द्वारा ज्ञान से श्रेष्ठता को प्राप्त कराया गया **अहम्**=मैं **एषाम्**=इन सजातों के **यज्ञम्**=यज्ञ को **उत वर्चः**=और शक्ति को **आ ददे**=देता हूँ—इनके जीवन को यज्ञात्मक बनाकर इन्हें विलास से ऊपर उठाता हूँ, परिणामतः इनकी शक्ति का वर्धन करता हूँ। यज्ञमय जीवन से ही शक्ति का वर्धन होता है। २. मैं इन्हें **रायस्पोषम्**=धन का पोषण प्राप्त कराता हूँ—धनार्जन योग्य बनाता हूँ **उत**=और साथ ही **चित्तानि**=इन्हें चित्तों को भी प्राप्त कराता हूँ। इनकी स्मृतियों को भी ठीक रखता हूँ, ताकि ये अपने स्वरूप व जीवनोद्देश्य को (कोऽहं, कुत आयातः) न भूलते हुए धन का सदा सद्व्यय ही करें। ३. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि **सपत्नाः**=काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रु **अस्मत्**=हमारे **अधरे भवन्तु**=पाँवों-तले ही रहें, हम इन्हें पराजित करनेवाले हों। इसप्रकार हमें शत्रु-दलन के योग्य बनाकर आप **इमम्**=इस आपके भक्त को **उत्तमं नाकम्**=उत्तम स्वर्गलोक में **अधिरोहय**=अधिरूढ़ कीजिए। कामादि सपत्न ही नरक के द्वार हैं, इन्हें जीतकर

स्वर्ग क्यों न मिलेगा?

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो जिससे हमारी शक्तियाँ जीर्ण न हों। हम धन के पोषण के साथ आत्म-स्मृतिवाले हों जिससे उन धनों के कारण विलासमय जीवनवाले न हो जाएँ।

विशेष—सूक्त का आरम्भ 'वसु व ज्योति' की प्राप्ति की प्रार्थना से होता है (१)। हम काम, क्रोध व लोभ को जीतकर उत्तम स्वर्गलोक का अधिरोहण करनेवाले हों (२)। हमें श्रेष्ठपद की प्राप्ति हो (३)। यज्ञमय जीवन से हम वर्चस्वी बने रहें। धनों के साथ आत्म-स्मरणवाले हों ताकि धन हमारे निधन का कारण न बन जाए (४)। असत्य भाषणादि पापों से हम ऊपर उठ सकें—

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**असुरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

राजा वरुण

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः।
ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि॥ १॥

१. **अयम्**=यह **देवानाम् असुरः**=(असून् राति) देवों में प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला प्रभु **विराजति**=विशेषरूप से चमकता है अथवा वह सम्पूर्ण संसार का शासन करता है। सब देवों को दीप्ति देनेवाला वह प्रभु ही है—**'तेन देवा देवतामग्र आयन्'**—उस प्रभु से ही सब देव देवत्व को प्राप्त हुए। **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**—उस प्रभु की दीप्ति से ही ये सूर्यादि देव दीप्त हो रहे हैं। २. **राज्ञः**=उस देदीप्यमान **वरुणस्य**=संसार से सब पापों का निवारण करनेवाले—अनृतवादी को पाशों से जकड़नेवाले **(ये ते पाशाः सप्त सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तम्)** उस प्रभु की **वशाः**=इच्छाएँ **हि**=निश्चय से **सत्याः**=सत्य हैं। प्रभु जो चाहते हैं, वही होता है। प्रभु की शासन-व्यवस्था में कोई किसी प्रकार का विघात नहीं कर सकता। ३. **ततः**=उस प्रभु से प्राप्त **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **परिशाशदानः**=चारों ओर वर्त्तमान कामादि शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करता हुआ मैं **उग्रस्य**=उस तेजस्वी प्रभु के **मन्योः**=क्रोध से **इमम्**=इस अपने को **उत् नयामि**=ऊपर उठाता हूँ, अपने को प्रभु के क्रोध का पात्र नहीं बनने देता। प्रभु के क्रोध का भाजन तो वही व्यक्ति होता है जो कामादि शत्रुओं का इस शरीर में प्रवेश होने देता है। ज्ञान के द्वारा इन शत्रुओं का संहार करने पर हम प्रभु के प्रिय होते हैं।

भावार्थ—प्रभु संसार के शासक हैं। ज्ञान प्राप्त करके और वासनाओं का नाश करने पर हम प्रभु के कोप से दूर रहते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अ-द्रोह

नमस्ते राजन्वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्यु॑ग्र निचिकेषि द्रुग्धम्।
सहस्रमन्यान्प्र सुवामि साकं शतं जीवाति शरदस्तवायम्॥ २॥

१. हे **राजन् वरुण**=संसार का शासन करनेवाले—पापियों को पाशों से जकड़नेवाले प्रभो! **ते मन्यवे नमः अस्तु**=आपके मन्यु के लिए हम नमस्कार करते हैं। आपका क्रोध हमें दण्डित करनेवाला न हो। हे **उग्र**=तेजस्विन् प्रभो! हम इस बात को अच्छी प्रकार समझते हैं कि आप **विश्वं द्रुग्धम्**=सम्पूर्ण द्रोह को **हि**=निश्चय से **निचिकेषि**=जानते हैं। हमारे मनों में उठनेवाली द्रोह की भावनाएँ आपसे छिपी नहीं हैं, अतः मैं द्रोह की सम्पूर्ण भावनाओं से ऊपर उठता हूँ।

२. इनसे ऊपर उठता हुआ मैं **सहस्त्रम्**=हज़ारों **अन्यान्**=अन्य पुरुषों को भी **साकम्**=अपने साथ **प्रसुवामि**=अद्रोह की भावना से चलने के लिए प्रेरित करता हूँ। स्वयं अद्रोहवाला होकर औरों को भी अद्रोह के लिए कहता हूँ। इसप्रकार **तव अयम्**=आपका यह पुरुष **शतं जीवाति**=सौ वर्ष तक जीनेवाला बनता है। अद्रोह की वृत्ति का दीर्घजीवन से सम्बन्ध है। मन में उत्पन्न होनेवाली द्रोह की भावनाएँ वस्तुतः हमारे ही जीवन का द्रोह करती हैं और हम अल्प जीवनवाले हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय व्यक्ति कभी द्वेष नहीं करता।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

असत्य से दूर

यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु। राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम्॥ ३॥

१. **यत्**=जो **जिह्वया**=जिह्वा से **बहु**=बहुत अधिक **अनृतम्**=असत्य को तथा **वृजिनम्**=पाप को—पाप-वचन को **उवक्थ**=तूने अब तक बोला है **त्वा**=तुझे **सत्यधर्मणः**=सत्य का धारण करनेवाले **राज्ञः वरुणात्**=उस शासक, अनृतवादी के पाशों को छिन्न करनेवाले प्रभु के स्मरण के द्वारा **अहम्**=मैं **मुञ्चामि**=उस पाप से छुड़ाता हूँ। २. जब हम उस प्रभु का शासक के रूप में स्मरण करते हैं तब हमारी असत्य भाषणादि की वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। प्रभु का विस्मरण ही हमें पाप की ओर ले-जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु का वरुणरूप में स्मरण करते हैं और असत्य से दूर होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

भवसागर से पार

मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान्महतस्परि।
सजातानुग्रेहा वद ब्रह्म चाप चिकीहि नः॥ ४॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार जब हम द्रोह और असत्य से ऊपर उठने का निश्चय करते हैं तब प्रभु कहते हैं कि मैं **त्वा**=अद्रोही व सत्यनिष्ठ तुझे इस **महतः**=महान् **वैश्वानरात्**=सब मनुष्यों के विचरण के स्थानभूत **अर्णवात्**=भवसागर से **परिमुञ्चामि**=मुक्त करता हूँ। भवसागर से तैरने के लिए '**ऋतस्य नावः सुकृतमपीपरन्**' सत्य की नाव अत्यन्त उपयोगी है। सत्य और अद्रोह (अहिंसा) को अपनाकर हम मोक्ष का साधन कर पाते हैं। २. प्रभु कहते हैं कि **उग्र**=सत्य व अद्रोह के पालन से तेजस्वी बना हुआ तू **इह**=इस जीवन में **सजातान्**=अपने समान जन्मवाले इन मनुष्यों को **आवद**=इस ज्ञान का उपदेश कर—इस ज्ञान का कथन कर। इसके द्वारा उन्हें भी सत्य व अद्रोह के महत्त्व को समझा **च**=और तू स्वयं **नः**=हमारे **ब्रह्म**=इस वेदज्ञान को **अपचिकीहि**=अच्छी प्रकार जाननेवाला बन ('अप' उपसर्ग यहाँ 'निर्देश' अर्थ में आया है) और जानकर औरों के प्रति उसका निर्देशक बन।

भावार्थ—संसार-सागर को तैरने के लिए आवश्यक है कि हम ज्ञान प्राप्त करके उसका समुचित प्रसार करें।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि वासनाओं के नाश के द्वारा मैं अपने को प्रभु का कोपभाजन नहीं होने देता (१), मैं द्रोह से ऊपर उठता हूँ (२), असत्य से दूर होता हूँ और (३) इसप्रकार ज्ञान-प्रसार करता हुआ भवसागर से पार होता हूँ (४)। इसप्रकार की उत्तम वृत्ति होने पर हमारी सन्तान भी उत्तम बनती हैं—

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

पुरुष 'अर्यमा' हो, स्त्री 'ऋतप्रजाता'

वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः।
सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ॥ १॥

१. हे **पूषन्**=सबका पोषण करनेवाले प्रभो! **ते वषट्**=आपके लिए हम अपना अर्पण करते हैं। **अस्मिन् सूतौ**=इस सन्तानोत्पत्ति के कार्य में **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) काम-क्रोध आदि का विजेता, **होता**=दानपूर्वक अदन करने-(खाने)-वाला, यज्ञशेष का सेवन करनेवाला, **वेधाः**=बुद्धिपूर्वक कार्यों का करनेवाला व्यक्ति **कृणोतु**=साहाय्य करे। अर्यमा, होता व वेधा पुरुष की सन्तानें उत्तम तो होती ही हैं। इस पुरुष की सन्तानें उत्पन्न भी सुखपूर्वक होती हैं। २. **ऋतप्रजाता**=पूर्णतया ऋत के अनुसार सन्तानों को जन्म देनेवाली (ऋतेन प्रजाता) **नारी**=यह उन्नति-पथ पर चलनेवाली स्त्री **सिस्रताम्**=ठीक से गति करे। यह **सूतवा उ**=उत्पत्ति के लिए निश्चय से **पर्वाणि**=अङ्ग-सन्धियों को **विजिहताम्**=शिथिल करे। इसके अङ्गों में तनाव न हो, यह उन्हें ढीला छोड़नेवाली हो, जिससे सन्तान-उत्पत्ति सुविधा से हो सके। ३. गृहस्थ के पच्चीस वर्षों में अधिक-से-अधिक दस सन्तानों का विधान है। एवं, एक सन्तान के बाद दूसरी सन्तान में ढाई वर्ष का अन्तर आवश्यक है। कम-से-कम इतने अन्तर से सन्तानों को जन्म देनेवाली नारी ही 'ऋतप्रजाता' है। पुरुष कामादि को वश में करनेवाला, यज्ञशेष का सेवन करनेवाला तथा बुद्धिमत्ता से कार्यों को करनेवाला हो और नारी 'ऋतप्रजाता' हो तो सन्तान अवश्य सुख से होंगे। इस कार्य के लिए स्त्री के लिए भी आवश्यक है कि वह दैनिक कार्यक्रम को ठीक से करे और अङ्ग-पर्वों में तनाव उत्पन्न न होने दे। ४. पति-पत्नी के लिए प्रभु के प्रति अपना अर्पण करना तो आवश्यक है ही।

भावार्थ—सुख-प्रसव के लिए आवश्यक है कि (क) पति-पत्नी प्रभु के प्रति अपना समर्पण करनेवाले हों, (ख) पुरुष काम से अनभिभूत, यज्ञशेष का सेवी और बुद्धिमान् हो, (ग) नारी कम-से-कम ढाई वर्ष के अन्तर से सन्तान को जन्म देनेवाली हो। दैनिक कार्यक्रम में ठीक रहे। अङ्ग-पर्वों में तनाव उत्पन्न न होने दे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

देवों का सम्पर्क व सुख-प्रसव

चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत। देवा गर्भं समैरयन्तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे॥ २॥

१. **दिवः**=द्युलोक की **चतस्रः प्रदिशः**=चारों प्रकृष्ट दिशाएँ, **भूम्याः चतस्रः**=भूमि की चारों दिशाएँ **उत**=और **देवाः**=इन दिशाओं में स्थित सब देव **गर्भम्**=गर्भ को **सम् एरयन्**=सम्यक्तया उस-उस शक्ति को प्राप्त करानेवाले होते हैं। 'द्युलोक की चारों दिशाएँ तथा भूमि की चारों दिशाएँ' इस वाक्यांश (मुहावरे) का भाव यही है कि 'सारा ब्रह्माण्ड'। वस्तुतः यह शरीर-पिण्ड ब्रह्माण्ड का छोटा रूप होता है—**'यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'**। इस पिण्ड में ब्रह्माण्ड के सूर्यादि देव अपनी-अपनी शक्ति प्राप्त कराते हैं। सूर्य ही 'चक्षु' का रूप धारण करके आँख में रहने लगता है, वायु 'प्राण' बनकर नासिका में, अग्नि 'वाक्' बनकर मुख में। इसीप्रकार भिन्न-भिन्न सब देव शरीर में वास करके शरीर को सशक्त बनाते हैं। गर्भिणी नारी इन देवों के सम्पर्क में रहती हुई गर्भस्थ सन्तान को इन सब देवों की शक्ति से युक्त करती है। २. अब ये सब देव

ताम्=उस गर्भस्थ सन्तान को **सूतवे**=सुख-प्रसव के लिए **वि ऊर्णुवन्तु**=गर्भ के आवरण से रहित करें, गर्भ के आच्छादन से बाहर लानेवाले हों। यहाँ यह स्पष्ट है कि जो स्त्री सूर्य-किरणों व वायु आदि के सम्पर्क में रहेगी, खुली दिशाओं में विहारशील होगी, वह सन्तान को सुख से जन्म देनेवाली होगी।

भावार्थ—सूर्यादि देवों का सम्पर्क सुख-प्रसूति में अत्यन्त सहायक है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**चतुष्पदोष्णिग्गर्भा ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

सूषणा-बिष्कला

सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि। श्रथया सूषणे त्वमव त्वं बिष्कले सृज॥ ३॥

१. **सूषा**=(सूषति, begets) सन्तान को जन्म देनेवाली यह माता **वि ऊर्णोतु**=आवरण को दूर हटानेवाली हो। **योनिम्**=योनि-प्रदेश को **विहापयामसि**=खुला करते हैं। योनिप्रदेश की संकीर्णता के कारण सुख-प्रसव में होनेवाली बाधा को दूर करते हैं। २. हे **सूषणे**=उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली जननि! **त्वम्**=तू **श्रथय**=प्रसन्न मनोवृत्तिवाली हो (to be glad)। सुख-प्रसव के लिए मानस प्रसाद की अत्यन्त आवश्यकता है। मन के विकास के साथ अन्य अङ्गों का भी विकास होता है और मन के मुरझाने के साथ अन्य अङ्गों का भी सङ्कोच। यह सङ्कोच सुख-प्रसव में बाधा बनता है। ३. हे **बिष्कले**=(बिष्कल to kill) विघ्नों को नष्ट करनेवाली अथवा (बिष्क् to see, perceive) सब स्थिति को ठीक रूप में देखनेवाली वीर स्त्रि! **त्वम्**=तू **अवसृज**=सब अङ्गों को शिथिल कर दे। उनमें किसी प्रकार का तनाव न रहने दे और इसप्रकार सुख से सन्तान को जन्म देनेवाली हो।

भावार्थ—सुख-प्रसव के लिए आवश्यक है कि (क) योनि-प्रदेश संकीर्ण न हो, (ख) माता प्रसन्न मनवाली हो और (ग) अङ्गों में किसी प्रकार का तनाव न हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

पृश्नि-शेवलम् (छोटा-सा, सोये-सोये गति करनेवाला)

नेव मांसे न पीवसि नेव मज्जस्वाहतम्।
अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवेऽव जरायु पद्यताम्॥ ४॥

१. **न इव मांसे**=न तो मांस में, **न पीवसि**=न ही चरबी में, **न इव मज्जसु**=और न ही मज्जा (marrow of the bones) में यह सन्तान किसी प्रकार से **आहतम्**=आहत हो। यह **पृश्निः**=छोटे-से परिमाण का (Dwarfish) कोमल (Delicate), **शेवलम्**=(शी+वल्) सोये-सोये गति करनेवाला गर्भस्थ सन्तान **अव एतु**=बाहर आ जाए। २. उसके शरीर का **जरायु**=आवृत करनेवाला जेर **शुने अत्तवे**=कुत्ते के खाने के लिए हो। अथवा यह **जरायु**=जेर **अवपद्यताम्**=पूर्णरूप से बाहर तो आ ही जाए। अन्दर रह गया इसका अंश माता के ज्वर आदि का कारण हो जाता है। ३. यहाँ गर्भस्थ बालक को **पृश्नि**=छोटा-सा कहा गया है। वह सोये-सोये ही शरीर के अन्दर के व्यापार कर रहा होता है, अतः 'शे-वल' है। यह गर्भस्थ बालक का सुन्दरतम चित्रण है। यह मांस, चर्बी व मज्जा आदि सब धातुओं में किसी भी प्रकार से हिंसित न हो। इसकी सब धातुएँ ठीक हों। आवरणभूत जरायु इसका ठीक रक्षण करे और सन्तान के बाहर आ जाने पर इस जरायु को कुत्ते आदि के लिए फेंक दिया जाए। जरायु का अंश अन्दर न रह जाए।

भावार्थ—गर्भस्थ बालक की सब धातुएँ ठीक हों। वह जरायु से सुरक्षित हुआ बाहर आ जाए और पूर्ण स्वस्थ हो। जरायु के ठीक बाहर आ जाने से माता भी पूर्ण स्वस्थ हो।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ता:**॥ छन्द:—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

अङ्ग-विकास

वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम्॥ ५॥

१. हे मात:! **ते**=तेरे **मेहनम्**=गर्भ-मार्ग को **विभिनद्मि**=विशेषरूप से खुला करता हूँ। इसीप्रकार **योनिम्**=योनि को भी **वि**=खुला करता हूँ और **गवीनिके**=दोनों नाड़ियों को भी **वि**=खुला करता हूँ। इन सबके संकीर्ण न होने से सन्तान का सुख-प्रसव होता है। २. बाहर आने पर **मातरं च पुत्रं च**=माता व पुत्र को **वि**=अलग-अलग करते हैं। उन्हें जोड़नेवाली नाड़ी को काटकर उनके पृथक् जीवन का आरम्भ करते हैं। आज तक माता ही खाती थी, उसकी रस आदि धातुएँ बनकर बच्चे को उस नाड़ी से प्राप्त हो जाती थीं। अब बच्चा स्वयं खाएगा और स्वतन्त्ररूपेण शरीर-धातुओं को उत्पन्न करेगा। ३. **कुमारं जरायुणा वि**=इस उत्पन्न कुमार को जरायु से पृथक् करते हैं। अब यह आवरण उसके लिए अनावश्यक हो गया है, अत: यह **जरायु**=जेर **अवपद्यताम्**=नीचे गिर जाए—बच्चे के शरीर से पृथक् हो जाए।

भावार्थ—सब मार्गों के ठीक विकास से ही सुख-प्रसव सम्भव होता है।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ता:**॥ छन्द:—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

दशमास्य

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पताव जरायु पद्यताम्॥ ६॥

१. **यथा**=जैसे **वातः**=वायु: [पतति] सहज स्वभाव से चलती है, **यथा मनः**=जैसे मन तीव्र गतिवाला होता है, **यथा**=जैसे **पक्षिणः**=पक्षी **पतन्ति**=दोनों पङ्खों से गति करते हैं, **एव**=उसी प्रकार हे **दशमास्य**=दस मास की अवस्थावाले गर्भ से बाहर आनेवाले बालक! **त्वम्**=तू **जरायुणा साकम्**=जेर के साथ **पत**=गतिवाला हो, गर्भ से बाहर आ और **जरायु**=यह जेर **अवपद्यताम्**=तुझसे पृथक् हो जाए। २. वायु की सहज गति की भाँति गर्भ सहज गति से बाहर आनेवाला हो। मन की शीघ्र गति की भाँति बाहर आने की क्रिया में तनिक भी विलम्ब न हो। पक्षियों के दोनों पङ्खों की गति की भाँति इस उत्पन्न बालक के अवर व पर—दोनों गात्र ठीक हों। इसकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ ठीक प्रकार से कार्य करनेवाली हों।

भावार्थ—सन्तान के प्रसव का ठीक समय वही है जब वह दशमास्य होता है। यह दशमास्य दशम दशक तक—शतवर्षपर्यन्त जीनेवाला होता है।

विशेष—सूक्त के आरम्भिक मन्त्र में कहा है कि पुरुष 'अर्यमा, होता व वेधा' हो, स्त्री ऋत-प्रजाता हो तो सन्तान सुख से प्रसूत होती है (१)। सुख-प्रसव के लिए देवों के सम्पर्क में रहना आवश्यक है (२)। माता को प्रसन्न मनवाला होना चाहिए (३), तभी बालक की सब धातुएँ भी ठीक बनेंगी (४)। माता के गर्भाङ्गों का ठीक विकास सुख-प्रसूति के लिए आवश्यक है (५)। ऐसा होने पर यह दस मास का बालक सुखपूर्वक गति करता हुआ बाहर आ जाता है (६)। जिस प्रकार जरायु के आवरण से निकलकर बालक प्रकट होता है, उसी प्रकार मेघों के आवरण से निकलकर सूर्य चमक उठता है। सूर्य भी मानो जरायुज है—

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

वात व वृष्टि का कारणभूत 'सूर्य'

जरायुजः प्रथम उस्रियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या।
स नो मृडाति तन्व ऋजुगो रुजन्य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे॥ १॥

१. **जरायुजः प्रथमः**=(जरायु Womb) पृथिवी के गर्भ से सबसे प्रथम उत्पन्न होनेवाला। सूर्य ही तो प्रथम उत्पन्न होता है, उसी का कुछ अंश टूटकर पृथिवी रूप हो गया है। यह सूर्य **उस्रियः**=(उस्रिया अस्य अस्ति) चमक और प्रकाशमय किरणोंवाला, **वृषा**=वृष्टि का कारणभूत **वातभ्रजाः**=वायु व अभ्रों (मेघों) को जन्म देनेवाला है। सूर्य की उष्णता से भूमिपृष्ठ गरम होता है। इस गर्मी से वहाँ की वायु गरम होकर फैलती है और हल्की होकर ऊपर उठती है। उसका स्थान लेने के लिए समुद्र की ओर से वायु स्थल की ओर आने लगती है। इसप्रकार वायु में गति होती है। इस गति का कारण सूर्य ही है। जलों के वाष्पीकरण के द्वारा मेघों का निर्माण भी सूर्य से ही होता है। २. यह सूर्य **स्तनयन्**=विद्युत् के रूप में गर्जना करता हुआ **वृष्ट्या**=वृष्टि के साथ **एति**=आता है। द्युलोक में प्रभु का जो ओज सूर्यरूप में प्रकट हो रहा है, वही अन्तरिक्ष में विद्युत् के रूप में और पृथिवी पर अग्नि के रूप में प्रकट होता है। एवं विद्युत् के रूप में सूर्यवाला ओज ही गर्जना कर रहा होता है। ३. **सः**=यह सूर्य **नः तन्वे**=हमारे शरीर के लिए **मृडाति**=सुख उत्पन्न करता है। **ऋजुगः**=यह सरल मार्ग से चलता है और **रुजन्**=हमारे शरीर के दोषों को नष्ट करता हुआ अपने मार्ग पर जाता है। सूर्य की किरणें शरीर के दोषों को नष्ट करती ही हैं। यह सूर्य वह है **यः**=जोकि **एकम् ओजः**=एक ही ओज को **त्रेधा**=तीन प्रकार से **वि चक्रमे**=विक्रान्त करता है—(क) इसके ओज से सर्वत्र प्राणशक्ति का सञ्चार होता है, (ख) अन्धकार दूर होता है, सर्वत्र प्रकाश फैलता है तथा (ग) वसन्त आदि ऋतुभेद व सम्पूर्ण काल-व्यवहार का यह कारण बनता है। 'प्राणशक्ति का सञ्चार, प्रकाश का विस्तार व काल का निर्माण'—ये तीन कार्य इस सूर्य के ओज से हो रहे हैं।

भावार्थ—सूर्य वात व वृष्टि का कारण है। वह रोगों को दूर करता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सूर्य-नमस्कार

अङ्गेअङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम।
अङ्कान्त्समङ्कान्हविषा विधेम यो अग्रभीत्पर्वास्या ग्रभीता॥ २॥

१. हे सूर्य! **अङ्गेअङ्गे**=एक-एक अङ्ग में **शोचिषा**=दीप्ति से **शिश्रियाणम्**=आश्रय करते हुए **त्वा**=तुझे **नमस्यन्तः**=नमस्कार करते हुए हम **हविषा**=दानपूर्वक अदन (भक्षण) से अथवा अग्निहोत्र से **विधेम**=(विध्=to pierce, to cut) रोगों को कोटनेवाले बनें तथा (ग) हवि का सेवन करें—प्रातः-सायं घर पर अग्निहोत्र करें तथा यज्ञशेष का ही सेवन करें। ये तीन बातें हमें अवश्य ही रोगों से मुक्त करेंगी। २. हम **हविषा**=हवि के द्वारा, अग्निहोत्र के द्वारा तथा यज्ञशेष के सेवन द्वारा **अङ्कान्**=लक्षणों को **समङ्कान्**=उत्तम लक्षण **विधेम**=बनाएँ। 'अङ्क' शब्द का अर्थ शरीर (Body) भी है। हम हवि के द्वारा शरीरों को उत्तम बनाएँ और **यः**=जो **ग्रभीता**=पकड़ लेनेवाला रोग **अस्य**=इसके **पर्व**=जोड़ों को **अग्रभीत्**=जकड़ बैठा है, उस रोग को भी हवि के द्वारा काटनेवाले हों। ऋग्वेद [१०।१६१।१] में **'ग्राहिर्जग्रह यदि वैतदेनम्'** इन शब्दों से इस भाव

को कहा गया है।

भावार्थ—सूर्य-नमस्कार व्यायाम करते हुए सूर्य-दीप्ति को अपने शरीर पर लेते हुए तथा अग्निहोत्र के द्वारा और भोजन में यज्ञशेष के सेवन से रोग कट जाते हैं, शरीर सुलक्षणोंवाला बनता है और वात-पीड़ाएँ दूर हो जाती हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सिरदर्द, खाँसी व सन्धिपीड़ा से छुटकारा

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य।
यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च॥ ३॥

१. हे सूर्य! **एनम्**=गतमन्त्र के अनुसार सूर्य-नमस्कार करनेवाले व हवि का सेवन करनेवाले पुरुष को **शीर्षक्त्याः**=सिरदर्द से **मुञ्च**=मुक्त कर, **उत**=और **यः कासः**=जो खाँसी व **अस्य परुष्परुः**=इसके प्रत्येक जोड़ में पीड़ा के रूप में रोग **आविवेश**=प्रविष्ट हो गया है, उस रोग से इसे मुक्त कर। २. **यः**=जो **अभ्रजाः**=बादलों से होनेवाला—इन बादलों व वृष्टि से उत्पन्न सीलवाली वायु से होनेवाला कफ़ का रोग है, **वातजः**=वायु से होनेवाला रोग है, **यः च**=और जो **शुष्मः**=पैत्तिक विकार के कारण अङ्गों के शोषण का कारणभूत रोग है—उस सबको हे सूर्य! तू दूर करनेवाला है। ३. इन रोगों के होने पर यह रोगी **वनस्पतीन् सचताम्**=विविध वनस्पतियों का सेवन करनेवाला हो **च**=और आवश्यक होने पर **पर्वतान्**=पर्वतों का सेवन करे। पर्वतों का जलवायु पैत्तिक विकारों में विशेषरूप से लाभकारी होता है।

भावार्थ—सूर्य-किरणों का सेवन 'सिरदर्द, खाँसी व सन्धिपीड़ाओं' से मुक्त करता है और वनस्पतियों व पर्वत-वायु का सेवन मनुष्य को कफ़, वात व पित्त के विकारों से बचाता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

चारों अङ्गों में शान्ति

शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे।
शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वे३ मम॥ ४॥

१. **मे**=मेरे **परस्मै गात्राय**=शरीर के ऊपर के अङ्गों के लिए **शम्**=शान्ति **अस्तु**=हो। **मे**=मेरे **अवराय**=शरीर के निचले अङ्गों के लिए भी **शम् अस्तु**=शान्ति हो। सूर्य-किरणों का सेवन मेरे एक-एक अङ्ग को नीरोग व शान्त बनाए। सूर्य-किरणों का सेवन शरीर के उपद्रवों को दूर करनेवाला हो। २. **मे**=मेरे **चतुर्भ्यः**=चारों **अङ्गेभ्यः**=अङ्गों के लिए **शम् अस्तु**=शान्ति हो। 'सिर, छाती, उदर व टाँगे'—स्थूलतया ये शरीर के चार अङ्ग हैं। समाज-शरीर में ये ही 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र' कहलाते हैं। मेरे ये चारों ही अङ्ग शान्त व निरुपद्रव हों। इनके ठीक होने पर ही **मम तन्वे शम्**=मेरा सम्पूर्ण शरीर नीरोग, स्वस्थ और शान्त हो।

भावार्थ—सूर्य-किरणों का सेवन शरीर के सब अङ्गों को शान्त और निरुपद्रव बनाता है।

विशेष—सूक्त के प्रथम मन्त्र में सूर्य को रोगों को नष्ट करनेवाला कहा है (१)। यह रोगों को काट देता है (२)। सिरदर्द, खाँसी व सन्धिपीड़ा से मुक्त करता है (३)। शरीर के चारों अङ्गों को शान्त रखता है। इन सूर्य-किरणों का व हवि का ही सेवन करनेवाला यह व्यक्ति भृगु है, 'भ्रस्ज पाके' अपनी शक्तियों का ठीक से परिपाक करता है और अपने सब अङ्गों को नीरोग बनाकर 'अङ्गिरस' बनता है—एक-एक अङ्ग में रसवाला—लोच व लचकवाला। यह 'भृगु-अङ्गिराः' ही १२ से १४ तक के सूक्तों का ऋषि है। १४वें सूक्त में यह ईश्वर के प्रति

नमन करता हुआ प्रार्थना करता है कि—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**विद्युत्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विद्युत्, स्तनयित्नु व अश्मा

नम॑स्ते अस्तु विद्युते नम॑स्ते स्तनयित्नवे॑। नम॑स्ते अस्त्वश्म॑ने येना॑ दूडाशे अस्य॑सि॥ १ ॥

१. हे प्रभो! **विद्युते ते नमः अस्तु**=वृष्टिकाल में विद्युत् के रूप में चमकते हुए आपके लिए नमस्कार हो। **स्तनयित्नवे**=मेघों में गर्जना के रूप में शब्द करते हुए **ते नमः**=आपके लिए हम नतमस्तक हों। **अश्मने ते**=बीच-बीच में ओलों के रूप में बरसनेवाले आपके लिए **नमः अस्तु**=हमारा नमस्कार हो। २. हम आपको नमस्कार करते हैं **येन**=क्योंकि **दूडाशे**=(दाश्नोति to kill) बुरी तरह से हमारा नाश करनेवाली काम-क्रोधादि वृत्तियों को आप हमसे **अस्यति**=परे फेंकते हो (दूडाश के द्विवचन का यहाँ प्रयोग है)। काम-क्रोधादि वृत्तियाँ हमारा नाश करती हैं। '**तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ**'। प्रभु का स्मरण इन वृत्तियों को नष्ट करता है और इसप्रकार हमारा कल्याण करता है।

भावार्थ—विद्युत्, स्तनयित्नु व अश्मा में प्रभु की ही शक्ति कार्य कर रही है। यह प्रभुशक्ति ही हमारे काम-क्रोध का भी नाश करके हमारा रक्षण करती है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**विद्युत्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तप व उन्नति

नम॑स्ते प्रवतो नपाद्यतस्तपः॑ समूहसि। मृडया॑ नस्तनूभ्यो मय॑स्तोकेभ्य॑स्कृधि॥ २ ॥

१. **प्रवतः नपात्**=उच्चता से न गिरने देनेवाले हे प्रभो! **ते नमः**=हम आपके लिए नमस्कार करते हैं। आप उच्चता से न गिरने देनेवाले इसलिए हैं, **यतः**=क्योंकि **तपः समूहसि**=आप तप का सञ्चय करते हैं। तप ही सम्पूर्ण उत्थान का मूल है। तप का विपरीत पत=पतन है। प्रभु तपःरूप हैं, अतः पूर्ण उन्नत हैं। प्रभुकृपा से हम भी तपस्वी बनते हैं और उन्नत हो पाते हैं। उन्नति तप के अनुपात में ही होती है। २. हे प्रभो! आप इस तप के द्वारा **नः**=हमारे **तनूभ्यः**=शरीरों के लिए **मृडय**=सुख देनेवाले होवें। इस तपस्या के परिणामस्वरूप हमारे शरीरों में किसी प्रकार का रोग न हो। हमें नीरोग बनाकर आप **तोकेभ्यः**=हमारे सन्तानों के लिए भी **मयः**=कल्याण **कृधि**=कीजिए। हमारे स्वस्थ शरीरों से हमारे सन्तानों के शरीर भी स्वस्थ हों।

भावार्थ—उच्चता तपोमूलक है। तप से ही हमारे शरीर भी स्वस्थ होते हैं, परिणामतः सन्तानों का भी कल्याण होता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**विद्युत्** ॥ छन्दः—**चतष्पाद्विराड्जगती** ॥

प्रेरणा व तपस्या

प्रव॑तो नपान्नम॑ एवास्तु तुभ्यं॒ नम॑स्ते हेतये॒ तपु॑षे च कृण्मः।
विद्म ते॒ धाम॑ पर॒मं गुहा॒ यत्स॑मुद्रे अ॒न्तर्निहि॑तासि॒ नाभिः॑॥ ३ ॥

१. **प्रवतो नपात्**=उच्च स्थान से न गिरने देनेवाले प्रभो! **तुभ्यम्**=आपके लिए **नमः एव अस्तु**=हमारा नमस्कार हो। **ते**=आपकी **हेतये**=प्रेरणा के लिए **च**=तथा **तपुषे**=तपस्या के लिए **नमः कृण्मः**=हम नमस्कार करते हैं। हम आपकी प्रेरणा (हि=प्रेरणे) को सुनते हैं और जीवन में तपस्या को नष्ट नहीं होने देते तो हम उन्नत-ही-उन्नत होते हैं, किसी प्रकार से हमारी अवनति नहीं होती। इसलिए यह प्रेरणा और तपस्या—दोनों ही वस्तुतः आदरणीय हैं। २. इस प्रेरणा के

सुनने व तपस्या को अपनाने से ही हम **ते**=आपके **परमं धाम्**=उत्कृष्ट तेज को **विद्म**=जान पाते हैं। **यत्**=जो उत्कृष्ट तेज मलिन अन्तःकरणों में द्रष्टव्य नहीं होता। ३. आप **नाभिः**=(णह बन्धने) इस ब्रह्माण्ड के सब लोक-लोकान्तरों को अपने में बाँधनेवाले हैं '**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव**'। आप सूत्रों-के-सूत्र हैं। ये सब लोक आपमें ही ओत-प्रोत हैं। ऐसे आप **समुद्रे**=(स-मुद्) प्रसाद से युक्त अन्तःकरण के **अन्तः**=अन्दर **निहिता असि**=स्थापित हैं। आपका दर्शन निर्मल व प्रसन्न हृदय में ही होता है। प्रसन्न मनवाले लोग ही आपके निवास-स्थान हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रेरणा को सुनें व तपस्वी बनें। यही प्रभु-दर्शन का मार्ग है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**विद्युत्** ॥ छन्दः—**चतष्पाद्विराड्जगती** ॥

दिव्य इषु

यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वाना असनाय धृष्णुम्।
सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥ ४ ॥

१. हे **देवि**=प्रभु की दिव्यशक्ते! **तस्यै ते नमः अस्तु**=उस तेरे लिए नमस्कार हो, **याम्**=जिस तुझे **विश्वेदेवाः**=सब देव **धृष्णुम्**=धर्षक शत्रु को—काम-क्रोध आदि पराभूत करनेवाले शत्रुओं को **असनाय**=परे फेंकने के लिए **इषुं कृण्वाणाः**=बाण के रूप में करते हुए **असृजन्त**=उत्पन्न करते हैं। मनुष्य के लिए काम-क्रोध आदि को जीतना सम्भव नहीं। उस समय देववृत्ति के लोग परमेश्वर की दैवी शक्ति को अपना इषु (बाण) बनाते हैं। इस इषु से काम का पराजय होता है। प्रभु-स्मरण काम का विध्वंस करता है। २. **सा**=वह ईश्वरीय शक्ति **विदथे गृणाना**=ज्ञानयज्ञों में स्तुति की जाती हुई **नः मृड**=हमारे लिए सुख करनेवाली हो। 'विदथ' शब्द युद्ध के लिए भी प्रयुक्त होता है। यह शक्ति काम आदि के साथ युद्ध के प्रसंग में हमारा कल्याण करनेवाली हो।

भावार्थ—प्रभु की दिव्य शक्ति कामादि के साथ युद्ध में हमारा इषु बनती है और काम का विध्वंस करती है।

विशेष—प्रभु की शक्ति ही सर्वत्र कार्य करती है (१)। तप उस शक्ति को प्राप्त करने का साधन है (२)। तप और प्रभु-प्रेरणा को सुनना ही प्रभु-दर्शन के मार्ग हैं (३)। प्रभु की दिव्य शक्ति इषु बनकर हमारे लिए काम का विध्वंस करती है (४)। इन तपस्वी कुलों में ही कुलवधुओं का जन्म होता है—

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

कुलवधू के मुख्य गुण 'भगं, वर्चः'

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्। महाबुध्नइव पर्वतो ज्योक्पितृष्वास्ताम् ॥ १ ॥

१. वैदिक पद्धति में एक युवक अपनी जीवन-यात्रा की निर्विघ्न पूर्ति के लिए अपना एक साथी चुनता है। वह वरणीय कन्या में दो गुणों को महत्त्व देता है। वे गुण हैं—'**भगं, वर्चः**'। वह कहता है कि मैं **अस्याः**=इस कन्या के **भगम्**=अन्तः व बाह्य सौन्दर्य (Exellence, Beauty) को तथा **वर्चः**=तेजस्विता को **आदिषि**=आदर से देखता हूँ (Pay a tribute to) और **वृक्षात् अधि स्रजम् इव**=वृक्ष से जैसे माला को ग्रहण करते हैं, पुष्पों को लेकर माला बनाते हैं, इसीप्रकार इस कन्या के पितृकुलरूप वृक्ष से गुणरूपी माला से अलंकृत इस कन्या का ग्रहण करता हूँ।

२. **महाबुध्नः पर्वतः इव**=जैसे विशाल मूलवाला पर्वत स्थिरता से एक स्थान में रहता है, उसी प्रकार यह कन्या **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **पितृषु**=माता-पिता के समीप **आस्ताम्**=निवास करे। यहाँ 'माता-पिता के साथ देर तक रहना' उसके बड़ी अवस्था में विवाह का सङ्केत करता है, तथा 'घर में पर्वत के समान स्थिरता से रहना' उसके व्यर्थ इधर-उधर न घूमने व सच्चरित्रता को व्यक्त करता है।

भावार्थ—विवह के योग्य कन्या 'भग व वर्च' वाली है, बड़ी अवस्थावाली व युवति है, घर में स्थिरता से रहनेवाली अचपल है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वर के मुख्य गुण 'नियमितता, संयम'

एषा ते राजन्कन्या वधूर्नि धूयतां यम।
सा मातुर्बध्यतां गृहे ऽथो भ्रातुरथो पितुः ॥ २ ॥

१. युवक के प्रस्ताव करने पर कन्या के माता-पिता सब विचार करते हैं और विचार के पश्चात् प्रस्ताव की स्वीकृति देते हुए कहते हैं कि हे **राजन्**=भौतिक क्रियाओं (खान-पान, सोना-जागना) आदि में अत्यन्त नियमित जीवनवाले, समय पर इन सब कार्यों को करनेवाले **यम**=संयमी जीवनवाले युवक! **एषा कन्या**=यह अपने गुणों व तेज से चमकनेवाली **वधूः**=सब कार्यभार का वहन करनेवाली हमारी सन्तान **ते**=तेरे लिए **निधूयताम्**=हमारे घर से तेरे घर में भेज दी जाए (Remove)। युवक की द्रष्टव्य विशेषताएँ 'राजन् व यम' शब्दों से स्पष्ट हैं। वह युवक भोजन आदि की क्रियाओं में बड़ा नियमित हो और संयमी जीवनवाला हो। युवति भी तेज से चमके; रुधिर-अभाव से पिङ्गला-सी न हो तथा गृहकार्य वहन करनेवाली हो। २. **सा**=वह कन्या विवाहित होने के पश्चात् **मातुः गृहे बध्यताम्**=माता के घर में सम्बन्धवाली हो, अर्थात् जब वह पतिगृह से कहीं अन्यत्र ज़ाए तो नाना के घर में जाए **अथो**=और **भ्रातुः**=अपने भाई के घर में जाए, **अथो**=और **पितुः**=अपने पिताजी के घर में जाए। अन्य सम्बन्धियों के घरों में आने-जाने से कई बार व्यर्थ के कलह उठ खड़े होते हैं। इधर-उधर कम जाने से सम्बन्ध मधुर बने रहते हैं। एवं, कन्या की शोभा इसी में है कि वह नाना, दादा (पिता) व भाई के घर में ही अधिकतर जानेवाली हो।

भावार्थ—युवक नियमित जीवनवाला व संयमी हो। युवति तेजोदीप्त व गृहकार्य वहन करने में सक्षम हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाविराडनुष्टुप्** ॥

विवाह का उद्देश्य

एषा ते कुलपा राजन्तामु ते परि दद्मसि। ज्योक्पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः समोप्यात् ॥ ३ ॥

१. हे **राजन्**=नियमित जीवनवाले युवक! **एषा**=यह वधू **ते**=तेरे **कुलपा**=कुल का रक्षण करनेवाली हो, तुझसे सन्तान को जन्म देकर तेरे कुल का विच्छेद न होने देनेवाली हो। **ताम्**=उसे हम **उ**=निश्चय से **ते**=तेरे लिए **परि दद्मसि**=देते हैं। २. यह कन्या वह है जोकि **आ शीर्ष्णः समोप्यात्**=(सम् आ वप्) सिर में, मस्तिष्क में ज्ञान के सम्यक् वपन के समय तक **ज्योक्**=देर तक **पितृषु आसाता**=माता-पिता व आचार्य के समीप रही है। 'पितृषु' यह बहुवचन शब्द आचार्य-सान्निध्य का भी सङ्केत कर रहा है। ज्ञान देने से आचार्य भी पिता ही है।

भावार्थ—विवाह का प्रमुख उद्देश्य वंश का उच्छेद न होने देना ही है, अतः गृहस्थ एक

अत्यन्त पवित्र आश्रम है। मस्तिष्क को ज्ञान से अलंकृत करने के पश्चात् ही एक युवति इसमें प्रवेश करती है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पत्नी 'अन्तः कोश'-सी

असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च।
अन्तःकोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम्॥ ४॥

१. **असितस्य ते**=विषयों से अबद्ध जो तू **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **कश्यपस्य**=(पश्यकस्य) वस्तुओं को ठीक रूप में देखनेवाला जो तू, वस्तुतः विषयों की आपात रमणीयता से तू इसीलिए तो मोहित नहीं हुआ कि तूने उन्हें ठीक रूप में देखा है, **गयस्य च**=प्राणशक्ति से सम्पन्न जो तू है, उस तेरे लिए **जामयः**=पत्नी **अन्तः कोशम् इव**=आध्यात्मिक सम्पत्ति के समान हैं। विषयों से अबद्ध, ज्ञान के कारण तात्त्विक दृष्टिवाला, प्राणसाधक पुरुष पत्नी को अपनी आध्यात्मिक सम्पत्ति के रूप में देखता है। वह पत्नी में एक मित्र को पाता है, जो उसे पतन से बचाकर उत्थान की ओर ले-जानेवाली होती है। वैषयिक, अतात्त्विक दृष्टिवाले, प्राणशक्ति के महत्त्व को न समझनेवाले पुरुष के लिए यह स्त्री ही नरक का द्वार हो जाती है। २. कन्या का पिता कहता है कि हम अपनी कन्या को तुम्हारे लिए क्या देते हैं **ते भगम्**=तुम्हारा ऐश्वर्य **अपि नह्यामि**=तुम्हारे साथ जोड़ते हैं।

भावार्थ—पति 'असित, कश्यप व गय' होता है तो पत्नी उसके लिए 'अन्तःकोश' के समान होती है।

विशेष—कुलवधू 'भग व वर्च' वाली हो (१)। वर नियमित जीवनवाला व संयमी हो (२)। वह विवाह का मूलोद्देश्य वंश-अविच्छेद ही समझे (३)। अवैषयिक, तात्त्विक-दृष्टिवाले, प्राणसाधक पुरुष के लिए पत्नी 'अन्तःकोश'-सी है (४)। इसप्रकार के घरों में ही प्रेम और मेल बना रहता है। यह प्रेम सामाजिक सङ्गठन के रूप में व्यक्त होता है—

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सिन्ध्वादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥

सङ्गठन यज्ञ में आहुति

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्ये॑ण हविषा जुहोमि॥ १॥

१. **सिन्धवः**=नदियाँ **सम्**=मिलकर **संस्रवन्तु**=उत्तमता से बहती रहें। छोटे-छोटे स्रोत अलग-अलग ही बहते रहें तो वे शीघ्र ही सूख जाएँगे और उनमें किसी प्रकार की शक्ति भी नहीं दीखती। ये स्रोत मिलकर एक प्रबल वेगवाली नदी के रूप में बहते हैं और मार्ग में आये वृक्ष आदि को उखाड़कर आगे बढ़ते जाते हैं। २. इसीप्रकार **वाताः**=वायुएँ भी **सम्**=मिलकर ही प्रबल वेगवाली हो जाती हैं। वायुवेग भी अलग-अलग होकर बहना चाहें तो वे शायद पत्तों को भी न हिला सकें। ३. **पतत्रिणः**=पक्षी भी **सम्**=मिलकर ही शक्ति-सम्पन्न बनते हैं। एक टिड्डी का कोई अर्थ ही नहीं, परन्तु टिड्डीदल अत्यन्त भयङ्कर रूप धारण कर लेता है। ४. प्रभु कहते हैं कि—**मे**=मेरे **इमम्**=इस **यज्ञम्**=सङ्गठन के भाव को (यज्=सङ्गतिकरण) **प्रदिवः**=प्रकृष्ट ज्ञानी पुरुष **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवित करें। ज्ञानी सङ्गठन के महत्त्व को समझते हैं और वे मिलकर ही चलते हैं। अज्ञानी व मूर्खता में सब अपने ही स्वार्थ को देखते हैं, परिणामतः वहाँ

सङ्गठन नहीं हो पाता। ५. एक ज्ञानी पुरुष निश्चय करता है कि **संस्राव्येन**=मिलकर चलने के लिए—सङ्गठन के लिए हितकर **हविषा**=दान की वृत्ति से **जुहोमि**=मैं अपनी आय के अंश को आहुति के रूप में देता हूँ। यह अंश कर व दान के रूप में दिया जाकर सङ्गठन को दृढ़ बनानेवाला होता है।

भावार्थ—नदियाँ, वायुएँ व पक्षिगण सङ्गठन के महत्त्व को व्यक्त कर रहे हैं। हम सङ्गठन-यज्ञ में अवश्य आहुति देनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सिन्ध्वादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्पथ्यापङ्क्तिः**॥

पशुभाव का नाश

इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन्तिष्ठतु या रयिः॥ २॥

१. सङ्गठन का प्रधान कहता है कि **इह**=यहाँ **मे हवम्**=मेरी पुकार होने पर **आयात एव**=आओ ही, **उत**=और यहाँ सभास्थल में आकर हे **संस्रावणाः गिरः**=सङ्गठन करनेवाले प्रचारको! **इमम् वर्धयत**=इस सङ्गठन को बढ़ाओ, अर्थात् सङ्गठन के महत्त्व को लोगों के हृदयों पर अङ्कित करके उनमें सङ्गठन की भावना भर दो। २. तुम्हारी इन वाणियों के परिणामस्वरूप **यः पशुः**=जो पाशविक भावना है, स्वार्थ के कारण अलग-अलग रहने की भावना है, वह **सर्वः**=सभी **इह एतु**=यहाँ सभास्थल पर आये और वह यहीं रह जाए, वह यहीं यज्ञाग्नि में भस्म हो जाए और **अस्मिन्**=इन उपस्थित लोगों में **यः रयिः**=जो धन है, धन्य बनानेवाली उत्तम भावना है, वही **तिष्ठतु**=रहे।

भावार्थ—लोग सङ्गठन-यज्ञ के लिए होनेवाली सभाओं में एकत्र हों। वहाँ प्रमुख वक्ताओं के भाषणों से प्रभावित होकर पशुभाव को दूर करें और एकता के भाव से अपने को धन्य बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सिन्ध्वादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सङ्गठन व धन

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि॥ ३॥

१. **ये**=जो **नदीनाम्**=नदियों के **उत्सासः**=प्रवाह **अक्षिताः**=सङ्गठन के कारण अक्षीण हुए-हुए **सदम् संस्रवन्ति**=सदा बहते हैं, प्रभु कहते हैं कि **मे**=मेरे **तेभिः सर्वैः संस्रावैः**=उन सब सम्मिलित प्रवाहों से **धनं सं स्रावयामसि**=धन को प्राप्त कराते हैं। २. सदा बहनेवाली नदियाँ (क) नावों के लिए उपयुक्त मार्ग बनकर व्यापारिक सुविधा उपस्थित करती हैं, इस व्यापार के द्वारा धनवृद्धि होती है, (ख) इनके जलों को बाँध आदि से रोककर विद्युत् उत्पन्न करने की व्यवस्था होती है। वह विविध यन्त्रों के चालन द्वारा धनवृद्धि का कारण होती है, (ग) सदा प्रवाहित होनेवाली नदियाँ नहरों के द्वारा सिंचाई के लिए भी सहायक होती हैं। ३. ये नदियों के प्रवाह अलग-अलग बहते रहें तो न नावें चलतीं, न विद्युत् उत्पन्न होती और न इससे नहरें निकल पातीं।

भावार्थ—सम्मिलित रूप में बहनेवाली नदियों के प्रवाह नावों के मार्ग बनकर विद्युदुत्पादन में सहायक होकर तथा नहरों द्वारा सिंचाई का साधन बनकर धनवृद्धि का कारण होती हैं।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—सिन्ध्वादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

घी, दूध की नदियाँ

ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि॥ ४॥

१. **ये**=जो **सर्पिषः संस्रवन्ति**=घृत के प्रवाह मिलकर चलते हैं। एक-एक बूँद ने क्या बहना? इसीप्रकार **क्षीरस्य च**=जो दूध के प्रवाह बहते हैं और **उदकस्य च**=पानी के प्रवाह भी बहते हैं, इनमें भी एक-एक बूँद को तो नष्ट ही हो जाना था। इसप्रकार **मे**=मेरे **तेभिः सर्वैः संस्रावैः**=उन सब मिलकर बहनेवाले प्रवाहों से **धनम्**=धन को **संस्रावयामसि**=संस्रुत करते हैं। २. एक घर को 'घृत, दुग्ध व जल' के प्रवाह ही धन्य बनाते हैं। घर वही उत्तम है, जहाँ इन वस्तुओं की कमी न हो। इनकी कमी न होने पर मनुष्य सबल, स्वस्थ व सुन्दर शरीरवाला बनकर धनार्जन के योग्य बनता है। २. यहाँ प्रसङ्गवश यह सङ्केत भी ध्यान देने योग्य है कि जहाँ सङ्गठन व मेल होता है वहाँ घृत व दूध आदि की नदियाँ बहती हैं, वहाँ निर्धनता के कारण इन वस्तुओं का अभाव नहीं होता।

भावार्थ—मेल में ही स्वर्ग है, घी-दूध की नदियों का प्रवाह मेल में ही है।

विशेष—इस सूक्त में नदियों, वायुओं व पक्षिगणों के उदाहरण से मेल के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है (१)। सङ्गठन-यज्ञों में हम पशुभाव को नष्ट करने का प्रयत्न करें (२)। सङ्गठन में ही धन है (३), वहीं घी, दूध की नदियों का प्रवाह है (४)। ऐसे सङ्गठनवाले समाज में चोर नहीं होते। यह समाज चोरों का नाश करनेवाला होता है, अतः 'चातन' (चातयति नाशयति) कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

तुरीय अग्नि का उपदेश

ये ऽमावास्यां३ रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्त्रिणः।
अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत्॥ १॥

१. समाज में अच्छी-से-अच्छी व्यवस्था होने पर भी कुछ-न-कुछ न्यूनता रह ही जाती है और ऊँचे-से-ऊँचे समाज में भी कुछ दस्यु-प्रवृत्ति के लोग हो ही जाते हैं। ज्ञानी संन्यासी उपदेश देकर इन्हें उत्तम बनाने का प्रयत्न करें कि **ये**=जो **अमावास्याम् रात्रिम्**=अमावस की रात्रि में **व्राजम्**=समूह में **उदस्थुः**=उठ खड़े होते हैं, **अत्त्रिणः**=(अद् भक्षणे) ये औरों के खा-जानेवाले होते हैं। चोर-डाकू प्रायः अन्धकार में ही अपना कार्य करते हैं, अतः यहाँ अमावस की रात्रि का उल्लेख है। प्रायः ये अकेले न होकर समूह में अपना कार्य करते हैं, अतः यहाँ 'व्राजः' शब्द का प्रयोग है। अत्यन्त स्वार्थ से चलते हुए ये औरों का नाश करने में तनिक भी नहीं हिचकते, इससे इन्हें 'अत्त्रिणः' कहा गया है। २. सबसे पहले इन्हें ज्ञान देकर, समझा-बुझाकर ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करना चाहिए। यह कार्य संन्यासी के द्वारा सुसम्पन्न हो सकता है, अतः कहते हैं कि **अग्निः**=ज्ञानदाता ब्राह्मण **तुरीयः**=जो चतुर्थ आश्रम में प्रवेश कर चुका है, **यातु-हा**=जो उपदेश द्वारा दैत्यों के दैत्यपन को नष्ट करनेवाला है, **सः**=वह, **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए, अर्थात् हमारी ओर से—सारे समाज का प्रतिनिधि होकर अथवा हम सबके हित के लिए **अधिब्रवत्**=अधिकारपूर्वक उपदेश करता है। उस ज्ञानी तथा संन्यासी के

उपदेश से प्रभावित होकर वह 'यातु' (Demon) यातु नहीं रहता। अपनी बुराई को छोड़कर वह भी समाज का उपयोगी अङ्ग बन जाता है।

भावार्थ—ज्ञानी संन्यासी उपदेश के द्वारा चोरों की मनोवृत्ति को बदलने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**वरुणः, अग्निः, इन्द्रश्च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सीसे की गोली

सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति। सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत्तदङ्ग यातुचातनम्॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'तुरीय अग्नि' ज्ञानोपदेश के द्वारा चोरों को परिवर्तित करने का प्रयत्न करता है। उसी समय इन्द्र, अर्थात् राजा भी दण्ड-भयादि के द्वारा इन्हें ठीक मार्ग पर लाने के लिए प्रयत्नशील होता है और वरुण=न्यायाधीश राष्ट्र में दुष्टों को उचित दण्ड देता हुआ चोरों को समाप्त करता है, परन्तु जब ये प्रयत्न विफल हो जाते हैं तब **वरुणः**=बुराइयों का निवारण करनेवाला न्यायाधीश **सीसाय**=सीसे की गोली के लिए **अध्याह**=कहता है, अर्थात् यही विधान करता है कि इन्हें गोली से उड़ा दो। **अग्निः**=उपदेष्टा ब्राह्मण भी **सीसाय**=सीसे की गोली के लिए ही **उपावति**=(अव=कान्ति, इच्छा) इच्छा करता है। २. ऐसी स्थिति में औरों से रक्षा के लिए **इन्द्रः**=राजा **मे**=मेरे लिए **सीसम्**=इन सीसे की गोलियों को **प्रायच्छत्**=देता है और कहता है कि हे **अङ्ग**=प्रिय प्रजाजन! **तत्**=यह गोली ही **यातुचातनम्**=दैत्यों को, चोर आदि को नष्ट करनेवाली है, अर्थात् आवश्यक होने पर राजा की ओर से बन्दूक आदि का लाइसेंस मिल जाता है और उसके द्वारा इन यातुओं का नाश करना अभीष्ट होता है।

भावार्थ—न्यायाधीश, ब्राह्मण व राजा सभी न सुधरनेवाले चोरों को गोली मार देने का आदेश देते हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सीसम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विष्कन्ध व अत्रि का मर्षण

इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्रिणः। अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार राजा की ओर से लाइसेंस के द्वारा प्राप्त हुई **इदम्**=यह गोली **विष्कन्धम्**=(विष्कम्भम्) मार्ग में रोककर लूटनेवाले (Highway robbers) परिपन्थियों को **सहते**=पराभूत करती है। **इदम्**=यह **अत्रिणः**=औरों को खा-जानेवाले दैत्यों को **बाधते**=पीड़ित करती है और **अनेन**=इस गोली से उन **विश्वा**=सबका **ससहे**=पराभव करता हूँ **यः**=जोकि **पिशाच्याः जातानि**=पिशाची के सन्तान हैं, अर्थात् अत्यन्त पिशाचवृत्ति के हैं। औरों का मांस खानेवाले पिशाच हैं—जिनकी यह वृत्ति है, उन्हें समाप्त करना ही ठीक है। २. चोर आदिकों के खतरे से युक्त स्थान में रहनेवालों को राजा बन्दूक आदि रखने की स्वीकृति दे देता है और वे उसका प्रयोग विष्कन्धों, अत्रियों व पिशाचों के नाश में ही करते हैं।

भावार्थ—सीसे की गोली से मार्गप्रतिरोधक (डाकू), चोर व पिशाचों का संहार करना अभीष्ट है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सीसम्** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

बन्दूक का दुरुपयोग

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥ ४॥

१. गतमन्त्र में यह स्पष्ट है कि जिस भी व्यक्ति को आवश्यकता समझकर बन्दूक का

लाइसेंस मिला है, उसे उस बन्दूक से चोर आदि के उपद्रव को दूर करने का प्रयत्न करना है, परन्तु यदि अपने पद व धन आदि से गर्व में चूर होकर वह उस बन्दूक का दुरुपयोग करता है, तो वही उस बन्दूक से दण्डनीय हो जाता है, अतः मन्त्र में कहा है—**यदि**=यदि तू **नः**=हमारी **गां हंसि**=गौ को मार देता है, यदि **अश्वम्**=यदि घोड़े को मार देता है, **यदि पूरुषम्**=यदि किसी निर्दोष पुरुष को ही मार देता है तो **तं त्वा**=उस तुझे ही **सीसेन विध्यामः**=सीसे की गोली से मारते हैं **यथा**=जिससे तू **नः**=हमारे **अवीरहा असः**=वीरों को मारनेवाला न हो। २. यदि किसी ग्वाले की गौ इसके उद्यान को कुछ खराब कर देती है, या किसी कोचवान या कुम्हार का घोड़ा इसकी फुलवाड़ी को कुछ नष्ट कर देता है और वह क्रोध में आकर इन्हें मारता है तो वह दण्डनीय हो जाता है। यह भी हो सकता है कि क्रोध में आकर वह उस ग्वाले व ताँगेवाले को ही मार दे। ऐसी स्थिति में उस बन्दूक से इसे ही दण्डित करना आवश्यक हो जाता है।

भावार्थ—लाइसेंस (रक्षण स्वीकृति) प्राप्त बन्दूक से निर्दोष गौ, घोड़े व मनुष्यों को नहीं मारना चाहिए।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि ज्ञानी संन्यासी चोर इत्यादि को सदुपदेश से अच्छा बनाने का प्रयत्न करे (१)। विवशता में चोर आदि को गोली से उड़ा दे (२)। यह गोली डाकू, चोर व पिशाचों के नाश के लिए उद्दिष्ट है (३) परन्तु यदि कोई इससे गौ, घोड़े या मनुष्य को मारे तो वह स्वयं इस गोली से दण्डनीय हो (४)। गोली के अनिष्ट प्रयोग से हो जानेवाले रक्तस्राव को कैसे बन्द किया जाए, इसका वर्णन अगले मन्त्र में हैं—

॥ इति प्रथमः प्रपाठकः

अथ द्वितीयः प्रपाठकः

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योषितो धमन्यश्च** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

लोहितवासस् हिराएँ

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः। अभ्रातरइव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः ॥ १ ॥

१. शरीर में नाड़ीचक्र रुधिर के अभिसरण के द्वारा आवश्यक सब धातुओं को यथास्थान पहुँचाता है। इनमें धमनियाँ हृदय से शरीर में रुधिर को ले-जाती हैं और इस यात्रा में कुछ मलिन हो गये रुधिर को शिराएँ (हिराएँ) पुनः हृदय में पहुँचाती हैं। इसप्रकार धमनियों और शिराओं का कार्यक्रम चलता है। घाव लगने पर नाड़ी के फटने से रुधिर के बाहर निकलने को रोकने के लिए उस स्थान को बाँधना आवश्यक हो जाता है। उस समय ये नाड़ियाँ अपने कार्यक्रम में कुछ रुक जाती हैं, अतः मन्त्र में कहा है कि—**अमूः**=वे **याः**=जो **योषितः**=रुधिर का मिश्रण व अमिश्रण करनेवाली **हिराः**=शिराएँ **लोहितवाससः**=रुधिर के निवासवाली **यन्ति**=गति करती हैं, वे अब घाव लगने पर बन्ध के कारण **हतवर्चसः**=नष्टतेज-सी हुई-हुई **तिष्ठन्तु**=ठहर जाएँ। **इव**=इसप्रकार ठहर जाएँ जैसे कि **अभ्रातरः**=बिना भाईवाली **जामयः**=बहिनें निस्तेज-सी होकर ठहर जाती हैं। २. विवाहित होने पर कन्या कभी-कभी अपने पितृगृह में आती रहती है, पिता चले भी जाते हैं तो भाइयों के कारण उसका आना-जाना बना ही रहता है, परन्तु भाई भी न रहे तो बहिन का आना रुक जाता है। वह अपने-आपको कुछ निस्तेज-सा अनुभव करती है। इसीप्रकार बद्ध-नाड़ी निस्तेज-सी हो जाती है। ३. सम्भवतः बिना भाई की बहिनें लोहितवासस्—लाल रङ्ग के कपड़े पहनें, ऐसा यहाँ सङ्केत है। अभिप्रायः इतना ही है कि

निस्तेज बनकर पड़ जाने की अपेक्षा वे तेजस्विता के कार्यों को करने का निश्चय करें।

भावार्थ—घाव लगने पर रुधिरस्राव को रोकने के लिए नाड़ियों को बाँधने पर वे हतवर्चस्-सी होकर रुक जाती हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योषितो धमन्यश्च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नाड़ीचक्र-विकास

तिष्ठावरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्यमे।
कनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिद्धमनिर्मही॥ २॥

१. कई बार बड़े-बड़े ऑप्रेशनों (शल्यक्रिया के कार्यों) में रुधिर की गति को रोकना नितान्त अभीष्ट हो जाता है। उस समय **अवरे**=हे निचली नाड़ी! तू **तिष्ठ**=ठहर जा, **परे**=उपरली नाड़ी! तू भी **तिष्ठ**=ठहर जा **उत**=और **मध्यमे**=हे मध्यम नाड़ी! **त्वं तिष्ठ**=तू भी ठहर। २. स्थान के दृष्टिकोण से तीन प्रकार की ही नाड़ियाँ सम्भव हैं—'निचली, उपरली व बीच की'। अब आकार-प्रकार के दृष्टिकोण से उल्लेख करते हुए कहा है—**च**=और **कनिष्ठिका**=छोटी नाड़ी **तिष्ठति**=ठहरती है, **इत्**=निश्चय से **मही धमनिः**=बड़ी नाड़ी भी **तिष्ठात्**=रुक जाए। इसप्रकार कुछ देर के लिए रुधिर-प्रवाह को रोकर शल्यक्रिया का कार्य ठीक प्रकार से सम्पन्न हो जाने पर पुनः रुधिराभिसरण का कार्य सब नाड़ियों में ठीक से होने लगेगा। ३. यहाँ शल्यक्रिया के अत्यन्त कुशलतापूर्ण प्रयोग का संकेत स्पष्ट है।

भावार्थ—सब नाड़ियों में चलनेवाले रुधिराभिसरण को रोकर शल्यक्रिया के कार्य को सुसम्पन्न कर लिया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योषितो धमन्यश्च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

धमनियों और हिराओं के बीच की नाड़ियाँ

शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम्। अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत॥ ३॥

१. नाड़ीचक्र में एक ओर धमनियाँ हैं, दूसरी और हिराएँ हैं। धमनियाँ रुधिर को शरीर में भेज रही हैं और हिराएँ उसे पुनः हृदय में लौटा रही हैं। इनके बीच की नाड़ियों को रोकर कई बार इनके अन्तिम प्रदेशों (दोनों सिरों) को ठीक करना होता है। उसी का वर्णन करते हैं—**धमनीनां शतस्य**=सौ धमनियों के तथा **हिराणां सहस्रस्य**=हज़ारों हिराओं के **मध्यमाः इमाः**=बीच में होनेवाली नाड़ियाँ **इतः**=निश्चय से **अस्थुः**=रुक गई हैं। अब **अन्ताः**=इनके अन्तभाग **साकम्**=साथ-साथ ही **अरंसत**=रुक गये हैं (रम्=to Pause) २. नाड़ीचक्र में धमनियों व हिराओं के बीच में होनेवाली योजक नाड़ियों का ठीक होना नितान्त आवश्यक है। इनके अन्तिम भाग भी ठीक होने आवश्यक हैं।

भावार्थ—धमनियों और हिराओं के बीच की नाड़ियों के कार्य का ठीक होना नितान्त आवश्यक है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योषितो धमन्यश्च** ॥ छन्दः—**त्रिपदार्षीगायत्री** ॥

खाँड व अन्न का मात्रा में प्रयोग

परि वः सिकतावती धनूर्बृहत्य[क्रमीत्। तिष्ठतेलयता सु कम्॥ ४॥

१. हे नाड़ियो! **सिकतावती**=रेतवाले **बृहती धनूः**=इस विशाल (धनू=Store of grain) अन्नभण्डार ने **वः**=तुमपर **परि अक्रमीत्**=आक्रमण किया है। वस्तुतः अन्न के शरीर में ठीक से न पहुँचने पर नाड़ियों में विकार आता है। रेत के कारण पथरी आदि रोगों की आशंका हो

जाती है। अन्न का अधिक प्रयोग भी अवाञ्छनीय प्रभावों को पैदा करता है। २. 'सिकता' शब्द मिश्री के लिए भी प्रयोग में आता है, सम्भवत: खाँड का अधिक प्रयोग भी नाड़ीचक्र के स्वास्थ्य के लिए ठीक नहीं। ३. नाड़ीचक्र का थोड़ी देर के लिए ठहरना, प्रयोग के ठीक से हो जाने पर फिर कार्य करने लगना—यह शारीरिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है, अत: कहा गया है **तिष्ठत**=थोड़ी देर के लिए रुको। सब मलों के हटा दिये जाने पर पुन: **कम्**=सुख से **सु**=अच्छी प्रकार **इलयत**=प्रेरित—गतिवाली होओ। यह सब प्राणायाम की साधना से ही सम्भव है। प्राणायाम की साधना करनेवाला योगी सारे नाड़ीचक्र पर प्रभुत्व पा लेता है और नाड़ीचक्र के स्वास्थ्य से शरीर, मन व बुद्धि का उत्कर्ष करनेवाला हो जाता है।

भावार्थ—नाड़ीचक्र के स्वास्थ्य के लिए खाँड व अन्न के प्रयोग पर अत्यन्त ध्यान रखना आवश्यक है।

सूचना—इन सारे प्रयोगों को ठीक रूप में करनेवाला **ब्रह्मा**=ज्ञानी पुरुष इस सूक्त का ऋषि है। इस प्रयोगकर्त्ता के लिए अधिक-से-अधिक योग्य होना आवश्यक है। यह ठीक प्रयोग करके अशुभ लक्षणों को दूर करता है, शुभ लक्षणों को प्राप्त कराके सौभाग्य को प्राप्त करानेवाला है, अत: यह अगले सूक्त का ऋषि 'द्रविणोदा:' बनता है।

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषि:—**द्रविणोदा:** ॥ देवता—**सावित्रादयो मन्त्रोक्ता:** ॥ छन्द:—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती** ॥

मस्तिष्क और मन का स्वास्थ्य

निर्लक्ष्म्यं∫ ललाम्यं१ निरराति सुवामसि।
अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि॥ १॥

१. **ललाम्यम्**=मस्तक पर होनेवाले **लक्ष्म्यम्**=अशुभ चिह्न को—कलङ्क को **नि: सुवामसि**=नि:शेषतया दूर करते हैं। मस्तक पर होनेवाला बाह्य विकार जो अत्यन्त अशुभ प्रतीत होता है, वह और मस्तिष्क-सम्बन्धी आन्तर विकार भी नाड़ीचक्र के स्वास्थ्य के द्वारा दूर हो जाता है। इस नाड़ीचक्र के स्वास्थ्य से **अरातिम्**=मन में उत्पन्न होनेवाली अदान की वृत्ति को **नि: सुवामसि**=हम दूर करते हैं। २. **अथ**=और **या भद्रा**=जो भी भद्र बातें हैं, **तानि**=उन्हें **न: प्रजाया:**=अपनी प्रजा के साथ जोड़ते हैं और **अरातिम्**=अदान-भावना को **नयामसि**=उनसे दूर भगाते हैं।

भावार्थ—मस्तिष्क-सम्बन्धी अशुभ लक्षण तथा मन में होनेवाली कृपणता हमसे दूर हो।

ऋषि:—**द्रविणोदा:** ॥ देवता—**सावित्रादयो मन्त्रोक्ता:** ॥ छन्द:—**निचृज्जगती** ॥

हाथ-पैरों की निर्दोषता

निररणिं सविता साविषक्पदोर्निर्हस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा।
निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां देवा असाविषुः सौभगाय॥ २॥

१. **सविता**=सम्पूर्ण संसार को जन्म देनेवाला प्रभु **पदो:**=पाँवों में से **अरणिम्**=पीड़ा को **नि: साविषक्**=पूर्णरूपेण दूर करे, **हस्तयो:**=हाथों में से भी इस पीड़ा को **वरुण:**=वरुण, **मित्र:**=मित्र और **अर्यमा**=अर्यमा **नि:**=दूर करे। पाँवों व हाथों में कमी आ जाने से सारी क्रियाएँ रुक जाती हैं। इन कमियों का दूरीकरण सविता, वरुण, मित्र व अर्यमा की कृपा से होता है। 'सविता' निर्माणात्मक कार्यों में लगे रहने का संकेत करता है, 'वरुण' द्वेष-निवारण की देवता है, 'मित्र:' सबके साथ स्नेह की भावना को व्यक्त करता है, 'अर्यमा' (अरीन् यच्छति) काम-

क्रोधादि शत्रुओं के नियमन को कह रहा है। एवं, हाथ-पाँवों के सब दोषों को दूर करने के लिए आवश्यक है कि (क) हम निर्माणात्मक कार्यों में लगे रहें। तोड़-फोड़ के विध्वंसक कार्यों को करनेवाले ही अपने हाथ-पैर विकृत कर बैठते हैं। (ख) इसी प्रसङ्ग में यह नितान्त आवश्यक है कि हम द्वेष न करें—सबके साथ स्नेह से चलें। (ग) इसके लिए अर्यमा बनने की आवश्यकता है। काम-क्रोध-लोभ का नियमन करने पर ही हम द्वेष से ऊपर उठकर प्रेम से वर्त्तनेवाले होते हैं। २. **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **रराणा**=सब उत्कृष्ट भावों को देती हुई **अनुमतिः**=अनुकूल मति **निः**=हमारे हाथों व पैरों से विकारों को दूर करे। प्रतिकूल मति विकृत-भावों को पैदा करके अङ्गों की विकृति का कारण बनती है, अतः **इमाम्**=इस अनुकूल मति को सब **देवाः**=देव **प्र असाविषुः**=हमारे अन्दर उत्पन्न करें, जिससे **सौभगाय**=सौभग—सौन्दर्य हममें निवास करें।

भावार्थ—अशुभ लक्षणों को दूर करने के लिए और हाथ-पैरों के शुभ लक्षणों के लिए आवश्यकता है कि (क) हम निर्माण के कार्यों में लगे रहें, (ख) द्वेष न करें, (ग) स्नेहवाले हों, (घ) काम-क्रोध-लोभ को काबू करें, (ङ) अनुकूल मतिवाले हों, निराशा के विचारोंवाले न हों।

ऋषिः—**द्रविणोदाः** ॥ देवता—**सावित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराडास्तारपंक्तिस्त्रिष्टुप्** ॥

उत्तम आत्मप्रेरणा व देव-स्मरण

यत्त आत्मनि तन्वां घोरमस्ति यद्वा केशेषु प्रतिचक्षणे वा।
सर्वं तद्वाचाप हन्मो वयं देवस्त्वा सविता सूदयतु ॥ ३ ॥

१. **यत्**=जो **ते**=तेरे **आत्मनि**=आत्मा में—मन में, **तन्वाम्**=या शरीर में **घोरम्**=भयानक चिह्न **अस्ति**=है, **वा**=अथवा **यत्**=जो **केशेषु**=बालों में **वा**=या **प्रतिचक्षणे**=प्रत्येक आँख में विकार है, **तत् सर्वम्**=उस सब विकार को **वाचा**=वाणी के द्वारा **वयम्**=हम **अपहन्मः**=दूर करते हैं। मन में, शरीर में, बालों में, आँखों में कहीं भी कोई विकार हो, उसे वाणी से दूर करते हैं, अर्थात् आत्मप्रेरणा के रूप में वाणी के द्वारा शुभ शब्दों का उच्चारण करते हुए हम अशुभ लक्षणों को दूर करते हैं। मुझमें यह विकार नहीं रहेगा, इसका स्थान सौभग लेगा—इसप्रकार के दृढ़ विचारों को जन्म देनेवाले शब्द इन विकारों को सचमुच नष्ट करनेवाले होते हैं। २. इसप्रकार वाणी के द्वारा आत्मिक शक्ति को जाग्रत् करने में लगे हुए **त्वा**=तुझे **देवः सविता**=यह दिव्य गुणों का पुञ्ज—दिव्यता का उत्पादक प्रभु **सूदयतु**=(Urge on, animate) उन्नति-पथ पर आगे बढ़ने के लिए अशुभ लक्षणों को दूर करके शुभ लक्षणों की अभिवृद्धि के लिए प्रेरित करे। प्रभु की दिव्यता का स्मरण हममें दिव्यता की अभिवृद्धि का कारण होता है।

भावार्थ—उत्तम आत्मप्रेरणा व देव प्रभु का स्मरण हमारे मन, शरीर, बालों व आँखों के अशुभ लक्षणों को दूर करते हैं।

ऋषिः—**द्रविणोदाः** ॥ देवता—**सावित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विकार-विनाश

रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत।
विलीढ्यं ललाम्यं ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ४ ॥

१. **रिश्यपदीम्**=हरिण के समान टाँगोंवाली—हरिण की टाँगे पतली व भद्दी प्रतीत होती हैं, अतः यह टाँगों का एक अशुभ लक्षण है। **वृषदतीम्**=बैल के समान दाँतोवाली—बैल के

समान बड़े-बड़े दाँत चेहरे के सब सौन्दर्य को समाप्त कर देते हैं, छोटे-छोटे दाँत ही सुन्दर प्रतीत होते हैं। **गोषेधाम्**=(सेधतिर्गत्यर्थः) गौ के समान चालवाली को—गौ या बैल इधर-उधर कुछ हिलते हुए आगे बढ़ते हैं। यह झूमती हुई चाल भी अनिष्ट है **उत**=और **विधमाम्**=(धमा=शब्द) विकृत शब्दवाली—भिन्न-कांस्य स्वरवाली **ताः**=उन सबको—उन सब विकृतियों को **अस्मत्**=हमसे **नाशयामसि**=नष्ट करते हैं। इसके साथ **ललाम्यम्**=मस्तिष्क में होनेवाले **विलीढ्यम्**=गञ्जेपन को (बालों को चाटे जाने को) भी हम अपने से दूर करते हैं। 'रिश्यपदी व वृषदती' दोनों शब्द टाँगों व दाँतों की समानुपातता के अभाव को प्रतिपादित करते हैं। 'गोषेधा व विधमा' शब्द चाल व शब्द की क्रियाओं के विकार को सूचित करते हैं। मस्तक का गंजापन कुछ भद्देपन की गन्ध देता है। इन सब विकारों को दूर करना अभीष्ट है। सौन्दर्य का निर्भर विकारों के न होने में ही है।

भावार्थ—हम आकार की आनुपातिकता के न होने से—क्रियाओं की विकृति से तथा अभीष्ट स्थान पर बालों के न होने से होनेवाले असौभाग्य को दूर करें। प्रभुकृपा से सौभाग्यरूप द्रविण को प्राप्त करें।

विशेष—अठारहवें सूक्त के दो भाग हैं। एक भाग वह है जिसमें अशुभ लक्षणों का प्रतिपादन है और दूसरा भाग वह है जिसमें उन लक्षणों को दूर करने के उपायों का प्रतिपादन है। ये दोनों भाग मिश्र-से अवश्य हैं, परन्तु अत्यन्त स्पष्ट हैं। क्या शरीर के विकार और क्या मन के विकार सभी निर्माणात्मक कार्यों में लगे रहने से, द्वेष न करने से, स्नेह से, काम-क्रोध-लोभ को काबू करने से, अनुकूल मति से, अनुकूल आत्मप्रेरणा से दूर होते हैं। विकारों का दूर होना ही सौभाग्य-प्राप्ति है।

इस सौभाग्य-प्राप्ति के लिए अपने-आपको शत्रुओं के आक्रमण से बचाना आवश्यक है, अतः अग्रिम सूक्त में इसी बात का उल्लेख है। सब बुराइयों को दूर करके यह 'ब्रह्मा' बनता हैं, ब्रह्मा ही इस सूक्त का ऋषि है—

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

विव्याधी-अभिव्याधी

मा नो॑ विद॒न्विव्या॒धिनो॒ मो अ॑भिव्या॒धिनो॑ विदन्।
आ॒रा॒च्छ॑र॒व्या॑ अ॒स्मद्वि॒षू॑चीरिन्द्र पातय॥ १ ॥

१. इस मन्त्र का देवता 'इन्द्र' है। उपासक इसी को अपना कवच बनाता है—'**ब्रह्म वर्म ममान्तरम्**'—ब्रह्मरूप कवचवाला ब्रह्मा प्रार्थना करता है कि—**नः**=हमें **विव्याधिनः**=विशेषरूप से विद्ध करनेवाले लोभ आदि शत्रु **मा विदन्**=प्राप्त न हों, हमपर इनका आक्रमण न हो **उ**=और **अभिव्याधिनः**=चारों ओर से आक्रमण करनेवाले काम आदि शत्रु भी **मा विदन्**=मत प्राप्त हों। २. हे **इन्द्र**=सब असुरों का संहार करनेवाले प्रभो! **विषूचीः**=(वि+सु+अञ्च) विविध दिशाओं से तीव्रता के साथ आनेवाली **शरव्याः**=शर-समूह की वृष्टियों को **अस्मत्**=हमसे **आरात्**=दूर ही **पातय**=गिरा दीजिए। ३. लोभ का आक्रमण भी बड़ा तीव्र होता है। यह लोभ समाप्त ही नहीं होता। अपने आक्रमण से यह बुद्धि को लुप्त कर देता है। काम का आक्रमण तो चतुर्दिक् आक्रमण के समान है। यह कामदेव 'पञ्चशर' है। यह पाँचों बाणों से इकट्ठा ही आक्रमण करता है। एवं, लोभ 'विव्याधी' था तो काम 'अभिव्याधी' है। प्रभुकृपा से इनके बाण हमसे दूर ही गिरें।

भावार्थ—प्रभु हमसे 'विव्याधी' लोभ को तथा 'अभिव्याधी' काम के बाणों को दूर ही गिराएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**मनुष्येषवः**॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती**॥

'दैव व मानुष' इषु

विष्वञ्चो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः।
दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान्वि विध्यत॥ २॥

१. गतमन्त्र के विव्याधी और अभिव्याधी के **ये अस्ताः**=जो फेंके जा चुके हैं, **ये च**=और जो **आस्याः**=फेंके जाने हैं, वे **विष्वञ्चः शरवः**=विविध दिशाओं से आनेवाले अस्त्र **अस्मत्**=हमसे दूर ही **पतन्तु**=गिरें। हम इनके बाणों के शिकार न हों। जो बाण इन्होंने फेंके हैं उनके आक्रमण से हम बचें और जो बाण इनसे फेंके जाएँगे उनसे भी हम बच पाएँ। वर्त्तमान में भी लोभ और काम के शिकार न हों, भविष्य में भी इनका शिकार होने की आशंका से बचे रहें। २. हे **देवीः**=देव-सम्बन्धी अस्त्रो! तथा **मनुष्येषवः**=मनुष्य-सम्बन्धी अस्त्रो! तुम सब **मम**=मेरे **अमित्रान्**=शत्रुओं को ही **विविध्यत**=बींधो, मैं तुम्हारा शिकार न होऊँ। देव-सम्बन्धी अस्त्र 'निखरते' हुए यौवन का सौन्दर्य, चाल की मस्ती व कटाक्षवीक्षण (Side look glance) आदि हैं। हम इन सबके कुप्रभाव से बचें। हमारे शत्रु ही इनके शिकार बनें।

भावार्थ—हम वर्त्तमान में भी लोभ व काम के शिकार न हों, भविष्य में भी इनका शिकार होने से बचें। प्रकृति की वसन्त-ऋतु आदि में होनेवाली शोभा तथा किसी भी युवक व युवति की हाव-भावभरी गतियाँ हमें काम का शिकार न बना सकें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

कुसङ्ग के कुप्रभाव से दूर

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति।
रुद्रः शरव्य१यैतान्ममामित्रान्वि विध्यतु॥ ३॥

१. **यः**=जो **नः**=हमें **स्वः**=अपना अथवा **यः**=जो **अरणः**=पराया **सजातः**=अपनी बिरादरी व कुटुम्ब का **उत**=और **निष्ट्यः**=बिरादरी से बाहर का **यः**=जो कोई **अस्मान्**=हमें **अभिदासति**=इन वासनाओं में फँसाकर नष्ट करने का प्रयत्न करता है—ये सब मेरे अमित्र (शत्रु) तो हैं ही। इन्हें मैं अपना हितचिन्तक न समझ बैठूँ और इनकी बातों में आकर जीवन को नष्ट न कर डालूँ। २. **रुद्रः**=शत्रुओं को रुलानेवाला वह प्रभु **एतान् मम अमित्रान्**=मेरे इन शत्रुओं को ही **शरव्या**=काम-लोभादि के बाणसमूह से **विविध्यतु**=विद्ध करे। मैं तो प्रभुकृपा से इनके प्रभाव से दूर रहूँ और इस शरसमूह से विद्ध न होऊँ। वस्तुतः प्रभु मेरे उन शत्रुओं को ही इनके घातक प्रभाव से पीड़ित कर रुलानेवाले हों और इसप्रकार कटु अनुभव प्राप्त कराके उन्हें इन वासनाओं से बचने के लिए प्रेरित करें।

भावार्थ—अपने-पराये, बिरादरी के व बाहर के—सभी के कुप्रभावों से हम बचें और लोभ व काम के शिकार न हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**देवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ब्रह्मरूप आन्तर-कवच

यः सपत्नो यो ऽसपत्नो यश्च द्विषञ्छपाति नः।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम्॥ ४॥

से सीधा सम्बन्ध है। वही ज्ञान उपयुक्ततम है जो हमारा रक्षण करनेवाला हो। **'सह नाववतु'** इस उपनिषत् श्लोक में यही बात कही गई है। ४. आचार्य का वाचस्पति होना आवश्यक है। यदि आचार्य सम्पूर्ण वाङ्मय का पति नहीं होगा तो वह विद्यार्थी के अन्दर श्रद्धा का भाव उत्पन्न न कर सकेगा। ज्ञान-प्रदानरूप अपने कर्त्तव्य का पालन भी बिना वाङ्मय का अधिपति हुए सम्भव नहीं।

भावार्थ—संसार के सब रूपों के घटकभूत इक्कीस तत्त्वों का ज्ञान आचार्य-कृपा से हमें प्राप्त हो। इस ज्ञान के अनुष्ठान से हम अपने स्वास्थ्य का रक्षण करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाचस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शिक्षण की रमण-पद्धति

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥ २॥

१. विद्यार्थी आचार्य से प्रार्थना करता है कि हे **वाचस्पते**=वाणी के स्वामिन्! आप **देवेन मनसा सह**='देवो दानात्' विद्यार्थी को ज्ञान देने की मनोवृत्ति के साथ **पुनः**=फिर-फिर, नव (a new) रूप में **एहि**=मुझे प्राप्त होओ। यह प्रार्थना यहाँ विद्यार्थी की ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा को सूचित करती है। (पुनरेहि) यहाँ आचार्य की भी इस इच्छा की ध्वनि है कि मैं विद्यार्थी को अधिक-से-अधिक ज्ञान दे सकूँ, उसे अपना सम्पूर्ण ज्ञान-धन प्राप्त करा सकूँ (देवेन मनसा)। २. हे **वसोष्पते**=(वसु—A ray of light) ज्ञान की किरणों के स्वामिन्! **निरमय**=आप यहाँ शिक्षणालय में हमें रमण कराइए। हम शिक्षा-प्राप्ति में आनन्द का अनुभव करें। आचार्य की शिक्षण-पद्धति से ज्ञान इसलिए दिया जाए कि **श्रुतम्**=आचार्य-मुख से सुना हुआ ज्ञान **मयि**=मुझमें और **मयि एव**=मुझमें ही हो। मैं इस ज्ञान को भूल न जाऊँ। विद्यार्थी में ज्ञान-प्राप्ति की कामना होनी ही चाहिए—इसके बिना तो ज्ञान-प्राप्ति सम्भव ही नहीं। आचार्य विद्यार्थी की उस कामना को ज्ञान-प्रदान की विधि से विकसित करनेवाला हो। ज्ञान विद्यार्थी को बोझ-सा प्रतीत न होने लगे। बलात्—दण्डमय ढङ्ग से पढ़ा-पढ़ाया हुआ पाठ समझ में नहीं बैठता, उसका स्मरण भी नहीं रहता।

भावार्थ—आचार्य ज्ञान देने की भावना से विद्यार्थी को प्राप्त हो और वह रमण-पद्धति से पढ़ाता हुआ पठित ज्ञान को विद्यार्थी में स्थिर करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाचस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

समाज-धनुष की दो कोटियाँ—'आचार्य और शिष्य'

इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नीइव ज्यया।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥ ३॥

१. **इव**=जैसे **उभे आर्त्नी**=धनुष की दोनों कोटियों को **ज्यया**=डोरी से तान देते हैं—कसकर बाँध देते हैं, उसी प्रकार **इह एव**=यहाँ—राष्ट्र व समाज में ही आचार्य व शिष्यरूपी राष्ट्र-धनुष की दोनों कोटियों को **अभिवितनु**=अपरा व परा-विद्यारूपी ज्या से तान दो। जिस प्रकार धनुष की दो कोटियों में कोई भी कोटि कम महत्त्व की नहीं होती, इसीप्रकार राष्ट्र में आचार्य व शिष्य दोनों का समानरूप से महत्त्व है। आचार्य के बिना विद्यार्थी नहीं, विद्यार्थी के बिना आचार्य नहीं। घर में पति-पत्नी का जैसे समान महत्त्व है, उसी प्रकार शिक्षणालय में आचार्य व शिष्य का। आचार्य को बनाना है, विद्यार्थी को बनना है। २. **वाचस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी आचार्य

नियच्छतु=विद्यार्थी को नियम में रक्खे। बिना नियन्त्रण के विद्यार्थी का निर्माण नहीं हो सकता। अनियन्त्रित छात्र बड़ा होकर राष्ट्र के लिए हितकर नहीं होगा। अनियन्त्रण में पढ़ेगा भी क्या? ३. इसलिए विद्यार्थी की भी यही कामना हो कि आचार्य मेरा नियन्त्रण करे, जिससे **श्रुतम्**=आचार्य-मुख से सुना हुआ ज्ञान **मयि**=मुझमें और **मयि एव**=मुझमें ही **अस्तु**=स्थिर रहे।

भावार्थ—आचार्य और विद्यार्थी राष्ट्र-धनुष की दो कोटियाँ हैं। इनकी ज्या 'विद्या' है। आचार्य विद्यार्थियों को नियन्त्रण में चलाता है, जिससे उनका ज्ञान उनमें स्थिर रहे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाचस्पतिः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा विराडुरोबृहती** ॥

नैत्यिके नास्त्यनध्यायः

उप॑हूतो वा॒चस्पति॒रुपा॒स्मान्वा॒चस्पति॑र्ह्वयताम्।
सं श्रु॒तेन॑ गमेमहि॒ मा श्रु॒ते॒न॒ वि रा॑धिषि ॥ ४ ॥

१. विद्यार्थी कहते हैं कि **वाचस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी आचार्य **उपहूतः**=हमारे द्वारा पुकारा गया है। आचार्य अपने स्थान पर बैठा है, विद्यार्थी वहाँ पहुँचकर आचार्य को सम्बोधित करके अन्दर आने की स्वीकृति माँगता है और चाहता है कि **वाचस्पतिः**=वह ज्ञान का स्वामी आचार्य **अस्मान्**=हमें **उपह्वयताम्**=अपने समीप बुलाए। इस पद्धति में विद्यार्थी की विनीतता बनी रहती है। 'विद्यार्थी का कक्ष नियत हो और आचार्य उसके समीप जाए' इस पद्धति में विद्यार्थी के अभिमान का पोषण होता है। विद्यार्थी आचार्य के समीप आता है तो इसमें विद्यार्थी की ज्ञान-प्राप्ति की कामना भी झलकती है। आचार्य आता है तो कई बार विद्यार्थी ऐसी कामना करता है कि 'न ही आएँ' तो ठीक रहे। विद्यार्थी ज्ञान को बोझ समझे तो यह इच्छा स्वाभाविक ही है। २. परन्तु मन्त्रोक्त विधि में तो जिज्ञासु आचार्य के समीप पहुँचता है और चाहता है कि **श्रुतेन**=इस ज्ञान-श्रवण की प्रक्रिया से हम **सङ्गमेमहि**=सङ्गत हों और **श्रुतेन**=इस ज्ञान-श्रवण की प्रक्रिया से **मा विराधिषि**=कभी पृथक् न हों, अर्थात् आचार्य के द्वारा हमारा यह अध्ययनाध्यापन नियमित रूप से चलता रहे, इसमें कभी विच्छेद न हो। भौतिक भोजन में तो उपवास हो सकता है, परन्तु इस ब्रह्मयज्ञ में अनध्याय की क्या आवश्यकता?

भावार्थ—हम आचार्य के समीप नम्रता से उपस्थित हों और सदा अध्ययन में प्रवृत्त रहें।

विशेष—इस सूक्त में एक शिक्षणालय का सुन्दर चित्रण है। आचार्य ज्ञान का स्वामी है (वाचस्पति), वह ज्ञान-किरणों का पति है (वसोष्पति)। वह ज्ञान को रोचक पद्धति से विद्यार्थियों के हृदयङ्गम करने का प्रयत्न करता है (निरमय, मय्येवास्तु)। वसोष्पति शब्द में आचार्य के उत्कृष्ट ज्ञानी होने का सङ्केत है तो वाचस्पति शब्द यह स्पष्ट कर रहा है कि आचार्य उस ज्ञान को सुन्दरता से देने की क्षमता भी रखते हैं। आचार्य आगम व संक्रान्ति दोनों दृष्टिकोणों से पारंगत हैं। विद्यार्थी ज्ञान की इच्छावाला है। वह आचार्य के समीप ज्ञान-प्राप्ति के लिए जाता है (उपहूतो वाचस्पतिः) और चाहता है कि वह स्थिर ज्ञानवाला हो (मय्येवास्तु)। आचार्य उसके जीवन को नियन्त्रित करें जिससे उसकी ज्ञान-रुचि ठीक बनी रहे (नियच्छतु)। शिक्षणालय में आचार्य और शिष्य दोनों का ही महत्त्व है। दोनों में से एक के न होने से शिक्षणालय समाप्त हो जाता है। यह आचार्य विद्यार्थी को संसार के घटकभूत इक्कीस तत्त्वों का ज्ञान देने का प्रयत्न करते हैं। यही ज्ञान अत्यन्त उपयोगी है। इस ज्ञान को प्राप्त करके व्यक्ति डाँवाडोल वृत्तिवाला न रहकर स्थिर मनोवृत्ति से चलता है, अतः 'अथर्वा' (न थर्वति=चरति) कहलाता है। शरीर में उन इक्कीस तत्त्वों की स्थिति को देखने के कारण भी 'अथ अर्वाङ्' (Now within), इसका नाम अथर्वा होता है (१-४)। अब यह अथर्वा शरीर और मानस रोगों को जीतकर विजयी

बनता है। 'अथर्वा' ही इन मन्त्रों का भी ऋषि है—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यः** ॥ छन्द—**अनुष्टुप्** ॥

ओषधियों के लिए शर-(बाण)-भूत 'शर'

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम्।
विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम्॥ १ ॥

१. गत सूक्त का आचार्य विद्यार्थी को 'शर' नामक ओषधि का महत्त्व समझाता है। '**सरस्तु मुञ्जो बाणाख्यो गुन्द्रस्तेजनकः शरः**'—यह कोश-वाक्य स्पष्ट कह रहा है कि यह 'शर' सर है (सृ गतौ), जीवन को गतिमय बनानेवाला अथवा रुधिर की गति को उत्तम करनेवाला। यह 'मुञ्ज' है (मृञ्ज शुद्धि) शरीर की धातुओं का शोधन करनेवाला है। इसका नाम 'बाण' है। यह वाणी की शक्ति का उत्पादक है। 'गुन्द्र' होने से (गुद् to goad) नाड़ी-संस्थान का उत्तेजक है। तेजस्वी बनाने से 'तेजनक' नामवाला है और सब दोषों का हिंसन करने से 'शर' (शृ हिंसायाम्) है। इसलिए ब्रह्मचारी का आसन भी इसी तृण का बनाया जाता है, उसकी मेखला भी इसी से बनती है। २. हम इस **शरस्य**=शर के **पितरम्**=उत्पादक को **विद्म**=जानते हैं। वह **पर्जन्यम्**=परातृप्ति का जनक बादल ही तो है जो **भूरिधायसम्**=बहुतों का धारण व पालन करनेवाला है। बादल से बरसाये गये पानी से इस शर की उत्पत्ति होती है। हम **अस्य**=इस शर की **मातरम्**=माता के समान जन्म देनेवाली इस **पृथिवीम्**=पृथिवी को भी **सुविद्म**=अच्छी प्रकार जानते हैं, जोकि **भूरिवर्पसम्**=अत्यन्त सुन्दर आकारवाली अथवा तेजस्वितावाली है। ३. जैसे माता-पिता के गुण पुत्र में आते हैं, उसी प्रकार बादल व पृथिवी के गुण इस शर में आये हैं। एवं, यह 'शर' भूरिधायस् व भूरिवर्पस् है। यह हमारा धारण करता है तथा हमें तेजस्विता व सुन्दर आकृति प्राप्त कराता है।

भावार्थ—'शर' (मूँज) के उचित प्रयोग से हम स्वस्थ व तेजस्वी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दृढ़ शरीर व निर्दोष मन

ज्या॑के परि॑ णो नमाश्मा॑नं तन्वं॑ कृधि। वी॒डुर्वरी॑योऽराती॒रप॑ द्वेषां॒स्या कृ॑धि॥ २ ॥

१. हे **ज्याके**=शर को जन्म देनेवाली, शर की मातृभूत पृथिवि! तू **नः**=हमारे लिए **परिनम**=उचित परिणाम को पैदा करनेवाली हो, **तन्वम्**=हमारे शरीर को **अश्मानम्**=पत्थर-जैसा दृढ़ **कृधि**=कर दे। यह मातृरूप पृथिवी शर आदि को जन्म देकर हमारे शरीरों की दृढ़ता का कारण बनती है। **वीडुः**=हमारा शरीर तेरी ओषधियों के सेवन से दृढ़ बने, **वरीयः**=विशाल हो, शरीर की शक्तियाँ विस्तृत हों। हमारा शरीर उरुतर=अत्यधिक बढ़ी हुई शक्तियोंवाला हो। २. हे पृथिवि! तू हमारे शरीरों को ही पत्थर-जैसा दृढ़, सबल व विशाल शक्तियोंवाला न बना, अपितु हमारे मनों से भी **अरातीः**=न देने की भावना को तथा **द्वेषांसि**=द्वेषों को **अप आ कृधि**=दूर कर दे। उत्तम पृथिवी से उत्पन्न वानस्पतिक पदार्थों का सेवन हमें सुदृढ़ शरीरवाला तथा उदार व द्वेषशून्य मनवाला बनाए।

भावार्थ—पृथिवी माता है। इससे उत्पन्न ओषधियाँ शरीर में उसी प्रकार लगती हैं, जैसे बच्चे को माता का दूध। इनसे हमारा शरीर भी उत्तम बनता है और मन भी, शरीर सुदृढ़ बनता है तथा मन निर्द्वेष होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराण्नामगायत्री** ॥

गोदुग्ध व वानस्पतिक पदार्थ

वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम्। शरुमस्मद्यावय दिद्युमिन्द्र॥ ३ ॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में शरीर को 'वृक्ष' कहा है, क्योंकि मानव-जीवन का लक्ष्य यही है कि अन्ततः इस शरीर का वृश्चन=छेदन हो। हमें फिर-फिर शरीर न लेना पड़े। **यत्**=जब **गावः**=गौओं से दिया गया दूध **वृक्षम्**=इस शरीर-वृक्ष को **परिषस्वजानाः**=आलिङ्गन करनेवाला होता है तथा **अनुस्फुरम्**=(अनुर्लक्षणे) स्फूर्ति का लक्ष्य करके लोग **ऋभुम्**=(उरु भाति) तेजस्विता से दीप्त **शरम् अर्चन्ति**=शर का आदर करते हैं तब हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! **अस्मत्**=हमसे **दिद्युम्**=एक चमकते हुए घातक अस्त्र के समान **शरुम्**=क्रोध व वासना (Anger, passion) को **यावय**=दूर कीजिए। २. दूध व शर आदि ओषधियों का प्रयोग शरीर में स्फूर्ति व दीप्ति लाता है तथा मन से क्रोध व वासना को दूर करता है। यह क्रोध हमारे लिए ही एक घातक अस्त्र बनता है और हमारा ही विनाश करता है, अतः हमें प्रयत्न यही करना है कि हमारा भोजन दूध व वनस्पति ही रहे। हम घासपक्षवाले ही बनें रहें, मांसपक्षवाले न बन जाएँ। यह मांस तो (माम् सः) मुझे ही खा जाएगा।

भावार्थ—हम गोदुग्ध व शरादि वानस्पतिक पदार्थों से ही शरीर का पोषण करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रोग व आस्राव को दूर करनेवाला 'मुञ्ज'

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम्। एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत्॥ ४ ॥

१. **यथा**=जैसे यह **तेजनम्**=शर (Reed) **द्यां च पृथिवीं च अन्तः**=द्युलोक और पृथिवीलोक में **तिष्ठति**=स्थित है **एव**=उसी प्रकार यह **मुञ्जः**=मुञ्ज नामक शर **रोगं च आस्रावं च**=रोग और पीब आदि बहनेवाले घावों के **अन्तः**=बीच में **तिष्ठतु**=ठहरे। २. तेजन शर या मुञ्ज बादल के पानी से पृथिवी पर उत्पन्न होता है। इसप्रकार यह मुञ्ज (मूँज, सरकण्डा) दोनों लोकों के बीच में स्थित है। पृथिवी से इसे विष-नाशक शक्ति प्राप्त होती है। यह 'मेदिनी' इसमें Medicinal properties को उपस्थित करती है और सूर्य-किरणों के द्वारा इसमें विविध औषध-गुण स्थापित होते हैं। एवं यह शर रोगों व घावों को ठीक करनेवाला हो जाता है।

भावार्थ—मुञ्ज का विधिवत् प्रयोग रोगों व घावों को दूर करता है।

विशेष—(१) सूक्त के आरम्भ में आधि-व्याधियों की शान्ति करनेवाले 'शर' के जन्म का वर्णन है। (२) यह हमें दृढ़ शरीर और निर्दोष मनवाला बनाता है। (३) हमें चाहिए कि हम गोदुग्ध व वनस्पतियों से ही शरीर का पालन करें। (४) यह निश्चय रक्खें कि इस शर (मुञ्ज) का प्रयोग हमें रोगों व घावों से बचाएगा। इस शर में 'पर्जन्य, मित्र, वरुण, चन्द्र व सूर्य' की शक्तियाँ निहित हैं।

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

पर्जन्य

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥ १ ॥

१. गत सूक्त में शर का वर्णन है, उसी को अधिक व्यक्त करते हुए कहते हैं

१. **यः**=जो **सपत्नः**=शत्रु अथवा **यः**=जो **असपत्नः**=शत्रु नहीं भी लगता, **यः च**=और जो **द्विषन्**=हमारे साथ प्रीति न करता हुआ **नः**=हमें **शपाति**=आक्रुष्ट करता है (Curses), **तम्**=उसे **सर्वे देवाः**=सब देव **धूर्वन्तु**=हिंसित करें। उसे देवताओं की अनुकूलता प्राप्त न हो। सूर्य आदि देवों की प्रतिकूलता से वह अस्वस्थ होकर शान्ति-लाभ न कर पाये। वस्तुतः जो दूसरों को शाप देता है, वह शाप उसके लिए ही शाप प्रमाणित होता है। उसके अन्दर विषैले द्रव्य पैदा होकर उसे ही अस्वस्थ व अशान्त कर देते हैं। हम उसके लिए अमङ्गल की भावना को अपने हृदयों में न आने दें। उसका शाप उसे स्वयं दण्डित करनेवाला होगा। २. हम तो यह निश्चय करें कि **ब्रह्म**=यह ज्ञान अथवा प्रभु **मम**=मेरे **आन्तरं वर्म**=आन्तर कवच होंगे और मैं उन शत्रुओं और विद्वेषियों के अपशब्दरूप बाणों से विद्ध न होऊँगा। मैं क्षुब्ध न होकर सदा शान्त रहूँगा।

भावार्थ—हम ब्रह्म को अपना कवच बनाकर '**आक्रुष्टः कुशलं वदेत्**' निन्दा करने पर भी निन्दक के कल्याण की कामना करे—इस सिद्धान्त को अपनाने का प्रयत्न करें।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में लोभ व काम से विद्ध न होने की प्रार्थना है (१) और इस वेधन से बचने के लिए समाप्ति पर ब्रह्म को आन्तर-कवच बनाने का विधान है (४)। ब्रह्म को कवच बनानेवाला 'अथर्वा' अडिग बनता है। यह शान्त होता है (सोम) और प्रार्थना करता है कि—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, मरुतश्च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अदारसृत् (एकता का मार्ग)

अदा॑रसृद्भवतु देव सोमा॒स्मिन्य॒ज्ञे म॑रुतो मृ॒डता॑ नः।
मा नो॑ विददभि॒भा मो अश॑स्ति॒र्मा नो॑ विदद्वृजि॒ना द्वेष्या॒ या॥ १॥

१. 'देव और सोम' ये दोनों सम्बोधन एकता के लिए साधनों का संकेत कर रहे हैं। हम देव बनें—प्रकाशमय जीवनवाले बनें तथा सौम्य स्वभाव को अपनाएँ—अभिमान से दूर हों। ज्ञान व निरभिमानता हमें एकता के मार्ग पर चलानेवाले होंगे। हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज! **सोम**=शान्त प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि आपकी उपासना से **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **अदारसृत् भवतु**=हमारा मार्ग (सृत्) फूट (दार) का न हो। हम '**सं गच्छध्वं संवदध्वम्**' का ही पाठ पढ़कर चलें। हमारा जीवन फूट से ऊपर उठकर सचमुच यज्ञ (संगतिकरण) का हो। २. हे **मरुतः**=प्राणो! **नः मृडत**=हमें सुखी करो। प्राणसाधना के द्वारा हमारे मन निर्मल हों, हम राग-द्वेष से ऊपर उठकर परस्पर मेल की भावनावाले हों। ३. इसप्रकार पारस्परिक मेल से **नः**=हमें **अभिभा**=पराभव **मा विदत्**=मत प्राप्त हो—शत्रु हमें पराभूत न कर सकें। एकता की शक्ति हमें अजेय बना दे **उ**=और **अशस्तिः**=अपकीर्ति व कोई भी अशुभ वस्तु **मा**=मत प्राप्त हो तथा विशेषकर **या**=जो **द्वेष्या**=परस्पर अप्रीति की कारणभूत **वृजिना**=कुटिलता है, वह **नः**=हमें **मा विदत्**=मत प्राप्त हो। हम 'अभिभा, अशस्ति, व वृजिन' से ऊपर उठ सकें। एकता के अभाव में ही पराभव, अपकीर्ति व कुटिलताएँ पनपा करती हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो, हम कभी फूट के मार्ग पर न चलें। हम पराभव, अपकीर्ति व कुटिलता से बचें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मित्र और वरुण द्वारा रक्षण

यो अ॒द्य सेन्यो॑ व॒धो॑ऽघा॒यू॒नामु॒दीर॑ते। यु॒वं तं मि॑त्रावरुणाव॒स्मद्या॑वयतं॒ परि॑॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हमारा मार्ग **अदारसृत**=एकता व मेल का होगा तो कोई भी शत्रु हमपर क्यों आक्रमण कर सकेगा? इस बात को स्पष्ट करते हुए मन्त्र में कहा है—**अघायूनाम्**=दूसरों का अघ=कष्ट व अहित चाहनेवालों का **यः**=जो भी **अद्य**=आज **सैन्यः वधः**=सेना के आक्रमण के द्वारा होनेवाला वध **उदीरते**=उठ खड़ा होता है, अर्थात् यदि कोई शत्रु सेना के द्वारा आक्रमण करता है तो **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण—परस्पर स्नेह व निर्द्वेषता की भावनाओ! **युवम्**=तुम दोनों **तम्**=उस सेन्य को **अस्मत्**=हमसे **परियावयतम्**=सर्वथा पृथक् कर दो। वह शत्रु सेना के द्वारा हमारा वध न कर पाये। २. इस वध को रोकनेवाले मुख्य देव मित्र और वरुण ही हैं। पारस्परिक स्नेह व निर्द्वेषता से ही हम शत्रु का मुक़ाबला कर सकते हैं। इसी बात को प्रथम मन्त्र में इस रूप में कहा था कि 'फूट का मार्ग न होने पर हमारा पराभव न हो'।

भावार्थ—देशवासियों में परस्पर मेल व द्वेष का अभाव होने पर शत्रु उन्हें आक्रान्त नहीं कर सकता।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

निर्द्वेषता व महान् सुख (शान्ति)

इतश्च यदमुतश्च यद्वधं वरुण यावय।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम्॥ ३॥

१. हे **वरुण**=द्वेष-निवारण की देवते! तू **यत् इतः च**=जो इधर से होनेवाला **च**=और **यत्**=जो **अमुतः**=उधर से होनेवाला **वधम्**=वध है, उसे **यावय**=हमसे पृथक् कर दे। जब हममें द्वेष होता है तब यह द्वेष हमारे अन्दर विषयों को जन्म देकर हमारा वध करनेवाला होता है। यह वध यहाँ 'इतः' (इधर से) इस शब्द द्वारा सूचित हुआ है। इस द्वेष के होने पर हम शत्रुओं से आक्रान्त होने योग्य होते हैं और यह वध यहाँ 'अमुतः' (उधर से) शब्द से संकेतित हो रहा है। इन दोनों ही वधों को वरुण हमसे दूर करते हैं। द्वेष-निवारण की देवता हमें इस उभयविध वध से बचाती है। २. इस वध से बचाकर हे वरुण! **महत् शर्म**=महान् कल्याण व सुख को **वियच्छ**=विशेषरूप से प्राप्त कराइए। द्वेष के न होने पर हम आन्तरिक व बाह्य वध से बचकर सुखी जीवनवाले होते हैं। हे वरुण! निर्द्वेषता की देवते! **वधम्**=वध को **वरीयः** **यावय**=हमसे बहुत दूर कर दीजिए। वस्तुतः द्वेष के अभाव में वध हमारे समीप आ ही नहीं सकता।

भावार्थ—हम द्वेष से दूर हों। द्वेष से ऊपर उठकर आन्तर व बाह्य वध से आक्रान्त न हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आत्मशासन व महत्ता

शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन॥ ४॥

१. प्रभु अथर्वा से कहते हैं—**शासः**=तू अपना शासन करनेवाल बन। **इत्था**=इस प्रका ही तू **महान् असि**=बड़ा होता है। अपना विजय करनेवाला ही सर्वमहान् विजेता है। **अमित्र-साहः**=अपना विजय करके तू शत्रुओं का पराभव करता है और **अस्तृतः**=अहिंसित होता है। जिस समय हम अपना शासन करके राग-द्वेष आदि को जीत पाते हैं, उसी समय हम महान् होते हैं, बाह्य शत्रुओं को भी जीतनेवाले होते हैं और किसी प्रकार से हिंसित नहीं होते। २. **यस्य**=जिसका **सखा**=मित्र **न हन्यते**=नहीं मारा जाता वह **कदाचन**=कभी भी **न जीयते**=पराजित

नहीं होता। यदि हममें स्नेह का भाव बना रहता है तो हम कभी भी पराभूत नहीं होते। इस मन्त्र-भाग का यह अर्थ भी द्रष्टव्य है कि जो प्रभुरूप मित्र को नहीं भूलता वह अपराभूत बना रहता है।

भावार्थ—आत्मविजय हमें महान् बनाती है और मित्रभाव हमें अपराजित बनाता है।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में प्रार्थना है कि हमारा प्रत्येक कार्य मेल को बढ़ानेवाला हो (१)। समाप्ति पर कहा है कि हम आत्मविजयी बनकर अपराजित बनें (४)। अगले सूक्त में भी यही अथर्वा आराधना करता है कि—

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रजा-रक्षण

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी। वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयङ्करः॥ १॥

१. राष्ट्र की व्यवस्था के ठीक होने पर ही प्रायः सब प्रकार की उन्नति होती है, अतः उत्तम राष्ट्र-व्यवस्थापक 'इन्द्रः'=शत्रुओं के विद्रावक राजा का चित्रण करते हुए कहते हैं कि यह **इन्द्रः**=राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला, शत्रु-विजेता राजा **स्वस्तिदा**=उत्तम स्थिति को देनेवाला हो, **विशांपतिः**=प्रजाओं का रक्षक हो **वृत्रहा**=राष्ट्र-उन्नति में बाधक व्यक्तियों का हनन करनेवाला हो, **विमृधः वशी**=वध करनेवालों को वशीभूत करनेवाला, **वृषा**=शक्तिशाली, **सोमपा**=सौम्य व्यक्तियों की रक्षा करनेवाला **अभयंकरः**=प्रजाओं के लिए निर्भयता करनेवाला इन्द्र **नः पुरः एतु**=हमारे आगे चलनेवाला हो—हमारा नेतृत्व करे। २. राजा का मौलिक कर्त्तव्य यही है कि वह प्रजाओं का रक्षण करे (विशांपतिः), उनकी स्थिति को अच्छा बनाये (स्वस्तिदा)। इस स्थिति को अच्छा बनाने के लिए आवश्यक है कि वह प्रजाओं में निर्भयता का सञ्चार करे (अभयंकरः)। इस निर्भयता के लिए वह वृत्रवृत्तिवालों का नाश करे (वृत्रहा), हिंसकों को पूर्णरूप से वश में करे (विमृधः वशी) और सौम्य व्यक्तियों का रक्षण करे (सोमपा)।

भावार्थ—राजा का मूल कर्त्तव्य प्रजा-रक्षण है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अन्तः व बाह्य शत्रुओं का दूरीकरण

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले राजन्! **नः मृधः**=हमारे हिंसकों को **विजहि**=आप विशेषरूप से नष्ट कीजिए। हिंसक वृत्तिवाले पुरुषों का प्रजा से दूर करना आवश्यक ही है। २. **पृतन्यतः**=सेना के द्वारा आक्रमण करनेवालों को **नीचा यच्छ**=पाँवों तले करनेवाले होओ। देश पर सेना के साथ आक्रमण करनेवाले शत्रुओं का प्रबल मुक़ाबला करके उन्हें नीचा दिखाना आवश्यक है। २. **यः**=जो **अस्मान्**=हमें **अभिदासति**=दास बनाता है, उसे **अधमं तमः गमय**=घने अन्धकार में प्राप्त कराइए। दास बनाने की वृत्तिवाले लोगों को क़ैद में रखना आवश्यक है।

भावार्थ—हिंसकों को राजा वध दण्ड दे, सैनिक आक्रमण करनेवालों को पूर्ण पराजय प्राप्त कराए और स्वतन्त्रता का अपहरण करनेवालों को अन्धकारमय कारागार में रक्खे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वृत्रों का विनाश

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥ ३ ॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुनाशक! राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाले राजन्! **रक्षः**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले, औरों का नाश करके अपने भोगों को बढ़ानेवाले पुरुषों को **विजहि**=विशेषरूप से नष्ट कीजिए। **मृधः**=प्राणघातक पुरुषों को तो अलग कीजिए ही। **वृत्रस्य**=औरों की उन्नति में सदा रोड़ा अटकानेवाले के **हनूः विरुज**=जबड़ों को तोड़ दीजिए, अर्थात् उनकी शक्ति को कम कीजिए। २. हे **वृत्रहन्**=वृत्रों का विनाश करनेवाले राजन्! **अभिदासतः अमित्रस्य**=हमें अपना दास बनानेवाले शत्रु के **मन्युम्**=उत्साह को **वि**=विनष्ट कीजिए। उसपर आक्रमण करके ऐसा दिखाइए कि उसका हमपर आक्रमण करने का उत्साह ही नष्ट हो जाए।

भावार्थ—राजा राक्षसी वृत्तिवाले, हिंसक, उन्नतिविघातक पुरुषों को दूर करे, बाह्य आक्रान्ताओं को भी समाप्त करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'द्वेष, आयुष्यनाश व वध' से दूर

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम्।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ४ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **द्विषतः मनः अप**=द्वेष करनेवाले के मन को हमसे दूर कीजिए, अर्थात् हम अपने मन में किसी के प्रति द्वेष न करें, **जिज्यासतः**=(ज्या वयोहानौ) आयुष्य का नाश करनेवाले के **वधम्**=वध को **अप**=हमसे दूर कीजिए। हम किसी के आयुष्यनाश की वृत्तिवाले न हों। २. हे प्रभो! आप हमारे लिए **महत् शर्म**=महनीय सुख को **यच्छ**=प्राप्त कराइए और **वधम्**=वध को **वरीयः यावय**=हमसे बहुत दूर कीजिए। हमारे मन में किसी के वध इत्यादि का विचार ही उत्पन्न न हो। ३. जहाँ राजा का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र की अन्तः-बाह्य शत्रुओं से रक्षा करे, वहाँ प्रत्येक प्रजावर्ग का भी यह कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवन में से द्वेष आदि भावना को दूर करके सारा व्यवहार करे।

भावार्थ—हम अपने मनों से द्वेष व दूसरों के आयुष्य-नाश की भावना व वध को दूर करें और इसप्रकार उत्तम नागरिक बनें।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि उत्तम व्यवस्था से राजा राष्ट्र में अभय का सञ्चार करे (१)। लोगों के हृदय भी द्वेष व वध आदि की भावनाओं से रहित हों (४)। यह द्वेष से शून्य होना हमें हृदय की जलन व पीलापन आदि रोगों से बचाएगा। इन रोगों के दूरीकरण के लिए सूर्यकिरणों का भी अत्यधिक महत्त्व है।

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगश्च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'हृदयरोग व हरिमा' का हरण

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥

१. रोगों की चिकित्सा करके वृद्धि करनेवाला 'ब्रह्मा' प्रस्तुत सूक्त का ऋषि है (वृहि वृद्धौ)। इस सूक्त का साक्षात् करके यह सूर्य-किरणों के महत्त्व को व्यक्त करते हुए कहता है—**अनुसूर्यम्**=सूर्योदय के साथ **ते**=तेरी **हृद्द्योतः**=हृदय की जलन **च**=तथा **हरिमा**=रक्त की कमी से हो जानेवाला पीलापन **उद् आयताम्**=बाहर चला जाए। सूर्य की किरणों को छाती पर लेने से तेरा हृदय-रोग और पीलिया दोनों ही समाप्त होंगे। २. इसी उद्देश्य से **रोहितस्य**=लाल वर्ण की **गोः**=सूर्य-किरणों के **तेन वर्णेन**=उस लोहित वर्ण से **त्वा**=तुझे **परिदध्मसि**=चारों ओर से धारित करते हैं। 'तेरे चारों ओर सूर्य की लाल किरणें हों' ऐसी व्यवस्था करते हैं। इनका शरीर पर ऐसा प्रभाव होगा कि तेरा हृदयरोग भी दूर होगा और रक्त की कमी भी दूर होकर हरिमा का नाश हो जाएगा।

भावार्थ—प्रातः सूर्य की अरुण वर्ण की किरणों को शरीर पर लेने से हृद्रोग व हरिमा दूर हो जाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगश्च**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोहित-वर्ण परिधारण

परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि।
यथाऽयमरपा असदथो अहरितो भुवत्॥ २॥

१. **त्वा**=तुझे **रोहितैः वर्णैः**=सूर्य-किरणों के रोहित वर्णों से **परिदध्मसि**=चारों ओर से धारण करते हैं, जिससे **दीर्घायुत्वाय**=दीर्घायु की प्राप्ति हो। प्रातः सूर्याभिमुख होकर ध्यान में बैठने से सूर्य रोगकृमियों का नाश करता है, रुधिर में रक्तता बढ़ाता है और इसप्रकार हमारे दीर्घायुष्य का कारण बनता है। २. एक वैद्य एक रोगी को इसीप्रकार सूर्य की रोहित वर्ण की किरणों से घेरने का प्रयत्न करता है, **यथा**=जिससे कि **अयम्**=यह व्यक्ति **अरपाः**=निर्दोष शरीरवाला **असत्**=हो **अथो**=और निश्चय से **अ-हरितः**=पीलेपन के रोग से रहित **भुवत्**=हो। सूर्य की लाल रंग की किरणें रोगी के शरीर को निर्दोष बनाती हैं और उसके रुधिर की कमी को दूर करके उसे पीलिया के रोग से मुक्त करती हैं।

भावार्थ—सूर्य की रोहित वर्ण की किरणें हमें नीरोग बनाकर दीर्घायुष्य प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगश्च**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोहिणी गौएँ

या रोहिणीर्देवत्या३ गावो या उत रोहिणीः।
रूपंरूपं वयोवयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि॥ ३॥

१. **याः**=जो **रोहिणीः**=रोहित वर्ण की **देवत्याः**=दिव्य दुग्ध देनेवाली **गावः**=गौएँ हैं, **उत**=और **याः**=जो **रोहिणीः**=रोहित वर्ण की सूर्य-किरणें हैं, **ताभिः**=उनसे **त्वा**=तुझे **रूपं-रूपम्**=रूप-रूप के अनुसार **वयोवयः**=और आयुष्य के अनुसार **परिदध्मसि**=धारण करते हैं। २. यहाँ मन्त्र में प्रातःकालीन सूर्य की अरुण किरणों के साथ रोहित वर्ण की गौओं का उल्लेख भी स्पष्ट है। जहाँ रोहित वर्ण की किरणें अत्यन्त उपयोगी हैं, वहाँ हृद्रोग व हरिमा को दूर करने में लाल रंग की गौओं के दूध का उपयोग भी अत्यधिक महत्त्व रखता है। यही गौ '**कपिला**' कहलाती है और ऋषि-आश्रमों के साथ साहित्य में सर्वत्र इसका सम्बन्ध दीखता है। इसके दूध में भी वे ही गुण आ जाते हैं जो सूर्य की अरुण किरणों में होते हैं। ३. '**रूपंरूपम्**' ये शब्द 'त्वचा का रंग गोरा है या कालिमा को लिए हुए' इस बात का संकेत कर रहे हैं और स्पष्ट है कि

त्वचा के रंग-भेद से किरणों का कम या अधिक देर तक सेवन अभीष्ट होता है। गौर वर्ण अधिक देर तक किरणों को सहन नहीं कर सकता। इसीप्रकार '**वयोवय:**' शब्द आयुष्य-भेद से अधिक व कम देर तक सूर्य-किरणों के सेवन का संकेत करते हैं। छोटा बच्चा कम देर तक सहन करेगा तो एक युवक अधिक देर तक।

भावार्थ—सूर्य की रोहित किरणों व रोहिणी गौओं के दूध का आयुष्य व शक्ति के अनुसार सेवन द्वारा हम नीरोग हों।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**सूर्य:, हरिमा, हृद्रोगश्च** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

हरिमा का उचित स्थान (तोते व पौधे)

शुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि। अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार सूर्य-किरणों व कपिल वर्ण की गौओं के दूध के प्रयोग से रुधिर की कमी के कारण होनेवाली पीतिमा (हरिमा) को दूर करके मनुष्य को नीरोग बनाने का विधान है। यहाँ वेद काव्यमय भाषा में कहता है—**ते हरिमाणम्**=तेरी इस हरिमा को **शुकेषु**=तोतों में **दध्मसि**=धारण करते हैं और **रोपणाकासु**=ओषधिविशेषों में धारण करते हैं। तोतों में और इन ओषधियों में यह हरिमा रोगरूप से प्रतीत नहीं होती, अत: इस हरिमा का स्थान इनमें ही है। अपने स्थान पर यह शोभा का कारण बनती है। मानव-शरीर में यह रोग की सूचना देती है। २. **अथ उ**=और अब **ते हरिमाणम्**=तुझमें रहनेवाली इस हरिमा को तुझसे दूर करके **हारिद्रवेषु**=कदम्ब के वृक्षों में **निदध्मसि**=निश्चय से स्थापित करते हैं। यह हरिमा इन वृक्षों की शोभा-वृद्धि का कारण बनती है।

भावार्थ—हरिमा तोतों में, रोपणा नामक ओषधिविशेषों में तथा कदम्ब-वृक्षों में शोभा का कारण होती है, अत: इसे वहीं स्थापित करते हैं। मानव-शरीर इसका स्थान नहीं है, वहाँ तो यह रोग की सूचना देती है।

विशेष—यह सूक्त सूर्योदय के समय की अरुण किरणों व कपिला गौओं के दूध के प्रयोग से हृद्रोग व हरिमा के दूर करने का प्रतिपादन कर रहा है। इसीप्रकार अगला सूक्त श्वेतकुष्ठ के दूरीकरण के लिए औषध-विशेष का प्रतिपादन करता है—

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतय: (रामा-कृष्णा-असिक्नी च)** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

रामा-कृष्णा-असिक्नी

नक्तञ्जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत्॥ १ ॥

१. हे **ओषधे**=शरीर के दोषों का दहन करनेवाली ओषधे! तू **नक्तं जाता असि**=रात्रि में उत्पन्न हुई है। ओषधियों का ईश चन्द्रमा है। वह रात्रि में ओषधियों में रस का सञ्चार करता है। इसी दृष्टि से यहाँ यह प्रतिपादन हुआ है 'हे ओषधे! तू रात्रि में विकसित हुई है'। २. **रामे कृष्णे असिक्नि च**=रामा, कृष्णा व असिक्नी—इन नामों से तेरा सम्बोधन होता है। तू शरीर को फिर से सौन्दर्य प्रदान करनेवाली होने से 'रामा' है, शरीर के दोषों को बाहर खेंच लाने से तू 'कृष्णा' है और श्वेत धब्बे को दूर कर देने से तू 'असिक्नी' है। ३. हे **रजनि**=शरीर को पुन: ठीक रंग प्रदान करनेवाली ओषधे! तू **यत्**=जो **किलासम्**=श्वेतकुष्ठ का धब्बा है **च**=और **पलितम्**=त्वचा में आ जानेवाली सफेदी है, **इदम्**=इसे **रजय**=फिर से रंग दे।

भावार्थ—रामा, कृष्णा व असिक्नी नामक औषध के प्रयोग से श्वेत कुष्ठ दूर हो जाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतयः (रामा-कृष्णा-असिक्नी च)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

किलास व पलित का नाश

कि॒लास॑ं च पलि॒तं च॒ निरि॒तो ना॑शया॒ पृष॑त्।
आ त्वा॒ स्वो वि॑शतां॒ वर्णः॒ परा॑ शु॒क्लानि॑ पातय॥ २॥

१. **किलासम्**=श्वेतकुष्ठ के धब्बों को **च**=और **पलितम्**=त्वचा की व्यापक सफ़ेदी को **च**=तथा **पृषत्**=अन्य धब्बों को **इतः**=यहाँ से **निः नाशय**=बाहर कर दे (णश अदर्शने)। त्वचा में इन किलास, पलित व पृषतों का दर्शन न हो। २. हे रोगाक्रान्त पुरुष! इस औषध के प्रयोग से **त्वा**=तेरी त्वचा में **स्वः वर्णः**=अपना असली वर्ण **आविशताम्**=सर्वत्र प्राप्त हो जाए। तू **शुक्लानि**=जहाँ-तहाँ हो जानेवाले इन सफ़ेद धब्बों को **परा पातय**=दूर भगा दे।

भावार्थ—औषध-प्रयोग से त्वचा को पुनः अपना असली रूप प्राप्त हो जाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतयः (रामा-कृष्णा-असिक्नी च)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

असिक्नी का असिक्नीपन

असि॑तं ते प्र॒लय॑नमा॒स्थान॒मसि॑तं॒ तव॑। असि॑क्न्यस्योषधे॒ निरि॒तो ना॑शया॒ पृष॑त्॥ ३॥

१. हे **ओषधे**=दोष-दहन करनेवाली ओषधे! **ते**=तेरा **प्रलयनम्**=लय व विनाश भी **असितम्**=काला है, अर्थात् तुझे जला देने पर तेरी भस्म भी सामान्यता अधिक काले वर्ण की होती है। **तव आस्थानम् असितम्**=तेरा स्थिति-स्थान भी काला है। सामान्यतः काली मिट्टी में ही यह पनपती है। २. हे ओषधे! तू सचमुच **असिक्नी असि**=काली है। **इतः**=यहाँ से, इस रोगी पुरुष की त्वचा से **पृषत्**=इन धब्बों को **निः नाशय**=सुदूर नष्ट कर दे।

भावार्थ—असिक्नी का असिकनीत्व इसी में है कि वह त्वचा के सफ़ेद धब्बे को दूर कर दे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतयः (रामा-कृष्णा-असिक्नी च)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ज्ञानरूप महौषध

अ॒स्थि॒जस्य॑ कि॒लास॑स्य तनू॒जस्य॑ च॒ यत्त्व॒चि।
दूष्या॑ कृ॒तस्य॒ ब्रह्म॑णा॒ लक्ष्म॑ श्वे॒तम॑नीनशम्॥ ४॥

१. यदि कुष्ठ का प्रभाव अस्थि तक पहुँच गया है तो यह 'अस्थिज किलास' कहलाएगा। यदि अभी उसका प्रभाव गहराई तक नहीं गया तो वह 'तनूज' कहलाता है। ये दोनों आहार-व्यवहार के दोषों के कारण ही उत्पन्न होते हैं, अतः कहते हैं कि—**अस्थिजस्य किलासस्य**=हड्डी तक पहुँचे हुए कुष्ठ का **च**=और **तनूजस्य**=शरीर में उपरले पृष्ठ पर उत्पन्न हुए-हुए कुष्ठ का **यत्**=जो **त्वचि**=त्वचा में **श्वेतं लक्ष्म**=श्वेत धब्बा है उसे तथा **दूष्या कृतस्य**=दूषित आहार-विहार के द्वारा उत्पादित किलास को **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **अनीनशम्**=मैं नष्ट करता हूँ। २. ज्ञान के अभाव में ही आहार-व्यवहार के दोष उत्पन्न होते हैं और उन दोषों से यह कुष्ठ-विकार उत्पन्न होता है। ज्ञान के द्वारा आहार-व्यवहार की शुद्धि होने पर इन विकारों की आंशका जाती रहती है।

भावार्थ—ज्ञान के द्वारा आहार-व्यवहार को शुद्ध करके हम कुष्ठ आदि विकारों को उत्पन्न न होने दें।

विशेष—इस सूक्त का ही विषय अगले सूक्त में भी प्रतिपादित हो रहा है। इस सूक्त में 'ब्रह्मा' आसुरी वनस्पति के प्रयोग से कुष्ठ को दूर करते हैं—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आसुरी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आसुरी (ओषधिविशेष)

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ।
तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन्॥ १ ॥

१. **सुपर्णः**=सूर्य **प्रथमः जातः**=सबसे प्रथम प्रादुर्भूत हुआ। यह सूर्य अपनी किरणों से प्राणों का सञ्चार करता हुआ सबका पालन करता है, अतः 'सुपर्ण' है। इस सुपर्ण के पित्त को आसुरी ग्रहण करती है। सूर्य की उष्णता का तत्त्व जो रोग का दहन कर देता है, उसे ही यहाँ 'पित्त' कहा गया है। कुष्ठ 'कफ-वात' का विकार है, यह पित्त उसे दूर करनेवाला होता है। हे आसुरी ओषधे! **त्वम्**=तू **तस्य**=उस 'सुपर्ण' की—सूर्य की **पित्तम्**=पित्त **आसिथ**=है, उसकी पित्त को लिये हुए है। २. **तत्**=सूर्य की पित्त को लिये हुए होने के कारण **आसुरी**=प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाली यह ओषधि **युधा**=रोगों के साथ युद्ध के द्वारा **जिता** (**जितम् अस्या अस्ति इति**)=विजयवाली होती है। युद्ध के द्वारा रोगों पर विजय प्राप्त करके यह **वनस्पतीन्**=(An ascetic=तपस्वी) तपस्वियों को **रूपं चक्रे**=फिर से प्रशस्त रूपवाला बना देती है। ३. वनस्पति शब्द यहाँ शरीर के पति, अर्थात् जितेन्द्रिय का वाचक है। आसुरी ओषधि के प्रयोग के साथ तपस्वी जीवन भी नितान्त आवश्यक है। भोजनाच्छादन का कठोर नियम किये बिना यह ओषधि कुष्ठ का निवारण करके सुरूप प्रदान करने में समर्थ नहीं। वनस्पतियों—तपस्वियों को यह ओषधि रूपवाला कर सकती है।

भावार्थ—आसुरी ओषधि में सूर्य का पित्तांश है। इससे वह तपस्वी को कुष्ठ का निवारण करके सुरूप प्रदान करती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आसुरी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्पथ्यापङ्क्तिः** ॥

त्वचा की सरूपता

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम्।
अनीनशत् किलासं सरूपामकरत्त्वचम्॥ २ ॥

१. **प्रथमा**=अत्यन्त फैलनेवाली **आसुरी**=इस आसुरी ओषधि ने **इदम्**=इस **किलास-भेषजम्**=श्वेतकुष्ठ के धब्बों की औषध को **चक्रे**=बनाया है। **इदम्**=यह औषध **किलास-नाशनम्**=श्वेतकुष्ठ का नाश करनेवाला है। २. नाश करनेवाला क्या, इसने तो **किलासम्**=किलास को **अनीनशत्**=नष्ट कर ही दिया और **त्वचं सरूपाम् अकरत्**=सारी त्वचा को समान रूपवाला कर दिया है। ३. यहाँ मन्त्र का उत्तरार्ध साहित्य की अतिशयोक्ति अलंकारपूर्ण शैली में कहा गया है। इससे ओषधि के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है। यह ओषधि किलास को शीघ्र दूर करनेवाली है, यही भाव अभिप्रेत है।

भावार्थ—आसुरी ओषधि से बनाया गया भेषज किलास को शीघ्र दूर करनेवाला है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आसुरी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आसुरी के माता व पिता

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता।
सरूपकृत्त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि॥ ३ ॥

१. सब ओषधियों की माता यह पृथिवी है, हे आसुरी! **ते माता**=तेरी मातृस्थानापन्न यह पृथिवी **सरूपा नाम**=सरूपा नामवाली है। मिट्टी का लेप भी त्वग्दोष को दूर करके स्वरूपता लाने में सहायक होता है। २. इसीप्रकार सब ओषधियों का पिता द्युलोक है। यह वृष्टि व सूर्य-किरणों द्वारा इन ओषधियों को जन्म देनेवाला व पालन करनेवाला है। वह **ते पिता**=तेरा द्युलोकरूपी यह पिता भी **सरूपः नाम**=सरूप नामवाला है। यह भी त्वचा को सरूपता देनेवाला है। सूर्य-किरणों को त्वचा पर लेना तथा वृष्टिजलों में स्नान—ये दोनों ही बातें त्वग्दोष को दूर करनेवाली हैं। ३. हे **ओषधे**=त्वचा के दोष का दहन करनेवाली आसुरि! **त्वम्**=तू भी इस पृथिवी व द्युलोकरूप माता-पिता से उत्पन्न होकर **सरूपकृत्**=सारी त्वचा को समान रूपवाला करनेवाली है। **सा**=वह तू **इदं सरूपं कृधि**=हमारे इस शरीर को सरूप बना दे।

भावार्थ—(क) मिट्टी का लेप, (ख) सूर्य-किरणों का सम्पर्क, (ग) वृष्टिजल में स्नान तथा (घ) आसुरी ओषधि का प्रयोग—ये चार बातें अवश्य कुष्ठ रोग को दूर कर सरूपता प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आसुरी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

श्यामा

श्यामा सरूपङ्करणी पृथिव्या अध्युद्भृता। इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥ ४ ॥

१. त्वचा में रंग देनेवाले तत्त्व के निकल जाने से ही कुष्ठ रोग उत्पन्न होता है। इस रंगदायी तत्त्व (colouring matter) को फिर से शरीर में प्राप्त करा देनेवाली यह **श्यामा**=श्यामता देनेवाली ओषधि **सरूपं करणी**=समानरूपता करनेवाली है। २. यह ओषधि **पृथिव्याः**=पृथिवी से **उद्भृता**=बाहर धारण की गई है। 'पृथिवी से बाहर निकालना' यह भाव स्पष्ट कर रहा है कि यह कन्द आदि के रूप की कोई ओषधि है। ३. हे श्यामा! तू **इदम्**=इस हमारे शरीर को **उ**=निश्चय से **सुप्रसाधय**=अच्छी प्रकार अलंकृत कर दे, रोग को दूर करके इसे ठीक सिद्ध कर दे। **पुनः**=फिर **रूपाणि कल्पय**=तू त्वचा में रूप बना दे। जो रङ्ग देनेवाला तत्त्व कम हो गया था, उसकी पुनः स्थापना कर दे।

भावार्थ—'श्यामा' ओषधि रंग देनेवाले तत्त्व को उपस्थित करके त्वचा को फिर से सरूप करनेवाली है।

विशेष—अगले सूक्त का विषय भी 'तक्मा'=ज्वर है। इसे अपने से दूर रखनेवाला व्यक्ति '**अङ्गिरा**'=सब अङ्गों में रसवाला है। यह ज्वर को परिपक्व करके दूर करनेवाला होने से 'भृगु' है (भ्रस्ज पाके)। यह 'भृगु अङ्गिरा' ही अगले सूक्त का ऋषि है। यह प्रार्थना करता है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनोऽग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्वर का मूलकारण (वासना द्वारा शक्तिनाश)

यदग्निरापो अदहत्प्रविश्य यत्राकृण्वन्धर्मधृतो नमांसि।
तत्र त आहुः परमं जनित्रं स नः संविद्वान्परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ १ ॥

१. **यत्र**=जहाँ—हृदयदेश में **धर्मधृतः**=धर्म को धारण करनेवाले लोग **नमांसि**=प्रभु के प्रति नमन की भावनाओं को **अकृण्वन्**=करते हैं, वहाँ हृदय में **यत्**=जब **प्रविश्य**=प्रवेश करके **अग्निः**=कामवासना की अग्नि **आपः अदहत्**=वीर्यरूप जलों को जला देती है, **तत्र**=वहाँ **ते**=तेरे (रोग के) **परमं जनित्रम्**=सबसे पहले उत्पत्ति-स्थान को **आहुः**=कहते हैं। चाहिए तो यह

कि हृदय में हम सदा प्रभु का स्मरण करें, परन्तु यदि ग़लती से प्रभु-स्मरण को छोड़, हम वासनाओं के शिकार होने लगते हैं तो वीर्य का अपव्यय होता है। इस वीर्य को ही रोगों को कम्पित करना होता है। उसका अपव्यय होने पर रोगों को पनपने का अवसर मिल जाता है। २. हे **तक्मन्**=तंग करनेवाले ज्वर! **सः**=वह तू **नः**=हमें **संविद्वान्**=सम्यक्तया जानता हुआ कि हम हृदय में प्रभु-स्मरण करनेवाले हैं, हम कामाग्नि को वहाँ प्रवेश का अवसर नहीं देते, **परिवृङ्ग्धि**=सब प्रकार से छोड़नेवाला हो। किसी अन्य व्यक्ति को तू अपना शिकार बना जोकि वासनात्मक जीवनवाला बन गया हो।

भावार्थ—ज्वर का मूलकारण हृदय में वासना के आने से शक्ति का क्षय है, अतः ज्वर से बचने के लिए हम हृदय में सदा प्रभुस्मरण की भावना को स्थिर रक्खें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनोऽग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भात्रिष्टुप्**॥

ज्वर के परिणाम

यद्यर्चिर्यदि वा ऽसि शोचिः शकल्येषि यदि वा ते जनित्रम्।
हूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान्परि वृङ्ग्धि तक्मन्॥ २॥

१. हे **तक्मन्**=ज्वर! **यदि**=यदि (क) **अर्चिः असि**=तू ज्वालारूप है, अर्थात् यदि तेरे कारण शरीर में ताप की लपटें-सी उठती प्रतीत होती हैं, (ख) **यदि वा**=अथवा **शोचिः असि**=तेरे कारण हृदय में कुछ हतोत्साहता-(depression)-सा प्रतीत होता है, (ग) **यदि वा**=अथवा **ते जनित्रम्**=तेरा प्रादुर्भाव ऐसा है कि **शकली एषि**=तू अङ्गों को तोड़ता हुआ आता है, (घ) अथवा **हूडुः नाम असि**=कँपकँपी लानेवाला होने से तू हूडु नामवाला है (ङ) अथवा **हरितस्य देव**=तू खून को सुखाकर पीलापन (jaundice) देनेवाला है, जैसा भी तू है **सः**=वह तू **नः**=हमें **संविद्वान्**=सम्यक्तया प्रभु-भक्ति की भावनावाला जानता हुआ **परिवृङ्ग्धि**=सब प्रकार से छोड़नेवाला हो। २. ज्वर के ये विविध परिणाम तभी भोगने पड़ते हैं जब हम प्रभु-भक्ति को छोड़कर अपने जीवन में वासना को स्थान देते हैं।

भावार्थ—'ताप, हतोत्साह, अङ्गों का टूटना, कँपकँपी, रुधिर की कमी'—ये सब ज्वर के परिणाम हैं, इनसे बचने के लिए आवश्यक है कि हम हृदय में वासनाओं को स्थान न दें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनोऽग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भात्रिष्टुप्**॥

ज्वर के अन्य तीन कारण

यदि शोको यदि वाभिऽशोको यदि वा राज्ञो वरुणस्यासि पुत्रः।
हूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान्परि वृङ्ग्धि तक्मन्॥ ३॥

१. हे **तक्मन्**=ज्वर! **यदि**=यदि तू **शोकः असि**=बाह्य सम्पत्ति व सन्तान के नाश से होनेवाले शोक का परिणाम है, **यदि वा**=अथवा **अभिशोकः असि**=किन्हीं आन्तरिक व बाह्य दोनों कारणों से उत्पन्न होनेवाले शोक का परिणाम है, **यदि वा**=अथवा तू **वरुणस्य राज्ञः पुत्रः असि**=वरुण राजा का पुत्र है तो तू **हूडुः नाम असि**=कँपकँपी को लानेवाला होने से हुडु नामवाला है। तू **हरितस्य देव**=पीलिया को देनेवाला है। **सः**=वह तू **नः**=हमें **संविद्वान्**=सम्यक्तया जानता हुआ कि हम प्रभु-भक्त होने से वासना से दूर हैं, **परिवृङ्ग्धि**=सब प्रकार से छोड़नेवाला हो। २. शोक के कारण तो ज्वर उत्पन्न हो ही जाता है। यहाँ ज्वर को वरुण राजा का पुत्र इसलिए कहा है कि वरुण जलाधिपति है। यह जल इधर-उधर गढ़ों में ठहरता है, तो मच्छरों की उत्पत्ति का कारण बनता है। ये मच्छर ज्वर को फैलानेवाले होते हैं, अतः ज्वर से बचने के लिए जहाँ

शोक से बचना है, वहाँ मच्छरों की उत्पत्ति को रोकने की भी व्यवस्था करनी चाहिए। इस व्यवस्थापक को ही आजकल की भाषा में सैनिटेशन का प्रबन्ध कहते हैं।

भावार्थ—ज्वर शोक से उत्पन्न होता है, अतः संसार-स्वरूप का चिन्तन करते हुए शोक नहीं करना है तथा ऐसी व्यवस्था भी वाञ्छनीय है कि पानी आदि के ठहरे रहने से मच्छर उत्पन्न न हो पाएँ।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनोऽग्निः** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप्** ॥

विविध ज्वर

नमः शीताय तक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि।
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने॥ ४॥

१. **शीताय तक्मने नमः**=हम शीतज्वर के लिए नमस्कार करते हैं, इससे दूर से ही बचने का प्रयत्न करते हैं। २. **रूराय शोचिषे**=गर्जना करनेवाले सन्तापकारी बुखार के लिए **नमः कृणोमि**=मैं नमस्कार करता हूँ। वह ज्वर, जिसमें गर्मी की अधिकता से मनुष्य बड़बड़ाने लगता है, 'रूरशोचिः' कहा गया है। मैं इससे बचने क लिए प्रार्थना करता हूँ। ३. **यः**=जो **अन्येद्युः**=एक दिन छोड़कर आता है, **उभयद्युः अभ्येति**=दो-दो दिन करके आता है। दो दिन आया, फिर एक दिन न आकर दो दिन आता है—यह ज्वर 'उभयद्यु' कहलाता है। **तृतीयकाय**=जो दो-दो दिन छोड़कर तीसरे दिन आता है, उस **तक्मने**=ज्वर के लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो, अर्थात् मैं अन्येद्यु, उभयद्यु व तृतीयक ज्वरों से बचा रहूँ। ४. इन सब ज्वरों के लिए नमस्कार हो, अर्थात् इनसे मैं बचा रहूँ। 'नमः अस्तु' इन शब्दों में यह भाव भी अन्तर्निहित प्रतीत होता है कि मैं प्रभु के प्रति नतमस्तक होता हुआ इन ज्वरों का शिकार न होऊँ। प्रभु-भजन की वृत्ति भी मनुष्य के व्यवहार में उन वाञ्छनीय परिवर्तनों को उत्पन्न करती है जो ज्वरादि से दूर रहने में सहायक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु-भक्त जीवन की दिशा को ठीक रखने के कारण ज्वरादि से बचा रहता है।

विशेष—इस सूक्त में ज्वररूप आध्यात्मिक कष्ट से बचने का संकेत है। अब ब्रह्मा बनकर आधिदैविक कष्टों से बचने का उल्लेख होता है—

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

बिजली गिरना व ओले पड़ना

आरे३ऽसावस्मदस्तु हेतिर्देवासो असत्। आरे अश्मा यमस्यथ॥ १॥

१. उल्का आदि का गिरना अथवा बिजली का गिरना ही 'देवों के वज्र का गिरना' कहलाता है। **असौ**=वह **हेतिः**=वज्रपात **अस्मत्**=हमसे **आरे अस्तु**=दूर हो। बिजली आदि के गिरने के आधिदैविक प्रकोप से हम बचे रहें। २. हे **देवासः**=देवो! **यम्**=जिसे **अस्यथ**=आप फेंकते हो वह **अश्मा**=पत्थर **आरे असत्**=हमसे दूर रहें। ओलों के रूप में ये पत्थर पड़ते हैं और सम्पूर्ण पकी खेती की हानि हो जाती है। यह भी एक प्रबल आधिदैविक आपत्ति है। ३. देवों से प्रार्थना करते हैं कि ये आपत्तियाँ हमसे दूर ही रहें। वस्तुतः इन्हें दूर रखने का उपाय यही है कि हम भी 'देव' बनें। देव बनकर ही आधिदैविक कष्टों को दूर रक्खा जा सकता है। देव बनने का स्थूलभाव **'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा'** इन शब्दों में सुव्यक्त है कि हम (क) देनेवाले बनें, (ख) ज्ञान की ज्योति से अपने को दीप्त करें, (ग) औरों के लिए ज्ञान-ज्योति देनेवाले हो।

भावार्थ—देव बनकर हम बिजली गिरने व ओले आदि पड़ने के आधिदैविक कष्टों से बच सकते हैं।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदासाम्नीत्रिष्टुप् (एकावसाना)** ॥

दिव्य भावों के साथ मित्रता

सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः सविता चित्रराधाः ॥ २ ॥

१. **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **असौ**=वह **रातिः**=दान देने की भावना **सखा अस्तु**=मित्र हो। अदानशीलता ही सबसे बड़ा शत्रु है, यही देव-विपरीत भाव है। देव देते हैं, असुर हड़प कर जाते हैं। दान यज्ञ की चरम सीमा है। यह लोभ के मूल पर कुठाराघात करता है और इसप्रकार व्यसन-वृक्ष को उखाड़ फेंकता है। २. **इन्द्रः सखा**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु हमारा सखा हो। इन्द्र शब्द जितेन्द्रियता की सूचना देता है। जितेन्द्रियता ही परमैश्वर्यता का कारण बनती है। जितेन्द्रियता ही वस्तुतः उस वृत्त का केन्द्र है, जिसकी परिधि सब सद्गुणों से बनी हुई है। ३. **भगः**=भजनीय धन हमारा मित्र हो। वही धन भजनीय है जो औरों के साथ बाँटकर खाया जाता है। केवल अपने लिए विनियुक्त होनेवाला धन निधन का कारण बनता है। यही भाव 'यज्ञशेष को अमृत' नाम देकर व्यक्त किया गया है। ४. **सविता**=यह निर्माण की देवता है। जगदुत्पादक प्रभु 'सविता' हैं। मैं भी निर्माण की वृत्तिवाला बनकर आधिदैविक कष्टों से ऊपर उठूँ। जिस राष्ट्र में निर्माणरुचि जनता का बाहुल्य होता है, वह आधिदैविक कष्टों से बचा रहता है। ५. **चित्रराधाः**=ज्ञानरूप अद्भुत सम्पत्तिवाला प्रभु हमारा मित्र हो। ज्ञान को ही वास्तविक सम्पत्ति समझने पर हमारी वृत्ति उत्कृष्ट होगी और हम आधिदैविक कष्टों के शिकार न होंगे।

भावार्थ—'दानवृत्ति, जितेन्द्रियता, मिलकर सेवनीय धन, निर्माणरुचिता, ज्ञान को ही सम्पत्ति समझना'—ये बातें राष्ट्र को आधिदैविक कष्टों से बचाती हैं।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मरुतों की कल्याणकारिता

यूयं नः प्रवतो नपान्मरुतः सूर्यत्वचसः। शर्म यच्छाथ सप्रथाः ॥ ३ ॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **यूयम्**=आप **नः**=हमें **प्रवतः नपात्**=उच्च स्थान से न गिरने देनेवाले हो। प्राणसाधना हमें उच्च स्थिति में रखती है। इससे हममें दैवीभावों की वृद्धि होती है। केवल दैवीभावों का वर्धन ही नहीं, ये मरुत् **सूर्यत्वचसः**=सूर्य के समान ज्योतिर्मय त्वचा देनेवाले हैं। इनकी साधना से मनुष्य का स्वास्थ्य ऐसा उत्तम बनता है कि उसकी त्वचा सूर्य की भाँति चमकनेवाली बनती है। २. '**सूर्यत्वचसः**' शब्द का अर्थ यह भी हो सकता है कि ये मरुत् सूर्य को **त्वच्**=(touch) छूनेवाली हैं, अर्थात् प्राणसाधना हमें सूर्यमण्डल का भेदन करके ब्रह्मलोक में ले-जानेवाली होती है। ३. हे मरुतो! आप **सप्रथाः**=विस्तृत **शर्म**=सुख **यच्छाथ**=दो। ये प्राण हमारे शरीरों को नीरोग, मनों को निर्मल तथा मस्तिष्क को दीप्त बनाकर विस्तृत सुखों को देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें ऊपर-और-ऊपर ले-चलती है। यह हमें सूर्यमण्डल का भेदन करनेवाला बनाती है और विस्तृत सुख प्रदान करती है।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री (एकावसाना)** ॥

अपना व सन्तानों का स्वास्थ्य

सुषूदत मृडत मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ ४ ॥

१. हे प्राणो! **सुषूदत**=(षद् क्षरणे) आप हमारे सब मलों का क्षरण—दूर करनेवाले होओ, शरीर के मलों को दूर करके हमें स्वस्थ बनाओ। मनों की मैल को दूर करके उन्हें निर्मल बनाओ तथा मस्तिष्क की कुण्ठता को दूर करके हमें तीव्र बुद्धि बनाओ। ऐसा बनाकर **मृडत**=हमें सुखी करो। वास्तविक सुख 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों के नैर्मल्य में ही है। २. **नः तनूभ्यः**=हमारे शरीरों के लिए तो **मृडय**=सुख प्रदान करो ही **तोकेभ्यः**=हमारी सन्तानों के लिए भी **मयः कृधि**=कल्याण व नीरोगता कीजिए। हमारे शरीर स्वस्थ होंगे तो हमारे सन्तानों के शरीरों पर उनका प्रभाव पड़ेगा ही।

भावार्थ—प्राणसाधना से नैर्मल्य को सिद्ध करके हम अपने व सन्तानों के स्वास्थ्य को प्राप्त करनेवाले हों।

विशेष—संक्षेप में सूक्त का भाव यही है कि प्राणसाधना से नैर्मल्य को सिद्ध करके, देव बनकर, हम आधिदैविक आपत्तियों से बचें। यह प्राणसाधना हमें चित्तवृत्ति-निरोध के द्वारा 'अथर्वा' बनाती है। 'अथ अर्वाङ्' हम अन्तर्मुखी वृत्तिवाले बनते हैं, साथ ही हममें वीरता का संचार होता है—

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्राणी**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

आवरण का हटाना

अमूः पारे पृदाक्व॒स्त्रिषप्ता निर्जरायवः।
तासां जरायुभिर्वयमक्ष्या३वपि व्ययामस्यघायोः परिपन्थिनः॥ १॥

१. प्रस्तुत सूक्त की देवता 'इन्द्राणी' है। यह इन्द्र की शक्ति है। 'इन्द्र' इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। जितेन्द्रिय पुरुष ही तो शक्ति का पति बनता है। इसकी **अमूः**=ये **त्रिषप्ताः**='तीन+सात' दस इन्द्रियाँ **पृदाक्वः पारे**=सर्पिणी से दूर होती हैं। सर्पिणी यहाँ कुटिलता की प्रतीक है। इसकी इन्द्रियाँ कुटिल वृत्तिवाली नहीं होतीं। **निर्जरायवः**=ये वासना के आवरण से रहित होती हैं। वासना के आवरण से आवृत इन्द्रियाँ सदा कुटिल मार्ग पर जानेवाली होती हैं। २. **तासाम्**=इन इन्द्रियों की **जरायुभिः**=आवरणभूत वासनाओं से **वयम्**=हम **अघायोः**=पाप की कामनावाले **परिपन्थिनः**=औरों के मार्ग में बाधक चोर आदि की **अक्ष्यौ**=आँखों को **अपिव्ययामसि**=ढकते हैं। वस्तुतः इन वासनारूप आवरणों के कारण ही तो वे 'अघायु व परिपन्थी' बने हैं। इन आवरणों के हट जाने पर मनुष्य धर्मप्रवण व परहित की कामनावाला होता है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों की कुटिलवृत्ति को दूर करें, शक्ति के लिए वासनारूप आवरण को हटाएँ। यह आवरण ही हमें अघायु व परिपन्थी बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्राणी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रणवरूप धनुष का धारण

विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती। विष्वक्पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघायवः॥ २॥

१. यह इन्द्राणी=इन्द्र की शक्तिरूप पत्नी **पिनाकम् इव बिभ्रती**=प्रणवरूप धनुष को ही मानो धारण करती हुई, 'ओम्' के जप से प्रभु का स्मरण करती हुई, **कृन्तती**=इस धनुष द्वारा वासनाओं को काटती हुई **विषूची**=विविध दिशाओं में जानेवाली होकर **एतु**=गति करे, संसार में विचरे, परन्तु प्रभु-स्मरण के साथ विचरने के द्वारा यह संसार में उलझे नहीं। २. 'ओम्' का जप न करने पर मनुष्य संसर में आसक्त होता ही है। इस आसक्तिवाली स्त्री विधवा होकर

फिर विवाह की ओर झुकती है। इस **पुनर्भुवाः**=दुबारा विवाहित होनेवाली विधवा का **मनः**=मन **विश्वक्**=संसार के विविध विषयों की ओर ही जानेवाला होता है। इस वैषयिक वृत्तिवाले **अघायवः**=पाप की ओर झुकाववाले पुरुष **असमृद्धाः**=कभी भी वास्तविक ऐश्वर्य को पानेवाले नहीं होते।

भावार्थ—हम प्रणवरूप धनुष को लेकर वासनाओं को काट डालें। वैषयिक वृत्ति तो हमें भटकाएगी और वास्तविक समृद्धि से दूर रक्खेगी।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्राणी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वासनाओं का विनाश

न बहवः समशकन्नार्भका अभि दाधृषुः।
वेणोरुद्गाइवाभितोऽसमृद्धा अघायवः॥ ३॥

१. **बहवः**=संसार के असंख्य विषय **न समशकन्**=हमें पराजित करने में समर्थ न हों। **अर्भकाः**=अंकुररूप में होनेवाली वासनाएँ भी **न अभिदाधृषुः**=हमारा धर्षण न करें। वासनाओं को हम मूल में नष्ट करनेवाले बनें (Nip in the bud), इन्हें अंकुरित ही न होने दें। अंकुरित हो भी जाएँ तो उन्हें पुष्पित व फलित न होने दें। २. **वेणोः**=बाँस के **उद्गाः इव**=पुरोडाशों के समान **अघायवः**=दूसरों का अशुभ चाहनेवाले **अभितः**=दोनों ओर से, **असमृद्धाः**=कभी समृद्ध नहीं होते। बाँस की आहुति नहीं दी जाती। यह आहुति असमृद्ध मानी जाती है। इसमें वायु की पवित्रता न होकर अपवित्रता अधिक होती है और चटचटा शब्द होकर फटने का भय भी बना रहता है। इसीप्रकार अघायु पुरुष भी परिवार के लिए असमृद्धि का कारण माना जाता है।

भावार्थ—अघायु का जीवन असमृद्ध होता है। यह स्मरण रखते हुए हम इन अशुभ वृत्तियों का शिकार न हों, इन्हें अंकुरित ही न होने दें, मूल में ही इनका विनाश करें।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्राणी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

क्रियाशीलता व दान

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान्।
इन्द्राण्ये॑तु प्रथमाजीतामुषिता पुरः॥ ४॥

१. वासनाओं के विनाश के लिए पाँवों को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि **पादौ**=हे पाँवो! **प्रेतम्**=आगे बढ़ो। **प्रस्फुरतम्**=तुम स्फूर्तिवाले बनो। **पृणतः**=दान देनेवाले **गृहान्**=घरों को **वहतम्**=धारण करनेवाले होओ। वासना-विनाश के लिए ये ही मुख्य बातें हैं—(क) क्रियाशीलता, (ख) दान की वृत्ति। सदा क्रियाशील पुरुष को अशुभ विचार पीड़ित नहीं करते और दानशीलता व्यसनवृक्ष के लिए परशु का काम करती है। इसी से कहा है कि हमारा घर दानशील पुरुषों का घर बना रहे। २. इसप्रकार क्रियाशीलता व दान की वृत्ति से वासनाओं से ऊपर उठी हुई **इन्द्राणी**=यह इन्द्र की शक्तिरूप पत्नी **प्रथमा**=अपनी शक्तियों का विस्तार करती हुई, **अजीता**=किसी प्रकार पराजित न हुई-हुई **अमुषिता**=अशुभ भावरूप चोरों से न लुटी हुई **पुरः एतु**=आगे-और-आगे बढ़े।

भावार्थ—क्रियाशीलता व दान अशुभ भावों को दूर करते हैं, तब हम विकसित शक्तिवाले व विजयी बनकर आगे बढ़ते हैं।

विशेष—सूक्त का विषय यह है कि हम कुटिलताओं व वासनाओं से ऊपर उठें। इनसे

ऊपर उठनेवाला 'अथर्वा' (डाँवाडोल न होनेवाला) इस सूक्त का ऋषि है। यह उन्नत होकर समाज की बुराइयों को भी दूर करने के लिए यत्नशील होता है। बुराइयों को दूर करनेवाला यह 'चातनः' कहलाता है (चातयति नाशयति)। बुराइयों के दूर होने से सारे समाज का **'स्वस्त्ययनम्'**=कल्याण होता है—

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पूर्वार्धस्य अग्निः, उत्तरार्धस्य यातुधान्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

द्वयावी, यातुधान व किमीदी

उप प्रागाद्देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः। दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान्किमीदिनः ॥ १ ॥

१. **देवः**=ज्ञान के प्रकाशवाला, **अग्निः**=उन्नति का साधक, **रक्षोहा**=राक्षसीभावों को नष्ट करनेवाला, **अमीवचातनः**=रोगों को दूर करनेवाला यह ज्ञानी **उपप्रागात्**=समाज में हमें समीपता से प्राप्त होता है और अपने ज्ञान-उपदेशों से **द्वयाविनः**='मन में कुछ और वाणी में कुछ' इसप्रकार दो विरोधी भावों के धारण करनेवाले छली-कपटी पुरुषों को **यातुधानान्**=औरों के लिए पीड़ा का आधान करनेवाले पुरुषों को तथा **किमीदिनः**=(किम् अद्मि) 'जिनकी भोगों की कामना शान्त नहीं होती' उन्हें **अपदहन्**=सुदूर दग्ध करनेवाला होता है। २. प्रचारक की विशेषताएँ निम्न हैं—(क) वह ज्ञानी हो (देवः), (ख) स्वयं उन्नत हो (अग्निः), (ग) अपने राक्षसीभावों को विनष्ट कर चुका हो (**रक्षोहा**)। (घ) नीरोग हो (**अमीवचातनः**)। इस प्रचारक को तीन बातों का विशेषरूप से प्रचार करना है—(क) द्वयावी मत बनो। जो तुम्हारे मन में हो, वही तुम्हारी वाणी में हो। 'मन में कुछ हो, ऊपर से कुछ और कहो'—यह बात न हो। (ख) यातुधान मत बनो। औरों को पीड़ित मत करो, तुम्हें स्वयं भी तो पीड़ा इष्ट नहीं है। (ग) हर समय खाते ही न रहो, भोगासक्त न हो जाओ, 'किमीदी' मत बनो।

भावार्थ—अग्नि (ज्ञानी प्रचारक) को चाहिए कि वह ऐसे ढंग से प्रचार करे कि समाज से 'द्वयावी, यातुधान व किमीदी' पुरुष दूर हो जाएँ।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पूर्वार्धस्य अग्निः, उत्तरार्धस्य यातुधान्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देव व कृष्णवर्तनि

प्रति दह यातुधानान्प्रति देव किमीदिनः। प्रतीचीः कृष्णवर्तने सं दह यातुधान्यः ॥ २ ॥

१. हे **देव**=दीप्तिमय ज्ञानवाले अग्ने! आप अपने अहिंसा व माधुर्य से परिपूर्ण उपदेशों से **यातुधानान्**=पीड़ा का आधान करनेवालों को **प्रतिदह**=भस्मीभूत कर दीजिए। **किमीदिनः**='क्या खाँऊ और क्या खाँऊ' सदा इसप्रकार की वृत्तिवालों को भी **प्रति (दह)**=भस्म कर दीजिए। आपके उपदेशों से उनका यातुधानपना और किमीदिपना समाप्त हो जाए। 'यातुधान' यातुहान पीड़ा को दूर करनेवाले बन जाएँ। 'किमीदी' किन्द बन जाएँ 'क्या दूँ और क्या दूँ' यही सोचनेवाले हों। २. हे **कृष्णवर्तने**=आकर्षक मार्ग व बर्त्तावाले! आप **प्रतीचीः**=(प्रति अञ्च्) धर्म से विमुख होकर जानेवाली **यातुधान्यः**=पीड़ा का आधान करनेवाली बहिनों को भी **सन्दह**=अपने उपदेशों व बर्त्तावों से भस्म कर दीजिए। वे पीड़ा देने के मार्ग को छोड़कर फिर से धर्म-मार्ग का अनुवर्त्तन करनेवाली हों। ३. प्रचारक को स्वयं तो देव होना ही चाहिए, स्वयं देव न होते हुए वह औरों को देव नहीं बना सकता। यह कृष्णवर्तनि हो। इसके वर्त्तने का मार्ग आकर्षक हो। यह दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला हो। इसके प्रचार की विधि प्रभावक हो।

भावार्थ—प्रचारक को 'देव, कृष्णवर्तनि' बनकर यातुधानों को 'यातुहान' बनाना है और किमीदियों को 'किन्द'।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**यातुधान्यः** ॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती** ॥

तीन त्याज्य बातें

या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे। या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥ ३ ॥

१. (क) **या**=जो **शपनेन**=अपशब्दों, आक्रोशों (curses) से **शशाप**=शाप देती है, गालियाँ देती है, (ख) **या**=जो **मूरम्, अघम्**=(मूरम्=destroying, killing) हिंसात्मक पापों को **आदधे**=धारण करती है, (ग) **या**=जो **रसस्य हरणाय**=औरों के आनन्द को नष्ट करने के लिए **जातम्**=साधन बने हुए कर्म को **आरेभे**=आरम्भ करती है, **सा**=वह **तोकम् अत्तु**=अपनी सन्तान को ही खा जाती है २. इस स्त्री के बच्चों पर इन सब कर्मों का इतना घातक प्रभाव होता है कि बच्चों का जीवन ही नष्ट हो जाता है। उसके बच्चे भी गाली देने लगेंगे, हिंसात्मक कर्मों में रुचिवाले हो जाएँगे और सदा औरों को दुःखी करने में ही आनन्द लेने लगेंगे। इसप्रकार के ये बच्चे बड़े होकर समाज के लिए बड़े भार प्रमाणित होंगे।

भावार्थ—माता अपने सन्तानों के कल्याण के लिए तीन बातों से बचे—(क) गाली देने से, (ख) हिंसात्मक कर्मों से, (ग) औरों के आनन्द को नष्ट करने से।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**यातुधान्यः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

परस्पर लड़ने-झगड़ने से बचना

पुत्रमत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नप्त्यम्।
अधा मिथो विकेश्यो३ वि घ्नतां यातुधान्यो३ वि तृह्यन्तामराय्यः ॥ ४ ॥

१. **अध**=अब **यातुधान्यः**=औरों के लिए पीड़ा का आधान करनेवाली स्त्रियाँ **मिथः**=परस्पर भी **विकेश्यः**=बिखरे हुए केशोंवाली **विघ्नताम्**=परस्पर मारने-पीटनेवाली होती हैं और **अराय्यः**=न देने की वृत्तिवाली ये यातुधानियाँ **वितृह्यन्ताम्**=विविध प्रकारों से परस्पर हिंसा करनेवाली होती हैं। २. इसप्रकार परस्पर लड़ती हुई तथा हिंसात्मक कर्मों में लगी हुई **यातुधानी**:=ये यातुधानियाँ **पुत्रम्**=पुत्र को **अत्तु**=खा जाती हैं, अर्थात् उनके जीवन को नष्ट कर देती हैं, **उत**=और **स्वसारम्**=अपनी बहिन को व **नप्त्यम्**=नाती को भी खा जाती हैं, अर्थात् उनके जीवन को भी नष्ट कर देती है।

भावार्थ—सन्तान को उत्तम बनाने के लिए आवश्यक है कि गृहपत्नियाँ परस्पर लड़ें नहीं और हिंसात्मक कर्मों में भी प्रवृत्त न हों।

विशेष—सूक्त का संक्षिप्त विषय यह है कि प्रचारक ऐसी उत्तमता से प्रचार करे कि समाज से 'द्वयावी, किमीदी व यातुधान' दूर हो जाएँ। माताएँ भी यातुधानत्व को छोड़कर उत्तम कर्मों में लगी रहकर सन्तानों को उत्तम बनाएँ (१-४)। सन्तानों को उत्तम बनाने के लिए आवश्यक है कि इन्हें 'अभीवर्तमणि' के रक्षण की शिक्षा दी जाए। इसके रक्षण से जीवन को उत्तम बनाते हुए वे 'वसिष्ठ' अत्यन्त उत्तम निवासवाले बनेंगे। यह वसिष्ठ ही अगले सूक्त का ऋषि है।

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अभीवर्त' मणि

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे। तेनास्मान्ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥

१. मणि शब्द शरीर में उत्पन्न सोमकणों के लिए प्रयुक्त होता है। वीर्य का एक-एक बिन्दु मणि के समान है। जिस समय इसे नष्ट न होने देकर शरीर में ही सब ओर व्याप्त किया जाता है तो यह 'अभीवर्त' (अभितः वर्तने) कहलाती है। **अभीवर्तेन मणिना**=शरीर में सर्वत्र व्याप्त होनेवाले इस सोम-रक्षणरूप मणि से **येन**=जिससे **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता—जितेन्द्रिय पुरुष **अभिवावृधे**=ऐहिक वा आमुष्मिक दोनों प्रकार की उन्नति करता है—'अभ्युदय और निःश्रेयस' दोनों को सिद्ध करता है अथवा 'शरीर व मस्तिष्क' इन दोनों का विकास कर पाता है, **तेन**=उस अभीवर्तमणि से हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् आचार्य! **अस्मान्**=हमें **राष्ट्राय**=राष्ट्र-उन्नति के लिए **अभिवर्धय**=शरीर व मस्तिष्क दोनों के दृष्टिकोण से बढ़ाइए। २. वस्तुतः वही युवक राष्ट्रोन्नति में सहायक होता है जो स्वस्थ शरीर व दीप्त मस्तिष्कवाला हो। शरीर के स्वास्थ्य व मस्तिष्क की दीप्ति के लिए इस सोमकणरूप मणि को अभीवर्तमणि बनाना आवश्यक है। शरीर में इसे सब ओर व्याप्त करने से ही यह अभीवर्तमणि बन जाती है। इसका लाभ **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष को ही होता है।

भावार्थ—सोमकणों को शरीर में सुरक्षित करके हम इसे 'अभीवर्तमणि' का रूप दें। यह हमें स्वस्थ शरीर व दीप्त मस्तिष्क बनाएगी। हम राष्ट्रोन्नति में सहायक होंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आन्तर व बाह्य शत्रुओं का पराभव

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति॥ २॥

१. शरीर में सुरक्षित होने पर यह सोम रोग-कृमियों को नष्ट करता है। ये रोग-कृमि इस शरीर के पति बनने की कामना करते हैं, अतः ये हमारे 'सपत्न' कहलाते हैं। इन **सपत्नान्**=हमारे शत्रुभूत रोग-कृमियों को **अभिवृत्य**=आक्रमण के द्वारा पराभूत करके और **याः**=जो **नः**=हमारे प्रति **दुरस्यति**=अशुभ आचरण करता है, उसे भी **अभि (वृत्य)**=दूर करके **पृतन्यन्तम्**=जो परस्पर सेना से आक्रमण करता है, उसका भी **अभितिष्ठ**=मुक़ाबला कर—बाह्य शत्रुओं को रोकने के लिए भी हमें शक्तिशाली बना। **यः**=जो **नः**=हमारे प्रति **दुरस्यति**=अशुभ आचरण करता है, उसे भी **अभि (वृत्य)**=तू दूर करनेवाला हो। २. यह सोम शरीर में होनेवाले रोगों तथा मन में होनेवाली कृपणता आदि वृत्तियों का अभिवर्तन (पराभव करके दूर) करता है, इससे भी इसका नाम 'अभीवर्तमणि' हो गया है। यह 'अभीवर्तमणि' शरीर के रोगों व मन के दोषों को दूर करती है। इसके साथ यह हमें वह तेजस्विता भी प्राप्त कराती है, जिससे कि हम आक्रमण करनेवालों व अशुभ व्यवहार करनेवालों का पराजय कर पाते हैं।

भावार्थ—यह 'अभीवर्तमणि' हमारे आन्तर व बाह्य शत्रुओं का पराभव करती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सूर्य-चन्द्र तथा पृथिवी आदि भूतों की देन

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत्।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि॥ ३॥

१. शरीर में इस सोम=वीर्य को सूर्य-चन्द्र तथा पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि अन्य सब भूत बढानेवाले होते हैं। सूर्य ओषधियों में प्राणदायी तत्त्वों को रखता है, चन्द्रमा उनमें रस का सञ्चार करता है तथा पृथिवी आदि भूत उन ओषधियों में अन्य आवश्यक तत्त्वों की स्थापना

करते हैं। अब ये ओषधियाँ हमारे आहार के रूप में अन्दर जाकर रस आदि के क्रम से सोम को जन्म देती हैं। यह सोम 'अभीवर्त' बनता है—सब शत्रुओं का अभिवर्तन=पराभव करनेवाला हो जाता है। २. हे अभीवर्तमणे! **त्वा**=तुझे **सविता देवः**=शक्ति को जन्म देनेवाला यह प्रकाशमय सूर्य **अभि अवीवृधत्**=आन्तर व बाह्य शक्ति के दृष्टिकोण से बढ़ाता है। इसप्रकार सूर्य से बढ़ाया जाकर तू आन्तर शक्ति से रोगों को जीतता है तो बाह्य तेज से शत्रुओं को आक्रान्त करता है। ३. **सोमः**=चन्द्रमा भी तुझे **अभि (अवीवृधत्)**=आन्तर व बाह्य शक्तियों के दृष्टिकोण से बढ़ाए। इन सूर्य और चन्द्रमा के अतिरिक्त **विश्वा भूतानि**=पृथिवी आदि सब भूत भी **त्वा**=तुझे **अभि (अवीवृधन्)**=बढ़ाएँ। **यथा**=जिससे इनसे प्रवृद्ध शक्तिवाला होकर तू **अभीवर्तः असिस**=अभीवर्त होता—शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है। सूर्य तुझमें प्राणों की उष्णता का सञ्चार करता है, चन्द्रमा रसात्मक शीतलता का। **'आपः ज्योतिः'**—इन दोनों तत्त्वों से युक्त होकर तू शत्रुओं का नाश करता है और हमारे जीवन को आनन्दमय बनाता है।

भावार्थ—सूर्य-चन्द्र तथा पृथिवी आदि से शक्ति-सम्पन्न बना हुआ यह सोम हमारे शत्रुओं का पराभव करके 'अभीवर्त' नामवाला होता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सपत्नक्षयण मणि

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः। राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे॥ ४॥

१. यह **मणिः**=सोमकणरूप मणि **अभीवर्तः**=शरीर में रोगों व मन की आवञ्छनीय वृत्तियों का अभिवर्त करनेवाली होती है—उनपर आक्रमण करके उन्हें दूर भगा देती है। **अभिभवः**=यह बाह्य शत्रुओं और अशुभ व्यवहार करनेवालों को भी अभिभूत करती है। **सपत्नक्षयणः**=शरीर के पति बनने की कामनावाले हमारे सपत्नभूत रोगकृमिरूप शत्रुओं को यह नष्ट करती है। २. यह मणि **मह्यम्**=मेरे लिए तथा **राष्ट्राय**=राष्ट्र के लिए—राष्ट्र की उन्नति के लिए **बाध्यताम्**=शरीर में ही बद्ध की जाए। शरीर में ही सुरक्षितरूप से स्थापित हो। रोगों के दूर होने पर ही मेरे जीवन की उन्नति सम्भव होती है। (**मशकेभ्यः धूमः**=मच्छरों के निवारण के लिए धुँआ है)। इसका स्थापन इसलिए भी आवश्यक है कि इससे शक्तिसम्पन्न बनकर ही युवक **पराभुवे**=शत्रुओं का पराभव करने में समर्थ होंगे और शत्रुओं के पराभूत होने पर ही राष्ट्रोन्नति सम्भव होती है।

भावार्थ—यह अभीवर्तमणि रोगकृमिरूप सपत्नों को समाप्त करके वैयक्तिक उन्नति का साधन बनती है और युवकों को राष्ट्र के शत्रुओं के पराभव के लिए शक्तिसम्पन्न बनाकर राष्ट्रोन्नति का कारण होती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अशत्रु-असपत्न

उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः। यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा॥ ५॥

१. **असौ**=वह **सूर्यः**=सूर्य **उद् अगात्**=उदय हुआ है। सूर्योदय के साथ ही **इदम्**=यह **मामकं वचः**=मेरा वचन भी **उद्**=उदित होता है—मैं भी प्रभु के आराधन में तत्पर होता हूँ **यथा**=जिससे कि **अहम्**=मैं **शत्रुहः**=काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं का हनन करनेवाला **असानि**=होऊँ। प्रभु का आराधन ही मुझे काम आदि शत्रुओं के पराभव में समर्थ बनाएगा—मैं स्वयं तो काम आदि को क्या जीत पाऊँगा? इन्हें पराजित तो प्रभु को ही करना है। २. कामादि के पराभव के साथ मैं **असपत्नः**=सपत्नों से रहित होऊँ—**सपत्नहा**=इन सपत्नों का नाश करनेवाला होऊँ। रोगकृमि [illegible] सूर्य अपनी रश्मियों से इन रोगकृमिरूप सपत्नों को

नष्ट करता है। सूर्य-किरणों में प्रभु ने क्या ही अद्भुत शक्ति रक्खी है!

भावार्थ—सूर्योदय के साथ में प्रभु का आराधन करनेवाला होऊँ। यह मुझे असपत्न व अशत्रु बनाए।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वृषा-विषासहि

सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार मैं सूर्योदय के साथ ही प्रभुस्तवन प्रारम्भ करता हूँ **यथा**=जिससे कि **अहम्**=मैं **सपत्नक्षयणः**=रोगकृमिरूप सपत्नों को नष्ट करनेवाला होऊँ, **वृषा**=शक्तिशाली बनूँ। **अभिराष्ट्रः**=(राष्ट्रम्=any national or public calamity) राष्ट्रीय विपत्ति को भी अभिभूत करनेवाला होऊँ। अपने सपत्नों को नष्ट करके राष्ट्र के शत्रुओं को भी **विषसहिः**=पराभव करनेवाला बनूँ। २. **एषां वीराणां विराजानि**=मैं इन वीर पुरुषों में विशेषरूप से दीप्त होऊँ **च**=और **जनस्य (विराजानि)**=लोकों का रञ्जन करनेवाला बनूँ। ३. वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति को 'अभिराष्ट्र व विषासहि' होना है, विशेषतः राजा को। राजा ने अपने कन्धे पर राष्ट्र के भार को धारण किया है। उस कर्त्तव्य को निभाने के लिए तो उसे अभीवर्तमणि के रक्षण द्वारा 'सपत्नक्षयण और वृषा' तो बनना ही है, साथ ही अभिराष्ट्र व विषासहि बनकर वह वीरों में चमकनेवाला व लोकों का रञ्जनवाला बने।

भावार्थ—प्रभु का आराधन व 'अभीवर्तमणि' का रक्षण करता हुआ मैं सपत्नक्षयण, वृषा, अभिराष्ट्र व विषासहि बनूँ।

विशेष—इस सूक्त में शरीर में सुरक्षित सोम को 'अभीवर्तमणि' कहा है। यह इन्द्र का सर्वतः वर्धन करती है (१)। सपत्नों का अभिवर्तन (पराभव) करने के कारण यह 'अभीवर्त' है (२)। सूर्य-चन्द्र व पृथिवी आदि अन्य भूतों के द्वारा इसका उत्पादन होता है (३)। यह हमें शक्तिशाली बनाकर निजी व राष्ट्रीय उन्नति के योग्य बनाती है (४)। प्रभु-स्मरण से मैं इस मणि को शरीर में रक्षित कर पाता हूँ (५)। रक्षित होकर यह मुझे दीप्त जीवनवाला बनाती है (६)। इसके रक्षण से ही हमें दीर्घ-जीवन प्राप्त होता है, अतः अगले सूक्त का ऋषि 'आयुष्कामः' आयु की कामनावाला 'अथर्वा' न डाँवाडोल वृत्तिवाला है। इसकी आराधना है कि सब देव इसका रक्षण करें।

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दीर्घ जीवन के लिए

विश्वेदेवा वसवो रक्षतेममुतादित्या जागृत यूयमस्मिन्।
मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिर्मेमं प्रापत्पौरुषेयो वधो यः॥ १॥

१. **विश्वेदेवाः**=सब प्राकृतिक शक्तियो! **वसवः**=निवास के कारणभूत तत्त्वो! **इमम्**=इस व्यक्ति को **रक्षत**=तुम रक्षण करो। सब प्राकृतिक शक्तियों की अनुकूलता में ही मनुष्य के स्वास्थ्य का रक्षण होता है। जल-वायु आदि की प्रतिकूलता ही स्वास्थ्य को विकृत करती है। २. इन प्राकृत शक्तियों के अतिरिक्त माता-पिता, आचार्य आदि की सावधानता भी बालक के उत्तम निर्माण में बड़ा महत्त्व रखती है, अतः मन्त्र में कहा है कि **उत**=और **आदित्याः**=हे गुणों का

आदान करनेवाले पुरुषो! **यूयम्**=आप सब **अस्मिन्**=इसके विषय में **जागृत**=जागते रहो—सावधान रहो। आपकी जागरूकता ही इसके जीवन को विकृत होने से बचाएगी। ३. राष्ट्रीय व्यवस्था भी इसप्रकार उत्तम हो कि **इमम्**=इस पुरुष को **स-नाभिः**=समान बन्धवाला कोई रिश्तेदार **उत वा**=अथवा **अन्यनाभिः**=अबन्धु **मा**=नष्ट करनेवाला न हो। **इमम्**=इसे **यः पौरुषेयः वधः**=जो किसी पुरुष से प्राप्त होनेवाला वध है, वह **मा प्रापत्**=मत प्राप्त हो। कोई चोर-डाकू भी इसका हनन करनेवाला न हो।

भावार्थ—दीर्घ जीवन के लिए आवश्यक है कि (क) जल-वायु आदि देव अनुकूल हों, (ख) माता-पिता, आचार्य आदि जागरूक रहकर बालक का निर्माण करें, (ग) पारिवारिक व सामाजिक सम्बन्ध ठीक हों, (घ) राष्ट्रीय व्यवस्था उत्तम हो।

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तीन पीढ़ियों का उत्तरदायित्व

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम्।
सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्ये नं जरसे वहाथ॥ २॥

१. घर में व्यक्तियों को देववृत्ति का तो होना ही चाहिए। प्रभु जब घर में इन देववृत्ति के सन्तानों को भी सन्तान प्राप्त कराते हैं तब कहते हैं—हे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! **ये वः पितरः**=जो आपके पितृस्थानीय बड़े व्यक्ति हैं, **ये च पुत्राः**=और जो तुम्हारे पुत्र हैं वे सब-के-सब **सचेतसः**=पूरी चेतनावाले होते हुए **मे**=मेरे **इदम् उक्तम्**=इस कथन को **शृणुत**=सुनो कि **वः सर्वेभ्यः**=तुम सबके लिए मैं **एतम्**=इस वर्तमान सन्तान को **परिददामि**=प्राप्त कराता हूँ। आप इसका इस सुन्दरता से पालन करो कि **एनम्**=इसे **स्वस्ति**=कल्याणपूर्वक **जरसे**=जरावस्था तक—पूर्णायुष्य के लिए **वहाथ**=ले-चलनेवाले होओ। आप इसप्रकार से इसका पालन करो कि यह पूर्ण जीवन को प्राप्त करे। २. यहाँ मन्त्र में सन्तान के पिता को 'देवपुत्र' शब्द से स्मरण किया है। देवपुत्र होने से वे सन्तानों को उत्तम बनाएँगे ही। सन्तान के पितामह यहाँ 'देव' कहे गये हैं। प्रपितामह 'देवपितर' कहे गये हैं। इसप्रकार प्रपितामह, पितामह व पिता—सभी के संस्कार देवत्व को लिये हुए हैं—ये सन्तानों को उत्तम बनाएँगे ही। चतुर्थ पीढ़ी के समय इन तीनों का ही जीवित होना सम्भव है। ये ही अपनी क्रियाओं से सन्तान को प्रभावित करनेवाले हो सकते हैं, अतः इनका उत्तरदायित्व स्पष्ट है। ये सन्तान-निर्माण के लिए जागरूक रहेंगे तो सन्तान दीर्घजीवी व उत्तम क्यों न बनेंगे?

भावार्थ—सन्तान प्रपितामह, पितामह व पिता से विशेषरूप से प्रभावित होती है, अतः वे सन्तान को उत्तम बनाने का पूर्ण ध्यान करें।

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**शाक्वरगर्भाविराड्जगती**॥

अन्न, दूध व जल

ये देवा दिवि ष्ठ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः।
ते कृणुत जरसमायुरस्मै शतमन्यान्परि वृणक्तु मृत्यून्॥ ३॥

१. **ये देवाः**=जो देव **दिवि स्थ**=द्युलोक में हो, **ये पृथिव्याम्**=जो पृथिवी पर हो **ये अन्तरिक्षे**=जो अन्तरिक्ष में हो और **ओषधीषु, पशुषु अप्सु अन्तः**=जो ओषधियों में, पशुओं में और जलों में हो **ते**=वे सब देव **अस्मै**=इसके लिए **जरसम् आयुः**=पूर्ण जरावस्था तक प्राप्त होनेवाले जीवन को **कृणुत**=करो। **शतम्**=सैकड़ों **अन्यान् मृत्यून्**=अन्य मृत्युओं को, रोगों

से, दुर्घटनाओं (accidents) से होनेवाली मृत्युओं को **परिवृणक्तु**=अपने से दूर ही रक्खे। २. प्राकृतिक शक्तियाँ तेतीस भागों में बाँटी गई हैं—ग्यारह द्युलोक में, ग्यारह अन्तरिक्ष में और ग्यारह पृथिवी पर। इन सबकी अनुकूलता होने पर क्रमशः मस्तिष्क, हृदय व शरीर का स्वास्थ्य निर्भर होता है। इनके अतिरिक्त ओषधियों में भी दिव्य गुण विद्यमान होते हैं। सूर्य-चन्द्र आदि से इनमें प्राणदायी तत्त्वों का स्थापन होता है। 'पयः पशूनाम्' इस अथर्व के संकेत के अनुसार पशुओं के दूध का प्रयोग अभीष्ट है। यह भी ओषधियों के सब दिव्य गुणों को लिये हुए होता है। जलों में तो सर्वरोगनाशक दिव्य तत्त्व प्रभु ने स्थापित किये ही हैं। अन्न, दूध व जल—इन सबका प्रयोग दीर्घ-जीवन का साधन बनता है। इनके ठीक प्रयोग से न रोग आते हैं और न असमय की मृत्यु होती है।

भावार्थ—सब प्राकृतिक शक्तियों की अनुकूलता तथा 'अन्न, दूध व जल' का ठीक प्रयोग हमें रोगों से बचाए और पूर्ण जीवन प्राप्त कराए।

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दीर्घ-जीवन के लिए चार महत्त्वपूर्ण बातें

येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च देवाः।
येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान्वो अस्मै सत्रसदः कृणोमि॥ ४॥

१. '**महाभूतानि प्रयाजाः, भूतान्यनुयाजाः**'=प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् के अनुसार शरीर में महाभूत प्रयाज हैं तथा जीवन में जिनके साथ हम सम्पर्क में आते हैं वे भूत=प्राणी अनुयाज हैं। **येषाम्**=जिनके शरीर में **प्रयाजाः**=ये महाभूत **विभक्ताः**=ठीक रूप में विभक्त हैं **उत वा**=तथा **अनुयाजाः**=जीवन में सम्पर्क में आनेवाले माता-पिता, आचार्य आदि व्यक्ति भी **विभक्ताः**=विशेषरूप से सेवित होते हैं (भज सेवायाम्), **वः**=तुममें से **तान्**=उन्हें **अस्मै**=इस जीवन-यात्रा के लिए **सत्रसदः**=जीवन-यज्ञ में स्थित होनेवाला **कृणोमि**=करता हूँ। शरीर में पृथिवी आदि तत्त्वों के ठीक अनुपात में होने पर किसी प्रकार के रोग नहीं होते। तत्पश्चात् यदि माता-पिता, आचार्य आदि का उत्तमता से सेवन होता है तो जीवन का विकास ठीक रूप में होता है। २. शरीर में इन्द्रियाँ, 'हुतभाग' देव कहलाती हैं। ये शरीर में आहुत किये गये भोजन का सेवन करती हैं। उससे ही इनका पोषण होता है। प्राण 'अहुताद' कहलाते हैं। ये बिना थके निरन्तर कार्य करते चलते हैं। **येषाम्**=जिनकी **हुतभागाः देवाः**=हुत का सेवन करनेवाली इन्द्रियाँ ठीक कार्य करती हैं **च**=और **अहुतादः**=हुत का सेवन किये बिना ही निरन्तर कार्य करनेवाले प्राण ठीक कार्य करते हैं, उन्हें जीवन-यज्ञ में स्थिर होनेवाला कहता हूँ। ३. **वः**=तुममें से **येषाम्**=जिनके **पञ्च प्रदिशः**=पाँचों प्रकृष्ट प्रेरणाओं को देनेवाले अन्तःकरण पञ्चक **विभक्ताः**=ठीक रूप में विभक्त होते हैं, अर्थात् अपना-अपना कार्य ठीक रूप में करते हैं, उन्हें इस जीवन-यज्ञ में ठीक स्थिति प्राप्त होती हैं। ये ही व्यक्ति दीर्घ जीवनवाले बनते हैं।

भावार्थ—दीर्घ जीवन के लिए आवश्यक है कि (क) महाभूत शरीर में ठीक अनुपात में हों, (ख) माता-पिता, आचार्य आदि का सम्पर्क ठीक रहे, (ग) इन्द्रियाँ व प्राण ठीक कार्य करें, (घ) अन्तःकरण पञ्चक की प्रेरणा ठीक चले।

सूचना—दीर्घजीवन के लिए प्रयाजों व अनुयाजों का ठीक अनुपात में होना आवश्यक है। अन्तःकरण पञ्चक का कार्य ठीक चलना चाहिए तथा प्राण व इन्द्रियों का कार्य भी ठीक होना चाहिए। अन्तःकरण पञ्चक का कार्य है—'मन' का उत्तम इच्छाएँ, 'बुद्धि' का विवेक, 'चित्त' का अविस्मरण, 'अहंकार' का आत्मा का उचित अभिमान, 'हृदय' का शब्द।

विशेष—इस सूक्त में दीर्घ जीवन के लिए उपायों का वर्णन करते हुए कहा है कि (क) जल-वायु आदि देवों की अनुकूलता सर्वप्रथम साधन है, (ख) माता-पिता, आचार्य का बालक को उत्तम बनाना दूसरा साधन है, (ग) पारिवारिक व सामाजिक सम्बन्धों का ठीक होना आवश्यक है और (घ) राष्ट्रीय व्यवस्था की उत्तमता भी अपेक्षित है (१)। (ङ) अन्न, जल व दूध का ही प्रयोग दीर्घ जीवन का साधन बनता है (३)। इसप्रकार दीर्घ-जीवन प्राप्त करनेवाला यह अब 'ब्रह्मा' बनता है और चारों दिशाओं का रक्षण करता है। यह चतुर्दिक् रक्षण ही अगले सूक्त का विषय है—

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आशापालाः (वास्तोष्पतयः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

चार अध्यक्ष

आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः।
इदं भूतस्याध्यक्षेभ्यो विधेम हविषा वयम्॥ १॥

१.जैसे इस पृथिवीलोक में स्थित होते हुए हम चार दिशाओं का व्यवहार करते हैं, इसीप्रकार शरीर में भी ये चार दिशाएँ विद्यमान हैं। शरीर में 'मुख' पूर्व दिशा है तो 'पायु' (मलशोधक इन्द्रिय) पश्चिम दिशा है। पूर्व दिशा का अधिपति 'इन्द्र' है और पश्चिम का 'वरुण'। यदि हम इस मुख, अर्थात् जिह्वा को वश में कर लेते हैं तो अन्य इन्द्रियों का वशीकरण इतना कठिन नहीं रहता और हम इन्द्र बन पाते हैं। इसीप्रकार पायु का कार्य बिल्कुल ठीक होने से हम 'वरुण'=सब रोगों का निवारण करनेवाले होते हैं। शरीर में विदृति द्वार या ब्रह्मरन्ध्र उत्तर है और उपस्थ दक्षिण है। उपस्थ का संयम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म की ओर चले चलने का साधन यही है। इस दिशा का अधिपति 'यम' कहलाता है। वस्तुतः जिसने उपस्थ का नियमन कर लिया वह 'यम' (controller) तो बन ही गया। यह व्यक्ति ही उत्तर दिशा की ओर चलता हुआ अन्त में विदृति द्वार का विदारण करके प्राणों को छोड़ता हुआ प्रभु को पाता है। यह प्रभु के समान ही 'ईशान' बनता है और उत्तर दिशा का अधिपति होता है। पूर्व व पश्चिम द्वार शरीर के पूर्ण स्वास्थ्य के साथ सम्बद्ध हैं तो ये दक्षिण व उत्तर द्वार आत्मिक उन्नति को अपना विषय बनाते हैं। **वयम्**=हम **आशानाम्**=इन चारों दिशाओं के **आशापालेभ्यः**=दिग्रक्षकों के लिए **हविषा**=त्यागपूर्वक अदन (खाने) के द्वारा **इदं विधेम**=यह पूजा करते हैं जोकि **चतुर्भ्यः**=चारों **अमृतेभ्यः**=अमृत हैं। उन अमृत आशापालों के लिए हम यह पूजन करते हैं जोकि **भूतस्य अध्यक्षेभ्यः**=प्राणियों के अध्यक्ष हैं अथवा, 'पृथिवी, जल, तेज व वायु' नामक चारों भूतों के अध्यक्ष हैं। शरीर में इन चारों भूतों का ठीक से रहना व कार्य करना इन 'मुख, पायु, उपस्थ व विदृति' द्वारों के कार्यों के ठीक होने पर ही निर्भर करता है। ३. इनमें 'मुख' का कार्य ठीक होने पर 'पायु' का कार्य ठीक चलता ही है। खान-पान गड़बड़ होने पर ही पायु का कार्य ठीक से नहीं होता। कब्ज़ आदि रोग भोजन के बिगाड़ से ही होते हैं। इसीप्रकार 'उपस्थ' के संयम से 'विदृति द्वार' का कार्य ठीक रूप से चल सकता है। इसप्रकार यह स्पष्ट है कि 'मुख व उपस्थ' ही अत्यधिक ध्यान की अपेक्षा रखते हैं। इनके संयम के लिए किया गया प्रयत्न हमें अमृत बनाता है। पूर्णायुष्य की प्राप्ति का यही मार्ग है। इनके संयम से हमारे जीवन में पृथिवी आदि भूतों का कार्य बिल्कुल ठीक चलता है।

भावार्थ—हमें 'मुख, पायु, उपस्थ व विदृति'—इन चारों शरीरस्थ द्वारों का रक्षण करना है। इसी रक्षण पर अमृतत्व का निर्भर है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आशापालाः (वास्तोष्पतयः)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

निर्ऋति व अंहस् के पाशों से मुक्ति

य आशानामाशापालाश्चत्वार स्थन देवाः।
ते नो निर्ऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्चतांहसोअंहसः॥ २॥

१. **ये**=जो आप **आशापालाः**=दिशाओं के रक्षक **आशानाम्**=दिशाओं के **चत्वारः**=चार **देवाः स्थन**=देव हो, **ते**=वे आप **नः**=हमें **निर्ऋत्याः**=मृत्यु व नाश (Death or destruction) के **पाशेभ्यः**=पाशों से **मुञ्चत**=मुक्त करो तथा **अंहसः अंहसः**=प्रत्येक पाप से मुक्त करो। २. यहाँ मुख व पायु के अधिष्ठातृदेव इन्द्र और वरुण हमें मृत्यु से बचाते हैं। इनके अमर होने पर हमें शारीरिक अमरता प्राप्त होती है। हमारा जीवन नीरोग बना रहता है। ३. उपस्थ व विदृति के अधिष्ठातृदेव 'यम और ईशान' हमारे जीवन को निष्पाप बनाते हैं। नीरोगता व निष्पापता का परस्पर सम्बन्ध उसी प्रकार है जैसेकि शरीर व मन का। शरीरस्थ रोग मानस विकृति का कारण होते हैं और मानस विकार शरीर के रोगों को जन्म देते हैं।

भावार्थ—हम मुख व पायु के कार्य को व्यवस्थित करके नीरोग बनें, उपस्थ व विदृति के कार्य को ठीक करके निष्पाप बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आशापालाः (वास्तोष्पतयः)**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥

अस्त्रामः-अश्लोणः

अस्त्रामस्त्वा हविषा यजाम्यश्लोणस्त्वा घृतेन जुहोमि।
य आशानामाशापालस्तुरीयो देवः स नः सुभूतमेह वक्षत्॥ ३॥

१. **अस्त्रामः**=अश्रान्त होता हुआ **त्वा**=तुझे **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा—यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **यजामि**=उपासित करता हूँ। प्रभु का सच्चा पूजन यही है कि हमारा जीवन एक अविच्छिन्न यज्ञ बन जाए। **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**=देव यज्ञ के द्वारा ही उस उपास्य प्रभु का पूजन करते हैं। गतमन्त्रों में वर्णित मुख द्वार का संयम यज्ञशेष के सेवन की वृत्ति से ही होता है। २. **अश्लोणः**=(श्लोण्=to heap together, collect, gather) धनों का परिग्रह न करता हुआ मैं **घृतेन**=मानस नैर्मल्य व मस्तिष्क की ज्ञानदीप्ति से **त्वा**=तेरे प्रति=**जुहोमि**=अपना अर्पण करता हूँ। धनों का संग्रह ही हमें प्रभु से दूर ले-जाता है। धन की चमक ही हमारी दृष्टि पर पर्दा डाल देती है और हम प्रभु-दर्शन से वञ्चित ही रह जाते हैं। ३. निरन्तर यज्ञमय जीवन बिताने पर तथा धनों के लोभ के त्याग से प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने पर **यः**=जो **आशानाम्**=इन दिशाओं में **तुरीयः आशापालः**=उत्तर दिशा का आशापाल 'ईशन' प्रभु है, **सः देवः**=वह प्रकाशमान् देव **नः**=हमारे लिए **इह**=इस जीवन में **सुभूतम्**=उत्तम स्थिति को **आवक्षत्**=सब प्रकार से प्राप्त कराए। विदृति द्वार ही शरीर में उत्तर द्वार है। यह हमें ब्रह्म की ओर ले-जाता है। हम ब्रह्म की ओर चलते हैं और ब्रह्म हमें 'सु-भूत' उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। ४. प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि (क) हम यज्ञमय जीवन बिताएँ, (ख) धनों के प्रति आसक्ति न रखते हुए उस तुरीय देव प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। ५. स्थूलतया मुख का सम्बन्ध स्थूलशरीर से है। ठीक खाएँगे तो यह शरीर ठीक बना रहेगा। पायु का कार्य ठीक होने पर ही सूक्ष्मशरीर के कार्य ठीक से चलते हैं, अन्यथा सब इन्द्रियाँ थकी-सी प्रतीत होती हैं, मस्तिष्क पीड़ित-सा हो जाता है। उपस्थ का संयम हमें कारणशरीर व आनन्दमयकोश में पहुँचाता है। जब हम प्राणसाधना से विदृति द्वार को खोलने के लिए प्रवृत्त होते हैं, तब

समाधिजन्य तुरीय शरीर में पहुँचते हैं। यह तुरीय शरीर ब्रह्म ही है। यहाँ पहुँचने पर हम 'शान्त, शिव, अद्वैत स्थिति का अनुभव करते हैं।' यह स्थिति ही 'सु-भूत' है।

भावार्थ—हम ब्रह्म का यज्ञ करते हैं—उसके प्रति अपना अर्पण करते हैं तो प्रभु हमें सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आशापालाः (वास्तोष्पतयः)** ॥ छन्दः—**परानुष्टुप्त्रिष्टुप्** ॥

सुभूतं-सुविदत्रम्

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम्॥ ४॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि यज्ञशील व प्रभु के प्रति समर्पण करनेवाले को प्रभु उत्तम स्थिति प्राप्त कराते हैं। उसी का चित्रण करते हुए कहते हैं कि **मात्रे**=माता के लिए **उत**=और **नः पित्रे**=हमारे पिता के लिए **स्वस्ति**=कल्याण हो। घर में मङ्गल के लिए पहली बात यही है कि माता-पिता की स्थिति ठीक हो। वे नीरोग, आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त व स्वाध्यायशील हों। ऐसा होने पर ही सन्तानों की उत्तमता सम्भव है। **गोभ्यः**=गौओं के लिए, **जगते**=गतिशील अन्य प्राणियों के लिए तथा **पुरुषेभ्यः**=घर से सम्बद्ध अन्य व्यक्तियों के लिए **स्वस्ति**=कल्याण हो। घर के साथ गौ का विशेष सम्बन्ध है। वस्तुतः यह गौ ही हमारे स्वास्थ्य को तथा यज्ञादि को सिद्ध करनेवाली होती है। यजुर्वेद का प्रारम्भ ही इन गौओं के 'अनमीव व अयक्ष्म' होने की प्रार्थना से होता है। घर के साथ सम्बद्ध अन्य व्यक्तियों का स्वास्थ्य भी घर की उत्तम स्थिति के लिए नितान्त आवश्यक है। २. इसप्रकार घर के उत्तम वातावरण में **नः**=हमारे लिए **विश्वं सुभूतम्**=सब उत्तम ऐश्वर्य तथा **सुविदत्रम्**=उत्तम ज्ञान **अस्तु**=हो। हम उत्तम ऐश्वर्य और ज्ञान को प्राप्त करते हुए **ज्योक् एव**=चिरकाल तक ही **सूर्यम्**=सूर्य को **दृशेम**=देखें, अर्थात् अतिदीर्घ जीवन प्राप्त करनेवाले हों। 'ऐश्वर्य, ज्ञान व दीर्घजीवन' की प्राप्ति ही उच्चतम स्थिति है। इसी के लिए गतमन्त्र में प्रभु से प्रार्थना की गई थी।

भावार्थ—घर में सब स्वस्थ हों। हमें वहाँ 'ऐश्वर्य, ज्ञान व दीर्घजीवन' प्राप्त हो।

विशेष—यह सूक्त बड़ी सुन्दरता से मुख आदि द्वारों का वर्णन करता है। चार द्वार हैं—चारों द्वारों को ठीक रखनेवाला 'ब्रह्मा' इस सूक्त का ऋषि है। यह चतुर्मुख है—चारों उत्तम द्वारोंवाला है। इन द्वारों के ठीक होने पर सब 'सुभूत व सुविदत्र' की प्राप्ति होती है। यह ब्रह्मा ही अगले सूक्त में द्यावापृथिवी की रचना में ब्रह्म की महिमा को देखता है—

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सबका प्राण

इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति।
न तत्पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः॥ १॥

१. **जनासः**=हे लोगो! **इदं विदथ**=इस बात को समझ लो कि **न तत् पृथिव्याम्**=न तो वह तत्त्व पृथिवी में ही है और **नो दिवि**=न ही द्युलोक में है **येन**=जिससे **वीरुधः**=ये सब फैलनेवाली व विविधरूप से उगनेवाली लताएँ, वनस्पतियाँ **प्राणन्ति**=प्राणित होती हैं। **महद् ब्रह्म**=यह महनीय वेदज्ञान **वदिष्यति**=इसी बात का प्रतिपादन करेगा। २. देखने में तो यही लगता है कि पृथिवी इन सब वनस्पतियों को जन्म देती है और द्युलोक से होनेवाली वृष्टि उन

वनस्पतियों के उगने का कारण बनती है। पृथिवी इन वनस्पतियों की माता है तो द्युलोक पिता है—'**द्यौष्पिता पृथिवी माता**' ऐसा वेद कहता भी है, परन्तु जब यह विचार चलता है कि पृथिवी व द्युलोक में इस शक्ति को कौन रखता है तब विचारशील पुरुष इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि इनमें शक्ति-स्थापन करनेवाला कोई और है—वही 'ब्रह्म' है। वही प्राणों का प्राण है। ब्रह्म ही द्युलोक को उग्र और पृथिवी को दृढ़ बनाता है। प्रभु से शक्ति प्राप्त करके ही ये द्यावापृथिवी इन वीरुधों को प्राणित करनेवाले होते हैं, अतः वस्तुतः प्राणित करनेवाला तो प्रभु ही है। ये सब वनस्पतियाँ प्राणित होकर प्रभु की ही महिमा को प्रकट कर रही हैं।

भावार्थ—द्यावापृथिवी से प्राणित होनेवाली ये सब वनस्पतियाँ मूल में प्रभु से ही प्राणित हो रही हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

सर्वाधार

अन्तरिक्ष आसां स्थाम श्रान्तसदामिव। आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद्वेधसो न वा॥ २ ॥

१. गतमन्त्र में वर्णित **आसाम्**=इन वीरुधों (लताओं) का **स्थाम**=आधार **अन्तरिक्षे**=उस सबके अन्तर निवास करनेवाले [**यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः**—उप०] प्रभु में है, **इव**=उसी प्रकार जैसे **श्रान्तसदाम्**=थककर बैठनेवाले यात्रियों की वृक्षछाया आधार बनती है। २. **अस्य भूतस्य**=इस सृष्टि में वर्तमान प्रत्येक प्राणी के **तत्**=उस **आस्थानम्**=आधारभूत प्रभु को **वेधसः**=ज्ञानी भी **विदुः न वा**=जानते हैं या नहीं जानते। वस्तुतः उस प्रभु का जानना सुगम नहीं होता। वे प्रभु अचिन्त्य व अप्रमेय हैं, चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं हैं। मन से उसका मापना सुगम नहीं। इसी कारण सामान्यतया मनुष्य इन द्यावापृथिवी आदि पदार्थों को ही इन वीरुधों का आधार मान लेता है—इन्हीं से उन्हें प्राणित होता हुआ समझता है। वस्तुतः इन द्यावापृथिवी को भी प्राणित करनेवाला प्रभु ही है।

भावार्थ—सबका आधार, सबके अन्दर स्थित वे प्रभु ही हैं। इस प्रभु का ज्ञान ज्ञानियों के लिए भी सुगम नहीं होता।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सदा नवीन

यद्रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम्। आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः॥ ३ ॥

१. **रेजमाने**=चमकते (to shine) हुए **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी **च भूमिः**=अथवा यह भूमि **यत्**=जिस भी **आर्द्रम्**=रस का **निरतक्षतम्**=निर्माण करते हैं **तत्**=वह रस **अद्य**=आज की भाँति **सर्वदा**=सदा ही **समुद्रस्य**=समुद्र के **स्रोत्याः इव**=स्रोतों के समान है। जैसे समुद्र के स्रोत शुष्क नहीं होते, इसीप्रकार इन द्यावापृथिवी से उत्पन्न किया गया रस शुष्क नहीं हो जाता। २. प्रभु की यह भी अद्भुत ही रचना है कि द्यावापृथिवी में रस-निर्माण की शक्ति बनी ही रहती है। एक चाक्रिक क्रम से गति करती हुई यह शक्ति सदा समानरूप से बनी रहती है। पृथिवी में एक चक्र में (by rotation) विविध अन्न बोये जाते हैं और पृथिवी की उपजाऊ शक्ति में कमी नहीं आती। सनातनकाल से बरसता हुआ यह मेघ बरसता ही रहेगा। 'बरसते-बरसते थक जाएगा' ऐसी बात नहीं है।

भावार्थ—प्रभु से द्यावापृथिवी में स्थापित की गई शक्ति सदा नवीन-सी बनी रहती है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—द्यावापृथिवी॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

परस्पर सम्बद्धता

विश्व॒म॒न्याम॑भी॒वार॒ तद॒न्यस्या॒मधि॒ श्रि॒तम्।
दि॒वे च॑ वि॒श्ववे॑दसे पृथि॒व्यै चा॑क॒रं नमः॑॥ ४॥

१. **विश्वम्**=(सर्वं विशति यस्मिन्) यह व्यापक आकाश **अन्याम्**=दूसरी—अपने से विलक्षण इस पृथिवी को **अभीवार**=चारों ओर से घेरे हुए है। वस्तुतः आकाश के एक देश में ही पृथिवी स्थित है, परन्तु **तत्**=वह आकाश **अन्यस्याम्**=अपने से भिन्न इस पृथिवी में **अधिश्रितम्**=आश्रित है। पृथिवीस्थ जल ही वाष्पीभूत होकर आकाश में पहुँचता है और आकाश को वर्षण के योग्य बनाता है। २. इसप्रकार परस्पर सम्बद्ध **दिवे च पृथिव्यै**=द्युलोक और पृथिवीलोक के लिए जो **विश्ववेदसे**=सब आवश्यक ओषधियों, वनस्पतियों व अन्य धनों को प्राप्त करानेवाले हैं **नमः अकरम्**=मैं आदर की भावना धारण करता हूँ। इनमें मुझे प्रभु की महिमा दीखती है और मैं नतमस्तक हो जाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु ने द्यावापृथिवी को परस्पर सम्बद्ध बनाकर इन्हें सब ओषधियों का जन्मदाता बना दिया है। प्रभु की यह महिमा हमें उसके प्रति नतमस्तक करनेवाली है।

विशेष—इस सूक्त में द्युलोक की महिमा का वर्णन करके उस महिमा के आधारभूत प्रभु की महिमा का वर्णन हुआ है। ये द्युलोक व पृथिवीलोक जिस वृष्टि की व्यवस्था करते हैं उस वृष्टि से प्राप्त जल का महत्त्वपूर्ण वर्णन अगले सूक्त में है। इन जलों से सब प्रकार की शान्ति का विस्तार करनेवाला 'शन्तातिं' ही इस सूक्त का ऋषि है। यह प्रार्थना करता है—

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—शन्तातिः॥ देवता—आपः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

शुचि-पावक जल

हिर॑ण्यवर्णाः॒ शुच॑यः पाव॒का यासु॑ जा॒तः स॑वि॒ता यास्व॒ग्निः।
या अ॒ग्निं गर्भं॑ दधि॒रे सु॒वर्णा॒स्ता न॒ आपः॒ शं स्यो॒ना भ॑वन्तु॥ १॥

१. **ताः आपः**=वे जल **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति देनेवाले व **स्योनाः**=सुखकर **भवन्तु**=हों, **याः**=जो **अग्निं गर्भं दधिरे**=अग्नि को गर्भ में धारण करते हैं, अतः **सुवर्णाः**=बड़े उत्तम वर्णवाले हैं। उत्तम वर्णवाले ही क्या, **हिरण्यवर्णाः**=स्वर्ण के समान चमकते हुए वर्णवाले हैं, **शुचयः**=पवित्र हैं, **पावकाः**=हमें पवित्र करनेवाले हैं, **यासु**=जिनमें **सविता**=सूर्य **जातः**=प्रादुर्भूत हुआ है, अर्थात् ये सूर्य-किरणों के सम्पर्क में आते हैं, **यासु अग्निः**=जिनसे अग्नि प्रादुर्भूत हुआ है, अर्थात् जो अग्नि पर रखकर उबाला गया है। २. वही जल हितकर हैं जो (क) सूर्य-किरणों के सम्पर्क में आते हैं (ख) जिनको अग्नि पर गरम कर लिया गया है (ग) जिनमें किसी प्रकार का मल नहीं पड़ गया, अतएव चमकते हैं।

भावार्थ—सूर्य-किरणों के सम्पर्कवाले, अग्नि पर उबाले गये जल हमारे लिए नीरोगता देकर सुखकर हों।

ऋषिः—शन्तातिः॥ देवता—आपः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'वरुण' के जल

यासां॒ राजा॒ वरु॑णो॒ याति॒ मध्ये॑ सत्यानृ॒ते अ॑व॒पश्य॒ञ्जना॑नाम्।
या अ॒ग्निं गर्भं॑ दधि॒रे सु॒वर्णा॒स्ता न॒ आपः॒ शं स्यो॒ना भ॑वन्तु॥ २॥

१. जलों का अधिष्ठातृदेव 'वरुण' कहलाता है। यह अशुभ का निवारण करनेवाला है। यह शरीर से रोगों को दूर करता है तो मन से अनृत को हटाता है। ये **वरुण:**=वरुण **जनानां मध्ये याति**=मनुष्यों के मध्य में विचरते हैं—विद्यमान हैं, **सत्यानृते अवपश्यन्**=उनके सत्य व अनृतों को देख रहे हैं। इसप्रकार ये हमें अनृत से पृथक् करते हैं और सत्य से संयुक्त करते हैं। ये वरुण **यासां राजा**=जिन जलों के अधिष्ठातृदेव हैं और **या:**=जो जल **अग्निं गर्भं दधिरे**=अग्नि को अपने मध्य में धारण करते हैं, **सुवर्णा:**=उत्तम वर्णवाले हैं **ता: आप:**=वे जल **न:**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति देनेवाले व **स्योना:**=सुखकर **भवन्तु**=हों। २. जलों के अधिष्ठातृदेव को वरुण कहा गया है। वरुण 'निवारक' हैं—दोषों का निवारण करके हमें श्रेष्ठ बनानेवाले हैं। जल भी हमारे रोगों का निवारण करके हमें स्वास्थ्य प्रदान करते हैं और क्रोधादि को दूर करके शान्तिलाभ कराते हैं। सामान्यत: उस पानी का पीने में प्रयोग अधिक हितकर है जिसे उबाल लिया गया है, जिसे अग्निगर्भ बना लिया गया है।

भावार्थ—जलों का राजा 'वरुण' है—दोषों का निवारक, अत: ये जल दोषों के निवारक क्यों न हों?

ऋषि:—**शन्ताति:** ॥ देवता—**आप:** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

देव-भक्ष्य जल (मेघ-जल)

यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आप: शं स्योना भवन्तु॥ ३॥

१. **दिवि**=द्युलोकस्थ सूर्य में स्थित **देव:**=प्रकाशमय किरणें **यासाम्**=जिन जलों का **भक्षं कृण्वन्ति**=भक्षण करती हैं, अर्थात् जो जल सूर्य-किरणों से वाष्पीभूत होकर द्युलोक की ओर जाते हैं, वे उन किरणों का मानो भोजन ही बन जाते हैं। **या:**=जो जल **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्षलोक में मेघरूप में **बहुधा**=बहुत प्रकार से **भवन्ति**=होते हैं। सूर्य-किरणों का भोजन बनने के पश्चात् ये जल अन्तरिक्ष में बादलों के रूप में परिणत हो जाते हैं। वे बादल विविध आकारों को धारण करते रहते हैं। **या:**=जो अन्तरिक्षस्थ मेघ-जल **अग्निं गर्भं दधिरे**=विद्युद्रूप अग्नि को गर्भ में धारण करते हैं, वे **सुवर्णा:**=उत्तम वर्णवाले हैं **ता: आप:**=वे जल **न:**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति देनेवाले व **स्योना:**=सुखकर **भवन्तु**=हों। २. मेघ-जल स्वभावत: अत्यन्त शुद्ध होता है। यह अपने गर्भ में विद्युत् के प्रभाव को लिये हुए होता है। इसप्रकार यह नीरोगता के लिए अत्यन्त श्रेष्ठ है।

भावार्थ—विद्युद्रूप अग्नि को गर्भ में धारण करनेवाले मेघ-जल नीरोगता देनेवाले हैं।

ऋषि:—**शन्ताति:** ॥ देवता—**आप:** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

शिव जल

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे।
घृतश्चुत: शुचयो या: पावकास्ता न आप: शं स्योना भवन्तु॥ ४॥

१. हे **आप:**=जलो! आप **मा**=मुझे **शिवेन चक्षुषा**=कल्याणकर मङ्गलमयी आँख से **पश्यत**=देखो, अर्थात् जल के प्रयोग से मेरी आँखें शिव बनें—मेरी आँखों में किसी प्रकार का विकार न हो। २. हे जलो! आप **शिवया तन्वा**=कल्याणकर शरीर से **मे त्वचम्**=मेरी त्वचा को **उपस्पृशत**=स्पृष्ट करो। जलों का त्वचा पर अभ्यञ्जन (sponging) के प्रकार के किया गया प्रयोग त्वचा को स्निग्ध व नीरोग बनाए। ३. **घृतश्चुत:**=हमारे अन्दर दीप्ति व नैर्मल्य का क्षरण करनेवाले **शुचय:**=पवित्रता को लानेवाले **या:**=जो **पावका:**=मानस भावनाओं को भी पवित्र

करनेवाले हैं **ताः**=वे **आपः**=जल **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति देनेवाले व **स्योनाः**=सुखकर **भवन्तु**=हों।

भावार्थ—जलों का सुप्रयोग आँखों व त्वचा को सौन्दर्य प्राप्त कराता है। ये जल मलों को दूर करके शरीर को स्वास्थ्य की दीप्ति प्रदान करते हैं, शरीर व मन को पवित्र करते हैं।

विशेष—यह सूक्त जलों के सुप्रयोग से सुख व शान्ति की प्राप्ति का वर्णन कर रहा है। यह नीरोग व शान्त जीवनवाला व्यक्ति 'अथर्वा' स्थिर वृत्ति का बनता है और मधुवल्ली (इक्षु) से प्रेरणा प्राप्त करके अपने जीवन को मधुर बनाने का प्रयत्न करता है।

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधुवनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि।
मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि॥ १॥

१. **इयं वीरुत्**=यह इक्षुदण्ड—गन्ने का पौधा **मधुजाता**=(मधुजातं यस्याम्) माधुर्य के विकासवाला हुआ है। हे इक्षुदण्ड! **त्वा**=तुझे **मधुना**=मधुरता के हेतु से—माधुर्य को प्राप्त करने के लिए **खनामसि**=खोदते हैं। २. **मधोः**=माधुर्य के हेतु से तू **अधिप्रजाता असि**=आधिक्येन उत्पन्न हुआ है। **सा**=वह तू **नः**=हमें **मधुमतः कृधि**=माधुर्यवाला कर। तेरे सेवन से हम भी माधुर्यवाले बनें। हमारा सारा व्यवहार माधुर्य को लिये हुए हो।

भावार्थ—इक्षुदण्ड मधुर-ही-मधुर है। इसका सेवन हमें भी मधुर बनाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधुवनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मधुर शब्द, मधुर-व्यवहार

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥ २॥

१. **मे**=मेरी **जिह्वायाः अग्रे**=जिह्वा के अग्रभाग में **मधु**=माधुर्य हो, **जिह्वामूले**=जिह्वा के मूल में भी **मधूलकम्**=माधुर्य की ही प्राप्ति हो (मधु+उर+क, उर् गतौ)। मैं जिह्वा से कभी कटु शब्द बोल ही न पाऊँ। **इत् अह**=निश्चय से **मम क्रतौ**=मेरे कर्ममात्र में **असः**=यह माधुर्य हो। हे माधुर्य! तू **मम चित्तम् उपायसि**=मेरे चित्त को समीपता से प्राप्त हो, अर्थात् मेरे कर्म तो मधुर हों ही, मैं चित्त में भी कटुता न आने दूँ।

भावार्थ—मेरी बोलचाल तथा मेरे कर्म माधुर्य को लिये हुए हों। मेरे चित्त में भी कभी कटु-विचार न आयें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधुवनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आना-जाना भी मधुर हो

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद्भूयासं मधुसन्दृशः॥ ३॥

१. **मे**=मेरा **निक्रमणम्**=(नि=in) अन्दर आना अथवा समीप प्राप्त होना **मधुमत्**=माधुर्य को लिये हुए हो। **मे**=मेरा **परायणम्**=बाहर व दूर (पर=far) जाना भी **मधुमत्**=माधुर्यवाला हो। **वाचा**=वाणी से **मधुमत्**=माधुर्यवाले शब्द ही **वदामि**=बोलूँ। मैं **मधुसन्दृशः भूयासम्**=मधु-जैसा ही हो जाऊँ। २. यहाँ 'निक्रमणम्' शब्द आने-जाने को कहते हुए व्यवहारमात्र

के प्रतीक हैं। हमारा सारा व्यवहार मधुर हो। विशेषकर बोलने में तो मिठास हो ही। ठीक तो यही है हम मीठे-मीठे हो जाएँ, कटुव्यवहार हमसे सम्भव ही न हो।

भावार्थ—हमारा सब व्यवहार मधुर हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधुवनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शहद से भी अधिक मीठे

मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः। मामित्किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥ ४ ॥

१. मैं **मधोः**=वसन्तऋतु से भी अथवा शहद से भी **मधुतरः अस्मि**=अधिक मिठासवाला होऊँ। मेरे व्यवहार के माधुर्य के सामने शहद का मिठास भी फीका पड़ जाए। **मधुघात् (मधु-दुघात्)**=माधुर्य का दोहन करनेवाले इस इक्षुदण्ड से भी **मधुमत्तरः**=मैं अधिक मिठासवाला होऊँ। हे माधुर्य! **त्वम्**=तू **माम्**=मुझे **इत् किल**=निश्चय से **वनाः**=सेवन कर—प्राप्त हो। उसी प्रकार प्राप्त हो **इव**=जैसेकि **मधुमतीं शाखाम्**=इस माधुर्यवाली इक्षुदण्डरूप शाखा को तू प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम शहद से भी अधिक मीठे बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधुवनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

माधुर्य का प्रेरक इक्षुदण्ड

परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे। यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ ५ ॥

१. पति पत्नी से कहता है कि **त्वा**=तुझे **परितत्नुना**=चारों ओर फैलनेवाले **इक्षुणा**=इस इक्षुदण्ड के साथ **अविद्विषे**=सब प्रकार की अप्रीति को दूर करने के लिए **परि आगाम्**=सब ओर से प्राप्त हुआ हूँ, **यथा**=जिससे तू भी **मां कामिनी**=मुझे चाहनेवाली, मुझसे प्रीति करनेवाली **असः**=हो, **यथा**=जिससे **मत्**=मुझसे **अपगाः**=दूर जानेवाली तू **न असः**=न हो। २. इक्षुदण्ड को लेकर आने का भाव इतना ही है कि इक्षुदण्ड से माधुर्य की प्रेरणा लेकर आना। जब पति पत्नी के साथ सदा मधुर व्यवहार करने का व्रत लेकर उपस्थित होता है तभी वह पत्नी से भी यह आशा करता है कि वह उसी के प्रति प्रेमवाली होगी और कभी उससे दूर होने का ध्यान न करेगी। ३. यह पंक्ति राजा व राष्ट्रसभा के लिए भी विनियुक्त हो सकती है। इसीप्रकार आचार्य व छात्र के लिए भी।

भावार्थ—पति का मधुर व्यवहार पत्नी को उसके प्रति प्रेमवाला बनाए।

विशेष—सूक्त की भावना एक पंक्ति में यही है कि हम मधुर-ही-मधुर बनें। ऐसा बनने के लिए आवश्यक है कि हम अपने में शक्ति धारण करें। शक्ति का ह्रास ही हमें खिझने की वृत्तिवाला बनाता है, अतः अथर्वा की कामना है—

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)** ॥ देवता—**मधुवनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हिरण्य-बन्धन

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ १ ॥

१. **दाक्षायणाः**=(दक्ष=to grow) सब प्रकार की उन्नति की कामनावाले **सुमनस्यमानाः**=सौमनस्य (मन की प्रसन्नता) को चाहनेवाले लोग **शतानीकाय**=सौ-के-सौ वर्ष तक बल की स्थिरता के लिए **यत्**=जिस **हिरण्यम्**=हितरमणीय वीर्यशक्ति को **आबध्नन्**=अपने अन्दर बाँधते

हैं, **तत्**=उस हिरण्य को **ते**=तेरे लिए **दीर्घायुत्वाय**=तेरा जीवन दीर्घ हो, **शतशारदाय**=तू पूरे सौ वर्ष तक चल सके, इसलिए धारण करता हूँ कि **वर्चसे**=तुझमें वर्चस् हो, वह प्राणशक्ति हो जो शरीर में रोगकृमियों से संघर्ष में विजय प्राप्त करती है और **बलाय**=तेरा मन बलवान् बने।

भावार्थ—वीर्यरक्षा से (क) सब प्रकार की उन्नति सम्भव होती है (**दाक्षायणाः**), (ख) मन प्रसन्न रहता है (**सुमनस्यमानाः**), दीर्घजीवन की प्राप्ति होती है, (घ) शरीर वर्चस्वी होता है और (ङ) मन सबल बनता है।

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**हिरण्यम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

दाक्षायण-हिरण्य

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत्।
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः॥ २॥

१. **एनम्**=गतमन्त्र में वर्णित हिरण्य को **रक्षांसि**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले रोगकृमि (parasites) **न सहन्ते**=सहन नहीं कर पाते, अर्थात् इस हिरण्य से इनका हरण हो जाता है। इसीप्रकार **पिशाचाः**=हमारे मांस को ही खा जानेवाले कैंसर आदि रोगों के कृमि भी इस हिरण्य को नहीं सह सकते। इसके द्वारा उनका भी विनाश होता है। **यः**=जो भी व्यक्ति **दाक्षायणं हिरण्यम्**=सब प्रकार की उन्नतियों के कारणभूत-रोगकृमि-विनाशक इस वीर्य को **बिभर्ति**=धारण करता है, **सः**=वह **जीवेषु**=प्राणियों में **दीर्घम् आयुः**=दीर्घ जीवन को **कृणुते**=सिद्ध करता है। रोगकृमियों के नाश से नीरोग शरीर, पूर्णायुष्य तक क्यों न चलेगा?

भावार्थ—वीर्यरक्षण से रोग नहीं आते और आयुष्य का भङ्ग (रुजो भङ्गे) न होने से मनुष्य दीर्घजीवी होता है।

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**हिरण्यम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

जलों व वनस्पतियों का सेवन

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्या[णि।
इन्द्रइवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन्तद्दक्षमाणो बिभरद्धिरण्यम्॥ ३॥

१. गतमन्त्र में वर्णित हिरण्य क्या है? इसका उत्तर देते हुए करते हैं—यह **अपाम्**=जलों का **तेजः**=तेज है, यह **ज्योतिः**=जलों की ज्योति है, **ओजः बलं च**=यह जलों का ओज व बल है। जलों से उत्पन्न हुआ यह तेज अन्नमयकोश को तेजस्वी बनाता है, विज्ञानमयकोश को ज्योतिर्मय और मनोमय कोश को ओजस्वी व बलवान् बनाता है। २. **उत**=और यह हिरण्य **वनस्पतीनां वीर्याणि**=वनस्पतियों के वीर्य हैं। यह हिरण्य क्या है? वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से शरीर में उत्पन्न हुई यह प्राणमयकोश को वीर्यवान् बनाती है। ३. इस हिरण्य के शरीर में रक्षण के लिए हम **इन्द्रः इव**=एक जितेन्द्रिय पुरुष की भाँति **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियों को **अधिधारयामः**=आधिक्येन धारण करते हैं—इन्द्रियों को अपने वश में करते हैं। इन्द्रियों को वश में करने से ही इसका रक्षण हो सकता है। ४. इसप्रकार इन्द्रियों को वश में करनेवाला **दक्षमाणः**=सब प्रकार की उन्नति चाहनेवाला पुरुष **अस्मिन्**=इस शरीर में **तत्**=उस **हिरण्यम्**=हितरमणीय वीर्य को **बिभरत्**=धारण करता है।

भावार्थ—शरीर में धारण किया गया जलों व वनस्पतियों से उत्पन्न 'हिरण्य' अन्नमयकोश को तेजस्वी बनाता है, प्राणमयकोश को वीर्यसम्पन्न, मनोमयकोश को ओजस्वी व बलवान् तथा विज्ञानमयकोश को ज्योतिर्मय।

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**हिरण्यम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भाचतुष्पदात्रिष्टुप्**॥

गृहस्थ में संयम

समा॑नां मा॒साम॒तुभि॑ष्ट्वा व॒यं सं॑वत्स॒रस्य॒ पय॑सा पिपर्मि।
इ॒न्द्रा॒ग्नी विश्वे॑ दे॒वास्ते ऽनु॑ मन्यन्ता॒मह॑णीयमानाः॥ ४॥

१. **वयम्**=कर्मतन्तु का सन्तान करनेवाला (वेञ् तन्तुसन्ताने) मैं, हे (जलों के तेज) वीर्य! **त्वा**=तुझे **समानां पयसा**=शुक्ल व कृष्णपक्ष के आप्यायन से **पिपर्मि**=अपने में पूरित करता हूँ। मास समरूप से शुक्ल व कृष्ण इन दो पक्षों में बँटा होता है, अतः इन पक्षों को यहाँ 'समा' शब्द से स्मरण किया गया है। गृहस्थ में होते हुए भी कम-से-कम पक्षभर अपने में शक्ति को पूर्ण करने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे ऊपर उठकर **मासाम्**=(पयसा पिपर्मि)=मासों के आप्यायन से इस शक्ति को अपने में पूरित करता हूँ और उन्नत होकर **ऋतुभिः**=दो-दो मास से बनी हुई ऋतुओं से मैं इसे अपने में धारण करता हूँ और इससे उत्तम सङ्कल्प यह है कि **संवत्सरस्य (पयसा पिपर्मि)**=वर्षभर के आप्यायन से मैं तुझे अपने में पूरित करता हूँ। २. इसप्रकार अपने में शक्ति का संयम करने पर **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि—शक्ति तथा प्रकाश के देवता तथा **ते विश्वेदेवाः**=वे अन्य सब दिव्य गुण भी **अहृणीयमानाः**=हमारे प्रति किसी भी प्रकार के रोषवाले न होते हुए **अनुमन्यन्ताम्**=अनुकूल मतिवाले हों, अर्थात् इस शक्ति के रक्षण से हमें सब दिव्य गुणों की प्राप्ति हो।

भावार्थ—शक्ति के रक्षण के लिए मनुष्य गृहस्थ में भी पर्याप्त संयम से चले और अपने में दिव्य गुणों का वर्धन करे।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त 'हिरण्य बन्धन', अर्थात् हितरमणीय वीर्यशक्ति को शरीर में ही बद्ध करने के महत्त्व को प्रतिपादित कर रहा है। इसका बन्धन करनेवाला 'अथर्वा' है—वासनाओं से डाँवाडोल न होनेवाला।

यहाँ प्रथम काण्ड समाप्त होता है। इस काण्ड का आरम्भ आचार्य द्वारा विद्यार्थी में शरीर की शक्तियों को धारण कराने से होता है। उन शक्तियों को धारण करने के लिए समाप्ति पर यह '**हिरण्य-बन्धन**'=वीर्यरक्षण साधनरूप से उपदिष्ट हुआ है। एवं, जीवन का पहला नियम यही है कि 'हम पूर्ण स्वस्थ बनें। स्वास्थ्य के लिए वीर्य का रक्षण करें'। इस नियम का पालन करनेवाला अब प्रभु-भक्ति की कामनावाला बनता है। 'वेनृ' धातु का अर्थ to know, to perceive तथा to worship है। उस प्रभु की महिमा को देखना, उसके द्वारा प्रभु को जानना व उसकी पूजा—उपासना करना। यह 'वेन' ही द्वितीय काण्ड के प्रथम सूक्त का ऋषि है।

॥ इति प्रथमं काण्डम् ॥

द्वितीयं काण्डम्

अथ तृतीयः प्रपाठकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**ब्रह्म, आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वेन का प्रभु-दर्शन

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्।
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्य१नूषत व्राः॥ १॥

१. **वेनः**=प्रभु की महिमा को देखनेवाला और उसकी उपासना करनेवाला ही **तत्**=उस परमात्मा को **पश्यत्**=देखता है, जो **परमम्**=सर्वोत्कृष्ट है और **यत्**=जो **गुहा**=हृदयरूप गुहा में आसीन है, **यत्र**=जिस परमात्मा में **विश्वम्**=यह सारा संसार **एकरूपं भवति**=एकरूप हो जाता है। जैसे भिन्न-भिन्न आकृतिवाली शहद से भरी शीशियाँ, शहद का ज्ञान होने पर इसी रूप में कही जाती हैं कि सब शहद है, इसीप्रकार परमात्मदर्शन होने पर सब समरूप से परमात्मामय ही हो जाता है—'**विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः**'॥ प्रभु-दर्शन होने पर भेदभाव समाप्त हो जाता है और सर्वत्र प्रभु-ही-प्रभु दीखते हैं। २. **जायमानः**=उस प्रभुरूप अध्यक्ष से इस चराचर को जन्म देती हुई **पृश्निः**=यह 'लोहित-शुक्ल-कृष्णा' (diversified, विभिन्नरूपा) प्रकृति **इदम्**=इस जगत् को **अदुहत्**=अपने में से दूहती है—'**मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्**'। इस जगत् का प्रत्येक पदार्थ उस रचयिता प्रभु की रचनाचातुरी को व्यक्त कर रहा है। ये **स्वर्विदः**=आकाश में विद्यमान अथवा प्रकाश को प्राप्त करनेवाले (विद् लाभे) **व्राः**=(वृ आच्छादने) आकाश को आच्छादित करनेवाले तारे **अभ्यनूषत**=उस प्रभु का स्तवन कर रहे हैं। द्रष्टा को इनमें प्रभु की महिमा दीखती है। यह नक्षत्रविद्यावित् इन नक्षत्रों में वर्तमान क्रम को देखकर आश्चर्यचकित रह जाता है। यह सचमुच 'वेन' बनता है (वेन्=to see)—प्रभु की महिमा का द्रष्टा।

भावार्थ—'वेन' विश्व के कण-कण में प्रभु की महिमा का दर्शन करता है।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**ब्रह्म, आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

विद्वान् गन्धर्व का प्रभु-दर्शन

प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान्गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत्॥ २॥

१. **विद्वान्**=ज्ञानी, **गन्धर्वः**=इन्द्रियों को धारण करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष ही **तत्**=उस **ऋतस्य धाम**=अमृतत्व के आधार **परमम्**=सर्वोत्कृष्ट प्रभु को **यत्**=जोकि **गुहा**=हृदयरूप गुहा में स्थित हैं, **प्रवोचेत्**=प्रतिपादित करता है। जितेन्द्रिय ज्ञानी पुरुष ही इसका ज्ञान देता है। २. **अस्य**=इस प्रभु के **त्रीणि पदानि**=तीन पग **गुहा निहिता**=गुहा में निहित हैं, अर्थात् अत्यन्त रहस्यमय हैं। किस प्रकार वे प्रभु इस सृष्टि की रचना करते हैं, कैसे इस अनन्त-से बोझवाले संसार का धारण करते हैं और किस प्रकार प्रलय करते हैं। **यः**=जो भी **तानि**=इन बातों को **वेद**=जानता है, **सः**=वह **पितुः पिता असत्**=पिता का भी पिता होता है, अर्थात् महान् ज्ञानी

होता है। सृष्टि की रचना, धारण व प्रलय को पूरा-पूरा जान सकना तो सम्भव नहीं—**'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः'**, परन्तु एक गम्भीर विचारक इसका थोड़ा-बहुत आभास पानेवाला बनता है और उस प्रभु का सच्चा उपासक बनकर अपने ज्ञान को और बढ़ाता है तथा उसी ज्ञान का प्रचार करता है। यह ज्ञान देनेवाला प्रजाओं का सच्चा पिता बनता है।

भावार्थ—हम सृष्टि रचना, धारण व प्रलय का विचार करते हुए प्रभु के उपासक बनें, उसका ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान को फैलानेवाले हों।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**ब्रह्म, आत्मा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सब देवों का नामधारक मुख्य देव

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा॥ ३॥

१. **सः**=वे प्रभु ही **नः**=हमारे **पिता**=रक्षक हैं, **जनिता**=हमारी शक्तियों का प्रादुर्भाव करनेवाले हैं **उत**=और **सः**=वे प्रभु ही **बन्धुः**=हमारे कर्मों के अनुसार उस-उस योनि में बाँधनेवाले हैं। वे प्रभु **विश्वा**=सब **भुवनानि**=लोकों व **धामानि**=स्थानों को **वेद**=जानते हैं। उन सबको जानते हुए वे प्रभु हमारे कर्मों के अनुसार उन-उन लोकों व उन-उन स्थानों में हमें जन्म देते हैं। २. **यः**=जो प्रभु **एकः एव**=अकेले ही **देवानाम्**=सब देवों के **नामधः**=नामों को धारण करनेवाले हैं, अर्थात् सूर्य के प्रकाशक होने से वस्तुतः वे ही सूर्य हैं, अतः वे प्रभु ही **'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः'** अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः, प्रजापति हैं। ३. **तम्**=उस **संप्रश्नम्**=(प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्) जानने के लिए ईप्सित प्रभु को **सर्वा भुवना**=सब भुवन **यन्ति**=जाते हैं। सब व्यक्ति उस प्रभु की ओर चल रहे हैं, कई ठीक मार्ग से, कई अज्ञानवश कुछ भ्रान्त मार्ग से, परन्तु अन्ततः सबको पहुँचना वहीं है।

भावार्थ—प्रभु ही सर्वश्रेष्ठ बन्धु हैं। वे हमारे कर्मानुसार हमें उचित लोक व स्थान में जन्म देते हैं। सूर्यादि सब देवों को भी वे ही शक्ति प्रदान करते हैं। सभी अपनी समझ के अनुसार उस प्रभु की ओर चल रहे हैं।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**ब्रह्म, आत्मा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'धास्यु व अग्नि' प्रभु

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वे३षो अग्निः॥ ४॥

१. मैं **सद्यः**=शीघ्र **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक में **परि आयम्**=चारों ओर भ्रमण कर आया हूँ। इन द्युलोक एवं पृथिवीलोक के पदार्थों का मैंने निरीक्षण किया है। मैंने इनके अन्दर प्रभु की महिमा को देखने का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त **ऋतस्य**=उस पूर्ण सत्य प्रभु की **प्रथमजाम्**=सृष्टि के आरम्भ में आविर्भूत हुई-हुई वाणी को **उपातिष्ठे**=मैंने उपासित किया है। सृष्टि के आरम्भ में दिये गये वेदज्ञान का मैंने अध्ययन किया है। २. संसार के देखने से तथा वेदवाणी के अध्ययन से मैं इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ कि **वक्तरि वाचम् इव**=वक्ता में वाणी की भाँति **भुवनेष्ठाः**=ये प्रभु सम्पूर्ण भुवनों में स्थित हैं। जैसे वक्ता में सूक्ष्मरूप से वाणी का निवास है, उसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रभु का निवास है। **एषः**

धास्युः=ये प्रभु ही इस ब्रह्माण्ड को धारण करनेवाले हैं। **नु**=निश्चय से **एषः**=ये प्रभु ही **अग्निः**=अग्रणी हैं, सारे ब्रह्माण्ड को अग्रगति देनेवाले हैं।

भावार्थ—संसार का निरीक्षण व वेदज्ञान का परीक्षण हमें एक ही परिणाम पर पहुँचाता है कि वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रभु ही इसके धारक व अग्रणी हैं।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**ब्रह्म, आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वह विस्तृत सूत्र

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्।
यत्र देवा अमृतमानाशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ ५ ॥

१. यह सारा ब्रह्माण्ड एक सूत्र में पुरोया हुआ है। इस **ऋतस्य**=ऋत के—पूर्ण सत्य के **विततम्**=विस्तृत **तन्तुम्**=सूत्ररूप **कम्**=आनन्दमय प्रभु को **दृशे**=देखने के लिए मैं **विश्वा भुवनानि परि आयम्**=सब लोकों में चारों ओर घूमा हूँ। इन लोकों के निरीक्षण से मुझे सर्वत्र ओत-प्रोत उस सूत्र की ही महिमा का दर्शन हुआ है। २. यह सूत्र वह है **यत्र**=जिसमें **देवाः**=देववृत्ति के ज्ञानी पुरुष **अमृतम् आनशानाः**=अमृतत्व का उपभोग करते हुए **समाने योनौ**=(सम्यक् आनयति) सबको प्राणित करनेवाले मूलस्थान प्रभु में **अध्यैरयन्त**=गति करते हैं। अमृतत्व प्राप्त सब व्यक्तियों का वह ब्रह्म ही लोक है—सब मुक्त पुरुष समानरूप से उसी में विचरण करते हैं। वह प्रभु इन सब मुक्त पुरुषों का 'समान योनि' है।

भावार्थ—प्रभु ही सब लोक-लोकान्तरों को अपने में पिरोये हुए हैं। सब मुक्त आत्मा भी उस प्रभु में निवास करते हैं। (संसारासक्त पुरुष प्रभु से दूर होते हुए कष्टभाक् होते हैं)।

विशेष—इस सम्पूर्ण सूक्त में वेन प्रभु का उपासन करता हुआ सारी सृष्टि को प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करते हुए देखता है (१) उस प्रभु की महिमा का प्रतिपादन जितेन्द्रिय ज्ञानी पुरुष ही कर पाता है (२) वे प्रभु ही सब देवों के नाम को धारण करनेवाले हैं (३) वे संसार के धारक व अग्रणी हैं (४) वे ही सब लोकों में ओत-प्रोत सूत्र हैं (५)।

यह वेन उस प्रभु का ज्ञान प्राप्त करने के कारण अब 'मातृनामा' कहलाता है—'माता-प्रमाता इति नाम यस्य'। यह वेदवाणी के धारक प्रभु की शक्तियों को—गन्धर्वपत्नियों को—सर्वत्र प्रजाओं में विचरण करता हुआ देखता है, इसीलिए ये शक्तियाँ 'अप्सरस'=प्रजाओं में विचरण करनेवाली कहलायी हैं, अतः अगले सूक्त का ऋषि 'मातृनामा' है, विषय व देवता 'गन्धर्वाप्सरसः' हैं—प्रभु की प्रजाओं में विचरण करनेवाली शक्तियाँ। यह मातृनामा स्तवन करता है कि—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

ज्ञान व स्तवन द्वारा प्रभु-प्राप्ति

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।
तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम् ॥ १ ॥

१. वे प्रभु **दिव्यः**=(दिवि भवः) सदा अपने प्रकाशमय रूप में निवास करनेवाले हैं, **गन्धर्वः**=वेदवाणी को धारण करनेवाले हैं, इस वेदवाणी को ही वे सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में स्थापित करते हैं। **भुवनस्य यः पतिः**=सारे ब्रह्माण्ड के जो रक्षक हैं, वे **एकः एव**=अद्वितीय प्रभु ही **नमस्यः**=नमस्कार के योग्य हैं। **विक्षु ईड्यः**=सब प्रजाओं में स्तुति

करने योग्य हैं। जहाँ भी, जो कुछ विभूति, श्री व ऊर्ज् दृष्टिगोचर होता है, वह उस प्रभु का ही है। वे प्रभु ही उपासनीय हैं। २. हे प्रभो! **तं त्वा**=उस आपको मैं **ब्रह्मणा**=ज्ञान व स्तवन के द्वारा (ब्रह्म=ज्ञान, स्तोत्र) **यौमि**=प्राप्त करता हूँ—अपने को आपके साथ जोड़ता हूँ। हे **दिव्य देव**=प्रकाशमय ज्ञानपुञ्ज प्रभो! **ते नमः**=मैं आपके प्रति नतमस्तक होता हूँ। **ते दिवि**=आपके प्रकाशमय लोक में **सधस्थम् अस्तु**=मेरा आपके साथ ठहरना हो। मैं मुक्त होकर आपके साथ विचरनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रकाशमय प्रभु का ही उपासन करना योग्य है। ज्ञान व स्तवन के द्वारा हम प्रभु को प्राप्त करें और उसके साथ स्थित होनेवाले बनें।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आधिदैविक आपत्तियों का निराकरण

दि॒वि स्पृ॒ष्टो य॑ज॒तः सूर्य॑त्वगवया॒ता हर॑सो॒ दैव्य॑स्य।
मृ॒डाद्ग॑न्ध॒र्वो भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्य॑: सु॒शेवा॑: ॥ २ ॥

१. वे प्रभु **दिवि स्पृष्टः**=ज्ञान होने पर प्राप्त होनेवाले हैं। हम प्रभु के सम्पर्क में ज्ञान के द्वारा ही आ सकते हैं। **यजतः**=वे प्रभु पूज्य, संगतिकरणयोग्य व समर्पणीय हैं। हमें उस प्रभु की पूजा करनी चाहिए, उनके साथ अपना सम्पर्क स्थापित करने के लिए यत्नशील होना चाहिए और अन्ततः उस प्रभु के प्रति अपने को दे डालना चाहिए। **सूर्यत्वक्**=(त्वच्= to cover) वे सूर्यादि ज्योतिर्मय पिण्डों को भी आच्छादित करनेवाले हैं, इसलिए वे 'हिरण्यगर्भ' भी कहलाते हैं—**'हिरण्यं ज्योतिर्गर्भे यस्य'**। इस प्रभु का उपासन करने पर ये **दैव्यस्य**=सूर्य आदि देवों के **हरसः**=प्रकोप के **अवयाता**=दूर करनेवाले हैं। दैवी आपत्तियाँ तभी आती हैं जबकि हम इन देवों के विषय में ग़लत आचरण करते हैं। प्रभु का उपासक इन दोषों से बचा रहता है, अतः दैवी प्रकोपों का शिकार भी नहीं होता। २. **गन्धर्वः**=वे वेदवाणी के धारक प्रभु **मृडात्**=हमारे जीवन को सुखी करते हैं। ये प्रभु वे हैं **यः**=जोकि **एकः एव**=अद्वितीय ही **भुवनस्य पतिः**=सारे संसार के रक्षक हैं, **नमस्यः**=हम सबके नमस्कार करने योग्य और **सुशेवाः**=उत्तम कल्याण प्राप्त करानेवाले हैं। जब मानवजाति उस एकमात्र प्रभु का ही उपासन करनेवाली होगी तब सब भेदभावों के समाप्त हो जाने से कल्याण-ही-कल्याण होगा। उस एक उपास्य के अभाव में परस्पर भेद व द्वेष चलता है और **'मिथो विघ्नाना उपयन्तु मृत्युम्'**—परस्पर लड़ते हुए हम मृत्यु के मार्ग पर अग्रसर होते हैं।

भावार्थ—प्रकाशमय प्रभु के साथ स्थित होने पर आधिदैविक प्रकोप नहीं होते। उस एक प्रभु की उपासना में ही मानव का कल्याण है।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सब शक्तियों का आधार 'आनन्दमय प्रभु'

अ॒न॒व॒द्याभि॑: समु॑ जग्म आ॒भिर॑प्स॒रास्वपि॑ गन्ध॒र्व आ॑सीत्।
स॒मु॒द्र आ॑सां॒ सद॑नं म आहु॒र्यत॑: स॒द्य आ च॒ परा॑ च॒ यन्ति॑ ॥ ३ ॥

१. प्रभु 'गन्धर्व' हैं—प्रभु की शक्तियाँ 'गन्धर्वपत्नी' कहलाती हैं। ये शक्तियाँ ही सब प्रजाओं में (अप्) विचरण (सर) करने के कारण 'अप्सरा' कही गई हैं। मैं **आभिः**=इन **अनवद्याभिः**=अत्यन्त प्रशस्त—अनिन्दनीय प्रभु-शक्तियों से **उ**=निश्चयपूर्वक **संजग्मे**=संगत होता हूँ। २. **अप्सरासु**=इन प्रजाओं में विचरण करनेवाली शक्तियों में **अपि**=भी **गन्धर्वः आसीत्**=वे

वेदवाणी के धारक प्रभु ही तो हैं। **बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजः तेजस्विनामहम्। बलं बलवतामहम्**—इस गीतावाक्य में यही तो कहा है कि बुद्धिमानों की बुद्धि मैं ही हूँ। तेजस्वियों का तेज तथा बलवानों का बल मैं ही हूँ। ३. **मे**=मेरे सम्बन्ध में ज्ञानी लोग **आहुः**=यही कहते हैं कि **आसाम्**=इन सब शक्तियों का **सदनम्**=घर **समुद्रे**=उस आनन्दमय प्रभु में ही है (स+मुद्) **च**=और आनन्दमय प्रभु ही वे आधार हैं **यतः**=जहाँ से ये सब शक्तियाँ **सद्यः**=शीघ्र **आयन्ति**=आती हैं—उस-उस स्थान पर प्राप्त होती हैं **च**=और **परायन्ति**=उस-उस स्थान से लौटकर फिर उसी में पहुँच जाती हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब शक्तियों के आधार हैं। उन्हीं से ये शक्तियाँ हमें प्राप्त होती हैं और अन्त में प्रभु में ही ये लौट जाती हैं।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद्विराण्नामगायत्री** ॥

नम्रता व शक्तिधारण

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे।
ताभ्यो वो देवीर्नम इत्कृणोमि॥ ४॥

१. **अभ्रिये**=अभ्रों व बादलों में प्रकट होनेवाली **दिद्युत्**=विद्युद्रूप द्युति में अथवा **नक्षत्रिये**=नक्षत्रों में प्रकट होनेवाले प्रकाश में **याः**=जो शक्तियाँ हैं, जो **विश्वावसुम्**=सम्पूर्ण वसुओंवाले **गन्धर्वम्**=ज्ञानी प्रभु में **सचध्वे**=समवेत होती हैं। हे **देवीः**=दिव्य गुणोंवाली शक्तियो! **ताभ्यः वः**=उन आपकी प्राप्ति के लिए मैं **इत्**=निश्चय से **नमः कृणोमि**=नमस्कार करता हूँ। २. बादलों की विद्युत् के प्रकाश में तथा नक्षत्रों के प्रकाश में सर्वत्र प्रभु की ही महिमा है। उसी की शक्ति से ये विद्युत् व नक्षत्र चमकते हैं। इस प्रकाश को प्राप्त करने के लिए मैं नम्रता धारण करता हूँ। नम्रता से ये शक्तियाँ मुझे भी प्राप्त होंगी। प्रभु के तेज को धारण करने के लिए हमें विनीत बनना ही चाहिए।

भावार्थ—हम जितना विनम्र बनते हैं, उतना ही प्रभु की प्रकाशमय शक्तियों को धारण करते हैं।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

अप्सराएँ

याः क्लन्दास्तमिषीचयोऽक्षकामा मनोमुहः।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः॥ ५॥

१. प्रभु गन्धर्व हैं, वेदवाणी के धारक हैं। प्रभु की शक्तियाँ 'गन्धर्वपत्नियाँ' हैं। इन्हीं का सब प्रजाओं में प्रसार है। प्रजाओं (अप्) में प्रसृत (सर) होने से ये 'अप्सरा' कहलाती हैं। **ताभ्यः**=उन **गन्धर्वपत्नीभ्यः**=प्रभु की पत्नीरूप **अप्सराभ्यः**=प्रजाओं में विचरनेवाली शक्तियों की प्राप्ति के लिए **नमः अकरम्**=मैं नमस्कार करता हूँ। विनीत बनकर ही तो मैं इन शक्तियों को प्राप्त करने का पात्र बनूँगा। २. ये शक्तियाँ वे हैं **याः**=जोकि **क्लन्दाः**=शत्रुओं को रुलानेवाली हैं (क्रदि रोदने), **तमिषीचयः**=(तम्=to wish, to desire, षिच् क्षरणे) इच्छाओं का सेचन व पूरण करनेवाली हैं, **अक्षकामाः**=इन्द्रियों को कान्ति प्राप्त करानेवाली व **मनोमुहः**=मनों को मुग्ध करनेवाली हैं। इन शक्तियों के होने पर वह व्यक्ति सबके लिए आकर्षक होता है। उसकी सब इन्द्रियाँ तेजस्विता से युक्त होती हैं। इनके द्वारा वह इष्ट वस्तुओं को प्राप्त कर पाता है और इनके द्वारा ही वह अपने शत्रुओं को परास्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति नमन से हमें वे दिव्य शक्तियाँ प्राप्त होती हैं जो शत्रुओं को रुलानेवाली, इच्छाओं को पूर्ण करनेवाली, इन्द्रियों को कान्ति देनेवाली व मनों को मुग्ध करनेवाली होती हैं।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से हुआ है कि प्रभु की प्राप्ति ज्ञान से होती है (१)। वे प्रभु उपासित होने पर आधिदैविक आपत्तियों को दूर करनेवाले हैं (२)। प्रभु ही सब शक्तियों के आधार हैं (३)। नम्रता के द्वारा हम इन शक्तियों को प्राप्त करते हैं (४)। इन शक्तियों को प्राप्त करके शत्रुओं को पराजित करनेवाले व इन्द्रियों को दीप्त करनेवाले होते हैं (५)। इन्द्रियों को दीप्त करके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले हम 'अङ्गिराः' बनते हैं। यह अङ्गिरा ओषधियों के उचित प्रयोग से सब रोगों को अपने से दूर रखता है। पर्वतों से नीचे बहनेवाला जल भी उत्तम औषध है—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**(आस्त्राव)-भेषजम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पर्वतीय जल

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात्। तत्ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथाससि ॥ १ ॥

१. **अदः**=वह **यत्**=जो **अवत्कम्**=रक्षा करनेवाला जल **अधिपर्वतात्**=पर्वत पर से **अवधावति**=नीचे की ओर दौड़ता है, **तत्**=उसे **ते**=तेरे लिए **भेषजम्**=औषध **कृणोमि**=करता हूँ, **यथा**=जिससे **सुभेषजम्**=उत्तम औषधवाला **अससि**=तू हो। २. पर्वतों से बहनेवाला जल भिन्न-भिन्न प्रकार के खनिजद्रव्यों के सम्पर्क में आता हुआ सचमुच कई रोगों का औषध बन जाता है। इन जलों में वे खनिजद्रव्य सूक्ष्मरूप से समवेत होकर जलों के दोष-निवारक गुणों को बढ़ा देते हैं। जल भेषज हैं, तो उन द्रव्यों के सम्पर्क से वे सुभेषज हो जाते हैं।

भावार्थ—पर्वतों से बहकर नीचे आनेवाला जल भेषज है, भेषज ही नहीं सुभेषज है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**(आस्त्राव)-भेषजम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनास्त्रावम्, अरोगणम्

आदङ्ग कुविदङ्ग शतं या भेषजानि ते। तेषामसि त्वमुत्तममनास्त्रावमरोगणम् ॥ २ ॥

१. **आत्**=और यह बात है कि हे **अङ्ग**=अङ्ग! **कुवित् अङ्ग**=बहुविध अङ्ग! (कुवित्=बहु—नि०) **या**=जो **ते**=आपकी **शतं भेषजानि**=सैकड़ों औषध हैं **तेषाम्**=उनमें **त्वम्**=तू, अर्थात् गतमन्त्र में वर्णित पर्वतीय जल **उत्तमम् असि**=उत्तम है, **अनास्त्रावम्**=रक्तस्राव को रोकनेवाला तथा **अरोगणम्**=रोग को दूर करनेवाला है। २. पर्वतीय जल रक्तस्राव को रोकता है और अङ्गों को नीरोग बनाता है।

भावार्थ—पर्वतीय जल रक्तस्राव को रोककर अङ्गों पर लगनेवाले घावों को दूर करता है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**(आस्त्राव)-भेषजम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अरुस्त्राण' औषध

नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्त्राणमिदं महत्। तदास्त्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ३ ॥

१. **असुराः**=(अस्यन्ति) रोगों को दूर फेंकनेवाले वैद्य लोग **इदम्**=इस **महत्**=अत्यधिक **अरुस्त्राणम्**=(स्रै पाके) फोड़े को पकाकर मल को पृथक् करनेवाली औषध को **नीचैः**=नीचे पर्वतों की तराई के प्रदेशों में **खनन्ति**=खोदते हैं। पर्वतों से बहकर आते हुए जल से उत्पन्न हुई-हुई यह भूमिगत औषध फोड़े को पकाकर उसके मल को दूर करने की शक्ति रखती है।

२. इसप्रकार यह औषध **आस्रावस्य**=मल को क्षरित करने की **भेषजम्**=उत्तम औषध है। **तत् उ**=वह निश्चय से **रोगम्**=रोग को **अनीनशत्**=नष्ट कर देती है।

भावार्थ—पर्वत के निचले प्रदेशों में उत्पन्न होनेवाली यह औषध फोड़ों के मलों को क्षरित करके रोगों को शान्त करती है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—(**आस्राव**)-**भेषजम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

समुद्र की जलनीली (Moss)

उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम्। तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमशीशमत्॥ ४॥

१. 'उपजीक' शब्द जलाधिष्ठातृदेवता (Water deity) के लिए प्रयुक्त होता है। जलों में कार्य करके आजीविका चलानेवाले व्यक्ति भी उपजीक हैं। ये **उपजीकाः**=जल में कार्य करके जीनेवाले लोग **समुद्राद् अधि**=समुद्र में से **भेषजम्**=औषध को **उद्भरन्ति**=ऊपर लाते हैं। समुद्र में होनेवाली यह 'जलनीली' (काई) ही वह औषध है। २. **तत्**=वह जलनीली **आस्रावस्य**=आस्राव की **भेषजम्**=उत्तम औषध है **उ**=और **तत्**=वह **रोगम्**=रोग को **अशीशमत्**=शान्त कर देती है।

भावार्थ—समुद्र में उत्पन्न होनेवाली काई कृमिनाशक होने से आस्राव की उत्तम औषध है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—(**आस्राव**)-**भेषजम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'पृथिवी से उद्धृत यह ओषधि'

अरुस्राणमिदं महत्पृथिव्या अध्युद्भृतम्। तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत्॥ ५॥

१. **इदम्**=यह **महत्**=महनीय—महत्त्वपूर्ण **अरुस्राणम्**=फोड़े को पकाकर मल को पृथक् करनेवाली औषध है। **पृथिव्याः**=पृथिवी से यह खोदकर निकाली गई है। **तत्**=वह औषध **आस्रावस्य**=मल को क्षरित करने की **भेषजम्**=औषध है, **उ तत्**=और यह **रोगम् अनीनशत्**=रोग को नष्ट करती है। २. पृथिवी को खोदकर निकाली गई यह 'अरुस्राण' औषध आस्राव के द्वारा रोग को शान्त कर देती है। यही इसका महत्त्व है। 'पृथिवी से खोदकर निकाली गई' ये शब्द इस भाव को सुव्यक्त करते हैं कि यह जितना अधिक भूगर्भ में स्थित होती है, उतनी ही अधिक गुणकारी होती है।

भावार्थ—पर्वतमूल की पृथिवी से खोदकर निकाली गई 'अरुस्राण' औषध फोड़े को पकाकर मल के आस्राव के द्वारा रोग को शान्त करनेवाली है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—(**आस्राव**)-**भेषजम्** ॥ छन्दः—**त्रिपदास्वराडुपरिष्टान्महाबृहती** ॥

जल व ओषधियाँ कल्याणकर हों

शं नो भवन्त्वप ओषधयः शिवाः।
इन्द्रस्य वज्रो अप हन्तु रक्षस आराद्विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम्॥ ६॥

१. **नः**=हमारे लिए **अपः**=जल **शं भवन्तु**=शान्ति देनेवाले हों। **ओषधयः शिवाः**=ओषधियाँ कल्याणकर हों। शरीर में जब किसी प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाए तो जल व ओषधियों का समुचित प्रयोग हमारे लिए शान्ति व कल्याणकारक हो। २. परन्तु इससे भी अच्छा तो यह है कि **इन्द्रस्य**=इन्द्र का **वज्रः**=वज्र **रक्षसः**=राक्षसों को **अपहन्तु**=हमसे सुदूर विनष्ट करे। 'इन्द्र' शब्द जितेन्द्रिय पुरुष का वाचक है और 'वज्र' का भाव क्रियाशीलता से है। जितेन्द्रिय पुरुष की क्रियाशीलता राक्षसों को—रोगकृमियों को पनपने ही नहीं देती। रोगकृमि राक्षस हैं—अपने रमण के लिए हमारा क्षय करनेवाले हैं। इन **रक्षसाम्**=रोगकृमियों के **विसृष्टाः इषवः**=छोड़े हुए

बाण **आरात् पतन्तु**=हमसे दूर ही गिरें। इन रोगकृमियों के कारण उत्पन्न होनेवाले विविध विकार ही इनसे छोड़े गये इषु हैं। ये इषु हमसे दूर ही रहें। इन रोगकृमियों के कारण हममें विकार उत्पन्न न हों। इसके लिए आवश्यक है कि जलों व ओषधियों का प्रयोग ठीक हो।

भावार्थ—जलों व ओषधियों का प्रयोग हमारे लिए शान्ति व कल्याण देनेवाला हो। हम क्रियाशील बने रहें, जिससे विकार उत्पन्न ही न हों।

विशेष—इस सूक्त में मुख्यरूप से पर्वत से बहनेवाले जल के उत्तम औषध होने का उल्लेख है (१)। इस जल से उत्पन्न औषध फोड़े को पकाकर उसके मल के आस्राव से रोग को शान्त करनेवाली है। जलों व औषधों का ठीक प्रयोग कल्याणकर है, परन्तु क्रियाशीलता सर्वाधिक कल्याण करनेवाली है (६)।

अगले सूक्त का ऋषि 'अथर्वा'—डाँवाडोल न होनेवाला है। यह जङ्गिड़मणि के धारण से दीर्घायुत्व को प्राप्त करता है। जमति=जो हमें खा जानेवाला रोग है, उसे 'गिरति' यह निगल लेता है, इससे इसे 'जङ्गिड़' कहा है। शरीर में सर्वोत्तम धातु होने से इसे मणि का नाम दिया गया है, अतः यह 'जङ्गिड़मणि' वीर्य ही है। इसे 'अथर्वा' धारण करता है।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जङ्गिडमणिः** ॥ छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

दीर्घायुत्व व रमणीयता

दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम्॥ १॥

१. **वयम्**=हम **विष्कन्धदूषणम्**=शोषण को दूषित करनेवाली (स्कन्द् शोषणे) **जङ्गिडं मणिम्**=शरीरस्थ वीर्यशक्ति को **बिभृमः**=धारण करते हैं। **सदैव**=सदा ही **दक्षमाणाः**=वृद्धि करने की कामना करते हुए हम इस शक्ति को धारण करते हैं (हेतौ शानच्) **अरिष्यन्तः**=हिंसित न होते हुए हम इस शक्ति को धारण करते हैं। इस शक्ति के धारण से हमारी रोगादि से किसी प्रकार की हिंसा नहीं होगी और हम सभी दृष्टिकोणों से वृद्धि प्राप्त करेंगे। २. हम इस शक्ति का धारण **दीर्घायुत्वाय**=दीर्घजीवन के लिए करते हैं। '**मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्**'—इसके नाश से मृत्यु और इसके धारण से जीवन है। **बृहते रणाय**=बड़ी रमणीयता के लिए अथवा शब्दशक्ति के लिए हम इसका धारण करते हैं। इस वीर्यशक्ति के रक्षण से शरीर के स्वास्थ्य के कारण रमणीयता प्राप्त होती है और वाणी में शक्ति बनी रहती है। इसके रक्षण के अभाव में वाणी की शक्ति में भी न्यूनता आ जाती है।

भावार्थ—हम वीर्य को शरीर में ही बाँधते हैं जिससे (क) दीर्घायुष्य प्राप्त हो, (ख) शरीर में स्वास्थ्य की रमणीयता बनी रहे और शब्दशक्ति में निर्बलता न आये, (ग) हम रोगों से हिंसित न हों, (घ) हमारी शक्तियों का वर्धन हो, (ङ) शोषण से हम पीड़ित न हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जङ्गिडमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शारीर व मानस रोगों से बचाव

जङ्गिडो जम्भाद्विशराद्विष्कन्धादभिशोचनात्।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः॥ २॥

१. **जङ्गिडः**=शरीर-भक्षक रोगों को निगल जानेवाली यह वीर्यशक्ति **जम्भात्**=आलस्य के कारण आनेवाली जम्हाइयों (yawning) से, **विशरात्**=अङ्गों के टूटनेरूप (splitting) रोग से,

विष्कन्धात्=(स्कन्ध to collect) अङ्गों के गठन के टूटने से—अङ्गों की अदृढ़ता से तथा **अभिशोचनात्**=मानस शोक (depression) से **पातु**=हमें बचाये। वीर्यरक्षण से हमें आलस्य नहीं घेरता, अङ्ग-भङ्ग-सा अनुभव नहीं होता, अङ्ग सुगठित बने रहते हैं और मन में उदासी नहीं आती। २. यह **सहस्रवीर्यः मणिः**=अनन्त शक्तिवाली वीर्यरूप मणि **नः**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **परिपातु**=रक्षित करे।

भावार्थ—वीर्यरक्षण से हम शारीर व मानस—दोनों प्रकार के रोगों से ऊपर उठते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जङ्गिडमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'विश्वभेषज' मणि

अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्त्रिणः। अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः ॥ ३ ॥

१. **अयम्**=यह वीर्यरूप मणि **विष्कन्धम्**=अङ्गों के गठन के टूटने को **सहते**=अभिभूत करती है, अङ्गों को सुगठित बनाती है। **अयम्**=यह **अत्त्रिणः**=शरीर-भक्षक कृमियों को **बाधते**=पीड़ित करके दूर करती है। वीर्यरक्षण से शरीर में रोगकृमि प्रबल नहीं हो पाते। २. **अयं जङ्गिडः**=शरीर-भक्षक रोगकृमियों को नष्ट करनेवाली यह जङ्गिडमणि (वीर्यशक्ति) **विश्वभेषजः**=सब रोगों की औषध है। यह हमें **अंहसः पातु**=पापों से बचाये। वीर्यरक्षण से शरीर के ही दोष दूर नहीं होते, यह मानस दुर्भावनाओं को भी दूर करके हमें पापों से बचाता है। यह वीर्यरक्षण शरीर व मन दोनों को ही नीरोग बनाता है।

भावार्थ—यह वीर्य 'विश्वभेषज' मणि है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जङ्गिडमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवों से दत्त 'मणि'

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा। विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥ ४ ॥

१. दिव्य गुणों के पनपने से यह वीर्य शरीर में सुरक्षित रहता है, अतः कहते हैं कि इस मणि को मानो हमें देवों ने ही प्राप्त कराया है। आसुरभाव जागे और इस मणि का विनाश हुआ। **देवैः दत्तेन**=देवों से दी गई, अर्थात् दिव्य भावनाओं द्वारा शरीर में रक्षित हुई-हुई **मयोभुवा**=नीरोगतारूप कल्याण को उत्पन्न करनेवाली **जङ्गिडेन मणिना**=शरीर-भक्षक रोगों को निगल जानेवाली इस वीर्यरूप मणि से, **व्यायामे**=उचित व्यायाम (Exercise, शरीरश्रम) करके हम **विष्कन्धम्**=अङ्गों के गठन के शैथिल्यरूप रोग को तथा **सर्वा रक्षांसि**=अपने रमण के लिए हमारा क्षय करनेवाले सब रोगकृमियों को **सहामहे**=पराभूत करते हैं। २. वीर्यरक्षण के लिए व्यायाम एक प्रमुख साधन है। शारीरिक श्रम न करनेवाले के लिए इसका रक्षण सम्भव नहीं होता, अतः 'व्यायाम' के महत्त्व को भी हमें पूर्णतया समझना चाहिए। इस वीर्यरक्षण के लिए दूसरा साधन दिव्य गुणों का विकास है। अशुभ विचार वीर्यरक्षा के लिए बड़े घातक होते हैं। इसी दृष्टिकोण से इस मणि को 'देवों से दी गई' ऐसा कहा गया है। 'व्यायाम व शुभ विचार' वीर्यरक्षा के महान् साधन हैं।

भावार्थ—व्यायाम व शुभ विचारों से वीर्यरक्षण करते हुए हम सब रोगों से ऊपर उठें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जङ्गिडमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शण और जङ्गिड

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम्।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥ ५ ॥

१. जङ्गिडमणि का भाव हम विस्तार से देख चुके हैं। यहाँ उसके साथ 'शण' का भी समावेश हो गया है। मन्त्र में प्रार्थना है कि **शणः च जङ्गिडः च**=शण और जङ्गिड ये दोनों मिलकर **मा**=मुझे **विष्कन्धात्**=अङ्गों से सुगठित होने के अभावरूप रोग से **अभिरक्षताम्**=रक्षित करें। इनके द्वारा मेरे अङ्ग सुगठित बने रहें। २. **अन्यः**=इनमें से एक 'शण' **अरण्यात् आभृतः**=अरण्य से अपने अन्दर धारण किया जाता है और **अन्यः**=दूसरा 'जङ्गिड' मणि **कृष्याः**=खेती से उत्पन्न अन्नादि के **रसेभ्यः**=रसों से शरीर में पुष्ट होता है। शरीर में पुष्ट होनेवाला जङ्गिडमणि है और 'शण' मन में धारण किया जाता है। यह शण=त्यागभाव है (शण=to give) जिसका पोषण 'अरण्य' से होता है। अरण्य का भाव यहाँ एकान्त प्रदेश है। एकान्त में बैठकर संसार के स्वरूप का चिन्तन करने पर मनुष्य में अवश्य ही यह त्यागवृत्ति उत्पन्न होती है। यह त्यागवृत्ति मन को उसी प्रकार स्वस्थ बनाती है जैसेकि वीर्यशक्ति शरीर को। एवं, शण व जङ्गिड एक-दूसरे के सहायक होते हैं। शरीररक्षण के लिए मानस स्वास्थ्य भी अत्यन्त आवश्यक है।

भावार्थ—त्यागवृत्ति व वीर्यरक्षण हमें सब विघटनों से बचाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जङ्गिडमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कृत्या व अराति-दूषण

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ ६ ॥

१. 'कृञ् हिंसायाम्' धातु से 'कृत्या' शब्द बनता है (कृणोति= Kill)। **अयं मणिः**=यह वीर्यरूप जङ्गिड मणि **कृत्यादूषिः**=हिंसा को दूषित=दूर करनेवाली है। इसके शरीर में धारण से शरीर रोगों से हिंसित नहीं होता। २. **अथ उ**=और निश्चय से यह मणि **अरातिदूषिः**=शत्रुभूत रोगों को दूर करनेवाली है। 'अराति' का ठीक अर्थ 'न देना' है। गतमन्त्र में वर्णित 'शण' मणि अराति को दूषित करनेवाली—अत्यागवृत्ति को नष्ट करनेवाली है। ३. **अथ उ**=और निश्चय से **जङ्गिडः**=वीर्यरूप मणि **सहस्वान्**=सब रोगों को पराभूत करनेवाली है। रोगों को दूर करके यह **नः**=हमारी **आयूंषि**=आयुओं को **प्रतारिषत्**=खूब दीर्घ करे।

भावार्थ—वीर्यरक्षण से हम रोगकृमियों द्वारा होनेवाली हिंसा से बचते हैं और अत्याग की वृत्ति से ऊपर उठते हैं। यह वीर्यमणि हमारे जीवन को दीर्घ करती है।

विशेष—यह सूक्त वीर्यरक्षण के महत्त्व को बड़ी सुन्दरता से व्यक्त करता है। अगले सूक्त में इस वीर्यरक्षक 'इन्द्र' का चित्रण है। यह तपस्वी बनकर वीर्यरक्षा करता है, अतः भृगु है और चित्तवृत्ति को डाँवाडोल नहीं होने देता, इसलिए 'आथर्वण' है। इसे प्रभु उपदेश देते हैं—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदुपरिष्टाद्बृहती** ॥

सोमरक्षण के उपाय व लाभ

इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिभ्याम्।
पिबा सुतस्य मतेरिह मधोश्चकानश्चारुर्मदाय॥ १ ॥

१. **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! (क) **जुषस्व**=तू प्रीतिपूर्वक प्रभु का उपासन कर और (ख) **प्रवह**=अपने कर्त्तव्यभार का वहन कर (ग) **शूरः**=कामादि शत्रुओं का हिंसन करनेवाला तू **हरिभ्याम्**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों के साथ **याहि**=मार्ग पर आगे बढ़। २. इन उपायों से तू **इह**=इस शरीर में **सुतस्य**=उत्पन्न किये गये सोम का, जो सुरक्षित होने पर **मतेः**=

बुद्धि का वर्धन करनेवाला है और **मधोः**=स्वभाव को मधुर बनानेवाला है, **पिब**=पान कर—इसे शरीर में ही सुरक्षित कर। सोमपान के द्वारा तू **चकानः**=ज्ञान से दीप्त बनता है और **चारुः**=सशक्तता से यज्ञादि कर्मों में चरणशील बनता है तथा तेरा जीवन मद व हर्ष के लिए होता है। **चकानः**=(कम् to wish) इसकी रक्षा की तू कामनावाला बन, **चारुः**=इसका अपने अन्दर ही चरण (भक्षण) करनेवाला हो, **मदाय**=शरीर में सुरक्षित हुआ यह सोम तेरे हर्ष के लिए होगा।

भावार्थ—सोमरक्षण के तीन साधन हैं—(क) प्रभु की उपासना, (ख) कर्त्तव्यभार-वहन, (ग) कर्मों में लगे रहना। सुरक्षित हुए सोम के तीन लाभ हैं—(क) बुद्धि-वर्धन, (ख) स्वभाव-माधुर्य, (ग) उल्लास।

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडुपरिष्टाद्बृहती** ॥

प्रकाश, उल्लास, शुभ शब्द

इन्द्र॑ ज॒ठरं॑ न॒व्यो न पृ॒णस्व॒ मधो॑र्दि॒वो न।
अ॒स्य सु॒तस्य॒ स्व१॒॑र्णोप॑ त्वा॒ मदाः॑ सु॒वाचो॒ अगुः॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **नव्यो न**=(नवनं नवः तत्र साधु) स्तुति में उत्तम पुरुष के समान तू **जठरम्**=अपने जठर को—अन्दर के भाग को (Interior of any thing) **मधोः**=इस भोजन के सारभूत सोम से **पृणस्व**=तृप्त कर। २. **दिवः न**=प्रकाश के समान—जैसे कोई व्यक्ति ज्ञानज्योति से अपने को पूरित करता है, उसी प्रकार तू **अस्य सुतस्य**=इस उत्पन्न हुए सोम का पान करनेवाला बन। शरीर में खपाया हुआ यह सोम तेरे जीवन को जहाँ मधुर (मधोः) बनाएगा, वहाँ यह उसे (दिवः) प्रकाशमय बनानेवाला भी होगा। ३. इस सोम का रक्षण होने पर **त्वा**=तुझे **स्वः न**=स्वर्गलोक की भाँति **मदाः**=उल्लास तथा **सुवाचः**=उत्तम वाणियाँ **उपअगुः**=समीपता से प्राप्त होंगी। स्वर्गलोक में सभी का जीवन उल्लासमय होता है। वहाँ अशुभ शब्दों का प्रयोग नहीं होता। सोम का रक्षण करनेवाला भी उल्लासमय व शुभवक्ता होता है। देवता भी तो सोमपान करने से ही ऐसे बने हैं।

भावार्थ—प्रभुस्तवन करते हुए हम सोमपान करेंगे तो हमारा जीवन प्रकाशमय, उल्लासयुक्त और शुभ शब्दों का प्रकाशक होगा।

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती** ॥

'वृत्र व वल' का विनाश

इन्द्र॑स्तुरा॒षाण्मि॒त्रो वृ॒त्रं यो ज॒घान॑ य॒तीर्न।
बि॒भेद॑ व॒लं भृ॒गुर्न स॑सहे॒ शत्रू॒न्मदे॒ सोम॑स्य॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **सोमस्य मदे**=सोम के मद में—सोमरक्षण से उत्पन्न उल्लास में **शत्रून् ससहे**=कामादि शत्रुओं का पराभव करता है, **तुराषाट्**=त्वरा से शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है। शत्रुओं के पराभव के द्वारा **मित्रः**=अपने को रोगों से बचाता है। २. इन्द्र वह है जो **यतीः न**=यतियों के समान **वृत्रं जघान**=वासना का संहार करता है और **भृगुः न**=तपस्या की अग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाले के समान **वलं बिभेद**=वलासुर को विदीर्ण करता है। 'वल' वह आसुरी वृत्ति है जो शान्ति पर पर्दा-सा (Veil) डाल देती है। यह ईर्ष्या-द्वेष की वृत्ति है। इन्द्र **वृत्र**=कामवासना व **वल**=ईर्ष्या-द्वेष दोनों से ही ऊपर उठता है।

भावार्थ—इन्द्र सोम का शरीर में ही रक्षण करता है और काम व ईर्ष्या आदि आसुर

भावनाओं को पराभूत करता है।

ऋषिः—भृगुराथर्वणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगतीपुरोविराट्त्रिष्टुप् ॥

आत्मशासन व संग्राम-विजय

आ त्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः।
श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय॥ ४॥

१. हे **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **सुतासः**=ये उत्पन्न हुए सोमकण **त्वा आविशन्तु**=तुझमें प्रवेश करें। **कुक्षी पृणस्व**=तू अपनी दोनों कोखों को इनसे प्रीणित करनेवाला हो। **विड्ढि**=(विध शासने) तू अपने पर शासन करनेवाला बन। प्रभु कहते हैं कि **शक्र**=सोमपान के द्वारा शक्तिशाली बने हुए इन्द्र! तू सोमपान के द्वारा तीव्र बनी हुई **धिया**=बुद्धि से **नः आयाहि**=हमारे समीप प्राप्त हो। **हवं श्रुधी**=हृदयस्थ मेरी वाणी को सुन। **मे गिरः**=मेरी वेदज्ञानरूपी वाणियों को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर और **इह**=इसी जीवन में **महे रणाय**=महान् संग्राम के लिए—काम-क्रोधादि शत्रुओं को पराजित करने के लिए **स्वयुग्भिः**=आत्मतत्त्व से मेलवाली इन इन्द्रियों से **मत्स्व**=आनन्द का अनुभव कर। इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुख करने पर ही इन संग्रामों में विजय सम्भव होती है।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें। हृदयस्थ प्रभु की वाणी को सुनें। इन्द्रियों को निरुद्ध करने का प्रयत्न करें। कामादि के साथ होनेवाले महान् संग्राम में पराजित न हों।

ऋषिः—भृगुराथर्वणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

इन्द्र के उत्कृष्ट कार्य

इन्द्रस्य नु प्र वोचं वीर्या॑णि यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम्॥ ५॥

१. **नु**=अब **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **वीर्याणि**=शक्तिशाली कर्मों को **प्रावोचम्**=प्रकर्षेण कहता हूँ, **यानि**=जिन **प्रथमानि**=विस्तारवाले कर्मों को **वज्री**=क्रियाशील पुरुष **चकार**=करता है। इन्द्रियों को वश में रखनेवाला ही इन्द्र है। यह सोम=वीर्य का रक्षण करता है—यही इसका सोमपान है। इससे इसके सब अङ्ग सबल बनते हैं। इसका हृदय विशाल होता है। इसप्रकार इस इन्द्र के कार्य शक्तिशाली व विशालता को लिये हुए होते हैं। २. इसका सर्वमहान् कार्य तो यह है कि **अहिम् अहन्**=(आहन्ति इति) चारों ओर से आक्रमण करनेवाली वासना को नष्ट करता है और **अनु**=इस वासना को नष्ट करने के ही अनुपात में **अपः**=शरीरस्थ रेतःकणों को **ततर्द**=(set free) वासना-जनित उष्णता से मुक्त करता है—सदा शान्त सोमवाला बनता है। इसप्रकार यह इन्द्र **पर्वतानाम्**=पाँच पर्वोंवाली (अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः) अविद्याओं के **वक्षणाः**=प्रवाहों (rivers) को **प्र-अभिनत्**=नष्ट कर डालता है। जितेन्द्रियता से वासना नष्ट होती है, शरीरस्थ रेतःकण वासनामुक्त होते हैं और अविद्या के प्रवाह नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष शक्तिशाली व विशालतायुक्त कार्यों को करता है। वह वासना को नष्ट करके सोम का रक्षण करता है और उससे दीप्त ज्ञानाग्निवाला बनकर अविद्या के प्रवाहों को समाप्त कर देता है।

ऋषि:—**भृगुराथर्वण:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

समुद्र-गमन

अह॒न्नहिं॒ पर्व॑ते शिश्रिया॒णं त्वष्टा॑स्मै॒ वज्रं॑ स्व॒र्यं॑ ततक्ष।
वा॒श्राइ॑व धे॒नव॒: स्यन्द॑माना॒ अञ्ज॑: समु॒द्रमव॑ जग्मु॒राप॑: ॥ ६ ॥

१. गतमन्त्र में वर्णित इन्द्र **पर्वते शिश्रियाणम्**=अविद्या-पर्वत में निवास करनेवाली **अहिम्**=समन्तात् विनाश करनेवाली वासना को **अहन्**=नष्ट करता है। **त्वष्टा**=ज्ञानदीप्त प्रभु **अस्मै**=इस इन्द्र के लिए **स्वर्यम्**=उत्तम प्रकाशवाली **वज्रम्**=क्रियाशीलता को **ततक्ष**=बनाता है, अर्थात् यह इन्द्र गतिशील होता है और इसकी गतिशीलता प्रकाशमय होती है—इसके सब कर्म ज्ञानपूर्वक होते हैं। इन कर्मों में सतत लगे रहने से ही यह वासना को विनष्ट कर पाता है। २. इस वासना के विनष्ट होने पर **धेनव:**=ज्ञान-दुग्ध देनेवाली वेदवाणीरूप गौएँ **वाश्रा: इव**=शब्द करती हुई—कर्त्तव्य का ज्ञान देती हुई **स्यन्दमाना:**=इसकी ओर गतिवाली होती हैं। इन वेदवाणियों से कर्त्तव्य का ज्ञान प्राप्त करके **आप:**=ये क्रियाशील प्रजाएँ **अञ्ज:**=साक्षात् **समुद्रम्**=(स-मुद्) आनन्दमय प्रभु की ओर **अवजग्मु:**=गतिशील होती हैं, अर्थात् ये प्रजाएँ प्रभु को प्राप्त होती हैं।

भावार्थ—इन्द्र अविद्यामूलक वासना को नष्ट करता है। प्रभु इसे प्रकाशमय क्रियाशीलता प्राप्त कराते हैं। इसे वेदवाणी प्राप्त होती है। उसके अनुसार कर्म करता हुआ यह इन्द्र आनन्दमय प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषि:—**भृगुराथर्वण:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

सायक 'वज्र'

वृ॒षा॒यमा॑णो अवृणीत॒ सोमं॒ त्रिक॑द्रुकेष्वपिबत्सु॒तस्य॑।
आ साय॑कं म॒घवा॑दत्त॒ वज्र॒मह॑न्नेनं प्रथम॒जामही॑नाम् ॥ ७ ॥

१. **वृषायमाण:**=शक्तिशाली की भाँति आचरण करता हुआ इन्द्र **सोमं अवृणीत**=सोम का वरण करता है। शरीर में सोम के रक्षण से ही वह शक्तिशाली बनता है। शक्तिशाली बनने के लिए यह **सुतस्य**=शरीर में उत्पन्न हुए सोम का **त्रिकद्रुकेषु**=(कदि आह्वाने) तीनों आह्वान कालों में—तीनों प्रार्थना-समयों में अथवा जीवन-यज्ञ के तीन सवनों में **अपिबत्**=पान करता है। प्रथम चौबीस वर्षों के प्रात:सवन में, अगले चवालीस वर्षों के माध्यन्दिन सवन में, अन्तिम अड़तालीस वर्षों के सायन्तनसवन में यह इस सोम-पान का ध्यान रखता है। वीर्य का रक्षण ही इसका सोमपान है। सामान्य भाषा में यह बाल्य, यौवन और वार्धक्य—इन तीन कालों में वीर्यरक्षण का ध्यान करता है। २. **मघवा**=सोम-रक्षण से शक्तिशाली बना हुआ ज्ञानैश्वर्यशाली यह इन्द्र **सायकम्**=कामादि शत्रुओं का अन्त करनेवाले **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को **आ अदत्त**=हाथ में ग्रहण करता है और **एनम्**=इस **अहीनाम्**=नाशक वासनाओं के **प्रथमजाम्**=प्रथम स्थान में होनेवाली इस कामवासना को **अहन्**=नष्ट कर डालता है। कामवासना ही सर्वमुख्य शत्रु है। क्रियाशीलता से इसका विनाश होता है। क्रिया में लगा हुआ पुरुष इसका शिकार नहीं होता। यही इन्द्र के द्वारा वृत्र का विनाश है।

भावार्थ—सोमरक्षण से ही शक्ति प्राप्त होती है। हमें जीवन-यज्ञ के तीनों सवनों में इस सोम का पान (रक्षण) करना है। इसके लिए आवश्यक है कि सदा क्रिया में लगे रहकर हम वासना को नष्ट कर डालें।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त में सोम के रक्षण के उपायों तथा लाभों का प्रतिपादन हुआ है। इस

सोम का रक्षण करनेवाला ही राष्ट्र का अधिपति बनकर राष्ट्र का सब प्रकार से रक्षण करता है। यह गतिशील होने से 'शौनक' कहलाता है।

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**शौनकः (सम्पत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञानप्रसार

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या।
सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः॥ १॥

हे **अग्ने**=राष्ट्र की उन्नति के कारणभूत राजन्! **त्वा**=तुझे **समाः**=सुख-दुःख में समवृत्ति से रहनेवाले **ऋतवः**=बड़ी नियमित गतिवाले (ऋ गतौ), ऋतुओं के अनुसार नियमित चाल से चलनेवाले, **संवत्सराः**=उत्तम निवासवाले **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **वर्धयन्तु**=बढ़ानेवाले हों। इन ऋषियों से दिये गये **यानि**=जो **सत्या**=सत्यज्ञान हैं, वे तेरा वर्धन करें। २. तू स्वयं तो इन ऋषियों से सत्यज्ञान प्राप्त करके **दिव्येन रोचनेन**=दिव्यप्रकाश से **दीदिहि**=प्रकाशित हो—चमकनेवाला बन और राष्ट्र में भी सर्वत्र शिक्षणालयों की व्यवस्था के द्वारा ज्ञान का प्रसार करते हुए **विश्वाः**=सब **चतस्रःप्रदिशः**=चारों प्रकृष्ट दिशाओं को **आभाहि**=पूर्णरूप से दीप्त करनेवाला हो। राजा का प्रथम कर्त्तव्य यही है कि राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार करे, इसके राष्ट्र में कोई अविद्वान् न हो।

भावार्थ—राजा के पुरोहित 'समवृत्ति के, नियमित गतिवाले व उत्तम जीवनवाले' हों। इनसे राजा को दिव्य दीप्ति प्राप्त हो। राजा राष्ट्र में सर्वत्र ज्ञान-प्रसार की व्यवस्था करे।

ऋषिः—**शौनकः (सम्पत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

राष्ट्र-सौभाग्य-वर्धन

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च तिष्ठ महते सौभगाय।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये॥ २॥

१. हे **अग्ने**=राजन् ! तू स्वयं **च**=भी **सम् इध्यस्व**=समिद्ध हो, दीप्त हो, ज्ञान की दीप्ति से चमकनेवाला बन, **च**=और **इमम्**=अपने इस प्रजाजन को भी **प्रवर्धय**=प्रकर्षेण बढ़ानेवाला हो। **च**=और तू **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिए **उत्तिष्ठ**=उन्नत स्थिति में स्थित हो। राजा का निजू जीवन जितना ऊँचा होता है, उतना ही वह राष्ट्र के सौभाग्य का वर्धन करनेवाला होता है। राजा को देखकर ही प्रजाजन का जीवन बनता है—'यथा राजा तथा प्रजा'। हे राजन्! **ते उपसत्तारः**=तेरे समीप उठने-बैठनेवाले लोग **मा रिषन्**=हिंसित न हों। सबका रक्षण तेरा धर्म है। इसके साथ यह भी आवश्यक है कि हे **अग्ने**=राष्ट्र के अग्रणी राजन्! **यशसः ब्रह्माणः**=यशस्वी ज्ञानी पुरुष ही **ते**=तेरे (उपसत्तारः सन्तु) समीप उठने-बैठनेवाले हों। इन्हीं का सङ्ग व परामर्श तुझे प्राप्त हो, **मा अन्ये**=इनसे भिन्न केवल स्वार्थी, खुशामदी व्यक्तियों से तू न घिरा रहे।

भावार्थ—राष्ट्रोन्नति राजा का धर्म है। राजा का निजू जीवन उत्तम हो उसे यशस्वी ज्ञानी पुरुषों का ही सत्सङ्ग व परामर्श प्राप्त हो, खुशामदी और स्वार्थी पुरुष इसे न घेरे रहें।

ऋषिः—**शौनकः (सम्पत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सदा जागरित=जागृवि

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवा नः।
सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद्भव स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन्॥ ३॥

१. **हे अग्ने**=अग्रणी राजन्! **इमे ब्राह्मणाः**=ये ज्ञानी पुरुष **त्वां वृणते**=तेरा वरण करते हैं और वे चाहते हैं कि हे **अग्ने**=राजन्! **नः संवरणे**=हमसे संवृत्त (घिरा) हुआ तू **शिवः भव**=कल्याण स्वभाववाला तथा राष्ट्र का कल्याण करनेवाला हो। ज्ञानी ब्राह्मणों की शुभ मति में चलता हुआ राजा उत्तम जीवनवाला व राष्ट्र का कल्याण करनेवाला होगा ही। २. हे **अग्ने**=राजन्! तू **सपत्नहा**=शत्रुओं का हनन करनेवाला—शरीर का पति=स्वामी बनने की कामनावाला हो, रोग सपत्न हैं, उन्हें नष्ट करनेवाला हो, **अभिमातिजित्**=मन में उत्पन्न हो जानेवाले अभिमान को भी तू जीतनेवाला **भव**=हो। ३. **स्वे गये**=अपने राष्ट्ररूप गृह में **अप्रयुच्छन्**=किसी प्रकार का प्रमाद न करता हुआ तू **जागृहि**=सदा जागनेवाला हो। राजा शरीर में नीरोग तथा मन में निरभिमान बनकर राष्ट्ररूप घर के रक्षण में सदा अप्रमत्त रूप से जागरित हो।

भावार्थ—ज्ञानी ब्राह्मणों से संवृत्त राजा नीरोग व निरभिमान बनकर राष्ट्र का उत्तम रक्षण करता है।

ऋषिः—**शौनकः (सम्पत्कामः)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाऽऽर्षीपङ्क्तिः** ॥

राष्ट्र-रक्षण

क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व।
सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=सेना का संचालन करनेवाले राजन्! **स्वेन क्षत्रेण**=अपने राष्ट्र रक्षक क्षत्रीय वर्ग के साथ **सं रभस्व**=तू राष्ट्र-रक्षण के लिए सम्यक् उद्योगवाला हो। **मित्रधाः**=अपने मित्रों का धारण करनेवाला तू हे **अग्ने**=राजन्! **मित्रेण यतस्व**=अपने मित्रों के साथ मिलकर राष्ट्र-रक्षण के लिए यत्नशील हो। कई बार प्रबल शत्रु से राष्ट्र-रक्षण के प्रसंग में मित्रों की सहायता लेनी आवश्यक ही होती है। २. **सजातानाम्**=साथ ही विकास करनेवाले, समान आयुष्यवाले **राज्ञाम्**=राजाओं में तू **मध्यमेष्ठाः**=मध्य में स्थित होनेवाला हो, अर्थात् यदि कभी ऐसे दो राजाओं में कुछ संघर्ष पैदा हो जाए तो तू उनका झगड़ा निबटानेवाला बन। हे **अग्ने**=राजन्! तू **विहव्यः**=विशेषरूप से पुकारने योग्य होता हुआ **इह**=इस राष्ट्र में **दीदिहि**=चमकनेवाला हो। राजा की प्रतिष्ठा में राष्ट्र प्रतिष्ठित होता है। राजा की उन्नति से राष्ट्र की उन्नति आंकी जाती है।

भावार्थ—सेना के उत्तम संचालन से राजा राष्ट्र की रक्षा करे। समान राजाओं में यह मध्यस्थता करने की योग्यतावाला हो। इसके कारण राष्ट्र की कीर्ति बढ़े।

ऋषिः—**शौनकः (सम्पत्कामः)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

सबलता व सम्पन्नता

अति निहो अति स्रिधोऽत्यचित्तीरति द्विषः।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=राजन्! तू राष्ट्र में **निहः**=(निहन्ति इति) औरों का वध करनेवालों को **अति (तर)**=लाँघनेवाला हो। उन्हें उचित दण्ड आदि देकर राष्ट्र में इन वध के अपराधों को समाप्त करनेवाला हो। **स्रिधः**=(कुत्सित कर्मणि) अन्य कुत्सित कर्म करनेवालों को तू **अति (तर)**=समाप्त कर। **अचित्तीः**=अज्ञानियों को **अति (तर)**=ज्ञान-प्रसार के द्वारा समाप्त करनेवाला हो। **द्विषः**=सब द्वेष करनेवालों को **अति (तर)**=तू दूर कर। ठीक बात तो यह है कि **हि**=निश्चय से **विश्वा दुरिता तर**=सब बुराइयों को तू राष्ट्र से दूर करनेवाला हो। २. इसप्रकार राष्ट्र के अपराधों व अशुभ वृत्तियों को दूर करके **त्वम्**=तू **अथ**=अब **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सहवीरम्**=वीरता के

साथ **रयिम्**=धन **दाः**=दे। राजा का यह भी कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र में ऐसी व्यवस्था करे कि उसके राष्ट्र में सब वीर तथा सम्पन्न हो। निर्बलता व निर्धनता को दूर करना भी राजा का आवश्यक कर्त्तव्य है।

भावार्थ—राजा राष्ट्र से बुराइयों का उन्मूलन करके सबको सबल व सम्पन्न बनाए।

विशेष—सूक्त में कहा है—राजा राष्ट्र में सर्वत्र ज्ञान का प्रसार करे (१)। वह राष्ट्र के सौभाग्य का वर्धन करनेवाला हो (२)। राष्ट्ररक्षण में सदा जागरित रहे (३)। राष्ट्र को शत्रुओं से आक्रान्त न होने दे (४)। राष्ट्र में सभी को सबल व सम्पन्न बनाए (५)।

अगले सूक्त में द्वेष के कारणभूत आक्रोश को दूर करने का सन्देश है। सब आक्रोशों से ऊपर उठनेवाला यह मन पूर्ण प्रभुत्ववाला 'अथर्वा' (डाँवाडोल न होनेवाला) बनता है और प्रार्थना करता है कि—

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (दूर्वा)**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

'शपथयोपनी' वीरुत्

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत्सर्वान्मच्छपथाँ अधि॥ १॥

१. सामान्यतः वानस्पतिक भोजन सौम्यता को उत्पन्न करनेवाला व मांस-भोजन क्रूरवृत्ति को उत्पन्न करनेवाला है। वानस्पतिक भोजन में भी सात्त्विक, राजस् व तामस् भेद से भिन्नता है ही। इनमें वनस्पतियों के फल-मूल का संकेत करने के लिए यहाँ 'वीरुत्' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह एक लता विशेष है जो काटने पर और अधिक फैलती है (A plant which grows after being cut)। यह **अघद्विष्टा**=पाप से अप्रीति करनेवाली है। इसके प्रयोग से अन्तःकरण शुद्ध वृत्तिवाला बनता है। उसमें पाप की रुचि नहीं होती, **देवजाता**=(देवानां जातं यस्याः) दिव्य गुणों का यह विकास करनेवाली है। **वीरुत्**=यह लता **शपथयोपनी**=आक्रोशों को दूर करनेवाली है। २. यह **मत्**=मुझसे **सर्वान् शपथान्**=सब आक्रोशों को **अधि**=अधिक्येन **प्र अनैक्षीत्**=ऐसे धो डालती है **इव**=जैसेकि **आपः**=जल **मलम्**=मलों को धो डालता है।

भावार्थ—लताओं के फूल-फल का प्रयोग करने से हममें आक्रोश की वृत्ति उत्पन्न नहीं होती।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (दूर्वा)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

तीन शाप

यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः।
ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात्सर्वं तन्नो अधस्पदम्॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार मैं तो शपथ आदि की भाषा का प्रयोग करूँ ही नहीं **च**=और **यः सापत्नः शपथः**=जो शत्रुओं से दिया गया शाप है **यः च**=और जो **जाम्याः**=किसी भी कुलीन स्त्री व बहिन आदि से दिया गया **शपथः**=शाप है या कभी **यत्**=जो **ब्रह्मा**=कोई ज्ञानी पुरुष **मन्युतः**=हमारी ग़लती पर क्षणिक क्रोधावेश से **शपात्**=शाप देता है, **तत् सर्वम्**=वह सब **नः अधस्पदम्**=हमारे पाँवों के तले हो, वह हमारे पाँव से कुचला जाए। इसका हमपर कोई प्रभाव न हो। हम इसके कारण उत्तेजित न हो उठे। २.शत्रुओं को दिये गये शाप को हम स्वाभाविक ही समझें। जब वह हमारा शत्रु है, तो अशुभ कहेगा ही। स्त्री किसी कारण से क्रुद्ध हो कुछ कह बैठती है तो वह भी सहना ही चाहिए। ब्रह्मा ने जो कुछ कठोर कहा दिया तो आत्मनिरीक्षण

करते हुए अपनी कमी को देखने और उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। क्रोध में आकर उत्तर देना तो ठीक है ही नहीं, ऐसी वृत्ति बनाने के लिए वीरुत् का प्रयोग साधन बनता है।

भावार्थ—हम अपशब्दों का उत्तर अपशब्दों में न दें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (दूर्वा)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सहस्त्रकाण्ड' वीरुत्

दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम्। तेन सहस्त्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः॥ ३॥

१. प्रस्तुत 'वीरुत्' का **मूलम्**=मूल **दिवः अवततम्**=आकाश से नीचे की ओर आता है और **पृथिव्याः अधि उत्ततम्**=पृथिवी से ऊपर फैलता है। इसप्रकार यह वीरुत् शतशः तनों-(काण्डों)-वाली हो जाती है। ऊपर की शाखाएँ ही नीचे आकर भूमि में मूल का रूप धारण कर लेती हैं और उन मूलों पर से फिर शाखाएँ फूट निकलती हैं। इसप्रकार यह वीरुत् फैलती चली जाती है। दूर्वा का स्वरूप ऐसा ही है। यह दूर्वा पवित्र भी कहलाती है। यह यज्ञिय तो है ही। यज्ञवेदि को इससे आस्तीर्ण करते हैं। २. तेन **सहस्त्रकाण्डेन**=उस सहस्त्रों काण्डोंवाली वीरुत् से **नः**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **परिपाहि**=रक्षित कीजिए। इसके प्रयोग से हम शान्तवृत्ति के बन सकते हैं।

भावार्थ—सहस्त्रकाण्ड वीरुत् का प्रयोग हमें क्रोध की वृत्ति से ऊपर उठाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (दूर्वा)**॥ छन्दः—**विराडुपरिष्टाद्बृहती**॥

अराति व अभिमाति से ऊपर

परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद्धनम्।
अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः॥ ४॥

१. यज्ञीय वीरुत् का प्रयोग करनेवाले **माम्**=मुझे **परि (पाहि)**=रक्षित कीजिए। **मे प्रजाम्**=मेरी प्रजा को **परि (पाहि)**=रक्षित कीजिए **नः यत् धनम्**=हमारा जो ज्ञान और शान्तिरूप धन है, उसे **परि पाहि**=सर्वथा रक्षित कीजिए। २. ज्ञान व शान्ति के अपनानेवाले **नः**=हम लोगों को **अरातिः**=शत्रु **मा तारीत्**=पराभूत न करे तथा **अभिमातयः**=अभिमान की वृतियाँ **नः**=हमें **मा तारिषुः**=अभिभूत करनेवाली न हों। हम अराति व अभिमाति से ऊपर उठकर चलें। **अरातिः**=न देने की वृत्ति—कृपणता और अभिमान हमें वशीभूत न कर लें।

भावार्थ—हम सात्त्विक आहार से शुद्ध-सत्त्व बनकर अ-दान व अभिमान से ऊपर उठें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (दूर्वा)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सुहार्त् न कि दुर्हार्त्

शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त्तेन नः सहः। चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि॥ ५॥

१. अभिमान के कारण मुनष्य प्रायः क्रोध में आ जाता है। कृपणता भी मनुष्य के हृदय को मलिन करती है। अभिमान व कृपणता से ऊपर उठकर हम शुभ हृदयवाले बनें। क्रोध में आकर शाप-वचन बोलनेवालों को शाप में उत्तर न दें। **शपथः**=उस क्रुद्ध पुरुष से बोला गया दुर्वचन **शप्तारम्**=आक्रोशक के पास ही **एतु**=लौट जाए। यः **सुहार्त्**=जो शुभ हृदयवाला है **तेन नः सह**=उससे हमारा साथ हों। वस्तुतः शाप का उत्तर शाप में न देते हुए हम उस शाप देनेवाले के हृदय को भी बदलने में समर्थ हों। वह भी सारी कटुता को छोड़कर, शुभ हृदयवाला बनकर हमारे समीप प्राप्त हो। २. **चक्षुर्मन्त्रस्य**=आँख से कुटिल मन्त्रणा करनेवाले **दुर्हार्दः**=दुष्ट हृदयवाले पुरुष के **पृष्टीः अपि**=पसलियों को भी हम **शृणीमसि**=शीर्ण कर दें। शान्ति की विचारधारा

में 'पसलियों को भी तोड़ दें'। इन शब्दों का प्रयोग विचित्र-सा लगता है, 'परन्तु शान्ति का भाव निर्बलता नहीं है' इसके स्पष्टीकरण के लिए यह आवश्यक ही है। विवशता में बल-प्रयोग आवश्यक हो जाता है, कटु शब्दों का प्रयोग आवश्यक नहीं है। मधुरता और निर्बलता पर्यायवाची नहीं है।

भावार्थ—हम क्रोध में अपशब्दों का उत्तर अपशब्दों में न दें। हम दुर्हाद् पुरुष का पराभव करनेवाले हों।

विशेष—इस सूक्त में हृदय को उत्तम बनाकर गाली का उत्तर गाली में न देने का विधान है। शान्त रहने का प्रयत्न ही ठीक है। शान्ति में ही वास्तविक शक्ति है।

अब यह 'अथर्वा' अपना ठीक से परिपाक करता हुआ भृगु बनता है (भ्रस्ज पाके)। अपना ठीक परिपाक करता हुआ 'आङ्गिरस' होता है। इसका एक-एक अंग रसमय होता है। यह शरीर को एकदम नीरोग बनाने में समर्थ होता है। इसकी आराधना निम्न प्रकार से है—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—क्षेत्रिय-(यक्ष्मकुष्ठादि)-नाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सूर्य व चन्द्र

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके। वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम्॥ १॥

१. **भगवती**=प्रकाश व ज्योत्स्नारूप ऐश्वर्यवाले, **विचृतौ**=रोगों का हिंसन करनेवाले **नाम**=प्रसिद्ध **तारके**=सूर्य और चन्द्र जो रोगों को तारनेवाले हैं, वे **उद् आगाताम्**=उदित हुए हैं। ये सूर्य और चन्द्र **क्षेत्रियस्य**=सामान्यत: परक्षेत्र में चिकित्स्य=(पुत्र-पौत्रादि के शरीर में चिकित्स्य) रोग के **अधमम्**=अधरकाय में आश्रित और **उत्तमम्**=ऊर्ध्वकाय में आश्रित **पाशम्**=पाश को **विमुञ्चताम्**=छुड़वा दें। सूर्य-चन्द्र की किरणों में सचमुच इसप्रकार की शक्ति है कि वे क्षेत्रिय रोगों को दूर कर दें। इनकी किरणों को जितना भी शरीर पर लिया जा सके लेना चाहिए। शरीर पर पड़नेवाली सूर्य-किरणें स्वर्ण के इंजैक्शन्स कर रही होती हैं। चन्द्र-किरणों में अमृत भरा है एवं इनसे रोगों का दूर करना सम्भव ही है। सूर्य-चन्द्र किरणों के सम्पर्क में रहने का भाव यथासम्भव घर के बाहर खुले में रहने से है। जितना खुले मे रहेंगे, जितना बाह्य जीवन (out door life) होगा, उतना ही इस क्षेत्रिय रोगों से बचे रहेंगे। घर में बैठे रहनेवालों को ही ये रोग पीड़ित करते हैं।

भावार्थ—सूर्य व चन्द्र की किरणों को शरीर पर लेने से क्षेत्रिय रोगों के पाश से मुक्ति मिल सकती है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—क्षेत्रिय-(यक्ष्मकुष्ठादि)-नाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

रात्रि की समाप्ति पर

अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः। वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ २॥

१. **इयम्**=यह उषाकालवाली **रात्री**=रात्रि **अप उच्छतु**=अन्धकार को दूर करदे। जिस प्रकार जाती हुई रात्रि अन्धकार को नष्ट करती है, उसी प्रकार अन्धकार की भाँति आवरक इस क्षेत्रिय व्याधि को भी यह दूर करे। वस्तुत: क्षेत्रिय रोगों की चिकित्सा का काल यही होता है, जबकि रात्रि जा रही होती है और उषा आ रही होती है। २. **अभिकृत्वरीः**=कर्तनशील-अपस्मार आदि रोगों के कारणभूत कृमि भी **अप उच्छन्तु**=दूर चले जाएँ और **क्षेत्रियनाशनी**=क्षेत्रिय रोगों को दूर करनेवाली **वीरुत्** [illegible] **क्षेत्रियम्**=इस क्षेत्रिय रोग को **अप उच्छतु**=दूर

करनेवाली हो।

भावार्थ—रात्रि की समाप्ति और उषा का आरम्भ क्षेत्रिय रोगों की चिकित्सा का समय है। इस समय क्षेत्रियनाशनी वीरुत् का प्रयोग क्षेत्रिय रोगों के कृमियों को नष्ट करनेवाला है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**क्षेत्रिय-(यक्ष्मकुष्ठादि)-नाशनम्** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

यवतुष+तिलपिञ्जी

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या।
वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ ३॥

१. **बभ्रोः**=कपिल वर्णवाले, **अर्जुनकाण्डस्य**=श्वेतकाण्ड—डण्ठल—(तने)-वाले **यवस्य**=जौ के **पलाल्या**=तुष के साथ तथा **तिलस्य तिलपिञ्ज्या**=तिल की मञ्जरी के साथ यह **वीरुत्**=ओषधिभूत लता **क्षेत्रियनाशनी**=क्षेत्रिय रोगों को दूर करनेवाली है। यह **क्षेत्रियम्**=क्षेत्रिय रोग को **अप उच्छतु**=दूर करे। २. क्षेत्रिय नाशनी वीरुत् के सहायक तत्त्व दो हैं, (क) **भूरे**=श्वेत डण्ठलवाले जौ का तुष, (ख) तिल की मञ्जरी। सायण के अनुसार '**बभ्रोः अर्जुनकाण्डस्य**' का सम्बन्ध यव के साथ नहीं है। भूरे वर्ण के अर्जुनवृक्ष के तने का अंश, यव का तुष तथा तिलपिञ्जी—ये तीन वस्तुएँ क्षेत्रिय रोग-नाशिनी वीरुत् की सहायक बनती हैं।

भावार्थ—अर्जुनवृक्ष के काण्ड (तने) का अंश, यव का तुष तथा तिलपिञ्जी आदि के प्रयोग से क्षेत्रिय रोग दूर हो सकता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**क्षेत्रिय-(यक्ष्मकुष्ठादि)-नाशनम्** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥

'लाङ्गल, ईषा व युग'

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः। वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ ४॥

१. गतमन्त्र में वर्णित ओषधियों को उत्पन्न करने में उपकरण बननेवाले **लाङ्गलेभ्यः**=हलों (Plough) के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं। ये हल **ते**=तेरे रोगशमन में परम्परागत कारण बनते हैं। **ईषा**=लाङ्गलदण्ड (Pole) व **युगेभ्यः**=जुए (yoke) के लिए भी **नमः**=हम आदर का भाव धारण करते हैं। इन उपकरणों के द्वारा भूमि से उत्पन्न हुई **वीरुत्**=बेल **क्षेत्रियनाशनी**=क्षेत्रिय रोगों को नष्ट करनेवाली है। यह क्षेत्रिय रोग को **अप उच्छतु**=दूर करनेवाली हो।

भावार्थ—ओषधियों के उत्पादन में उपकरणभूत 'लाङ्गल, ईषा व युग' आदि का उचित आदर करना चाहिए। उन्हें ठीक रखते हुए उचित रूप में उपयुक्त करना ही उनका आदर है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**क्षेत्रिय-(यक्ष्मकुष्ठादि)-नाशनम्** ॥ छन्दः—**निचृत्पथ्यापङ्क्तिः** ॥

सनिस्रसाक्ष, सन्देश्य, क्षेत्रपति

नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः सन्देश्ये[भ्यः]।
नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ ५॥

१. **सनिस्रसाक्षेभ्यः**=(स्रंस्=to go, अक्ष=Axle-pole या कार) खूब गतिशील अक्षदण्ड या गतिशील गाड़ियों के लिए, जिनमें कृषि से उत्पन्न सामान को इधर-उधर ले-जाते हैं, **नमः** नमस्कार हो। **सन्देश्येभ्यः**=इन अन्नों के सन्देशवाहकों के लिए—इन औषध-द्रव्यों के गुणों का प्रचार करनेवालों के लिए **नमः**=नमस्कार हो। **क्षेत्रस्य पतये**=क्षेत्र के पति के लिए, जो इन ओषधियों को उत्पन्न करता है, **नमः**=नमस्कार हो। २. इसप्रकार उत्पन्न की गई, यथास्थान पहुँचाई गई और जिनके गुणों का ज्ञान दिया गया है, वह **क्षेत्रियनाशनी**=क्षेत्रिय रोग को नष्ट करनेवाली **वीरुत्**=लता **क्षेत्रियम्**=क्षेत्रियरोग को **अप उच्छतु**=नष्ट करनेवाली हो।

भावार्थ—क्षेत्रपति को उचित आदर देना है, उसकी गाड़ियों को ठीक रखना है। औषध-द्रव्यों के गुणों का सन्देश देनेवालों के लिए भी उचित आदर हो।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में क्षेत्रिय रोगों को दूर करने के लिए सूर्य-चन्द्र के सम्पर्क में रहने का विधान है (१)। तीसरे मन्त्र में अर्जुनवृक्ष, यवतुष् तथा तिलपिञ्जी को क्षेत्रिय रोग का नाशक बताया है। अगले सूक्त में ग्राही=गठिया को दूर करने के लिए दशवृक्ष का उल्लेख है।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

सन्धिवात-चिकित्सा

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय॥ १ ॥

१. हे **दशवृक्ष**=दशवृक्षों के मेल से बनाये जानेवाले 'दशमूल' नामक औषध! **इमम्**=इस पुरुष को **रक्षसः**=इस अत्यन्त राक्षसी—सब रमणों—आनन्दों का क्षय करनेवाली—**ग्राह्याः**=अङ्गों को जकड़ लेनेवाली ग्राही (गठिया) नामक बीमारी से **अधिमुञ्च**=मुक्त करो, **या**=जो बीमारी **एनम्**=इसे **पर्वसु जग्राह**=पर्वों में—जोड़ों में—पकड़े हुए है। २. **अथ उ**=और अब इसे रोगमुक्त करके हे **वनस्पते**=शरीर का रक्षण करनेवाली औषध! **तू एनम्**=इसे **जीवानां लोकम्**=जीवित पुरुषों के लोक में **उन्नय**=उत्कर्षेण प्राप्त करा। रोगग्रस्त होकर यह इधर-उधर जाने में असमर्थ हो गया था। इसे रोगमुक्त करके समाज में फिर से ठीक विचरण करनेवाला बना दो।

भावार्थ—दशवृक्षों के मूल से उत्पन्न 'दशमूल' औषध संधिवात को दूर करके हमें समाज में आने-जाने के योग्य बना दे।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रोगमुक्ति के परिणाम

आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात्।
अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः॥ २ ॥

१. **अयम्**=औषध-प्रयोग से रोगमुक्त हुआ-हुआ यह पुरुष **आगात्**=समन्तात् गतिवाला हुआ है। **उद् आगात्**=यह उत्कृष्ट गतिवाला हुआ है। **जीवानां व्रातं अपि**=जीवों के समूह में भी **आगात्**=आया है—सभा-समाज में आने-जाने लग गया है। २. इतना ही नहीं **उ**=और—विवाहित होकर यह **पुत्राणां पिता अभूत्**=पुत्रों का पिता हुआ है **च**=और **नृणां भगवत्तमः**=मनुष्यों में उत्तम ऐश्वर्यवाला हुआ है। रोगपीड़ित अवस्था में इसका आना-जाना रुका हुआ था, लेटा ही रहता था। विवाहित होने का प्रश्न ही नहीं था, धनार्जन के कामों को कर सकना सम्भव न था। अब ठीक होकर यह सब-कुछ करने लगा है।

भावार्थ—'ग्राही' रोग ने इसे समाज में आने-जाने से रोक रक्खा था। यह विवाहित होने योग्य भी न लगता था, कुछ कमाना इसके लिए सम्भव ही न था। अब औषध-प्रयोग से रोग से ऊपर उठकर यह समाज में आने-जाने लगा है, पिता बना है और धनार्जन कर पाया है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मस्तिष्क व शरीर का स्वास्थ्य।

अधीतीरध्यगादयमधि जीवपुरा अगन्। शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः॥ ३ ॥

१. **हि**=निश्चय से **अस्य**=इस ग्राहीरोग के **शतं भिषजः**=सैकड़ों वैद्य हैं **उत**=और **सहस्रम्**=हज़ारों **वीरुधः**=(विरुन्धन्ति विनाशयन्ति रोगान्) रोगनाशक औषध हैं, अर्थात् यह ग्राहीरोग ऐसा भयंकर व डरने योग्य नहीं। **अयम्**=यह व्यक्ति स्वस्थ होकर **अधीतिः**=अध्ययन करने योग्य सब वस्तुओं का **अध्यगात्**=स्मरण करने लगा है और **जीवपुराः**=जीवितों के नगरों में **अधि अगन्**=आने-जाने लगा है, अर्थात् इसके सब व्यवहार साधारणतया ठीक से होने लगे हैं। २. रोग की अवस्था में व्याकुलता के कारण यह कुछ भी नहीं कर पा रहा था। अब इसका मस्तिष्क व शरीर दोनों ठीक से कार्य करने लगे हैं। मस्तिक के ठीक हो जाने के कारण यह ठीक से पढ़ने-लिखने लगा है और शरीर के स्वस्थ हो जाने से यह नगरों में आने-जाने लगा है।

भावार्थ—ग्राहीरोग के औषधों व चिकित्सकों की कमी नहीं। यह रोगी ठीक होकर मस्तिष्क व शरीर से ठीक रूप में कार्यों को करने लगा हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

देव, ब्रह्मा, वीरुध

देवास्ते चीतिमविदन्ब्रह्माण उत वीरुधः।
चीतिं ते विश्वे देवा अविदन्भूम्यामधि॥ ४॥

१. **देवाः**=सूर्य-चन्द्रादि देव **ते**=तेरे **चीतिम्**=संवरण को (चीव्+ति=संवरण) **अविदन्**=जानते हैं, अर्थात् इन देवों के सम्पर्क में रहने से यह ग्राहीरोग नष्ट हो जाता है। 'चीति' शब्द 'चिति' के स्थान में प्रयुक्त मानकर यह अर्थ भी किया जा सकता है कि ये देव तेरी अन्त्येष्टि की चिता (funeral pyre) को जानते हैं। इसीप्रकार **ब्रह्माणः**=ज्ञानी वैद्य **उत**=और **वीरुधः**=रोगनाशक लताएँ तेरी चिति को जानते हैं, अर्थात् तेरा नाश करने में समर्थ हैं। २. **भूम्याम् अधि**=इस पृथिवी पर **विश्वेदेवाः**=सब ज्ञानी पुरुष **ते चीतिम्**=तेरे विनाश को **अविदन्**=जानते हैं, तेरे नाश के उपाय को जानते हुए वे तुझे नष्ट करते हैं।

भावार्थ—सूर्यादि देव, ज्ञानी वैद्य व कई लताएँ इस ग्राहीरोग को नष्ट करती हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सर्वमहान् वैद्य' प्रभु

यश्चकार स निष्करत्स एव सुभिषक्तमः।
स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद्भिषजा शुचिः॥ ५॥

१. **यः चकार**=जो प्रभु इस संसार को बनाते हैं और इसमें जीवों को कर्मानुसार दण्ड देते हुए ग्राही आदि रोगों को भी उत्पन्न करते हैं, **सः निष्करत्**=वे प्रभु ही रोग को दूर भी करते हैं। प्रभुकृपा से ही रोगों का विनाश हुआ करता है। **सः एव**=वे प्रभु ही **सु-भिषक्तमः**=सर्वमहान् वैद्य हैं। '**भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि**' (ऋ० २.३३.४) २. **सः एव**=वे प्रभु ही **तुभ्यम्**=तेरे लिए **भिषजा**=वैद्यों के द्वारा **भेषजानि कृण्वत्**=औषधों को करता है। वैद्य निमित्त बनता है, चिकित्सक तो प्रभु ही हैं। वे प्रभु ही रोगमुक्त करनेवाले हैं। रोगरहित करनेवाले प्रभु **शुचिः**=हमें निर्मल शरीर व मन के देनेवाले हैं। वे हमारे शरीरों व मनों का शोधन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सर्वमहान् वैद्य हैं। वैद्य को माध्यम बनाकर प्रभु ही हमें रोगमुक्ति व शुचिता प्रदान करते हैं।

विशेष—इस सूक्त में ग्राही रोग की चिकित्सा का उल्लेख हुआ है। इस प्रसंग

में 'दशवृक्ष' का उल्लेख प्रथम मन्त्र में है (१)। अन्तिम मन्त्र में प्रभु-स्मरण करते हुए उत्तम वैद्य के परामर्श से रोगनाशक वीरुधों के प्रयोग का विधान है (५)। अगले सूक्त में भी शरीर व मानस व्याधियों को दूर करने का प्रसङ्ग है—

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान के द्वारा निर्दोषता

क्षेत्रियात्त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ १॥

१. **क्षेत्रियात्**=क्षय+कुष्ठ आदि दोष से दूषित, माता-पिता के शरीर से पुत्रादि के शरीर में संक्रान्त हुए क्षय+कुष्ठ आदि रोग से, **निर्ऋत्या**=रोगनिमित्तभूत पाप से, **जामिशंसात्**=बन्धु-बान्धवों के आक्रोशजनित कष्ट से, **द्रुहः**=द्रोहवृत्ति से और **वरुणस्य पाशात्**=अनृतवादी को जकड़ लेनेवाले वरुण के पाशों से [ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः], **त्वा**=तुझे **मुञ्चामि**=मुक्त करता हूँ। २. **त्वा**=तुझे **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **अनागसं कृणोमि**=निष्पाप करता हूँ। ज्ञान के द्वारा हमारे दोष व पाप नष्ट होते हैं। उनके नाश से शरीर के रोग भी दूर हो जाते हैं। ज्ञान के अभाव में ही चराचर-विषयक ग़लतियाँ होती हैं और शरीर में दोष उत्पन्न हो जाते हैं। ज्ञान होने पर **उभे**=ये दोनों **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक **ते**=तेरे लिए **शिवे**=कल्याणकर **स्ताम्**=हों। द्युलोक से पृथिवीलोक तक सब पदार्थों की अनुकूलता होने पर किसी प्रकार के कष्ट नहीं होते। इनकी अनुकूलता के लिए ज्ञान आवश्यक है—**'स्वस्ति द्यावा-पृथिवी सुचेतुना'**—उत्तम ज्ञान से द्यावापृथिवी कल्याणकर होते हैं।

भावार्थ—ज्ञान से सब पदार्थों का ठीक प्रयोग होने पर सब दोष व रोग नष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाष्टिः** ॥

गरमपानी व वानस्पतिक भोजन

शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं सोमः सहौषधीभिः।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ २॥

१. हे रुग्ण पुरुष! **ते**=तेरे लिए **अद्भिः सह**=जलों के साथ **अग्निः शम्**=अग्नि सुखकर **अस्तु**=हो। यदि पीने के लिए गरम पानी का प्रयोग किया जाए तो अग्नि और जल का साथ-साथ प्रयोग प्रायः सब रोगों को नष्ट कर देता है। समान्य नियम यही रहना चाहिए कि पीने के लिए गरम पानी व स्नान करने के लिए ठण्डा। स्नान में प्रयुक्त हुआ ठण्डा जल एक उत्तम टानिक का काम करता है। स्पंजिंग-विधि से तौलिये से रगड़कर किया गया स्नान रुधिराभिसरण के लिए अत्युत्तम है। इससे सारा स्नायु-संस्थान जीवित हो उठता है। २. **ओषधिभिः सह**=वानस्पतिक भोजन के साथ **सोमः**=उत्पन्न हुआ-हुआ सोम तेरे लिए **शम्**=शान्तिकर हो। ओषधियाँ प्रायः शीतवीर्य होने से सोम के शरीर में सुरक्षित होने में सहायक हो जाती हैं। मांसादि भोजन और अधिक अग्निपाक भोजन उष्णवीर्य होने से सोमरक्षण में सहायक नहीं होते। ३. **एव**=इसप्रकार (क) जलों के साथ गरम पानी के प्रयोग से तथा (ख) ओषधियो में उत्पन्न सोम से **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे क्षेत्रिय रोगादि से जनित कष्टों से मुक्त करता हूँ। (शेष प्रथम मन्त्र के समान)।

भावार्थ—पीने के लिए गरम जल का प्रयोग तथा खाने के लिए वानस्पतिक भोजनों के द्वारा हम रोगों व अशुभ मानस वृत्तियों को दूर कर सकते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाधृतिः** ॥

वायु व चारों दिशाएँ

शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छं ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ ३॥

१. **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में गति करनेवाला यह **वातः**=वायु **ते**=तेरे लिए **शम्**=शान्तिकर हो और **वयः**=दीर्घायुष्य को **धात्**=करे। शुद्धवायु दीर्घायु का कारण बनती ही है। सदा शुद्ध वायु में श्वास लेने से रोग होने की सम्भावना ही नहीं रहती। 'अन्तरिक्षे' शब्द का प्रयोग यह संकेत कर रहा है कि शुद्ध वायु मन की प्रसन्नता का भी मूल बनती है। जैसे अन्तरिक्ष में वायु निरन्तर चल रही है, इसीप्रकार हृदयान्तरिक्ष में भी धर्म का संकल्प कभी सुप्त नहीं होना चाहिए। २. **ते**=तेरे लिए **चतस्रः**=चारों **प्रदिशः**=प्रकृष्ट दिशाएँ **शम् भवन्तु**=शान्ति देनेवाली हों। ये 'प्राची, प्रतीची, अवाची, उदीची, नामवाली दिशाएँ तुझे क्रमशः 'आगे बढ़ने (प्र अञ्च् गति), इन्द्रियों को विषयों से लौटाने, (प्रति अञ्च) नम्रता अव अञ्च तथा ऊर्ध्व गति=उन्नतिपथ पर चलने उद् अञ्च का उपदेश करती हुई तेरी वास्तविक शान्ति का कारण बनें। ३. **एव**=इसप्रकार (क) अन्तरिक्ष में चलनेवाली वायु से हृदयान्तरिक्ष में कर्म की प्रेरणा लेने के द्वारा तथा (ख) दिशाओं से प्रगति, प्रत्याहार, प्रश्रय (विनय) व उन्नति का पाठ पढ़ने के द्वारा **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे क्षेत्रियादि रोगों से जनित कष्टों से मुक्त करता हूँ। [शेष पूर्ववत्]।

भावार्थ—हृदय में कर्मसंकल्प तथा प्रगति, प्रत्याहार, प्रश्रय व प्रकर्ष (उन्नति) का भाव हमें रोगों व द्रोहादि अशुभ वृत्तियों से बचाता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाधृतिः** ॥

वायुप्रवाह व सूर्यप्रकाश

इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ ४॥

१. **याः**=जो **इमाः**=ये **देवीः**=प्रकाशमय व सब व्यवहारों की साधक **चतस्रः**=चार **प्रदिशः**=प्रकृष्ट दिशाएँ हैं, वे दिशाएँ जोकि **वातपत्नीः**=वायुरूप पतिवाली हैं, अर्थात् वायु जिनकी रक्षा करती है और **सूर्यः**=सूर्य **अभिविचष्टे**=जिन्हें समन्तात् प्रकाशित करता है। २. **एव**=इसप्रकार **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे वायु के प्रवाहवाली व सूर्य के प्रकाशवाली दिशाओं के द्वारा क्षेत्रिय आदि रोगों से जनित कष्टों से मुक्त करता हूँ। तेरा घर इसप्रकार का होगा कि वहाँ वायु का प्रवाह ठीक से आता हो तथा सूर्य की किरणें खूब प्रकाश प्राप्त कराती हों। ऐसे घर में रोगों का प्रकोप नहीं होता। [शेष पूर्ववत्]।

भावार्थ—वायु की गतिवाली व सूर्य के प्रकाशवाली दिशाएँ स्वास्थ्य के लिए सहायक होती हैं।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—सप्तपदाधृतिः ॥

यक्ष्म व निर्ऋति का निराकरण

तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ ५॥

१. **तासु**=ऊपर के मन्त्र में वर्णित वायुप्रवाह व सूर्य प्रकाशवाली दिशाओं के **अन्तः**=अन्दर हे रुग्ण-पुरुष! **त्वाम्**=तुझे **जरसि आदधामि**=जरा में स्थापित करता हूँ, अर्थात् सदा इन दिशाओं में जीवन यापन का अवसर देते हुए मैं तुझे जरापर्यन्त नीरोग रखते हुए सौ वर्ष के आयुष्यवाला करता हूँ। २. ऐसे स्थान में रहने से **यक्ष्मः**=तेरा राजयक्ष्मादि क्षेत्रिय रोग **प्रैतु**=तुझे छोड़कर चला जाए। **निर्ऋतिः**=तेरे रोग की निदानभूत पापदेवता **पराचैः**=पराङ्मुखी होकर दूर चली जाए। ३. **एव**=इसप्रकार खुले स्थान में निवास के द्वारा **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे क्षेत्रिय आदि रोगों से **मुञ्चामि**=मुक्त करता हूँ। [शेष पूर्ववत्]।

भावार्थ—खुले स्थान में निवास हमें रोगों से बचाए और दीर्घ जीवन प्राप्त कराए।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—सप्तपदात्यष्टिः ॥

दुरित, अवद्य, द्रोहादि से मुक्ति

अमुक्था यक्ष्माद्दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ ६॥

१. हे रुग्ण! तू **यक्ष्मात्**=क्षेत्रिय व्याधि से **अमुक्थाः**=मुक्त हो गया है। उपरले मन्त्रों में दिये गये निर्देशों को क्रियारूप में लाने से तू इन रोगों से छूट गया है। **दुरितात्**=निर्ऋति से—बहुत भारी पाप से मुक्त हुआ है, **अवद्यात्**=जामि आदि के अभिशंसनरूप निदान से तू छूट गया है। **द्रुहः**=द्रोहवृत्ति तुझसे दूर हो गई है। **पाशात्**=पापियों के निग्राहक वरुण के पाश से तू छूट गया है **च**=तथा **ग्राह्याः**=अंगों को जकड़ लेनेवाले सन्धिवात से भी तू **उद् अमुक्थाः**=मुक्त होकर बाहर आ गया है। **एव**=इसप्रकार **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे क्षेत्रियादि रोगों से जनित कष्टों से मुक्त करता हूँ। [शेष पूर्ववत्]।

भावार्थ—मन्त्र-वर्णित साधनों का प्रयोग करते हुए हम 'यक्ष्म, दुरित, अवद्य, द्रोह, वरुण-पाश तथा ग्राही' से मुक्त हो जाएँ।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—सप्तपदाधृतिः ॥

कृपणता का त्याग व सुख

अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ ७॥

१. **अरातिम्**=न देने की वृत्ति को (रा दाने) **अहाः**=तूने छोड़ दिया है। तू दान की वृत्तिवाला बना है। कृपणता से ऊपर उठकर तू उदार हुआ है, परिणामतः तूने **स्योनम्**=सुख को **अविदः**=पाया है और **भद्रे**=कल्याण व सुखवाले **सुकृतस्य**=पुण्य के **लोके**=लोक में **अपि अभूः**=तेरा निवास हुआ है। २. व्याकरण के अनुसार यहाँ 'अपि' शब्द 'पद के अर्थ' में आया

है, अतः यहाँ जीवन-निवासादि पदार्थ ही अभिप्रेत हैं। इस भूलोक में तेरा चिरकाल निवास, अर्थात् दीर्घ जीवन हुआ है। ३. **एव**=इसप्रकार 'अ+रातिः'=अदान की भावना को छोड़ने के कारण **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे क्षेत्रिय आदि रोगों व तज्जनित कष्टों से मुक्त करता हूँ। [शेष पूर्ववत्]।

भावार्थ—हम अदानवृत्ति से ऊपर उठकर रोगों व पापों से मुक्त हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाधृतिः** ॥

सूर्य व ऋत

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ ८॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **तमसः**=अज्ञान अन्धकार से तथा **ग्राह्याः**=सन्धिवात आदि जकड़ लेनेवाले रोगों से और **एनसः**=पापों से **अधिमुञ्चन्तः**=अपने को मुक्त करते हुए **सूर्यम्**=मस्तिष्क में ज्ञान-सूर्य को तथा **ऋतम्**=व्यवहार में ऋत को—प्रत्येक क्रिया को नियमितरूप से करने को **निः असृजन्**=निश्चय से उत्पन्न करते हैं। मस्तिष्क में ज्ञान के सूर्य, हृदय में निष्पापता तथा क्रियाओं (हाथों) में ऋत के होने पर मनुष्य परिपूर्ण जीवनवाला बनता है। २. **एव**=इसप्रकार तमस्, ग्राही व एनस् से मुक्ति के द्वारा **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे क्षेत्रियादि रोगों व तज्जनित कष्टों से मुक्त करता हूँ। [शेष पूर्ववत्]।

भावार्थ—मस्तिष्क में तमस् न हो, शरीर में ग्राही न हो तथा मन में एनस् न हो तो जीवन सूर्य व ऋतवाला बनता है।

विशेष—इस सारे सूक्त में क्षेत्रिय रोगों से, निर्ऋति से, जामिशंस से, द्रोह से तथा वरुण के पाश से मुक्ति के साधनों का उल्लेख हुआ है। अगले सूक्त का ऋषि शुक्र है—शुचितावाला व वीर्यसम्पन्न (शुच् दीप्तौ, शुक्रं वीर्यम्)। वह सब कृत्याओं=दुष्क्रियाओं (यजुः० ३४.११, द०) का दूषण करता हुआ आगे बढ़ता है। यह कृत्यादूषण ही सूक्त की देवता है—

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः [कृत्यादूषणम्]** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाविराड्गायत्री** ॥

मनन, ज्ञान, दोषदहन

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥ १॥

१. अपने में शक्ति का रक्षण अथवा पवित्रता का आधान करनेवाले हे शुक्र! तू **दूष्याः**=दोष का **दूषिः**=दूषित करनेवाला **असि**=है, अर्थात् दोषों को दोषों के रूप में देखता हुआ उनकी ओर आकृष्ट होनेवाला नहीं हैं। २. ऐसा तू इस लिए बन पाया हैं चूँकि तू **हेत्याः**=ज्ञान-ज्वालाओं की (Light, Splendour, Flame) **हेतिः**=ज्वाला **असि**=है, अत्यन्त ज्ञानदीप्त होने के कारण ही तू दोषों को दूषित कर पाता है। अज्ञानी को तो ये अपनी ओर आकृष्ट कर ही लेते हैं। ३. ज्ञान-ज्वालाओं को तू अपने में इसलिए दीप्त कर पाया कि तू **मेन्याः**=विचारशीलता का भी **मेनिः**=विचारशील **असि**=बना है। सदा मनन करने के कारण तूने ज्ञान की ज्योति को जगाया और उस ज्ञान-ज्योति में दोषों को दग्ध कर दिया। ४. तेरा यही कर्त्तव्य है कि तू **श्रेयांसम् आप्नुहि**=अपने से अधिक श्रेष्ठ को प्राप्त कर और **समम् अतिक्राम**=बराबरवाले को लाँघ जा। हमें चाहिए

कि श्रेष्ठों के सम्पर्क में आकर हम श्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करें और उन्नति के मार्ग में आगे बढ़ जाने की हममें प्रबल भावना हो। परस्पर स्पर्धा से चलते हुए हम आगे-ही-आगे चलें।

भावार्थ—हम मननशील बनकर ज्ञान-ज्वाला को दीप्त करें और उसमें दोषों को दग्ध कर दें।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः [कृत्यादूषणम्]** ॥ छन्दः—**त्रिपदापरोष्णिक्** ॥

गतिशीलता व दोषों पर आक्रमण

स्रक्त्यो ऽसि प्रतिसरो ऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ २ ॥

१. **स्रक्त्यः**=(स्रक् गतौ, स्रक्तौ गतौ उत्तमः) तू गति में उत्तम **असि**=है। तू कभी भी अकर्मण्य नहीं होता। सदा गतिशील होता हुआ तू अपवित्रता को अपने से दूर रखता है। २. **प्रतिसरः असि**=तू प्रतिदिन गतिशील होता है, प्रत्येक उत्तम बात को लक्ष्य करके उसे अपनाने के लिए आगे बढ़ता है। ३. **प्रति अभिचरणः असि**=मार्गों में आनेवाले विघ्नों व दोषों को तू आक्रान्त करनेवाला है। उन दोषों को आक्रान्त करके ही तू उत्तम गुणों में आगे बढ़ता है। तेरी सारी गति इसी उद्देश्य से ही होती है। ४. इसके लिए तू **श्रेयांसं आप्नुहि**=अपने से श्रेष्ठों को प्राप्त कर और **समम्**=बराबरवालों को **अतिक्राम**=लाँघ जा।

भावार्थ—हम गतिशील हों, सारी गति शुभ गुणों की प्राप्ति के लिए हो। शुभ गुणों की प्राप्ति के लिए हम दोषों पर आक्रमण कर उन्हें पराभूत करनेवाले हों।

अगले मन्त्र में दोषों के अग्रणी काम पर आक्रमण का उल्लेख है—

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः [कृत्यादूषणम्]** ॥ छन्दः—**त्रिपदापरोष्णिक्** ॥

काम-विध्वंस

प्रति तमभि चर योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ३ ॥

१. **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हमसे अप्रीति करता है और **यं वयं द्विष्मः**=जिसे हम नहीं चाहते **तम् प्रति**=उसकी ओर **अभिचर**=आक्रमण करनेवाला हो। प्रभु जीव से कहते हैं कि काम अर्थात् वृत्र ज्ञान का नाश करके मनुष्य को मुझसे दूर करता है। इसप्रकार यह कामदेव 'महादेव' का शत्रु है। महादेव की नेत्र-ज्योति से इसके भस्म होने का उल्लेख है। कामदेव महादेव को नहीं चाहता और महादेव को कामदेव अभिप्रेत नहीं। प्रभु का सखा बननेवाले जीव का यह कर्त्तव्य है कि वह काम पर आक्रमण कर उसे पराभूत करे। इसके लिए चाहिए यह कि यह **श्रेयांसं आप्नुहि**=अपने से श्रेष्ठों को प्राप्त करे और **समम् अतिक्राम**=बराबरवालों को लाँघ जाए।

भावार्थ—प्रभु के अप्रिय 'काम' पर आक्रमण करके हम उसे पराभूत करें और आगे बढ़ें।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः [कृत्यादूषणम्]** ॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृदुष्णिक्** ॥

ज्ञान+शक्ति=शरीर-रक्षण

सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ४ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार काम का विध्वंस करके तू **सूरिः असि**=ज्ञानी बना है। काम ने ही ज्ञान पर पर्दा डाला हुआ था। पर्दा हटा और तेरे ज्ञान का प्रकाश चमक उठा। २. **वर्चोधा असि**=तू अपने में वर्चस् का धारण करनेवाला बना है। कामवासना ही शक्ति को व्ययित [खर्च] करनेवाली थी, उसका विध्वंस होते ही शक्ति का सञ्चय सम्भव हो गया। ३. इसप्रकार मस्तिष्क में ज्ञान व शरीर में शक्ति स्थापित करके **तनूपानः असि**=तू शरीर का ठीक रक्षण करनेवाला बना है। ४. ऐसा बनने के लिए तू **आप्नुहि श्रेयांसम्**=श्रेष्ठों को प्राप्त कर और **समम् अतिक्राम**=बराबरवालों को लाँघ जा।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनें, वर्चस् को धारण करें और इसप्रकार शरीर का रक्षण करें।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः [कृत्यादूषणम्]** ॥ छन्दः—**त्रिपदापरोष्णिक्** ॥

शक्ति व दीप्ति, ज्ञान की वाणियाँ व ज्ञान-ज्योति

शुक्रो ऽसि भ्राजो ऽसि स्व रसि ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥ ५॥

१. **शुक्रः असि**=तू पवित्र व शक्तिशाली बना है। 'काम' ही अपवित्रता व अशक्ति का हेतु था। काम गया, अपवित्रता व अशक्ति भी गई। आज तू **भ्राजः असि**=मानस व शरीर स्वास्थ्य के कारण चमक उठा है। २. **स्वः असि**=(स्वृ शब्दे) तू ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाला है। काम ने ही तो तुझे इनसे विमुख किया हुआ था। इसका विध्वंस तुझे ज्ञान प्रवण बनानेवाला है। ज्ञान-वाणियों का उच्चारण करते हुए तू **ज्योतिः असि**=ज्ञान का प्रकाश ही हो गया है। ज्ञान की वाणियों के उच्चारण से ज्ञान-ज्योति को बढ़ना ही था। ३. ऐसा तू **आप्नुहि श्रेयांसम्**=अपने से श्रेष्ठों को प्राप्त कर और **समम् अतिक्राम**=बराबरवालों को लाँघ जा।

भावार्थ—काम-विध्वंस से मनुष्य शक्तिशाली बनकर चमक उठता है और ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हुए ज्ञान-ज्योतिवाला हो जाता है।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त जीवात्मा को अत्यन्त सुन्दर प्रेरणा दे रहा है। इसके चतुर्थ मन्त्र में इसे 'वर्चोधाः असि' इन शब्दों में यह कहा गया है कि तू शक्ति का धारण करनेवाला है। पाँचवें मन्त्र में तो 'शुक्रः असि' इन शब्दों में यह कह दिया है कि तू शक्ति ही है। अब अगले सूक्त में यह 'भरद्वाज' अपने में वाज=शक्ति को भरनेवाला बन जाता है और वेद के शब्दों में कह उठता है—

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**।

दीप्त पुरुष का दीप्त संसार

द्यावापृथिवी उर्व१न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः।
उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने॥ १॥

१. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक, **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल अन्तरिक्ष **क्षेत्रस्य पत्नी**=(क्षियन्ति निवसन्ति अस्मिन्निति क्षेत्रमुक्तं लोकत्रयम्, तस्य पत्नी अधिपतिः देवता अग्निवायुसूर्यात्मिका—सा०) पृथिवी की देवता अग्नि, अन्तरिक्ष की देवता वायु तथा द्युलोक की देवता सूर्य, **उरुगायः**=(उरुभिः गीयमानः) वह बहुत-से स्तवन किया जाता हुआ **अद्भुतः**=सर्वलोकों को व्याप्त करनेवाला अद्भुत प्रभु **उत**=और **वातगोपाम्**=वायु से रक्षण किया जाता हुआ—वायु से धारण किया जाता हुआ **उरु अन्तरिक्षम्**=यह महा आकाश **ते**=वे सब **इह**=यहाँ **मयि तप्यमाने**=(तप दीप्तौ) मेरे दीप्त होने पर **तप्यन्ताम्**=दीप्त हों। २. वस्तुतः यह सारा संसार हमारा अपना ही प्रतिबिम्ब मात्र है। हम दीप्त हैं तो संसार हमें दीप्त ही दिखता है। मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' अपने में शक्ति भरने से दीप्ति का अनुभव करता है,वही दीप्ति उसे संसार में प्रतिक्षिप्त हुई प्रतीत होती है, उसे सारा संसार ही चमकता दिखता है। निराशावादी का संसार निराशा से भरा व मुर्झाया हुआ होता है। इस आशावादी भरद्वाज का संसार खिला हुआ व दीप्त है।

भावार्थ—मेरा जीवन दीप्त हो और मैं सारे संसार को दीप्तरूप में ही देखूँ।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ।

उत्साह-वर्धन

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति।
पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति॥ २॥

१. हे **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्तियो! **ये**=जो आप **यज्ञियाः स्थ**=पूज्य व संगतिकरण योग्य हो **इदं शृणुत**=हमारी इस प्रार्थना को सुनो कि **भरद्वाजः**=अपने में शक्ति, हविर्लक्षण अन्न (वाज=शक्ति, हवि) को भरनेवाला श्रेष्ठ पुरुष **मह्यम्**=मेरे लिए **उक्थानि**=प्रशंसनीय वचनों को **शंसति**=कहता है। वह मुझे सदा उत्साहवर्धक बातों को कहता हुआ मेरे जीवन को अधिकाधिक दीप्त बनाता है। २. परन्तु **यः**=जो **अस्माकम्**=हमारे **इदं मनः**=इस मन को **हिनस्ति**=नष्ट करता है, अर्थात् जो हमें इस दीप्ति के मार्ग पर चलने में निरुत्साहित करता है, **सः**=वह **पाशे बद्धः**=स्वयं पाशों में जकड़ा हुआ **दुरिते**=मरणरूप दुर्गति में **नियुज्यताम्**=नियुक्त किया जाए। औरों को धर्म-मार्ग से विचलित करता हुआ यह पुरुष स्वयं विषय-पाश में बद्ध हुआ मृत्यु को प्राप्त हो।

भावार्थ—उत्तम पुरुष औरों को भी धर्म-मार्ग पर चलने के लिए उत्साहित करते हैं। 'इनसे विपरीत व्यक्ति दुरित को प्राप्त हों' जिससे वे औरों को पथभ्रष्ट करनेवाले न हों।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ।

अघशंस-व्रश्चन

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्त्वा हृदा शोचता जोहवीमि।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति॥ ३॥

१. हे **सोमप**=मेरे सोम (वीर्य) का रक्षण करनेवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **यत्**=जब **शोचता**=(शुच् to shine, to be pure or clean) दैवी सम्पत्ति से चमकते हुए पवित्र **हृदा**=हृदय से **त्वा**=आपको **जोहवीमि**=पुकारता हूँ तो आप **इदम्**=मेरी इस प्रार्थना को **शृणुहि**=सुनिए। आपकी कृपा से मेरी यह कामना पूर्ण हो कि मैं **तम्**=उस पुरुष को उसी प्रकार **वृश्चामि**=छिन्न कर दूँ **इव**=जैसे कि **कुलिशेन**=वज्र से **वृक्षम्**=वृक्ष को काट डालते हैं, **यः**=जो व्यक्ति **अस्माकम्**=हमारे **इदं मनः**=सोमरक्षण के द्वारा जीवन को दीप्त बनाने की भावना को **हिनस्ति**=नष्ट करता है। २. अघशंस व्यक्ति सोमरक्षण के महत्त्व की भावना को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। वे 'मैथुन आदि को '**प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्**' कहकर इसे स्वाभाविक कहते हैं। बलात् निरोध से स्नायु-संस्थान के विकृत हो जाने का भय है, अतः सोमरक्षण सदा ठीक ही हो ऐसी बात नहीं है'। इसप्रकार जो अघशंस पुरुष हमारी शुभ वृत्ति को नष्ट करना चाहते हैं, उन्हें हम समाप्त कर दें, उनसे अपना सम्बन्ध-विच्छिन्न कर लें।

भावार्थ—हम अघशंस पुरुषों को समाप्त कर दें, अर्थात् उनसे सम्बन्ध न रक्खें, अन्यथा हमारी शुभ वृत्तियों को वे समाप्त कर देंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**आदित्यवस्वङ्गिरसः पितरः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दिव्य तेज

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः।
इष्टापूर्तमवतु नः पितॄणामामुं ददे हरसा दैव्येन॥ ४॥

१. **नः**=हमें **पितॄणाम्**=माता-पिता आदि के उनसे किये जानेवाले **इष्टापूर्तम्**=इष्ट और पूर्त-यज्ञ व वापी, कूप, तडागादि का निर्माण **अवतु**=प्रीणित करनेवाले हों। हम भी अपने

पूर्वजों की भाँति इन इष्ट–पूर्त आदि कार्यों को करनेवाले हों। **अमुम्**=इस इष्ट व पूर्त को मैं **आ ददे**=सर्वथा ग्रहण करता हूँ, जिससे मैं **दैव्येन हरसा**=दिव्य तेज को प्राप्त करनेवाला बन सकूँ। दिव्य तेज के हेतु से मैं इष्टापूर्त को अपनाता हूँ। २. इसलिए मैं भी इष्टापूर्त को अपनाता हूँ कि **तिसृभिः अशीतिभिः**=(अश् व्याप्तौ)=तीनों व्याप्तियों के हेतु से, अर्थात् शरीर, मन व बुद्धि के तेज का मैं अपने में व्यापन कर सकूँ, **सामगेभिः**=साम का गान करने के हेतु से अर्थात् मैं साममन्त्रों से प्रभु का गायन करनेवाला बन सकूँ, **आदित्येभिः**=आदित्यों के हेतु से—मैं गुणों का आदान करनेवाला बनूँ। **वसुभिः**=वसुओं के हेतु से—उत्तम निवासवाला बनूँ और **अङ्गिरोभिः**=अङ्गिरसों के हेतु से, अर्थात् मैं अङ्ग–प्रत्यङ्ग में रसवाला बन पाऊँ। इष्ट व पूर्त आदि कर्मों में लगने का यह परिणाम है कि (क) शरीर, मन व बुद्धि का तेज प्राप्त होता है (ख) प्रभु–उपासना की वृत्ति उत्पन्न होती है, (ग) गुणों के ग्रहण का भाव उत्पन्न होता है, (घ) शरीर में उत्तमता से निवास होता है, (ङ) अङ्ग–प्रत्यङ्ग रसमय बना रहता है और (च) दिव्य तेज प्राप्त होता है।

भावार्थ—इष्ट[१] व पूर्त[२] हमारे शरीर, मन व बुद्धि को तेजस्वी बनाकर हमें दिव्य तेजवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**सोम्यासः पितरः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दीप्ति व शक्ति

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वेदेवासो अनु मा रभध्वम्।
अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता॥ ५॥

१. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **मा अनुदीधीथाम्**=मेरे अनुकूल होकर दीप्त हों। मेरे शरीर में मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान के सूर्य से चमके और पृथिवीरूप शरीर तेजस्विता से दीप्त बने। २. **विश्वेदेवासः**=सब देव **मा अनुरभध्वम्**=मेरे अनुकूल होकर कार्य करनेवाले हों। दिशाएँ मेरे श्रोत्रों को उपश्रुति (श्रवण शक्ति) दें, सूर्य आँखों में दृष्टिशक्ति दे, वायु प्राणशक्ति का वर्धन करे और अग्नि वाणी की शक्ति को दीप्त करे। इसीप्रकार अन्यान्य देवता भिन्न–भिन्न अङ्गों को सशक्त बनानेवाले हों। ३. **अङ्गिरसः**=अङ्गिरस **पितरः**=पितर व **सोम्यासः**=सौम्य—ये सब भी मेरे अनुकूल होकर कार्य करनेवाले हों। अङ्गिरस् मेरे अङ्गों को रसमय बनाएँ, पितर मेरा रक्षण करें व सौम्य मुझे विनीत बनाएँ। ४. इसप्रकार मेरे जीवन में सदा शुभ इच्छाएँ बनी रहें। **अपकामस्य कर्ता**=अशुभ इच्छाएँ करनेवाला व्यक्ति सदा **पापम् आर्छतु**=पाप को प्राप्त करे। अशुभ इच्छाओं का परिणाम 'अशुभ कर्म' तो होगा ही।

भावार्थ—मेरी इच्छाएँ सदा शुभ बनी रहें, जिससे शुभ को करता हुआ मैं चमकूँ और शक्तिशाली बनूँ।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्मद्विट् पुरुषों का निरोध

अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत्क्रियमाणम्।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसन्तपाति॥ ६॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **यः**=जो काम–क्रोधादि **नः**=हमारा शत्रु अतीव **मन्यते**=अपने को बहुत

---

१. अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवञ्च इष्टमित्यभिधीयते॥
२. वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते॥

ही प्रबल मानता है और हमपर आक्रमण करता है **वा**=तथा **यः**=जो **ब्रह्म**=मन्त्रों द्वारा **क्रियमाणम्**=की जाती हुई स्तुतियों को **निन्दिषत्**=निन्दित करता है, **तस्मै**=उसके लिए **तपूंषि**=तप व तापक अस्त्र **वृजिनानि**=बाधक हों। तप के द्वारा काम आदि शत्रुओं को हम दूर कर पाएँ और राजा तापक अस्त्रों द्वारा स्तुति आदि कार्यों की निन्दा व विघात करनेवालों को राष्ट्र में से दूर करे। २. **ब्रह्मद्विषम्**=ज्ञान व प्रभुस्तवन में प्रीति न रखनेवाले को **द्यौः**=ज्ञान का प्रकाश **अभिसन्तपति**=पीड़ित करता है। जैसे उल्लू के लिए सूर्य का प्रकाश सुख देनेवाला नहीं होता, इसीप्रकार ब्रह्मद्विट् के लिए ज्ञान का प्रकाश सुखद नहीं होता। ये ब्रह्मद्विट् लोग ब्रह्म-प्राप्ति में तत्पर अन्य लोगों को भी निरुत्साहित करने का प्रयत्न करते हैं। राजा को चाहिए कि इन लोगों को दण्डित करे। उचित दण्ड के द्वारा इन्हें ज्ञान व स्तुति की निन्दा के कार्य से रोके। इसीप्रकार तप हमारे जीवन पर आक्रमण करनेवाले काम आदि शत्रुओं को रोकनेवाला हो।

भावार्थ—तप काम-क्रोधादि को रोके और राजा के तापक अस्त्र ब्रह्मद्विट् लोगों को नियंत्रित करनेवाले हों।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**यमसादनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्निदूत-अरंकृत

स॒प्त प्रा॒णान॒ष्टौ म॒न्यस्तांस्ते॑ वृश्चामि॒ ब्रह्म॑णा।
अया॑ य॒मस्य॒ साद॑नम॒ग्निदू॑तो॒ अर॑ङ्कृतः॥ ७॥

१. तेरे **सप्त प्राणान्**=सप्त शीर्षण्य प्राणों को 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्—कानों, नासिका-छिद्रों, आँखों व मुख को' **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **वृश्चामि**=सब विषयों से पृथक् करता हूँ (Cut asunder)। ज्ञान प्राप्त करके तू आँख आदि को विषयासक्त नहीं होने देता। इसप्रकार तेरे इन सप्त प्राणों को विषयों से पृथक् करके मैं **तान्**=उन **ते**=तेरे **अष्टौ**=आठों **मन्यः**=(मान्या= knowledge) ज्ञान-केन्द्रों को—शरीरस्थ आठों चक्रों को (अष्टाचक्रा नवद्वारा) **वृश्चामि**=छीलकर तीक्ष्ण बनाता हूँ—उनके मलों को दूर करके उन्हें दीप्त करता हूँ। २. इसप्रकार इन्द्रियों के विषयों से पृथक् होने तथा ज्ञानकेन्द्रों के दीप्त होने पर तू **यमस्य**=उस नियामक प्रभु के **सादनम्**=गृह को **अया**=प्राप्त होता है—तू ब्रह्मस्थ बनता है। वह तू जो **अग्निदूतः**=उस अग्निरूप दूतवाला है, अर्थात् प्रभु से सन्देश प्राप्त करनेवाला है और **अरंकृतः**=ज्ञान व दिव्य गुणों से अलंकृत हुआ है। ३. 'मन को मार लेना' इस वाक्यांश का अर्थ मन को काबू कर लेना है। इसीप्रकार इन्द्रियों व ज्ञानकेन्द्रों के वृश्चन (cutting) का भाव इन्हें पूर्णरूप से वश में कर लेना ही है। जो इन्हें ज्ञान के द्वारा स्वाधीन कर लेता है वह अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करनेवाला होता है। यह प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—इन्द्रियों के संयम और ज्ञानकेन्द्रों के दीप्त होने से मनुष्य अपने जीवन को दिव्य गुणों से अलंकृत करके अन्त में प्रभु को पा लेता है।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ज्ञानपूर्वक क्रियाएँ

आ द॑धामि ते प॒दं समि॑द्धे जा॒तवे॑दसि। अ॒ग्निः शरी॑रं वेवे॒ष्ट्वसुं॒ वाग॑पि गच्छतु॥ ८॥

१. **ते पदम्**=तेरे पाँव को—तेरी गति को **समिद्धे**=दीप्त **जातवेदसि**=ज्ञानाग्नि में (सब विषयों के जाननेवाले ज्ञान में) **आदधामि**=स्थापित करता हूँ, अर्थात् तेरे सब कार्य ज्ञानपूर्वक हों। ज्ञानपूर्वक होनेवाले कर्म पवित्र होते हैं। २. **अग्निः**=यह ज्ञानाग्नि **शरीरम्**=तेरे शरीर को **वेवेष्टु**=व्याप्त

करले, अर्थात् तेरी सारी ज्ञानेन्द्रियाँ खुद ही ज्ञान-प्राप्ति में लगी हों और **वाक्**=तेरी वाणी **असुम् अपि गच्छतु**=प्राणशक्ति की ओर जानेवाली हो, तेरी वाणी में शक्ति हो। वस्तुतः जो पुरुष ज्ञानी बनता है, उसकी वाणी में बल होता है। वह शब्दों का प्रयोग इसप्रकार करता है कि वे प्रभावजनक होते हैं।

भावार्थ—हमारी सब क्रियाएँ ज्ञानपूर्वक हों। ज्ञान से हमारा शरीर व्याप्त हो और हमारी वाणी में बल हो।

विशेष—सूक्त की मूल भावना यही है कि हमारा जीवन दीप्त होगा, तो हमें संसार भी दीप्त व चमकता हुआ प्रतीत होगा, अतः हमारा सारा प्रयत्न जीवन को दीप्त बनाने में लगे। अगले सूक्त में जीवन को दीप्त बनाने के लिए कुछ नियमों का प्रतिपादन किया गया है। उनका पालन करनेवाला 'अथर्वा'=न डाँवाडोल वृत्तिवाला पुरुष सूक्त का ऋषि है। यह दीर्घ व सुन्दर जीवन के लिए प्रार्थना करता हुआ कहता है कि—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गोघृत द्वारा अग्निहोत्र

आयुर्दा अ॑ग्ने ज॒रसं॑ वृणा॒नो घृ॒तप्र॑तीको घृ॒तपृ॑ष्ठो अग्ने।
घृ॒तं पी॒त्वा मधु॒ चारु॒ गव्यं॑ पि॒तेव॑ पु॒त्राना॒भि र॑क्षतादि॒मम्॥ १ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्निकुण्ड में स्थापित होनेवाले अग्ने! तू **आयुर्दाः**=हमें दीर्घायुष्य देनेवाला है। हमारे लिए **जरसम्**=पूर्ण जरा-अवस्था का **वृणानः**=वरण करनेवाला है। अग्निहोत्र करते हुए हम युवावस्था में ही समाप्त जीवनवाले नहीं हो जाते, अपितु हम जरावस्थापर्यन्त आयुष्य को प्राप्त करते हैं। २. हे अग्ने! तू **घृतप्रतीकः**=घृत के मुखवाला है और **घृतपृष्ठः**=घृत की पृष्ठवाला है। अग्निहोत्र में आरम्भिक आहुतियाँ घृत की दी जाती हैं, अन्तिम आहुतियाँ भी घृत की ही होती हैं, बीच में अन्य हविर्द्रव्यों की आहुतियाँ होती हैं। ३. हे अग्ने! तू **मधु**=अत्यन्त मधुर **चारु**=सुन्दर **गव्यं घृतम्**=गौ के घृत को **पीत्वा**=पीकर **इमम्**=इस अग्निहोत्र करनेवाले को इसप्रकार **अभिरक्षतात्**=शरीर व मानस व्याधियों व आधियों से सुरक्षित कर **इव**=जैसे **पिता पुत्रान्**=पिता पुत्रों का रक्षण करता है। गोघृत प्रबल कृमिनाशक है। इसके अग्निहोत्र से घर में रोग-कृमियों का रहना सम्भव नहीं रहता एवं यह गोघृत मनुष्य को नीरोग बनाता है।

भावार्थ—अग्निहोत्र में गोघृत का प्रयोग करें तो यह हमें सब रोगों से सुरक्षित करता है। रोगकृमियों का नाश करके यह हमें नीरोग बनाता है। अग्निहोत्र में आरम्भ में भी घृत की आहुतियाँ होती है और समाप्ति पर भी। बीच में अन्य हव्य पदार्थ डाले जाते हैं।

टिप्पणी—**'घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यम्'**—शब्द इस बात को भी स्पष्ट कर रहे हैं कि दीर्घायुष्य के लिए गोघृत का प्रयोग अत्यावश्यक है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वस्त्र

परि॑ धत्त ध॒त्त नो॒ वर्च॑से॒मं ज॒राम॑त्युं कृणुत दी॒र्घमायुः॑।
बृह॒स्पतिः॑ प्राय॑च्छ॒द्वास॑ ए॒तत्सोमा॑य॒ राज्ञे॒ परि॑धात॒वा उ॑॥ २ ॥

१. पूर्वमन्त्र में दीर्घायुष्य के लिए गोघृत के प्रयोग का विधान हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में उत्तम वस्त्र धारण का वर्णन है। वस्त्र भी दीर्घायुष्य के दृष्टिकोण से ही धारण करने चाहिएँ। **इमम्**=इस

बालक को **परिधत्त (परिधापयत)**=वस्त्र धारण कराओ। **नः**=हमारे इस सन्तान को **वर्चसा धत्त**=वर्चस् के दृष्टिकोण से वस्त्र धारण कराओ। वस्त्र इसप्रकार के होने चाहिएँ जो वर्चस् (शक्ति) के रक्षण में सहायक हों। इसप्रकार इस बालक के लिए **जरामृत्युम्**=भरपूर जरावस्था में होनेवाली मृत्यु से बचाओ तथा **दीर्घम् आयुः**=दीर्घ जीवन को **कृणुत**=करो। वस्त्र इसप्रकार के हों कि शक्ति के रक्षण के कारण दीर्घायुष्य देनेवाले हों। २. **बृहस्पतिः**=ज्ञानी आचार्य **सोमाय**=सौम्य स्वभाववाले **राज्ञे**=बड़े नियमित (Regulated) जीवनवाले विद्यार्थी के लिए **परिधातवे**=धारण करने के लिए **एतत् वासः**=इस वस्त्र को **उ**=निश्चय से **प्रायच्छत्**=देते हैं। आचार्य विद्यार्थी को 'किस प्रकार के वस्त्र पहने और किस प्रकार के नहीं' इस बात का अच्छी प्रकार से ज्ञान दे देते हैं। वस्त्रों को 'सोम राजा' के लिए देते हैं, इन शब्दों में यहाँ यह संकेत स्पष्ट है कि वस्त्रों से अभिमान न हो और साथ ही कार्यों को नियमितरूप से कर सकने में वे रुकावट न बनें। इसी को 'सौम्य व सरल वेश' कहते हैं। आचार्य विद्यार्थी का ऐसा ही वेश नियत करें और वह अपने अगले जीवन में इसी को अपनाने का प्रयत्न करे।

भावार्थ—वस्त्रों का मुख्योद्देश्य नीरोगता द्वारा शक्ति को स्थिर रखते हुए दीर्घायुष्य प्राप्त कराना है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गोपालन व क्रियाशील जीवन

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उ।
शतं च जीव शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व॥ ३॥

१. आचार्य विद्यार्थी से कहते हैं कि **इदम् वासः**=इस वस्त्र को **स्वस्तये**=कल्याण के लिए **परि+अधिथाः**=धारण करनेवाला बन **उ**=और तू **गृष्टीनाम्**=एक बार ब्यायी गौओं का **अभिशस्तिपा**=हिंसा से रक्षण करनेवाला **अभूः**=हो। आचार्य जहाँ विद्यार्थी को ज्ञान देता है, वहाँ सौम्य तथा स्वास्थ्यजनक वेश को धारण करने का तथा गोपालन का भी निर्देश करता है। २. **च**=और इसप्रकार तू **शतं शरदः**=सौ वर्षपर्यन्त **जीव**=जीनेवाला हो **च**=तथा **रायः पोषम्**=धन के पोषण को **उपसंव्ययस्व**=धारण कर। ये सौ शरद् ऋतुएँ तेरे लिए **पुरूचीः**=(पुरु अञ्च) व्यापक गतिवाली हों। तू खूब क्रियाशील बना रहे, खाट पर लेटकर जीवन के दिन न काटे। इस क्रियाशीलता के द्वारा ही तू धन का अर्जन करनेवाला हो।

भावार्थ—हमारे वस्त्र कल्याणकर हों। हम गौओं का पालन करें। क्रियाशील दीर्घजीवन में दरिद्रता से दूर रहें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पाषाणवत् दृढ शरीर

एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः। कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम्॥ ४॥

१. आचार्य ब्रह्मचारी से कहते हैं—**एहि**=आओ, **अश्मानम् आतिष्ठ**=इस पाषाण पर स्थित होओ। **ते तनूः**=तेरा शरीर **अश्मा भवतु**=पाषाण-जैसा ही दृढ़ बन जाए। इस पाषाण से प्रेरणा लेकर अपने शरीर को इसीप्रकार दृढ़ बनाने का तेरा संकल्प हो। २. **विश्वेदेवाः**=सब देव **ते आयुः**=तेरे जीवन को **शतं शरदः**=सौ शरद् ऋतुओं तक चलनेवाला **कृण्वन्तु**=करें। सूर्य आदि देवों के सम्पर्क में रहता हुआ तू सदा स्वस्थ हो तथा दिव्य गुण तेरे मन को सब आयुष्य-विघातक भावों से रहित करनेवाले हों।

भावार्थ—दीर्घ जीवन के लिए आवश्यक है कि हम (क) शरीर को दृढ़ बनाने की भावनावाले हों। (ख) सूर्यादि देवों के सम्पर्क में जीवन बिताएँ, (ग)दिव्य गुणों को मन में स्थान दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

कई भाई

यस्य॑ ते॒ वासः॑ प्रथमवा॒स्यं॑१ हरा॑म॒स्तं त्वा॒ विश्वे॑ऽवन्तु दे॒वाः।
तं त्वा॒ भ्रात॑रः सु॒वृधा॒ वर्ध॑मानमनु॒ जाय॑न्तां ब॒हव॑: सु॒जात॑म्॥ ५॥

१. **यस्य ते**=जिस तेरे **प्रथमवास्यम्**=धारण करने योग्यों में प्रथम, अर्थात् उत्तम **वासः**=वस्त्र को **हरामः**=प्राप्त करते हैं, **तं त्वा**=उस तुझको **विश्वेदेवाः**=सब देव **अवन्तु**=रक्षित करें। वस्त्र उत्तम हों, दीर्घायु के लिए किसी भी प्रकार से विघातक न हों। सूर्य-किरणों के प्रभाव को व वायु-प्रवेश को एकदम रोक देनेवाले न हों। २. **सुजातम्**=इसप्रकार उत्तम विकासवाले **वर्धमानम्**=दिन प्रतिदिन बढ़ते हुए **तं त्वा अनु**=उस तेरे पश्चात् **सुवृधा**=उत्तम वृद्धिवाले **बहवः**=बहुत **भ्रातरः**=भाई **जायन्ताम्**=उत्पन्न हों। जब प्रथम बालक का ठीक विकास हो जाए तभी दूसरे बालक का उत्पन्न होना ठीक है। 'सुजातम् अनु' शब्दों से यह भाव बहुत अच्छी प्रकार संकेतित हो रहा है।

भावार्थ—वस्त्र इसप्रकार के हों कि सूर्यादि देवों के साथ निरन्तर सम्पर्क बना रहे। ऐसे ही वस्त्र स्वास्थ्य वर्धक होते हैं।

विशेष—सूक्त के प्रथम मन्त्र में गोघृत से अग्निहोत्र का विधान है, इसप्रकार गोघृत को दीर्घायुष्य के लिए आवश्यक बताया है। द्वितीय मन्त्र में 'सौम्य वेश' का संकेत है। तृतीय मन्त्र में गोपालन व क्रियाशीलता द्वारा धनार्जन को दीर्घ जीवन का साधक बताया गया है। चतुर्थ मन्त्र में शरीर को पाषाणतुल्य दृढ बनाने का उपदेश है। पाँचवें मन्त्र में सब देवों की अनुकूलता की प्रार्थना करके दो सन्तानों के बीच में कम-से-कम तीन-चार वर्ष का अन्तर होना आवश्यक बताया गया है। अब अगले सूक्त में घर को, आनेवाली आपत्तियों से, बचाने के उपायों का निर्देश है। इन विपत्तियों को नष्ट करनेवाला 'चातन' ही सूक्त का ऋषि है 'चातयति नाशयति'। यह संकल्प करता है कि—

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पत्नी पर घर का निर्भर

निः॒सा॒लां धृ॒ष्णुं धि॒षण॑मेकवा॒द्यां जि॑घ॒त्स्व॑म्।
सर्वा॑श्च॒ण्डस्य॑ न॒प्त्यो॑ ना॒शया॑मः स॒दान्वा॑: ॥ १ ॥

१. घर का बनना बहुत कुछ पत्नी पर निर्भर करता है। 'गृहिणी गृहमुच्यते' वस्तुतः गृहिणी ही घर है, अतः गृहिणी में जो-जो दोष सम्भव हैं उन सबका संकेत करते हुए कहते हैं कि निम्न दोषों से युक्त पत्नी तो पत्नी नहीं है, वह तो पिशाची है, उसे हम घर से **नाशयामः**=(णश अदर्शने) दूर करते हैं। (क) **निःसालाम्**=(निःसालयति निर्गमयति अपसारयति-सा०) जो लड़-झगड़कर बन्धुओं को घर से दूर करती है। पति के भाई आदि के साथ विरोध करके उनकी फूट का कारण बनती है अथवा 'सालात् निर्गता' सालवृक्ष से भी उन्नत शरीरवाली, अर्थात् बहुत बड़े आकारवाली है। (ख) **धृष्णुम्**=धर्षणशील है, भय उत्पन्न करनेवाली है, (ग)

धिषणम्=(धृष्णोति धृषेर्धिष च संज्ञायाम्) बड़ों का निरादर करनेवाली है। 'बड़ों का निरादर करना' घर के अमङ्गल का हेतु होता है, (घ) **एकवाद्याम्**=(एकप्रकारं परुषरूपं वाद्यं वचनं यस्याः) कठोर बोलनेवाली व एक ही बात की रट लगानेवाली—जिद्दी स्वभाव की है,(ङ) **जिघत्स्वम्**=सर्वदा भक्षणशीला है, (च) और जो **सर्वाः**=सब **चण्डस्य नप्त्यः**=क्रोध की सन्तान है, अर्थात् क्रोध से भरी हुई है,(छ) **सदान्वाः**=(सदा नोनूयामानाः, आक्रोशकारिणीः) सदा बोलती ही रहती है। २. वस्तुतः पत्नी का आदर्श यही है कि (क) वह घर में सबके साथ मधुर व्यवहार करनेवाली हो तथा बहुत लम्बे कद की न हो (ख)अपने व्यवहार और शब्दों से भय पैदा न करे, प्रेम का वातावरण रक्खे, (ग) बड़ों का निरादर न करे (घ) कठोर न बोले, न जिद्दी हो, (ङ) सबको खिलाकर खाये, उसमें चटोरापन न हो, (च) क्रोधी स्वभाव की न होकर प्रसन्न स्वभाववाली हो, (छ) बहुत न बोलती हो, सदा नपे-तुले शब्दों का ही प्रयोग करती हो, ऐसी ही पत्नी घर का सुन्दर निर्माण कर पाती है। इसके विपरीत तो घर के विनाश का ही कारण बनती है। वह गृहिणी नहीं, पिशाचनी होती है। वह पति के भी अल्पायुष्य का कारण बनती है।

भावार्थ—पत्नी उत्तम है तो घर बनता है। पत्नी के दोष से घर का विनाश होता है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ **छन्दः—भुरिगनुष्टुप्**॥

गोष्ठ, अक्ष, उपानस व गृहों से अलग

निर्वो॑ गो॒ष्ठाद॑जामसि॒ निर॒क्षान्निरु॑पान॒सात्।
निर्वो॑ मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्य॑श्चातयामहे॥ २॥

१. गतमन्त्र में स्त्री-दोषों का चित्रण हुआ है। उन दोषों से युक्त स्त्रियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि **वः**=तुम्हें **गोष्ठात्**=गोष्ठ से **निःअजामसि**=बाहर करते हैं। गोष्ठ शब्द का अर्थ पारिवारिक सम्बन्ध (Family connection) है। ऐसी स्त्रियों के साथ पारिवारिक सम्बन्ध नहीं रखने चाहिएँ। २. **अक्षात्**=अक्ष से तुम्हें **निः**=पृथक् करते हैं। अक्ष शब्द का अर्थ 'ज्ञान' (knowledge) है। ३. **उपानसात्**=उपानस से **निः**=इन्हें पृथक् करते हैं। 'उपानस्' का अर्थ है—गाड़ी में होनेवाला स्थान (The Space in a carriage)। इस स्थान से इन्हें पृथक् करते हैं, अर्थात् इनके साथ गाड़ी में यात्रा नहीं करते हैं। ४. 'मन्' धातु से 'उ' प्रत्यय करके 'म' शब्द बनता है। इसप्रकार 'म' का अर्थ ज्ञान है। यहाँ ज्ञान से उत्पन्न होनेवाले आनन्द को 'म' कहा गया है। उस सब 'मम्' आनन्द (Happiness) को जो 'मुन्द्रयति' झुठला देती है, समाप्त कर देती है वह 'मगुंद्री' है। इसपर बल देने के लिए मगुन्द्री की दुहिता(आनन्द को नष्ट करनेवाली की बच्ची) इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। ये **मगुन्द्याः दुहितरः**=ज्ञानजनित आनन्द को बुरी तरह नष्ट करनेवाली स्त्रियो! **वः**=तुम्हें **गृहेभ्यः**=घरों से **निःचातयामहे**=बाहर विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—गतमन्त्र में वर्णित दोषोंवाली स्त्रियों के साथ पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित न किये जाएँ, उन्हें ज्ञान-चर्चाओं से पृथक् रक्खा जाए। उनके साथ गाड़ी में यात्रा न की जाए और इन ज्ञानविरोधिनी स्त्रियों को घरों से पृथक् ही रक्खा जाए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ **छन्दः—अनुष्टुप्**॥

अरायी, सेदि, यातुधानी

असौ यो अ॑धराद् गृ॒हस्तत्र॑ सन्त्वरा॒य्यः।
तत्र॑ से॒दिर्न्यु॑च्यतु॒ सर्वा॑श्च यातुधा॒न्यः॥ ३॥

१. **असौ**=वह **यः**=जो **अधरात् गृहः**=नीचे पाताल में घर है **तत्र**=वहाँ **अराय्यः**=न देने की वृत्तिवाली गृहिणियाँ **सन्तु**=हों। 'न देना' यह यज्ञ न करने का उपलक्षण है। यज्ञ में 'दान' है। 'न देना' यज्ञ से दूर होना है। यज्ञ से स्वर्गलोक मिलता है तो अयज्ञ से पाताललोक (असुर्य-लोक)। २. **तत्र**=वहाँ असुर्यलोक में ही **सेदिः**=(सादयति नाशयति इति सेदिः) नाश की वृत्तिवाली, औरों के कार्यों को ध्वस्त करनेवाली स्त्री का **न्युच्यतु**=निश्चय से समवाय हो—सम्बन्ध हो। यह सेदि भी उसी असुर्यलोक में निवास करे। ३. **च**=और **सर्वाः**=सब **यातुधान्यः**=पीड़ा का आधान करनेवाली स्त्रियाँ भी वहीं असुर्यलोक में निवास करें।

भावार्थ—अदान की वृत्ति, ध्वंस व नाश की वृत्ति तथा पीड़ा देने की वृत्ति—ये सब हमें असुर्यलोक में ले-जानेवाली होती हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती** ॥

वाग्दोष का दूरीकरण

भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु॥ ४॥

१. **भूतपतिः**=सब प्राणियों का रक्षक **च**=वह **इन्द्रः**=(इरां दृणाति) भूमि का, भौतिक भोगों का विदारक देव इन्द्र **सदान्वाः**=(सदा नोनूयमाना आक्रोशकारिणीः) सदा चिल्लाने व अपशब्द बोलनेवाली इन स्त्रियों को **इतः**=यहाँ—मेरे घर से **निरजतु**=बाहर क्षिप्त करे। मेरे घर से इनका सम्बन्ध न हो। २. **गृहस्य**=घर के **बुध्ने**=मूल में **आसीनाः**=बैठी हुई **ताः**=उनको **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **वज्रेण**=क्रियाशीलता रूप वज्र से **अधितिष्ठतु**=अधिष्ठित करे। घर का आधार गृहिणियाँ ही होती हैं, इसी से उन्हें 'घर के आधार में बैठी हुई' कहा गया है। इनमें दोष दो कारणों से उत्पन्न होते हैं—(क) एक तो पुरुष की अजितेन्द्रियता से और (ख) दूसरे अकर्मण्यता से। 'इन्द्र' शब्द प्रथम कारण का निराकरण करता है और 'वज्रेण' दूसरे कारण का। पुरुष जितेन्द्रिय हो तथा स्त्रियों को अकर्मण्य न होने दे तो स्त्रियाँ व्यर्थ की बातों से ऊपर उठ जाती हैं।

भावार्थ—पुरुष जितेन्द्रिय बनकर स्त्रियों को कार्य में रत रखने से उनके वाग्दोषों को दूर कर पाता है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आक्रोशकारिणी का विनाश

यदि स्थ क्षैत्रियाणां यदि वा पुरुषेषिताः।
यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः॥ ५॥

१. हे **सदान्वाः**=(सदा नोनूयमानाः) सदा अपशब्द बोलनेवाली स्त्रियो! **इतः**=यहाँ से—हमारे घर से **नश्यत**=तुम अदृष्ट हो जाओ। **यदि**=चाहे तुम **क्षेत्रियाणाम् स्थ**=क्षेत्रिय रोगों की निदानभूत हो, **यदि वा**=अथवा **पुरुष इषिताः**=किसी अन्य पुरुष से व्यर्थ की चुग़लियों से उत्तेजित (excited, animated) कर दी गई हो। अथवा **यदि**=यदि तुम **दस्युभ्यः जाताः**=नाशक वृत्तियों से ऐसी बन गई हो। २. स्त्रियों में आक्रोश वृत्ति पैदा होने के तीन कारण हैं—(क) कोई क्षेत्रिय रोग, (ख) किसी पुरुष से भड़काया जाना, (ग) कोई बड़ी हानि हो जाना (दस्यु)। किसी भी कारण से यह दोष उत्पन्न हो जाए तो उस स्त्री का दूर होना ही ठीक है।

भावार्थ—आक्रोशकारिणी स्त्री का घर से दूर होना ही ठीक है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

संग्राम-विजय

परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठामिवासरम्। अजैषं सर्वानाजीन्वो नश्यतेतः सदान्वाः॥ ६॥

१. **इव**=जैसे **आशुः**=शीघ्रगामी अश्व **गाष्ठाम्**=(परिधावनेन ग्लानः सन् यत्र तिष्ठति सा **गाष्ठाः**=आज्यन्तः काष्ठाः) लक्ष्य स्थान पर पहुँचता है, इसीप्रकार मैं **आसाम्**=इन आक्रोशकारिणी स्त्रियों के **धामानि**=तेजों को **परि असरम्**=आक्रान्त करता हूँ। हे आक्रोश करनेवाली स्त्रियो! **वः**=तुम्हारे **सर्वान् आजीन्**=सब संग्रामों को **अजैषम्**=मैं जीतता हूँ—तुम्हें पराजित करता हूँ, अतः हे **सदान्वाः**=सदा आक्रोशकारिणी स्त्रियो! **इतः**=यहाँ से **नश्यत**=नष्ट हो जाओ। पुरुषों को चाहिए कि स्त्रियों की इस आक्रोशवृत्ति को नष्ट करने के लिए तेजस्विता से उन्हें प्रभावित करने का प्रयत्न करें। २. स्त्री का सबसे बड़ा दोष 'सदा बोलते रहना व कठोर बोलना है, अतः इनके इन दोषों को दूर करना आवश्यक है।

भावार्थ—पति पत्नी के आक्रोश को अपनी तेजस्विता से दूर करे। इसप्रकार गृहदोषों को दूर करनेवाला 'चातन' बने।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त गृहिणी के दोषा से घर के दूषण का चित्रण करके गृहिणी के दोषों को दूर करने पर बल देता है। दोषों को दूर करके अपनी उन्नति करनेवाला 'ब्रह्मा' (वृहि वृद्धौ) अगले सूक्तों का ऋषि है। यह सर्वप्रथम अभय की प्रार्थना करता है। दोषयुक्त जीवन में ही भय है, निर्दोष जीवन निर्भय है, अतः दोषों का नाश करनेवाला 'चातन' अब वृद्धि को प्राप्त करके 'ब्रह्मा' हो जाता है और प्रार्थना करता है—

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद्गायत्री** ॥

द्युलोक और पृथिवीलोक

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः॥ १॥

१. **यथा**=जैसे **द्यौः च पृथिवी च**=द्युलोक और पृथिवीलोक **न बिभीतः**=भयभीत नहीं होते और अतएव **न रिष्यतः**=हिंसित नहीं होते। **एव**=इसीप्रकार **मे प्राण**=हे मेरे प्राण! तू भी **मा**=मत **बिभेः**=डर। २. द्युलोक वृष्टि के द्वारा पृथिवी का पोषण करता है और पृथिवी पदार्थों को द्युलोक में भेजती है। ये दोनों लोक इसीप्रकार परस्पर सम्बद्ध हैं, जैसे शरीर में 'मस्तिष्क और शरीर'। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है और मस्तिष्क का स्वास्थ्य शरीर को स्वस्थ बनाये रखता है। जैसे एक घर में बच्चों के माता-पिता का परस्पर सम्बन्ध है, उसी प्रकार द्युलोक 'पिता' है और पृथिवी माता। मस्तिष्क व शरीर के समन्वय से जीवन उत्तम बनता है। माता-पिता के समन्वय में सन्तान सुन्दर होती है। इसीप्रकार द्युलोक व पृथिवी लोक के सम्मिलित होकर कार्य करने पर दुर्भिक्ष आदि का भय नहीं रहता। मिले हुए द्युलोक व पृथिवीलोक हिंसित नहीं होते। ३. जिस प्रकार मिले हुए द्युलोक व पृथिवीलोक भयरहित व अंहिसित हैं, इसीप्रकार मेरा प्राण भी निर्भय व अहिंसित हो। भय में ही हिंसा है। भय शरीर को विध्वस्त करता हुआ मस्तिष्क को भी समाप्त कर देता है।

भावार्थ—मेरा प्राण 'द्युलोक व पृथिवीलोक' की भाँति निर्भय हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद्गायत्री** ॥

दिन और रात

यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ २ ॥

१. **यथा**=जैसे **अहः च रात्री च**=दिन और रात **न बिभीतः**=नहीं डरते हैं और परिणामतः **न रिष्यतः**=न ही हिंसित होते हैं, **एव**=इसीप्रकार **मे प्राण**=हे मेरे प्राण! **मा बिभेः**=तू भयभीत मत हो। २. दिन और रात्रि परस्पर सम्बद्ध हैं। दिन का सूर्य अस्त होता हुआ रात्रि के समय अपने प्रकाश को अग्नि में रख देता है और दिन का प्रारम्भ होने पर अग्नि अपने प्रकाश को पुनः सूर्य को लौटा देती है। इसप्रकार परस्पर सम्बद्ध ये दिन-रात निर्भय व अहिंसित हैं। दिन में जितना अधिक श्रम किया जाए, रात्रि उतनी ही अधिक रमयित्री हो जाती है। दिन 'अहन्' हो। इसका एक क्षण भी **हत**=विनष्ट न किया जाए तो रात्रि सुषुप्ति का आनन्द देती है। रात्रि में नींद ठीक आ जाए तो दिन में मनुष्य जागृति के साथ कार्य करता है एवं परस्पर सम्बद्ध ये दिन और रात निर्भय व अहिंसित हैं। हमारा प्राण भी इसीप्रकार निर्भय व अहिंसित हो। ३. हम दिन व रात्रि के सम्बन्ध का ध्यान रखते हुए अपने प्राण को दिन व रात्रि की सन्धिवेला में वशीभूत करने का प्रयत्न करें। ऐसा करने से यह प्राण निर्भय और अहिंसित होगा।

भावार्थ—हम दिन व रात्रि के गुणों को धारण करते हुए निर्भय व अहिंसित जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद्गायत्री** ॥

सूर्य और चन्द्र

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ३ ॥

१. **यथा**=जैसे **सूर्यः च चन्द्रः च**=सूर्य और चाँद अपने मार्ग पर चलते हुए **न बिभीतः**=न भयभीत होते हैं और **न रिष्यतः**=न हिंसित होते हैं, **एव**=इसीप्रकार **मे प्राण**=हे मेरे प्राण! **मा बिभेः**=तू भयभीत मत हो। २. सूर्य और चन्द्र परस्पर सम्बद्ध होकर चलते हैं, उसी प्रकार जैसेकि दिन और रात मिलकर चलते हैं। नासिका का बायाँ स्वर 'चन्द्र स्वर' कहलाता है और दायाँ स्वर 'सूर्य स्वर' कहलाता है। जिस प्रकार इनका परस्पर सम्बन्ध है, उसी प्रकार सूर्य व चन्द्र का सम्बन्ध है। सूर्य की किरण ही तो चन्द्र को प्रकाशित करती है। सूर्य ओषधियों का परिपाक करता है और चन्द्र उनमें रस का सञ्चार करता है। सूर्य सब वनस्पतियों में अग्नितत्त्व की स्थापना करता है और चन्द्रमा सोमतत्त्व की। इसप्रकार सूर्य और चन्द्र मिलकर पूर्णता पैदा करते हैं। ३. मेरे प्राण भी सूर्य व चन्द्रतत्त्वों को अपने में बढ़ाते हुए निर्भय व अहिंसित हों। केवल सूर्य जगत् को झुलसा देता, केवल चन्द्र जमा देता। दोनों का समन्वय संसार की ठीक गति का कारण है। मेरा जीवन भी इन दोनों तत्त्वों के मेलवाला हो।

भावार्थ—जीवन में सूर्यतत्त्व व चन्द्रतत्त्व के समन्वय से हम निर्भय व अहिंसित हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद्गायत्री** ॥

ब्रह्म और क्षत्र

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ४ ॥

१. **यथा**=जैसे **ब्रह्म च क्षत्रं च**=ज्ञान और बल परस्पर मिले हुए **न बिभीतः**=न भयभीत होते हैं और **न**=न ही **रिष्यतः**=हिंसित होते हैं, **एव**=इसीप्रकार **मे प्राण**=हे मेरे प्राण! तू **मा बिभेः**=भयभीत मत हो। २. एक राष्ट्र में ब्राह्मणों व क्षत्रियों का समन्वय आवश्यक है। केवल

ब्राह्मणोंवाला राज्य सुरक्षित नहीं होता और केवल क्षत्रियोंवाला राज्य कभी उन्नत नहीं हो पाता—आपस के झगड़ों से ही वह समाप्त हो जाता है। शरीर में जैसे ज्ञान व बल दोनों की आवश्यकता है, उसी प्रकार राष्ट्र में ब्राह्मणों व क्षत्रियों की उपयोगिता है। ३. हम अपने जीवनों में ब्राह्मणत्व व क्षत्रियत्व दोनों का समन्वय करके निर्भय बनें और अहिंसित हों।

भावार्थ—निर्भयता व अहिंस्यता के लिए ब्राह्मणत्व व क्षत्रित्व का मेल आवश्यक है। क्षत्र व बल द्वारा हम कर्म करते हैं तो ब्रह्म व ज्ञान उन कर्मों को पवित्र कर देता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद्गायत्री** ॥

सत्य और अनृत (कृषि)

यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः॥ ५॥

१. **यथा**=जैसे **सत्यं च अनृतं च**=सत्य और अनृत अर्थात् कृषि **न बिभीतः**=न तो डरते हैं और **न रिष्यतः**=न हिंसित होते हैं। **एव**=इसीप्रकार **मे प्राण**=हे मेरे प्राण! **मा बिभेः**=तू भयभीत मत हो। २. पूर्व मन्त्रों में 'द्युलोक व पृथिवीलोक' परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं। इसीप्रकार 'दिन और रात', 'सूर्य और चन्द्र' तथा 'ब्रह्म और क्षत्र' परस्पर अविरुद्ध हैं। यहाँ भी सत्य और अनृत अविरोधी ही लेने चाहिएँ, अतः 'अनृत' शब्द यहाँ असत्य-झूठ का वाचक न होकर 'कृषि' का वाचक है—(अनृतं कृषिः—कोश)। ये सत्य और कृषि न भयभीत होते हैं और न हिंसित होते हैं। कृषि में श्रम है—प्रकृति के साथ सम्पर्क है। इसमें यथासम्भव सत्यपूर्वक ही आजीविका चलती है। मन में सत्य है तो हाथों में अनृत=कृषि है। सत्य का पालन करनेवाला कृषि द्वारा ही जीविका प्राप्त करने का ध्यान करता है। इसमें वह दूसरों की हानि न करके जीवन-यात्रा चलाता है। ३. हम अपने जीवन में सत्य और कृषि को अपनाकर निर्भय व अहिंसित बनें।

भावार्थ—निर्भय जीवन के लिए मन में सत्य हो और हाथों में श्रम।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद्गायत्री** ॥

भूत और भव्य

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः॥ ६॥

१. **यथा**=जैसे **भूतं च भव्यं च**=भूत और भविष्यत् **न बिभीतः**=न डरते हैं और **न रिष्यतः**=न हिंसित होते हैं, **एव**=इसीप्रकार **मे प्राण**=हे मेरे प्राण! तू भी **मा बिभेः**=भयभीत न हो। २. 'भूत' समाप्त हो चुका है, 'भविष्यत्' अभी है ही नहीं, अतः इन दोनों में भय का निवास न होकर, इसका सदा वर्त्तमान में ही निवास होता है। वस्तुतः जो व्यक्ति भूत का विचार करके उससे शिक्षा ग्रहण करता हुआ भविष्यत् का कार्य-क्रम निर्धारित करता है, उसे वर्त्तमान में कभी भयभीत नहीं होना पड़ता। 'भूत' से सीखना, 'भविष्य' के लिए दृढ़ संकल्प करना ही निर्भयता व अहिंस्यता का रहस्य है। ३. इसप्रकार हम अपने वर्त्तमान को भूत और भविष्य से जोड़कर चलेंगे तो भय से बचे रहेंगे।

भावार्थ—हम भूत से भविष्यत् का निर्माण करनेवाले बनें। भूत से शिक्षा लेकर वर्त्तमान में सन्मार्ग का आक्रमण करते हुए भविष्य को उज्ज्वल बनाएँ।

विशेष—सारा सूक्त बड़ी सुन्दरता से निर्भयता व अहिंस्यता के साधनों का उपदेश करके उत्तम जीवन का मार्ग दिखला रहा है। अगले सूक्त में भी इस उत्तम जीवन का चित्रण है—

१६. [षोडषं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणापानौ** ॥ छन्दः—**एकपदासुरीऽऽत्रिष्टुप्** ॥

दीर्घजीवन

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥

१. **प्राणापानौ**=हे प्राण और अपान! (प्राक् ऊर्ध्वमुखः अनिति चेष्टत इति प्राणः, अप आवङ्मुखः अनिति इति अपानः) आप दोनों **मा**=मुझे **मृत्योः**=मृत्यु से **पातम्**=बचाओ। 'अपान' दोषों को दूर करता है और प्राण शक्ति का सञ्चार करता है। इसप्रकार प्राणापान की क्रिया से हम मृत्यु का शिकार नहीं होते। २. **स्वाहा**='स्वा वाग् आह' (तै० १.१.२.३)। मेरी वाणी सदा यही प्रार्थना करनेवाली हो। मैं सदा अपने को इसीप्रकार आत्मप्रेरणा दूँ कि प्राणापान कि शक्ति के वर्धन से मैं मृत्यु को अपने से दूर रक्खूँगा।

भावार्थ—प्राणापान की शक्ति के वर्धन से हम दीर्घजीवी बनें। ये प्राण और अपान हमें मृत्यु व रोगों से बचाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुर्युष्णिक्** ॥

श्रवणशक्ति

द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥

१. **द्यावापृथिवी**=(द्यावापृथिवीशब्देन तदन्तरालवर्तिन्यो दिशो विवक्षिताः—सा०) हे द्युलोक व पृथिवीलोक के अन्तराल में वर्त्तमान दिशाओ! आप **उपश्रुत्या**=श्रवण-शक्ति-प्रदान से **मा पातम्**=मेरे जीवन का रक्षण करो। इस श्रवण से ही तो मैं अपने ज्ञान का वर्धन करता हुआ सुन्दर व दीर्घजीवन को सिद्ध कर पाऊँगा। २. **स्वाहा**=मेरी वाणी सदा यही उच्चारण करती है कि दिशाएँ मेरी श्रोत्रशक्ति का वर्धन करनेवाली हों। 'दिशः श्रोत्रे भूत्वा कर्णौ प्राविशन्'—ये दिशाएँ श्रोत्र बनकर मेरे कानों में निवास करें।

भावार्थ—श्रोत्रशक्ति का वर्धन करता हुआ मैं सुन्दर व दीर्घजीवनवाला बनूँ। मैं दिशाओं के निर्देश को भी सनूँ। प्राची के निर्देश को सुनकर आगे बढ़ूँ, दक्षिणा से सरलता का पाठ पढ़ूँ। प्रतीची मुझे प्रत्याहार का पाठ पढ़ाए और उदीची के अनुसार मैं ऊँचा उठूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

दर्शनशक्ति

सूर्य चक्षुषा मा पाहि स्वाहा ॥ ३ ॥

१. **सूर्य**=हे सूर्य! **चक्षुषा**=दर्शनशक्ति के द्वारा **मा पाहि**=तू मेरा रक्षण कर। **'सूर्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्'**—सूर्य चक्षु बनकर मेरी आँखों में निवास करनेवाला हो। इस दर्शनशक्ति से प्रकृति में प्रभु-महिमा को देखता हुआ मैं आत्मज्ञान को प्राप्त करनेवाला बनूँ। २. **स्वाहा**=मेरी वाणी इस बात को बारम्बार कहनेवाली हो। इसका जप करता हुआ मैं आत्मप्रेरणा प्राप्त करूँ और दर्शनशक्ति को बढ़ाकर अशुभ मार्ग से बचकर शुभ मार्ग पर चलूँ। यही रक्षा का मार्ग है।

भावार्थ—मैं सूर्य की भाँति व्यापक दृष्टिवाला बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽसुरीगायत्री** ॥

सब दिव्य गुण

अग्ने वैश्वानर विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा ॥ ४ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी **वैश्वानर**=(विश्वान् नरान् नयति) सबके सञ्चालक प्रभो! **मा**=मुझे **विश्वैः देवैः**=सब दिव्य गुणों को प्राप्त कराके **पाहि**=रक्षित कीजिए। वस्तुतः प्रभु-स्मरण से सब दिव्य गुणों की प्राप्ति होती है। २. **स्वाहा**=मेरी वाणी सदा यही प्रार्थना करे। इसी जप को करता हुआ इसी बात को मैं अपने जीवन में घटानेवाला बनूँ। महादेव का स्मरण करता हुआ सब देवों को प्राप्त करने का अधिकारी बनूँ।

भावार्थ—प्रभु अग्नि है, वैश्वानर हैं। वे मुझे आगे ले-चलते हुए सब दिव्य गुणों से युक्त करेंगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वम्भरः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽसुरीगायत्री** ॥

पोषणशक्ति

विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ ५ ॥

१. हे **विश्वम्भर**=सारे विश्व का भरण-पोषण करनेवाले प्रभो! **मा**=मुझे **विश्वेन भरसा**=सम्पूर्ण पोषणशक्ति के द्वारा **पाहि**=रक्षित कीजिए। **स्वाहा**=यह मेरी उत्तम वाणी हो। इन उत्तम शब्दों में याचना करता हुआ मैं अङ्ग-प्रत्यङ्ग की पोषण शक्तिवाला होऊँ। २. प्रभु को 'विश्वम्भर' नाम से स्मरण करता हुआ मैं शरीर, मन व बुद्धि सभी का ठीक से भरण-पोषण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु विश्वम्भर हैं। मैं भी विश्वम्भर बनूँ। अपनी सब शक्तियों का पोषण करता हुआ सभी का भरण करनेवाला बनूँ।

विशेष—सूक्त में उत्तम जीवन का चित्रण इस रूप में हुआ है कि जिसमें रोग नहीं, दर्शनशक्ति व श्रवणशक्ति ठीक है, मन दिव्य गुणों से युक्त है और सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग शक्तिसम्पन्न हैं, वही उत्तम जीवन है। ऐसे जीवन के लिए ही अगले सूक्त में प्रार्थना है—

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

ओजस्

ओजोऽस्योजो मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

१. गतसूक्त के अन्तिम मन्त्र में प्रभु को 'विश्वम्भर' कहा था—सब शक्तियों का भरण करनेवाला। उस विश्वम्भर से प्रार्थना करते हैं कि—**ओजः असि**=आप ओज हो, **मे**=मेरे लिए भी **ओजः दाः**=इस ओज को दीजिए। **स्वाहा**=(सु+आह) मेरी वाणी सदा यही शुभ प्रार्थना करनेवाली हो। २. 'ओजस्' वह शक्ति है जो सब प्रकार की वृद्धि का कारण बनती है (ओज् to increase)। इस ओज को प्राप्त करके मैं वृद्धि के मार्ग पर आगे बढ़ूँ।

भावार्थ—प्रभु ओज के पुञ्ज हैं। मैं भी प्रभु को इस रूप में स्मरण करता हुआ ओजस्वी बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

सहस्

सहोऽसि सहो मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥

१. हे प्रभो! आप **सहःअसि**=सहस् शक्ति के पुञ्ज हो। **मे**=मेरे लिए **सहः**=सहनशक्ति **दाः**=दीजिए। **स्वाहा**=मेरे मुख से सदा इन शुभ शब्दों का ही उच्चारण हो। २. ओजस् के होने पर मनुष्य सहस्वाला बनता है, इसीलिए ओज के बाद सहस् की प्रार्थना है। ओज की कमी

होने पर मनुष्य में सहनशक्ति भी नहीं रहती। इस सहनशक्ति के होने पर ही वास्तविक आनन्द का अनुभव होता है।

भावार्थ—प्रभु 'सहस्' हैं। मैं भी 'सहस्'-वाला बनकर प्रभु का सच्चा भक्त बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ **छन्दः—एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

बल

बलमसि बलं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥

१. प्रभो! **बलम् असि**=आप बलस्वरूप हैं। **मे**=मेरे लिए **बलं दाः**=बल प्रदान कीजिए। **स्वाहा**=मेरी वाणी सदा यही शुभ प्रार्थना करनेवाली हो। २. सहनशक्ति मन को बलवान् बनाती है। सहन के अभाव में मनुष्य की शक्ति दग्ध हो जाती है। मनुष्य इस मानस बल के अनुपात में ही रोगादि शत्रुओं पर विजय पानेवाला होता है, अतः हम प्रभु को 'बल' के रूप में स्मरण करें और उससे बल की याचना करें।

भावार्थ—प्रभु 'बल' हैं। मैं भी बलवाला बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ **छन्दः—एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

आयुः

आयुरस्यायुर्मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥

१. हे प्रभो! आप **आयुः असि**=जीवन-ही-जीवन हो। **मे**=मेरे लिए **आयुः दाः**=जीवन दीजिए। २. जब तक 'मानस बल' बना रहता है, तब तक जीवन भी बना रहता है, अतः बल के बाद आयुष्य की प्रार्थना है। इस बल के न रहने पर आयुष्य भी समाप्त हो जाता है, इसलिए हम बल को प्राप्त करके आयुष्य की प्रार्थना करें। **स्वाहा**=हमारी वाणी इस शुभ प्रार्थना को ही करनेवाली हो।

भावार्थ—प्रकृति की ओर झुकाव आयु को क्षीण करता है। मैं प्रभुभक्त बनकर दीर्घजीवन प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ **छन्दः—एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

श्रोत्र

श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार मुझे दीर्घजीवन तो प्राप्त हो ही, परन्तु उस दीर्घजीवन में मेरी इन्द्रियाँ क्षीणशक्ति न हो जाएँ, अतः भक्त कहता है—हे प्रभो! आप **श्रोत्रम् असि**=सम्पूर्ण श्रवणशक्ति के स्रोत हैं, **मे**=मेरे लिए **श्रोत्रं दाः**=श्रोत्रशक्ति दीजिए। **स्वाहा**=मैं सदा इस उत्तम प्रार्थना को करनेवाला बनूँ। २. दीर्घजीवन में यदि मेरी श्रवणशक्ति मेरा साथ न दे तो ज्ञानवृद्धि न कर सकता हुआ मैं उस दीर्घजीवन का क्या करूँगा, केवल खाने-पीने का जीवन तो प्रशस्त जीवन नहीं है।

भावार्थ—अपने दीर्घ जीवन में श्रोत्रशक्ति-सम्पन्न बनकर मैं बहुश्रुत बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ **छन्दः—एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

चक्षुः

चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा ॥ ६ ॥

१. गतमन्त्र में वर्णित श्रोत्र के साथ चक्षु भी ज्ञान-प्राप्ति के प्रमुख साधनों में है, अतः उपासक प्रार्थना करता है कि प्रभो! आप **चक्षुः असि**=सम्पूर्ण दृष्टिशक्ति के स्रोत हैं। **मे**=मेरे

लिए **चक्षुः दाः**=दृष्टिशक्ति प्रदान कीजिए। **स्वाहा**=मैं सदा इस शुभ प्रार्थना को करनेवाला बनूँ। २. चक्षु से प्रकृति की शोभा को देखते हुए हम प्रभु की महिमा को देखनेवाले बनते हैं, अतः वही जीवन वाञ्छनीय है जिसमें दृष्टिशक्ति ठीक बनी रहे।

भावार्थ—उत्तम दृष्टिशक्ति को पाकर मैं प्रकृति में सर्वत्र प्रभु की विभूतियों का दर्शन करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ छन्दः—**आसुर्युष्णिक्** ।

परि-पाण

परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥ ७ ॥

१. हे प्रभो! आप **परिपाणमसि**=सब ओर से रक्षा करनेवाले हैं। **मे**=मेरे लिए **परिपाणम्**=सर्वतो रक्षण को **दाः**=दीजिए। **स्वाहा**=यह शुभ प्रार्थना मेरी वाणी से सदा उच्चरित हो। २. मेरा शरीर रोगों से आक्रान्त न हो, मेरा मन रोगों से अभिभूत न हो और मेरी बुद्धि मन्दता का शिकार न हो जाए। स्वस्थ शरीर, निर्मल मन व तीव्र बुद्धिवाला बनकर मैं पूर्ण जीवन को बिताऊँ।

भावार्थ—प्रभु सब ओर से मेरे रक्षक हैं, अतः मैं रोगों व मन्दताओं से अक्रान्त हो ही कैसे सकता हूँ?

विशेष—सूक्त का भाव यह है कि हम 'ओजस्, सहस्, बल, दीर्घजीवन, श्रोत्रशक्ति व दृष्टिशक्ति' को प्राप्त करके सब ओर से अपना रक्षण करते हुए सुन्दर जीवन बिताएँ। इस सुन्दर जीवन में विघ्नरूप से आ जानेवाले शत्रुओं के विनाश की प्रार्थना से अगला सूक्त आरम्भ होता है। शत्रुनाश करनेवाला 'चातन' ही इसका ऋषि है। उसकी प्रार्थना है कि—

॥ इति तृतीयः प्रपाठकः

अथ चतुर्थः प्रपाठकः

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

भ्रातृव्य-नाश

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

१. **भ्राताः**=भाई होते हुए जो शत्रु की भाँति आचरण करने लगता है वह 'भ्रातृव्य' है। ये आत्मीय होते हुए शत्रु बन जाते हैं। इन आत्मीय शत्रुओं से भी अशान्ति बनी रहती है। हे प्रभो! आप **भ्रातृव्यक्षयणम् असि**=मेरे आत्मीय शत्रुओं को समाप्त करनेवाले हैं। **मे**=मुझे **भ्रातृव्यचातनम्**=इन आत्मीय शत्रुओं के नाश का सामर्थ्य **दाः**=दीजिए। आपकी कृपा से मैं इन्हें समाप्त कर सकूँ। इनकी भ्रातृव्यता को समाप्त करके इन्हें भ्राता बना पाऊँ। २. **स्वाहा**=(स्वा वाक् आह) मेरी वाणी सदा ऐसी प्रार्थना करनेवाली हो कि मेरे 'भ्रातृव्य' भ्रातृव्य न रहकर भ्राता बन जाएँ, तभी वस्तुतः मैं शान्त वातावरण में जीवन को सुन्दर बना सकूँगा।

भावार्थ—प्रभु मुझे भ्रातृव्यों से होनेवाली अशान्ति से बचाने का अनुग्रह करें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

सपत्न-समापन

सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥

१. अनात्मीय शत्रु सपत्न कहलाते हैं। ये वस्तुतः वे हैं जो उस वस्तु के पति बनना चाहते

हैं जिसका पति मैं हूँ। उदाहरणार्थ अपने शरीर का पति मैं हूँ। जो रोगकृमि इसपर आक्रमण करके अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं, वे मेरे सपत्न हो जाते हैं। हमारे देश पर आक्रमण करके अधिपति बनने की कामनावाले हमारे सपत्न हैं। हे प्रभो! आप **सपत्नक्षयणम् असि**=सपत्नों का नाश करनेवाले हैं। **मे**=मेरे लिए भी आप **सपत्नक्षयणम्**=इन सपत्नों के नाशन को **दाः**=दीजिए। इन्हें दूर करके ही मैं जीवन में उन्नति कर सकूँगा। इनके उपद्रवों के होते हुए उन्नति सम्भव कहाँ? **स्वाहा**=मेरी वाणी इस सपत्नक्षयण की प्रार्थना करनेवाली हो। मुझे सपत्नों को दूर करने का सदा ध्यान रहे। शरीर से रोगकृमिरूप सपत्नों को दूर करके ही मैं स्वस्थ बन पाऊँगा। मन से वासनारूप सपत्नों को दूर करके ही मैं निर्मल जीवनवाला हो सकूँगा। इसीप्रकार बाह्य शत्रुओं को दूर करके ही मैं किसी भी प्रकार की उन्नति करने में समर्थ होऊँगा।

भावार्थ—प्रभु मुझे सपत्न-नाशन की शक्ति दें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

अराय-चातन

अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा॥ ३॥

१. 'रा दाने' धातु से राय शब्द बना है। यह दान का वाचक है। न देने की वृत्ति को 'अराय' कहते हैं। हे प्रभो! आप **अरायक्षयणम् असि**=न देने की वृत्ति का ध्वंस करते हैं। प्रभु तो देने-ही-देनेवाले हैं, वहाँ 'न देने का भाव' है ही नहीं। हे प्रभो! आप **मे**=मुझे भी **अरायचातनम्**=न देने की वृत्ति के नाशन की शक्ति **दाः**=दीजिए। २. मैं सदा देनेवाला ही बनूँ। इस दान ही से तो मैं पापों का नाश (दाप्=लवने=काटना) कर पाऊँगा और यह दान ही मुझे शुद्ध बनाएगा (दैप् शोधने)। **स्वाहा**=यह कितनी शुभ प्रार्थना है कि मेरी अदानवृत्ति को नष्ट कीजिए।

भावार्थ—मैं सदा देने की वृत्तिवाला बनूँ।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

मांसभक्षण निवृत्ति

पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा॥ ४॥

१. हे प्रभो! आप **पिशाचक्षयणम् असि**=(पिशितमश्नन्ति इति) मांसभक्षण करनेवालों का विनाश करते हैं। **मे**=मेरे लिए आप **पिशाचचातनम्**=इस मांसभक्षण की वृत्ति के विनाश को **दाः**=प्राप्त कराइए। २. मैं कभी भी पर-मांस से स्व-मांस को बढ़ाने की भावनावाला न होऊँ। **स्वाहा**=(सु आह) कितने सुन्दर ये वचन हैं। मेरी भावना सदा ऐसी बनी रहे।

भावार्थ—मैं मांस-भक्षण से बचूँ।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

'हित-मित-मधुर' भाषण

सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा॥ ५॥

१. '**सदा नोनूयमानाः सदान्वा**'—हर समय चीखते-चिल्लाते रहने व अपशब्द बोलने की वृत्ति 'सदान्वा' है। यह वृत्ति 'वचो गुप्ति' से ठीक विपरीत है। यह सब उन्नति का ध्वंस कर देती है। हे प्रभो! आप **सदान्वाक्षयणम् असि**=आक्रोशकारिणी वृत्ति का ध्वंस करनेवाले हैं, **मे**=मेरे लिए **सदान्वाचातनम्**=इस आक्रोशकारिणी वृत्ति को नष्ट करने की शक्ति **दाः**=दीजिए। २. मैं सदा संयत वाक् बनूँ। कभी कोई व्यर्थ का शब्द व अपशब्द मेरे मुख से न निकले। **स्वाहा**=कितनी सुन्दर है यह प्रार्थना! हे प्रभो! आपकी कृपा से मेरी वाणी सुगुप्त हो और यह

'हित-मित-मधुर' भाषण करनेवाली हो।

भावार्थ—मैं अपशब्द न बोलूँ। मेरी वाणी सूनृता हो।

विशेष—सूक्त का भाव यही है कि मैं उन्नति के विरोधी तत्त्वों को नष्ट करके आगे बढ़नेवाला बनूँ। ये ही भाव अगले सूक्त में कुछ विस्तार से हैं। उनका ऋषि 'अथर्वा' है—न डाँवाडोल होनेवाला (अ-थर्व) अथवा आत्मनिरीक्षण करनेवाला (अथ अर्वाङ्)। यह प्रार्थना करता है—

१९. [एकोनविंशम् सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्विषमात्रिपादगायत्री** ॥

अग्नि का तप

अग्ने यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

१. हे **अग्ने**=(अगि गतौ) सब दोषों को गति के द्वारा भस्म करनेवाले प्रभो! **यत् ते तपः**=जो आपका तप है, **तेन**=उसके द्वारा **तं प्रति तप**=उसे तपानेवाले होओ, **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हमारे प्रति द्वेष करता है और परिणामतः **यं वयं द्विष्मः**=जिससे हम भी प्रीति नहीं कर पाते। २. यहाँ मन्त्र के उत्तरार्ध में 'यः' एक वचन है और 'अस्मान्' बहुवचन है। इससे स्पष्ट है कि कोई एक व्यक्ति सारी समाज का विरोध करता है, सारी समाज की उन्नति में विघातक बनता है। यदि वह साम (शान्ति से समझाना) आदि उपायों से अपनी समाज-विरोधी गतिविधियों से नहीं रुकता, तो अन्ततः समाज भी उसे अवाञ्छनीय समझने लगती है और अग्नि से—राष्ट्र-सञ्चालक से प्रार्थना करती है कि अब इसे आप ही दण्ड-सन्तप्त कीजिए। ३. समाज प्रभु से भी यही आराधना करती है कि आपमें ही सम्पूर्ण तप है—उस तप से सन्तप्त करके इसके जीवन को भी द्वेष के मल से रहित कीजिए। इसे भी कुछ ऐसी प्रेरणा प्राप्त हो कि यह अपना दोष देखे और उसके लिए उसमें पश्चात्ताप की भावना उत्पन्न हो। यह पश्चात्ताप उसे द्वेष से ऊपर उठानेवाला हो।

भावार्थ—अग्नि का तप समाज-विद्वेषी को तप्त करके उसे द्वेष के मल से रहित करे।

सूचना—'अग्नि' शरीर में वाणी है। इस वाणी का तप द्वेष की भावनाओं को दूर करनेवाला हो। प्रचारक वाणी से इसप्रकार के उपदेश करे कि उस द्वेषी का मन पश्चात्ताप की भावना से सन्तप्त हो उठे और वह द्वेष से ऊपर उठने का निश्चय कर ले।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्विषमात्रिपादगायत्री** ॥

हरण

अग्ने यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

१. हे **अग्ने**=सब दोषों को गति के द्वारा भस्म करनेवाले प्रभो! **यत् ते हरः**=आपकी जो दोषहरण शक्ति है, **तेन**=उससे **तं प्रति हर**=उस व्यक्ति के दोष का हरण करो **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हम सबके साथ द्वेष करता है और इसीलिए **यं वयं द्विष्मः**=जिससे हम भी प्रीति नहीं कर पाते। २. प्रथम मन्त्र में 'तप' का उल्लेख था, प्रस्तुत मन्त्र में 'हरस्' का उल्लेख है। तप के द्वारा ही दोषों का हरण हुआ करता है। सोने को तपाकर ही उसके दोषों को दग्ध किया जाता है। इन्द्रियों के दोष भी प्राणायाम के तप से ही अपहृत होते हैं—'**प्राणायामैर्दहेद्दोषान्**'। एक पापी के हृदय में पश्चात्ताप की भावना ही उसके पाप का हरण करती है। ३. एक सन्त इस अग्नि, अर्थात् वाणी के द्वारा ही एक व्यक्ति को प्रभावित करके उसमें पश्चात्ताप की भावना

उत्पन्न करता है और उसके दोषों का हरण करता है। तप के पश्चात् ही हरण होता है।

भावार्थ—'अग्नि' पापी के हृदय में पश्चात्ताप की भावना उत्पन्न करके उसके दोषों का हरण करे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री**॥

अर्चि-ज्ञानज्वाला

अग्ने यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=ज्ञान की ज्योति से दीप्त प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपकी **अर्चिः**=ज्ञान की ज्वाला है, **तेन**=उससे **तं प्रति अर्च**=उसके अन्दर उस ज्वाला को जगाइए, जिसमें उसका सब द्वेष दग्ध हो जाए। यह ज्वाला उसमें जगाइए **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हमसे द्वेष करता है और परिणामतः **यम्**=जिससे **वयम्**=हम **द्विष्मः**=प्रेम नहीं कर पाते (द्विष अप्रीतौ)। २. गतमन्त्र में वर्णित हरण के लिए आवश्यक है कि उस द्वेष करनेवाले के हृदय में ज्ञान की ज्वाला दीप्त की जाए। द्वेष इसी ज्वाला में भस्मीभूत होगा। अज्ञान में ही द्वेष पनपता है। ज्ञान वह अग्नि है, जिसमें सब अशुभ वासनाएँ दग्ध हो जाती हैं।

भावार्थ—ज्ञान की ज्वाला में द्वेष की भावनाएँ दग्ध हो जाएँ। अग्नि हमारे हृदय में ज्ञानाग्नि को दीप्त करे और वहाँ यह ज्ञानज्वाला सब वासनामल को भस्म कर दे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री**॥

शोचिः (ज्वाला की दीप्ति)

अग्ने यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=ज्ञानदीप्त प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपकी **शोचिः**=ज्ञान-ज्वाला की दीप्ति है, **तेन**=उससे **तं प्रति शोच**=उसके जीवन में दीप्ति कीजिए **यः**=जो **अस्मान्**=हम सबके प्रति **द्वेष्टि**=द्वेष करता है और परिणामतः **वयम्**=हम भी **यम्**=जिससे **द्विष्मः**=प्रीति नहीं कर पाते। २. इन द्वेष स्वभाववाले व्यक्तियों के हृदय में ज्ञान-ज्वाला से दीप्ति उत्पन्न करके इनके द्वेषभाव को समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। अज्ञान द्वेष का कारण बनता है। ज्ञान की दीप्ति होते ही द्वेष की व्यर्थता स्पष्ट हो जाती है। मूर्ख ही द्वेष कर सकता है, ज्ञानी नहीं।

भावार्थ—ज्ञान की दीप्ति के द्वारा हम हृदयों को शुद्ध करके द्वेष-भावना का विनाश करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिग्विषमात्रिपाद्गायत्री**॥

तेजस्

अग्ने यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=अग्नि के समान तेजस्वी प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका **तेजः**=तेज है, **तेन**=उसके द्वारा **तम्**=उसे **अतेजसम्**=तेजहीन **कृणु**=कीजिए, **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हम सबके साथ द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसे **वयम्**=हम भी **द्विष्मः**=अप्रीति योग्य समझते हैं। २. राष्ट्र में राजा अग्नि है। यह राजा समाज-विद्वेषियों को उचित दण्ड आदि के द्वारा निस्तेज कर दे, जिससे वे समाज को हानि न पहुँचा सकें। समाज में ज्ञानी ब्राह्मण भी अग्नि हैं। ये अपनी वाणी द्वारा ज्ञान को इस रूप में प्रसारित करें कि समाज-द्वेषी उससे प्रभावित होकर अपनी द्वेष आदि वृत्तियों के लिए ग्लानि का अनुभव करें।

भावार्थ—राजा व प्रचारक के दण्ड व वक्तृत्व के तेज के सामने द्वेष करनेवाले पुरुष निस्तेज होकर द्वेष को छोड़नेवाले हों।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त का भाव यही है कि अग्नि अपने 'तपस्, हरस्, अर्चिस्, शोचिस् व तेजस्' के द्वारा द्वेष करनेवाले पुरुषों को इस द्वेष की वृत्ति से पृथक् कर दे। अगले सूक्तों में अग्नि का स्थान 'वायु, सूर्य, चन्द्र व आपः' लेते हैं। अवशिष्ट मन्त्रभाग में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। 'वायु' (वा गतिगन्धनयोः) गति के द्वारा सब प्रकार की बुराइयों का हिंसन करनेवाला है। 'सूर्य' (सृ गतौ, षू प्रेरणे) निरन्तर गतिवाला होता हुआ सबको कर्मों के लिए प्रेरित करता है और मानो यही कहता है कि गति ही तुम्हें चमकाएगी। 'चन्द्र' (चदि आह्लादे) आह्लादमय मनोवृति का संकेत करता है। 'आपः' (आप् व्याप्तौ) व्यापकता का बोध करा रहा है। ये वायु आदि से सूचित भाव द्वेषभावना को नष्ट करनेवाले हैं। यदि एक मनुष्य 'वायु, सूर्य, चन्द्र व आपः' बनने का प्रयत्न करता है तो वह द्वेषादि के दुर्भावों में पड़ ही नहीं सकता। मुख्यरूप से ये सब शब्द प्रभु के वाचक हैं। वे प्रभु ही 'अग्नि' हैं (तदेवाग्निः), वे ही 'वायु' हैं (तद् वायुः)। वे ही 'सूर्य' हैं (तदादित्यः)। वे ही 'चन्द्रमा' हैं (तदु चन्द्रमाः)। प्रभु को ही 'आपः' कहते हैं (ता आपः)। ये प्रभु अपनी 'तपस्, हरस्, अर्चिस्, शोचिस् व तेजस्' के द्वारा द्वेषियों के द्वेष दूर करें। सूक्त इसप्रकार हैं—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—१-४ **निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री,**
५ **भुरिग्विषमात्रिपाद्गायत्री** ॥

वायु का 'तप, हरस्, अर्चिः, शोचिः व तेज'

वायो यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥
वायो यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥
वायो यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥
वायो यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥
वायो यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

भावार्थ—वायु अपने तप आदि के द्वारा द्वेषियों के द्वेष को दूर करे। राष्ट्र में राजा भी वायु है। राजा क्रियाशीलता के द्वारा राष्ट्र में से बुराई को दूर करे। समाज में ज्ञानी प्रचारक भी 'वायु' की भाँति गतिशील होता हुआ ज्ञानप्रसार द्वारा बुराई को दूर करे।

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—१-४ **निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री,**
५ **भुरिग्विषमात्रिपाद्गायत्री** ॥

सूर्य का 'तप, हरस्, अर्चिः, शोचिः व तेज'

सूर्य यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥
सूर्य यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥
सूर्य यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥
सूर्य यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥
सूर्य यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

भावार्थ—सूर्य अपने तप आदि के द्वारा द्वेषियों के द्वेष को दूर करे। राष्ट्र में राजा भी सूर्य है। राजा सूर्य की भाँति निरन्तर सरणवाला हुआ सब लोगों को क्रिया-प्रवृत्त करता है, जिससे

न वे खाली हों और न ही व्यर्थ के द्वेष आदि में पड़ें। समाज में ज्ञानी प्रचारक को भी सूर्य की भाँति निरन्तर भ्रमण करते हुए ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान-अन्धकार को दूर करना है, जिससे लोग द्वेष आदि आसुर भावनाओं को त्याज्य ही समझें।

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रः** ॥ छन्दः—**१-४ निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री, ५ भुरिग्विषमात्रिपाद्गायत्री** ॥

चन्द्र का तप, हरस्, अर्चिः, शोचिः व तेज

चन्द्र यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥
चन्द्र यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥
चन्द्र यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥
चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥
चन्द्र यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

भावार्थ—सदा आह्लादमय प्रभु (चन्द्र) अपने तप आदि के द्वारा द्वेष-भावना को दूर करे। राष्ट्र में राजा भी चन्द्र है। इसे अपने आह्लादमय स्वभाव से प्रजा के स्वभाव में भी परिवर्तन करना है। समाज में एक ज्ञानी प्रचारक को भी ज्ञान-प्रसार के साथ अपनी प्रसादमयी मनोवृत्ति से सभी को द्वेष से रहित होने की प्रेरणा देनी है।

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**१-४ समविषमात्रिपाद्गायत्री, ५ स्वराड्विषमात्रिपाद्गायत्री** ॥

आपः का 'तप, हरस्, अर्चिः, शोचिः व तेज'

आपो यद्वस्तपस्तेन तं प्रति तपत यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥
आपो यद्वो हरस्तेन तं प्रति हरत यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥
आपो यद्वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥
आपो यद्वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥
आपो यद्वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

भावार्थ—सर्वव्यापक प्रभु अपने तप आदि के द्वारा द्वेषियों के द्वेष को दूर करे। राजा भी राष्ट्र में गुप्तचरों व अध्यक्षों के द्वारा व्यापक-सा होकर जहाँ भी द्वेष को देखे उसे दूर करने के लिए यत्नशील हो। ज्ञान-प्रचारक भी अपने हृदय को विशाल व उदार बनाता हुआ ज्ञान-प्रसार व अपने क्रियात्मक उदाहरण से लोगों को द्वेष की भावना से ऊपर उठने की प्रेरणा दे।

उन्नीस से तेईस तक पाँच सूक्तों का उपदेश

१. इन सूक्तों का भाव ऊपर दिया ही है। मूल भावना द्वेष से ऊपर उठने की है। इस द्वेष से ऊपर उठने के लिए 'अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र व आपः' बनना चाहिए। अग्नि की भाँति गतिशील (अगि गतौ), वायु की भाँति गति के द्वारा बुराइयों को दूर करनेवाला (वा गतिगन्धनयोः), सूर्य की भाँति सरणशील व कर्मप्रेरणा देनेवाला, चन्द्रमा की भाँति आह्लादमय तथा आपः की भाँति व्यापकतावाला बनने से द्वेष का प्रसङ्ग रहता ही नहीं। २. इसीप्रकार द्वेष को दूर करने के लिए 'तपस्, हरस्, अर्चिस्, शोचिस् व तेजस्' का साधन आवश्यक है। तप सब मलों का

हरण करता है। ज्ञानज्वाला जीवन को शुचि व दीप्त बनाती है। तेजस्विता के सामने द्वेषादि भाव स्वयं अभिभूत व निस्तेज हो जाते हैं, तेजस्विता के साथ द्वेष का निवास नहीं। ३. अग्नि शरीर में 'वाणी' है, वायु 'प्राण', सूर्य 'चक्षु', चन्द्र 'मन' और आपः 'रेतस्' है। 'वाणी का संयम, प्राणसाधना(प्राणायाम), तत्त्वदर्शन, मनो-निग्रह, ऊर्ध्व-रेतस्कता' द्वेष आदि सब अशुभ भावनाओं को समाप्त कर देते हैं। एवं ये पाँच साधन मनुष्य के जीवन को अत्यन्त उन्नत व सुन्दर बनानेवाले हैं। अगले सूक्त में सब अशुभ वासनाओं के विनाश का ही निर्देश है। इस सूक्त का ऋषि ब्रह्मा है—वृद्धिवाला। देवता 'आयुः' है—उत्तम जीवन। ब्रह्मा चाहता है कि—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्पङ्क्तिः** ॥

घातपात की उत्सुकता का दूर होना

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ १॥

१. **शेरभक**=हे वध करनेवाले ('शसु वधे'धातु से 'ड' प्रत्यय करके 'शः' वध, तत्र रभते उत्सुकी भवति इति शेरभः शेरभ एव शेरभकः), **शेरभ**=शेरभवत् सबके वधक, हे **किमीदिनः**=(किम् इदानीम् इति चरते—नि०) लुटेरो! **वः**=तुम्हारे **यातवः**=भेजे हुए राक्षसी वृत्तिवाले लोग **पुनः**=फिर लौटकर **वः यन्तु**=तुम्हें ही प्राप्त हों, **हेतिः**=तुम्हारे अस्त्र-शस्त्र **पुनः**=फिर तुम्हें ही प्राप्त हों। २. **यातवः**=हे राक्षसी वृत्ति के लोगो! **यस्य स्थ**=तुम जिसके हो **तम् अत्त**=उसे ही खानेवाले होओ। **यः**=जो **वः**=तुम्हें **प्राहैत्**=भेजता है तुम **तम् अत्त**=उसे ही खाओ तथा **स्वा मांसानि अत्त**=अपने मांस को ही खानेवाले बनो।

भावार्थ—हममें से दूसरों के घातपात की वृत्ति नष्ट हो जाए। यह अशुभ भाव हमारे ही सन्ताप का कारण बने और हम प्रायश्चित्त करके इससे दूर होने का संकल्प करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्पङ्क्तिः** ॥

घातपात की वृत्ति का अन्त

शेवृधक शेवृध पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ २॥

१. **शेवृधक**=(शस्+ड=श, तत्र वर्धते) हे घातपात की वृत्ति में बढ़नेवाले! **शेवृध**=घातपात से ही अपने को बढ़ाने की कामनावाले! **किमीदिनः**=हे लुटेरो! **वः**=तुम्हारे **यातवः**=अनुयायी लोग **पुनः**=फिर से तुमपर ही पड़ें। २. हे **यातवः**=राक्षसी वृत्ति के लोगो! **यस्य स्थ**=जिसके तुम हो **तम अत्त**=उसी को खाओ। **यः वः प्राहैत्**=जिसने तुम्हें भेजा है **तम् अत्त**=उसे खाओ, **स्वा मांसानि अत्त**=अपने ही मांस को खाओ। ३. इसप्रकार के समाज-विरोधी तत्त्व राज्य-प्रबन्ध की उत्तमता से, स्वयं ही एक-दूसरे के विरोध में होकर नष्ट हो जाएँ। इन्हें उत्तम प्रेरणाएँ, राजदण्ड का भय व राज्य-व्यवस्था की उत्तमता से उत्पन्न हुई-हुई विवशता परिवर्तित जीवनवाला कर दे।

भावार्थ—राज्य-व्यवस्था की उत्तमता से घातपात की वृत्ति से बढ़नेवाले लोग समाप्त हो जाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरोदेवत्यापङ्क्तिः** ॥

चोरी की वृत्ति का अन्त

म्रोकानुम्रोक पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ ३॥

१. **म्रोक**=हे चोर (म्रोचति चोरयति इति म्रोकः, तमनुसरतीति अनुम्रोकः)! **अनुम्रोक**=हे चोर के अनुयायिन्! **किमीदिनः**=हे लुटेरे लोगो! **वः**=तुम्हारे **यातवः**=पीड़ाकर राक्षसी वृत्ति के लोग **पुनः यन्तु**=लौटकर तुम्हें ही प्राप्त हों। **हेतिः पुनः**=तुम्हारे अस्त्र-शस्त्र तुमपर ही पड़ें। २. **यस्य स्थ**=तुम जिसके हो **तम् अत्त**=उसी को खाओ। **यः**=जो **वः**=तुम्हें **प्राहैत्**=भेजता है **तम् अत्त**=उसे खाओ, **स्वा मांसानि अत्त**=अपने ही मांस को खानेवाले बनो।

भावार्थ—चोरी की वृत्ति का अन्त हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरोदेवत्यापङ्क्तिः** ॥

कुटिलता का अन्त

सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ ४॥

१. हे **सर्प**=कुटिल चालवाले! **अनुसर्प**=हे कुटिल-पुरुष के अनुयायिन्! (सर्पति कुटिलतां गच्छति, तमनुसर्पति)। **किमीदिनः**=हे लुटरो! **वः**=तुम्हारे **यातवः**=पीड़ा देनेवाले राक्षसी वृत्ति के लोग **पुनः यन्तु**=फिर से तुम्हें प्राप्त हों, **हेतिः पुनः**=तुम्हारे अस्त्र-शस्त्र तुमपर ही पड़ें। २. **यस्य स्थ**=जिसके तुम हो **तम् अत्त**=उसे ही खाओ, **यः**=जो **वः** तुम्हें **प्राहैत्**=भेजता है **तम् अत्त**=उसे नष्ट करो और **स्वा मांसानि अत्त**=अपने ही मांसों को खाओ।

भावार्थ—राष्ट्र में कुटिलवृत्ति के पुरुष न रहें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाबृहती** ॥

क्रोध आदि से ऊपर

जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ ५॥

१. हे **जूर्णि**=क्रोधवृत्ति (जीर्णं भवति प्राणिशरीरम् अनयेति जूर्णिः, Anger)! **किमीदिनीः**=डाका मारने की वृत्तियो! **वः**=तुम्हारे **यातवः**=पीड़ित करनेवाले राक्षसी वृत्ति के लोग **पुनः यन्तु**=फिर से तुम्हें प्राप्त हों। **हेतिः पुनः**=तुम्हारे अस्त्र तुमपर ही प्रहार करनेवाले हों। २. **यस्य स्थ**=तुम जिसके हो **तम् अत्त**=उसी को खाओ, **यः वः प्राहैत्**=जो तुम्हें भेजता है, **तम्**=उसे खानेवाले होओ। **स्वा मांसानि अत्त**=अपने ही मांसों को खानेवाले बनों।

भावार्थ—शक्ति को जीर्ण करनेवाली क्रोध आदि वृत्तियों से हम ऊपर उठें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**भुरिक्चतुष्पदाबृहती** ॥

क्रूर शब्दों का त्याग

उपब्दे पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ ६॥

१. **उपब्दे**=(क्रूर शब्दकारिणी—सा०) क्रूर शब्द करने की वृत्ते! **किमीदिनीः**=डाका आदि मारने की वृत्तियो! **वः**=तुम्हारे **यातवः**=पीड़ित करनेवाली राक्षसी वृत्ति के लोग **पुनः यन्तु**=फिर से तुम्हें ही प्राप्त हों। **हेतिः पुनः**=तुम्हारे अस्त्र लौटकर तुमपर ही प्रहार करनेवाले हों। २. **यस्य स्थ**=तुम जिसके हो **तम् अत्त**=उसी को खाओ, **यः वः प्राहैत्**=जो तुम्हें भेजता है, **तम् अत्त**=उसे खाओ। **स्वा मांसानि अत्त**=अपने ही मांसों को खानेवाले बनो।

भावार्थ—व्यर्थ के क्रूर शब्दों के उच्चारण करने की वृत्ति विनष्ट हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**भुरिक्चतुष्पदाबृहती** ॥

शुद्ध उपायों से अर्जन

अर्जुनि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ७ ॥

१. 'अर्जुनि' शब्द एक प्रकार की सर्पिणी के लिए आता है। वस्तुतः अर्ज धातु कमाने के अर्थ में आती है। कुटिलता से, छल-छिद्र से कमाने की वृत्ति ही 'अर्जुनी' है। हे **अर्जुनि**=छल-कपट से कमाने की वृत्ते! **किमीदिनीः**=लूट-खसोट की वृत्तियो! **वः**=तुम्हारे **यातवः**=पीड़ित करनेवाले राक्षसी लोग **पुनः यन्तु**=फिर से तुम्हें ही प्राप्त हों, **हेतिः पुनः**=तुम्हारे अस्त्र लौटकर फिर तुमपर ही प्रहार करनेवाले हों। २. **यस्य**=जिसकी **स्थ**=तुम हो **तम् अत्त**=उसे ही खा जाओ, **यः वः प्राहैत्**=जो तुम्हें भेजता है, **तम् अत्त**=उसे ही खा जाओ। **स्वा मांसानि अत्त**=अपने ही मांस को खा जाओ।

भावार्थ—छल-छिद्र से कमाने की वृत्ति हमसे दूर हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**भुरिक्चतुष्पदाबृहती** ॥

धूर्त्तता से दूर

भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ८ ॥

१. 'भरूजी' शब्द गीदड़ (jackal) के लिए आता है। शृगाल धूर्तता के लिए प्रसिद्ध है। हे **भरूजि**=धूर्तता की वृत्ते! **किमीदिनीः**=हे लूट-खसोट की वृत्तियो! **वः**=तुम्हारे **यातवः**=अनुयायी **पुनः यन्तु**=लौटकर तुम्हारे ही पास आएँ। **हेतिः पुनः**=तुम्हारे अस्त्र लौटकर तुमपर ही प्रहार करनेवाले हों। २. **यस्य स्थ**=तुम जिसके हो **तम् अत्त**=उसी को खाओ। **यः वः प्राहैत्**=जो तुम्हें भेजता है **तम् अत्त**=उसे खानेवाले बनो, **स्वा मांसानि अत्त**=तुम अपने ही मांसों को खानेवाले होओ।

भावार्थ—हम शृगाल जैसी वृत्तिवाले न हों, धूर्तता से दूर होकर सरलता को अपनाएँ।

विशेष—प्रस्तुत सूक्त में समाज के उत्कर्ष के लिए आठ बातों का प्रतिपादन हुआ है—१. घातपात की उत्सुकता से हम शून्य हों (शेरभक), २. औरों के नाश को अपनी वृद्धि का आधार न बनाएँ (शेवृधक), ३. चोरी का त्याग करें (म्रोक), ४. सर्प की भाँति कुटिल न हों (सर्प), ५. क्रोध से ऊपर उठें (जूर्णि), ६. क्रूर शब्दों व बहुत बोलने का त्याग करें(उपब्दि),७. छल-छिद्र से अर्जन करनेवाले न हों (अर्जुनी), ८. शृगाल की भाँति धूर्त न हों—धूर्तता से सदा दूर हों (भरूजी)। इन आठ अशुभ वृत्तियों से रहित समाज कितना सुन्दर समाज होगा! इस सूक्त में 'स्वा मांसानि अत्त' आदि शब्दों से यह स्पष्ट कर दिया है कि ये वृत्तियाँ अपने आश्रयभूत व्यक्ति को ही समाप्त करनेवाली हैं, अतः इनका त्यागना ही व्यक्ति के कल्याण के लिए है। इनके त्याग से ही व्यक्ति दीर्घायुष्य को प्राप्त करता है। इसी दृष्टिकोण से इस सूक्त का देवता 'आयुः' रक्खा गया है। इन अशुभ वृत्तियों के नाश के लिए ही पृश्निपर्णी नामक वनस्पति के प्रयोग का अगले सूक्त में संकेत है। उसके प्रयोग से इन वृत्तियों को नष्ट करनेवाला 'चातनः' इस सूक्त का ऋषि है। वह प्रार्थना करता है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पृश्निपर्णी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कण्वजम्भनी पृश्निपर्णी

शं नो देवी पृश्निपर्ण्यशं निर्ऋत्या अकः।
उग्रा हि कण्वजम्भनी तामभक्षि सहस्वतीम्॥ १॥

१. **देवी**=रोगों को जीतने की कामना करनेवाली यह **पृश्निपर्णी**=चित्रपर्णी नामक ओषधि **नः शम्**=हमारे लिए शान्ति करनेवाली हो। **निर्ऋत्या**=रोग की निदानभूत दुर्गति के लिए यह **अशं अकः**=दु:ख (अशान्ति) करे, अर्थात् निर्ऋति को हमसे दूर करके यह हमें नीरोग करे। २. यह पृश्निपर्णी **हि**=निश्चय से **उग्रा**=बड़ी तीव्र व तेजस्विनी है, **कण्वजम्भनी**=पापों व रोगों को नष्ट करनेवाली है, **ताम्**=उस **सहस्वतीम्**=प्रशस्त बलवाली व शत्रुभूत रोगबीजों का मर्षण करनेवाली पृश्निपर्णी का **अभक्षि**=मैं सेवन करता हूँ।

भावार्थ—पृश्निपर्णी ओषधि का प्रयोग रोगबीजों व पापों को नष्ट करके हमें शरीर व मन से स्वस्थ बनाता है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पृश्निपर्णी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कुष्ठादि रोगों का शिरश्छेद

सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्ण्य जायत।
तयाहं दुर्णाम्नां शिरो वृश्चामि शकुनेरिव॥ २॥

१. **इयम्**=यह **पृश्निपर्णी**=चित्रपर्णी वनस्पति **सहमाना**=रोगों का अभिभव करनेवाली है, अतएव **प्रथमा**=ओषधियों में इसका मुख्य स्थान **अजायत**=हो गया है। २. **तया**=इस पृश्निपर्णी के द्वारा **अहम् दुर्णाम्नाम्**=मैं विसर्पक-श्वित्र आदि अशुभ नामवाले कुष्ठ रोगविशेषों का **शिरः**=सिर इसप्रकार **वृश्चामि**=काट डालता हूँ **इव**=जैसे कि खड्ग आदि के प्रहार से अनायास ही किसी **शकुनेः**=पक्षी का सिर काट डाला जाता है।

भावार्थ—पृश्निपर्णी से कोढ़ आदि अशुभ नामवाले रोग दूर हो जाते हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पृश्निपर्णी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रक्तदोष निवारण

अरायमसृक्पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति।
गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च॥ ३॥

१. हे **पृश्निपर्णि**=चित्रपर्णि ओषधे! तू उस **कण्वम्**=रोगबीज व पाप को **नाशय**=लुप्त कर दे (णश अदर्शने) **सहस्व च**=तथा कुचल डाल **यः**=जो **स्फातिम्**=वृद्धि को **जिहीर्षति**=हर लेना चाहता है—शरीर की वृद्धि को रोक देता है। **अरायम्**=शरीर की शोभा को नष्ट करनेवाला जो कुष्ठ आदि रोग है, उसे नष्ट कर तथा **असृक्पावानम्**=रुधिर को पी लेनेवाले कामला आदि रोगों को भी नष्ट कर। २. इनके साथ **गर्भादम्**=गर्भ को खा जानेवाले रोगबीज को तू नष्ट करनेवाला हो। ३. आयुर्वेद के अनुसार यह पृश्निपर्णि 'दाह,ज्वर, श्वास, रक्त-अतिसार, तृषा व वमन' को दूर करती है। यहाँ **अरायं असृक्पावानं नाशय**=शब्दों से रक्तदोष को दूर करने का उल्लेख है। रक्तदोष को दूर करके यह वृद्धि का कारण बनती है। माता के रक्तदोष के दूर होने पर गर्भस्थ बालक के शरीर का भी ठीक से पोषण होता है।

भावार्थ—पृश्निपर्णी रक्तदोष को दूर करती है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पृश्निपर्णी** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

अव्याकुल जीवन

गिरिमेनाँ आ वेशय कण्वाञ्जीवितयोपनान्।
तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि ॥ ४ ॥

१. **एनान्**=इन **जीवितयोपनान्**=(युप विमोहने) जीवन के विमोहक—व्याकुल करनेवाले **कण्वान्**=रोगबीजों को **गिरिम्**=पर्वतों में **आवेशय**=गाड़ दो। हे पृश्निपर्णे! तू इन रोगों को इसप्रकार दूर कर दे कि ये लौटकर फिर हमारे पास न आ सकें। तू इन्हें पर्वतशिलाओं के नीचे गाड़ दे। २. हे **देवि पृश्निपर्णि**=रोगों को जीतनेवाली पृश्निपर्णे! **त्वम्**=तू **तान्**=उन कण्वों को **अग्निः इव**=अग्नि की भाँति **अनुदहन्**=क्रमशः जलाती हुई **इहि**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—पृश्निपर्णी का सेवन रोगबीजों को भस्म करके हमारे जीवनों को व्याकुलता-रहित कर दे।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पृश्निपर्णी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अन्धकार में रोग

पराच एनान्प्र णुद कण्वाञ्जीवितयोपनान्।
तमांसि यत्र गच्छन्ति तत्क्रव्यादो अजीगमम् ॥ ५ ॥

१. हे पृश्निपर्णे! तू **जीवितयोपनान्**=जीवन की व्याकुलता के कारणभूत **एनान्**=इन **कण्वान्**=रोगबीजों को **पराचः प्रणुद**=पराङ्मुख करके दूर कर दे। ये कण्व हमसे दूर होकर हमें नीरोग जीवन बिताने दें। २. **यत्र**=जहाँ **तमांसि गच्छन्ति**=अँधेरा जाता है, जिस स्थान पर अन्धकार-ही-अन्धकार होता है—सूर्यप्रकाश नहीं पहुँचता, **तत्**=उस असूर्य-स्थान में इन **क्रव्यादः**=मांस आदि शरीर-धातुओं के खा जानेवाले कुष्ठ आदि रोगों को **अजीगमम्**=प्राप्त कराता हूँ। ये रोग उसी स्थान में होते हैं जहाँ सूर्य-किरणों का प्रवेश नहीं होता।

भावार्थ—सूर्य प्रकाश में रहते हुए हम पृश्निपर्णी के प्रयोग से कुष्ठादि रोगों को दूर करें।

विशेष—यह सूक्त पृश्निपर्णी ओषधि का वर्णन करता है। यह ओषधि रोगबीजों को नष्ट करके हमारे जीवनों को व्याकुलतारहित, शान्त व शोभावाला बनाती है। जीवन को सुन्दर बनाने के लिए ही गोदुग्ध सेवन का अधिक महत्त्व है। इसका ही वर्णन अलगे सूक्त में है। गोरस के प्रयोग से अपने में सोम आदि धातुओं का सवन करनेवाला 'सविता' ही अगले सूक्त का ऋषि है। यह सविता चाहता है कि—

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**सविता** ॥ देवता—**पशवः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गौओं का घर से बाहर जाना

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष।
त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन्तान् गोष्ठे सविता नि यच्छतु ॥ १ ॥

१. **इह**=यहाँ—हमारे घरों में **पशवः**=पशु **आयन्तु**=लौटकर आनेवाले हों, **ये**=जो **परेयुः**=चरने के लिए दूर निकल गये हैं, **येषाम्**=जिन पशुओं के **सहचारम्**=सहचरण को **वायुः जुजोष**=वायु ने सेवन किया, अर्थात् जो पशु खूब खुले मैदानों में चरनेवाले बने वे दिनभर वायुसेवन के पश्चात्

अब घरों में लौटें। २. **त्वष्टा**=(इन्द्रो वै त्वष्टा—ऐ० ६.१०) दीप्तिमान् सूर्य **येषाम्**=जिनके **रूपधेयानि वेद**=रूपों में धारण को जानता है, अर्थात् जिनमें उत्तम रूप स्थापित है। ये गौ आदि पशु जितना सूर्य-किरणों के सम्पर्क में समय बिता पाएँगे, उतना ही सुरूप होते हुए उत्तम दूधवाले भी होंगे। **तान्**=उन पशुओं को **सविता**=दूध का अभिषव व दोहन करनेवाला व्यक्ति **अस्मिन् गोष्ठे**=इस गोष्ठ स्थान में **नियच्छतु**=बाँधकर रक्खे।

भावार्थ—प्रातः दुग्धदोहने के बाद गौएँ चरने के लिए चारागाहों में जाएँ। इस समय वायु व सूर्य के सम्पर्क में रहती हुई वे स्वस्थ होंगी व पौष्टिक दूध देनेवाली होंगी।

ऋषिः—**सविता** ॥ देवता—**पशवः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गवादि पशुओं का घर वापस आना

इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु बृहस्पतिरा नयतु प्रजानन्।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ ॥ २ ॥

१. **इमं गोष्ठम्**=इस गोष्ठ में **पशवः**=गौ आदि पशु **संस्रवन्तु**=सम्यक् प्राप्त हों। **बृहस्पतिः**=(बृहत्=strong, powerful) इनका शक्तिशाली रक्षक गोप **प्रजानन्**=इन पशुओं का पूरा ध्यान रखता हुआ इन्हें **आनयतु**=पुनः घरों पर वापस लानेवाला हो। २. **सिनीवाली**=प्रशस्त अन्न का वरण करनेवाली (सिनम्, अन्नम्, वालं वृणोते:), अर्थात् इन गवादि पशुओं के लिए उत्तम यवसादि की व्यवस्था करनेवाली (सूयवसाद् भगवती हि भूयाः) **एषाम्**=इन पशुओं को **अग्रं आनयतु**=आगे लानेवाली हो, अर्थात् जब ये गोप के द्वारा चारागाह से वापस लाये जाएँ तब गृहपत्नी इनका स्वागत करने के लिए तैयार हो। इसप्रकार इन गौ आदि पशुओं एवं गृहपत्नी में एक सुन्दर प्रेममय सम्बन्ध की स्थापना हो जाती है। ऐसे पशु अत्यन्त गुणकारी दूध देते हैं। ३. हे **अनुमते**=अनुकूल मतिवाली गृहपत्नि! **आजग्मुषः**=घर में आये हुए इन पशुओं को **नियच्छ**=तू उचित बन्धन में करनेवाली हो, इन्हें ठीक स्थान पर बाँध। गृहपत्नी पशुओं के प्रति जितने अनुकूल विचारवाली होती है, उतना ही पशुओं का दूध अधिक गुणकारी होता है।

भावार्थ—ग्वाला समझदारी से पशुओं का ठीक रक्षण करे। लौटे हुए पशुओं का गृहपत्नी स्वागत करती हुई उन्हें ठीक स्थान पर बाँधे और उनके लिए उचित चारे की व्यवस्था करे।

ऋषिः—**सविता** ॥ देवता—**पशवः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती** ॥

संस्राव्य हवि की आहुति

सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः।
सं धान्य [स्य या स्फातिः संस्राव्ये] ण हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

१. **पशवः**=गौ आदि पशु **सं सं स्रवन्तु**=मिलकर सम्यक् गतिवाले हों। चारागाहों में एकत्र होने पर परस्पर लड़ न पड़ें। **अश्वाः**=घोड़े **सं (स्रवन्तु)** मिलकर गतिवाले हों। इन पशुओं के **पूरुषाः**=रक्षक पुरुष **उ**=भी **सम्**=मिलकर गतिवाले हों। गोपों में परस्पर लड़ाई न हो जाए, इनकी लड़ाई में पशुओं की दुर्गति भी सम्भावित है ही। २. **धान्यस्य या स्फातिः**=धान्य की जो वृद्धि है, वह **सं (स्रवन्तु)** हमारे घरों में सम्यक् प्रवाहित हो। मैं **संस्राव्येण हविषा**=इन सबके संस्तव के लिए हितकर हवि के द्वारा **जुहोमि**=आहुति देता हूँ। राष्ट्र के सब घरों में अग्निहोत्र की ठीक व्यवस्था होने पर जहाँ शरीर व मानस नीरोगता प्राप्त होती है वहाँ गौओं, घोड़ों व धान्यों की कमी नहीं रहती।

भावार्थ—घरों में अग्निहोत्र होने पर गौओं, घोड़ों, व धान्यों का प्रवाह ठीक रहता है।

ऋषिः—**सविता** ॥ देवता—**पशवः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

घर पर गौ का ध्रुव निवास

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम्।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥ ४ ॥

१. मैं **गवां क्षीरम्**=गौओं के दूध को **संसिचामि**=सम्यक् सिक्त करता हूँ—रजकर गोदुग्ध का सेवन करता हूँ। **आज्येन**=घृत के द्वारा **बलम्**=शरीर में बल को तथा **रसम्**=वाणी में रस को **सम्**=सम्यक् सिक्त करता हूँ। गोदुग्ध के यथेष्ट पान से शरीर व मन स्वस्थ रहते हैं। गोघृत शरीर को बलवान् और वाणी को रसीला बनानेवाला है। २. **अस्माकं वीराः**=हमारे सन्तान भी **संसिक्ताः**=गोदुग्ध व घृत से सम्यक् सिक्त होते हैं, इसलिए **मयि गोपतौ**=मुझ गोरक्षक में **गावः**=गौएँ **ध्रुवाः**=ध्रुवता से रहती हैं। ऐसा कभी नहीं होता कि मैं गौ न रक्खूँ। मेरा घर सदा गौवाला घर बना रहता है। घर में गौ होने पर सब गोदुग्ध का यथेष्ट प्रयोग कर पाते हैं।

भावार्थ—घर पर गौ को नियम से रखना ही चाहिए, ताकि सब यथेष्ट दूध पी सकें।

ऋषिः—**सविता** ॥ देवता—**पशवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गौ, धान्य, पुत्रादि से समृद्ध घर

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं१ रसम्।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥ ५ ॥

१. मैं **गवां क्षीरम्**=गौओं के दूध का **आहरामि**=आहार करता हूँ तथा सदा **धान्यं रसम्**=अन्न-रस का **आहर्षम्**=आहार करनेवाला रहता हूँ। २. इस सात्त्विक भोजन का ही यह परिणाम है कि **अस्माकं वीराः आहृताः**=घर में हमें वीर सन्तानें प्राप्त हुई हैं तथा **पत्नीः**=गृहपत्नियाँ भी **इदं अस्तकम्**=इस घर में **वीराः**=वीर ही **आ (हृताः)**=आयी हैं। पत्नियाँ भी सात्त्विकता को लिये हुए होने से वीर हैं, उनकी सन्तान भी वीर हैं।

भावार्थ—गोदुग्ध व धान्य-रस के भोजन का यह परिणाम है कि घर खूब समृद्ध बना रहता है।

विशेष—यह सूक्त गोदुग्ध के महत्त्व को व्यक्त करता है। अगला सूक्त विजय-प्राप्ति का सन्देश दे रहा है। हमें प्रकृष्ट पथ्यरूप भोजन करनेवाला 'प्राश' बनना है। 'पाटा, नामक ओषधि इस प्राश के लिए सहायक होती है। यह ओषधि इसपर आक्रमण करनेवाले रोगकृमियों को नष्ट कर देती है—उन्हें अरस व शुष्क कर देती है। इसप्रकार पथ्य भोजन व पाटा नामक ओषधि-प्रयोग से यह नीरोग जीवनवाला व्यक्ति 'कम्=सुखम्, पिञ्जम्=शक्तिं (power) च लाति आदत्ते' सुख और शक्ति का आदान करनेवाला 'कपिञ्जल' होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'प्राश' से रोगों का नाश

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ॥ १ ॥

१. **शत्रुः**=रोगकृमि के रूप में हमारा शातन करनेवाला यह शत्रु **प्राशम्**=प्रकृष्ट भोजनवाले पथ्यसेवी पुरुष को **न इत् जयाति**=निश्चय ही जीत नहीं पाता। २. हे पाटा नामक ओषधे! तू भी **सहमाना**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाली और **अभिभूः असि**=रोगों को दबा लेनेवाली है। हे ओषधे=(दोषं धयति पिबति आदाय स्रोष) दोष को पी जानेवाली ओषधे! तू **प्राशं प्रति**

प्राशः=पथ्य-सेवी के, शत्रु बनकर उसे खा जानेवाले, रोगों को **जहि**=नष्ट कर दे। इन सब रोग व रोगकृमियों को **अरसान् कृणु**=तू शुष्क कर दे। इनकी शक्ति को तू समाप्त कर दे।

भावार्थ—हम 'प्राश'—उत्कृष्ट पथ्य भोजनवाले बनें। ओषधि का उचित प्रयोग करें। इसप्रकार हमारे रोगरूप शत्रु शुष्क होकर समाप्त हो जाएँगें।

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुपर्ण तथा सूकर द्वारा अन्वेषण

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत्सूकरस्त्वाखनन्नसा। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ २॥

१. हे **ओषधे**=पाटा नामक ओषधे! **त्वा**=तुझे **सुपर्णः**=गरुड़ **अनु+अविन्दत्**=क्रमशः खोज निकालता है। विष आदि के अपहरण के लिए गरुड़ को इसकी आवश्यकता रही है। वह वासनारूप (Instinctively) से इस ओषधि को खोज लेता है। २. **सूकरः**=सूअर **त्वा**=तुझे **नसा**=थुथनी से (नासिका सहित दंष्ट्रा से) **अखनत्**=खोद लेता है। भूमि के अन्दर उत्पन्न होनेवाली इस ओषधि को यह बाहर निकाल लेता है। ३. हे ओषधे! तू **प्राशम्**=पथ्यसेवी के **प्रतिप्राशः**=विरोधी बनकर उसे खा जानेवाले रोगों को **जहि**=नष्ट कर दे। इन रोगकृमियों को **अरसान् कृणु**=शुष्क कर दे।

भावार्थ—पाटा ओषधि को सुपर्ण और सूअर प्रभु-प्रदत्त वासना से ढूँढ लेते हैं और इसके सेवन से विषैले प्रभावों को दूर करते हैं।

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्र द्वारा पाटा का धारण

इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्य स्तरीतवे। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ ३॥

१. यह पाटा ओषधि 'भग्न-सन्धानकरी' है, अतः **इन्द्रः**=सेनापति ने **ह**=निश्चय से ही पाटा ओषधे! **त्वा**=तुझे **असुरेभ्यः**=असुरों से **तरीतवे**=पार पाने के लिए **बाहौ चक्रे**=अपनी भुजाओं पर धारण किया। संग्राम में विदारणों का भय बना ही रहता है। यह पाटा ओषधि इन विदारणों का सर्वोतम उपचार है, अतः सेनापति इसे सदा अपने समीप रखता है, मानो इसे बाहु पर ही धारण किये रहता है। २. हे **ओषधे**=ओषधे! तू **प्राशम्**=पथ्यसेवी के **प्रतिप्राशः**=विरोधी होकर खा जानेवाले रोगों को **जहि**=नष्ट कर। इन रोगकृमियों को **अरसान् कृणु**=शुष्क कर दे।

भावार्थ—पाटा ओषधि भग्नसन्धानकरी है, अतः संग्राम में घावों के उपचार में अत्यन्त उपयुक्त है, इसी से सेनापति इसे सदा समीप रखता है।

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

असुरों की पराजय

पाटामिन्द्रो व्या३ श्नादसुरेभ्य स्तरीतवे। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ ४॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्र ने **असुरेभ्यः तरीतवे**=असुरों से—प्राणशक्ति नाशक रोगकृमियों से पार पाने के लिए **पाटाम्**=पाटा नामक ओषधि का **व्याश्नात्**=भक्षण किया। यह पाटा 'वातपित्तज्वरघ्नी' तथा 'कफकण्ठरुजापहा' होने से रोगों की नाशक है। वात-पित व कफ़ तीनों के विकारों से होनेवाले कष्टों में यह उपयोगी है, अतः इन्द्र ने इसका भक्षण किया। २. इन्द्र से भक्षण की गई है **ओषधे**=ओषधे! तू **प्राशम्**=उत्कृष्ट भोजनवाले के **प्रतिप्राशम्**=विरोधी बनकर खा जानेवाले इन रोगों को **जहि**=नष्ट कर दे। तू इन रोगकृमियों को **अरसान्**=नीरस व शुष्क **कृणु**=कर दे।

भावार्थ-पाटा ओषधि वात-पित व कफ-जनित सभी विकारों की शान्ति के लिए उपयोगी है।

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रुओं का अभिभव

तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँइव। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ॥ ५ ॥

१. **तया**=गतमन्त्र में वर्णित पाटा नामक ओषधि से **अहम्**=मैं **शत्रून्**=रोगरूप शत्रुओं का **साक्षे**=पराभव करता हूँ, उसी प्रकार **इव**=जैसे **इन्द्रः**=राजा **सालावृकान्**=कुत्ते व गीदड़ों की वृत्तिवाले पुरुषों का पराभव करता है (शालावृक=a dog, a jackal)। इन्द्र जैसे कुत्तों का अभिभव करता है, उसी प्रकार मैं पाटा ओषधि से रोगों को अभिभूत करता हूँ। २. हे **ओषधे**=ओषधे! तू **प्राशम्**=इस प्रकृष्ट पथ्यभोजी के **प्रतिप्राशः**=विरोधी बनकर खा जानेवाले रोगों का **जहि**=विनाश कर और **अरसान् कृणु**=उन्हें शुष्क व मृत कर दे।

भावार्थ—पाटा नामक ओषधि से मैं रोगकृमियों को अभिभूत कर दूँ।

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सद् वैद्य

रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत्। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ॥ ६ ॥

१. **रुद्र**=(रुत् दुःखं दुःखहेतुर्वा तद् द्रावयति नः प्रभुः। रुद्र इत्युच्यते तस्मात् शिवः परमकारणम्।) हे रोगरूप दुःखों का द्रावण करनेवाले! **जलाषभेषज**=(जनैः लष्यते, जलाषं सुखम्) सुखकर ओषधियोंवाले! **नीलशिखण्ड**=(नील=नीड् शिखि गतौ) रोगियों के गृह की ओर जानेवाले (अपने रोगियों—patients के घरों का चक्कर—round लगानेवाले) **कर्मकृत्**=खूब क्रियाशील, कम बोलनेवाले वैद्य! आप इस पाटा ओषधि के प्रयोग से **प्राशम्**=इस पथ्यभोजी के **प्रतिप्राशः**=शत्रु बनकर इसे खा जानेवाले रोगों को **जहि**=नष्ट कर दीजिए। हे **ओषधे**=दोष-दहन करनेवाली भेषज! तू **अरसान् कृणु**=रोगकृमियों को शुष्क व मृत कर दे।

भावार्थ—वैद्य रोगों को दूर करनेवाला, सुखकर औषधवाला, रोगिगृहों पर जानेवाला व क्रियाशील (पुरुषार्थी) हो। वह उचित औषध-प्रयोग से रोगों को नष्ट करे।

सूचना—यहाँ 'नीलशिखण्ड' का अर्थ 'काली चोटीवाले'—ऐसा करते हैं और समझते हैं कि वैद्य अतिवृद्ध न हो गया हो। अर्थ व्याकरण के अनुसार ठीक है, परन्तु वृद्ध वैद्य अनुभव की अधिकता के कारण अधिक कुशल होता है। यह वृद्धता उसकी कमी न होकर उसका गुण बन जाती है। हाँ, वैद्य मरियल-सा न होना चाहिए, उसका रोगी पर वाञ्छनीय प्रभाव नहीं हो पाता।

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रोगों का नाश

तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति।
अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि ॥ ७ ॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **यः**=जो रोग **नः अभिदासति**=हमें सब प्रकार से उपक्षीण करता है, **तस्य**=उस रोग की **प्राशम्**=मुझे खा जाने की शक्ति को **त्वम् जहि**=तू नष्ट कर दे। २. **शक्तिभिः**=शक्तियों के द्वारा **नः अधिब्रूहि**=हमारे पक्ष में निर्णय दीजिए (speak in favour of), अर्थात् हम रोगों को जीत लें। **प्राशि**=भोजन के प्रकृष्ट होने पर **माम्**=मुझे **उत्तरं कृधि**=उत्कृष्ट कीजिए। मैं रोग को पादाक्रान्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु रोग की घातक शक्ति को नष्ट करें और मुझे रोग को जीतने की शक्ति दें।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त में रोग को पराजित करने की प्रार्थना है। रोगों को नष्ट करके हम दीर्घजीवन प्राप्त कर सकते हैं। इस दीर्घजीवन का ही उल्लेख अगले सूक्त में है। इसे प्राप्त करनेवाला 'शम्भूः' इसका ऋषि है। यह अपने में शान्ति उत्पन्न करता है। इसकी प्रार्थना का स्वरूप यह है—

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शम्भूः** ॥ देवता—**जरिमा, आयुः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सूर्यसम्पर्क व दीर्घजीवन

तुभ्यमेव जरिमन्वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये।
मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात्पात्वंहसः॥ १॥

१. **जरिमन्**=(जरैव जरिमा) हे जरे! **अयम्**=यह कुमार **तुभ्यम् एव**=तेरे लिए ही—तेरे आने तक, चिरकाल तक **वर्धताम्**=वृद्धि को प्राप्त होता चले। **इमम्**=इसे **अन्ये**=तुझसे भिन्न **ये**=जो **शतम्**=सैकड़ों **मृत्यवः**=रोगरूप मृत्यु हैं, वे **मा हिंसिषुः**=मत हिंसित करें। यह यौवन में ही रोगाभिभूत होकर जीवन को समाप्त करनेवाला न हो। २. **इव**=जिस प्रकार **प्रमना**=प्रमुदित मनवाली **माता**=माता **पुत्रम्**=पुत्र को **उपस्थे**=अपनी गोद में रक्षित करती है, उसी प्रकार **एनम्**=इस बालक को **मित्रः**=मृत्यु से बचानेवाला यह सूर्य **मित्रियात्**=सूर्य की अत्युष्णता से होनेवाले **अंहसः**=कष्ट से **पातु**=बचाए। यह बालक सूर्य की गोद में पले—अधिक-से-अधिक सूर्य के सम्पर्क में रहे, परन्तु सूर्य की अत्युष्णता से होनेवाले कष्टों से बचा रहे। सूर्य की किरणें इसके शरीर पर पड़कर रोगकृमियों को नष्ट करनेवाली हों।

भावार्थ—सूर्य के सम्पर्क में रहकर, रोगों से बचते हुए, हम पूर्णायुष्य को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**शम्भूः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सर्वदेव विकास

मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ।
तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति॥ २॥

१. **'मैत्रं व अहः वारुणी रात्रिः'** (मै० ब्रा० १.७.१०.१) के अनुसार दिन का अधिष्ठाता मित्र वा सूर्य है और रात्रि का अधिष्ठाता वरुण व चन्द्र है। **एनम्**=इस बालक को **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु से बचानेवाला सूर्य **वा**=तथा **रिशादाः**=(अद् असुन) हिंसकों को खा जानेवाला **वरुणः**=रोगों का निवारण करनेवाला चन्द्रमा—ये दोनों **संविदानौ**=ऐकमत्य को प्राप्त हुए-हुए, अर्थात् मिलकर कार्य करते हुए **जरामृत्युम्**=बुढ़ापे से ही होनेवाली मृत्युवाला **कृणुताम्**=करें। यह युवास्था में ही समाप्त न हो जाए। सूर्य इसके अन्दर प्राणशक्ति का सञ्चार करे **'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'** तथा चन्द्रमा ओषधीश होता हुआ इसके दोषों का निवारण करे। २. **तत्**=इसप्रकार सूर्य व चन्द्र के सम्पर्क में जीवन बिताने पर वह **होता**=सब आवश्यक पदार्थों का दाता **वयुनानि विद्वान्**=सब प्रज्ञानों को जानता हुआ, **अग्निः**=सब देवों का अग्रणी प्रभु इस व्यक्ति के जीवन में **देवानाम्**=सूर्यादि देवों के **विश्वाजनिमा**=सब विकासों को **विवक्ति**=विशिष्टरूप से कहनेवाला होता है। प्रभुकृपा से इनकी आँखों में सूर्य की शक्ति का प्रादुर्भाव होता है तो वाणी में अग्नि, नासिका में वायु और मन में चन्द्रमा की शक्ति का। इसप्रकार इसका जीवन सब देवशक्तियों के विकासवाला बनकर बड़ा उत्तम बनता है।

भावार्थ—सूर्य, चन्द्रमा व अन्य सब देव हमारे जीवन को दीर्घ बनानेवाले हों।

ऋषिः—**शम्भूः** ॥ देवता—**जरिमा, आयुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्राणापान की अनुकूलता तथा मित्र-अमित्रों से अभय

त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः।
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो अमित्राः॥ ३॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **पार्थिवानाम्**=इस पृथिवी पर उत्पन्न **पशूनाम्**=सब प्राणियों के **ईशिषे**=ईश हैं। **ये**=जो प्राणी **जाता**=उत्पन्न हो गये हैं **उत वा**=अथवा **ये**=जो **जनित्राः**=उत्पन्न होंगे, सभी के आप ईश हैं। २. **इमम्**=इस नवजात सन्तान को **प्राणः**=प्राण **मा हासीत्**=मत छोड़ जाए **मा उ अपानः**=और अपान भी न छोड़ जाए। प्राणापान के ठीक कार्य करने से यह दीर्घजीवन प्राप्त करे। **इमम्**=इसे **मित्राः**=मित्र **मा वधिषुः**=मत मार डालें **उ**=और **मा अमित्राः**=न ही अमित्र इसका वध करनेवाले हों। मित्रों की अधिकता भी दीर्घजीवन के लिए उतनी ठीक नहीं रहती, क्योंकि उसकी अधिकता हमारे बहुत-से समय का अपहरण कर लेती है और कई बार हम स्वस्थ रहने के लिए कितने ही आवश्यक कार्यों को भी नहीं कर पाते। शत्रुओं की अधिकता तो अशान्ति का कारण बनकर जीवन पर घातक प्रभाव पैदा करती ही है। अन्य स्थान पर यह प्रार्थना है ही कि मित्रों से भी अभय हो और अमित्रों से भी। वस्तुतः दीर्घजीवन के लिए आवश्यक ही है कि हमें मित्रों की अप्रसन्नता का भी भय न बना रहे और शत्रुओं के आक्रमण के भय से भी हम रहित हों।

भावार्थ—प्राणापान की अनुकूलता तथा मित्रों व अमित्रों से अभय हमें दीर्घजीवी बनाए।

ऋषिः—**शम्भूः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

द्युलोक व पृथिवीलोक का ऐकमत्य

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने।
यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः॥ ४॥

१. **त्वा**=तुझे **पिता द्यौः**=पितृस्थानापन्न द्युलोक तथा **माता पृथिवी**=मातृस्थानापन्न पृथिवी **संविदाने**=परस्पर ऐकमत्यवाली होकर **जरामृत्युं कृणुताम्**=पूर्ण जरावस्था में ही मृत्युवाला, अर्थात् दीर्घजीवी करें। द्युलोक तथा पृथिवीलोक की अनुकूलता तेरे दीर्घायुष्य का कारण हो। शरीर में मस्तिष्क ही द्युलोक है तथा शरीर ही पृथिवी है। मस्तिष्क द्युलोक की भाँति ज्ञान से देदीप्यमान हो तथा शरीर पृथिवी की भाँति दृढ़ हो। ऐसा होने पर दीर्घजीवन होना सम्भव है। २. तुझे द्युलोक व पृथिवीलोक की अनुकूलता प्राप्त हो **यथा**=जिससे कि तू **अदितेः उपस्थे**=इस पृथिवी की गोद में (अदिति=अखण्डन, स्वास्थ्य का न टूटना) स्वास्थ्य की गोद में **प्राणापानाभ्यां गुपितः**=प्राणापान से रक्षित हुआ-हुआ **शतं हिमाः**=पूरे सौ वर्ष **जीवाः**=जीनेवाला हो।

भावार्थ—हम द्युलोक व पृथिवीलोक की अनुकूलता से सौ वर्ष तक जीनेवाले बनें। प्राणापान से रक्षित होकर हम दीर्घजीवी हों।

ऋषिः—**शम्भूः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

अग्नि, मित्र, वरुण

इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्र राजन्।
मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वेदेवा जरदष्टिर्यथासत्॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=उन्नति के साधक प्रभो! **वरुण**=सब द्वेष आदि का निवारण करनेवाले!

मित्र=प्रमीति (मृत्यु व पाप) से बचानेवाले अथवा सबके प्रति स्नेह करनेवाले **राजन्**=हम सबके जीवन को शासित करनेवाले प्रभो! **इमम्**=इस हमारी सन्तान को **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए, **वर्चसे**=रोगों से संघर्ष करने में समर्थ शक्ति के लिए **प्रियं रेतः**=तृप्ति व कान्ति को देनेवाले (प्री तर्पणे कान्तौ च) रेतस् को—वीर्य को **नय**=प्राप्त कराइए। इस रेतस् को प्राप्त करके यह रोगों को पराजित करता हुआ दीर्घजीवन प्राप्त करे। २. हे **अदिते**=पृथिवी अथवा स्वास्थ्य की अधिष्ठातृदेवते! तू **माता इव**=माता के समान **अस्मै**=इसके लिए **शर्म यच्छ**=कल्याण प्राप्त करा और **विश्वेदेवाः**=हे सब देवो! आप भी ऐसी कृपा करो **यथा**=जिससे यह **जरदष्टिः**=वृद्धावस्था तक कार्यों में व्याप्तिवाला (जीर्यतोऽपि अष्टिः सर्वव्यापारविषया व्याप्तिर्यस्य—सा०) **असत्**=हो। इसका जीवन अन्त तक बड़ा क्रियाशील बना रहे।

भावार्थ—हम अग्नि, मित्र, वरुण व राजा की कृपा से दीर्घजीवी बनें।

सूचना—प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु को अग्नि आदि नामों से स्मरण करना यह सूचित करता है कि दीर्घजीवन के लिए आवश्यक है कि (क) हम क्रियाशील हों (अग्नि, अगि गतौ), (ख) द्वेष से ऊपर उठें (वरुण—वारयति), (ग) सबके लिए स्नेहवाले हों (मित्र, मिद्, स्नेहने), (घ) राजन्=(राजृ दीप्तौ) ज्ञान-दीप्त व व्यवस्थित जीवनवाले हों।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त दीर्घ जीवन के साधनों का उल्लेख कर रहा है। अगले सूक्त का विषय भी यही है, ऋषि 'अथर्वा' है—स्थिर चित्तवृत्तिवाला (न थर्वति)। चित्तवृत्ति की स्थिरता दीर्घजीवन के लिए आवश्यक ही है—

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः, सूर्यः, बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आयुष्य व वर्चस्

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले।
आयुष्य॒मस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद् बृहस्पतिः ॥ १ ॥

१. **देवाः**=सूर्य, वायु, अग्नि आदि सब देव **पार्थिवस्य**=इस पृथिवी से उत्पन्न ओषधियों के **रसे**=रस का सेवनवाले होने पर **भगस्य**=इस श्री-सम्पन्न (भग=श्री) **तन्वः**=शरीर के **बले**=बल के होने पर **अस्मै**=इसके लिए **अग्निः**=अग्नि **आयुष्यम्**=दीर्घजीवन को **आधात्**=स्थापित करे। **सूर्यः**=सूर्य इसमें **वर्चः**=रोगों को पराजित करनेवाली वर्चस् शक्ति को स्थापित करे और इसप्रकार यह **बृहस्पतिः**=बृहस्पति बने। २. शरीर को श्रीसम्पन्न तथा शक्तियुक्त करने के लिए सबसे प्रथम बात तो यह है कि हम पार्थिव ओषधियों के रसों का ही प्रयोग करें, मांसाहार से दूर रहें। देवों का बल पार्थिव रस में है तो मांसाहार में आसुर बल है। ३. दीर्घजीवन की प्रार्थना अग्नि से की है। घर में नियमितरूप से अग्निहोत्र करने पर **'अग्निहोत्रेण प्रणुदा सपत्नान्'** रोगकृमिरूप सपत्नों का नाश होकर दीर्घजीवन मिलता है। यह अग्निहोत्र सौमनस्य का कारण होकर हमारे दीर्घजीवन को सिद्ध करता है। ४. सूर्य अपनी किरणों में प्राणशक्ति को लेकर उदय होता है—**'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'**—यह सूर्य क्या उदय होता है, यह तो प्रजाओं का प्राण ही उदय होता है। इसप्रकार अग्नि और सूर्य के अनुग्रह को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति उन्नत होकर ऊर्ध्वादिक् का अधिपति 'बृहस्पति' बनता है। यही मानव की चरमोन्नति है।

भावार्थ—हम पार्थिव ओषधियों के रस का ही प्रयोग करें, अग्निहोत्र करें, सूर्य-किरणों के सम्पर्क में अधिक-से-अधिक समय बिताएँ। इसप्रकार उन्नत होकर बृहस्पति बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जातवेदाः, त्वष्टा, सविता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आयुः, प्रजा, धन

आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेह्यस्मै।
रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम्॥ २॥

१. हे **जातवेदः**=ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले प्रभो! **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **आयुः धेहि**=आयुष्य को धारण कीजिए। यह पुरुष ज्ञान के द्वारा सब वस्तुओं का ठीक प्रयोग करते हुए दीर्घजीवनवाला बने। २. हे **त्वष्टा**=निर्माण करनेवाले प्रभो! **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **प्रजाम्**=प्रकृष्ट विकास को **अधिनिधेहि**=खूब ही धारण कीजिए। यह संसार में सब वस्तुओं के ठीक प्रयोग से अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग का ठीक निर्माण करनेवाला बने। ३. हे **सवितः**=सर्वैश्वर्यसम्पन्न प्रभो! (सू प्रसवैश्वर्ययोः) **अस्मै**=इसके लिए **रायस्पोषम्**=धनों के पोषण को **आसुव**=उत्पन्न कीजिए। यह जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धनों को उत्पन्न करनेवाला हो। ४. आर्थिक दृष्टिकोण से किसी प्रकार से चिन्ता में न होता हुआ हे प्रभो! **अयम्**=यह **तव**=आपका ही बना हुआ **शतं शरदः जीवाति**=शतवर्षपर्यन्त जीनेवाला हो। आर्थिक चिन्ता न हो और अर्थ में मनुष्य डूब ही न जाए तभी वह अपने जीवन को सार्थक बना पाता है। अर्थ में न डूबने के लिए आवश्यक है कि हम प्रभु के ही बने रहें। प्रभुभक्ति से हम श्री से सेवित होते हैं इसके अभाव में तो श्री के सेवक बन जाते हैं, तब दीर्घजीवन होना सम्भव ही नहीं रहता।

भावार्थ—ज्ञान से वस्तुओं का यथायोग करते हुए, सब शक्तियों का ठीक विकास करते हुए और आवश्यक धनों का उत्पादन करते हुए हम दीर्घजीवी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उत्तम जीवन

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ।
जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान्॥ ३॥

१. प्रभु गृहस्थों से कहते हैं कि **सचेतसौ**=ज्ञान और स्मृतिवाले होते हुए तुम दोनों **नः आशीः**=हमारी इच्छा को—प्रभु-प्राप्ति की कामना को, **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **उत**=और **सौप्रजास्त्वम्**=उत्तम सन्तानों को, **दक्षम्**=उन्नति व कुशलता को तथा **द्रविणम्**=धन को **धत्तम्**=धारण करो। २. **अयम्**=यह गृहपति **इन्द्र**=जितेन्द्रिय बना रहकर **सहसा**=शत्रुओं का मर्षण कर देनेवाली शक्ति से **जयम्**=विजय को तथा **क्षेत्राणि**=विकास के योग्य शरीरों को (इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमत्यभिधीयते) **कृण्वानः**=करता हुआ। **अन्यान्**=अन्य **सपत्नान्**=काम-क्रोधादि शत्रुओं को **अधरान् कृण्वानः**=पादाक्रान्त करता है। यह शरीर में किसी प्रकार के रोगों को नहीं आने देता।

भावार्थ—उत्तम जीवन का साधन यही है कि हम सचेत बने रहें, प्रभु का स्मरण रक्खें। 'शक्ति सुप्रजा, दक्षता व द्रविण' को सिद्ध करने के लिए यत्नशील हों। विजयी बनें। शरीरों को ठीक रक्खें। काम-क्रोध आदि शत्रुओं को प्रबल न होने दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः, मरुतः, आपः** ॥ छन्दः—**पराबृहती-निचृत्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

सन्तान

इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुद्भिरुग्रः प्रहितो न आगन्।
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत्॥

१. यह सन्तान **इन्द्रेण दत्तः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु से दिया गया है। प्रभु की कृपा से सब सन्तान प्राप्त हुआ करते हैं। २. **वरुणेन शिष्टः**=(आचार्यो मृत्यु ओषधयः पयः) वरुण के द्वारा यह अनुशासन को प्राप्त कराया गया है। आचार्य ने इसे उत्तम अनुशासन में रखकर ज्ञान प्राप्त कराया है। ३. **मरुद्भिः उग्रः**=प्राणों से यह तेजस्वी बना है। इसप्रकार **प्रहितः**=(हि वृद्धौ, promote) वृद्धि को प्राप्त करता हुआ **वाम् उपस्थे**=आपकी गोद में **मा क्षुधत्**=मत भूखा रहे **मा तृषत्**=और न ही प्यासा रहे। यह ठीक खान-पान प्राप्त करता हुआ दीर्घजीवी हो।

भावार्थ—(क) 'सन्तानों को हम प्रभु से दिया गया समझें', ऐसा होने पर हम उनके पालन को 'प्रभु का कार्य करना समझेंगे', (ख) उत्तम आचार्यों से उनका शिक्षण हो, (ग) प्राणसाधना की प्रवृत्ति इनमें पैदा की जाए, (घ) इनका खान-पान ठीक हो, ऐसा होने पर ये अवश्य दीर्घजीवी बनेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः, मरुतः, आपः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ऊर्ज्+पयस्

ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम्।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वेदेवा मरुत ऊर्जमापः॥ ५॥

१. सन्तान की उत्तमता के लिए माता-पिता को पौष्टिक अन्न व दूध का ग्रहण करना चाहिए। उन्हें पौष्टिक अन्न व दूध की कमी न हो। **ऊर्जस्वती**=हे पौष्टिक अन्नवाले माता-पिताओ! आप **अस्मै**=इस उत्तम सन्तान की प्राप्ति के लिए **ऊर्जम्**=पौष्टिक अन्न को **धत्तम्**=धारण करो। **पयस्वती**=उत्तम दूधवाले होते हुए **अस्मै**=इस सन्तान की प्राप्ति के लिए **पयः धत्तम्**=दूध का धारण करो। माता-पिता 'ऊर्ज् व पयस्' को धारण करनेवाले हों। उत्तम ओषधियों का रस ही 'ऊर्ज्' है। गवादि पशुओं का दूध 'पयस्' है। इनका प्रयोग करनेवाले माता-पिता उत्तम सन्तान प्राप्त करते हैं। २. अब इस सन्तान के होने पर **द्यावापृथिवी**=द्युलोकरूप पिता व पृथिवीलोकरूप माता **अस्मै**=इस सन्तान के लिए **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **अधाताम्**=धारण कराते हैं, तथा **विश्वेदेवाः**=सूर्यादि सब देव अथवा माता-पिता व आचार्य आदि देव, **मरुतः**=प्राण तथा **आपः**=जल **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति देते हैं। ३. पूर्वार्ध में 'पयस्' के सान्निध्य से ऊर्ज् शब्द का अर्थ पौष्टिक अन्न लिया है। माता-पिता 'ऊर्ज् व पयस्' का प्रयोग करनेवाले हो, ऐसा होने पर ही सन्तानों का उत्तम होना सम्भव है। उत्तरार्ध में 'ऊर्ज्' का भाव बल व प्राणशक्ति लिया गया है। सब देवों की अनुकूलता होने पर बल व प्राणशक्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ—माता-पिता 'ओषधि-रसों व दुग्ध' का सेवन करनेवाले हों। सन्तान देवों की अनुकूलता में जीवन बिताए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

जल व तक्र का प्रयोग

शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः।
सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम्॥ ६॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर 'आपः' शब्द आया है। उन्हीं का संकेत करते हुए कहते हैं कि **शिवाभिः**=इन कल्याण करनेवाले जलों से **ते**=तेरे **हृदयम्**=हृदय को **तर्पयामि**=तृप्त करता हूँ। ये तेरे लिए हृद्य—हृदय को शान्ति देनेवाले हों। इनके ठीक प्रयोग से **अनमीवः**=नीरोग होता हुआ तू **सुवर्चाः**=उत्तम वर्चस् व तेजवाला बनकर **मोदिषीष्ठाः**=आनन्द का अनुभव कर। जल

का समुचित प्रयोग वस्तुतः तृप्ति देनेवाला है, नीरोगता का साधन है, शक्तिशाली बनाता है और इसप्रकार आनन्दित करता है। २. घर में पति-पत्नी के लिए कहते हैं कि तुम दोनों **सवासिनौ**=घर में मिलकर, प्रेम से रहनेवाले होकर **अश्विनोः रूपम्**=द्यावापृथिवी के रूप को **परिधाय**=धारण करके(इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ— श० ४.१.५.१६, पति द्युलोक के समान है तो पत्नी पृथिवीलोक के) **मायाम् परिधाय**=प्रज्ञा को प्राप्त करे **एतम्**=इस **मन्थम्**=मन्थन से उत्पन्न तक्र (छाछ) को पीओ। इस तक्र के प्रयोग से प्रायः सब रोग दग्ध हो जाते हैं (न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति रोगाः)। शरीर में आँतों के अन्तिम प्रदेश में कुछ ऐसे कृमि हो जाते हैं जो इस तक्र से ही समाप्त होते हैं।

भावार्थ—जल व तक्र के प्रयोग से पति-पत्नी स्वस्थ बनते हैं। द्यावापृथिवी के समान मस्तिष्क में प्रकाशमय व शरीर में दृढ़ होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मन्थ का महत्त्व

इन्द्र एतां संसृजे विद्धो अग्र ऊर्जां स्वधामजरां सा त एषा।
तया त्वं जीव शरदः सुवर्चा मा त आ सुस्रोद्भिषजस्ते अक्रन्॥ ७॥

१. **विद्धः इन्द्रः** (विधेम=परिचरेम—नि० ३.५) उपासित हुए-हुए इन्द्र ने **एताम्**=इस मन्थरूप पेय द्रव्य को **ससृजे**=उत्पन्न किया है। **अग्रे ऊर्जाम्**=यह सर्वाधिक बल व प्राणशक्ति को देनेवाला है, **अजराम्**=यह जीर्ण न होने देनेवाला है, **सा एषा**=वह यह पेय द्रव्य **ते**=तेरे लिए है। **तया**=उससे **त्वम्**=तू **शरदः**=वर्षों (सौ वर्षों तक) **जीव**=जीनेवाला हो। **सुवर्चाः**=तू उत्तम वर्चस्वाला बन। २. **ते**=तरे शरीर से **मा आसुस्रोत्**=शक्ति का प्रच्याव (विनाश) न हो। **भिषजः**=वैद्यों ने **ते**=तेरे लिए **अक्रन्**=इस मन्थ (तक्र) को औषध के रूप में किया है। यह तेरे लिए औषध बन गया है।

भावार्थ—प्रभु के उपासक प्रभु से दी गई इस छाछ को पीते हैं। यह उनके बल को स्थिर रखती है, शरीर का धरण करती है और उन्हें जीर्ण नहीं होने देती।

विशेष—यह सूक्त दीर्घायुष्य के साधनों का उल्लेख करता है(क) प्रथम उपाय है पार्थिव ओषधियों के रसों का ही प्रयोग हो, (ख) समाप्ति पर मन्थ के प्रयोग का उल्लेख है, (ग) 'पार्थिव ओषिधियों का प्रयोग करें, छाछ पीएँ ' इससे दीर्घ जीवन होगा। इस दीर्घ जीवन के लिए पति-पत्नी का परस्पर प्रेम अत्यावश्यक है। इसी बात का उल्लेख अगले सूक्त में करते हैं। ऐसे पति-पत्नी ही उत्तम सन्तान को प्राप्त करते हैं। इस उत्तम सन्तानवाला 'प्रजापति' ही इस सूक्त का ऋषि है।

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**मनः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

पति-पत्नी का परस्पर प्रेम

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति।
एवा मथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥ १॥

१. **यथा**=जैसे **भूम्या अधि**=इस भूमि पर **इदं तृणम्**=इस तृण को **वातः**=वायु **मथायति**=आन्दोलित कर देता है, **एव**=इसप्रकार हे युवति! **ते मनः**=तेरे मन को **मथ्नामि**=मैं आलोडित करता हूँ, **यथा**=जिससे **मां कामिनी असः**=तू मुझे चाहनेवाली हो, **यथा**=जिससे **मत्**=मुझसे

अपगाः=दूर जानेवाली **न असः**=न हो। इन शब्दों में एक युवक एक युवति के मन को अपनी ओर आकृष्ट करता है। यदि युवति में युवक के लिए आकर्षण न होगा अथवा युवति के लिए युवक में आकर्षण न होगा तो उनका परस्पर सम्बन्ध देर तक न रह पाएगा। यह सम्बन्ध की कटुता उनके जीवन के लिए दुष्परिणाम पैदा करेगी। परस्पर का प्रेम आवश्यक है।

भावार्थ—युवक व युवति परस्पर प्रेम से एक-दूसरे के साथी बनते हैं, तो परस्पर के व्रतों को ठीक निभाते हुए एक-दूसरे की शान्ति और दीर्घजीवन का कारण बनते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सब-कुछ सम्मिलित

सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः।
सं वां भगासो अग्मत सं चित्तानि समु व्रता॥ २॥

१. हे **आश्विना**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले पति-पत्नी! तुम इस बात का ध्यान करो कि **इत्**=निश्चय से **सन्नयाथा**=तुम एक-दूसरे की आवश्यकताओं को सम्यक् प्राप्त करानेवाले होते हो **च**=और **कामिना**=एक दूसरे को चाहनेवाले तुम **संवक्षथः**=कार्यों को सम्यक् धारण करते हो। २. **च**=तथा **वां भगासः**=आपके ऐश्वर्य **सम् अगमत्**=संगत ही होते हैं, **चित्तानि सं**=(अगमत्) आपके चित्त मिले हुए होते हैं **उ**=और **व्रता**=आपके व्रत **सम्**=मिले हुए होते हैं। इन सबका मिलकर होना आपको एक बनाये रखता है। एकता के परिणामस्वरूप आपके चित्तों में शान्ति बनी रहती है। यह शान्ति दीर्घजीवन का कारण बनती है।

भावार्थ—पति-पत्नी का सब-कुछ सम्मिलित होना चाहिए। यह मेल ही उन्हें दीर्घजीवी बनाता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**भूरिगनुष्टुप्** ॥

सुपर्ण व अनमीव

यत्सुपर्णा विवक्षवो अनमीवा विवक्षवः। तत्र मे गच्छताद्धवं शल्यइव कुल्मलं यथा॥ ३॥

१. **यत्**=जिस गृहस्थ को **सुपर्णाः**=उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाले ही **विवक्षवः**=वहन करने की इच्छावाले होते हैं, जिसे **अनमीवाः**=नीरोग पुरुष ही **विवक्षवः**=वहन करने की कामना करते हैं, **तत्र**=उस गृहस्थ के विषय में **मे हवम्**=मेरी प्रार्थना **गच्छतात्**=जाए, अर्थात् मैं सुपर्ण और अनमीव बनकर ही गृहस्थ में जाने की कामना करूँ। गृहस्थ में जाने का अधिकार वस्तुतः सुपर्ण और अनमीव को ही हो। २. मैं गृहस्थ में इसप्रकार जाऊँ, **इव**=जैसे **शल्यः**=बाण की कील **यथा**=ठीक प्रकार से **कुल्मलम्**=बाणदण्ड पर जाती है। बाणदण्ड में गड़कर यह कील दण्ड से अग्रभाग को जोड़ती है। मेरा सुपर्णत्व व अनमीवत्व भी गृहस्थ-सम्बन्ध की दृढ़ता का कारण बने। ३. पति उत्तमता से पालन करनेवाला न हो तथा सदा अस्वस्थ रहता हो तो ये बातें सम्बन्ध की शिथिलता का कारण बनती हैं।

भावार्थ—मैं 'सुपर्ण व अनमीव' बनकर गृहस्थ को उत्तमता से चलानेवाला बनूँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

जो अन्दर वही बाहर (निश्छलता)

यदन्तरं तद्बाह्यं यद्बाह्यं तदन्तरम्। कन्या᳡नां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे॥ ४॥

१. पति पत्नी के हृदय पर तभी काबू पा सकता है जब पत्नी को यह विश्वास हो जाए कि पति उससे किसी प्रकार का छिपाव नहीं रखता है। मन्त्र में कहते हैं कि **ओषधे**=अपने दोषों

का दहन करनेवाले पुरुष! तू जीवन का यह सूत्र बना कि **यत् अन्तरम्**=जो अन्दर है **तत् बाह्यम्**=वही बाहर हो, **यत् बाह्यम्**=जो बाहर हो **तत् अन्तरम्**=वही अन्दर हो। तेरा अन्दर व बाहर एक हो—किसी प्रकार का छल-छिद्र व छिपाव न हो। २. ऐसा करने पर **विश्वरूपाणाम्**=भिन्न-भिन्न रूपोंवाली, अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभाव व रुचियोंवाली सभी **कन्यानाम्**=कन्याओं के **मनः गृभाय**=मन को तू ग्रहण करनेवाला हो। पत्नी का कैसा भी स्वभाव हो, परन्तु उसे यह विश्वास हो कि पति उससे किसी प्रकार का छिपाव नहीं रखते तो वह उनके प्रति अनन्य भाव से प्रेमवाली रहती है। पति के लिए इससे अधिक शान्ति देनेवाली और कोई बात नहीं हो सकती।

भावार्थ—पति पत्नी से किसी प्रकार का छिपाव न रखकर उसके हृदय को जीत लेता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**दम्पती** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पतिकामा-जनिकामः

एयमगन्पतिकामा जनिकामोऽहमागमम्।
अश्वः कनिक्रदद्यथा भगेनाहं सहागमम्॥ ५॥

१. **इयम्**=यह **पतिकामा**=पति को प्राप्त करने की कामनावाली **आ अगन्**=प्राप्त हुई है। इन शब्दों से स्पष्ट है कि युवति अपने पूर्ण यौवन में आकर पति को प्राप्त करने की कामनावाली हुई है। इसीप्रकार **अहम्**=मैं **जनिकामः**=पत्नी की कामनावाला **आगमम्**=आया हूँ। युवक भी पूर्ण तारूण्य को प्राप्त करके पत्नी की कामनावाला हुआ है। 'युवक व युवति परस्पर एक-दूसरे को चाहते हैं', यह भाव भी इन शब्दों से व्यक्त हो रहा है। २. युवक कहता है कि **यथा**=जैसे **कनिक्रदत्**=खूब हिनहिनाता हुआ **अश्वः**=घोड़ा होता है, उसी प्रकार शक्ति के कारण शक्तिशाली वाणी को प्रकट करता हुआ मैं **भगेन सह**=ऐश्वर्य के साथ **आगमम्**=आ गया हूँ। इन शब्दों से पति बनने की कामनावाले युवक के लिए दो बातों की आवश्यकता स्पष्ट हो रही है।(क) एक तो वह शक्तिशाली हो और(ख) दूसरे, वह धन कमाने की योग्यतावाला हो। 'धन व शक्ति दोनों ' ही बातें गृहस्थ को सुन्दरता से निभाने के लिए आवश्यक हैं।

भावार्थ—युवावस्था में परस्पर एक-दूसरे के चाहनेवालों का ही विवाह हो। पति जहाँ तारुण्य की शक्तिवाला हो, वहाँ धन कमाने की योग्यता भी रखता हो।

विशेष—प्रस्तुत सूक्त में पति-पत्नी के पारस्परिक प्रेम के विषय का उल्लेख है। दीर्घजीवन के लिए इसका होना आवश्यक ही है। इस दीर्घजीवन के लिए और नीरोगता की सिद्धि के लिए कण्वों (A peculiar class of evil spirits-रोगकृमि) का संहार भी आवश्यक है। इन कण्वों का संहार करनेवाले 'काण्व' अगले सूक्त का ऋषि है।

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**मही** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मही दृषत्

इन्द्रस्य या मही दृषत्क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी।
तया पिनष्मि सं क्रिमीन्दृषदा खल्वाँइव॥ १॥

१. **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष की **या**=जो **मही**=महनीय **दृषत्**=शिला है, अर्थात् (**मही**=पृथिवी) पत्थर के समान दृढ़ यह शरीररूप पृथिवी है, यह **विश्वस्य क्रिमेः**=शरीर में प्रविष्ट हो जानेवाले कृमियों का **तर्हणी**=नाश करनेवाली है। जब व्यक्ति जितेन्द्रिय बनता है तब उसका शरीर

पत्थर के समान दृढ़ हो जाता है। इस शरीर में जो भी रोगकृमि प्रवेश करते हैं, वे इस जितेन्द्रिय की वीर्यशक्ति से कम्पित होकर नष्ट हो जाते हैं। २. **तया**=उस महनीय दृषत् से मैं **क्रिमीन्**=इन रोगकृमियों को ऐसे **संपिनष्मि**=पीस डालता हूँ, **इव**=जैसे **दृषदा**=पत्थर से **खल्वान्**=(चणकान्—सा०) चनों को पीस डालते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष का शरीर एक महनीय दृषत् के समान होता है, जिससे रोगकृमि इसप्रकार पिस जाते हैं, जैसे पत्थर से चने।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**क्रिमिजम्भनम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती** ॥

वचा के प्रयोग से कृमिनाश

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम्।
अल्गण्डून्त्सर्वाञ्छलुनान्क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि॥ २॥

१. **दृष्टम्**=आँखों से दीखनेवाले **अदृष्टम्**=आँखों से न दीखनेवाले कृमियों को **अतृहम्**=मैं नष्ट करता हूँ, **अथ उ**=और निश्चय से **करूरुम्**=(कौ रवते गच्छति) पृथिवी पर रेंगनेवाले या (कुत्सितं रौति) कुत्सित शब्द करनेवाले कृमियों को **अतृहम्**=नष्ट करता हूँ। २. **अल्गण्डून्**=(गडि वदनैकदेशे, अलं वारणे) गण्डस्थल की क्रिया को रोकनेवाले कृमियों को तथा **शलुनान्**=(शल्-to tremble) अत्यन्त कम्पित करनेवाले **सर्वान् क्रिमीन्**=सब कृमियों को **वचसा जम्भयामसि**=(a kind of aromatic root) तीव्र गन्धवाली वचा ओषधि के मूल से नष्ट करता हूँ। इस ओषधि के तीव्र गन्ध से सब कृमि नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—वचा ओषधि के प्रयोग से हम सब प्रकार के रोगकृमियों को नष्ट करें।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**क्रिमिजम्भनम्** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥

कृमियों का समूलोच्छेद

अल्गण्डून्हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन्।
शिष्टानशिष्टान्नि तिरामि वाचा यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै॥ ३॥

१. **अल्गण्डून्**=मुख-अवयवों की क्रिया को रोकनेवाले अथवा (शोणितमांसदूषकान्—सा०) रुधिर व मांस में विकार उत्पन्न करनेवाले कृमियों को **महता वधेन**=प्रबल बध (आक्रमण) के द्वारा **हन्मि**=नष्ट करता हूँ। इन कृमियों के नाश के लिए अभियान ही करता हूँ। २. **दूनाः**=ओषधियों के प्रभाव से सन्तप्त हुए-हुए (दु=उपतापे=दुनोति) **अदूनाः**=गतिशून्य (दु=गतौ)—ये सब कृमि **अरसाः**=जीवनशून्य **अभूवन्**=हो गये हैं। ३. **शिष्टान्**=बचे हुए **अशिष्टान्**=अभी तक जो शासित नहीं हो सके (शास्) उन कृमियों को **वचा**=वचा ओषधि के प्रयोग से **नितिरामि**=हिंसित करता हूँ, यथा जिससे **क्रिमीणाम्**=इन कृमियों में से **नकिः उच्छिषातैः**=कोई बचता नहीं है। इनका समूलोच्छेद हो जाता है।

भावार्थ—वचा ओषधि के प्रयोग से हम सब कृमियों का समूलोच्छेद करते हैं।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**क्रिमिजम्भनम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती** ॥

विविध रोगकृमि

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्य१ मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि॥ ४॥

१. **अन्वान्त्रयम्**=क्रमशः आँतों में फैलते जानेवाले कृमियों को **शीर्षण्यम्**=सिर में विकार

के कारणभूत कृमियों को **अथ उ**=और निश्चय से **पार्ष्टेयम्**=(पृष्टिषु पार्श्वावयवेषु भवम्) पसलियों में होनेवाले **क्रिमीन्**=रोगकृमियों को **वचसा**=वचा ओषधि के प्रयोग से **जम्भयामसि**=हम नष्ट करते हैं। २. **अवस्कवम्**=(अव+स्कुञ् आप्रवणे) नीचे की ओर के स्वभाववाले—अन्दर और अन्दर प्रवेश करते चलने के स्वभाववाले तथा **व्यध्वरम्**=(वि+अध्व) विविध मार्गोंवाले, अनेक द्वार बनाकर गति करते हुए **क्रिमीन्**=सब कृमियों को हम **वचसा जम्भयामसि**=वचा ओषधि के द्वारा नष्ट करते हैं।

भावार्थ—'अन्वान्त्र्य, शीर्षण्य, पार्ष्टेय, अवस्कव, व्यध्वर' आदि सब कृमियों को हम वचा ओषधि के द्वारा नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**क्रिमिजम्भनम्** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥

कृमि-जन्मोच्छेद

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः।
ये अस्माकं तन्व॑माविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम्॥ ५॥

१. **ये**=जो **क्रिमयः**=कृमि **पर्वतेषु**=पर्वतों में हैं, **वनेषु**=वनों में हैं, **ओषधिषु**=ओषधियों में हैं, **पशुषु**=पशुओं में हैं अथवा **अप्सु अन्तः**=जलों में हैं **तत्**=उन **सर्वम्**=सब **क्रिमीणाम्**=कृमियों के **जनिम**=जन्म को **हन्मि**=मैं नष्ट करता हूँ। उल्लिखित पर्वत आदि के सम्पर्क में आने पर **ये**=जो कृमि **अस्माकम्**=हमारे **तन्वम्**=शरीर में **आविविशुः**=प्रवेश कर गये हैं, उन सब कृमियों के फैलाव (जनिम=विकास) को भी मैं नष्ट करता हूँ।

भावार्थ—पर्वत, वन, ओषधि, पशु व जलों में होनेवाले रोगकृमि हमारे शरीरों में भी प्रवेश कर जाते हैं, हम उन्हें विनष्ट करें।

विशेष—प्रस्तुत सूक्त में रोगकृमियों के लिए दो बातों का संकेत हैं (क) जितेन्द्रिय बनकर शरीर को पत्थर के समान दृढ़ बनाना (इन्द्रस्य मही दृषत्) तथा (ख) वचा ओषधि का प्रयोग (वचसा)। अगले सूक्त का भी यही विषय है। यहाँ आदित्य-किरणों से कृमिनाश का संकेत है।

३२. [द्वात्रिंशं]

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद्भुरिग्गायत्री** ॥

उदय व अस्त होता हुआ सूर्य

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन्हन्तु निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः। ये अन्तः क्रिमयो गवि॥ १॥

१. **उद्यन्**=उदय होता हुआ **आदित्यः**=सूर्य **क्रिमीन् हन्तु**=रोगकृमियों को नष्ट करे। उदय होते हुए सूर्य की किरणों में इसप्रकार की शक्ति होती है कि हमारे शरीरों में स्थित रोगकृमि नष्ट हो जाते हैं। २. इसीप्रकार **निम्रोचन्**=अस्त होता हुआ सूर्य भी **रश्मिभिः**=अपनी किरणों से उन रोगकृमियों को **हन्तु**=नष्ट करे **ये**=जो **क्रिमयः**=कृमि **गवि अन्तः**=गौ के शरीर में स्थित हैं। सूर्य-किरणों में विचरण करनेवाली गौएँ निर्दोष दुग्धवाली होती हैं।

भावार्थ—उदय व अस्त होता हुआ सूर्य अपनी किरणों से रोगकृमियों को नष्ट करता है।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्वरूप चतुरक्ष कृमि

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम्। शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः॥ २॥

१. **विश्वरूपम्**=नाना आकारोंवाले, **चतुरक्षम्**=चार (नेत्रों)वाले, **सारङ्गम्**=शबल (sable)

वर्णवाले अथवा **अर्जुनम्**=शुभ्र वर्णवाले—इसप्रकार अनेक आकारोंवाले **क्रिमिम्**=कृमियों को नष्ट करता हूँ। २. **अस्य**=इन कृमियों की **पृष्टिः अपि**=पार्श्वावयवों को भी **शृणामि**=हिंसित करता हूँ और **अस्य**=इनका **यत् शिरः**=जो सिर व प्रधान अङ्ग है, उसे भी **वृश्चामि**=छिन्न करता हूँ। इसप्रकार इसे नष्ट करके इसे रोगोत्पादन के सामर्थ्य से शून्य करता हूँ।

भावार्थ—हम सूर्यकिरणों से विश्वरूप, चतुरक्ष कृमियों का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अत्रि, कण्व, जमदग्नि, अगस्त्य

अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत्।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन्॥ ३॥

१. हे **क्रिमयः**=रोगकृमियो! मैं **अत्रिवत्**=अत्रि की भाँति **वः हन्मि**=तुम्हें नष्ट करता हूँ, **कण्ववत्**=कण्व की भाँति तथा **जमदग्निवत्**=जमदग्नि की भाँति तुम्हें नष्ट करता हूँ। २. **अहम्**=मैं **अगस्त्यस्य**=अगस्त्य के **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **क्रिमीन्**=क्रिमियों को **सम्पिनष्मि**=सम्यक्तया पीस डालता हूँ। ३. अत्रि वह व्यक्ति है जो 'अ+त्रि'='काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों से अलग रहता है। ऐसे व्यक्ति के शरीर में रोगकृमियों का प्राबल्य नहीं हो पाता। 'कण्व' वह व्यक्ति है जोकि मेधावी होता हुआ आसुर शक्तियों (Evil spirits) को नष्ट करने का प्रयत्न करता है। इसपर भी रोगकृमियों का आक्रमण नहीं होता। 'जमदग्नि' वह है जिसकी जाठराग्नि **जमत्**=खानेवाली है, अर्थात् जिसकी जाठराग्नि मन्द नहीं है। यह भी इन रोगकृमियों का शिकार नहीं होता। ४. 'अत्रि-कण्व व जमदग्नि' के अतिरिक्त अगस्त्य भी अपने ज्ञान से इन कृमियों का संहार करनेवाला होता है। 'अगस्त्य' वह है जोकि **अगम्**=कुटिलता को **स्त्यायति**=(संहन्ति) नष्ट करता है। मन की अकुटिलता का शरीर के स्वास्थ्य पर भी वाञ्छनीय प्रभाव पड़ता है। यह अगस्त्य ज्ञानपूर्वक पवित्र व्यवहार करता हुआ शरीर में भी नीरोग बना रहता है।

भावार्थ—हम 'अत्रि, कण्व, जमदग्नि व अगस्त्य' बनकर रोगकृमियों को नष्ट करनेवाले हों।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सराष्ट्र 'कृमि' विनाश

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः। हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा॥ ४॥

१. **क्रिमीणां राजा हतः**=गतमन्त्र में वर्णित कृमियों का राजा अगस्त्य के द्वारा विचारपूर्वक किये गये औषधप्रयोग से (मन्त्रौषधि प्रयोग से) मारा गया है, **उत**=और **एषाम्**=इन कृमियों का **स्थपतिः**=स्थान का रक्षक अथवा सचिव **हतः**=मारा गया है। २. **हतमाता**=जिसकी माता का विनाश कर दिया गया है, **हतभ्राताः**=जिसके भाई को मार दिया गया है। **उत स्वसा**=जिसकी बहिन को भी नष्ट कर दिया गया है, ऐसा यह **क्रिमिः**=कृमि **हतः**=हिंसित हुआ है। संक्षेप में अपने सारे परिवार व राष्ट्रसहित यह कृमि समाप्त हो गया है।

भावार्थ—ज्ञानपूर्वक ओषधिप्रयोग से रोगकृमियों का मूलोच्छेद कर दिया जाता है।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

बीजोच्छेद

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः।
अथो ये क्षुल्लकाइव सर्वे ते क्रिमयो हताः॥ ५॥

१. **अस्य**=इस कृमि-कुल के **वेशसः**=निवेशनस्थानभूत मुख्य गृह ही **हतासः**=नष्ट कर दिये

गये हैं। जैसे जलाकर घर को नष्ट कर दिया जाता है, उसी प्रकार कृमियों के बनाये गये घर को नष्ट कर दिया गया है। **परिवेशसः**=इस कृमिकुलगृह के चारों ओर स्थित गृह भी **हतासः**=नष्ट कर दिये गय हैं। जो त्वचा व्रणित होती है उसे तो ओषध से जलाते ही हैं, उसके आस-पास के कुछ भाग को भी जला देते हैं। २. **अथ उ**=और अब **ये**=जो **क्षुल्लकाः इव**=बीज अवस्था में सूक्ष्मरूप, दुर्लक्ष से **क्रिमयः**=कृमि हैं, **ते सर्वे**=वे सबके सब **हताः**=नष्ट कर दिये गये हैं।

भावार्थ—नीरोगता के लिए आवश्यक है कि कृमियों का बीजोच्छेद ही कर दिया जाए।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**चतुष्पान्निचृदुष्णिक्** ॥

कृमियों के शृङ्ग व कुषुम्भ का विनाश

प्र ते॑ शृणामि॒ शृङ्गे॒ याभ्यां॑ वितुदा॒यसि॑। भिनद्मि॑ ते कुषु॒म्भं यस्ते॑ विष॒धानः॑ ॥ ६ ॥

१ हे रोगकृमे! मैं **ते**=तेरे **शृंगे**=शृंगों को—सींग की भाँति कष्ट देनेवाले अङ्गों को **प्रशृणामि**=पूर्णरूप से समाप्त करता हूँ, **याभ्याम्**=जिनसे **वितुदायसि**=तू पीड़ित करता है। २. **ते कुषुम्भम्**=(कुशुम्भ=कुसुम्भ=water pot) तेरे इस जल-पात्र को भी में **भिनद्मि**=विदीर्ण करता हूँ, **यः**=जो **ते**=तेरे **विषधानः**=विषधारण का काम देता है।

भावार्थ—हम कृमियों के पीड़ादायक अङ्गों का विनाश करते हैं।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त कृमियों के समूलोच्छेन का निर्देश करता है। इन कृमियों के विनाश से रोगों का उन्मूलन करके सब प्रकार की उन्नति (चतुर्मुखी उन्नति) करनेवाला ब्रह्मा अगले सूक्त का ऋषि है। यह पूर्णरूप से यक्ष्म (रोग) का निबर्हण (विनाश) करता है। यह यक्ष्मनिबर्हण ही अगले सूक्त का विषय है—

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यक्ष्मनिबर्हण

अ॒क्षीभ्यां॑ ते॒ नासि॑काभ्यां॒ कर्णा॑भ्यां॒ छुबु॑का॒दधि॑।
यक्ष्मं॑ शीर्ष॒ण्यं॑ म॒स्तिष्का॑ज्जि॒ह्वाया॒ वि वृ॑हामि ते ॥ १ ॥

१. यक्ष्म (रोग) से आक्रान्त पुरुष से ब्रह्मा (ज्ञानी वैद्य) कहता है कि **ते**=तेरे **अक्षीभ्याम्**=आँखों से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=(उद्धरामि) पृथक् करता हूँ। इसीप्रकार **नासिकाभ्याम्**=घ्राणेन्द्रिय के अधिष्ठानभूत नासादि छिद्रों से **कर्णाभ्याम्**=श्रोत्रों से **छुबुकात् अधि**=ओष्ठ के अधर प्रदेश (ठोडी) से तेरे रोगों को पृथक् करता हूँ। २. **शीर्षण्यं यक्ष्मम्**=सिर में होनेवाले रोगों को दूर करता हूँ। **मस्तिष्कात्**=शिरःप्रदेश के अन्तर्भाग में स्थित मांसविशेष मस्तिष्क है—उससे और **जिह्वायाः**=रसना से तेरे रोग को उखाड़ फेंकता हूँ।

भावार्थ—आँख, नासिका, कान, ठोडी, सिर, मस्तिष्क व जिह्वा से रोग को दूर किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ग्रीवादि से रोगोद्बर्हण

ग्री॒वाभ्य॑स्त उ॒ष्णिहा॑भ्यः॒ कीक॑साभ्यो अनू॒क्या॑त्।
यक्ष्मं॑ दोष॒ण्य१॒मंसा॑भ्यां बा॒हुभ्यां॒ वि वृ॑हामि ते ॥ २ ॥

१. हे व्याधिगृहीत! **ते**=तेरी **ग्रीवाभ्यः**=ग्रीवा की अवयवभूत चौदह सूक्ष्म अस्थियों से

यक्ष्मम्=रोग को **विवृहामि**=पृथक् करता हूँ, **उष्णिहाभ्यः**=धमनियों से—रक्तादि से उत्स्नात नाड़ियों (गुद्दी की नाड़ियों) से, **कीकसाभ्यः**=जत्रु व क्षेत्रगत् अस्थियों से (हँसली की हड्डियों से), **अनूक्यात्**=रीढ की हड्डी से तेरे रोग को दूर करता हूँ (अनुक्रमेण उच्यन्ति समवयन्ति अस्थीनि अस्मिन्)। २. **दोषण्यम्**=भुजाओं में होनेवाले **यक्ष्मम्**=रोग को दूर करता हूँ। मैं **ते**=तेरे **यक्ष्मम्**=रोग को **अंसाभ्याम्**=कन्धों से, **बाहुभ्याम्**=बाहुओं से **विवृहामि**=पृथक् करता हूँ।

भावार्थ—ग्रीवा, उष्णिहा, कीकसा, अनूक्य, भुजा, कन्धे व हाथों से रोग को दूर किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

हृदयात्ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात्पार्श्वाभ्याम्।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि॥ ३॥

१. हे रुग्ण! **ते**=तेरे **हृदयात्**=हृदयपुण्डरीक से, **परिक्लोम्नः**=हृदय के समीपस्थ फेफड़े से, **हलीक्ष्णात्**=पित्ताशय से, **पार्श्वाभ्याम्**=दोनों कोखों से—पार्श्वावयवों से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामसि**=पृथक् करते हैं। २. **ते**=तेरे **मतस्नाभ्याम्**=गुर्दों से, **प्लीह्नः**=तिल्ली से और **यक्नः**=जिगर से रोग को दूर करते हैं।

भावार्थ—हृदयादि प्रदेशों से रोग का उन्मूलन किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्**॥ छन्दः—**चतुष्पदाभुरिगुष्णिक्**॥

आन्त्र आदि से रोग को दूर करना

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते॥ ४॥

१. **ते**=तेरी **आन्त्रेभ्यः**=आँतों से, **गुदाभ्यः**=गुदा से—मल-मूत्र-प्रवहण मार्गों से **वनिष्ठोः**=स्थविरान्त्र से (मलस्थान से), **उदरात् अधि**=सर्वाधारभूत जठर से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=पृथक् करता हूँ। २. **कुक्षिभ्याम्**=दक्षिण व उत्तर उदर-भागों से (दाएँ-बाएँ पासे से) **प्लाशेः**=बहुछिद्र मलपात्र से (अन्दर की थैली से) और **नाभ्याः**=नाभि से **ते**=तेरे **यक्ष्मम्**=रोगों को **विवृहामि**=निकाल फेंकता हूँ।

भावार्थ—आन्त्र आदि प्रदेशों से रोग-बीजों को दूर किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती**॥

ऊरु आदि की नीरोगता

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्।
यक्ष्मं भसद्यं१ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते॥ ५॥

१. हे रोगार्त! **ते**=तेरी **ऊरुभ्याम्**=जाँघों से, **अष्ठीवद्भ्याम्**=घुटनों से **पार्ष्णिभ्याम्**=पाँवों के ऊपर-भाग, अर्थात् एडियों से और **प्रपदाभ्याम्**=पाँवों के अग्रभाग से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=पृथक् करता हूँ। २. **भसद्यम्**=कटिप्रदेश में होनेवाले **यक्ष्मम्**=रोग को दूर करता हूँ। **श्रोणिभ्याम्**=कटि के अधर-भागों से रोग को दूर करता हूँ। इसीप्रकार **ते**=तेरे **भासदम्**=गुह्यप्रदेश में होनेवाले रोग को **भंससः**=भासमान गुह्यस्थान से पृथक् करता हूँ (भस दीप्तौ)।

भावार्थ—जाँघों आदि प्रदेशों में होनेवाले रोगों को नष्ट किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्** ॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भानिचृदनुष्टुप्** ॥

धातुगत-रोगविनाश

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते॥ ६॥

१. **ते**=तेरी **अस्थिभ्यः**=हड्डियों से, **मज्जभ्यः**=मज्जासे **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=दूर करता हूँ। यहाँ अस्थि और मज्जा शब्द सब धातुओं के प्रतीक हैं(अस्थिमज्जाशब्दौ सर्वधातूपलक्षकौ—सा०)। शरीरगत सब धातुओं से रोग को दूर करता हूँ। **स्नावभ्यः**=सूक्ष्म शिराओं से तथा **धमनिभ्यः**=स्थूल शिराओं से तेरे रोग को दूर करता हूँ। २. **ते**=तेरे **पाणिभ्याम्**=हाथों से, **अङ्गुलिभ्यः**=अंगुलियों से तथा **नखेभ्यः**=नखों से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=दूर करता हूँ।

भावार्थ—अस्थ्यादिगत रोगों को दूर किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

अङ्ग-प्रत्यङ्गों में होनेवाले रोगों का नाश

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि।
यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि॥ ७॥

१. पूर्व मन्त्र में शरीर के विशिष्ट अङ्गों से रोगों को दूर करने का संकेत हुआ है। अप्रसिद्ध अवयवों से भी उसके दूर करने का प्रतिपादन इस मन्त्र में किया गया है। हे रुग्ण! **ते**=तेरे **अङ्गे अङ्गे**=अनुक्त सब अवयवों में, **लोम्नि लोम्नि**=सब रोम-कूपों में, **पर्वणि पर्वणि**=सब सन्धियों में होनेवाले **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=मैं पृथक् करता हूँ। २. **वयम्**=हम **ते**=तेरे **त्वचस्यम्**=त्वचा में होनेवाले **विष्वञ्चम्**=चक्षु आदि सब अवयवों में व्याप्त होनेवाले रोग को **कश्यपस्य**=(पश्यकस्य) ज्ञानी पुरुष के **वीबर्हेण**=(बृह to destroy, to kill) रोगघातक प्रयोग से नष्ट करते हैं। ज्ञानी वैद्य रोग के मूलकारण को समझकर रोग को नष्ट करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—अङ्ग-प्रत्यङ्ग में होनेवाले, रोम-कूपों व जोड़ों में होनेवाले, त्वचा के विविध प्रदेशों में होनेवाले रोगों को नष्ट किया जाए।

विशेष—अङ्ग-प्रत्यङ्ग से रोगोन्मूलन करके पूर्ण स्वस्थ होने का वर्णन इस सूक्त में हुआ है। अब स्वस्थ बनकर यह स्थिर व शान्त बनता है—'अथर्वा'। यह प्राणसाधना से मन को स्थिर करके पशुपति(प्रभु) का ध्यान करता है—

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पशुपतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पशुपति-निष्क्रय

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम्।
निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम्॥ १॥

१. **यः**=जो **पशुपतिः**=सब प्राणियों का स्वामी(पशूनां पतिः) अथवा सर्वद्रष्टा व सर्वरक्षक प्रभु (पशुश्चासौ पतिश्च) **पशूनां ईशे**=सब पशुओं का ईश है, **चतुष्पदाम्**=जो भी चार पैरवाले पशु हैं उनके तो वे पशुपति ईश है ही, **उत**=और **यः**=जो पशुपति **द्विपदाम्**=दो पाँवोंवाले मनुष्यों के भी ईश हैं, **सः**=वह पशुपति **निष्क्रीतः**=विषय-त्यागरूप मूल्य से पुनः प्राप्त किये हुए **यज्ञियं भागम्**=यज्ञ-सम्बन्धी भाग को प्राप्त हो, अर्थात् हम वैषयिक वृत्तियों से ऊपर उठकर यज्ञों

का सेवन करनेवाले हों और इन यज्ञों द्वारा उस प्रभु की उपासना करें। २. इसप्रकार उपासना करनेवाले **यजमानम्**=यज्ञशील पुरुष को **रायस्पोषाः सचन्ताम्**=धनों की पुष्टि समेवत हो।

भावार्थ—प्रभु ही सबके ईश हैं। मनुष्य विषयों से पृथक् होकर प्रभु को प्राप्त करता है और यज्ञों से उसका उपासन करता है। ऐसा करने पर यज्ञशील पुरुषों को धनों की कमी नहीं रहती।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वीर्यरक्षण व सात्त्विक अन्न-सेवन

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः।
उपाकृतं शशमानं यदस्थात्प्रियं देवानामप्येतु पाथः॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जो वैषयिक वृत्ति से ऊपर उठेंगे वे देव बनेंगे। इन देवों से कहते हैं कि—हे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! **भुवनस्य**=(भुवन Becoming prosperous) समृद्ध होने का साधनभूत जो **रेतः**=वीर्य है, उस वीर्यशक्ति को **प्रमुञ्चन्तः**=धारण करते हुए (put on, wear) अथवा वासनाओं से मुक्त करते हुए (liberate) तुम **यजमानाय**=सृष्टियज्ञ के रचयिता प्रभु की प्राप्ति के लिए **गातुम्**=मार्ग को **धत्त**=धारण करो। वस्तुतः वीर्यरक्षण ही प्रभु-प्राप्ति का साधन बनता है। इस लोक में भी यह वीर्यरक्षण ही समृद्धि का साधन बनता है। २. **यत् उपाकृतम्** **अस्थात्**=जो सम्यक्तया संस्कृत किया गया है, **शशमानम्**=(अर्चतिकर्मा—नि० ३.१४) जो अर्चित व पूजित है, **देवानां प्रियम्**=चक्षु आदि सब इन्द्रियों का तर्पण करनेवाला है (प्री तर्पणे) वह **पाथः**=अन्न **अपि एतु**=हमारी ओर आनेवाला हो, हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—हम वीर्यरक्षण के द्वारा प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलें। सुसंस्कृत, पूजित, इन्द्रिय-शक्ति को बढ़ानेवाले अन्नों को खाएँ। ऐसे अन्न का सेवन वीर्यरक्षण में सहायक होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निर्विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वीर्य-रक्षण व प्रभु-दर्शन

ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च।
अग्निष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः॥ ३॥

१. गतमन्त्र में वीर्य को अपने शरीर में सुरक्षित करने का उपदेश है। यही शरीर में वीर्य का बन्धन है। **ये**=जो लोग **बध्यमानम् अनु**=शरीर में बाँधे जाते हुए व सुरक्षित किये जाते हुए वीर्य के अनुसार **दीध्यानाः**=(दीधी to shine) चमकते हुए, तेजस्वी होते हुए, **मनसा**=मन से तथा **चक्षुषा**=चक्षु से **अन्वैक्षत**=अपने में आत्मा का दर्शन करते हैं। वीर्यरक्षण से बुद्धि तीव्र बनती है और इस तीव्र बुद्धि से प्रभु का दर्शन होता है। वीर्य-रक्षण करनेवाला पुरुष तेजस्वी बनता है, इसकी सब इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि उत्कृष्ट बनते हैं। यह मन से उस आत्मा का मनन करता है तो आँख से सर्वत्र उसकी महिमा को देखता है। २. **तान्**=इन मनन व दर्शन करनेवाले पुरुषों को **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **अग्रे**=सर्वप्रथम **प्रमुमोक्तु**=मोक्ष प्राप्त कराता है, वे प्रभु जोकि **देवः**=प्रकाशमय हैं, **विश्वकर्मा**=सृष्टि-रचनरूप कर्मवाले हैं और **प्रजया संरराणः**=सब प्रजाओं के साथ रमण करनेवाले हैं। वस्तुतः 'प्रजा' शब्द उनके लिए प्रयुक्त होता है, जो अपनी शक्तियों का प्रकृष्ट प्रादुर्भाव करनेवाले हैं। इनमें ही प्रभु का वास होता है।

भावार्थ—वीर्य-रक्षण से मनुष्य दीप्त बनता है, प्रभु का दर्शन करता है और मोक्ष प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वायुः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वार्थ से ऊपर, मिलकर

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः।
वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥ ४॥

१. **वायुः**=गति के द्वारा सब अशुभों का हिंसन करनेवाला (वा गतिगन्धनयोः) **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **तान्**=उन्हें **अग्रे प्रमुमोक्तु**=सर्वप्रथम मुक्त करता है, **ये**=जो **ग्राम्याः**=केवल स्वार्थमय जीवन न बिताकर सम्पूर्ण ग्राम के हित के लिए प्रवृत्त होते हैं (ग्रामाय हिताः) **पशवः**=(पश्यन्ति) देखकर चलते हैं तथा **विश्वरूपाः**=उस सर्वत्र प्रविष्ट प्रभु का निरूपण करनेवाले हैं, जो **बहुधा विरूपाः सन्तः**=बहुत प्रकार से, भिन्न-भिन्न रूपोंवाले होते हुए भी **एकरूपाः**=उद्देश्य की दृष्टि से एक रूप होते हैं—समान उद्देश्य से विविध कार्यों में प्रवृत्त होते हैं—प्रभु इन्हें मुक्त करते हैं। २. ये प्रभु ही वस्तुतः **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं के रक्षक हैं, **प्रजया संरराणः**=सब प्रजाओं के साथ रमण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम स्वार्थ से ऊपर उठकर मिलकर चलें—यही मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**आशीः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्राणसाधना

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम्।
दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥ ५॥

१. **प्रजानन्तः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले, **पूर्वे**=अपना पालन और पूरण करनेवाले लोग **पर्याचरन्तम्**=शरीर में सर्वत्र गति-करते हुए **प्राणम्**=प्राण को **अङ्गेभ्यः प्रतिगृह्णन्तु**=सब अङ्गों से निरुद्ध करें—इसे सब अङ्गों में विचरण करने से रोककर अपने में ही स्थापित करें। २. इसप्रकार प्राणनिरोध के द्वारा ही हे जीव! तू **दिवं गच्छ**=प्रकाश को प्राप्त हो। प्राण-निरोध से वीर्यरक्षा होकर बुद्धि तीव्र बनती है। **शरीरैः प्रतितिष्ठाः**=इस प्राणनिरोध के द्वारा तू शरीरों से प्रतिष्ठित हो। तेरे 'स्थूल, सूक्ष्म और कारण'—सब शरीर ठीक हों। प्राण-निरोध के द्वारा **देवयानैः पथिभिः**=देवयान मार्गों से **स्वर्गं याहि**=स्वर्ग को प्राप्त कर। प्राण-निरोध से सब वासनाओं का विनाश होता है और उत्तम प्रवृत्ति होकर मनुष्य स्वर्ग को प्राप्त करता है—सदा देवयानमार्ग से चलता है—देवतुल्य प्रवृत्तिवाला होता है। ३. हमारे तीन कर्त्तव्य हैं—(क) ज्ञान प्राप्त करें, (ख) अपना पालन व पूरण करें, (ग) प्राणसाधना द्वारा प्राण को वश में करें। सदा ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहने से हम प्रकाश को प्राप्त करेंगे (दिवं गच्छ)—हमारा दृष्टिकोण सुलझा हुआ होगा और हम सन्तान, धन, यश में फँसेंगे नहीं। यदि हम अपने पालन व पूरण का ध्यान करेंगे, तो 'प्रतितिष्ठा शरीरैः' हमारे शरीर बड़े ठीक रहेंगे। प्राण-साधना से चित्तवृत्ति का निरोध होने से हम देवायान-मार्ग से चलेंगे और स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्क बनेंगे। ऐसा बनने में ही स्वर्ग का आनन्द है। मस्तिष्क स्वस्थ न हो तो हम पागलखाने में होते हैं, शरीर स्वस्थ न हो तो चिकित्सालय में। दोनों के स्वस्थ होने पर ही हम घर पर स्वर्ग-सुख का आनन्द अनुभव करते हैं।

भावार्थ—प्राणनिरोध से शरीर स्वस्थ होता है, ज्ञान प्रकाश प्राप्त होता है और मनुष्य देवतुल्य प्रवृत्तिवाला बनता है।

विशेष—इस सूक्त में जीवन को अत्यन्त उत्कृष्ट बनाने का उल्लेख है। यह अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला 'अङ्गिरा' बनता है और 'विश्वकर्मा' प्रभु का उपासन करता है—

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—बृहतीगर्भात्रिष्टुप् ॥

अनिष्ट व दुरिष्ट से दूर

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः।
या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तान्कृणवद्विश्वकर्मा॥ १॥

१. **ये**=जो **भक्षयन्तः**=नाना प्रकार के भोग्य पदार्थों को खाते हुए **वसूनि न आनृधुः**=यज्ञों को समृद्ध नहीं करते (यज्ञो वै वसुः—य० १.२), 'भोग-विलास में ही सब धन का व्यय कर देते हैं और यज्ञों के करने का ध्यान नहीं करते', वे 'अयष्टा' कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त वे लोग जो यज्ञ तो करते हैं, परन्तु इन यज्ञों को सर्वाङ्गसम्पूर्ण न करके उनमें अधूरेपन को पैदा कर देते हैं, ऐसे जिन लोगों के लिए **धिष्ण्याः**=वेदि में स्थित **अग्नयः**=अग्नियाँ मानो **अन्वतप्यन्त**=अनुतापयुक्त होती हैं, अर्थात् जो लोग यज्ञों को ठीक रूप से न करके किसी अङ्ग से विकल ही रहने देते हैं—ये दुर्यष्टा कहलाते हैं। २. **तेषाम्**=उस अयष्टा और दुर्यष्टा पुरुषों की **या**=जो **अवयाः**=(अवयजनम् यागाननुष्ठानं दुरिष्टः) यज्ञ न करने की प्रवृत्ति है, अथवा **दुरिष्टिः**=यज्ञ को अधूरा करने की वृत्ति है, **विश्वकर्मा**=सब कर्मों को करनेवाले अथवा सम्पूर्ण नकि अधूरे कर्मों को करनेवाले प्रभु **नः**=हमारे लिए **ताम्**=उसे **स्विष्टम्**=शोभन इष्टि ही **कृणवत्**=करे। प्रभु हमसे अनिष्टि व दुरिष्टि को दूर करके हमें स्विष्टि प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हम यज्ञ न करनेवाले न हों और यज्ञों को अधूरा भी न करें। हम सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण यज्ञों को करनेवाले बनें।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पाप से पृथक्

यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम्।
मथव्यान्त्स्तोकानप यान्रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा॥ २॥

१. **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी लोग **प्रजाः अनुतप्यमानम्**=प्रजाओं के दुःख से दुःखी होते हुए **एनसा निर्भक्तम्**=पाप से पृथक् हुए-हुए **यज्ञपतिम्**=यज्ञ के रक्षक, यज्ञशील पुरुष को **आहुः**=कहते हैं। जो भोगमय जीवन न बिताकर औरों के दुःख से दुःखी होता है तथा यज्ञमय जीवन बिताता है, उसके पाप नष्ट हो जाते हैं। २. **मथव्यान्**=(मथ् to kill) रोगबीजों के नाश में उत्तम **यान्**=जिन **स्तोकान्**=रेतःकणों को—वीर्य-बिन्दुओं को भोगप्रधान पुरुष **अपरराध**=नष्ट कर बैठता है, **विश्वकर्मा**=कर्मों को सम्पूर्ण रूप में करनेवाले वे प्रभु **नः**=हमें **तेभिः**=उन वीर्य-बिन्दुओं से **संसृजतु**=संसृष्ट करें। वस्तुतः यज्ञशील पुरुष ही इन वीर्य-बिन्दुओं का रक्षण कर पाता है, भोगप्रधान जीवनवाला मनुष्य इनका नाश कर बैठता है, इसलिए यज्ञपति का जीवन ही निष्पाप होता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें, दूसरों के दुःख से दुःखी हों। रोगसंहारक रेतःकणों का रक्षण करनेवाले बनें। यदि भोगमय जीवन होगा तो वीर्य-कणों का नाश करके हम दुःख-भागी होंगे।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

यज्ञों में निरहंकारता

अदान्यान्त्सोमपान्मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः।
यदेनश्चकृवान्बद्ध एष तं विश्वकर्मन्प्र मुञ्चा स्वस्तये॥ ३॥

१. **यज्ञस्य विद्वान्**=यज्ञा का ज्ञाता **समये**=(सम् आयन्ति संगच्छन्ते यत्र) एकत्र होने के स्थान में—सभास्थल में **न धीरः**=धीरता से काम न लेनेवाला—अहंकारवश कुछ-का-कुछ बोल—देनेवाला **सोमपान्**=सोम का शरीर में रक्षण करनेवाले संयमी पुरुषों को भी **अदान्यान्**=दान के अयोग्य **मन्यमानः**=मानता हुआ **यत्**=जो **एनः**=पाप **चकृवान्**=कर बैठता है, **एषः**=यह **बद्धः**=अहंकार के बन्धन में बँधा हुआ है। यज्ञ के विषय में ज्ञान रखता हुआ भी यह अभी अहंकार से ऊपर नहीं उठ पाया, तभी अपनी तुलना में औरों को हीन समझता है, इनका निरादर भी कर बैठता है। २. हे **विश्वकर्मन्**=कर्मों को सम्पूर्णता से करनेवाले प्रभो! आप **तम्**=उसे इस अंहकार से **प्रमुञ्च**=मुक्त कीजिए, जिससे **स्वस्तये**=उसका कल्याण हो। यह अहंकार उसके पतन का कारण न बन जाए।

भावार्थ—वस्तुतः ज्ञानी व यज्ञशील वही है जो अहंकार रहित हो गया है। अहंकारयुक्त तो अभी बद्ध ही है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

विनीतता, नमस्कार

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम्।
बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन्नमस्ते पाह्य१स्मान्॥ ४॥

१. **ऋषयः**=ये तत्त्वद्रष्टा लोग **घोराः**=(Venerable, awful, sublime) बड़े उत्कृष्ट हैं, **एभ्यः**=इनके लिए **नमः अस्तु**=हमारा नमस्कार हो। इनके लिए हम इसलिए नतमस्तक होते हैं **यत्**=चूँकि **एषां चक्षुः**=इनकी दृष्टि महत्त्वपूर्ण है—ये प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को देखते हैं **च**=और **मनसः सत्यम्**=इनके मन में सत्य है। २. **बृहस्पतये**=ज्ञान के पति के लिए हम **नमः**=नमस्कार करते हैं। हे **महिष**=पूज्य, **द्युमत्**=ज्योतिर्मय **विश्वकर्मन्**=सब कर्मों को करनेवाले प्रभो! ते **नमः**=आपके लिए हमारा नमस्कार हो। **अस्मान् पाहि**=हम अहंकारशून्य व विनीत पुरुषों की आप रक्षा कीजिए।

भावार्थ—हम ऋषियों, ज्ञानियों का आदर करें, प्रभु के प्रति प्रणत हों। यह अहंकारशून्यता—नम्रता ही कल्याण का मार्ग है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

मुख्य होता 'प्रभु'

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः॥ ५॥

१. वे प्रभु **यज्ञस्य चक्षुः**=यज्ञ के दिखलानेवाले हैं, यज्ञों का ज्ञान देनेवाले हैं, **प्रभृतिः**=वे ही इन यज्ञों का भरण करनेवाले हैं, प्रभुकृपा के बिना कोई भी यज्ञ पूर्ण नहीं होता। **मुखं च**=वे प्रभु ही इस यज्ञ के मुख हैं—प्रवर्तक हैं, प्रत्येक यज्ञ प्रभु की उपासना से ही आरम्भ हुआ करता है। २. इसलिए **वाचा**=प्रभु के गुणों का उच्चारण करती हुई वाणी से, **श्रोत्रेण**=प्रभु-गुण श्रवण करते हुए कानों से, **मनसा**=प्रभु की महिमा का मनन करते हुए मन से **जुहोमि**=मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। ३. **विश्वकर्मणा**=कर्मों को सम्पूर्णरूप से करनेवाले प्रभु से **विततम्**=विस्तृत किये गये **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **सुमनस्यमानाः**=उत्तम मनवालों की भाँति आचरण करते हुए **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यन्तु**=प्राप्त हों। यज्ञों को करें, परन्तु इन यज्ञों को प्रभु से सम्पन्न होता हुआ जानें। इसप्रकार अहंकारशून्य होते हुए उत्तम मनवाले बने रहें। अहंकार आया तो

यह देवों का यज्ञ न होकर असुरों का यज्ञ हो जाता है। '**यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्**'।

भावार्थ—हम यज्ञों में प्रवृत्त हों, परन्तु उन यज्ञों को प्रभु से होता हुआ जानें।

विशेष—प्रस्तुत सूक्त में यज्ञमय जीवन का प्रतिपादन है। इसी यज्ञ में सहायता के लिए पति पत्नी का व पत्नी पति का वरण करती है। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस सूत्र से यज्ञसंयोग में पत्नी शब्द बनता है। पति-पत्नी को मिलकर यज्ञ को सिद्ध करना है, अतः अगला सूक्त 'पतिवेदन' ऋषि का है। पति 'अग्नि' है तो पत्नी 'सोम'। पति-पत्नी के विषय में मन्त्र कहता है—

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

सुमतिं सम्भलः (गमेत्)

आ नो॑ अग्ने सु॒म॒तिं सं॑भ॒लो ग॑मेदि॒मां कु॑मा॒रीं स॒ह नो॒ भगे॑न।
जुष्टा॑ व॒रेषु॒ सम॑नेषु व॒ल्गुरो॒षं पत्या॒ सौभ॑गमस्त्व॒स्यै ॥ १ ॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नः**=हमारी **सुमतिम्**=कल्याणी मतिवाली, समझदार इस कन्या को **सम्भलः**=(भल परिभाषणे) बोलने में अत्यन्त मधुर वर **आगमेत्**=प्राप्त हो। कन्या सुमति है—छल-छिद्रवाली नहीं, उसे साधुस्वभाव पति ही प्राप्त हो। २. **नः**=हमारी **इमां कुमारीम्**=इस कुमारी को **भगेन सह**=ऐश्वर्य के साथ यह वर प्राप्त हो। पति के लिए आवश्यक है कि वह कमानेवाला हो, क्योंकि गृहस्थ बिना धन के चल ही नहीं सकता। ३. हमारी यह कन्या **समनेषु**=(सहृदयेषु—सा०) सहृदय—प्रेम-दयादि भावों से पूर्ण हृदयवले **वरेषु**=वरपक्ष के व्यक्तियों में **जुष्टा**=प्रीतिपूर्वक सेवा करनेवाली हो—उन्हें प्रिय हो। **वल्गुः**=इसका जीवन वहाँ सुन्दर हो। **पत्या**=पति के साथ **ओषम्**=सब प्रकार सहनिवासवाला—सहनिवासका साधनभूत **सौभगम्**=सौभाग्य **अस्यै अस्तु**=इसके लिए हो।

भावार्थ—पति बोलने में मधुर (संभलः), कमानेवाला (भगेन सह), पत्नी के साथ कार्यों को करनेवाला (ओषं सौभगम्) हो। पत्नी समझदार (सुमतिः), सर्वप्रिय (जुष्टा) व सुन्दर जीवनवाली (वल्गुः) हो।

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**सोम, अर्यमा, धाता** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सौम्य, सुलझी हुई, संयत जीवनवाली (कन्या)

सोम॑जुष्टं ब्र॒ह्मजु॑ष्टमर्य॒म्णा संभृ॑तं॒ भग॑म्।
धा॒तुर्दे॒वस्य॑ स॒त्येन॑ कृणोमि पति॒वेद॑नम् ॥ २ ॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में कन्या का पिता कहता है—**भगम्**=मैं कन्यारूप अपने इस ऐश्वर्य को उस **धातुः देवस्य**=सबके धारक—सब व्यवहारों के साधक प्रभु के **सत्ये**=सत्यनियम के अनुसार **पतिवेदनम्**=पति का धन **कृणोमि**=करता हूँ, अर्थात् अपनी कन्या का हाथ योग्य पति के हाथ में देता हूँ। पिता का यह भी एक नितान्त महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है कि कन्या को योग्य पति को सौंपने का प्रयत्न करे। इसी कर्त्तव्य के पालन से एक अच्छे घर की नींव पड़ती है। २. प्रभु के नियम के अनुसार कन्या को एक नये घर के निर्माण के लिए अन्य स्थान पर भेजना ही होता है। उत्तम सन्तान के निर्माण के लिए विभिन्न रुधिरों का मिश्रण आवश्यक होता है। ३. यह कन्यारूप धन कैसा है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं—**सोमजुष्टम्**=यह सोम से

सेवित हुई है, अर्थात् स्वभाव के दृष्टिकोण से यह कन्या अत्यन्त सौम्य बनी है, **ब्रह्मजुष्टम्**=ज्ञान से सेवित हुई है, अर्थात् इसने खूब ज्ञान प्राप्त किया है, **अर्यम्णा सम्भृतम्**=अर्यमा से इसका सम्भरण किया गया है—'**अरीन् यच्छति इति अर्यमा**'—इसने काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नियमन किया है। संक्षेप में यह कन्या स्वभाव में सौम्य है, मस्तिष्क में ज्ञानोज्ज्वल बनी है और अत्यन्त संयमी जीवनवाली है।

भावार्थ—माता-पिता कन्या में 'सौम्यता, ज्ञान व संयम' उत्पन्न करें। ऐसी कन्या ही अच्छे घर का निर्माण कर सकती है।

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**अग्नीषोमौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पुत्रजन्म व सौभाग्य

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति।
सुवाना पुत्रान्महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **इयम्**=गतमन्त्र में वर्णित गुणोंवाली **नारी**=कन्या **पतिं विदेष्ट**=पति को प्राप्त करे। **हि**=निश्चय से **सोमः**=सौम्य स्वभाववाला **राजा**=व्यवस्थित जीवनवाला (राज्=Regulated) दीप्त जीवनवाला (राज् दीप्तौ) यह पति इस नारी को **सुभगां कृणोति**=सौभाग्यवाला करता है। पति इसके जीवन को सदा सौभाग्य-सम्पन्न बनाने का प्रयत्न करता है। २. यह नारी **पुत्रान् सुवाना**=पुत्रों को जन्म देती हुई **महिषी**=आदरणीय **भवाति**=होती है। सामान्यत सन्तानोत्पादन में असमर्थ पत्नी उचित आदर नहीं पाती है। कन्या के माता-पिता चाहते हैं कि यह कन्या **पतिं गत्वा**=अपने पति को प्राप्त करके **सुभगा**=सौभाग्यवाली होती हुई **विराजतु**=विशेषरूप से शोभावाली हो। कन्या अपने पतिगृह में ही शोभा पाती है। उसे इस अपने बनाये हुए घर को ही अपना घर समझना चाहिए। आज तक वह जिस घर में थी, वह घर तो उसकी माता का घर था, उसे उसकी माता ने ही बनाया था।

भावार्थ—कन्या पतिगृह को प्राप्त करे। उसे ही वह अपना घर समझे। पति भी सौम्य स्वभाववाला व व्यवस्थित जीवनवाला हो।

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पति के साथ अविरोध

यथाखरो मघवंश्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव।
एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविराधयन्ती॥ ४॥

१. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **यथा**=जैसे **एषः**=यह **आखरः**=बिल या माँद (cave) **चारुः**=सुन्दर है, **मृगाणां प्रियः**=इसमें निवास करनेवाले पशुओं की प्रीतिजनक है, **सुषदाः बभूव**=उनके लिए सुख से बैठने योग्य हुई है, **एव**=इसीप्रकार यह घर चाहे छोटा है, परन्तु सुन्दर है (चारुः), प्रीति देनेवाला है (प्रियः) तथा उठने-बैठने की पूरी सुविधावाला है (सुषदाः)। २. इस घर में रहती हुई **इयं नारी**=यह स्त्री **भगस्य जुष्टा**=ऐश्वर्य से प्रीतिपूर्वक सेवन की गई **अस्तु**=हो—इसे यहाँ ऐश्वर्य की कमी न रहे। **संप्रिया**=यह सबको अच्छी प्रकार प्रीणित करनेवाली हो—सबके लिए प्रिय बने। **पत्या**=पति के साथ **अविराधयन्ती**=विरोध करनेवाली न हो। गृहस्थ की सफलता का मूलमन्त्र तो पति के साथ अविरोध ही है।

भावार्थ—घर प्रिय, सुन्दर व सुखद हो। घर में धन-धान्य की कमी न हो। पति-पत्नी का पूर्ण सामञ्जस्य व मेल हो।

ऋषिः—पतिवेदनः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ऐश्वर्यपूर्ण नाव

भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम्।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ ५ ॥

१. हे कन्ये! तू उस **नावम् आरोह**=गृहस्थ की नौका पर आरुढ़ हो जो **भगस्य पूर्णाम्**=ऐश्वर्य से पूर्ण है तथा **अनुपदस्वतीम्**=क्षीण होनेवाली नहीं, अर्थात् गृहस्थ में आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन-धान्य की कमी न होनी चाहिए तथा गृहस्थ में भोगासक्त होकर शक्तियों को क्षीण न कर बैठें। २. **तया**=ऐसी गृहस्थ की नाव के द्वारा **उपप्रतारय**=उसके समीप अपने को प्राप्त करा **यः**=जोकि **प्रतिकाम्यः**=प्रत्येक दृष्टि से कमनीय—सुन्दर **वरः**=वर है। जो वर शारीरिक दृष्टिकोण से स्वस्थ है, मन के दृष्टिकोण से उदार है तथा मस्तिष्क के दृष्टिकोण से सुलझा हुआ है। पत्नी के उत्तम व्यवहार से घर फूलता-फलता है। घर जहाँ ऐश्वर्य-सम्पन्न बनता है, वहाँ इस घर के लोगों की शक्तियाँ भी अक्षीण बनी रहती हैं। पत्नी घर को सुन्दर बनाकर पति की अधिकाधिक प्रिय बनती है।

भावार्थ—पत्नी अपने प्रयत्न से घर की व्यवस्था को ऐसा बनाए कि घर का ऐश्वर्य बढ़े और सब गृहवासियों की शक्ति अक्षुण्ण बनी रहे। ऐसा करने पर पत्नी पति के अधिकाधिक समीप आ जाती है—पति की प्रियतमा बन जाती है।

ऋषिः—पतिवेदनः ॥ देवता—धनपतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

वर का सम्मान

आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु।
सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ ६ ॥

१. हे **धनपते**=कन्यारूप धन का रक्षण करनेवाले कन्या के पितः! आप **वरम्**=वर को—अपनी कन्या के लिए साथी के रूप में वरण के योग्य युवक को **आक्रन्दय**=आदरपूर्वक आमन्त्रित कीजिए। उसे उचित व्यवहार से **आमनसम्**=सब प्रकार से अनुकूल मनवाला **कृणु**=कीजिए। २. **यः**=जो **प्रतिकाम्यः**=प्रत्येक दृष्टिकोण से—योग्यता, स्वभाव, धन व आयु आदि के विचार से चाहने योग्य **वरः**=वरणीय युवक है, उसके लिए **सर्वम्**=सब **प्रदक्षिणम् कृणु**=(Respectful, Reverential) आदरयुक्त कर्म करने का ध्यान रखिए। इस वर को उचित आदर देते हुए पिता वस्तुतः अपनी कन्या का मान बढ़ा रहा होता है। परिवार के शिष्टाचार से प्रभावित होकर ही वर कन्या के विषय में अपना उचित विचार बना पाता है।

भावार्थ—कन्यापक्षवाले वर को बुलाते हैं, उसे अपने व्यवहार से प्रभावित करके और उचितरूप में आदृत करके अनुकूल मनवाला करते हैं।

ऋषिः—पतिवेदनः ॥ देवता—हिरण्यम्, भगः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

दहेज

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥ ७ ॥

१. **इदम्**=यह **हिरण्यम्**=स्वर्ण है—स्वर्ण के कुछ आभूषण आदि हैं। **गुल्गुलु**=गुड़ में पकाये गये कुछ भोज्य द्रव्य हैं। विवाह के बाद लौटने पर मार्ग के लिए ये भोज्य द्रव्य उपयुक्त होंगे। **अयम् औक्षः**=यह बैल या यान के निमित्त धन है, **अथ उ**=और यह निश्चय से **भगः**=कन्या

के निमित्त रक्खा हुआ कुछ धन है। २. इन वस्तुओं को **एते**=ये कन्या पक्षवाले लोग **पतिभ्यः**=पति के पक्षवालों के लिए **अदुः**=देते हैं। इसलिए देते हैं कि वे **त्वाम्**=तुझे **प्रतिकामाय**=प्रत्येक दृष्टिकोण से चाहने योग्य पति को **वेत्तवे**=(विद् लाभे) प्राप्त करा सकें।

भावार्थ—वरपक्षवालों को सत्कार के लिए कुछ भेंट देनी आवश्यक ही है। यह सत्कार कन्या को उनके लिए प्रिय बनाता है।

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**निचृत्पुरउष्णिक्** ॥

आशीर्वाद

आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्य॒ः। त्वमस्यै धेह्योषधे ॥ ८ ॥

१. जब कन्या घर से विदा होती है तब पुरोहित उसे आशीर्वाद देते हुए कहता है कि यह **सविता**=ऐश्वर्य को उत्पन्न करनेवाला **यः**=जो **प्रतिकाम्यः**=प्रत्येक दृष्टि से कमनीय व सुन्दर जीवनवाला **ते पतिः**=तेरा यह पति **नयतु**=तुझे यहाँ से ले-जानेवाला हो और **नयतु**=ले-जानेवाला ही हो। यह कभी तेरे प्रति असन्तुष्ट होकर तुझे वापस पितृगृह में भेजने की कामनावाला न हो। २. हे **ओषधे**=दोषदहन की शक्ति को धारण करनेवाले युवक! **त्वम्**=तू भी **अस्यै**=इस कन्या के लिए **धेहि**=धारण करनेवाला बन। कन्या को तो अपना व्यवहार इतना मधुर व सुन्दर बनाना ही चाहिए कि वरपक्षवालों को उससे किसी प्रकार की शिकायत न हो। पति को भी चाहिए कि वह पत्नी की सब अवश्यकताओं को उचित रूप से पूर्ण करनेवाला हो।

भावार्थ—पति पत्नी को जब ले-जाए तो ले-ही जाए, असन्तुष्ट होकर उसे पितृगृह में वापस भेजनेवाला न बने, उसका धारण करनेवाला हो।

विशेष—इस सम्पूर्ण सूक्त में पति-पत्नी के धर्मों का अत्यन्त सुन्दरता से चित्रण हुआ है। इस काण्ड का प्रारम्भ प्रभु अराधना से हुआ था। प्रभु का आराधन करनेवाले पति-पत्नी ही घर को सुन्दर बना पाते हैं, अतः काण्ड की समाप्ति पर इस स्वर्गतुल्य गृह के निर्माण का उपदेश हुआ है। इन घरों के रक्षण का उत्तरदायित्व राजा पर है। यह 'अथर्वा' न डाँवाडोल वृत्तिवाला-स्थिरवृत्तिवाला राजा शत्रुओं के आक्रमण से प्रजाओं का रक्षण करता है। इस भाव के प्रतिपादन के साथ तृतीय काण्ड आरम्भ होता है।

॥ इति द्वितीयं काण्डम् ॥

अथ तृतीयं काण्डम्

अथ पञ्चमः प्रपाठकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शत्रु-सम्मोहन

अग्निर्नः शत्रून्प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम्।
स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥

१. **अग्निः**=सम्पूर्ण सेना का नेतृत्व करनेवाला (अग्रणी) **विद्वान्**=ज्ञानी-समझदार-युद्ध-विद्याओं में कुशल राजा **नः**=हमारे **शत्रून् प्रति एतु**=शत्रुओं के प्रति आक्रमण करनेवाला हो। राजा के लिए आवश्यक है कि वह अग्नि हो—सैन्य सञ्चालन में निपुण हो तथा समझदार हो। 'कहाँ आगे बढ़ना है, कहाँ पीछे हटना है'—इस सबको समझता हो। २. **अभिशस्तिम् अरातिम्**=विनाशक शत्रु को **प्रतिदहन्**=भस्म करता हुआ यह आगे बढ़े। **सः**=वह राजा **परेषां सेनाम्**=शत्रुओं की सेना को **मोहयतु**=मोहावस्था में प्राप्त करा दे, शत्रु-सैन्य की बुद्धि चकरा जाए, वे इसकी चाल को पूरा-पूरा समझ न सकें **च**=और यह **जातवेदाः**=शत्रु-सैन्य की प्रत्येक गतिविधि को समझनेवाला इसप्रकार अस्त्रों का प्रयोग करे कि उन्हे **निर्हस्तान् कृणवत्**=आयुधग्रहण में असमर्थ हाथोंवाला कर दे।

भावार्थ—राजा राष्ट्र के शत्रुओं पर आक्रमण करे, आग्नेयास्त्रों से उन्हें भस्म कर दे। मोहनास्त्र से शत्रु-सैन्य को मूढ़ बना दे, उनके हाथ शस्त्रग्रहण में समर्थ न रहें।

सूचना—यहाँ इसप्रकार के अस्त्र के प्रयोग का संकेत स्पष्ट है कि जिससे शत्रु-सैन्य चेतना खो बैठता है और उसके हाथों में से अस्त्र-शस्त्र गिर पड़ते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भाभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

वीर-प्रेरणा

यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वम्।
अमीमृणन्वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः प्रत्येतु विद्वान्॥ २ ॥

१. राजा सैनिकों से कहता है कि हे **मरुतः**=(म्रियन्ते न निवर्तन्ते) युद्ध में पीठ न दिखानेवाले वीरो! **ईदृशे**=ऐसी अव्यवस्था में जबकि शत्रु का भयंकर संकट उपस्थित है **यूयम्**=तुम सब **उग्राः**=तेजस्वी **स्थ**=बनो। **अभिप्रेत**=शत्रु की ओर प्रकर्षेण बढ़ो, **मृणत**=शत्रु-सैन्य को मसल डालो, **सहध्वम्**=उसे पराजित करनेवाले होओ। २. **नाथिताः**=राजा से इसप्रकार कहे हुए (नाथ्=to beg, to ask for) **इमे**=ये **वसवः**=प्रजाओं के निवास को उत्तम बनानेवाले वीर **अमीमृणन्**=सब ओर शत्रुओं को मसल डालते हैं। शत्रुओं को विनष्ट करके ही तो ये प्रजाओं के जीवन को सुखी बना पाएँगे। **एषाम्**=इन सैनिकों का **अग्निः**=नेतृत्व करनेवाला राजा **हि**=निश्चय से **विद्वान्**=शत्रुओं की गतिविधियों से पूर्ण परिचित होता हुआ **दूतः**=शत्रुओं को सन्तप्त करनेवाला होकर **प्रति एतु**=शत्रु-सैन्य की ओर जानेवाला हो।

भावार्थ—राजा सैनिकों को उत्साहित करे। वीर-प्रेरणा को प्राप्त सैनिक शत्रुओं को पराजित

करनेवाले हों, राजा स्वयं सेनाओं का नेतृत्व करे और प्रबल आक्रमण द्वारा शत्रुओं को समाप्त कर दे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

राजा व सेनापति

अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति॥ ३॥

१. यद्यपि राष्ट्र की सेनाओं का मुख्य सेनापति राजा ही होता है और यह यहाँ 'अग्नि' नाम से कहा गया है, तो भी सेनाओं का सीधा (immediate) अध्यक्ष 'सेनापति' ही होता है। वह यहाँ 'इन्द्र' नाम से कहा गया है। इन्द्र, अर्थात् स्वामी होता हुआ शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला। यह 'वृत्रहा' है—राष्ट्र को छेदनेवाले शत्रुओं का विनाशक है। यह 'मघवा' है—Liberal, munificent,—उदार, धन देनेवाला। सैनिकों के प्रति उदार रहता हुआ ही यह सैनिकों का प्रिय होता है। कृपण सेनापति कभी सैनिकों का प्रिय नहीं बन पाता। वह सैनिकों को पूर्ण उत्साह से युद्ध भी नहीं करा पाता। इस इन्द्र से कहते हैं कि **अस्मान् शत्रूयतीम्**=हमारे प्रति शत्रु की भाँति आचरण करती हुई **अमित्रसेनाम्**=शत्रुओं की सेना को हे **मघवन्**=उदार सेनापते! **अभि**=तू आक्रान्त करनेवाला हो। २. हे **वृत्रहन्**=राष्ट्र के आवरक शत्रु का हनन करनेवाले **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक सेनापते! तू **च**=और **अग्निः**=यह राष्ट्र का राजा **युवम्**=तुम दोनों **तान्**=उन शत्रु-सेनाओं को **प्रतिदहतम्**=एक-एक करके भस्म कर दो। शत्रु-सैन्य को समाप्त करके ही तुम राष्ट्र-रक्षण करनेवाले होओगे।

भावार्थ—राजा व सेनापति सैनिकों के प्रति उदार वृत्तिवाले होते हुए शत्रु-सैन्य पर आक्रमण करें और उसे भस्म कर दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रबल आक्रमण से शत्रुओं की व्याकुलता

प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून्।
जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक्सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम्॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले सेनापति! **हरिभ्याम्**=रथ का हरण करनेवाले—रथ को तीव्र गति से ले-चलनेवाले अश्वों से **प्रसूत**=प्रेरित हुआ-हुआ तेरा रथ **प्रवता**=(प्रवत्=Easy passage) सरल मार्ग से—बाधाशून्य मार्ग से **एतु**=गतिवाला हो और **ते**=तेरा **वज्रः**=वज्र **शत्रून्**=शत्रुओं को **प्रमृणन्**=काटता हुआ **प्रएतु**=प्रकर्षेण गतिमय हो। २. तू **प्रतीचः**=अभिमुख प्राप्त होनेवाले, **अनूचः**=पीछे की ओर से आनेवाले **पराचः**=भागकर दूर जानेवाले शत्रु-सैन्यों को **जहि**=नष्ट कर। **एषाम्**=इन शुत्रओं के **सत्यम्**=शत्रुहनन लक्षणमात्र कार्य में उद्यत व व्यवस्थित **चित्तम्**=चित्त को **विष्वक्**=सर्वतः अञ्चनशील, अर्थात् अव्यवस्थित, कार्याकार्य विभाग-ज्ञान-शून्य **कृणुहि**=कर दे, अर्थात् उन्हें घबराहट में डाल दे।

भावार्थ—सेनापति का वज्र शत्रुओं में इसप्रकार मार-काट करनेवाला हो कि वे घबरा जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्पुरउष्णिक्** ॥

मोहन-अग्नेय तथा वायव्यास्त्र

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम्। अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान्विषूचो वि नाशय॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक सेनापते! तू **अमित्राणाम्**=शत्रुओं की **सेनाम्**=सेना को **मोहय**=मूढ़

बना दे। मोहनास्त्र के प्रयोग से वे चेतनाशून्य हो जाएँ अथवा प्रबल मारकाट से वे घबरा जाएँ। २. **अग्नेः**=अग्नि की तथा **वातस्य**=वायु की **ध्राज्या**=प्रबल गति से, अर्थात् आग्नेयास्त्र के प्रबल आक्रमण से **तान्**=उन शत्रुओं को **विषूचः**=विविध दिशाओं में गतिवाला करके—खदेड़कर **विनाशय**=नष्ट कर दे।

भावार्थ—सेनापति मोहनास्त्र, आग्नेयास्त्र व वायव्यास्त्र के प्रयोग से शत्रुओं को विद्रुत कर दे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्र, मरुत् व अग्नि

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा। चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता॥ ६ ॥

१. **इन्द्रः**=सेनापति **सेनाम्**=शत्रु-सेना को **मोहयतु**=मोह में डाल दे—उनके चित्त अव्यवस्थित हो जाएँ, प्रबल आक्रमण से घबराकर उन्हें कर्त्तव्याकर्तव्य की समझ ही न रहे। **मरुतः**=सैनिक **ओजसा**=पूर्ण आजस्विता के साथ, शूरता के साथ **घ्नन्तु**=आक्रमण करके शत्रुओं को मारनेवाले हों। २. **अग्निः**=आग्नेयास्त्रों का प्रयोग **चक्षूंषि आदत्ताम्**=शत्रुओं की आँखों को छीन ले, अर्थात् शत्रुओं की आँखें चुँधिया जाएँ। इसप्रकार वह शत्रुसेना **पराजिता**=पराजित हुई-हुई **पुनः एतु**=फिर वापस भाग जानेवाली हो।

भावार्थ—इन्द्र, मरुत् व अग्नि—सेनापति, सैनिक व आग्नेयास्त्रों का प्रयोग—ये सब शत्रुओं को परजित करके भगा दें।

विशेष—सूक्त का विषय 'शत्रुसेना के विनाश के द्वारा राष्ट्र का रक्षण' है। अगले सूक्त का विषय भी यही है। ऋषि, देवता भी वही है। प्रथम मन्त्र भी एक-आध शब्द के परिवर्तन के साथ वही है।

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

निर्हस्तीकरण

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम्।
स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः॥ १ ॥

१. **नः**=हमारे राष्ट्र का यह **अग्निः**=अग्रणी—राष्ट्र का प्रमुख नेता—राष्ट्रपति **दूतः**=शत्रुओं को सन्तप्त करनेवाला है। यह **विद्वान्**=शत्रुओं की गतिविधि से पूर्ण परिचित होता हुआ **प्रतिएतु**=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला हो। यह **अभिशस्तिम्**=नाश करनेवाले **अरातिम्**=शत्रु को **प्रति दहन्**=एक-एक करके दग्ध करनेवाला हो। २. **सः**=वह **परेषाम्**=शत्रुओं के **चित्तानि**=चित्तों को **मोहयतु**=मोह में डाल दे। उन्हें कर्त्तव्याकर्त्तव्य की सूझ ही न रहे **च**=और यह **जातवेदाः**=शत्रुओं की प्रत्येक गतिविधि-को जाननेवाला **निर्हस्तान् कृणवत्**=शत्रुओं को आयुधग्रहण में असमर्थ हाथोंवाला कर दे।

भावार्थ—राष्ट्रपति शत्रुओं पर ऐसा प्रबल आक्रमण करे कि उन शत्रुओं में आयुधग्रहण का सामर्थ्य ही न रहे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गृह से भी निर्वासन

अयमग्निरमूमुहद्यानि चित्तानि वो हृदि। वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः॥ २ ॥

१. **अयं अग्निः**=यह राष्ट्रपति, गतमन्त्र के अनुसार, प्रबल आक्रमण के द्वारा **वः हृदि**=तुम्हारे (शत्रुओं के) हृदयों में **यानि चित्तानि**=जो चित्त हैं, नष्ट करने की भावनाएँ हैं, उन्हें **अमूमुहत्**=मोह-अवस्था में ले-जाए। वे चित्त चेतनाशून्य हो जाएँ। हमें नष्ट करने के तुम्हारे स्वप्न समाप्त हो जाएँ। २. यह अग्नि तुम्हारा पीछा करता हुआ **वः**=तुम्हें **ओकसः**=तुम्हारे घरों में से भी **विधमतु**=सन्तप्त करके निकाल दे। **वः**=तुम्हें **सर्वतः**=सब ओर **प्रधमतु**=खूब ही सन्तप्त कर दे। तुममें भाग-दौड़ मच जाए और तुम कहीं भी रुक न पाओ।

भावार्थ—शत्रुओं को उनके घर से भी खदेड़ दिया जाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शत्रु-विद्रावण

इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वाङाकूत्या चर। अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान्विषूचो वि नाशय॥ ३॥

१. हे **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले सेनापते! **चित्तानि मोहयन्**=शत्रुओं के चित्तों को मूढ़ बनाता हुआ तू **आकूत्या**=शत्रुओं के विध्वंस के संकल्प के साथ **अर्वाङ् चर**=हमारे समीप प्राप्त हो, अर्थात् शत्रु-नाश का दृढ़-संकल्प लिये हुए तू हमें प्राप्त हो। ऐसा होने पर ही सबका उत्साह बना रहना सम्भव है। २. **अग्नेः**=आग्नेयास्त्रों तथा **वातस्य**=वायव्यास्त्रों के **ध्राज्या**=वेग से **तान्**=उन शत्रुओं को **विषूचः**=जो विविध दिशाओं में भागनेवाले हैं **विनाशय**=नष्ट कर। शत्रुओं पर इन अस्त्रों की ऐसी बौछार हो कि वे तितर-बितर होकर नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—सेनापति दृढ़ निश्चय के साथ शत्रुओं पर आक्रमण करे और उन्हें चारों ओर भगा दे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शत्रु-संकल्प-विनाश

व्या ॒कूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत। अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार ये शत्रु ऐसे घबरा जाएँ कि हे **व्याकूतयः**=विरुद्ध संकल्पो! तुम **एषाम्**=इन शत्रुओं के मनों को **इत**=प्राप्त होओ। शत्रुपक्ष का कोई व्यक्ति कुछ कहे और कोई कुछ। उनमें मतैक्य न हो। **अथ उ**=और अब **चित्तानि**=हे शत्रुओं के चित्तो! **मुह्यत**=तुम भी किंकर्त्तव्यमूढ़ हो जाओ। इनके चित्त इसप्रकार व्याकुल हो जाएँ कि ये कुछ समझ ही न सकें—ये किसी निश्चय पर न पहुँच सकें। २. हे इन्द्र! तू इनपर इसप्रकार प्रबल आक्रमण कर कि **अथ उ**=अब निश्चय से **यत्**=जो **अद्य**=आज **एषां हृदि**=इनके हृदय में हो **एषाम्**=इनके **तत्**=उस संकल्प को **परिनिर्जहि**=सर्वथा नष्ट कर दे। ये ऐसे घबरा जाएँ कि अपने सारे संकल्पों को भूलकर ये अपने जीवन को बचाने के लिए भाग खड़े हों।

भावार्थ—सेनापति शत्रुओं पर ऐसा प्रबल आक्रमण करे कि उनके युद्ध-विषयक सब संकल्प विलीन हो जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**द्यौः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मूढ़ता-जड़ता, शोक, अँधेरा

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून्॥ ५॥

१. हे **अप्वे**=(व्याधिर्वा भयं वा—नि० ६.१२) भय! **अमीषाम्**=हमारे इन शत्रुओं के **चित्तानि**=चित्तों को **प्रतिमोहयन्ती**=अत्यन्त मूढ़ बनाता हुआ तू **अङ्गानि गृहाण**=इनके अङ्गों

को जकड़ ले। इनके अङ्ग भय से ऐसे जड़ हो जाएँ कि ये अपने-अपने कार्यों को करने में भी असमर्थ हो जाएँ। **परा इह**=हमसे तू दूर ही रह। हम निर्भय होकर शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले हों। २. **अभि प्र इह**=तू शत्रुओं की ओर प्रकर्षेण प्राप्त हो। **शोकैः**=शोक की भावनाओं से **हृत्सु**=हृदयों में **निर्दह**=इन शत्रुओं को दग्ध करनेवाला हो। **ग्राह्या**=सब व्यापारों को निगृहीत करनेवाले **तमसा**=अन्धकार से इन **अमित्रान्**=हमारे प्रति स्नेह-शून्य **शत्रून्**=शत्रुओं को **विध्य**=तू बींधनेवाला हो। ये अन्धकार से ग्रस्त होकर कोई कार्य कर ही न सकें।

भावार्थ—शत्रुओं को ऐसा भय प्राप्त हो जो उनके चित्तों को मूढ़ बना दे, अङ्गों को जड़ीभूत कर दे, हृदयों को शोकयुक्त कर दे और उन्हें अँधेरा-ही-अँधेरा लगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अँधेरा-ही-अँधेरा

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्॥ ६ ॥

१. **मरुतः**=हे सैनिको! **असौ या**=वह जो **परेषां सेना**=शत्रुओं की सेना **स्पर्धमाना**=हमारे साथ संघर्षण की कामना करती हुई **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **अस्मान् अभि एति**=हमारी ओर आती है **ताम्**=उसे **अपव्रतेन तमसा**=जिसमें कर्मों का सम्भव ही न हो ऐसे अन्धकार से **विध्यत**=बींध डालो। ऐसे बींध डालो **यथा**=जिससे **एषाम्**=इनमें से **अन्यः अन्यम्**=एक दूसरे को **न जानात्**=न जान पाये। इतना घना अन्धकार हो जाए कि शत्रु एक-दूसरे को भी न देख सकें। २. इसप्रकार ये मरुत् प्रबल आक्रमण करें कि शत्रुओं को अन्धकार-ही-अन्धकार प्रतीत हो—उन्हें कुछ दिखे ही नहीं। व्याकुलता के कारण उन्हें अँधेरा-ही-अँधेरा प्रतीत हो।

भावार्थ—हमारे सैनिकों का आक्रमण इतना प्रबल हो कि शत्रु-सैन्य को अँधेरा-ही-अँधेरा लगे। वे कुछ भी न देख सकें।

सूचना—यहाँ ऐसे अस्त्र के प्रयोग का भी संकेत है जो चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार कर देता है।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त राष्ट्र-रक्षा का वर्णन कर रहा है। अगले सूक्त में राष्ट्ररक्षक राजा के लिए कहते हैं कि—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आदर्श जीवन

अचिक्रदत्स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम्॥ १ ॥

१. 'कैसे व्यक्ति को राजा बनना चाहिए' उसका संकेत करते हुए कहते हैं कि **अचिक्रदत्**=यह खूब ही प्रभु का आह्वान करता है और **इह**=यहाँ **स्वपाः**=(स्व-पा) अपना रक्षण करनेवाला **भुवत्**=होता है—अपने को वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देता, अथवा 'सु+अपा' उत्तम कर्मोंवाला होता है। प्रभु का स्मरण इसे मार्ग-भ्रष्ट नहीं होने देता। २. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **उरूची**=(उर्वञ्चने) विशाल गतिवाले **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **व्यचस्व**=व्यापक बनानेवाला हो। 'द्यावा' मस्तिष्क है और 'पृथिवी' शरीर है। तू मस्तिष्क और शरीर को व्यापक शक्तिवाला बना। तेरा शरीर पृथिवी के समान दृढ़ हो तो तेरा मस्तिष्क द्युलोक के समान ज्ञान-विज्ञान के

सूर्य व नक्षत्रों से उज्ज्वल हो। ३. **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण धनोंवाले **मरुतः**=प्राण **त्वा**=तुझे **युञ्जन्तु**=प्राप्त हों अथवा तुझे योगयुक्त करें। प्राणसाधना से शरीर में सोम (वीर्य) की ऊर्ध्वगति होकर शरीर के सब कोश बड़े सुन्दर बनते हैं। अन्नमयकोश तेजस्वी हो जाता है, तो प्राणमय वीर्यवान् और मनोमय ओजस्वी और बलवान् बनता है। इस प्राणसाधना से विज्ञानमयकोश ज्ञानपूर्ण होता है तो आनन्दमयकोश 'सहस्' वाला बनता है एवं, ये मरुत् 'विश्ववेदस' हैं। ४. तू **नमसा**=नमन के द्वारा **अमुम्**=उस **रातहव्यम्**=सब हव्य (पवित्र) पदार्थों को देनेवाले प्रभु को **आनय**=अपने में प्राप्त करनेवाला हो। नमन के द्वारा तू हृदय में प्रभु का दर्शन करनेवाला बन। ५. राजा का ऐसा जीवन प्रजा को भी उत्तम बना सकेगा।

भावार्थ—प्रभु-स्मरणपूर्वक हम उत्तम कर्मोंवाले हों। शरीर व मस्तिष्क दोनों का विकास करें। प्राणसाधना के द्वारा सब कोशों को सबल बनाएँ और नमन के द्वारा प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सौत्रामणी याग

दूरे चित्सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम्।
यद्गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः ॥ २ ॥

१. **दूरे चित् सन्तम्**=अज्ञानियों से अत्यन्त दूर होते हुए **विप्रम्**=विशेषरूप से सारे ब्रह्माण्ड का पूरण करनेवाले (वि+प्रा पूरणे) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अरुषासः**=ज्ञान-ज्योति से आरोचमान अथवा (अ-रुष) क्रोध से शून्य व्यक्ति **सख्याय**=मित्रता के लिए **आच्यावयन्तु**=समन्तात् अपने समीप प्राप्त कराएँ। प्रभु को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम (क) ज्ञानदीप्त बनें और (ख) क्रोध आदि से अपने को दूर रक्खें। अज्ञानी व क्रोधी व्यक्ति को प्रभु का दर्शन नहीं होता। २. **देवाः**=सूर्य, वायु, अग्नि अथवा माता-पिता, आचार्य आदि सब देव **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **यत्**=जब **सौत्रामण्या**=(सु+त्रामणी) उत्तम, रक्षणात्मक कार्यों के द्वारा **गायत्रीम्**=गायत्री को (गयाः प्राणाः, तान् तत्रे) प्राणशक्ति के रक्षण को **बृहती**=(बृहि वृद्धौ) हृदय की विशालता को तथा **अर्कम्**=सूर्यसम ज्ञान-दीप्ति का **दधृषन्त**=धारण करते हैं, तभी यह ज्ञान-दीप्त बनता है। यह उनका सौत्रामणी यज्ञ है। इस यज्ञ में वे बालक का बड़ी उत्तमता से रक्षण करते हैं। इस रक्षण का ही परिणाम होता है कि वे सन्तान में 'गायत्री, बृहती व अर्क' की स्थापना कर पाते हैं।

भावार्थ—माता-पिता व आचार्य जब सन्तानों को प्राणशक्ति-सम्पन्न, विशाल हृदय व ज्ञान-दीप्त बनाते हैं तब ये ज्ञान-दीप्त पुरुष प्रभु को अपना मित्र बना पाते हैं, प्रभु को अपने हृदय में प्रतिष्ठित कर पाते हैं।

सूचना—गतमन्त्र का 'आदर्श जीवन' इन माता-पिता व आचार्य द्वारा किये जानेवाले सौत्रामणी याग से ही होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाभुरिक्पङ्क्तिः** ॥

वरुण+सोम+इन्द्र=श्येन

अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः।
इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥ ३ ॥

१. **राजा**=जीवन को व्यवस्थित करनेवाला (regulated) **वरुणः**=पाप से निवारित करनेवाला **त्वा**=तुझे **अद्भ्यः**=शरीरस्थ रेतःकणों के रक्षण के लिए **ह्वयतु**=पुकारे, अर्थात् जीवन को

व्यवस्थित बनाकर, काम-क्रोध से अपने को बचाता हुआ तू रेत:कणों का रक्षण करनेवाला बन। २. **सोमः**=सोम **त्वा**=तुझे **पर्वतेभ्यः**=पर्वतों के लिए **ह्वयतु**=पुकारे। 'पर्व पूरणे' से पर्वत शब्द बना है। यह यहाँ न्यूनताओं को दूर करके पूर्णता की प्राप्ति का सूचक है। ३. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठता **त्वा**=तुझे **आभ्यः विड्भ्यः**=इन प्रजाओं के लिए **ह्वयतु**=बुलाये। जितेन्द्रिय पुरुष के ही सन्तान उत्तम होते हैं। सन्तानों की उत्तमता के लिए जितेन्द्रियता आवश्यक है। राष्ट्र में भी राजा जितेन्द्रिय होकर ही प्रजाओं का नियमन कर पाता है—**जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः**। ४. **श्येनः**=शीघ्रगतिवाला **भूत्वा**=होकर **इमाः विशः**=इन प्रजाओं को **आपत**=सर्वथा प्राप्त हो—इनमें सब ओर गतिवाला हो। राजा को अकर्मण्य न होकर खूब क्रियाशील होना चाहिए। इस क्रियाशीलता के लिए ही वह 'व्यवस्थित जीवनवाला, सौम्य व जितेन्द्रिय' बना था। ये सब गुण उसे खूब क्रियाशील बनाते हैं। एक पिता भी क्रियाशील होने पर सन्तान को सुप्रभावित कर पाता है।

भावार्थ—हम 'व्यवस्थित जीवनवाले, सौम्य व जितेन्द्रिय' बनकर 'क्रियाशील' हों। ऐसा होने पर ही हम उत्तम प्रजाओं का निर्माण कर सकेंगे।

सूचना—प्रस्तुत मन्त्र में यह भी संकेत है कि प्रथम आश्रम का सूत्र 'राजा व वरुण बनकर रेत:कणों का रक्षण' है। द्वितीय आश्रम का 'सोम बनकर न्यूनताओं को न आने देना' है। तृतीयाश्रम का 'जितेन्द्रियता' तथा चतुर्थाश्रम का परिव्राजक बनकर 'प्रजाहित' में प्रवृत्त होना है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वक्षेत्र-स्थापन

श्येनो ह॒व्यं न॑यत्वा पर॑स्मादन्यक्षे॒त्रे अप॑रुद्धं॒ चर॑न्तम्।
अ॒श्विना॒ पन्था॑ कृणुतां सु॒गं त॑ इ॒मं स॑जाता अ॒भिसंवि॑शध्वम्॥ ४॥

१. **श्येनः**=गतिशील राजा **अन्यक्षेत्रे**=दूसरे के क्षेत्र में **अपरुद्धम्**=ग़लत कामों में, उसके न करने योग्य कार्यों में फँसे हुए **चरन्तम्**=विषयों का चरण करते हुए पुरुष को **परस्मात्**=उस अन्य क्षेत्र से **हव्यम्**=(ह्वातव्यम्=अदने) हव्य की ओर **आनयतु**=सर्वथा अपने-अपने कार्य में स्थापित करे। कोई दूसरे के क्षेत्र में पग न रक्खे। अपना-अपना कार्य ही सब ठीक ढंग से करें। 'क्षेत्र' शब्द पत्नी के लिए भी प्रयुक्त होता है। तब अर्थ होगा कि यदि कोई व्यक्ति ग़लती से पर-पत्नीयों में रुद्ध होकर गति करता है तो राजा उसे उस दुष्कर्म से हटाकर ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करें। २. हे राजन्! **अश्विना**=प्राणापान ते **पन्थाम्**=तेरे मार्ग को **सुगं कृणुताम्**=सुखपूर्वक जाने योग्य करें, अर्थात् प्राणापान की साधना से राजा इसप्रकार सशक्त हो कि वह अपने इन दुष्कर कार्यों को भी सुगमता से कर सके। राजा राष्ट्र में भी ऐसी व्यवस्था करे कि लोगों की प्राणापान की साधना की वृत्ति बने, जिससे वे ग़लत कार्यों को करें ही नहीं। ३. हे **सजाताः**=इस राजा के साथ अथवा समान जन्मवाले राजघराने के पुरुषो! **इमं, अभिसंविशध्वम्**=तुम भी इस राजा के समीप होते हुए राजा की सेवा करनेवाले बनो, अर्थात् इसके राजकार्यों में तुम भी सहायक होओ। राजघराने के अन्य व्यक्तियों को भी उचित प्रशिक्षण दिया जाए और वे भी राजा के साथ राजकार्यों में सहायक हों, अन्यथा 'मृगया' आदि दुर्व्यसनों में पड़कर वे राष्ट्र पर 'भार' ही हो जाएँगे।

भावार्थ—राजा का मूल कर्त्तव्य है कि वह सबको स्वक्षेत्र में स्थापित करे, स्वयं प्राणसाधना करता हुआ औरों को भी प्राणसाधना में प्रवृत्त करे। सजात राजघराने के पुरुषों को भी राजकार्यों में शिक्षित करके उन्हें व्यापृत रखनेवाला बनाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

त्रिविध शान्ति

ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन्॥ ५॥

१. **प्रतिजनाः**=प्रत्येक व्यक्ति—छोटे-बड़े सभी व्यक्ति **त्वा**=तुझे **ह्वयन्तु**=पुकारें। सभी के लिए तू अभिगम्य (Approachable) हो। प्रजाओं के साथ तेरा सम्पर्क बना रहे। प्रजाओं की स्थिति से तू अच्छी प्रकार परिचित हो। **प्रतिमित्राः**=तेरे सब साथी **अवृषत**=तुझे शक्तिशाली बनानेवाले हों, अर्थात् आवश्कता के समय वे तुझे सहायता देनेवाले हों। राजा राष्ट्र में प्रजाओं का प्रिय हो। राष्ट्र के बाहर मित्रमण्डल उसका सहायक हो। २. **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्नि तथा **विश्वे देवाः**=सब देव **ते विशि**=तेरी प्रजा में **क्षेमम्**=कल्याण को **अदीधरन्**=धारण करें। राष्ट्र में किसी प्रकार की आधिदैविक आपत्तियाँ न आएँ। यज्ञादि उत्तम कार्यों के प्रणयन से सब देवों की अनुकूलता बनी रहे। ३. '**ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः**' इन शब्दों में राष्ट्र में अन्तःकोप न होने का संकेत है। प्रजाप्रिय राजा के राज्य में अन्तर्विप्लव नहीं हुआ करते। राष्ट्र हड़ताल आदि के उपद्रवों से बचा रहता है। '**प्रतिमित्रा अवृषत**' ये शब्द बाहर के आक्रमणों से बचाव का संकेत करते हैं और मन्त्र का उत्तरार्ध दैवी प्रकोपों के न होने का उल्लेख कर रहा है। इसप्रकार राष्ट्र अन्तःशान्ति तथा बहिःशान्ति को प्राप्त करके दैवी आपत्तियों के अभाव में निरन्तर आगे बढ़ता जाता है।

भावार्थ—राजा प्रजा के लिए अभिगम्य हो, मित्रशक्ति से युक्त हो। राष्ट्र दैवी प्रकोपों से बचानेवाला हो। यज्ञादि की व्यवस्था तथा स्वाध्याय के प्रचार के द्वारा ही यह सम्भव है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

राजाज्ञा के पालन की आवश्कता

यस्ते हवं विवदत्सजातो यश्च निष्ट्यः।
अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=राष्ट्र के शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले राजन्! **यः**=जो **सजातः**=तेरे समान उत्कृष्ट कुल में जन्म लेनेवाला 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य' **यः च**=और जो **निष्ट्यः**=निचले घराने में जन्म लेनेवाला 'शूद्र' ते **हवम्**=तेरे आदेश को **विवदत्**=पालन न करता हुआ विवाद का विषय बनाये **तम्**=उस सजात या निष्ट्य पुरुष को **अपाञ्चम्**=(अप अञ्च) राष्ट्र से बहिर्गमनवाला **कृत्वा**=करके, अर्थात् राष्ट्र से निर्वासित करके **अथ**=अब **इमम्**=इस आदेश को **इह**=राष्ट्र में **अवगमय**=सबके लिए अवगत करानेवाला हो, अर्थात् घोषणा के द्वारा उस आदेश से सबको परिचित करा दे। २. राजा को समय-समय पर राष्ट्रहित के लिए आदेश प्रसृत करने हैं। यदि कोई व्यक्ति उन आदेशों का विरोध करके अराजकता फैलाने का प्रयत्न करता है तो उसे प्रजा से पृथक् करना आवश्यक है और यह भी आवश्यक है कि राजा का आदेश सबके कानों तक पहुँचाने की व्यवस्था की जाए।

भावार्थ—राजाज्ञा का पालन सबके लिए आवश्यक है, अन्यथा अराजकता में सबके लिए भयावह स्थिति हो जाती है।

विशेष—सूक्त का विषय यह है कि राजा अपने जीवन को उच्च बनाये, सबको स्वधर्म में स्थापित करे, राष्ट्र को अन्तः-बाह्य कोपों व प्राकृतिक उपद्रवों से रहित करे, आदेशों का

उल्लघंन करनेवालों को दण्डित करे। अगले सूक्त में भी इसी बात को विस्तार से कहते हैं—

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

उपसद्य, नमस्य

आ त्वा गन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज।
सर्वास्त्वा राजन्प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह॥ १॥

१. राज्याभिषेक के समय पुरोहित कहता है (आजकल की भाषा में स्पीकर या न्यायाधीश शपथ दिलाता हुआ कहता है)—हे राजन्! **त्वा**=तुझे **राष्ट्रम्**=यह राष्ट्र **आ अगन्**=प्राप्त हुआ है। तू इस राष्ट्र में **वर्चसा सह उद् इहि**=शक्ति के साथ उत्कृष्ट गतिवाला हो। तू शक्तिशाली बनकर शासन करनेवाला बन। तेरी सारी गति अत्यन्त उत्कृष्ट हो। **प्राङ्**=(प्र अञ्च्) अग्रगतिवाला होता हुआ **विशांपतिः**=प्रजाओं का रक्षक तू **एक-राट्**=अद्वितीय शासक अथवा मुख्य शासक (एक=मुख्य, केवल) होता हुआ **त्वम्**=तू **विराज**=विशिष्ट दीप्तिवाला हो। प्रजाओं के जीवन को व्यवस्थित (regulated) करनेवाला हो। २. हे **राजन्**=राष्ट्र के व्यवस्थापक! **सर्वाःप्रदिशः**=सब विस्तृत दिशाएँ—इन दिशाओं में रहनेवाले लोग **त्वा**=तुझे **ह्वयन्तु**=पुकारें, अर्थात् शासनकार्य के लिए तुझे चुनें। तू **इह**=यहाँ शासक पद पर आसीन होकर **उपसद्यः**=सबके लिए अभिगम्य (Approachable) तथा **नमस्यः**=आदरणीय **भव**=हो। तेरे शासनकार्य की उत्तमता के लिए आवश्यक है कि तू प्रजाओं की ठीक स्थिति से परिचित हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि तू प्रजाओं के लिए अभिगम्य हो। तेरे शासन में न्याय-व्यवस्था इतनी ठीक हो कि तू सभी के आदर का पात्र बने।

भावार्थ—राजा प्रजाओं के लिए 'उपसद्य व नमस्य' हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

विसु-विभजन

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन्राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि॥ २॥

१. हे राजन्! **त्वाम्**=तुझे **विशः**=प्रजाएँ **राज्याय**=राज्य के लिए **वृणताम्**=वरें। **त्वाम्**=तुझे **इमाः**=ये **पञ्च**=विस्तृत (पचि विस्तारे) **देवीः**=दिव्य गुणयुक्त **प्रदिशः**=प्रकृष्ट दिशाएँ—इन दिशाओं में निवास करनेवाले व्यक्ति राज्य के लिए चुनें। इनसे चुने गये आप इस देश के शासन को सँभालनेवाले हों। यहाँ 'पञ्च' का भाव चार दिशाएँ और एक मध्य भाग मिलकर 'पाँचों प्रदेश' यह भी लिया जा सकता है। भाव इतना ही है कि राजा का चुनाव सब मिलकर करें। २. इसप्रकार चुनाव हो जाने पर तू **राष्ट्रस्य**=राष्ट्र के **वर्ष्मन् ककुदि**=(वर्ष्मन्=Handsome or lovely) सुन्दर शिखर पर—ऊँचे सिंहासन पर—सर्वोच्च पद पर **श्रयस्व**=आश्रय कर। **ततः**=उस उच्चावस्था से **उग्रः**=तेजस्वी होता हुआ तू **नः**=हमारे लिए **वसूनि विभज**=धनों का उचित विभाग कर। राजा का यह भी एक मौलिक कर्त्तव्य है कि वह धन को कुछ पुरुषों में केन्द्रित न होने दे। धन का उचित विभाग राष्ट्र-शरीर के रक्षण के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना कि इस शरीर के रक्षण के लिए रुधिर का किसी एक स्थान में केन्द्रित न होने देना।

भावार्थ—सब मिलकर राजा का चुनाव करें। चुने जाने पर राजा इस बात का ध्यान रक्खे कि सम्पत्ति कुछ पुरुषों में ही केन्द्रित न हो जाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कर=Tax

अच्छ॑ त्वा यन्तु ह॒विनः॑ सजा॒ता अ॒ग्निर्दू॒तो अ॑जि॒रः सं च॑रातै।
जा॒याः पु॒त्राः सु॒मन॑सो भवन्तु ब॒हुं ब॒लिं प्रति॑ पश्यासा उ॒ग्रः॥ ३॥

१. हे राजन्! **सजाताः**=तेरे साथ समान राष्ट्र में पैदा हुए-हुए तथा तेरे समान ही विकासवाले ये व्यक्ति **हविनः**=तुझे पुकारनेवाले (Those who call upon you), तुझे मिलने की इच्छावाले **त्वा अच्छ यन्तु**=तेरे अभिमुख आएँ। इनसे तुझे समय-समय पर उचित परामर्श व प्रजा की स्थिति का ठीक परिचय प्राप्त होता रहे। २. तेरा **अग्निः**=दीप्त ज्ञानाग्निवाला, अग्नि के समान प्रकाशमय **अजिरः**=खूब गतिवाला **दूतः**=दूत **सञ्चरातै**=सम्यक् विचरण के लिए हो। विविध राष्ट्रों में तेरे दूत उत्तम गतिवाले हों। ये दूत अग्नि के समान प्रकाशमय तथा खूब क्रियाशील हों, आलसी न हों। ३. तेरे राष्ट्र में **जायाः**=सन्तानों को जन्म देनेवाली सब माताएँ तथा **पुत्राः**=उनके सन्तान **सुमनसः**=उत्तम मनवाले **भवन्तु**=हों। स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्कवाले होते हुए ये उत्तम मनवाले हों। ४. **उग्रः**=तेजस्वी होता हुआ तू **बहुं बलिम्**=विपुल कर को **प्रतिपश्यासै**=अपने सम्मुख देखनेवाला हो, अर्थात् तुझे राष्ट्र-रक्षण की व्यवस्था के लिए धन की कमी न रहे। प्रजाएँ तुझे प्रसन्नतापूर्वक कर देनेवाली हों। उचित कर न देनेवाले लोग तेरे द्वारा दण्डित हों। 'उग्रः' शब्द का यह भाव सुव्यक्त है।

भावार्थ—राजा के समकक्ष व्यक्ति समय-समय पर उसे मिल सकें। राजदूत ज्ञानी व क्रियाशील हों। राष्ट्र में सब माताएँ व सन्तान उत्तम मनोंवाली हों। राजा को राष्ट्र-रक्षण के लिए पर्याप्त कर प्राप्त हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

वसुदेय मनवाला राजा

अ॒श्विना॑ त्वाग्रे॑ मि॒त्रावरु॑णो॒भा विश्वे॑ दे॒वा म॒रुत॑स्त्वा ह्वयन्तु।
अधा॒ मनो॑ वसु॒देया॑य कृणुष्व॒ ततो॑ न उ॒ग्रो वि भ॑जा॒ वसू॑नि॥ ४॥

१. हे राजन्! **त्वा**=तुझे **अश्विना**=प्राणापान—प्राण व अपानशक्ति **उभा**=दोनों **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **अग्रे**=सर्वप्रथम **ह्वयन्तु**=पुकारें—राज्य-प्रवेश कराएँ, अर्थात् तरे इन गुणों को देखकर तुझे राज्यासन पर बिठाएँ। इसीप्रकार **मरुतः**=(मितराविणः) परिमित शब्दोंवाले **विश्वे देवाः**=देववृत्ति के सब पुरुष **त्वा**=तुझे इस राजगद्दी पर पुकारें—वे सब तुझे राज्य करने के लिए आमन्त्रित करें। २. **अध**=अब—सिंहासनासीन होने पर तू **मनः**=अपने मन को **वसुदेयाय**=सब वसुओं को—निवास के लिए आवश्यक साधनों को देने के लिए **कृणुष्व**=कर, अर्थात् तू सब प्रजावर्ग के लिए आवश्यक जीवन-साधनों को प्राप्त करानेवाला हो। **ततः**=इस सिंहासन से—इस सिंहासन पर बैठकर तू **उग्रः**=तेजस्वी और शत्रुभयंकर होता हुआ **नः**=हमारे लिए **वसूनि विभज**=धनों का उचित संविभाग कर—प्रजा में धन का समुचित विभाग करनेवाला राजा ही राष्ट्र-शरीर को स्वस्थ रख पाता है।

भावार्थ—प्राणापान-शक्तिसम्पन्न, स्नेह व निर्द्वेषता से युक्त व्यक्ति को ही देव लोग गद्दी पर बिठाएँ। यह सिंहासनारूढ़ होकर सब प्रजाओं के लिए वसुओं को—आवश्यक जीवन-साधनों को प्राप्त कराने की कामनावाला हो।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

शिवे द्यावापृथिवी

आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्।
तदयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमह्वत्स उपेदमेहि॥ ५॥

१. हे राजन्! तू **परमस्याः परावतः**=अत्यन्त सुदूर प्रदेश से भी आ **प्रद्रव**=राष्ट्र की ओर शीघ्रता से आनेवाला हो। कार्यवश राजा को सुदूर प्रदेशों में भी जाना हो तो वह वहाँ विलम्ब न करके शीघ्र अपने राष्ट्र में उपस्थित होने का ध्यान करे। **ते**=तेरे लिए **द्यावापृथिवी उभे**=ये द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों ही **शिवे**=कल्याणकर **स्ताम्**=हों। राष्ट्र में द्युलोक से वृष्टि ठीक रूप में होकर पृथिवी में पर्याप्त अन्न पैदा करनेवाली हो। वस्तुतः राष्ट्र की उत्तम व्यवस्था पर ही अतिवृष्टि व अनावृष्टि आदि कष्टों का दूर होना सम्भव होता है। २. **अयम्**=यह राजा-सारे ब्रह्माण्ड का शासक **वरुणः**=सब कष्टों का निवारण करनेवाला प्रभु **तत्**=उस बात को **तथा**=उस प्रकार **आह**=कहता है। प्रभु ने वेद में स्पष्ट कह दिया है कि राजा के अपराध से ही आधिदैविक कष्ट आया करते हैं—'न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति'। **सः अयम्**=वे ये प्रभु ही **त्वा**=तुझे **अह्वत्**=इस सिंहासन पर पुकारते हैं। राजा को प्रभु का प्रतिनिधि=कार्यकर बनकर उत्तमता से शासन करना चाहिए। **सः**=वह तू **इदम्**=इस राष्ट्रपति के आसन को **उप ऐहि**=समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—राजा कार्यवश कहीं भी जाए, वहाँ से शीघ्र ही राष्ट्र में लौटने का ध्यान करे। उत्तम राष्ट्र व्यवस्था पर ही 'ठीक से वृष्टि होना व पृथिवी का अन्न उत्पन्न करना' निर्भर करता है। राजा अपने को प्रभु का कारिन्दा समझे और इसी भावना को लेकर सिंहासन पर बैठे।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

देवयजन-प्रजाकल्पन

इन्द्रेन्द्र मनुष्या३: परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः।
स त्वायमह्वत्स्वे सधस्थे स देवान्यक्षत्स उ कल्पयाद्विशः॥ ६॥

१. **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय राजन्! हे **इन्द्र**=हे राष्ट्र के सञ्चालक! **मनुष्याः**=मनु की अपत्यभूत इन मानव-प्रजाओं को तू **परेहि**=सुदूर देश में भी प्राप्त हो। इस राष्ट्र में **वरुणैः**=श्रेष्ठ पुरुषों से संज्ञानवाला होता हुआ तू **हि**=निश्चय से **सं अज्ञास्थाः**=सम्यक् ज्ञानवाला हो। राजा प्रजा की स्थिति को ठीक से जाने और अपने कर्त्तव्यों को भी ठीक से जाननेवाला हो। २. **सः अयम्**=वे ये वरुण—सब कष्टों का निवारक प्रभु **त्वा**=तुझे स्वे **सधस्थे**=अपने सह स्थान में **अह्वत्**=पुकारता है, अर्थात् राजा सिंहासन पर बैठते हुए अपने हृदय में स्थित उस प्रभु के साथ भी बैठने का प्रयत्न करता है। प्रभु-स्मरणपूर्वक शासन करनेवाला राजा प्रजा के कष्टों को अवश्य दूर करेगा। **सः**=वह, **देवान् यक्षत्**=देवों का—विद्वानों का पूजन व आदर करता है **उ**=और **सः**=वह राजा **विशः**=प्रजाओं को **कल्पयात्**=शक्तिशाली बनाता है। राजा अपने राष्ट्र में विद्वानों का आदर करता है और उनकी सम्मतियों से लाभ उठाता हुआ उत्तम राष्ट्र-व्यवस्था के द्वारा प्रजाओं को निर्बल नहीं होने देता। प्रजा के सामर्थ्य का वर्धन ही राजा का उद्देश्य होता है।

भावार्थ—राजा प्रजा के साथ अपना सम्पर्क बनाए रक्खे। प्रभु-स्मरणपूर्वक प्रजाओं का शासन करता हुआ यह राजा राष्ट्र में विद्वानों का आदर करे सब प्रजाओं को सबल बनाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दशमीं वश

पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः सङ्गत्य वरीयस्ते अक्रन्।
तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह॥ ७॥

१. **पथ्याः**=मार्ग पर चलनेवाली—नियमों को न तोड़नेवाली **रेवतीः**=धन-सम्पन्न, **बहुधा विरूपाः**=कई प्रकार से विभिन्न रूपोंवाली **सर्वाः**=सब प्रजाओं ने **संगत्य**=मिलाकर **ते**=तेरे लिए इस **वरीयः**=उत्कृष्ट—श्रेष्ठ पद को **अक्रन्**=किया है। राष्ट्र की सब प्रजाएँ मिलकर राजा का वरण करती हैं। उन्हें चुनने का अधिकार नहीं होता जो (क) नियमभङ्ग के कारण दण्डित हों अथवा (ख) बिल्कुल न कमाते हों, कुछ भी कर न देते हों। २. **ताः**=ये **सर्वाः**=सब प्रजाएँ **संविदानः**= संज्ञान-(ऐकमत्य)-वाली होती हुई **त्वा**=तुझे इस सिंहासन को सुशोभित करने के लिए **ह्वयन्तु**= पुकारें। **उग्रः**=तेजस्वी—शुत्रभयंकर व **सुमनाः**=सब प्रजाओं के लिए शुभ मनवाला तू **इह**=इस सिंहासन पर **दशमीम् वश**=अपने दसवें दशक की—सौ वर्ष के आयुष्य की कामना कर। राजा स्वयं दीर्घजीवी बने और प्रजाओं को दीर्घजीवी बनाने के लिए यत्नशील हो।

भावार्थ—सब प्रजाएँ मिलकर राजा का वरण करें। राजा तेजस्वी व उत्तम मनवाला होता हुआ प्रजा को दीर्घजीवी बनाने के लिए यत्नशील हो।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि अथर्वा है, जो (न थर्वति) डाँवाडोल नहीं होता। विषयों में न भटकने से ही यह शरीर में सोम का रक्षण कर पाता है। इस सूक्त में सोम-रक्षण के महत्त्व का ही प्रतिपादन है। यह सोम पालन व पूरण करनेवाली मणि ही है, अतः इसे 'पर्णमणि' कहा गया है। 'पर्ण' वनस्पति का प्रतीक है। यह सोम वानस्पतिक पदार्थों के भक्षण से जनित मणि है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप्त्रिष्टुप्** ॥

पर्णमणि

आयमगन्पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान्।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन्॥ १॥

१. **अयम्**=यह **पर्णमणिः**=पालक व पूरक तथा वानस्पतिक पदार्थों से उत्पन्न मणि (सोम) **मा**=मुझे **आ अगन्**=प्राप्त हुई है, **बली**=यह प्रशस्त बलोंवाली है। **बलेन**=बल से **सपत्नान्**=रोगरूप शत्रुओं को **प्रमृणन्**=मसल देनेवाली है। २. यह **देवानां ओजः**=देवों का ओज है। इस सोम-रक्षण से ही देव ओजस्वी बनते हैं। यह **ओषधीनाम्**=ओषधियों का—वानस्पतिक पदार्थों का **पयः**=वीर्य (Semen virile) है। यह **अप्रयावन्**=(मां विहाय अनपगन्ता सन्) मुझे छोड़कर न जाता हुआ—मुझमें ही सुरक्षित होता हुआ **मा**=मुझे **वर्चसा**=तेज से **जिन्वतु**=प्रीणित करे। यह मुझे तेजस्वी बनाए।

भावार्थ—शरीर में वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से उत्पन्न सोम शरीर में ही सुरक्षित होता हुआ हमारे रोगरूप शत्रुओं का संहार करता है और हमें वर्चस्वी बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्षत्रं+रयिम् (धारयतात्)

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद्रयिम्। अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः॥ २॥

१. हे **पर्णमणे**=पालक व पूरक सोम! **मयि**=मुझमें **क्षत्रम्**=क्षतों के त्राण करनेवाले बल का **धारयतात्**=धारण कर। **मयि**=मुझमें **रयिम्**=ऐश्वर्य को (धारयतात्) धारण कर। सोम ही बल व धन का धारण करनेवाला है। २. हे सोम! तेरे द्वारा सबल बना हुआ **अहम्**=मैं **राष्ट्रस्य**=इस राष्ट्र के **अभीवर्गे**=आवर्जन व अपने अनुकूल करने में (स्वाधीनीकरणे) **निजः**=अपने-आप **उत्तमः**=उत्कृष्ट **भूयासम्**=होऊँ। इस शरीररूप राष्ट्र को अपने अधीन करके उत्तम जीवनवाला बनूँ।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम मुझमें बल व ऐश्वर्य का स्थापन करे। सोम-रक्षण द्वारा शरीर-राष्ट्र को स्वाधीन करता हुआ मैं उत्कृष्ट जीवनवाला बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'गृह्य, प्रिय' मणि

यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम्। तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥ ३ ॥

१. **यम्**=जिस **प्रियम्**=प्रीति की जनक **मणिम्**=वीर्यशक्ति को **देवाः**=सूर्य, वायु-जल आदि देव **वनस्पतौ**=वनस्पतियों में **गुह्यम्**=अत्यन्त संवृतरूप में **निदधुः**=स्थापित करते हैं, ये सब **देवाः**=देव **तम्**=उस मणि को **आयुषा सह**=दीर्घजीवन के साथ **भर्तवे**=भरण के लिए **अस्मभ्यम्**=हमें **ददतु**=दें। २. वानस्पतिक पदार्थों के द्वारा उत्पन्न यह वीर्यशक्ति हमें दीर्घजीवन प्राप्त कराती है तथा यही हमारा ठीक से भरण करती है। इसके अभाव में ही अङ्ग-प्रत्यङ्गों की शक्ति शिथिल हो जाती है।

भावार्थ—सूर्य-चन्द्र आदि देवों के द्वारा अत्यन्त संवृतरूप में वनस्पतियों में वीर्यशक्ति की स्थापना होती है। ये वानस्पतिक पदार्थ हमारा भोजन बनकर हममें शक्ति स्थापित करते हैं। इससे दीर्घजीवन व उचित शक्तिभरण प्राप्त होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सोम का पर्ण

सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः।
तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ४ ॥

१. **सोमस्य**=वीर्यशक्ति का **पर्णः**=पालन व पूरण का कर्म **उग्रं सहः**=अत्यन्त प्रबल शत्रुनाशक सामर्थ्य को **आगन्**=प्राप्त कराता है। यह सोम का पर्ण **इन्द्रेण दत्तः**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता के द्वारा दिया जाता है, अर्थात् जितेन्द्रियता ही हमें इस सोम के पालन व पूरणरूप कर्म को प्राप्त कराती है। **वरुणेन शिष्टः**=द्वेष का निवारण करनेवाले देव से यह अनुशिष्ट होता है, अनुज्ञात होता है, अर्थात् निर्द्वेषता होने पर ही यह सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। २. **तम्**=उस सोम के **उग्रं सहः**=प्रबल सामर्थ्य को मैं **प्रियासम्**=प्रेम करनेवाला बनूँ। यह सामर्थ्य मुझे प्रिय हो। इसके धारण से मैं **बहु रोचमानः**=अत्यन्त दीप्त बनूँ। **दीर्घायुत्वाय शतशारदाय**=मैं दीर्घजीवन के लिए—पूर्ण सौ वर्ष के जीवन को प्राप्त करने के लिए इस सोम को धारण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—सोम का पालनात्मक कर्म मुझे प्रबल सामर्थ्य प्राप्त कराता है। इसके धारण से मैं दीप्त व दीर्घजीवन प्राप्त करता हूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मह्यै अरिष्टतातये

आ मारुक्षत्पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये। यथाहमुत्तरोऽसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥ ५ ॥

१. यह **पर्णमणिः**=पालन व पूरण करनेवाली सोम नामक (वीर्यरूप) मणि **मा आरुक्षत्**=मुझमें आरोहण करे। यह सोम मेरे शरीर में ऊर्ध्व गतिवाला हो। **महौ अरिष्टतातये**=शरीर में ऊर्ध्व गतिवाला होकर यह सोम अहिंसन के महान् विस्तार के लिए हो। अङ्ग-प्रत्यङ्ग का पालन व पूरण करती हुई यह मणि हमें हिंसित न होने दे। २. यह मणि इसप्रकार अहिंसन का विस्तार करे कि **यथा**=जिससे **अहम्**=मैं **अर्यम्णः**=(अरीन् यच्छति) शत्रुओं को वशीभूत करनेवाले अर्यमा से **उत**=और **संविदः**=सम्यक् ज्ञानवाले पुरुष से **उत्तरः**=अधिक उत्कृष्ट **असानि**=बनूँ। सुरक्षित सोम मुझे रोगों से बचाता व वासनारूप शत्रुओं का विजेता व उत्कृष्ट ज्ञानी बनाता है।

भावार्थ—सोम मेरे शरीर में सुरक्षित हो। यह मुझे अहिंसित बनानेवाला हो। इसके रक्षण से मैं शत्रुओं को वश में करनेवाला व ज्ञानी बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'रथकार धीवान्' तथा 'कर्मार मनीषी'

ये धीवा॑नो रथका॒राः क॒र्मा॑रा॒ ये म॑नी॒षिणः॑ ।
उ॒प॒स्तीन्प॑र्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न्कृण्व॒भितो॒ जना॑न् ॥ ६ ॥

१. हे **पर्ण**=पालन व पूरण करनेवाले मणे! **त्वम्**=तू **मह्यम्**=मेरे लिए **सर्वान् जनान्**=सब मनुष्यों को **अभितः**=सब ओर **उपस्तीन्**=उपासक (सेवक) के रूप में **कृणु**=कर। सोम-रक्षण करता हुआ मैं इन सब लोगों का प्रिय बनूँ, २. **ये**=जो **धीवानः**=प्रशस्त बुद्धिवाले व **रथकाराः**=शरीररूप रथ को सुन्दर बनानेवाले हैं, **ये**=जो **कर्माराः**=खूब क्रियाशील **मनीषिणः**=मन का शासन करनेवाले ज्ञानी हैं। ये सबके सब मेरे उपासक हों—मैं इनका प्रिय बनूँ। सोम-रक्षण मुझे उत्तम बुद्धिवाला व सुन्दर शरीर-रथवाला बनाये। इसके रक्षण से मैं क्रियाशील व मनीषी बनूँ, अन्य बुद्धिमानों व मनीषियों में आगे बढ़ जाऊँ।

भावार्थ—सोमरक्षण मुझे उत्तम शरीरवाले, व बुद्धिमान् पुरुषों में श्रेष्ठ बनाए। इसके द्वारा मैं क्रियाशील ज्ञानी बन जाऊँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

राजा, राजकृत, सूत व ग्रामणी (क्षत्रियवर्ग का प्रिय बनूँ)

ये राजा॑नो राज॒कृतः॑ सू॒ता ग्रा॑म॒ण्य॑ ऽश्च॒ ये ।
उ॒प॒स्तीन्प॑र्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न्कृण्व॒भितो॒ जना॑न् ॥ ७ ॥

१. हे **पर्ण**=पालन व पूरण करनेवाली मणे! **त्वम्**=तू **मह्यम्**=मेरे लिए **सर्वान्**=सब **जनान्**=लोगों को **अभितः**=सब ओर से **उपस्तीन्**=उपासक **कृणु**=कर। सोमरक्षण करता हुआ मैं इन सबका प्रिय बनूँ। २. **ये**=जो **राजानः**=राजा हैं व **राजकृतः**=राजाओं को बनानेवाले हैं **च**=और **ये**=जो **सूताः**=प्रेरणा देनेवाले हैं **ग्रामण्यः**=ग्राम-प्रमुख हैं, सोमरक्षण करता हुआ मैं इन सबका प्रिय बनूँ।

भावार्थ—सोमरक्षण के द्वारा मैं सब क्षत्रियवर्ग का भी प्रिय बनूँ। सोमरक्षण मुझे भी उत्तम राजा, राजकृत, सूत व ग्रामीण बनाये।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**विराडुरोबृहती** ॥

तनूपान पर्ण

प॒र्णो॑ ऽसि तनू॒पानः॑ सयो॑निर्वी॒रो वी॒रेण॒ मया॑ ।
सं॒व॒त्स॒रस्य॒ तेज॑सा तेन॑ बध्नामि त्वा मणे ॥ ८ ॥

१. हे सोम! **पर्णः असि**=तू हमारा पालन व पूरण करनेवाला है, **तनूपानः**=शरीर का रक्षण करनेवाला है। **वीरः**=(वि ईर्) रोगरूप शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाला है। **वीरेण मया**=मुझ वीर के साथ **सयोनिः**=समान गृहवाला है। इस शरीर में मैं भी रहता हूँ, तू भी। २. हे **मणे**=सोमशक्ते! **तेन**=उस **सवंत्सरस्य**=उत्तम निवास के साधनभूत **तेजसा**=तेज के हेतु से **त्वा बाध्नामि**=तुझे अपने अन्दर बाँधता हूँ। तेरे रक्षण से शरीर में वह तेज प्राप्त होता है जो उत्तम निवास का साधन बनता है।

भावार्थ—सोम शरीर का रक्षण करता है। यह शरीर में बद्ध होकर दीर्घ जीवन का कारण बनता है।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि 'जगद्बीजं पुरुषः' कहलाता है। सूक्त का विषय भी 'वानस्पत्यः अश्वत्थः' है। वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से अत्यन्त सात्त्विक बुद्धिवाले पुरुषों के हृदयों में निवास करनेवाला 'अश्वत्थ' है—

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुमान् पुंसः, अश्वत्थः खदिरात्

पुमा॑न्पुं॒सः परि॑जातोऽश्व॒त्थः ख॑दि॒राद॑धि।
स ह॑न्तु॒ शत्रू॑न्माम॒कान्याना॒हं द्वेष्मि॒ ये च॒ माम्॥ १॥

१. प्रभु **पुमान्**=पुमान् हैं, पुनाति=सबको पवित्र करनेवाले हैं। **पुंसः**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाले पुरुष से **परिजातः**=प्रादुर्भूत होते हैं। अपने हृदय को पवित्र करनेवाला पुरुष ही प्रभु के प्रकाश को देखता है। २. प्रभु 'अश्वत्थ' हैं—कर्मों में व्याप्त रहनेवाले पुरुष के हृदय में स्थित होते हैं। ये प्रभु **खदिरात्**=स्थिर वृत्तिवाले—वासनाओं का संहार करनेवाले पुरुष से **अधि (जातः)**=अपने अन्दर प्रादुर्भूत किये जाते हैं (खद स्थैर्ये हिंसायां च)। ३. **सः**=वे प्रभु ही **मामकान् शत्रून्**=मेरे शत्रुओं को **हन्तु**=नष्ट करें। उन शत्रुओं को **यान्**=जिन्हें **अहम्**=मैं **द्वेष्मि**=अप्रीतिकर समझता हूँ **च**=और **ये**=जो **माम्**=मुझे द्वेष से देखते हैं। काम-क्रोध, लोभ आदि शत्रु मुझ प्रिय नहीं और मैं उनका प्रिय नहीं हूँ। प्रभु मेरे इन शत्रुओं को मुझसे पृथक् करें।

भावार्थ—पवित्र बनकर मैं पवित्र प्रभु के प्रकाश को देखूँ। स्थिर वृत्तिवाला बनकर मैं कर्मशीलों में व्याप्त उस प्रभु को पहचानूँ। प्रभु मेरे काम आदि शत्रुओं को विनष्ट करें।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'इन्द्र, मित्र, वरुण' से स्नेहवाला

तान॑श्वत्थ॒ निः शृ॑णीहि॒ शत्रू॑न्वैबाध॒दोध॑तः।
इन्द्रे॑ण वृत्र॒घ्ना मे॒दी मि॒त्रेण॒ वरु॑णेन च॥ २॥

१. हे **अश्वत्थ**=कर्मशील पुरुषों में व्याप्त होनेवाले प्रभो! आप **वैबाधदोधतः**=विशिष्ट बाधा उत्पन्न करनेवाले तथा कम्पित करनेवाले **तान्**=उन **शत्रून्**=शत्रुओं को **निःशृणीहि**=पूर्णरूप से हिंसित कर दीजिए। ये शत्रु हमें हिंसित करनेवाले न हों। २. इन शत्रुओं से हिंसित न होकर मैं **वृत्रघ्नः**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाले **इन्द्रेण**=परमैश्वर्यशाली प्रभु से, **मित्रेण**=रोगों व मृत्यु से (पाप से) बचानेवाले प्रभु से **च**=और **वरुणेन**=द्वेषनिवारक प्रभु से **मेदी**=स्नेहवाला होऊँ। प्रभु से स्नेहवाला बनने का अभिप्राय यही है कि मैं भी 'इन्द्र, मित्र और वरुण' बनूँ।

भावार्थ—प्रभु मेरे पीड़ाजनक शत्रुओं को विनष्ट करें। मैं 'इन्द्र, मित्र, वरुण' नामक प्रभु

से स्नेहवाला होता हुआ जितेन्द्रिय, सबके प्रति स्नेहवाला व निर्द्वेष बनूँ।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ज्ञान-सूर्योदय

यथाश्वत्थ निरभनोऽन्तर्महत्यर्णवे।
एवा तान्त्सर्वान्निर्भङ्ग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम्॥ ३॥

१. हे **अश्वत्थ**=कर्मशील पुरुषो में स्थित होनेवाले प्रभो! **यथा**=जिस प्रकार **महति अर्णवे अन्तः**=इस महान् अन्तरिक्ष-समुद्र में आप **निरभनः**=(भञ्जो आमर्दने) सूर्य के आवरणभूत मेघों का विदारण करते हैं, **एव**=उसी प्रकार **तान् सर्वान्**=उन सबको भी **निर्भङ्ग्धि**=विनष्ट कर दीजिए, **यान्**=जिन्हें कि **अहम्**=मैं **द्वेष्मि**=अप्रीतिकर समझता हूँ **च**=और **ये**=जो **माम्**=मुझे द्वेष से देखते हैं। २. जैसे प्रभु इस महान् अन्तरिक्ष में मेघों का विदारण करते हैं, इसीप्रकार मेरे हृदयान्तरिक्ष में वे वासनारूप मेघों का विदारण करें।

भावार्थ—प्रभु वासनाओं का विदारण करके मेरे जीवन में ज्ञानसूर्य को उदित करें।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सपत्न-पराभव

यः सहमानश्चरसि सासहानइव ऋषभः। तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि॥ ४॥

१. हे परमात्मन्! **यः**=जो आप **सहमानः**=शत्रुओं का पराभव करते हुए **चरसि**=गति करते हैं, वे आप **सासहानः**=विरोधियों का खूब ही पराभव करते हुए **ऋषभः इव**=ऋषभ के समान हैं। जैसे एक शक्तिशाली ऋषभ मार्ग में आये हुए विघ्नों को परे हटाता हुआ आगे बढ़ता है। उसी प्रकार प्रभु उपासक के विरोधियों को विनष्ट करते हुए उसे आगे बढ़ाते हैं। २. हे **अश्वत्थ**=कर्मशील पुरुषों में स्थित होनेवाले प्रभो! **तेन त्वया**=उस आपके द्वारा—आपको साथी बनाकर **वयम्**=हम **सपत्नान्**=रोग व वासनारूप शत्रुओं को **सहिषीमहि**=पराभूत करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु को साथी बनाकर हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव करनेवाले हों।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शत्रुओं का निर्ऋति पाशों में बन्धन

सिनात्वेनान्निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः। अश्वत्थ शत्रून्मामकान्यानहं द्वेष्मि ये च माम्॥ ५॥

१. हे **अश्वत्थ**=कर्मशीलों में स्थित होनेवाले प्रभो! **एनान्**=इन **मामकान् शत्रून्**=मेरे शत्रुओं को **यान्**=जिन्हें **अहम्**=मैं **द्वेष्मि**=अप्रिय समझता हूँ, **च**=और **ये**=जो **माम्**=मुझे अप्रिय मानते हैं, **निर्ऋतिः**=अलक्ष्मी व पाप-देवता **मृत्योः**=मृत्यु के **अमोक्यैः पाशैः**=न छुड़ाये जा सकने योग्य बन्धनों से **सिनातु**=बाँध ले। २. मेरे शत्रु पाप-देवता द्वारा मृत्यु के पाशों में बद्ध होकर मेरा शासन करने में असमर्थ हो जाएँ।

भावार्थ—मेरे शत्रु पाप-देवता द्वारा मृत्यु के पाशों में बाँधे जाएँ। मैं उनका शिकार न बनूँ।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रभु-प्राप्ति व विनीतता

यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन्कृणुषेऽधरान्।
एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग्भिन्द्धि सहस्व च॥ ६॥

१. हे **अश्वत्थ**=कर्मशील पुरुषों में स्थित होनेवाले प्रभो! **यथा**=जैसे आप **वानस्पत्यान्**=

वनस्पति के सेवन से सात्त्विक बुद्धिवाले पुरुषों को **अरोहन्**=प्राप्त होते हुए (to reach) उन्हें **अधरान्**=विनीत **कृणुषे**=करते हैं—बनाते हैं, **एवं**=इसीप्रकार **मे**=मेरे भी **शत्रोः**=अभिमान आदि शत्रुओं के **मूर्धानम्**=मस्तक को **विष्वग् भिन्धि**=सब ओर से विदीर्ण कीजिए **च**=और **सहस्व**=उन शत्रुओं को पराभूत कीजिए। २. जिसे भी प्रभु प्राप्त होते हैं, वह अभिमानशून्य और विनीत बनता है। मैं भी प्रभु के अनुग्रह से निरभिमान बनूँ।

भावार्थ—प्रभु मुझे प्राप्त हों। प्रभु-प्राप्ति के अनुपात में मैं विनीत बनता चलूँ।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रुओं का सदा के लिए संहार

ते ॑ऽधराञ्चः प्र प्ल॑वन्तां छिन्ना नौरि॑व बन्ध॑नात्।
न वैबाधप्र॑णुत्तानां पुन॑रस्ति नि॒वर्त॑नम्॥ ७॥

१. **बन्धनात्**=बन्धन-रज्जु से **छिन्ना नौः इव**=छिन्न हुई-हुई नौका के समान **ते**=वे मेरे शत्रु **अधराञ्चः**=नीचे की ओर गति करनेवाले होते हुए **प्र प्लवन्ताम्**=बहते जाएँ। मेरे शत्रु समुद्र में डूब मरें। प्रभु उपासन से मेरा शत्रुओं के द्वारा किया बन्धन छिन्न होता जाए—ये शत्रु मुझसे दूर होते जाएँ। २. **वैबाधप्रमुत्तानाम्**=विशेषरूप से पीड़ित करनेवाले इन्द्र से परे धकेले हुए इन राक्षसी-भावों का **पुनः**=फिर **निवर्तनम्**=मेरे समीप लौटकर आना **न अस्ति**=नहीं होता।

भावार्थ—मैं प्रभु का उपासक बनूँ। वे मेरे शत्रुओं को छिन्न कर देंगे।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मनसा चित्तेन ब्रह्मणा वृक्षस्य शाखया

प्रैणा॑न्नुदे मन॑सा प्र चि॒त्तेनो॒त ब्रह्म॑णा। प्रैणा॑न्वृ॒क्षस्य॒ शाख॑याश्व॒त्थस्य॑ नुदामहे॥ ८॥

१. **एनान्**=इन शत्रुओं को मैं **मनसा**=मनन के द्वारा—मन से **प्रणुदे**=परे धकेल देता हूँ। जितना-जितना मन में दृढ़ निश्चय करेंगे, उतना-उतना ही इन शत्रुओं का संहार कर सकेंगे (Determination-determinus-संकल्प, सम्यक् सामर्थ्य)। **चित्तेन**=संज्ञान के द्वारा—'मैं कौन हूँ' इस बात को न भूलने के द्वारा **प्र**=मैं कामादि शत्रुओं को परे धकेलता हूँ। 'मैं आत्मा हूँ', परमात्मा का सखा हूँ। यह स्मरण मुझे वासनाओं में फँसने से बचाता है। **उत**=और **ब्रह्मणा**=किसी महान् लक्ष्य के द्वारा (ब्रह्म=great) व वेदज्ञान के द्वारा—वेदाध्ययन में प्रवृत्ति के द्वारा इन शत्रुओं को दूर करता हूँ। ऊँचा लक्ष्य होने पर मनुष्य इनका शिकार नहीं होता। २. हम **एनान्**=इन शत्रुओं को **अश्वत्थस्य**=कर्मशील मनुष्यों में स्थित होनेवाले **वृक्षस्य**=(वृश्चति) बन्धनों का छेदन करनेवाले प्रभु के **शाखया**=(खे शेते) हृदयाकाश में निवास के द्वारा—प्रभु को हृदयासन पर बिठाकर **प्रनुदामहे**=खूब दूर धकेलते हैं। प्रभु के हृदय में स्थित होने पर वहाँ काम आदि का होना सम्भव नहीं है।

भावार्थ—दृढ़ निश्चय, संज्ञान, महान् लक्ष्य व हृदय में प्रभु-स्थिति के द्वारा हम शत्रुओं को परे धकेल दें।

विशेष—अगले सूक्त में 'क्षेत्रिय रोगों की चिकित्सा' का उल्लेख है। समुचित औषध-प्रयोग द्वारा रोगों को भून डालनेवाला 'भृगु' सूक्त का ऋषि है। रोग-विनाश द्वारा अङ्गों में रस का सञ्चार करता हुआ यह 'अङ्गिराः' है।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—हरिणः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

मृगशृङ्ग से क्षेत्रिय रोग-निराकरण

हरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम्।
स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत्॥ १॥

१. **रघुष्यदः**=तीव्र गतिवाले **हरिणस्य**=हरिण के **शीर्षणि अधि**=सिर पर **भेषजम्**=रोग-निवारक शृङ्गरूप औषध है। २. **सः**=वह हरिण **विषाणया**=अपने शृङ्ग से **क्षेत्रियम्**=पर क्षेत्र में चिकित्स्य माता-पिता से आये हुए क्षय, कुष्ठ, अपस्मार आदि रोगों को **विषूचीनम्**=सब ओर से **अनीनशत्**=नष्ट कर दे। 'वैद्यक शब्दसिन्धु' में लिखा है—'**मृगशृङ्गं भस्म हृद्रोगे वृक्कशूलादौ प्रशस्तम्**', अर्थात् मृगशृङ्ग की भस्म हृद्रोग व वृक्कशूल आदि में उपयोगी है।

भावार्थ—तीव्र गतिवाले मृग के सींग की ओषधि से क्षेत्रिय रोगों को दूर किया जाए।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—हरिणः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

हृद्रोग का अन्त

अनु त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत्।
विषाणे वि ष्य गुष्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि॥ २॥

१. हे **विषाणे**=मृगशृङ्ग! **त्वा अनु**=तेरे पीछे **वृषा हरिणः**=शक्तिशाली युवा हरिण **चतुर्भिः पद्भिः**=अपने चारों पाँवों से **अक्रमीत्**=इस क्षेत्रिय रोग पर आक्रमण करता है। मानो यह हरिण चारों पाँवों से उसे रौंद डालता है। २. हे शृङ्ग! तू **अस्य**=इस रोगी के **हृदि**=हृदय में **यत्**=जो **गुष्पितम्**=गुप्तरूप से ग्रथित-सा हुआ-हुआ **क्षेत्रियम्**=क्षेत्रिय रोग है, उसे **विष्य**=समाप्त कर दे।

भावार्थ—मृगशृङ्ग हृद्रोग को दूर करता है, मानो हरिण उसे चारों पैरों से रौंद-सा डालता है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—हरिणः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

चतुष्पक्ष छदि के समान

अदो यदवरोचते चतुष्पक्षमिव च्छदिः।
तेना ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गेभ्यो नाशयामसि॥ ३॥

१. **अदः**=वह **यत्**=जो **चतुष्पक्षम् छदिः इव**=चारपक्षोंवाली छत के समान यह सींग **अवरोचते**=चमकता है, **तेन**=तेरे **सर्वं क्षेत्रियम्**=सब क्षेत्रिय रोगों को **अङ्गेभ्यः**=सब अङ्गों से **आनाशयामसि**=सर्वथा नष्ट करते हैं। २. बारहसिंगा के सिर पर सींग चतुष्पक्ष छदि के समान प्रतीत होते हैं। इन सींगों के औषध-प्रयोग द्वारा सब क्षेत्रियरोग नष्ट किये जा सकते हैं।

भावार्थ—बारहसिंगे का सींग सब अङ्गों से क्षेत्रियरोगों को दूर करने के लिए उपयुक्त होता है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—विचृतौ तारके ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

विचृतौ नाम तारके

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम्॥ ४॥

१. **अमू**=वे **ये**=जो **दिवि**=द्युलोक में **सुभगे**=उत्तम श्री को प्राप्त करानेवाले **विचृतौ नाम**=रोगों का छेदन करनेवाले (to kill), दीप्त करनेवाले (to light) दीप्त होनेवाले 'विचृतौ'

नामवाले **तारके**=सूर्य-चन्द्ररूप तारे हैं, वे **क्षेत्रियस्य**=क्षेत्रिय रोग के **अधमम्**=निचले शरीर-भाग में होनेवाले व **उत्तमम्**=ऊर्ध्व-भाग में होनेवाले **पाशम्**=पाश को **विमुञ्चताम्**=छुड़ाएँ। २. सूर्य और चन्द्र की किरणों को शरीर पर ठीक रूप से लेने से क्षेत्रिय रोग नष्ट हो जाते हैं, अतः जहाँ तक सम्भव हो खुले में रहना ही ठीक है।

भावार्थ—सूर्य व चन्द्र के सम्पर्क में जीवन बिताने से क्षेत्रिय रोगों का दूर होना सम्भव है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आपः

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात्॥ ५ ॥

१. **आपः**=जल **इत् वा उ**=निश्चय से **भेषजीः**=औषध हैं। **आपः**=ये जल **अमीवचतनीः**=रोगों के नाशक हैं। **आपः**=जल **विश्वस्य भेषजीः**=सब रोगों के औषध हैं। **ताः**=वे जल **त्वा**=तुझे **क्षेत्रियात्**=क्षेत्रिय रोगों से **मुञ्चन्तु**=छुड़ाएँ।

भावार्थ—जल सर्वौषधमय हैं। इनके ठीक प्रयोग से सब रोग दूर हो जाते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

विक्रियमाण आसुति से क्षेत्रिय रोग

यदासुतेः क्रियमाणायाः क्षेत्रियं त्वा व्यानशे।
वेदाहं तस्य भेषजं क्षैत्रियं नाशयामि त्वत्॥ ६ ॥

१. वैद्य रोगी से कहता है कि **क्रियमाणायाः**=(विक्रियमाणायाः) कुछ विकृत-से हो जानेवाले **आसुतेः**=अन्न-रस से **यत्**=जो **क्षेत्रियम्**=क्षेत्रिय रोग **त्वा व्यानशे**=तुझे व्याप्त हो गया है, **अहम्**=मैं **तस्य**=उसके **भेषजम्**=औषध को **वेद**=जानता हूँ और अभी उस **क्षेत्रियम्**=क्षेत्रिय रोग को **त्वत् नाशयामि**=तेरे शरीर से पृथक् कर देता हूँ—इस रोग को अभी दूर किये देता हूँ। २. अन्न-रसों के विकार से ही क्षेत्रिय रोग उत्पन्न होते हैं। उनके उत्पन्न हो जाने पर वैद्य रोगी को आश्वासन देते हुए कहता है कि तू घबरा नहीं, मैं तेरे रोग को अभी दूर किये देता हूँ।

भावार्थ—विकृत अन्न-रस क्षेत्रिय रोगों को उत्पन्न कर देता है। समझदार वैद्य रोगी को आश्वासन देता हुआ समुचित औषध-प्रयोग से उसे स्वस्थ कर लेता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रातः स्नानादि से रोग-नाश

अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसामुत। अपास्मत्सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु॥ ७ ॥

१. **नक्षत्राणाम् अपवासे**=नक्षत्रों के अपगमनकाल में, अर्थात् उषा के आरम्भ में **उत**=अथवा **उषसाम्**=प्रतिदिन उषाओं के **अपवासे**=अपगमन के समय, अर्थात् प्रातःकाल, उस समय किये जानेवाले स्नानादि के द्वारा **सर्वम्**=सारा **दुर्भूतम्**=रोग का निदानभूत दुष्कृत **अस्मत्**=हमसे **अप उच्छतु**=दूर हो जाए और प्रतिदिन इसप्रकार करने से **क्षेत्रियम्**=कुष्ठ, अपस्मार आदि क्षेत्रिय रोग भी **अप**=हमसे दूर हो जाए।

भावार्थ—हम तारों के अस्त होते ही बहुत सवेरे-सवेरे स्नान आदि क्रियाओं को सम्पन्न करने के द्वारा 'दुर्भूत' को दूर करते हुए 'क्षेत्रिय' रोगों को भी दूर करने में समर्थ हों।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि अथर्वा है—न डाँवाडोल होनेवाला (न थर्वति) अथवा

'अथ अर्वाङ्' अपने अन्दर देखनेवाला और परिणामतः औरों के दोषों को न देखकर अपने दोषों को दूर करनेवाला। यह प्रार्थना करता है कि—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मित्रादयो विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मित्र, वरुण, वायु, अग्नि की अनुकूलता

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन्पृथिवीमुस्त्रियाभिः।
अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु॥ १॥

१. **मित्रः**=रोगों से रक्षा करनेवाला यह सूर्य **आयातु**=हमें प्राप्त हो। **ऋतुभिः**=वसन्त आदि ऋतुओं के क्रमशः आने से **कल्पमानः**=हमारी आयु को दीर्घ करने में समर्थ होता हुआ तथा **उस्त्रियाभिः**=अपनी किरणों से **पृथिवीम्**=इस विस्तीर्ण भूमि को **संवेशयन्**=व्याप्त करता हुआ यह सूर्य आये। २. **अथ**=अब **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **वरुणः**=जलों का अधिष्ठातृदेव वरुण, **वायुः**=अन्तरिक्षस्थ देवों का मुखिया वायु और **अग्निः**=पृथिवीस्थ देवों का अग्रणी यह अग्नि **संवेश्यम्**=सम्यक् अवस्थान के योग्य **बृहत्**=विशाल **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **दधातु**=धारण करे। सब देवों की अनुकूलता से यह राष्ट्र आधिदैविक आपत्तियों से शून्य हो।

भावार्थ—हमारे राष्ट्र में सूर्य की किरणें पृथिवी को व्याप्त करती हुई सब ऋतुओं को ठीक से लानेवाली हों। यहाँ वरुण, वायु व अग्निदेवों की अनुकूलता हो और हमारा राष्ट्र आधिदैविक आपत्तियों से शून्य हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मित्रादयो विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'धाता, राति, सविता, इन्द्र, त्वष्टा' तथा 'शूरपुत्रा अदिति'

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः।
हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि॥ २॥

१. **धाता**=धारण करनेवाला, **रातिः**=दानशील, **सविता**=निर्माण करनेवाला **मे इदं वचः**=मेरे इस वचन को **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें। **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला, **त्वष्टा**=क्रियाशील, सदा कार्यों में लगे रहनेवाला—ये सब देव मेरे वचन को **प्रतिहर्यन्तु**=चाहें। मेरे वचन उन्हें प्रिय हों। २. **देवीम्**=दिव्य गुणोंवाली **शूरपुत्राम्**=शूरों को जन्म देनेवाली **अदितिम्**=अदीना देवमाता को **हुवे**=पुकारता हूँ। ये सब ऐसा प्रयत्न करें कि **यथा**=जिससे मैं **सजातानाम्**=समानजातिवाले लोगों में **मध्यमेष्ठाः**=मध्यस्थ **असानि**=होऊँ। ये सजात मुझे अपना मध्यस्थ जानें। इनमें श्रेष्ठ बनकर मैं इनके विवादों में मध्यस्थ बन पाऊँ। ३. यदि किसी राष्ट्र में लोग 'धाता, राति, सविता, इन्द्र व त्वष्टा' हों और राष्ट्र की माताएँ 'शूरपुत्रा व आदिति' हों तो राष्ट्र की इस उत्तम स्थिति के कारण राष्ट्रपति का सजात लोगों में आदर स्वाभाविक है। राजा चाहता है कि सब प्रजावर्ग धाता आदि के रूप में होता हुआ राष्ट्रपति के इस वचन का आदर करे कि 'मैं सजातों में श्रेष्ठ बन पाऊँ।'

भावार्थ—राजा चाहता है कि उसकी प्रजा के लोग 'धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त, दानशील, निर्माण में लगे हुए, काम-क्रोध आदि के शिकार न होते हुए सदा क्रियाशील हों। राष्ट्र की माताएँ देववृत्तिवाली व शूर सन्तानों को जन्म देनेवाली हों, जिससे राष्ट्र की ऐसी उत्तम स्थिति हो कि इस राष्ट्र का राष्ट्रपति सजात लोगों में श्रेष्ठ गिना जाए।'

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मित्रादयो विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'उत्तरत्व' प्राप्ति के साधन

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे।
अयमग्निर्दीदायद्दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः॥ ३॥

१. राजा कहता है कि **अहम्**=मैं **उत्तरत्वे**=श्रेष्ठता के निमित्त **सवितारम्**=संसार के उत्पादक व सबके प्रेरक **सोमम्**=शान्त प्रभु को **नमोभिः**=नमस्कारों के द्वारा **हुवे**=पुकारता हूँ तथा **विश्वान्**=सब **आदित्यान्**=आदित्यों को—अच्छाइयों का आदान करनेवालों को पुकारता हूँ। 'सोम, सविता व आदित्यों का आराधन करता हुआ मैं भी शान्त, निर्माण के कार्यों में लगा हुआ व अच्छाइयों का आदान करनेवाला बनूँ। यही तो श्रेष्ठता की प्राप्ति का मार्ग है। २. **अयम् अग्निः**=यह अग्नि **दीर्घम् एव**=दीर्घकाल तक ही **दीदायत्**=दीप्त हो। राष्ट्र में प्रत्येक घर में अग्निहोत्र हो, कोई भी व्यक्ति अनाहिताग्नि न हो। मैं भी **अप्रतिब्रुवद्भिः**=कभी विरोध में न बोलते हुए **सजातैः**=सजात लोगों से **इद्धः**=दीप्त किया जाऊँ, सब सजात लोगों को अपने साथ पाकर चमक उठूँ।

भावार्थ—राजा चाहता है कि प्रभु को 'सोम, सविता व आदित्य' के रूप में स्मरण करता हुआ मैं 'शान्त, निर्माता व अच्छाइयों का ग्रहण करनेवाला' बनूँ। राष्ट्र में प्रत्येक घर में अग्निहोत्र की अग्नि चमके। उसी प्रकार अप्रतिकूलतावाले सजात लोगों में मैं भी चमकूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मित्रादयो विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहतीगर्भाचतुष्पदात्रिष्टुप्** ॥

उत्तम घर

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत्।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु॥ ४॥

१. राजा राष्ट्र में सब गृहपत्नियों को प्रेरणा देता है कि तुम **इह इत् असाथ**=यहाँ घर पर ही रहो, **न परः गमाथ**=घर से दूर न जाओ। यहाँ घरों में **इर्यः**=उत्तम अन्नोंवाला (इरा=अन्नम्), **गोपाः**=गौओं का पालन करनेवाला, **पुष्टपतिः**=पोषण का स्वामी **वः**=तुम्हें **आजत्**=प्रेरित करता है, अर्थात् तुम्हारे पति 'इर्य, गोपा व पुष्टपति' हों। तुम ऐसे घर में ही बनी रहो, घर को छोड़कर जाने का कभी स्वप्न भी न लो। २. तुम **अस्मै कामाय**=इस तुम्हारी कामनावाले (कामयमानाय) पति के **उप**=समीप ही **कामिनीः**=पति की कामनावाली होओ। यहाँ घर में सदाचरण से जीवन यापन करती हुई **वः**=तुम्हें **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुण **उपसंयन्तु**=प्राप्त हों और देववृत्ति के पुरुष ही तुम्हें अतिथिरूपेण प्राप्त हों।

भावार्थ—राजा चाहता है कि राष्ट्र में पत्नियाँ घरों को छोड़कर जाने का स्वप्न भी न लें। प्रियपति के प्रति प्रेमवाली हों। पति घर में अन्न की कमी न होने दें, गौओं को अवश्य रक्खें, घर में सभी के पोषण का ध्यान करें। घरों में देववृत्ति के पुरुष ही अतिथिरूपेण प्राप्त हों। सब घरों की उत्तमता पर ही राष्ट्र की उत्तमता निर्भर होती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अविमनस्कता

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि। अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि॥ ५॥

१. **वः**=तुम्हारे **मनांसि**=मनों को **सम् नमामसि**=एक विषय की ओर झुकाववाला व अविसंवादि करते हैं। **व्रता**=तुम्हारे व्रतों को भी **सम्**=अविरोधी करते हैं। इसीप्रकार **आकूतीः**=तुम्हारे

संकल्पों को भी **सम्**=सन्नत करते हैं। २. **अमी**=वे **ये**=जो आप किन्हीं कारणों से **विव्रतास्थन**=विरुद्ध कर्मा हो गये, **तान् वः**=उन आपको **संनमयामसि**=राष्ट्र की उन्नतिरूप एक कार्य में लगे हुए व विरोधशून्य करते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र के सब लोग अविरुद्धभाववाले होकर समान संकल्पवाले होते हुए राष्ट्रोन्नति में लगे रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मनः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

राजा व प्रजा की अनुकूलता

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत॥ ८॥

१. राजा प्रजाओं से कहता है कि **अहम्**=मैं **मनसा**=अपने मन के द्वारा **मनांसि**=तुम्हारे मनों को **गृभ्णामि**=ग्रहण करता हूँ—अपने वश में करता हूँ। तुम सब **मम**=मेरे **चित्तम् अनु**=चित्त के अनुकूल **चित्तेभिः**=चित्तों से **एत**=गतिवाले होओ। २. **मम वशेषु**=मुझसे चाहे गये अर्थों में **वः**=तुम्हारे **हृदयानि**=हृदयों को **कृणोमि**=करता हूँ। **मम**=मेरे **यातम् अनु वर्त्मानः**=गमन के अनुकूल मार्गवाले **एत**=तुम गति करो—मेरे मार्ग के पीछे चलनेवाले होओ।

भावार्थ—राजा को प्रजा की पूर्ण अनुकूलता प्राप्त हो तभी राष्ट्र विजयी व उन्नत होता है।

विशेष—इस उत्तम राष्ट्र में ही 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाले पुरुष का जन्म होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विघ्नाभाव

कर्शफस्य विशफस्य द्यौष्पिता पृथिवी माता। यथाभिचक्र देवास्तथाप कृणुता पुनः॥ १॥

१. **कर्शफस्य**=(कृशशफस्य श्वापदस्य व्याघ्रादेः) पतले शफों-(Hoof)-वाले व्याघ्रादि पशुओं का तथा **विशफस्य**=(विस्पष्टशफस्य क्रूरगोमहिष्यादेः) स्पष्ट शफोंवाले क्रूर जंगली भैंसे आदि का भी **द्यौः**=द्युलोक **पिता**=पिता है तथा **पृथिवी**=पृथिवी **माता**=माता है। द्युलोक व पृथिवीलोक ही सब प्राणियों को जन्म देते हैं। पृथिवी व द्युलोक के अन्तर्गत सब देवों (प्राकृतिक शक्तियों) ने ही इन्हें भी जन्म दिया है। २. हे **देवाः**=देवो! **यथा**=जैसे आपने **अभिचक्र**=इन कर्शफ, विशफ आदि को हमारे सामने प्राप्त कराया है। (अस्मदभिमुखान् कृतवन्तः) **तथा**=उसी प्रकार इन्हें **पुनः**=फिर से हमसे **अपकृणुत**=दूर करो।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवीलोक हमारे भी माता-पिता हैं। इन्होंने ही व्याघ्र आदि व क्रूर भैंसे आदि को जन्म दिया है। वे इन क्रूर पशुओं को हमसे दूर रक्खें।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'ईर्ष्या व अविचारशीलता' से दूर

अश्रेष्माणो अधारयन्तथा तन्मनुना कृतम्।
कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव॥ २॥

१. **अश्रेष्माणः**=(श्रिष् श्रेषति to burn) ईर्ष्या की अग्नि में न जलनेवाले पुरुष ही **अधारयन्**=इस जगत् का धारण करते हैं। ईर्ष्या की अग्नि में जलनेवाला पुरुष अपनी सारी शक्ति

को अपने उत्थान में लगाने की बजाए दूसरों के विनाश में लगता है **तथा**=उसी प्रकार **तत्**=इस जगत् का धारण **मनुना कृतम्**=विचारशील पुरुष के द्वारा किया गया है। ईर्ष्याशून्य व विचारशील व्यक्ति ही जगत् का धारण करते हैं। २. ईर्ष्याशून्य व विचारशील बनकर उन्नतिपथ पर चलता हुआ मैं **किष्कन्धम्**=मार्ग में आनेवाले विघ्नों को इसप्रकार **बध्रि कृणोमि**=बध्रिया (निर्बल) कर देता हूँ, **इव**=जैसेकि **गवाम्**=बैलों के **मुष्काबर्हः**=अण्डकोशों को तोड़नेवाला उन पुं-गवों को निर्बल कर देता है—निर्वीर्य कर देता है।

भावार्थ—ईर्ष्या और अविचारशीलता ही हमें आगे नहीं बढ़ने देतीं। इनसे दूर होकर मैं उन्नति-पथ में आनेवाले विघ्नों को निर्वीर्य कर देता हूँ।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'श्रवस्यु-शुष्म-काबव' का वध्रीकरण

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः।
श्रवस्यं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः॥ ३॥

१. प्रभु इस ब्राह्मण्ड के एक-एक रूप में (पिश=form में) प्रविष्ट हो रहे हैं **'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'**। प्रत्येक पदार्थ उस प्रभुरूप महान् सूत्र में ओत-प्रोत है **'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'**। उस **पिशङ्गे सूत्रे**=प्रत्येक पदार्थ में सूत्ररूप में गये हुए उस महान् सूत्र (सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्०) में **खृगलम्**=(तनुत्राणम्) कवच हैं—प्रभु एक महान् कवच हैं (ब्रह्म वर्म ममान्तरम्)। **वेधसः**=ज्ञानी पुरुष **तत्**=उस महान् कवच को **आबध्नन्ति**=बाँधते हैं। इस कवच से सुरक्षित होने के कारण ही ये काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं के शरों से विद्ध नहीं होते। २. इस कवच को **बन्धुरः**=बाँधनेवाले व्यक्ति **श्रवस्युम्**=यश को अपने साथ जोड़ने की कामना को—लोकैषणा को, **शुष्मम्**=धन की कामना को, जोकि दूसरों के धन के प्रति ईर्ष्या के कारण हमारा शोषण-सा कर देती है, उस वित्तैषणा को, **काबवम्**=(कवति to colour) जीवन को अनुरञ्जित करनेवाली—अनुरागयुक्त करनेवाली पुत्रैषणा को **वध्रिम्**=बन्धनयुक्त (नियन्त्रित) व निर्बल **कृण्वन्तु**=कर दें। वस्तुतः प्रभु को कवचरूप में धारण करनेवाले इन ऐषणाओं से नियन्त्रित नहीं होते। प्रभु-प्राप्ति की तुलना में इन एषणाओं का आकर्षण समाप्त ही हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमारी लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा को दूर करें।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**चतुष्पान्निचृद्बृहती** ॥

असुरमाया व कामदूषण

येना श्रवस्यवश्चरथ देवाइवासुरमायया।
शुनां कपिरिव दूषणो बन्धुरा काबवस्य च॥ ४॥

१. हे **श्रवस्यवः**=ज्ञान की कामनावाले उपासको! **येन**=चूँकि तुम **असुरमायया**=प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले प्रभु की प्रज्ञा (माया=प्रज्ञा—नि० ३.९) से **चरथ**=व्यवहार करते हो—संसार में गति करते हो, अतः **देवाः इव**=देवतुल्य बन जाते हो। २. **च**=और यह **असुरमाया**=प्रभु-प्रज्ञा तुम्हारे जीवनों में **शुनाम्**=कुत्तों को **दूषणः**=दूषित करनेवाले **कपिः इव**=वानर की भाँति **काबवस्य**=जीवन को अनुरागयुक्त करनेवाली (कवति to colour) कामवासना को **बन्धुरा**=बाँधनेवाली—नियन्त्रित करनेवाली है। असुरमाया कामवासना को उसी प्रकार दूषित कर देती है, जैसेकि वानर श्वा को।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रज्ञान को प्राप्त करके अनुराग (काम) की वासना से ऊपर उठें।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शपथेभिः उत्

दुष्ट्यै हि त्वा भन्त्स्यामि दूषयिष्यामि काबवम्।
उदाशवो रथाइव शपथेभिः सरिष्यथ॥ ५॥

१. हे प्रभो! **दुष्ट्यै**=वासनाओं को दूषित करने के लिए **हि**=निश्चय से **त्वा**=आपको **भन्त्स्यामि**=अपने में बाँधूँगा—आपको हृदय में स्थिर करने का प्रयत्न करूँगा। इसप्रकार **काबवम्**=संसार के प्रति अनुराग की वृत्ति को **दूषयिष्यामि**=दूषित करूँगा—इसे अपने से दूर करनेवाला बनूँगा। २. प्रभु कहते हैं कि ऐसा करने पर **आशवः**=शीघ्रगामी अश्वोंवाले **रथाः इव**=रथों की भाँति तुम **शपथेभिः**=आक्रोशों से **उत् सरिष्यथ**=बाहर गतिवाले होओगे—तुम्हारा जीवन आक्रोशों से ऊपर उठ जाएगा। '**आक्रुष्टः कुशलं वदेत्**' का पाठ पढ़कर तुम सदा आक्रोश से दूर रहोगे।

भावार्थ—उस प्रभुरूप कवच को पहनकर हम संसार के अनुराग से ऊपर उठें, अनासक्तभाव से कर्त्तव्यकर्मों को करते हुए हम लोग आक्रोशों से ऊपर उठें।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

एकशतं विष्कन्धानि

एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु।
तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्धदूषणम्॥ ६॥

१. **एकशतम्**=एक और सौ, अर्थात् एक सौ एक **विष्कन्धानि**=विश्वभूत रोग **पृथिवीं अनु विष्ठिता**=इस शरीररूप पृथिवी में रह रहे हैं। ये रोग ही वे विघ्न हैं जो हमें उन्नति के मार्ग में आगे बढ़ने से रोकते हैं। २. **तेषां अग्रे**=उनके सामने, अर्थात् उनपर आक्रमण करने के लिए **देवाः**=देववृत्ति के ज्ञानी पुरुष **विष्कन्धदूषणम्**=रोगरूप इन सब विघ्नों को दूषित करनेवाली **त्वां मणिम्**=तुझ मणि को—वीर्यरूप मणि को **उत् जहरुः**=शरीर में ऊर्ध्व गतिवाला करते हैं। शरीर में व्याप्त हुई-हुई यह मणि सब रोगों को विशेषरूप से कम्पित करनेवाली होती है।

भावार्थ—शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर रोगरूप विघ्न कम्पित होकर दूर हो जाते हैं और उन्नति-पथ पर आगे बढ़ना सम्भव होता है।

विशेष—वीर्य की ऊर्ध्वगति करनेवाला यह पुरुष 'अथर्वा' बनता है। यह दिन को बड़ी सुन्दरता से बिताता है। यही विषय अगले सूक्त में कहा गया है—

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उषारूप धेनु

प्रथमा ह व्यु वास सा धेनुरभवद्यमे। सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥ १॥

१. दिन आठ अष्टकों में बटा है—आठ प्रहर का दिन होता है। उनमें उषा से प्रथम अष्टक प्रारम्भ होता है—यह एकाष्टका है—मुख्य (प्रथम) अष्टकवाली। यह **प्रथमा**=दिन के प्रारम्भ में आनेवाली उषा **ह**=निश्चय से **वि उवास**=अन्धकार को दूर (विवासित) करती है। **सा**=वह उषा **यमे**=संयत जीवनवाले पुरुष के विषय में **धेनुः अभवत्**=ज्ञानदुग्ध देनेवाली होती है। २.

सा=वह उषा **नः**=हमारे लिए **पयस्वती**=आप्यायन व वर्धन का कारण बनती हुई **दुहाम्**=हममें ज्ञानदुग्ध का प्रपूरण करे। **उत्तराम् उत्तराम् समाम्**=अगले और अगले वर्षों में यह हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाली हो।

भावार्थ—आठ प्रहर का यह दिन उषा से आरम्भ होता है। यही प्रथम व मुख्य प्रहर होता है, जो उषा से आरम्भ होता है। यह हमारे लिए धेनु के समान हो और हममें ज्ञानदुग्ध का उत्तरोत्तर अधिकाधिक पूरण करनेवाला हो। हमारा कर्त्तव्य स्वाध्याय हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रात्रि (संवत्सरपत्नी)

यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम्।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली॥ २॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के लोग **उपायतीम्**=समीप आती हुई **यां रात्रिं धेनुम्**=जिस रात्रिरूप धेनु का **प्रतिनन्दन्ति**=स्वागत करते हैं, **सा**=वह रात्रि **नः**=हमारे लिए **सुमङ्गली**=उत्तम मङ्गल करनेवाली हो। रात्रि धेनु है। धेनु दुग्ध देती है, दुग्ध द्वारा हमारा वर्धन करती है। इसीप्रकार रात्रि भी हमारा आप्यायन करती है—हमें पुनः स्फूर्तिमय बना देती है, इसी से यह धेनु कहाती है। रात्रि में ओषधियों में रस का सञ्चार होता है। यह रात्रि रमयित्री है, परन्तु राक्षसी वृत्तिवालों के लिए यह अमङ्गलों व पापों का आधार बन जाती है। २. **या**=जो रात्रि **संवत्सरस्य**=संवत्सर की **पत्नी**=पत्नी है—**'संवसन्ति अस्मिन् इति संवत्सरः'** उत्तम निवासवाले वर्ष की यह रात्रि पत्नी है। रात्रि संवत्सर को संवत्सर बनाती है। रात्रि प्रतिदिन हममें शक्ति का सञ्चार करती हुई हमारे जीवन के वर्षों को उत्तम बनाती है। यह रात्रि हमारे लिए सुमङ्गली हो।

भावार्थ—रात्रि धेनु है। यह हमारी शक्तियों का फिर से आप्यायन करती है। यह संवत्सर की पत्नी है—हमारे निवास को प्रतिदिन उत्तम बनाती हुई हमारे जीवन के वर्षों को सचमुच 'संवत्सर' बनाती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आयु व धन देनेवाली रात्रि

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज॥ ३॥

१. हे **रात्रि**=रात्रि! **यां त्वा**=जिस तुझे हम **संवत्सरस्य प्रतिमाम्**=संवत्सर की प्रतिमा (बनानेवाली) के रूप में **उपास्महे**=उपासित करते हैं। यह रात्रि रमयित्री होती हुई, हमारी शक्तियों को नवीन-सा करती हुई हमारे वर्षों को सचमुच संवत्सर बनाती है। २. हे रात्रि! **सा**=वह तू **नः**=हमारी **आयुष्मतीं प्रजाम्**=दीर्घजीवनवाली सन्तानों को **रायस्पोषेण**=धन के पोषण के साथ **संसृज**=संसृष्ट कर। प्रत्येक रात्रि में अपनी शक्तियों को नवीन करती हुई हमारी प्रजाएँ सचमुच दीर्घायुष्य व उत्तम धन को प्राप्त करनेवाली बनें।

भावार्थ—रात्रि संवत्सर की प्रतिमा है। प्रतिदिन शक्तियों को नवीन-सा करती हुई यह हमारे जीवन के वर्षों को संवत्सर बनाती है। इस रात्रि का शयन में ठीक से प्रयोग करती हुई हमारी सन्तानें दीर्घजीवी व धन के पोषणवाली हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'महान् महिमावाला' उषाकाल

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥ ४ ॥

१. **इयं एव सा**=यही वह उषा है **या**=जोकि **प्रथमा**=दिन में सर्वप्रथम अष्टकवाली **वि औच्छत्**=विशेषरूप से अन्धकार को दूर करती है। **आसु इतरासु**=दिन के अन्य भागों में **प्रविष्टा**=प्रविष्ट हुई-हुई **चरति**=विचरण करती है। उषा ही मानो बड़ी होती हुई दिन के प्रातः, संगव, मध्याह्न, अपराह्न व सायाह्न आदि पाँच भागों में तथा इनके अन्तरालवर्ती चार कालों (आत, रुग्ण, सन्तप, खनि) में गति करती है। **अस्यां अन्तः**=इस उषाकाल में **महान्तः महिमानः**=महान् महिमाएँ हैं, अर्थात् यह समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस समय वायुमण्डल में भी ओज़ोन गैस की अधिकता होने से स्वास्थ्य पर सुन्दर प्रभाव पड़ता है। शान्ति का समय होने से मन के लिए यह उत्तम होता है। सामान्यतया चित्त की एकाग्रता के लिए यह समय उपयुक्ततम होता है, एवं स्वाध्याय के लिए यह समय अमूल्य है। यह **वधूः**=सूर्य की पत्नीरूप उषा **जिगाय**=विजयी होती है—सर्वोत्कृष्ट प्रतीत होती है। **नवगत्**=दिन के नौ-के-नौ भागों में गतिवाली होती है व स्तुत्य गतिवाली होती है, **जनित्री**=यह हमारी शक्तियों की जनयित्री—विकास करनेवाली है।

भावार्थ—उषा अन्धकार को दूर करती हुई आती है और दिन के अगले भाग में गति करती हुई विजयी होती है। समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—यह हमारे जीवन को महिमान्वित करता है। इस समय सोये रह जाना बड़ी भारी मूर्खता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सुप्रजसः, सुवीराः, रयीणां पतयः

वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।
एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ५ ॥

१. **वानस्पत्याः**=शरीर-रक्षण के लिए वनस्पति पदार्थों का ही प्रयोग करनेवाले **ग्रावाणः**=स्तोता लोग **घोषम् अक्रत**=स्तुतिशब्दों का उच्चारण करते हैं। ये **परिवत्सरीणम्**=वर्षभर व्यवहृत होनेवाली **हविः**=हवि को **कृण्वन्तः**=सम्पादित करते हैं—वर्षभर प्रतिदिन यज्ञ करते हैं। २. हे **एकाष्टके**=मुख्य अष्टक—दिन के प्रथम अष्टक में आनेवाली उषे! स्तुति व यज्ञों को करते हुए **वयम्**=हम **सुप्रजसः**=उत्तम प्रजावाले, **सुवीराः**=उत्तम वीर तथा **रयीणां पतयः**=धनों के स्वामी **स्याम**=हों।

भावार्थ—वर्षभर प्रतिदिन स्तुति व यज्ञ करते हुए हम उत्तम प्रजावाले, वीर व धनों के स्वामी हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वाध्याय+यज्ञ

इडायास्पदं घृतवत्सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या गृभाय।
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ॥ ६ ॥

१. **इडायाः**=इस वेदवाणी का **पदम्**=शब्द **घृतवत्**=मेरे लिए ज्ञान की दीप्तिवाला हो तथा **सरीसृपम्**=मुझे खूब ही क्रियाशील बनाए। हे **जातवेदः**=अग्ने! तू **हव्या**=हव्यों को **प्रतिगृभाय**=

प्रतिदिन ग्रहण करनेवाला हो, अर्थात् मैं प्रतिदिन अग्निहोत्र करनेवाला बनूँ। स्वाध्याय के द्वारा मैं अपने ज्ञान को बढ़ाऊँ, उस ज्ञान के अनुसार गतिवाला होऊँ तथा यज्ञशील बनूँ। २. **ये**=जो भी **विश्वरूपाः**=नानारूपोंवाले **ग्राम्याः पशवः**=ग्रामवासी प्राणी हैं, **तेषाम्**=उन **सप्तानाम्**=सर्पणशील प्राणियों की **मयि**=मुझमें **रन्ति**=प्रीति **अस्तु**=हो।

भावार्थ—हम स्वाध्याय व यज्ञ को अपनाएँ। हम सब प्राणियों के प्रिय हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**षट्पदाविराड्गर्भातिजगती** ॥

पुष्टे च पोषे च

आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम।
पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत।
सर्वान्यज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर॥ ७॥

१. हे **रात्रि**=रात्रि! तू **मा**=मुझे **पुष्टे**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग की दृढ़ता में **च**=और **पोषे च**=धनादि आवश्यक साधनों के पोषण में **आ (स्थापित)**=स्थापित कर। हम सदा **देवानाम्**=देववृत्ति के पुरुषों की **सुमतौ**=कल्याणी मति में **स्याम**=हों, सदा देवों की भाँति शुभ विचारोंवाले बनें। २. यज्ञ के समय हे **दर्वे**=घृत के चम्मच! **पूर्णा**=पूरा भरा हुआ तू **परापत**=दूर अग्नि की ओर जा—अग्नि के द्वारा सारे वायुमण्डल में तू सूक्ष्म कणों के रूप में पहुँचनेवाला हो। वहाँ इन देवों से **सुपूर्णा**=उत्तम अन्न आदि से पूर्ण हुआ-हुआ तू **पुनः आपत**=फिर हमें प्राप्त हो। हे देवि! **सर्वान् यज्ञान्**=सब यज्ञों का **संभुञ्जती**=सम्यक् पालन करती हुई तू **नः**=हमारे लिए **इषम् ऊर्जम्**=अन्न व रस को **आभर**=समन्तात् प्राप्त करानेवाली हो।

भावार्थ—हम रात्रि में पूर्ण निद्रा लेकर स्वस्थ बनें। धनों को प्राप्त करके सदा यज्ञशील होते हुए उत्तम अन्न-रस के भागी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वर्ष का प्रारम्भ

आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज॥ ८॥

१. प्रत्येक वर्ष के आरम्भ में सोकर उठने पर हमें यह धारणा करनी चाहिए कि **अयम्**=यह **संवत्सरः**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाला वर्ष **आ अगन्**=आया है—आज नववर्ष का आरम्भ होता है। हे **एकाष्टके**=दिन के प्रथम व मुख्य अष्टकवाली उषे! यह **तव पतिः**=तेरा पति है—तू इसकी पत्नी है। तू ही वस्तुतः इसे संवत्सर—उत्तम निवासवाला बनाती है। २. **सा**=वह तू **नः**=हमारी **आयुष्मतीं प्रजाम्**=दीर्घजीवी सन्तानों को **रायस्पोषेण संसृज**=धन के पोषण से युक्त कर। प्रतिदिन प्रातःकाल प्रबुद्ध होती हुई हमारी सन्तानें दीर्घजीवी व धन-धान्य-सम्पन्न बनें।

भावार्थ—वर्ष के प्रारम्भिक दिन हम उषा-जागरण का व्रत लें तथा निश्चय करें कि अपने जीवन को उत्तम बनाकर हम सन्तानों को दीर्घजीवी व सम्पन्न बनाने के लिए यत्नशील होंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यज्ञों से ऋतुओं का अविपर्यय

ऋतून्यज ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान्। समाः संवत्सरान्मासान्भूतस्य पतये यजे॥ ९॥

१. **ऋतून् यजे**=मैं ऋतुओं के उद्देश्य से यज्ञ करता हूँ। **ऋतुपतीन्**=ऋतुओं के पति अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवों के उद्देश्य से यज्ञ करता हूँ। **आर्तवान्**=इन ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाले पदार्थों के उद्देश्य से यज्ञ करता हूँ। २. **उत**=और **हायनान्**=संवत्सर-सम्बन्धी दिन-रात का लक्ष्य करके (जहति जिहते वा भावान्) **समाः**=सम प्रविभक्त चौबीस संख्यावाले अर्धमासों का लक्ष्य करके **संवत्सरान्**=वर्षों का लक्ष्य करके तथा **मासान्**=चैत्र आदि बारह मासों का लक्ष्य करके मैं यज्ञ करता हूँ। यज्ञ से सब ऋतुएँ व कालविभाग ठीक से अपना-अपना कार्य करते हैं। यज्ञ कालविकृतिजन्य आधिदैविक आपत्तियों को दूर करता है। ३. मैं **भूतस्य पतये**=सब प्राणियों के स्वामी उस प्रभु का **यजे**=यज्ञ द्वारा पूजन करता हूँ। यह यज्ञ मुझे परमात्मा के समीप प्राप्त करानेवाला होता है **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**।

भावार्थ—सब गृहों में यज्ञ होने पर ऋतुओं व काल के विपर्यय से होनेवाले कष्ट दूर होते हैं। इन यज्ञों से ही प्रभु का उपासन होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अष्टका**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यज्ञों द्वारा प्रभु-पूजन

ऋ॒तुभ्य॑ष्ट्वार्त॒वेभ्यो॑ मा॒द्भ्यः सं॑वत्स॒रेभ्यः॑। धा॒त्रे वि॑धा॒त्रे स॒मृधे॑ भू॒तस्य॒ पत॑ये यजे॥ १०॥

१. हे उषे! **ऋतुभ्यः**=ऋतुओं के लिए **त्वा यजे**=मैं तेरा यजन करता हूँ। प्रत्येक उषा में यज्ञ करता हुआ मैं ऋतुओं को अनुकूल बनाता हूँ। **आर्तवेभ्यः**=ऋतुओं में होनेवाले पदार्थों के लिए **माद्भ्यः**=मासों के लिए, **संवत्सरेभ्यः**=वर्षों के लिए मैं यज्ञ करता हूँ। इन सबकी अनुकूलता के लिए मैं यज्ञ करता हूँ। २. **धात्रे**=धारण करनेवाले प्रभु के लिए **विधात्रे**=सम्पूर्ण संसार के निर्माता प्रभु के लिए तथा **समृधे**=समृद्धि प्राप्त करानेवाले **भूतस्य पतये**=सब प्राणियों के रक्षक प्रभु के लिए मैं यज्ञ करता हूँ।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा ऋतुओं की अनुकूलता होती है और प्रभु का उपासन होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अष्टका**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सम्पन्न गोमान्' गृह

इड॑या॒ जुह्व॑तो व॒यं दे॒वान्घृ॒तव॑ता यजे। गृ॒हानलु॑भ्यतो व॒यं सं वि॑शे॒मोप॒ गोम॑तः॥ ११॥

१. **घृतवता इडया**=घृतवाली वेदवाणी के द्वारा **जुह्वतः**=आहुति देते हुए **वयम्**=हम **देवान् यजे**=अग्नि, वायु आदि सब देवों का लक्ष्य करके यज्ञ करते हैं। मन्त्रोच्चारणपूर्वक घृत की आहुति देते हुए हम सब देवों—प्राकृतिक शक्तियों की अनुकूलता का सम्पादन करते हैं। २. इन यज्ञों के द्वारा **वयम्**=हम **गृहान् उप संविशेम**=घरों में शान्तिपूर्वक निवास करनेवाले हों जोकि **अलुभ्यतः**=लोभ से रहित—चाहने योग्य सभी वस्तुओं से युक्त हैं तथा **गोमतः**=प्रशस्त गौओं से युक्त हैं।

भावार्थ—वेदवाणी का उच्चारण करते हुए हम अग्नि में घृत की आहुतियाँ दें। इससे जहाँ अग्नि-वायु आदि देवों की अनुकूलता होगी, वहाँ हमारे घर सब इष्ट वस्तुओं व गौओं से परिपूर्ण होंगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अष्टका**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उषाकाल में प्रभु-दर्शन

ए॒का॒ष्ट॒का तप॑सा त॒प्यमा॑ना ज॒जान॒ गर्भं॑ महि॒मान॒मिन्द्र॑म्।
तेन॑ दे॒वा व्य॑[illegible]वच्छ॒चीप॑तिः॥ १२॥

१. **एकाष्टका**=यह प्रथम व मुख्य अष्टक-(दिन के प्रथमभाग)-वाली उषा **तपसा तप्यमाना**=तप से दीप्त होती हुई उस **गर्भम्**=सब पदार्थों में गर्भरूप से रहनेवाले व सब पदार्थों को अपने गर्भ में धारण करनेवाले, **महिमानम्**=अतिशयेन पूज्य **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **जजान**=प्रकट करती है। उषाकाल में प्रबुद्ध होकर हम तपस्यामय जीवन बनाते हैं। स्वाध्याय ही सर्वमहान् तप है। इस तप से जीवन दीप्त बन जाता है। उस समय तपःपूत पवित्र हृदय में प्रभु का प्रकाश होता है। २. **देवाः**=देववृत्ति के ये पुरुष **तेन**=उस प्रभु के द्वारा **शत्रून् व्यसहन्त**=काम-क्रोध-लोभरूप शत्रुओं को पराभूत करते हैं। वह **शचीपतिः**=सब कर्मों और प्रज्ञानों का स्वामी प्रभु **दस्यूनाम्**=हमारी सब दास्यव वृत्तियों का **हन्ता**=विनाशक **अभवत्**=होता है।

भावार्थ—हम उषाकाल में प्रबुद्ध होकर स्वाध्यायरूप तप से दीप्त जीवनवाले बनें। प्रभु के प्रकाश को देखें। प्रभु के द्वारा सब आसुरभावों का विनाश करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'इन्द्र-पुत्रा—प्रजापति-पुत्री' उषा

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः॥ १३॥

१. गतमन्त्र में कहा है कि उषा स्वाध्यायरूप तप से दीप्त होकर प्रभु के प्रकाश को प्राप्त कराती है। इसप्रकार प्रभु को प्रकट करने के कारण यह 'इन्द्र-पुत्रा' कहलायी है—इन्द्ररूप पुत्रवाली तथा प्रभु इस उषा को उत्पन्न करते हैं, अतः यह उस प्रभु की दुहिता (पुत्री) है। हे **इन्द्रपुत्रे**=परमैश्वर्यशाली प्रभुरूप पुत्रवाली, अर्थात् प्रभु का हमारे हृदयों में प्रकाश करनेवाली उषे! हे **सोमपुत्रे**=शरीर में सोम को पवित्र व रक्षित (पुनाति+त्रायते) करनेवाली उषे! तू **प्रजापतेः**=सब प्रजाओं के स्वामी प्रभु की **दुहिता असि**=पुत्री है। २. तू **अस्माकं कामान् पूरय**=हमारी कामनाओं को पूर्ण करनेवाली हो। तू **नः हविः**=हमारे द्वारा दी जानेवाली इस हवि को **प्रतिगृह्णाहि**=प्रति दिन गृहण कर, अर्थात् हम सदा उषाकाल में प्रबुद्ध होकर यज्ञशील बनें। यज्ञों के द्वारा ही तो प्रभु का पूजन होता है।

भावार्थ—उषा प्रभु का प्रकाश दिखाती है, हमारी कामनाओं को पूर्ण करती है। हम सदा उषा में प्रबुद्ध होकर यज्ञों को करें।

विशेष—प्रतिदिन यज्ञ करने से दीर्घजीवन प्राप्त होता है। यह विषय अगले सूक्त में प्रतिपादित हुआ है। यह यज्ञशील पुरुष महत्त्व को प्राप्त करके 'ब्रह्मा' बनता है। तपस्या इसे 'भृगु' बनाती है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला यह 'अङ्गिरा' होता है। यह कहता है—

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अज्ञातयक्ष्म-राजयक्ष्म व ग्राहि' का विनाश

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्॥ १॥

१. प्रभु कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **हविषा**=हवि के द्वारा—यज्ञों में घृत व हव्य पदार्थों के प्रक्षेप के द्वारा **कं जीवनाय**=सुखपूर्ण जीवन के लिए **अज्ञात् यक्ष्मात्**=अज्ञात रोगों से **उत**=तथा **राजयक्ष्मात्**=राजरोग (क्षयरोग) से **मुञ्चामि**=छुड़ाता हूँ। २. **यदि**=यदि **एतत्**=(इदानीम्) अब **एनम्**=इस पुरुष को **ग्राही**=पकड़ लेनेवाला—जकड़ लेनेवाला वातरोग **जग्राह**=पकड़ लेता है

तो **एनम्**=इस रोगी को **इन्द्राग्नी**=सूर्य और अग्नि—सूर्य-किरणों के समय अग्नि में किया जानेवाला अग्निहोत्र **तस्याः**=उस रोग से **प्रमुमुक्तम्**=मुक्त करे।

भावार्थ—अग्निहोत्र द्वारा अज्ञात रोग, क्षयरोग व ग्राही (वातरोग) दूर हो जाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'क्षितायु व परेत' की रोगनिवृत्ति

यदि॑ क्षि॒तायु॒र्यदि॑ वा॒ परे॑तो॒ यदि॑ मृ॒त्योर॑न्ति॒कं नी॑त ए॒व।
तमा ह॑रामि॒ निर्ऋ॑तेरु॒पस्था॒दस्पा॑र्शमेनं श॒तशा॑रदाय॥ २॥

१. **यदि**=यदि **क्षितायुः**=यह रोगी क्षीण जीवनवाला हो गया हो, **यदि वा**=अथवा **परा इतः**=यह रोगों में दूर चला गया हो, **यदि**=यदि **मृत्योः अन्तिकम्**=मृत्यु के समीप **एव**=ही **नीतः**=ले-जाया गया है, अर्थात् एकदम मरणासन्न हो तो भी **तम्**=उस रोगी को **निर्ऋतेः उपस्थात्**=दुर्गति (मृत्यु) की गोद से **आहरामि**=मैं वापस ले-आता हूँ। हवि के द्वारा इसे रोगों से मुक्त कर देता हूँ। २. मैं **एनम्**=इसे **शतशारदाय**=सौ वर्ष के दीर्घजीवन के लिए **अस्पार्शम्**=(अस्पार्षम्) बल व प्राणयुक्त करता हूँ अथवा इसे छूता हूँ (स्पृश्) और छूकर रोग-निवृत्त करता हूँ।

भावार्थ—क्षीण जीवनवाले, बढ़े हुए रोगवाले, मरणासन्न पुरुष को भी मैं बल व प्राणयुक्त करके दीर्घजीवनवाला करता हूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'सहस्राक्ष-शतवीर्य-शतायु' हवि

स॒ह॒स्रा॒क्षेण॑ श॒तवी॑र्येण श॒तायु॑षा ह॒विषाहा॑र्षमेनम्।
इन्द्रो॒ यथै॑नं श॒रदो॒ नया॒त्यति॒ विश्व॑स्य दुरि॒तस्य॑ पा॒रम्॥ ३॥

१. **सहस्राक्षेण**=(सहस्रं अक्षीणि दर्शनशक्तयो यस्य) हज़ारों दर्शनशक्तियोंवाली, **शतवीर्येण**=श्रोत्रादि इन्द्रियों से सम्बद्ध अपरिमित वीर्योंवाली, **शतायुषा**=शतवर्षों का जीवन देनेवाली **हविषा**=हवि के द्वारा—अग्नि में हविर्द्रव्यों के प्रक्षेप के द्वारा **एनम्**=इस रोगी को **आहार्षम्**=रोग से बाहर निकलता हूँ। अग्नि में हव्य पदार्थों को डालता हुआ मैं इसप्रकार यज्ञों को करता हूँ **यथा**=जिससे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **एनम्**=इस रोगी को **शरदः**=वर्षों तक—सौ वर्ष के दीर्घजीवन तक **विश्वस्य दुरितस्य**=सब दुरितों के **पारम् अतिनयति**=पार ले-जाते हैं। सब दुरितों से पार करके इसे पूर्ण स्वस्थ बनाते हैं।

भावार्थ—यह हवि (अग्निहोत्र में आहुत पदार्थ) दर्शनशक्ति को बढ़ाते हैं, कान आदि इन्द्रियों की शक्ति को ठीक रखते हैं और सौ वर्ष के दीर्घजीवन को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**शक्वरीगर्भाजगती**॥

दीर्घजीवन के साधक, 'अग्नि, इन्द्र, सविता व बृहस्पति'

श॒तं जी॑व श॒रदो॒ वर्ध॑मानः श॒तं हे॑म॒न्ताञ्छ॒तमु॑ वस॒न्तान्।
श॒तं त॒ इन्द्रो॑ अ॒ग्निः स॑वि॒ता बृह॒स्पतिः॑ श॒तायु॑षा ह॒विषाहा॑र्षमेनम्॥ ४॥

१. अग्निहोत्र द्वारा रोगविमुक्त हे पुरुष! **शतं शरदः**=सौ वर्षपर्यन्त **वर्धमानः**=सब शक्तियों की दृष्टि से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ तू **जीव**=जीवन धारण कर। **शतं हेमन्तान्**=सौ हेमन्त ऋतुओं तक तू जी। **उ**=और **शतं वसन्तान्**=सौ वसन्त ऋतुओं तक जीनेवाला बन। सर्दी, गर्मी, वर्षा सभी ऋतुओं में नीरोग रहता हुआ तू सौ वर्ष तक जीनेवाला बन। २. **इन्द्रः**=जितेन्द्रियता

की देवता, **अग्निः**=प्रगति की भावना, **सविता**=निर्माण की प्रवृत्ति तथा **बृहस्पतिः**=ज्ञान की अधिष्ठातृदेवता—ये सब **ते**=तेरे लिए **शतम्**=शतवर्ष के जीवन को करनेवाले हों। मैं **शतायुषा**=शतवर्ष के आयुष्य को प्राप्त करानेवाले **हविषा**=हवि के द्वारा **एनम्**=इस रोगी को **आहार्षम्**=रोगों से बाहर ले-आता हूँ।

भावार्थ—अग्निहोत्र हमारे दीर्घजीवन का साधन बने। 'जितेन्द्रियता, प्रगतिशीलता, निर्माणवृत्ति, ज्ञानरुचिता' हमें दीर्घजीवन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्राणापानौ

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।
व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम्॥ ५॥

१. **प्राणापानौ**=प्राण व अपानशक्ति—शरीर में शक्ति के आधायक प्राण तथा दोषों को दूर करनेवाली अपानशक्ति **प्रविशतम्**=शरीर में इसप्रकार प्रविष्ट होकर स्थित हों **इव**=जैसेकि **अनड्वाहौ**=शकट का वहन करनेवाले दो बैल **व्रजम्**=अपने निवास स्थान गोष्ठ में प्रवेश करते हैं। २. **अन्ये मृत्यवः**=मृत्यु के कारणभूत ये विलक्षण रोग **वियन्तु**=विशेषरूप से दूर चले जाएँ। **यान् इतरान्**=स्वाभाविक मृत्यु से भिन्न जिन रोगों को **शतं आहुः**=सौ संख्यावाला कहते हैं, ये सौ-के-सौ रोग प्राणापान की शक्ति से दूर भगा दिये जाएँ।

भावार्थ—प्राण व अपानशक्ति शरीर में स्थिर होकर सर्वरोगों को दूर करनेवाली हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पूर्ण सौ वर्ष तक

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम्। शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः॥ ६॥

१. हे **प्राणापानौ**=प्राण व अपानशक्ति! आप दोनों **इह एव स्तम्**=यहाँ शरीर में ही होओ। **इतः**=यहाँ से **युवम्**=तुम दोनों **मा अपगातम्**=दूर मत जाओ। २. यहाँ रहते हुए **पुनः**=फिर आप दोनों **अस्य**=इसके **शरीरम्**=शरीर को तथा **अङ्गानि**=शरीर के सब अङ्गों को **जरसे**=पूर्ण जरावस्थापर्यन्त **वहतम्**=धारण करनेवाले होओ।

भावार्थ—प्राणापान शरीर को, अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सौ वर्ष तक शक्तिशाली बनाये रक्खें।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥
छन्दः—**उष्णिग्बृहतीगर्भापथ्यापङ्क्तिः**॥

भद्रशक्तियों से युक्त जरावस्था

जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम्॥ ७॥

१. **त्वा**=तुझे **जरायै**=पूर्ण वृद्धावस्था के दीर्घजीवन के लिए **परिददामि**=देता हूँ। **त्वा**=तुझे **जरायै**=इस पूर्ण वृद्धावस्था के दीर्घजीवन के लिए **निधुवामि**=प्रेरित करता हूँ। यह **जरा**=वृद्धावस्था **त्वा**=तुझे **भद्रा नेष्ट**=सब भद्र वस्तुओं को प्राप्त कराये। २. ये **अन्ये**=विलक्षण **मृत्यवः**=रोग **वियन्तु**=सर्वथा दूर चले जाएँ। **यान् इतरान्**=स्वाभाविक मृत्यु से भिन्न जिन रोगों को **शतं आहुः**=संख्या में सौ कहते हैं।

भावार्थ—हम पूर्ण वृद्धावस्थापर्यन्त भद्र शक्तियों से युक्त हुए-हुए सौ वर्ष के दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥
छन्दः—**षट्पदाबृहतीगर्भाजगती**॥

सत्यव्यवहार से मृत्युबन्धनमुक्ति

अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः॥ ८॥

१. हे जीव! **इव**=जैसे **उक्षणं गाम्**=शक्ति का सेचन करनेवाले वृषभ को **रज्ज्वा**=रस्सी से बाँधते हैं, इसीप्रकार **त्वा**=तुझे **जरिमा**=यह जरा **अभि, अहित**=बाँधती है। **जायमानम्**=उत्पन्न होते हुए ही **त्वा**=तुझे **यः मृत्युः**=जो मृत्यु **सुपाशया**=दृढ़ पाश से **अभ्यधत्त**=बाँधती है, **सत्यस्य हस्ताभ्याम्**=सत्य के हाथों के द्वारा **ते**=तेरी **तम्**=उस मृत्यु को **बृहस्पतिः**=ज्ञान की देवता **उदमुञ्चत्**=छुड़ा देता है। २. मनुष्य उत्पन्न होते ही मृत्यु के बन्धन में बद्ध हो जाता है। सत्य का व्यवहार इसे मृत्यु के बन्धन से छुड़ाता है।

भावार्थ—सत्य का व्यवहार दीर्घजीवन का कारण है।

विशेष—अग्निहोत्र आदि साधनों से दीर्घजीवन प्राप्त करनेवाला यह 'ब्रह्मा' बनता है। यह उत्तम घर का निर्माण करता है। इस घर का वर्णन ही अगले सूक्त में है—

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'ध्रुवा-घृतमुक्षमाणा' शाला

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा।
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम॥ १॥

१. **इह एव**=यहाँ—निश्चित किये हुए स्थान पर ही **शालाम्**=गृह को **ध्रुवाम् निमिनोमि**=स्तम्भ गाड़ने आदि के द्वारा स्थिर करता हूँ। वह स्थिर किया हुआ गृह=घर **घृतं उक्षमाणा**=घृत आदि आवश्यक पदार्थों से सिक्त=भरपूर होता हुआ **क्षेमे तिष्ठाति**=अग्न्यादि की बाधा के राहित्य से कल्याणपूर्वक स्थित हो। २. हे **शाले**=गृह! **तं त्वा**=उस तुझमें **सर्ववीराः**=हम सब वीर **सुवीराः**=उत्तम पराक्रमी **अरिष्टवीराः**=अहिंसित व रोग आदि को कम्पित करके दूर करनेवाले बनकर **उप संचरेम**=गति करें।

भावार्थ—गृह को स्थिर, आवश्यक सामग्री से सम्पन्न व अग्नि आदि की बाधा के राहित्यवाला बनाया जाए। इसमें हम सब वीर, नीरोग व पराक्रमी होकर विचरें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥

'ऊर्जस्वती, पयस्वती, घृतवती' शाला

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय॥ २॥

१. हे **शाले**=गृह! तू **इह एव**=इस स्थान पर ही **ध्रुवा प्रतितिष्ठ**=स्थिर होकर स्थित हो। तू **अश्वावती**=प्रशस्त अश्वोंवाली, **गोमती**=प्रशस्त गौओंवाली व **सूनृतावती**=बालकों की प्रिय, सत्यवाणी से युक्त होकर हमारे **महते सौभाग्य**=महान् सौभाग्य के लिए **उत् श्रयस्व**=उद्गत हो—उत्कृष्ट रूपवाली हो। २. **ऊर्जस्वती**=बल और प्राणशक्तिवाली, **घृतवती**=घृत से युक्त तथा **पयस्वती**=

बहुक्षीरा होती हुई हमारे सौभाग्य के लिए हो।

भावार्थ—घर गौओं, घोड़ों व प्रिय सत्यवाणियों से युक्त हों। ये पौष्टिक अन्न, घृत व दुग्ध से सम्पन्न होते हुए हमारे महान् सौभाग्य के लिए हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

'वत्सः', 'धेनवः सायमास्पन्दमानः'

धरुण्य॑सि शाले बृहच्छ॑न्दाः पूति॑धान्या।
आ त्वा॑ वत्सो ग॑मेदा कु॑मार आ धे॑नवः॑ सा॑यमा॑स्पन्द॑मानाः ॥ ३ ॥

१. हे **शाले**=गृह! तू **धरुणी**=सब भोग्य पदार्थों का धारण करनेवाली **असि**=है अथवा धरुणों से—धारक स्तम्भों से युक्त है, **बृहच्छन्दाः**=प्रभूत आच्छादनों–(वस्त्रों)–वाला व वेद के छन्दों से खूब ही युक्त है, **पूतिधान्या**=पवित्र धान्यों से युक्त है, अथवा पूतिगन्धवाले जीर्ण धान्यों से युक्त है। २. एवंभूत **त्वा**=तुझमें **वत्सः**=प्रिय बछड़ा तथा **कुमारः**=बालक **आगमेत्**=आये तथा **धेनवः**=दूध देनेवाली गौएँ **सायम्**=सायंकाल **आस्पन्दमानाः**=कूदती–फाँदती **आ (गमेत्)**=आएँ। गौएँ चरने के लिए बाहर खुली हवा में दिन बिताकर सायं लौटें। 'वत्सः कुमारः' शब्दों का प्रयोग यही कह रहा है कि इस शाला में गौएँ वत्स समेत हों और स्त्रियाँ कुमार समेत हों।

भावार्थ—घर में भोग्यपदार्थों और वस्त्रों की कमी न हो, यह धन–धान्य युक्त हो। इसमें गौएँ बछड़ों से युक्त हों और स्त्रियाँ स्वस्थ कुमारोंवाली हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सविता, वायुः, इन्द्रः, बृहस्पतिः

इ॒मां शाला॑ं सवि॒ता वा॒युरिन्द्रो॒ बृह॒स्पति॒र्नि मि॑नोतु प्रजा॒नन्।
उ॒क्षन्तू॒द्ना म॒रुतो॑ घृ॒तेन॒ भगो॑ नो॒ राजा॒ नि कृ॒षिं त॑नोतु ॥ ४ ॥

१. **इमां शालाम्**=इस घर को **सविता**=निर्माण की वृत्तिवाला, **वायुः**=क्रियाशील, **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय, **बृहस्पतिः**=ज्ञानी पुरुष **प्रजानन्**=सम्यक् जानता हुआ **निमिनोतु**=स्तम्भ आदि गाड़ने के द्वारा स्थिर बनाएँ। इस शाला में सूर्य–किरणों, सविता व वायु का प्रवेश ठीक से हो तथा इसमें रहनेवाले जितेन्द्रिय (इन्द्र) व ज्ञानी (बृहस्पति) हों। २. **मरुतः**=वृष्टि लानेवाली वायुएँ इन घरों को **उद्ना**=उदक से और परिणामतः **घृतेन**=घृत से **उक्षन्तु**=सिक्त करें। वृष्टि होकर घास आदि के प्राचुर्य से पशुओं का चारा ठीक मिलता है और फिर दूध–घी की कमी नहीं रहती। ३. इस राष्ट्र में **भगः**=ऐश्वर्य की वृद्धि करनेवाला **राजा**=प्रशासक **नः**=हमारे लिए **कृषिम्**=कृषि को **निमिनोतु**=निश्चय से विस्तृत करे, कृषि द्वारा प्रभूत अन्न उपजाने की व्यवस्था करे।

भावार्थ—घर में सूर्य की किरणें व वायु का प्रवेश ठीक हों। इसमें जितेन्द्रिय व ज्ञानी पुरुषों का वास हो। वायुएँ वृष्टि को लानेवाली हों। राजा भी कृषि के विस्तार का ध्यान करे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'शरणा स्योना' शाला

मान॑स्य पत्नि श॒रणा॑ स्यो॒ना दे॒वी दे॒वेभि॒र्निमि॑ता॒स्यग्रे॑।
तृणं॒ वसा॑ना सु॒मना॑ अस॒स्त्वमथा॒स्मभ्यं॑ स॒हवी॑रं र॒यिं दाः ॥ ५ ॥

१. **मानस्य पत्नि**=सन्मान की रक्षिका शाले! अथवा मीयमान (मापे–तोले जानेवाले) धान्य

की पालयित्रि! तू **शरणा**=हमें शरण देनेवाली है, **देवी**=द्योतमान—प्रकाशमान है। तू **अग्रे**=सर्वप्रथम **देवेभिः**=देवों के द्वारा **निमिता असि**=मानपूर्वक बनाई गई है। २. **तृणं वसाना**=तृण को अपने ऊपर आच्छादित करती हुई **त्वम्**=तू **सुमनाः असः**=उत्तम मनवाली हो—तुझमें रहनेवाले सभी व्यक्ति प्रसन्नचित्त हों। **अथ**=अब **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सहवीरम्**=वीर पुत्रों के साथ **रयिं दाः**=धन प्रदान कर।

भावार्थ—घर बड़े माप से बनाया जाए। यह हमें शरण देनेवाला और सुखदायी हो। तृणों से छता हुआ यह गृह हमें शीतोष्ण से बचानेवाला हो। इसमें रहनेवाले सब उत्तम मनवाले, उत्तम सन्तानोंवाले और सम्पन्न हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**शक्वरीगर्भाजगती** ॥

शतं जीव शरदः सर्ववीराः

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून्।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥ ६ ॥

१. हे **वंश**=बाँस! तू **ऋतेन**=अपने ऋत से (Right)—सीधेपन से **स्थूणाम्**=स्तम्भ पर **अधिरोह**=आरोहण करनेवाला हो। खम्भों पर सीधे बाँस रक्खे जाएँ। **उग्रः**=खूब तेजस्वी—दृढ़ **विराजन्**=विशिष्ट रूप से दीप्त होता हुआ तू **शत्रून्**=हमारे शत्रुरूप शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों को **अपवृङ्क्ष्व**=काटनेवाला हो—सरदी-गरमी आदि से तू बचानेवाला हो। २. हे **शाले**=भवन! **ते गृहाणाम्**=तेरे कमरों में **उपसत्तारः**=निवास करनेवाले **मा रिषन्**=हिंसित न हों। हम **सर्ववीराः**=घर में रहनेवाले सब वीर बनकर **शतं शरदः**=सौ वर्ष तक **जीवेम**=जीएँ।

भावार्थ—घर हमें सरदी-गरमी आदि से रक्षित करनेवाला हो। इसमें रहनेवाले सभी जन वीर व दीर्घजीवी हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**आर्ष्यनुष्टुप्** ॥

दधि+मधु

एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह।
एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः ॥ ७ ॥

१. **इमाम्**=इस शाला में **तरुणः**=वासनाओं को तैर जानेवाला **कुमारः**=कुमार आ (गच्छतु) प्राप्त हो। **वत्सः**=बछड़ा **जगता सह**=गमनशील गौ आदि में साथ **आ (गच्छतु)**=प्राप्त हो। २. **इमाम्**=इस शाला को **परिस्रुतः**=प्रस्रवणशील शहद आदि का भरा हुआ **कुम्भः**=घड़ा **आ**=प्राप्त हो। ये घड़े **दध्नः कलशैः**=दही के कलशों=घड़ों के साथ **अगुः**=प्राप्त हों।

भावार्थ—घर में तरुण कुमारों व बछड़ों का आगमन हो। यहाँ दधि-घटों के साथ शहद के कुम्भ प्राप्त हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'जल, घृत, दुग्ध'-पूर्ण शाला

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामृतेन संभृताम्।
इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ ८ ॥

१. हे **नारि**=गृहपत्नि! **एतम्**=इस **पूर्णं कुम्भम्**=जल से परिपूर्ण घड़े को **प्रभर**=घर में प्राप्त करा तथा **अमृतेन**=सब रोगों के वारक गोदुग्ध से **संभृताम्**=संभृत **घृतस्य धाराम्**=घृत की धारा

को प्राप्त करा। ताज़ा दूध को जमाकर दधि से प्राप्त घृत की धाराएँ प्रतिदिन घर में बहती हों—घृत पर्याप्त मात्रा में हो। २. **इमाम्**=इस घृत की धारा को **पातॄन्**=पीनेवालों को **अमृतेन**=नीरोगता से **समङ्ग्धि**=सन्दीप्त व अलंकृत कर। **इष्टापूर्तम्**=यज्ञ व दान आदि के कार्य **एनाम्**=इस शाला को **अभिरक्षाति**=रक्षित करते हैं।

भावार्थ—घर में जल, ताज़ा दूध व घृत की कमी न हो। इनका सेवन करनेवाले नीरोग बनें रहें। यज्ञ व दान इस शाला का रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अयक्ष्म-जल, अमृत अग्नि

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना॥ ९॥

१. **इमाः**=इन **अयक्ष्माः**=यक्ष्मा से रहित, यक्ष्मा-कृमियों से अनाक्रान्त **यक्ष्मनाशनीः**=यक्ष्मा को, रोग को विनष्ट करनेवाले **आपः**=जलों को **प्रभरामि**=घर में प्राप्त कराती हूँ। २. **अमृतेन**=कभी न मरनेवाले, सदा प्रज्वलित रहनेवाले **अग्निना सह**=यज्ञाग्नि के साथ **गृहान्**=घरों को **उपप्रसीदामि**=समीपता से प्राप्त होती हूँ। घर में यज्ञाग्नि कभी बुझनी नहीं चाहिए—सदा यज्ञ होने ही चाहिएँ।

भावार्थ—घरों में रोगकृमियों से अनाक्रान्त जलों की कमी न हो, यज्ञाग्नि कभी बुझे नहीं।

विशेष—अगले सूक्त में इन जलों का ही वर्णन है। इन जलों को अग्निपक्व करके इनका प्रयोक्ता 'भृगु' (भ्रस्ज पाके) इस सूक्त का ऋषि है—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥

नदनात् 'नद्यः'

यद॒दः सं॑प्रय॒तीरहा॒वन॑दता ह॒ते।
तस्मा॒दा न॒द्यो॑३ नाम॑ स्थ॒ ता वो॒ नामा॑नि सिन्धवः॥ १॥

१. **अदः**=(अमुष्मिन्) उस **अहौ**=आहन्तव्य मेघ के **हते**=ताड़ित होने पर हे जलो! तुम **यत्**=चूँकि **संप्रयतीः**=मिलकर इधर-उधर हुए **अनदत**=शब्द करते हो, **तस्मात्**=इस कारण से तुम **आ**=अभिमुख्येन—अव्यवधानेन ही **नद्यः नाम स्थ**='नद्यः' इस नामवाले हो। २. हे **सिन्धवः**=स्यन्दनशील जलो! **वः**=तुम्हारे **ता**=वे **नामानि**='आपः, उदकम्' आदि नाम भी अन्वर्थ ही हैं।

भावार्थ—मेघ के विद्युत् से आहत होकर बरसने पर ये जल शब्द करते हुए आगे बढ़ते हैं, अतः 'नद्यः' कहलाते हैं (नद शब्दे)।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'आप्यन्ते इति' 'आपः'

यत्प्रेषि॑ता वरु॑णेनाच्छीभं॑ स॒मव॑ल्गत।
तदा॑प्नो॒दिन्द्रो॑ वो य॒तीस्तस्मा॒दापो॒ अनु॑ ष्ठन॥ २॥

१ **यत्**=जब **वरुणेन**=जलों के अधिष्ठातृदेव वरुण प्रभु से **प्रेषिता**=भेजे हुए तुम **आत्**=उस समय **शीभम्**=शीघ्र **सम् अवल्गत**=सम्यक् गतिवाले होते हो, **तत्**=तब **यतीः**=जाते हुए **वः**=तुम्हें

इन्द्रः आप्नोत्=इन्द्रियों का स्वामी जीव प्राप्त करता है, **तस्मात्**=उस कारण से **आपः**='आपः' इस नामवाले **अनुस्थन**=होते हो। इन्हें इन्द्र—जितेन्द्रिय पुरुष ही प्राप्त करता है। आधिभौतिक जगत् में प्रभु से प्राप्त कराये गये जलों को इन्द्र=राजा नहरों आदि के रूप में प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु से प्रेरित जलों को इन्द्र प्राप्त करता है। प्राप्त किये जाने के कारण इनका नाम 'आपः' हो गया है (आप्नोति, प्राप्नोति)।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'वरण व वारण' के कारण 'वार'

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम्।
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद्वार्नाम वो हितम्॥ ३॥

१. **अपकामम्**=बिना ही कामना के **स्यन्दमानाः**=बहते हुए **वः**=तुम्हें **इन्द्रः**=राजा ने **वः**=तुम्हारी **शक्तिभिः**=शक्तियों के हेतु से **हि कम्**=निश्चयपूर्वक तुम्हारा **अवीवरत**=वरण किया है—तुम्हें रोका है। बाँध आदि के द्वारा अपने अधीन करने की कामना की है। २. हे **देवीः**=दिव्य शक्तियोंवाले जलो! अनेक व्यवहारों के साधक जलो! **वः**=तुम्हारा **वाः**='वार' यह **नाम**=नाम **हितम्**=रक्खा है।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में मनमाने बहते हुए जलों को बाँध लगाकर रोकता है और उनकी शक्तियों का विविध व्यवहारों में विनियोग करता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उदानिषुः इति 'उदकम्'

एको वो देवोऽप्यतिष्ठत्स्यन्दमाना यथावशम्।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते॥ ४॥

१. **एकः**=वह अद्वितीय **देवः**=दिव्य गुणों का पुञ्ज प्रभु **यथावशम्**=इच्छानुसार **स्यन्दमानाः**= बहते हुए **वः**=तुम्हें **अप्यतिष्ठत्**=अधिष्ठित करता है। जलों का अधिष्ठाता प्रभु ही तो है। **महीः इति**='हम कितने महान् हैं' कि प्रभु हमारा अधिष्ठाता है, इसप्रकार **उदानिषुः**=जलों ने उच्छ्वास लिया, **तस्मात्**=इस कारण से **उदकम् उच्यते**=इनका नाम उदक हो गया (उत् अन्+क, नकार लोप)। प्रभु से अधिष्ठित ये महनीय जल सबको प्राणित करते हैं, अतः 'उदक' कहलाते हैं।

भावार्थ—उस अद्वितीय प्रभु से अधिष्ठित ये जल सबके लिए जीवन देनेवाले होते हैं, अतः 'उदक' शब्द वाच्य होते हैं (उत् आनयन्ति प्राणयन्ति)।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥

प्राणेन वर्चसा सह

आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत्ताः।
तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत्॥ ५॥

१. **आपः**=ये जल **भद्राः**=भन्दनीय (स्तुत्य) व कल्याणकर हैं। अग्निकुण्ड में आहुतिरूपेण डाले हुए **घृतम् इत्**=घृत ही **आपः असन्**=जलरूप हो जाते हैं (अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिः॥ —मनु० ३.७६)। **ताः आपः**=ये जल **इत्**=निश्चय से **अग्नीषोमौ बिभ्रति**=अग्नि व सोमतत्त्वों को धारण करते हैं। सूर्य-किरणों के सम्पर्क से ये अग्नितत्त्व को धारण करते हैं और चन्द्र-किरणों के सम्पर्क से सोमतत्त्व को धारण करनेवाले

होते हैं। २. **मधुपृचाम्**=मधुर रस से संपृक्त जलों का **रसः**=रस **तीव्रः**=रोगकृमियों के लिए अतितीक्ष्ण है। यह **अरंगमः**=पर्याप्त गमनवाला—कभी क्षीण न होनेवाला है। यह रस **प्राणेन**=प्राणशक्ति के साथ अथवा चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ (प्राणा वाव इन्द्रियाणि) तथा **वर्चसा सह**=वर्चस् (vitality) के साथ **मा आगमेत्**=मुझे प्राप्त हो।

भावार्थ—जल कल्याणकर हैं। अग्निकुण्ड में आहुत घृत ही जल बन जाते हैं। इनमें अग्नि व सोमतत्त्वों का समावेश होता है। इनका तीव्र रस रोगकृमियों को नष्ट करता हुआ मुझे प्राण व वर्चस् प्राप्त कराए।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥

पश्यामि शृणोमि

आदित्पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ्मासाम्।
मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः ॥ ६ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब जलों का तीव्र रस प्राण व वर्चस् के साथ मुझे प्राप्त होता है, तब **आत् इत्**=इसके पश्चात् शीघ्र ही **पश्यामि**=मैं आँखों से ठीक देखने लगता हूँ, **उत वा**=और निश्चय से **शृणोमि**=कानों से सुनने लगता हूँ। उस समय **आसाम्**=इन जलों के रसगमन से **मा**=मुझे **घोषः**=उच्चार्यमाण शब्द **आगच्छति**=प्राप्त होता है और **वाक्**=वागिन्द्रिय इत्यादि कर्मेन्द्रियाँ भी **मा**=मुझे प्राप्त होती हैं। जलों के ठीक प्रयोग से सब ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ ठीक हो जाती हैं। २. हे **हिरण्यवर्णाः**=हितरमणीय वर्णों से युक्त जलो! **यदा**=जब **वः**, **अतृपम्**=तुम्हारे रस के सेवन से तृप्त होता हूँ **तर्हि**=तब **अमृतस्य भेजानः**='अमृत का ही सेवन कर रहा हूँ' इसप्रकार **मन्ये**=मानता हूँ (तर्कयामि)।

भावार्थ—जलों के रस के सेवन से मैं देखता हूँ, सुनता हूँ, बोलता हूँ और ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं अमृत का ही सेवन कर रहा हूँ—नीरोगता का अनुभव करता हूँ।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋतावरी+शक्वरी

इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः। इहेत्थमेत शक्वरीर्यत्रेदं वेशयामि वः ॥ ७ ॥

१. हे **आपः**=जलो! **इदं हृदयम्**=यह मेरा हृदय **वः**=आपका है। मैं हृदय में आपके महत्त्व को समझता हूँ। हे **ऋतावरीः**=सत्य व यज्ञ आदि ऋतोंवाले जलो! **अयम्**=यह मैं **वत्सः**=आपका प्रिय हूँ। जलों के महत्त्व को समझनेवाला यह पुरुष जल-प्रिय बन जाता है। २. हे **शक्वरीः**=शक्ति देनेवाले जलो! **इह**=यहाँ—हमारे शरीर में **इत्थम्**=इसप्रकार ही **एत**=प्राप्त होओ, अर्थात् शरीर में प्रविष्ट होकर तुम शक्ति देनेवाले होओ। **यत्र**=जहाँ शरीर में **इदम्**=(इदानीम्) अब मैं **वः**=आपको **वेशयामि**=प्रवेश कराता हूँ, वहाँ आप शरीर में शक्ति देनेवाले होओ और मन में ऋत का स्थापन करो।

भावार्थ—ठीक प्रकार से विनियुक्त हुए-हुए जल हमारे शरीरों को शक्तिशाली बनाएँ और हृदयों को ऋत (सत्य व यज्ञ) से युक्त करें।

विशेष—अगले सूक्त का विषय 'गोष्ठ' है। गोष्ठवाला व्यक्ति ही 'ब्रह्मा' बनता है। ब्रह्मा बनने के लिए गोपालन आवश्यक है। गौओं का मानव जीवन के निर्माण में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके दूध का प्रयोग करनेवाला व्यक्ति, 'नीरोग, निर्मल व दीप्त' बनता है। उन्नत होता हुआ यह 'ब्रह्मा' (great) बन जाता है। यही इस सूक्त का ऋषि है।

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अहर्जात

सं वो गोष्ठेन सुषदा सं रय्या सं सुभूत्या।
अहर्जातस्य यन्नाम तेना वः सं सृजामसि॥ १ ॥

१. हे गौओ! हम **वः**=तुम्हें **सुषदा**=(सुखेन सीदन्ति अत्र) सुखपूर्वक निवासवाली **गोष्ठेन**=गोशाला से **संसृजामसि**=संसृष्ट करते हैं, **रय्या**=(रयि=water) उत्तम जलों से **सम्**=संसृष्ट करते हैं, **सुभूत्या**=उत्पन्न होनेवाले उत्तम पदार्थों से **सम्**=संसृष्ट करते हैं। (सूयवसात्.... पिब शुद्धमुदकम् । अथर्व० ७.७३.११) गौओं का निवास स्थान भी उत्तम (स्वच्छ) बनाते हैं, उत्तम घास (यवस्) खिलाते हैं, शुद्ध पानी पिलाते हैं। २. **अहर्जातस्य**=(अहनि अहनि जातं यस्मात्) प्रतिदिन जिसके द्वारा विकास होता है, उसका **यत् नाम**=जो नाम है **तेन**=उस नाम से **वः संसृजामसि**=तुम्हें संसृष्ट करते हैं, अर्थात् इन गौ के दूध से प्रतिदिन सब शक्तियों का विकास होता है, अतः यह गौ भी 'अहर्जात' है।

भावार्थ—गौओं का निवासस्थान भी साफ़-सुथरा हो, पानी भी शुद्ध हो, यवस् भी उत्तम हो। ऐसा होने पर ये गौएँ हमारे लिए 'अहर्जात' हो जाती हैं। इनके दुग्ध से प्रतिदिन सब शक्तियों का विकास होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अर्यमा, पूषा, बृहस्पति, इन्द्र'

सं वः सृजत्वर्यमा सं पूषा सं बृहस्पतिः। समिन्द्रो यो धनंजयो मयि पुष्यत यद्वसु॥ २ ॥

१. हे गौओ! **अर्यमा**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नियमन करनेवाला **वः**=तुम्हें **संसृजतु**=अपने साथ संसृष्ट करे। गोदुग्ध के प्रयोग से सात्त्विक वृत्तिवाला बनकर यह काम, क्रोध आदि को वश में करनेवाला बनता है। **पूषा**=अपना पोषण करनेवाला **सम्**=इन गौओं को अपने साथ संसृष्ट करे। गोदुग्ध शरीर का उत्तम पोषण करनेवाला है। **बृहस्पतिः**=ज्ञानियों का भी ज्ञानी **सम्**=तुम्हें अपने साथ जोड़े। गोदुग्ध से सात्त्विक बुद्धि होती है। इसप्रकार यह गोदुग्ध हमें शरीर के दृष्टिकोण से 'पूषा', मन के दृष्टिकोण से 'अर्यमा' व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से बृहस्पति बनता है। २. **यः**=जो **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **धनञ्जयः**=धनों का विजय करनेवाला है वह **सम्**=इन गौओं को अपने साथ संसृष्ट करे, अर्थात् गोदुग्ध हमें 'धनञ्जय इन्द्र' बनने में सहायक होता है। हे गौओ! तुम **यत् वसु**=जो भी वसु है, निवास के लिए आवश्यक धन है, उसे **मयि पुष्यत**=मुझमें पोषित करो। गोदुग्ध मुझे सब वसुओं को प्राप्त करानेवाला हो।

भावार्थ—गोदुग्ध का प्रयोग हमें 'अर्यमा, पूषा, बृहस्पति व इन्द्र' बनाता है। यह हमारे जीवन में वसुओं का पोषण करता है। गौ को अर्थवेद ७.७३.८ में 'वसुपत्नी वसूनाम्' कहा गया है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अबिभ्युषीः अनमीवाः' गौएँ

संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन्गोष्ठे करीषिणीः। बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन॥ ३ ॥

१. **अस्मिन् गोष्ठे संजगमानाः**=इस गोशाला में मिलकर रहती हुई अथवा वत्सों से संगत होती हुई **अबिभ्युषीः**=निर्भय=व्याघ्रादि के भय से रहित **करीषिणीः**=गोबर का उत्तम

खाद उत्पन्न करनेवाली गौएँ **उपेतन**=हमारे पास आएँ। जिन गौओं को हिंस्रपशुओं का भय होता है, उनके दूध में कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं। २. हे गौओ ! तुम **अनमीवाः**=सब प्रकार के रोगों से रहित, अतएव **सोम्यं मधु बिभ्रतीः**=शान्त मधुररस—दूध को धारण करती हुई प्राप्त होओ।

भावार्थ—गौओं को किसी प्रकार का भय प्राप्त न हो। वे सब प्रकार के रोगों से रहित हों। ऐसी गौएँ शान्ति देनेवाला तथा मधुर रसवाला दूध प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

समृद्ध होती हुई गौएँ हमारा पोषण करें

इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत। इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः॥ ४॥

१. हे **गावः**=गौओ! **इह एव**=यहाँ ही **एतन**=आओ—हमारे गोष्ठ में तुम्हारी स्थिति हो। **इह उ**=और यहाँ ही **शका इव पुष्यत**=समर्था गृहपत्नी के समान पोषण करनेवाली होओ **उत**=और इह **एव**=यहाँ और यहाँ ही **प्रजायध्वम्**=बच्चों (बछड़े-बछड़ियों) से बढ़ो। **मयि**=मेरे विषय में **वः**=तुम्हारा **संज्ञानम्**=प्रेम **अस्तु**=हो।

भावार्थ—हमारे गोष्ठ में वृद्धि को प्राप्त होती हुई गौएँ हमारा पोषण करनेवाली हों। उन गौओं के साथ हमारा प्रेम हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शिवः गोष्ठः

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत।
इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि॥ ५॥

१. हे गौओ! **गोष्ठः**=यह गोशाला **वः**=तुम्हारे लिए **शिवः भवतु**=कल्याणकर हो। इसमें स्थित हुई-हुई तुम **शारिशाका इव**=शालिधान्य की शक्ति की भाँति **पुष्यत**=हमारा पोषण करनेवाली होओ। जैसे यह धान्य हमारे रोगों को शीर्ण करता हुआ हमारी शक्ति का वर्धन करता है, उसी प्रकार ये गौएँ अपने दूध से हमारा पोषण करें। २. **उत**=और हे गौओ! **इह एव**=यहाँ ही **प्रजायध्यम्**=सन्तानों से वृद्धि को प्राप्त होओ। हम **मया**=अपने साथ **वः**=तुम्हें **संसृजामसि**=संसृष्ट करते हैं।

भावार्थ—गौओं के लिए गोष्ठ सुखद हो। इस गोष्ठ में स्थित गौएँ शालिधान्य की शक्ति की भाँति हमें शक्ति प्राप्त करानेवाली हों। इन बढ़ती हुई गौओं का हमारे साथ सम्बन्ध हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**॥

गोपति के साथ गौओं का मेल

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः।
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम॥ ६॥

१. हे **गावः**=गौओ! **गोपतिना**=गौओं के रक्षक **मया**=मेरे साथ **सचध्वम्**=तुम्हारा मेल हो **इह**=इस घर में **अयं गोष्ठः**=यह गोष्ठ **वः, पोषयिष्णुः**=तुम्हारा पोषक हो। २. **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से **बहुलाः**=बहुत संख्यावाली **भवन्तीः**=होती हुई **जीवन्तीः**=जीवन शक्ति से युक्त **वः**=तुम्हें **जीवाः**=जीवनशक्ति से युक्त हम **उपसदेम**=समीपता से प्राप्त हों। जितना हमारा धन का पोषण हो उतना ही हम गौओं के बढ़ानेवाले हों। गौएँ ही हमें जीवनशक्ति प्राप्त कराएँगी।

भावार्थ—हमारे गोष्ठ में गौओं का पोषण हो और गौएँ हमारा पोषण करनेवाली हों।

विशेष—अगले सूक्त का विषय वाणिज्य है। इसका ऋषि 'अथर्वा' है, जो प्रलोभनवश डाँवाडोल नहीं हो जाता (न थर्वति)। यह धर्म के मार्ग से ही धन कमाता है। वह कामना करता है—

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

'महान् वणिक्' इन्द्र

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्॥ १॥

१. **अहम्**=मैं **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली **वणिजम्**=महान् वाणिज्यकर्ता प्रभु को (देहि मे ददामि ते०—यजु:०) **चोदयामि**=इस बात के लिए प्रेरित करता हूँ कि **सः**=वह **नः**=हमें **ऐतु**=प्राप्त हो और प्राप्त होकर हमारा **पुरः एता**=आगे चलनेवाला—पथ-प्रदर्शक हो। हम अपने सब व्यवहार प्रभु-स्मरणपूर्वक करें। २. **अरातिम्**=वाणिज्य-विघातक शत्रुओं को **परिपन्थिनम्**=मार्गनिरोधक चोरों को और **मृगम्**=व्याघ्र आदि को भी **नुदन्**=हमारे मार्ग से दूर करते हुए ये **ईशानः**=नियन्ता ईश्वर **मह्यम्**=मेरे लिए **धनदाः, अस्तु**=वाणिज्यलाभरूप धनों के प्रदाता हों। ३. प्रभु सबसे बड़े वणिक् हैं। जैसा हम कर्म करते हैं, वैसा ही वे फल देते हैं—न कम, न अधिक। इस प्रभु का स्मरण हमें वाणिज्य में सफल करनेवाला हो। यदि हम प्रभु-स्मरण करेंगे तो कुटिलता व छल-छिद्र से दूर रहेंगे।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरणपूर्वक व्यापार करें, प्रभु ही हमारे पथ-प्रदर्शक हों। हमारे मार्ग में 'अराति, परिपन्थी व मृग' विघातक न हों।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**पन्थानः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मार्गों में खान-पान की व्यवस्था का ठीक होना

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि॥ २॥

१. **ये**=जो **देवयानाः**=(दीव्यन्ति व्यवहरन्ति इति देवा वणिजः, ते यत्र यान्ति) व्यापारियों के आने-जाने के **बहवः पन्थानः**=बहुत-से मार्ग **द्यावापृथिवी अन्तरा**=द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में **संचरन्ति**=(वर्तन्ते) हैं, **ते**=वे सब मार्ग **मा**=मुझे **घृतेन**=दूध-घृत आदि—जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक पदार्थों से **जुषन्ताम्**=सेवन करनेवाले हों। इन मार्गों में खान-पान की सब व्यवस्था बड़ी ठीक हो। २. **यथा**=जिससे मैं **क्रीत्वा**=क्रय-विक्रय करके **धनम्**=लाभसहित मूलधन को **आहराणि**=अपने घर में लानेवाला बनूँ।

भावार्थ—व्यापार के लिए जिन मार्गों में आना-जाना होता है, वहाँ खान-पान आदि की सुव्यवस्था हो, जिससे स्वस्थ रहकर हम ठीक से व्यापार कर सकें।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'अग्निहोत्र व प्रभु-वन्दन' से व्यवहार में कुशलता

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम्॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **इच्छमानः**=वाणिज्यलाभ की कामना करता हुआ मैं **इध्मेन**=इन्धनसाधन

समित् समूह से (समिधाओं से) **घृतेन**=घृत के साथ **हव्यम्**=हवि को **जुहोमि**=आहुत करता हूँ, जिससे मुझमें **तरसे**=वेग—शीघ्र-गमनशक्ति हो तथा **बलाय**=शरीर का समार्थ्य बना रहे। २. **यावत्**=जितना-जितना मैं **ईशे**=ईश व धन-सम्पन्न बनता हूँ, उतना ही **ब्रह्मणा**=स्तोत्ररूप मन्त्रों से **वन्दमानः**=आपका वन्दन करता हुआ **इमाम्**=इस **देवीम्**=द्योतमान व्यवहार-कुशल **धियम्**=बुद्धि को **शतसेयाय**=असंख्यात धन लाभ के लिए करता हूँ। प्रभु-स्मरणपूर्वक मुझे वह व्यवहार-कुशल बुद्धि प्राप्त होती है, जोकि मेरे लिए खूब लाभ का साधन बनती है।

भावार्थ—अग्निहोत्र से मैं शरीर में वेग व बल का सम्पादन करता हूँ। प्रभु-वन्दन से बुद्धि को व्यवहार-कुशल बनता हूँ, इसप्रकार खूब ही धन-लाभवाला होता हूँ।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**प्रपणः विक्रयश्च**॥ छन्दः—**षट्पदाबृहतीगर्भा-विराडत्यष्टिः**॥

प्रपणः विक्रयः च

इमाम॑ग्ने श॒रणिं॑ मीमृषो नो॒ यमध्वा॑न॒मगा॑म दू॒रम्।
शु॒नं नो॑ अस्तु प्र॒प॒णो वि॒क्र॒यश्च॑ प्रति॒प॒णः फ॒लिनं॑ मा कृणोतु।
इ॒दं ह॒व्यं सं॑विदा॒नौ जु॑षेथां शु॒नं नो॑ अस्तु च॒रि॒तमुत्थि॑तं च॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नः**=हमारी **इमम्**=इस **शरणिम्**=प्रवास के कारण होनेवाली व्रतलोपरूपी हिंसा को **मीमृषः**=क्षमा (सहन) करो, चूँकि **यम् दूरं अध्वानम् अगाम**=जिन दूर मार्ग पर हम आये हुए हैं, मार्ग में सब सुविधा न होने से हम अग्निहोत्र के व्रत का पालन नहीं कर सके हैं, उसे आप क्षमा करेंगे। २. आपकी कृपा से **नः**=हमारा **प्रपणः**=क्रय **च**=और **विक्रयः**=विक्रय **शुनं अस्तु**=सुखप्रद हो। **प्रतिपणः**=वस्तुओं का लौट-फेर **मा**=मुझे **फलिनं कृणोतु**=फलवाला करे। हे इन्द्र और अग्ने! **संविदानौ**=आप ऐकमत्य को प्राप्त हुए-हुए **इदं हव्यं जुषेथाम्**=इस हव्य का सेवन करें। **नः**=हमारे **चरितम्**=सब व्यापार-व्यवहार **उत्थितं च**=और उससे होनेवाला लाभ **शुनं अस्तु**=सुखदायक हो।

भावार्थ—मार्ग में घर से दूर होने पर कई बार अग्निहोत्र आदि व्रतों का लोप हो जाता है, उसे प्रभु क्षमा करेंगे। प्रभु के अनुग्रह से हमारा क्रय-विक्रय सुखद हो। वस्तुओं का विनिमय लाभप्रद हो। व्यापार व व्यवहारजनित सब लाभ सुखकारी हों। इन्द्र और अग्नि की हमें अनुकूलता प्राप्त हो। प्रभु-वन्दन व अग्निहोत्र से हमारा व्यापार सफल हो।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**देवाः, अग्निः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥

भूयः, न तु कनीयः

येन॒ धने॑न प्र॒प॒णं चरा॑मि॒ धने॑न देवा॒ धन॑मि॒च्छमा॑नः।
तन्मे॒ भूयो॑ भवतु॒ मा कनी॒योऽग्ने॑ सात॒घ्नो दे॒वान्ह॒विषा॒ नि षे॑ध॥ ५॥

१. हे **देवाः**=सब व्यवहारों के साधक देवो! **धनेन**=मूलधन से **धनम्**=वृद्धियुक्त धन को **इच्छमानः**=चाहता हुआ मैं **येन धनेन्**=जिस धन से **प्रपणं चरामि**=क्रय करता हूँ **तत्**=वह **मे**=मेरा धन **भूयः भवतु**=बहुतर हो जाए, बढ़ ही जाए, **कनीयः**=अल्पतर **मा**=मत हो जाए। २. **अग्ने**=व्यापार में प्रगति प्राप्त करानेवाले प्रभो! **सातघ्नः**=लाभ के प्रतिबन्धक **देवान्**=(दीव्यन्ति) सट्टे आदि का व्यापार करनेवालों को **हविषा निषेध**=हवि के द्वारा हमसे दूर कर दें। त्यागपूर्वक अदन (खाने) की वृत्ति को (हवि को) प्राप्त करके हम इन द्यूत-व्यापारों से दूर रहें।

भावार्थ—हम व्यापार में द्यूत आदि व्यवहारों से दूर रहते हुए अपने धनों का सदा वर्धन

करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**देवाः, इन्द्रः, प्राजपतिः, सविता, सोमः, अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इन्द्रः, प्रजापतिः, सविता, सोमः, अग्निः

येन॒ धने॑न प्रप॒णं चरा॑मि॒ धने॑न देवा॒ धन॑मि॒च्छमा॑नः।
तस्मि॒न्म॒ इन्द्रो॑ रु॒चिमा द॑धातु प्र॒जाप॑तिः सवि॒ता सोमो॑ अ॒ग्निः॥ ६॥

१. **येन**=जिस **धनेन**=मूलधन से **प्रपणम् चरामि**=क्रय करता हूँ, हे **देवाः**=व्यवहारसाधक देवो! इस **धनेन**=धन से **धनम् इच्छमानः**=वृद्धियुक्त धन को चाहता हुआ मैं ऐसा करता हूँ। २. **तस्मिन्**=उस व्यवहार में **इन्द्रः**=जितेन्द्रियता की देवता **मे**=मेरी **रुचिम्**=रुचि को **आदधातु**=धारण करे, जितेन्द्रिय बनकर मैं उस व्यापार को रुचि से करूँ। **प्रजापतिः**=प्रजा का रक्षक देव, अर्थात् प्रजा के—सन्तान के पालन की भावना मुझे उसमें रुचिवाला करे। इसीप्रकार **सविता**=निर्माण की भावना, **सोमः**=सौम्यता का भाव और **अग्निः**=प्रगति की भावना मुझे उसमें रुचिवाला करे। 'सोमः' शब्द सौम्यता का प्रतिपादन करता हुआ यह स्पष्ट कर रहा है कि एक व्यापारी को अवश्य सौम्य स्वभाव का बनना है, उग्र स्वभाव नहीं।

भावार्थ—मैं जितेन्द्रिय, सन्तान के रक्षण की भावनावाला, निर्माता, सौम्य व प्रगतिवाला बनकर अपने व्यापार को रुचि से करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**वैश्वानरः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नमसा उपस्तुमः

उप॑ त्वा॒ नम॑सा व॒यं होत॑र्वैश्वानर स्तुमः। स नः॑ प्र॒जास्वा॒त्मसु॒ गोषु॑ प्रा॒णेषु॑ जागृहि॥ ७॥

१. हे **होतः**=सब पदार्थों के देनेवाले **वैश्वानर**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपको प्राप्त होकर **नमसा**=नमन के साथ **उपस्तुमः**=स्तुत करते हैं। प्रातः-सायं नम्रतापूर्वक आपकी स्तुति करते हैं। २. **सः**=वे आप **नः**=हमारी **प्रजासु**=प्रजाओं के विषय में **आत्मसु**=हमारे विषय में तथा **गोषु, प्राणेषु**=हमारी इन्द्रियों और प्राणों के विषय में **जागृहि**=सदा जाग्रत् रहिए। इनका रक्षण आपको ही तो करना है।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं नम्रता से प्रभु का स्तवन करें, प्रभु ही हमारी सन्तानों व हमारा रक्षण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**जातवेदः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥

प्रभु के प्रतिवेश बनें

वि॒श्वाहा॑ ते॒ सद॒मिद्भ॑रे॒माश्वा॑येव॒ तिष्ठ॑ते जातवेदः।
रा॒यस्पोषे॑ण॒ समि॒षा मद॑न्तो॒ मा ते॑ अग्ने॒ प्रति॑वेशा रिषाम॥ ८॥

१. **जातवेदः**=सर्वज्ञ (विद ज्ञाने) व सर्वव्यापक (विद सत्तायाम्) प्रभो! **अश्वाय इव**=(अश्नुते कर्मसु) सदा कर्मों में व्याप्त के समान **तिष्ठते**=स्थित **ते**=आपके लिए हम **विश्वाहा**=बस दिन, **सदम् इत्**=सदा ही **भरेम्**=हवि देनेवाले हों। हवि के द्वारा ही तो आपका पूजन होता है। २. हवि के द्वारा आपका पूजन करते हुए हम **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से व **इषा**=सात्त्विक अन्न से **समदन्तः**=सम्यक् आनन्द का अनुभव करते हुए हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **ते प्रतिवेशाः**=उपासना द्वारा आपके प्रत्यासन्न (निकटतम) बनें और **मा रिषाम्**=हिंसित न हों।

भावार्थ—उस 'जातवेदस्, अश्व, अग्नि' प्रभु का हवि के द्वारा पूजन करते हुए हम धन

के पोषण व उत्तम अन्न से आनन्दित हों। प्रभु के प्रत्यासन्न होते हुए हम कभी पतित न हों।

विशेष—प्रभु का प्रतिवेश बननेवाला यह उपासक 'अथर्वा' होता है, न डाँवाडोल तथा आत्मनिरीक्षक (न थर्वति, अथ अर्वाङ्)। यह कल्याण के लिए प्रभु से 'प्रातरग्निम्' इन मन्त्रों से प्रार्थना करता है—

अथ षष्ठः प्रपाठकः

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्नीन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आर्षीजगती** ॥

कैसा जीवन?

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे॥ १॥

१. जीवन के प्रभात में हम **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं, अपने अन्दर प्रगति की भावना को भरते हैं। **प्रातः**=प्रातःकाल में **इन्द्रम्**=जितेन्द्रियता की भावना को अपने में भरते हैं। सारी प्रगति जितेन्द्रियता पर ही निर्भर है। २. **प्रातः**=प्रातःकाल हम **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता की देवता को पुकारते हैं और **प्रातः**=इस प्रातःकाल में **अश्विना**=प्राणापान को पुकारते हैं। प्राण-साधना ही हमें द्वेष से दूर करके स्नेहवाला बनाती है। ३. **प्रातः**=प्रातःकाल हम **भगम्**=ऐश्वर्य की देवता को पुकारते हैं जो **पूषणम्**=हमारा पोषण करनेवाली है तथा **ब्रह्मणस्पतिम्**=ज्ञान का रक्षण करनेवाली है। ४. **प्रातः**=प्रातःकाल में हम **सोमम्**=सौम्यता व विनीतता के देवता को **हवामहे**=पुकारते हैं **उत**=और **रुद्रम् (हवामहे)**=रुद्र की अराधना करते हैं, शत्रुओं के लिए रुद्र बनते हैं।,

भावार्थ—हम प्रातःकाल जितेन्द्रियता, द्वेषशून्यता, स्नेहशीलता, सौम्य व रुद्र भावनाओं को अपने जीवन में धारण करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः=—**त्रिष्टुप्** ॥

कौन-सा धन?

प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥ २॥

१. हम **प्रातः**=प्रतिदिन प्रातःकाल **जितम्**=पुरुषार्थ से कमाये **भगम्**=धन को **हवामहे**=पुकारते हैं, जोकि **उग्रम्**=हमें तेजस्वी बनता है। **वयम्**=हम उस धन को चाहते हैं जोकि **पुत्रम्**=(पुनाति त्रायते) हमें पवित्र करता और हमारा रक्षण करता है और **यः**=जो **अदितेः**=(अ+दिति) स्वास्थ्य का **विधर्ता**=विशेषरूप से धारण करनेवाला है। २. हम उस धन को चाहते हैं **यम्**=जिसे **आध्रः चित्**=पोषण योग्य भी **भक्षि इति आह**='मैं इसे खाता हूँ' ऐसा कहता है। इसके अतिरिक्त **मन्यमानः**=मनुष्यों के आदरणीय **तुरः**=बुराइयों के संहार में प्रवृत्त सुधारक पुरुष **चित्**=भी इस धन में भागी होता है और **राजाचित्**=कर-रूप में राजा भी इसमें भाग ग्रहण करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

धन व प्रशस्त जीवन

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम॥ ३॥

१. हे **भग**=सेवनीय धन! **प्रणेतः**=तू हमें प्रकर्षेण आगे ले-चलनेवाला है। **भग**=हे ऐश्वर्य की देवते! तू ही **सत्याराधः**=सत्य कार्यों को सिद्ध करनेवाला है। **भग**=ऐश्वर्य! तू **नः**=हमारे लिए **ददत्**=सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करता हुआ **इमां धियम्**=इस बुद्धि को **उत् अव**=उत्कृष्टरूप से रक्षित कर। २. हे **भग**=ऐश्वर्य! तू **नः**=हमें **गोभिः**=गोओं व **अश्वैः**=घोड़ों से **प्रजनय**=प्रकृष्ट विकासवाला बना। हे **भग**=ऐश्वर्य! हम तेरे सद्व्यय से **नृभिः**=मनुष्यों से **नृवन्तः**=प्रशस्त मनुष्योंवाले **प्रस्याम**=हों—हमारे सब पारिवारिक जन प्रशस्त जीवनवाले हों।

भावार्थ—ऐश्वर्य की प्राप्ति से हम सर्वविध फूलें-फलें व समुन्नत हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥

'प्रातः, मध्याह्न व सायं' का भग

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥

१. हम **उत**=निश्चय से **इदानीम्**=इस जीवन के प्रातःकाल में—प्रथम सवन (२४ वर्ष की अवस्था तक) में **भगवन्तः**='ऐश्वर्य व धर्म'-रूप भगवाले **स्याम**=हों, **उत**=और **अह्नां मध्ये**=जीवन के मध्यभाग—द्वितीय सवन (गृहस्थ) में यशयुक्त और श्री सम्पन्न बनें, **उत**=तथा **प्रपित्वे**=जीवन के ढलने पर तृतीय सवन (वानप्रस्थ और संन्यास) में हम 'ज्ञान-वैराग्य' रूप धनवाले हों। इसप्रकार जीवन को छह भगों से पूर्ण बनाकर **वयम्**=हम हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशाली प्रभो! **उत**=निश्चय से **सूर्यस्य उदितौ**=सूर्य के उदय होते ही **देवानाम्**=माता-पिता आदि देवों की **सुमतौ**=कल्याणकारी मति में **स्याम**=सदा निवास करें।

भावार्थ—हम जीवन के षड्विध ऐश्वर्य को प्राप्त करें और सदा देवों की सुमति में रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभुरूप धन

भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेना वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुरएता भवेह ॥ ५ ॥

१. **देवाः**=हे देवा! आपकी कृपा से हम यह समझ लें कि **भगः एव**=एश्वर्य के पुञ्ज प्रभु ही भगवान् **अस्तु**=ऐश्वर्य हैं—प्रभु को ही अपना सच्चा ऐश्वर्य समझें। **तेन**=उस प्रभु से ही **वयम्**=हम **भगवन्तः**=ऐश्वर्यवाले **स्याम**=हों। २. हे **भग**=प्रभुरूप ऐश्वर्य! **तं त्वा**=उस आपको **इत्**=ही **सर्वः जोहवीमि**=सब मनुष्य और मैं भी पुकारता हूँ। हे **भग**=ऐश्वर्य के पुञ्ज प्रभो! **सः**=वे आप **इह**=इस जीवन में **नः**=हमारे लिए **पुरः एता**=पथ-प्रदर्शक **भव**=होओ।

भावार्थ—हम प्रभु को ही वास्तविक धन समझें, कष्टों में उसे ही पुकारें, वही हमारा पथ-प्रदर्शक हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञ व ध्यान

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥ ६ ॥

१. **उषसः**=उषाकाल **अध्वराय**=यज्ञ के लिए **संनमन्त**=संगत हो, उसी प्रकार **इव**=जैसेकि **दधिक्रावा**=(दधत् क्रामति) धारण करते हुए गति करनेवाले प्रभु **शुचये पदाय**=हृदयरूप पवित्र स्थान के लिए संगत होते हैं, अर्थात् उषाकाल में ध्यान द्वारा हृदयों को पवित्र बनाते हुए प्रभु

दर्शन करें और यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हों। २. **वाजिनः**=शक्तिशाली घोड़े **इव**=जिस प्रकार **रथम्**=रथ को लक्ष्य पर पहुँचाते हैं, उसी प्रकार **नः**=हमारे लिए **अश्वाः**=ये इन्द्रिय-अश्व उस **भगम्**=ऐश्वर्य के पुञ्ज **वसुविदम्**=सब धनों को प्राप्त करानेवाले, **अर्वाचीनम्**=(अर्वाग् अञ्चति) हमारे हृदयों में गति करनेवाले प्रभु को **मे**=मुझे—हमें **आवहन्तु**=प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हम उषाकाल में उठकर यज्ञ करें, प्रभु-उपासना से प्रभु-दर्शन करें। हमारी इन्द्रियाँ हमें प्रभु की ओर ले-चलें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अश्वावतीः, गोमतीः वीरवतीः' उषासः

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ७॥

१. हे प्रभो! **नः**=हमारे लिए **अश्वावतीः**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाली, **गोमतीः**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाली तथा **वीरवतीः**=प्रशस्त यज्ञाग्नियोंवाली (वीर=the sacrificial fire) **उषासः**=उषाएँ **सदम्**=सदा **उच्छन्तु**=रात्रि के अन्धकार को दूर करनेवाली हों। ये उषाएँ **भद्राः**=हमारे लिए कल्याणकर हों। २. **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति को हमारे अन्दर **दुहानाः**=पूर्ण करती हुई तथा **विश्वतः**=सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त हुई-हुई ये उषाएँ हमारे लिए सचमुच कल्याण का कारण बनें। **यूयम्**=सब देवो! आप **स्वस्तिभिः**=कल्याण-मार्गों के द्वारा **सदा**=सदा **नः**=हमें **पात**=सुरक्षित करो।

भावार्थ—उषाकाल में प्रबुद्ध होकर हम उत्तम कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंवाले बनें, यज्ञशील हों हमारा ज्ञान बढ़े और हम सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त हों।

विशेष—अब यह उपासक सबका मित्र बनता है, 'विश्वामित्र' नामवाला होता है। यह कृषि आदि उपकारी कार्यों में ही प्रवृत्त होता है—

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री** ॥

हल, जुआ, बैल

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नयौ॥ १॥

१. **कवयः**=मेधावी लोग **सीरा**=हलों को **युञ्जन्ति**=कर्षण के लिए जोड़ते हैं। **धीराः**=धीमान्-बुद्धिमान् ये लोग **युगा**=जुओं को **पृथक् वितन्वते**=बैलों के कन्धों पर फैलाते हैं। २. ये बुद्धिमान् कवि **देवेषु**=देवों के विषय में **सुम्नयौ**=(सुम्नं सुखकर हविर्लक्षणमन्नं यातः प्रापयतः) सुखकर अन्नों को प्राप्त करानेवाले बैलों को (युञ्जन्ति) जोतते हैं।

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष हलों को जोतते हैं, जुओं को बैलों के कन्धों पर डालते हैं, बैलों को जोतकर यज्ञार्थ अन्नों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सफल कृषि

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम्।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमा यवन्॥ २॥

१. हे कृषीवलो (किसानो)! **सीरा युनक्त**=हलों को युगों के साथ जोड़ो और **युगा वितनोत**=जुओं को बैलों के कन्धों पर फैलाओ तथा **योनौ**=बीज-योग्य **इह**=इस **कृते**=कृष्टक्षेत्र

में **बीजम्**=जौ-चावल आदि के बीजों को **वपत**=बोओ। २. **विराजः**=(अन्नं वै विराट्-तै० ३.८.१०.४) अन्न के **श्नुष्टिः**=(शु अश) आशु प्रापक गुच्छे **सभराः**=फलभार सहित **नः**=हमारे **असत्**=होवें। **नेदीयः इत्**=(अन्तिकतमम्) अत्यल्प काल में **पक्वम्**=पके हुए फलों से युक्त जौ-चावल आदि को **सृण्यः**=लवणसाधन हँसुवे या दराँत आदि **आयवन्**=प्राप्त हों।

भावार्थ—हल जोतकर भूमि को ठीक करके हम बीज बोएँ। यह शीघ्र ही अंकुरित होकर पक्व गुच्छे का रूप धारण करे और दराँती से काटा जाए।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

उत्तम भूमि+उत्तम वाहन

लाङ्गलं पवीरवत्सुशीमं सोमसत्सरु।
उदिद्वपतु गामविं प्रस्थावद्रथवाहनं पीबरीं च प्रफर्व्य [म्]॥ ३॥

१. **लाङ्गलम्**=हल **पवीरवत्**=(लाङ्गले प्रोतं लोहमयं शल्यम्) अच्छे फालवाला **सुशीमम्**=उत्तम सुख देनेवाला **सोमसत्सरु**=(स उम, वे+मन्) रस्सी आदि और उत्तम मूठ से युक्त है। २. यह हल **इत्**=निश्चय से **गाम्**=इस पृथिवी को **अविम्**=रक्षा करनेवाली **च**=तथा **पीबरीम्**=अन्न आदि के द्वारा वृद्धिवाली **उद्वपतु**=बनाये तथा **इत्**=निश्चय से **रथवाहनम्**=रथों को वहन करनेवाले अश्व व बैल आदि को **प्रस्थावत्**=गमनसमर्थ तथा **प्रफर्व्यम्**=प्रकर्षेण गतिशील (उद्वपतु) सम्पादित करे। खेती ठीक होने पर ये सब वस्तुएँ भी अच्छी हो सकेंगी।

भावार्थ—हल उत्तम फाल, रस्सी व मूठ से युक्त हुआ-हुआ पृथिवी से उत्तम अन्न को प्राप्त करानेवाला हो और हमें समृद्ध करके उत्तम रथों को वहन करनेवाले अश्व आदि को प्राप्त कराए।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पयस्वती सीता

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु। सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥ ४॥

१. **इन्द्रः**=(इरां दृणाति-निरु० १०.८) हल के द्वारा पृथिवी का विदारण करनेवाला यह कृषक **सीताम्**=लाङ्गलपद्धिति को **निगृह्णातु**=(नीचीनं गृह्णातु) अधिक-से-अधिक नीचे तक ग्रहण करे। **तम्**=उस लाङ्गलपद्धति को **पूषा**=अन्न आदि के द्वारा सबका पोषण करनेवाला यह किसान **अभिरक्षतु**=रक्षित करे। २. **सा**=वह लाङ्गलपद्धति **पयस्वती**=जलवाली होती हुई **नः**=हमारे लिए **उत्तराम् उत्तराम् समाम्**=अगले-अगले वर्षों में **दुहाम्**=जौ-चावल आदि अन्नों का दोहन करनेवाली हो।

भावार्थ—हल कुछ गहराई तक भूमि को खोदनेवाला हो। हल-जनित सीताएँ ठीक से सुरक्षित हों। ये पानी से सींची जाकर अन्नों को उत्पन्न करनेवाली हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सुपिप्पला ओषधिः

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान्।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै॥ ५॥

१. **सुफाला**=शोभन लाङ्गलमुख (फाल) **भूमिम्**=भूमि को **शुनम्**=सुखकररूप में **वितुदन्तु**=कृष्ट करें—जोतें। **कीनाशाः**=किसान **शुनम्**=सुखपूर्वक **वाहान् अनुयन्तु**=बैलों के पीछे चलें।

२. **शुनासीरा**=(शुनो वायुः, सीर आदित्य—नि० ९.४०) वायु और सूर्य **हविषा**=अग्निहोत्र में आहुत हव्य पदार्थों से **तोशमाना**=(तोश to kill) सब कृमियों का नाश करते हुए **अस्मै**=इस कृषक के लिए **ओषधीः**=जौ-चावल आदि अन्नों को **सुपिप्पलाः कर्तम्**=शोभन फलोंवाला करें।

भावार्थ—कृषि के लिए उत्तम फालोंवाले हल हों, उत्तम बैल हों, किसान समझदार हों, अग्निहोत्र द्वारा सूर्य व वायु कृमिनाशक हों। इसप्रकार सब ओषधियाँ उत्तम फलों से युक्त हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुखकर कृषिकर्म

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्। शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ६ ॥

१. **वाहाः**=बलीवर्द (बैल) **शुनम्**=सुख से (कृषन्तु)=हलों को खैंचें **नरः**=कृषि करनेवाले मनुष्य **शुनम्**=सुख से कृषि करें। **लाङ्गलम्**=हल **शुनम्**=उत्तम प्रकार से **कृषतु**=भूमि को कृष्ट करे—जोते। **वरत्राः**=रस्सियाँ **शुनम्**=सुखपूर्वक **बध्यन्ताम्**=बाँधी जाएँ। **अष्ट्राम्**=प्रतोद (चाबुक, साँटे) को **शुनम्**=सुख के लिए **उदिङ्गय**=प्रेरित कर—क्रूरता से इसका प्रयोग मत कर।

भावार्थ—सारा कृषि-कार्य सुखपूर्वक हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**विराट्पुरउष्णिक्** ॥

शुनासीरा (वायु और सूर्य)

शुनासीरिह स्म मे जुषेथाम्। यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

१. **शुनासीरा**=वायु और सूर्य **इह स्म**=यहाँ ही **मे**=मेरे द्वारा दी जानेवाली हवि को **जुषेथाम्**=प्रेमपूर्वक सेवन करें, अर्थात् मेरा यह यज्ञ वायु व सूर्यदेव के लिए प्रीतिकर हो। **'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः'**=इन यज्ञों के द्वारा बादलों की उत्पत्ति हो। २.वायु व सूर्य इन बादलों के द्वारा **यत्**=जो **दिवि**=द्युलोक में **पयः चक्रथुः**=जल को उत्पन्न करते हैं **तेन**=उस वृष्टिजल से **इमाम्**=इस भूमि को **उपसिञ्चतम्**=सींचें।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा उत्पन्न बादलों से वायु व सूर्य जल का वर्षण करके पृथिवी को सींचनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥

सु मनाः सु फला

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव। यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥ ८ ॥

१. हे **सीते**=लाङ्गलपद्धति—जुती हुई भूमे! हम **त्वा वन्दामहे**=तेरा स्तवन करते हैं। हे **सुभगे**=उत्तम ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाली सीते! तू **अर्वाची भव**=हमारे अभिमुख हो। २. इस प्रकार तू हमारे अभिमुख हो **यथा**=जिससे **नः**=हमारे लिए **सुमनाः**=उत्तम मन को प्राप्त करानेवाली **असः**=हो और **यथा**=जिससे **नः**=हमारे लिए **सुफला**=उत्तम फलों को देनेवाली **भुवः**=हो।

भावार्थ—लाङ्गपद्धति हमारे लिए उत्तम ऐश्वर्य को प्राप्त कराती हुई हमें उत्तम (प्रसन्न) मनवाला करे और उत्तम फलों को प्रदान करे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'घृतेन+मधुना' समक्ता

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः।
सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत्पिन्वमाना ॥ ९ ॥

१. **सीता**=यह लाङ्गलपद्धति **घृतेन**=जल से तथा **मधुना**=शहद से **समक्ता**=सम्यक् सिक्त हुई है। यह **विश्वैः देवैः**=सूर्यादि सब देवों से तथा **मरुद्भिः**=वृष्टिवाहक वायुओं से **अनुमता**=अङ्गीकृत हुई है—वे सब इसके अनुकूल हैं। २. हे **सीते**=लाङ्गलपद्धते! **सा**=वह तू **पयसा**=उदक (जल) से सींची हुई **नः अभि आववृत्स्व**=हमारे अभिमुख—अनुकूल हो। तू **ऊर्जस्वती**=बल से युक्त हो तथा **घृतवत्**=घृतयुक्त अन्न को **पिन्वमाना**=हमारे लिए सिक्त करनेवाली हो।

भावार्थ—घृत व मधु से सिक्त हुई-हुई भूमि सूर्य-वायु आदि की अनुकूलता होने पर हमें बल व प्राणशक्ति प्राप्त कराए और घृतवत् अन्न देनेवाली हो।

विशेष—गत सूक्त के अनुसार वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करनेवाला यह व्यक्ति भोगवृतिवाला न बनकर योगवृतिवाला बनता है—'अ-थर्वा' कहलाता है (न थर्वति चरति)—डाँवाडोल नहीं होता। यह अथर्वा जितेन्द्रिय है। इसकी पत्नी इन्द्राणी है। यदि अथर्वा भोगवृत्ति को अपनाये तो यह भोगवृत्ति इन्द्राणी की सपत्नी (सौत) हो जाती है। इन्द्राणी इस सपत्नी के दुःख को सहने को उद्यत नहीं। वह उसके विनाश के लिए आत्मविद्या-(योगविद्या)-रूप ओषधि को आचार्य से प्राप्त करने के लिए यत्नशील होती है। आत्मविद्या इन्द्राणी की सपत्नी का विनाश करती है।

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आत्मविद्यारूप ओषधि

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम्।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम्॥ १॥

१. **इमाम्**=इस **ओषधिम्**=दोषों का दहन करनेवाली आत्मविद्या को **खनामि**=अत्यन्त श्रम के द्वारा आचार्य से प्राप्त करता हूँ। यह ओषधि **वीरुधाम्**=वीरुधा है—विशेषरूप से मेरा रोहण (विकास) करनेवाली है, **बलवत्तमाम्**=मुझे अतिशयित बल प्राप्त करानेवाली है, अथवा यह अन्य ओषधियों से बलवत्तमा है—सर्वाधिक बलवाली है। २. यह आत्मविद्या वह है **यया**=जिससे **सपत्नीम्**=इन्द्राणी की सपत्नीरूप भोगवृत्ति को **बाधते**=दूर रोका जाता है, **यया**=जिसके द्वारा **पतिं संविन्दते**=सर्वरक्षक पतिरूप प्रभु को प्राप्त किया जाता है। आत्मविद्या द्वारा भोगवृत्ति के विनष्ट होने पर हम परमात्मा को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम आचार्य से आत्मविद्या को प्राप्त करके भोगवृत्ति को अपने से दूर करें तभी हम योगवृत्ति को अपनाकर प्रभुरूप पति को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उत्तानपर्णा-सहस्वती

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति। सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि॥ २॥

१. आत्मविद्या 'अत्तानपर्णा' है—ऊर्ध्वमुख पर्णोंवाली है—हमें सदा उन्नति की ओर ले-चलनेवाली तथा हमारा पालन व पूरण करनेवाली है। 'सुभगा'—उत्तम ज्ञान व अनासक्ति को उत्पन्न करनेवाली है (भगः=ज्ञान, वैराग्य)। यह 'देवजूता' है—विद्वानों द्वारा हममें प्रेरित होती है। यह आत्मविद्या 'सहस्वती'—काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कुचल देनेवाले बल को उत्पन्न करती है। हे **उत्तानपर्णे, सुभगे, देवजूते, सहस्वति**=आत्मविद्ये! तू **मे**=मेरे अन्दर रहनेवाली

इस **सपत्नीं**=इन्द्राणी की सपत्नीभूत भोगवृत्ति को **परानुद**=दूर कर दे। २. एवं, आत्मविद्या के द्वारा भोगवृत्ति से ऊपर उठा हुआ पुरुष यही प्रार्थना करता है कि उस **के-वलम्**=आनन्द में विचरनेवाले **पतिम्**=सर्वरक्षक प्रभु को मे **कृधि**=मेरा कर। मैं प्रभु-प्राप्ति की ही कामनावाला बनूँ।

भावार्थ—आत्मविद्या हमें उन्नत करती है, हममें शत्रुओं का मर्षक बल पैदा करती है और हमें प्रभु में रमणवाला बनाती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नहि ते नाम जग्राह

नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन्रमसे पतौ। परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ३ ॥

१. आत्मविद्या को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति **ते नाम नहि जग्राह**=तेरा नाम नहीं लेता—यह भोगवृत्ति को अपने पास फटकने भी नहीं देता। हे भोगवृत्ते! तू **अस्मिन्**=इस **पतौ**=इन्द्रियों के स्वामी जितेन्द्रिय पुरुष में **नो रमसे**=रमण नहीं करती। अब तू इस इन्द्र की प्रिय नहीं है। २. **सपत्नीम्**=इस इन्द्राणी की सपत्नी भोगवृत्ति को, जोकि **पराम्**=परायी है—शत्रुभूत है—उसे **परावतम् एव**=दूर ही **गमयामसि**=भेजते हैं। इस भोगवृत्ति को मैं अपने पास नहीं फटकने देता।

भावार्थ—आत्मविद्या को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति भोगवृत्ति में रमण नहीं करता, उसे अपने समीप भी नहीं फटकने देता।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भाचतुष्पादुष्णिक्** ॥

उत्तराभ्यः उत्तरा=इन्द्राणी, अधराभ्यः अधरा=भोगवृत्ति

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः। अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ४ ॥

१. हे **उत्तरे**=उत्कृष्ट आत्मविद्ये! तुझे प्राप्त करके **अहम्, उत्तरा**=मैं भी उत्कृष्ट जीवनवाली बनती हूँ। मैं **इत्**=निश्चय से **उत्तराभ्यः उत्तरा**=उत्कृष्टकतरों से भी उत्कृष्टतर होती हूँ। वस्तुतः आत्मविद्या के प्राप्त होने पर जीवन में किसी प्रकार की अवनति स्थान नहीं पाती। जीवन अधिकाधिक उत्कृष्ट बनता जाता है। २. इन्द्राणी कहती है कि **अधः**=इस आत्मविद्या के परिणामस्वरूप **या मम**=जो यह मेरी **सपत्नी**=भोगवृत्तिरूपी सपत्नी है, **सा**=वह **अधराभ्यः अधरा**=निकृष्ट स्थितिवालों से भी निकृष्टतर स्थितिवाली हो जाती है। वह तो पाँव तले रौंद डाली जाती है। भोगवृत्ति को कुचलकर मैं योगवृत्ति में शरण लेती हूँ।

भावार्थ—आत्मविद्या प्राप्त करके 'इन्द्राणी' की उत्कृष्टतम स्थिति होती है और 'भोगवृत्ति' की निकृष्टतम, भोगवृत्ति तो कुचल दी जाती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उभे सहस्वती भूत्वा

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः।
उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥ ५ ॥

१. 'इन्द्राणी' आत्मविद्या को सम्बोधित करती हुई कहती है कि **अहम्**=मैं **सहमाना अस्मि**=शत्रुओं का पराभव करनेवाली हूँ। **अथ उ**=और अब **त्वम्**=तू भी **सासहिः**=शत्रुओं का खूब ही पराभव करनेवाली **असि**=है। २. **उभे**=हम दोनों **सहस्वती**=शत्रुओं का मर्षण करने-(कुचल डालने)-वाले बल से युक्त **भूत्वा**=होकर **मे**=मेरी **सपत्नीम्**=सौतरूप इस भोगवृत्ति को **सहावहै**=मसल डालते हैं। इसे समाप्त करके ही वास्तविक आनन्द का अनुभव होता है।

भावार्थ—इन्द्राणी व आत्मविद्या दोनों मिलकर भोगवृत्ति का पराभव कर डालें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)** ॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भापथ्यापङ्क्तिः** ॥

वत्सं गौ इव

अभि तेऽधां सहमानामुप तेऽधां सहीयसीम्।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु॥ ६ ॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि मैं **ते**=तेरे लिए इस **सहमानाम्**=शत्रुओं का पराभव करनेवाली ब्रह्मविद्या (आत्मविद्या) को **अभि अधाम्**=धारण करता हूँ। इस **सहीयसीम्**=शत्रुओं का खूब ही पराभव करनेवाली ब्रह्मविद्या को **ते अप अधाम्**=तेरे समीप स्थापित करता हूँ। २. इस आत्मविद्या द्वारा शत्रुओं का पराभव होने पर **माम् अनु**=मेरे पीछे—मेरा लक्ष्य करके **ते मनः**=तेरा मन इसप्रकार **प्रधावतु**=दौड़े, **इव**=जैसेकि **वत्सं गौः**=बछड़े का लक्ष्य करके गौ जाती है, अथवा **इव**=जैसे **पथा**=निम्नमार्ग से **वाः**=जल **धावतु**=दौड़ता है। जल स्वभावतः निम्न मार्ग से जाता है, उसी प्रकार हमारा मन स्वभावतः प्रभु की ओर जानेवाला हो।

भावार्थ—आत्मविद्या प्राप्त करके हम शत्रुओं को कुचल डालें और हमारा मन प्रभु की ओर गतिवाला हो, उसी प्रकार प्रभु की ओर गतिवाला हो, जैसे गौ बछड़े की ओर गतिवाली होती है।

विशेष—आत्मविद्या द्वारा शत्रुओं को पराभूत करके यह व्यक्ति 'वशिष्ठ' बनता है, वशियों में श्रेष्ठ (वशिष्ठ) अथवा सर्वोतम निवासवाला (वस् निवासे)। यह प्रार्थना करता है कि—

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

पुरोहित की राष्ट्र के लिए प्रार्थना

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं१ बलम्।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः॥ १ ॥

१. **मे**=मेरा **इदं ब्रह्म**=यह ज्ञान **संशितम्**=सम्यक् तीक्ष्णता को प्राप्त हो—तेजस्वी हो। **वीर्यम्**=मेरा वीर्य व **बलम्**=प्राणमय व मनोमयकोश की शक्ति **संशितम्**=तीक्ष्ण हो—बड़ी तेजस्वी हो। २. **येषाम्**=जिनका मैं **जिष्णुः**=जयशील पुरोहित हूँ, उनकी **क्षत्रम्**=क्षतों से रक्षण की शक्ति क्षात्रबल **संशितम्**=तीक्ष्ण हो और **अजरम्, अस्तु**=कभी जीर्ण होनेवाला न हो।

भावार्थ—राष्ट्रीय पुरोहित की प्रार्थना होती है कि मेरा ज्ञान व बल खूब तेजस्वी हो। जिनका मैं पुरोहित हूँ उनका क्षात्रबल भी तेजस्वी और न जीर्ण होनेवाला हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

त्यागवृत्ति द्वारा शत्रुभुज-छेदन

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम्।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम्॥ २ ॥

१. **अहम्**=मैं **एषाम्**=इनके **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **संस्यामी**=सम्यक् तीक्ष्ण करता हूँ। **ओजः**=इनके ओज को—मानस बल को **सम् (स्यामि)**=तीक्ष्ण करता हूँ और **वीर्यम्**=इनके प्राणमयकोश को वीर्यवान् बनाता हूँ, **बलम्**=इनकी शत्रुनाशक शक्ति को भी तीक्ष्ण करता हूँ। २. **अनेन हविषा**=इस हवि के द्वारा—देकर बचे हुए को खाने की वृत्ति के द्वारा—त्याग के द्वारा **अहम्**=मैं **शत्रूणां बाहून्**=शत्रुओं की बाहुओं को **वृश्चामि**=काट डालता हूँ। वस्तुतः जब राष्ट्र में त्याग की वृत्ति

आ जाती है तब राष्ट्रीय शक्ति इनती बढ़ जाती है कि राष्ट्र के शत्रु छिन्न-भुज हो जाते हैं, हमारे राष्ट्र पर आक्रमण करने का उसका साहस जाता रहता है।

भावार्थ—पुरोहित को राष्ट्र को तेजस्वी बनाना है, राष्ट्र की शक्ति का वर्धन करना है, प्रजा में राष्ट्र के लिए त्याग की भावना पैदा करके शत्रुओं को छिन्न-भुज-सा कर डालना है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥

ज्ञान-प्रसार द्वारा राष्ट्र-शक्ति-वर्धन

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम्॥ ३॥

१. **ये**=जो भी शत्रु **नः**=हमारे **सूरिम्**=ज्ञानी **मघवानम्**=ऐश्वर्यशाली राजा पर **पृतन्यान्**=सेना से आक्रमण करें वे **नीचैः पद्यन्ताम्**=नीचे गिरें, **अधरे भवन्तु**=और हीन अवस्था में हों—पाँवे तले रौंदे जाएँ। २. **अहम्**=मैं **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **अमित्रान्**=शत्रुओं को **क्षिणामि**=क्षीण करता हूँ और **स्वान्**=अपनों को **उन्नयामि**=उन्नत करता हूँ।

भावार्थ—राष्ट्र में ज्ञान के प्रसार के द्वारा सारे राष्ट्र की शक्ति का वर्धन हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परशु, अग्नि व वज्र से भी तीव्र

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत।
इन्द्रस्य वज्रात्तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः॥ ४॥

१. पुरोहित राष्ट्र-सैनिकों में आत्मबल का उद्बोधन करते हुए कहता है कि **येषाम्**=जिनका **पुरोहितः अस्मि**=मैं पुरोहित हूँ, वे **परशोः तीक्ष्णीयांसः**=कुल्हाड़े से भी अधिक तीक्ष्ण हैं। कुल्हाड़ा शत्रुओं का इतना छेदन नहीं कर सकता, जितना कि ये आत्मबल-सम्पन्न वीर कर पाते हैं, **उत**=और ये वीर तो **अग्नेः तीक्ष्णतराः**=अग्नि से भी अधिक तीक्ष्ण हैं। अग्नि ने क्या विध्वंस करना, जो विध्वंस ये वीर कर सकते हैं। २. ये सैनिक तो **इन्द्रस्य वज्रात्**=इन्द्र के वज्र से भी—प्रभु के द्वारा मेघों से गिरायी जानेवाली विद्युत् से भी **तीक्ष्णीयांसः**=अधिक तीक्ष्ण हैं।

भावार्थ—कुल्हाड़ों, अग्नि व विद्युत् से भी शत्रुओं का वैसा छेदन क्या करना, जैसाकि राष्ट्र के आत्मबल-सम्पन्न वीर कर पाते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

राष्ट्र के वीरों में उत्साह का सञ्चार

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः॥ ५॥

१. **एषाम्**=इनके **आयुधा**=आयुधों को **अहम्**=मैं **संस्यामि**=तीक्ष्ण बनाता हूँ। **एषाम्**=इनके **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **सुवीरम्**=उत्तम वीरोंवाला बनाता हुआ **वर्धयामि**=बढ़ाता हूँ। वस्तुतः पुरोहित को ही राष्ट्र में वीरता का सञ्चार करना होता है। २. **ऐषाम्**=इनका **क्षत्रम्**=राष्ट्र को क्षतों से बचानेवाला बल **अजरम् अस्तु**=कभी जीर्ण होनेवाला न हो। इनका यह बल **जिष्णु**=सदा विजयशील हो। **विश्वेदेवाः**=राष्ट्र के सब विद्वान् **एषां चित्तम् अवन्तु**=इनके चित्त का रक्षण करें—इनके चित्तों में उत्साह की कमी न आने दें।

भावार्थ—पुरोहित का कर्त्तव्य है कि राष्ट्ररक्षक वीर क्षत्रियों में विद्वानों के द्वारा सदा उत्साह

का सञ्चार कराता रहे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**षट्पदात्रिष्टुप्ककुम्मतीगर्भाऽतिजगती** ॥

वीरों का विजयघोष

उद्धर्षन्तां मघवन्वाजिनान्युद्वीराणां जयतामेतु घोषः।
पृथग्घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम्।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया॥ ६॥

१. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशाली प्रभो! **वीराणाम्**=इन वीरों के **वाजिनानि**=बल **उद्धर्षन्ताम्**=विकसित हों—हर्ष को प्राप्त हों—फूल उठें, **जयताम्**=विजय को प्राप्त करते हुए इन वीरों का **घोषः**=जयघोष **उदेतु**=उदित हो। २. **पृथक्**=अलग-अलग सेना की प्रत्येक टुकड़ी के **उलुलयः**=(उल दाहे, उलां उलयः) सन्तापकों के भी सन्तापक **केतुमन्तः**=विजय पताकाओंवाले **घोषाः**=विजयघोष **उदीरताम्**=आकाश में उदित हों। हमारे वीरों के विजय घोषों को सुनकर शत्रुसैन्य मनों में सन्तप्त हो उठे। **देवाः**=विजय की कामनावाले (दिव् विजिगीषायाम्) **इन्द्रजेष्ठाः**=शत्रुओं का विद्रावक राजा जिनका प्रधान है, ऐसे **मरुतः**=सेनानी **सेनया**=सेना के साथ **यन्तु**=शत्रुसैन्य पर आक्रमण के लिए गतिवाले हों।

भावार्थ—हमारे सैनिकों के बल का विकास हो। वीरों के विजय-घोष आकाश में सर्वत्र उदित हों। विजयपताकाओं को फहराते हुए वीर शत्रुओं को सन्तप्त करें। राजा व सेनापतियों के साथ सेनाएँ आगे बढ़ें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडास्तारपङ्क्तिः** ॥

विजय

प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः।
तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः॥ ७॥

१. हे **नरः**=आगे बढ़नेवाले वीरो! **प्र-इत**=खूब आगे बढो, **जयत**=विजयी बनो। **वः**=तुम्हारी **बाहवः**=भुजाएँ **उग्राः सन्तु**=बड़ी तेजस्वी हों। २. **तीक्ष्ण-इषवः**=तीक्ष्ण बाणोंवाले, **उग्रायुधाः**=तेजस्वी शस्त्रोंवाले व **उग्रबाहवः**=तेजस्वी भुजाओंवाले तुम इन **अबलधन्वनः**=निर्बल धनुषोंवाले **अबलान्**=निर्बल शत्रुओं को **हत**=विनष्ट कर डालो।

भावार्थ—हमारे वीर आगे बढ़ें। इनकी भुजाएँ शत्रुओं के लिए भयंकर हों। तेजस्वी अस्त्रोंवाले होते हुए हमारे वीर इन निर्बल-से शत्रुओं को परास्त कर डालें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

शत्रु के चुने हुए वीरों का विनाश

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते।
जयामित्रान्प्र पद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन॥ ८॥

१. हे **ब्रह्मसंशिते**=ज्ञान के द्वारा तीव्र किये गये **शरव्ये**=हिंसा-कुशल इषो (बाण)! तू **अवसृष्टा**=धनुष से छोड़ा हुआ **परापत**=दूर जाकर शत्रुओं पर पड़, शस्त्र को विचारपूर्वक शत्रुओं पर फेंका जाए। २. शरव्ये! तू **जय**=विजय करनेवाली हो। तू **अमित्रान् प्रपद्यस्व**=शत्रुओं पर विशेषरूप से गिर। **एषाम्**=इनके **वरं वरम्**=श्रेष्ठ-श्रेष्ठ सैनिकों को—चुने हुए वीरों को **जहि**=समाप्त कर दे। **अमीषाम्**=इनमें **कश्चन**=कोई भी **मा मोचि**=छूट न जाए।

भावार्थ—हम समझदारी से अस्त्रवर्षा करके शत्रु के चुने हुए वीरों का विध्वंस कर दें। इनमें से कोई बच न पाये। मुख्य सैनिकों के विनाश से सामान्य सैनिकों का विनाश अनावश्यक हो जाता है।

विशेष—विजयी राष्ट्र में तेजस्विता व अभ्युदय की वृद्धि होती है। लोग उत्तम वसुओंवाले, उत्तम निवासवाले 'वसिष्ठ' बनते हैं। यही सूक्त का ऋषि है—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अयं ते योनिः

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आ रोहाधा नो वर्धया रयिम्॥ १॥

१. उपासक प्रभु की आराधना करता हुआ कहता है कि **अयम्**=यह मैं **ते**=आपका **ऋत्वियः**=प्रत्येक ऋतु में होनेवाला **योनिः**=गृह व उत्पत्ति-स्थान हूँ। मैं सदा आपके स्मरण का प्रयत्न करता हूँ। **यतः**=जिससे **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए आप **अरोचथाः**=दीप्त हो उठते हो। मैं हृदय में आपके प्रकाश को देखता हूँ। २. **तम्**=उस मुझे **जानन्**=जानते हुए—मेरा ध्यान (देख-भाल) करते हुए **अग्ने**=हे प्रभो! आप **आरोह**=मेरे हृदय में प्रादुर्भूत होओ (रुह प्रादुर्भावे) **अध**=और **नः**=हमारे **रयिम्**=ऐश्वर्य को **वर्धय**=बढ़ाइए।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, उसके प्रकाश को हृदय में देखें, वे हमारे ऐश्वर्य को बढ़ाएँगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुमनाः, धनदाः

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव।
प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम्॥ २॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **इह**=यहाँ—इस हृदयदेश में **नः**=हमारे लिए **अच्छा वद**=आभिमुख्येन प्रिय उपदेश दीजिए। **प्रत्यङ्**=अभिमुख प्राप्त होते हुए आप **नः**=हमारे लिए **सुमनाः**=उत्तम मनवाले **भव**=होओ। हमें उत्तम मन प्राप्त कराओ। २. हे **विशांपते**=वैश्वानररूपेण सब प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **नः प्रयच्छ**=आप हमारे लिए दीजिए, **त्वम्**=आप ही तो **नः**=हमारे लिए **धनदाः असि**=सब धनों के दाता हैं—आप ही को हमारे लिए आवश्यक धन देने हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें प्रेरणा दें, हमें उत्तम मन प्राप्त कराएँ और हमारे लिए आवश्यक धन प्रदान करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अर्यमा, भगः, बृहस्पतिः, देवीः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूनृता देवी

प्र णो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः।
प्र देवीः प्रोत सूनृता रयिं देवी दधातु मे॥ ३॥

१. **नः**=हमारे लिए **अर्यमा**='अरीन् यच्छति' शत्रुओं के नियमन की देवता **प्रयच्छतु**=शत्रुनियमन की शक्ति दे। **भगः**=ज्ञान व ऐश्वर्य का पुञ्ज प्रभु **प्र (यच्छतु)**=हमें ज्ञान व ऐश्वर्य का देनेवाला हो, **बृहस्पतिः**=महान् लोकों का अधिष्ठातृदेव प्रभु हमारे लिए **प्र**=इन महान् लोकों के अधिष्ठातृत्व को प्राप्त कराए। हम शरीररूप पृथिवीलोक तथा मस्तिष्करूप द्युलोक के स्वामी हों। **देवीः**=सब

देव पत्नियाँ **प्र**=हमें दिव्य भावों को देनेवाली हों। २. **उत**=और **सूनृता देवी**=शोभन (सु), दुःख हारिणी (ऊन्) सत्यवाणी प्रकाशमयी (देवी) होती हुई **मे**=मेरे लिए **रयिम् प्र दधातु**=उत्तम ऐश्वर्य का धारण करे। मैं उत्तम, दुःखहारिणी, ऋतवाणी बोलता हुआ ऐश्वर्य-सम्पन्न बनूँ।

भावार्थ—हम शत्रुओं का नियमन करनेवाले बनें, भजनीय धनों को प्राप्त करें, शरीर व मस्तिष्क के स्वामी हों, दिव्य भावों को धारण करते हुए प्रिय, सत्य वाणी को ही सदा बोलनेवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सोमः, अग्निः, आदित्यः, विष्णुः, ब्रह्मा, बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सोम से बृहस्पति तक

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे। आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम्॥ ४॥

१. इस जीवन-यात्रा में हम **अवसे**=अपनी रक्षा के लिए **सोमम्**=सोम को तथा **राजानम्**=अपने पर शासन करने की वृत्ति को—अपने जीवन को व्यवस्थित (regulated) करने की वृत्ति को **हवामहे**=पुकारते हैं। सोम को पुकारने का भाव है 'शरीर में शक्ति को रक्षित करना'। सब उन्नतियों का मूल यही है कि हम शरीर में सोम का रक्षण करें। इसके लिए जीवन को बड़ा व्यवस्थित करें। ब्रह्मचर्याश्रम का मूलसूत्र यही है। अब गृहस्थ में **गीर्भिः**=स्तुति-वाणियों के द्वारा **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को पुकारते हैं 'निरन्तर आगे बढ़ना' इसी को जीवन का नियम बनाते हैं। इसी उद्देश्य से **आदित्यम्**=अन्धकार को छिन्न करनेवाले प्रकाशमय प्रभु को पुकारते हैं, स्वाध्याय के द्वारा जीवन को प्रकाशमय बनाये रखते हैं। ३. गृहस्थ से ऊपर उठकर वानप्रस्थ में **विष्णुं सूर्यम्**=उस सर्वव्यापक, निरन्तर सरण करनेवाले प्रभु को पुकारते हुए हम हृदय को विशाल तथा जीवन को क्रियामय बनाने के लिए यत्नशील होते हैं (विष्णु व्याप्तौ, सृ गतौ)। ४. **च**=और अब संन्यस्त होकर हम **ब्रह्माणम्**=ब्रह्मा व **बृहस्पतिम्**=बृहस्पति को पुकारते हैं। ब्रह्मा वह है जिसमें सारा ब्रह्माण्ड प्रविष्ट है। मैं भी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को जीवन का सूत्र बनाता हूँ और बृहस्पति की भाँति ज्ञान का प्रकाश करनेवाला होता हूँ।

भावार्थ—हम सोमरक्षण करनेवाले व व्यवस्थित जीवनवाले बनें। हमारे जीवन का सूत्र आगे बढ़ना व स्वाध्याय द्वारा अन्धकार को छिन्न करना हो। हम विशाल हृदय व क्रियाशील हों और अन्त में सम्पूर्ण पृथिवी को अपने परिवार में प्रविष्ट कर सर्वत्र ज्ञान का प्रसार करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ब्रह्म+यज्ञ

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय। त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिए **अग्निभिः**=माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियों के द्वारा (पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी॥) **ब्रह्म यज्ञं च**=ज्ञान और यज्ञ का **वर्धय**=वर्धन कीजिए। माता से उत्तम चरित्र को, पिता से उत्तम आचार (व्यवहार) को तथा आचार्य से उत्तम ज्ञान को प्राप्त करके हम ज्ञानेन्द्रियों से सदा ज्ञान का वर्धन करनेवाले बनें तथा कर्मेन्द्रियों से यज्ञात्मक उत्तम कर्मों को करनेवाले हों। २. हे **देव**=सब ऐश्वर्यों को देनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **दातवे**=दानशील पुरुष के लिए **दानाय**=दान के लिए **रयिं चोदय**=धन को प्रेरित कीजिए। हम दानशीला बनें और दान के लिए आपसे धनों को प्राप्त करें।

भावार्थ—उत्तम माता, पिता व आचार्य के सम्पर्क में आकर हम ज्ञान व यज्ञ का वर्धन

करें। खूब दानशील हों, दान के लिए प्रभु धन देंगे ही।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रवायू** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

जितेन्द्रियता+क्रियाशीलता

इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे।
यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद्दानकामश्च नो भुवत्॥ ६॥

१. **इह**=इस जीवन में **सुहवा**=शोभन है पुकार (आराधना) जिनकी उन **उभौ**=दोनों **इन्द्रवायू**=जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता को हम **हवामहे**=पुकारते हैं। हम क्रियाशील व जितेन्द्रिय बनते हैं। २. हम इसलिए इन्द्र और वायु का आराधन करते हैं कि **यथा**=जिससे **इह**=इस संसार में **नः**=हमारे **संगत्याम्**=संगमन में, मिलने के अवसर पर **सर्वः इत् जनः**=सभी मनुष्य **सुमनाः असत्**=उत्तम मनवाले हों—परस्पर मिलने पर सबको प्रीति का अनुभव हो **च**=और **नः**=हमारे ये लोग **दानकामः**=दान की कामनावाले, सदा धनों को देने की इच्छावाले **भुवत्**=हों।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनें। परस्पर मिलने पर प्रीति का अनुभव करें और दान की वृत्तिवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अर्यमा, बृहस्पतिः, इन्द्रः, वातः, विष्णुः, सरस्वती, सविता, वाजी** ॥
छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अर्यमा से सविता' तक

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय।
वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम्॥ ७॥

१. हे प्रभो! **अर्यमणम्**=(अरीन् यच्छति) शत्रुओं के नियमन की देवता को, **बृहस्पतिम्**=ज्ञान की अधिष्ठातृदेवता को, **इन्द्रम्**=जितेन्द्रियता की देवता को **दानाय चोदय**=दान के लिए प्रेरित कीजिए। हम भी अर्यमा, बृहस्पति व इन्द्र बन जाएँ। हम काम-क्रोध का नियमन करनेवाले हों, ज्ञान का सम्पादन करें व जितेन्द्रिय बनें। २. **वातम्**=(वा गतौ) क्रियाशीलता की देवता को, **विष्णुम्**=(विष् व्याप्तौ) व्यापकता की देवता को, **सरस्वतीम्**=ज्ञान की देवता को **च**=और **वाजिनम्**=सब शक्तियों के अधिष्ठान **सवितारम्**=शक्तियों के जनक सूर्य को दान के लिए प्रेरित कीजिए। ये सब देव हमें भी क्रियाशील, उदार, ज्ञानी व शक्तिशाली बनाएँ।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हम शत्रुओं को वश में करनेवाले, ज्ञानप्रधान जीवनवाले व जितेन्द्रिय बनें। हम क्रियाशील, उदार, ज्ञानी व शक्ति का संग्रह करनेवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वानि भुवनानि** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

वाजस्य प्रसवे संबभूविम

वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः।
उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन्रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ॥ ८॥

१. **नु**=अब **वाजस्य**=उस शक्ति के पुञ्ज प्रभु के **प्रसवे**=(षू प्रेरणे) प्रेरण में **संबभूविम**=सम्यक् हों—सदा प्रभु की प्रेरणा के अनुसार कार्यों में प्रवृत्त हों **च**=और **इमा विश्वा भुवनानि**=सूर्य आदि इन सब लोकों को **अन्तः**=अपने अन्दर देखने का प्रयत्न करें। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' जो कुछ पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में। ब्रह्माण्ड के सर्यू आदि देव चक्षु आदि के रूप में शरीर में रहते हैं। प्रभु की प्रेरणा में चलता हुआ पुरुष शरीर को देवस्थली के रूप में देखता है। यह शरीर उसकी दृष्टि में 'देवमन्दिर' हो जाता है। २. वे प्रभु **अदित्सन्तम् उत**=न देने की इच्छावाले

को भी **प्रजानन्**=खूब समझते हुए—उचित प्रेरणा के द्वारा **दापयतु**=दान की वृत्तिवाला बनाएँ **च**=और हे प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **सर्ववीरम् रयिम्**=वीर सन्तानोंवाली सब सम्पत्ति को **नियच्छ**=नियमितरूप से दीजिए।

भावार्थ—हम शक्तिपुञ्ज प्रभु की प्रेरणा में वर्तें। सूर्य आदि सब देवों को अपने अन्दर देखें, इस शरीर को देवमन्दिर जानें। प्रभु हमें दानशील बनाएँ और वीर सन्तानों से युक्त धन प्रदान करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**पञ्च प्रदिशः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मनसा+हृदयेन च

दुह्रां मे पञ्च प्रदिशो दुह्रामुर्वीर्यथाबलम्। प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च॥ ९॥

१. **पञ्च प्रदिशः**=विस्तृत (पचि विस्तारे) अथवा 'प्राची, प्रतीची, अवाची, उदीची व मध्य' नामक पाँच महादिशाएँ **मे**=मेरे लिए **दुह्राम्**=अभिमत फल दें—सब स्थानों से मेरी इष्ट कामनाएँ पूर्ण हों तथा **उर्वीः**=(षण्मोर्वीरंहसस्पान्तु द्यौश्च पृथिवी चाहश्च रात्रिश्चापश्चौषधयश्च—अश्व० १.२) द्युलोक-पृथिवीलोक, दिन-रात, जल और ओषधियाँ—ये छह उर्वियाँ **यथाबलम्**=बल की वृद्धि के अनुसार **दुह्राम्**=अपेक्षित वसुओं को देनेवाली हों। मैं **मनसा**=मन के दृढ़ शिव-संकल्प के द्वारा **च**=तथा **हृदयेन**=हृदयस्थ श्रद्धा के द्वारा **सर्वाः**=सब **आकूतीः**=कामनाओं को **प्रापेयम्**=प्राप्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम दृढ़ संकल्प व श्रद्धा से सब कामनाओं को पूर्ण कर सकें। पाँचों दिशाएँ तथा द्युलोक आदि छह उर्वियाँ हमें अभिमत फलों को प्राप्त करानेवाली हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वायुः, त्वष्टा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गोसनिं वाचमुदेयम्

गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि।
आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे॥ १०॥

१. **गोसनिम्**=ज्ञान की वाणियों का ही सम्भजन करनेवाली **वाचम्, उदेयम्**=वाणी को मैं बोलूँ—हमारी वाणियाँ ज्ञानवर्धक शब्दों का ही उच्चारण करें। हे प्रभो! **वर्चसा**=तेजस्विता के साथ **मा अभि**=मेरी ओर **उदिहि**=आइए—आप मुझे तेजस्वी बनाइए। 'गोसनि वाक्' का उच्चारण करता हुआ मैं ज्ञानी बनूँ और वर्चस्वी होऊँ। २. मुझे **सर्वतः**=सब ओर से **वायुः**=प्राणशक्ति और क्रियाशीलता **आरुन्धाम्**=रुद्ध करे। मैं सदा प्राणशक्ति-सम्पन्न व क्रियाशील बना रहूँ। **त्वष्टा**=वह रूपों का निर्माता प्रभु **मे पोषं दधातु**=मुझमें पोषण को धारण करे।

भावार्थ—मैं ज्ञान, वर्चस्, क्रियाशीलता व पोषण को धारण करूँ।

विशेष—इसप्रकार जीवन को सब वसुओं से सम्पन्न करनेवाला 'वसिष्ठ' ही अगले सूक्त का भी ऋषि है—

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप्त्रिष्टुप्** ॥

विविध अग्नियों की अनुकूलता

ये अग्नयो अप्स्व१न्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु।
य आविवेशौषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ १॥

१. **ये**=जो **अग्नयः**=अग्नियाँ **अप्सु-अन्तः**=जलों 'वाडवाग्नि' के रूप में हैं, **ये**=जो **वृत्रे**=मेघ में 'विद्युद्रूप' से, **ये**=जो **पुरुषे**=पुरुष में अशित-पीत परिणाम हेतुत्वेन 'वैश्वानर' रूप से हैं और **ये**=जो **अश्मसु**=सूर्यकान्त आदि शिलाओं में है, इसीप्रकार **यः**=जो अग्नि **ओषधीः**=जौ-चावल आदि ओषधियों में **आविवेश**=प्रविष्ट हुआ है, **यः**=जो **वनस्पतीन्**=वृक्षों में प्रविष्ट है, **तेभ्यः**=उन सब जगदनुग्राहक अग्नियों के लिए **एतत्**=यह **हुतम् अस्तु**=हवन हो।

भावार्थ—संसार में विविध पदार्थों में विविध रूप से अग्नि का निवास है। अग्निहोत्र करने से इन सब अग्नियों की अनुकूलता प्राप्त होती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

सोम, गौ, पशु-पक्षी तथा मनुष्यों में अग्नि की ठीक स्थिति

यः सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयःसु यो मृगेषु।
य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ २॥

१. **यः**=जो अग्नि **सोमे अन्तः**=लतारूप सोम में अमृतमय रस के परिपाक के लिए प्रविष्ट हुआ-हुआ है, **यः**=जो अग्नि **गोषु अन्तः**=गौ आदि ग्राम्य पशुओं में **आविष्टः**=प्रविष्ट हुआ-हुआ परिपक्व दूध का निर्माण करता है, **यः**=जो अग्नि **वयःसु**=पक्षियों में अनुप्रविष्ट है, **यः**=जो **मृगेषु**=हरिण आदि में अनुप्रविष्ट है, २. तथा **यः**=जो अग्नि **द्विपदः**=दो पाँववाले मनुष्य आदि में तथा **यः**=जो **चतुष्पदः**=चार पाँववाले अन्य प्राणियों में जाठर (वैश्वानर) रूप में **आविवेश**=प्रविष्ट हो रहा है, **तेभ्यः अग्निभ्यः**=उन सब अग्नियों के लिए **एतत्**=यह **हुतम्, अस्तु**=हवन हो।

भावार्थ—यज्ञों के होने पर यदि ओषधियों में रस का सञ्चार ठीक होता है तो गौवों में दूध का परिपाक ठीक प्रकार से होता है, अन्य पशु-पक्षियों व मनुष्यों में जाठररूप में निवास करनेवाली वैश्वानर अग्नि भी ठीक बनी रहती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

वैश्वानर उत विश्वदाव्यः

य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः।
यं जोहवीमि पृतनासु सासहिं तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ ३॥

१. **यः**=जो **देवः**=प्रकाशमान प्रभु **इन्द्रेण**=जितेन्द्रिय पुरुष के साथ **सरथं याति**=समान शरीररूप रथ में प्राप्त होता है। जितेन्द्रिय पुरुष के शरीररूप रथ में प्रभु का वास होता है। वह 'अग्नि' नामक प्रभु **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला है **उत**=और **विश्वदाव्यः**=हमारे अन्दर घुस आनेवाले (विश) काम-क्रोध आदि को सन्तप्त करनेवाला है। २. **यम्**=जिस **पृतनासु सासहिम्**=संग्रामों में पराभूत करनेवाले प्रभु को **जोहवीमि**=मैं पुकारता हूँ, **तेभ्यः**=उन **अग्निभ्यः**=अग्रणी प्रभु के लिए **एतत् हुतम् अस्तु**=यह अपना अर्पण हो (हु दाने)। मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें, जितेन्द्रिय बनें ताकि प्रभु का हमारे शरीर-रथ पर वास हो। प्रभु हमें संग्राम में विजयी बनाएँगे और हमारे शत्रुओं को दग्ध कर देंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

धीरः, शक्रः

यो देवो विश्वाद्यमु काममाहुर्यं दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः।
यो धीरः शक्रः परिभूरदाभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ ४॥

१. **यः देवः**=जो दान आदि गुणों से युक्त अग्नि (प्रभु) **विश्वात्**=प्रलयकाल में सबको खा-सा जाता है—सबको अपने अन्दर समा लेता है, **उ**=और **यम्**=जिसे **कामम्, आहुः**='काम' इस नाम से कहते हैं। प्रभु ही धर्माविरुद्ध कामरूप से सब प्राणियों में स्थित हैं। '**धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि भूतेषू भरतर्षभ**', **यम्**=जिसे **दातारम्**=देनेवाला व **प्रतिगृह्णन्तम्**=लेनेवाला **आहुः**=कहते हैं—काम ही दाता है, काम ही प्रतिग्रहीता है। २. **यः**=जो प्रभुरूप अग्नि **धीरः**=हम सबकी बुद्धियों को प्रेरित करनेवाली है, जो **शक्रः**=सर्वशक्तिमान् हैं, **तेभ्यः अग्निभ्यः**=उन अग्रणी प्रभु के लिए **एतत्**=यह **हुतम्, अस्तु**=आत्मसमर्पण हो।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे अन्दर सब उत्तम कामनाओं को जन्म देते हैं। वे ही हमें बुद्धि व बल देते हैं (धीरः, शक्रः)। उनके लिए हम अपना अर्पण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

वर्चोधसे, यशसे, सूनृतावते

यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः ।
वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ५ ॥

१. '**भवन्ति यस्मिन् भूतानि इति भुवनः संवत्सरः**'—इस व्युत्पत्ति से भुवन का भाव है 'संवत्सर'। इस संवत्सर में होनेवाले चैत्र आदि बारह तथा 'संसर्पाहस्पत्य' नामक तेरहवाँ अधिमास—ये मिलकर तेरह भौवन हैं। **त्रयोदश भौवनाः**=तेरह-के-तेरह मास **पञ्च मानवाः**=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद—ये पाँचों मनुष्य **यम्**=जिस **होतरम्**=सब-कुछ देनेवाले **त्वा**=आपको **मनसा**=मनन के द्वारा **अभिसंविदुः**=आभिमुख्येन सम्यक् जानते हैं, २. **तेषाम्**=उन **वर्चोधसे**=शक्ति का आधान करनेवाले, **यशसे**=यशस्वी, **सूनृतावते**=प्रिय, सत्य वाणीवाले **अग्निभ्यः**=अग्नि नामक प्रभु के लिए **एतत्**=यह **हुतम् अस्तु**=समर्पण हो। लोक में जहाँ 'वर्चस्, यश, सूनृतावाणी' है वह सब इस प्रभु की विभूति ही है। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हुए हम भी इन वर्चस्, यश व सूनृतावाणी को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—मननशील पुरुष उस प्रभु को सदा 'होता' के रूप में जानते हैं। प्रभु ही वर्चस्, यश व सूनृतावाणी को प्राप्त कराते हैं। हम इस अग्नि नामक प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् विराड्बृहती** ॥

'उक्षान्न, वशान्न, सोमपृष्ठ' वेधस् के सम्पर्क में

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे ।
वैश्वानरज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ६ ॥

१. **उक्षान्नाय**=(उक्षा=one of the chief medicament) पौष्टिक ओषधियों को ही अपना अन्न बनानेवाला, **वशान्नाय**=(वशा=पृथिवी—श० १.८.३.१५.) पृथिवी को ही अपना अन्न बनानेवाला, अर्थात् वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन करनेवाला, **सोमपृष्ठाय**=सोमशक्ति को ही अपना आधार बनानेवाला—ऐसे **वेधसे**=ज्ञानी पुरुष के लिए हम अपना अर्पण करते हैं। इसके सम्पर्क में आकर हम भी 'वेधस्' बन पाते हैं। २. **वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः**=सब मनुष्यों के हितकारी प्रभु को ही जो ज्येष्ठ मानते हैं, **तेभ्यः**=उन **अग्निभ्यः**=अग्रणी पुरुषों के लिए **एतत्**=यह **हुतम्, अस्तु**=अर्पण हो। प्रभु-परायण विद्वानों के प्रति अपना अर्पण करते हुए हम भी उन-जैसे ही बनते हैं।

भावार्थ—हम उन विद्वानों के सम्पर्क में रहें जो १. पौष्टिक ओषधियों का ही प्रयोग करते हैं, २. पृथिवी से उत्पन्न वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन करते हैं, ३. सोमशक्ति को जीवन

का आधार मानते हैं और ४. प्रभु को सर्वश्रेष्ठ जानते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भात्रिष्टुप्** ॥

यज्ञों द्वारा अग्नि का आराधन

दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति।
ये दिक्ष्व१न्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ ७॥

१. **ये**=जो अग्नियाँ **दिवम्**=द्युलोक में, **पृथिवीम्**=पृथिवीलोक में **अनुसञ्चरन्ति**=अनुप्रविष्ट होकर विचरण करती हैं, **ये**=जो **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष लोकों में तथा **विद्युतम्**=मेघस्थ विद्युत् में **अनु**=(सञ्चरन्ति) अनुप्रविष्ट होकर गति करती हैं। २. **ये**=जो अग्नियाँ **दिक्षु अन्तः**=दिशाओं में स्थित हैं और **ये**=जो **वाते अन्तः**=वायु के अन्दर हैं, **तेभ्यः अग्निभ्यः**=उन अग्नियों के लिए **एतत्**=यह **हुतम्, अस्तु**=हवन हो। हवन के द्वारा हम सब लोकों में स्थित अग्नियों की अनुकूलता प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा सर्वत्र स्थित अग्नियों की अनुकूलता प्राप्त होती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु के उपासन+विद्वत्संग से कामाग्निशमन

हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम्।
विश्वान्देवानाङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम्॥ ८॥

१. **सवितारम्**=उस प्रेरक **अग्निम्**=प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं, जोकि **हिरण्यपाणिम्**=हितरमणीय पाणि-(हाथ)-वाले हैं—जिनका वरदहस्त हमारा हित-ही-हित करता है, हम उस प्रभु को पुकारते हैं जो **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, **बृहस्पतिम्**=ज्ञान के स्वामी हैं, **वरुणम्**=पाप के निवारक व **मित्रम्**=सबसे स्नेह करनेवाले हैं। इस प्रभु का आराधन ही हमारे जीवन में कामाग्नि को शान्त करेगा। २. हम **विश्वान्**=सब **अङ्गिरसः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले **देवान्**=ज्ञानी पुरुषों को पुकारते हैं, इनके सम्पर्क में हम ज्ञान की वृद्धि करनेवाले बनते हैं। ये विद्वान् **इमम्**=इस **क्रव्यादम्**=हमारे मांस को खा जानेवाले **अग्निम्**=कामाग्नि को **शमयन्तु**=शान्त करें।

भावार्थ—प्रभु का उपासन व विद्वानों का संग हमें कामाग्नि को शान्त करने में समर्थ करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥

'क्रव्यात्, पुरुषरेषण, विश्वदाव्य' अग्नि

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः।
अथो यो विश्वदाव्य१स्तं क्रव्यादमशीशमम्॥ ९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु के उपासन व विद्वत्संग से **अग्निः**=यह कामाग्नि **शान्तः**=शान्त हो गई है। यह **क्रव्यात्**=मांस को ही खा जानेवाली **पुरुषरेषणः**=पुरुषों को हिंसित करनेवाली कामरूप अग्नि **शान्तः**=शान्त हो गई है। २. **अथ उ**=अब निश्चय से **यः**=जो **विश्वदाव्यः**=सबका दाहक कामाग्नि है, **तम्**=उस **क्रव्यादम्**=मांस को खा जानेवाले 'महाशन, महापाप्मा' कामाग्नि को **अशीशमम्**=मैं शान्त करता हूँ।

भावार्थ—कामाग्नि मांस खा जानेवाला, हिंसित करनेवाला व सन्तापक है। इसे शान्त करना ही मंगलप्रद है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कामाग्नि की शान्ति के साधन

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः।
वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन्॥ १०॥

१. **ये**=जो **सोमपृष्ठाः**=सोम आदि ओषधियों को अपने पृष्ठ पर धारण करनेवाले **पर्वताः**=पर्वत हैं, **ते**=वे **क्रव्यादम्**=इस मांसभक्षक कामाग्नि को **अशीशमन्**=शान्त करते हैं। पर्वतों का शान्त जलवायु तथा पर्वतों की शीतवीर्य सोम आदि लताएँ वीर्य-रक्षण के लिए अनुकूलता उत्पन्न करती हैं। इसप्रकार **उत्तानशीवरीः आपः**=जल उत्तानशयन स्वभाव हैं, अर्थात् सामान्यतः ये शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगति का कारण होते हैं। कटिप्रदेश का जल से स्नान इस कार्य में बड़ा सहायक है। २. **वातः**=वायु, **पर्जन्यः**=बादल **आत्**=और अब **अग्नि**=अग्निहोत्र—ये सब इस कामाग्नि को शान्त करते हैं। वायुसेवन तथा प्राणायाम द्वारा वायु का आराधन तो वीर्य की ऊर्ध्वगति का कारण होता ही है। वृष्टिजल में स्नान व वृष्टिजल का पान भी वीर्यरक्षण की अनुकूलता को उत्पन्न करता है। अग्निहोत्र आदि करते हुए अग्नि का शरीर के साथ सम्पर्क भी त्वचा की कोमलता को दूर करके वीर्यरक्षण का साधक हो जाता है। वायु, बादल, अग्नि—इन सबके सम्पर्क में कामाग्नि की शान्ति में सहायता मिलती है।

भावार्थ—'पर्वतों की शीतवीर्य ओषधियों का प्रयोग, जल से कटि-स्नान, वायु-सेवन, वृष्टिजल में स्नान व उसका पान तथा अग्नि के ताप से त्वचा की कोमलता का निराकरण'—ये सब साधन कामाग्नि को शान्त करते हैं।

विशेष—कामाग्नि की शान्ति से वर्चस् को प्राप्त करनेवाला 'वसिष्ठ' ही अगले सूक्त का भी ऋषि है—

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥

हस्तिवर्चसम्

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद्यशो अदित्या यत्तन्वः संबभूव।
तत्सर्वे समदुर्मह्यमेतद्विश्वे देवा अदितिः सजोषाः॥ १॥

१. मुझमें **हस्तिवर्चसम्**=हाथी का बल **बृहद्यशः**=महान् यश को **प्रथताम्**=विस्तृत करे, अर्थात् मैं हाथी के समान बल प्राप्त करूँ, परन्तु मेरा वह बल मुझे यशस्वी बनानेवाला हो। मुझे वह बल प्राप्त हो **यत्**=जोकि **अदित्याः**=प्रकृति के, अदीना देवमाता (सूर्यादि का निर्माण करनेवाली प्रकृति) के **तन्वः**=शरीर से **संबभूव**=उत्पन्न हुआ है। जीवन जितना प्राकृतिक—प्रकृति के अनुकूल-स्वाभाविक होगा, उतना ही शरीर का बल बढ़ेगा। २. **तत् एतत्**=प्रसिद्ध इस बल को **विश्वेदेवाः**=सूर्य आदि सब देव और **सजोषः**=उनके साथ समान प्रीतिवाली **अदितिः**=उनकी माता प्रकृति—ये **सर्वे**=सब **सम्**=मिलकर **मह्यम्**=मेरे लिए **अदुः**=देते हैं।

भावार्थ—जितना-जितना हमारा जीवन स्वाभाविक होगा, उतना-उतना ही हम शक्तिशाली बनेंगे। अदिति (प्रकृति) व सूर्य आदि सब देव हमें बल प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मित्र, वरुण, इन्द्र व रुद्र

मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततुः।
देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा॥ २॥

१. **मित्रः**=स्नेह की भावना **च**=और **वरुणः**=निर्द्वेषता का भाव **च**=तथा **इन्द्रः**=जितेन्द्रियता की दिव्य भावना **च**=और **रुद्रः**=(रुत्+द्र) रोगों को दूर भगाने का संकल्प—ये सब **चेततुः**=हमें अनुग्राह्यरूप में जानें—इनके अनुग्रह से हमारा शरीर सबल बना रहे। २. **देवासः**=सूर्य-चन्द्र आदि सब देव **विश्वधायसः**=सबका धारण करनेवाले हैं, **ते**=वे **मा**=मुझे **वर्चसा**=तेज से **अञ्जन्तु**=(अक्त) आश्लिष्ट करें। इन देवों के सम्पर्क में जीवन को बिताता हुआ मैं तेजस्वी बनूँ।

भावार्थ—'स्नेह, निर्द्वेषता, जितेन्द्रियता व नीरोगता' की भावनाएँ मुझे सबल बनाएँ। सूर्यादि देवों के सम्पर्क में मेरा जीवन तेजस्वी बने।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदापरानुष्टुप्विराडतिजगती** ॥

हाथी, राजा व सूर्य के समान तेजस्वी

येन हस्ती वर्चसा संबभूव येन राजा मनुष्ये[ष्व]प्स्व१न्तः।
येन देवा देवतामग्र आयन्तेन मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु॥ ३॥

१. **हस्ती**=हाथी **येन वर्चसा**=जिस तेज के साथ **संबभूव**=संगत होता है, **येन**=जिस तेज से **मनुष्येषु अप्सु**=(आपो नारा इति प्रोक्ताः) मानव प्रजाओं के **अन्तः**=अन्दर **राजा**=शासक (संबभूव) संगत होता है और **येन**=जिस तेज से **अग्रे**=प्रारम्भ में **देवाः**=सूर्यादि देव **देवताम् आयन्**=देवत्व को प्राप्त होते हैं, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **माम्**=मुझे **अद्य**=आज **तेन वर्चसा**=उस वर्चस से **वर्चस्विनं कृणु**=वर्चस्वी बनाओ। २. हम हाथी के समान बल को प्राप्त हों, मानव प्रजाओं में राजा के समान तेजस्वी हों, सूर्य आदि देवों के समान हमारा तेज हो। सूर्य आदि के सम्पर्क में जीवन बिताते हुए हम तेजस्वी बनें।

भावार्थ—हमारा तेज हाथी के समान, राजा के समान व सूर्यादि देवों के समान हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

प्राणसाधना से वर्चस्विता की प्राप्ति

यत्ते वर्चो जातवेदो बृहद्भवत्याहुतेः। यावत्सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः।
तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा॥ ४॥

१. हे **जातवेदः**=सब पदार्थों में विद्यमान अग्ने! **यत्**=जो **ते, वर्चः**=तेरा तेज **आहुतेः**=आहुति के द्वारा **बृहत् भवति**=बहुत होता है—घृत की आहुति से अग्नि चमक उठती है। **यावत्**=जितना **वर्चः**=तेज इस **असुरस्य**=प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले **सूर्यस्य**=सूर्य का है, **च**=और जितना तेज **हस्तिनः**=हाथी का है, **तावत्**=उतना **वर्चः**=तेज **मे**=मुझमें **अश्विना**=प्राणापान **आधत्ताम्**=स्थापित करें। २. ये प्राणापान **पुष्करस्रजा**=शरीर में रेतःकणरूप जलों का निर्माण करनेवाले हैं। इन रेतःकणरूप जलों के निर्माण द्वारा ही ये हमारे शरीर में शक्ति का आधान करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से रेतःकणों के रक्षण के द्वारा हम इसप्रकार तेजस्वी बनते हैं जैसेकि 'आहुत अग्नि' तेजस्वी होता है। जैसे सूर्य दीप्त है, उसी प्रकार हम दीप्त वर्चस् बनें, हाथी के समान बलवान् हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यशस्वी बल

यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत्समश्नुते। तावत्समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम्॥ ५ ॥

१. **यावत्**=जितनी **चतस्रः प्रदशिः**=चारों प्रकृष्ट दिशाएँ फैली हैं, **यावत्**=जहाँ तक **चक्षुः**=आँख **समश्नुते**=व्याप्त होती है, **तावत्**=उतनी दूर तक व्याप्त होनेवाला **इन्द्रियम्**=बल **सम् ऐतु**=मेरे साथ सर्वथा सङ्गत हो। २. **मयि**=मुझमें **तत्**=वह **हस्तिवर्चसम्**=हाथी के समान बल प्राप्त हो।

भावार्थ—मैं अपने बल के द्वारा रक्षणात्मक कार्यों को करता हुआ चारों दिशाओं में यशस्वी बनूँ। मैं हाथी के समान बल प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अतिष्ठावान्

हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान्बभूव हि।
तस्य भगेन वर्चसाऽभि षिञ्चामि मामहम्॥ ६ ॥

१. **सुषदाम्**=(सुखेन सीदन्ति) अरण्य में स्वेच्छा से आसीन होनेवाले **मृगाणाम्**=हरिण आदि पशुओं में **हस्ती**=हाथी **हि**=निश्चय से **अतिष्ठावान् बभूव**=सबको लाँघकर स्थितिवाला—सबसे आगे बढ़ा हुआ है। हाथी का बल सबसे अधिक है। २. **तस्य**=उस हाथी के **भगेन**=भजनीय-सेवनीय **वर्चसा**=बल से **अहम्**=मैं **माम्**=अपने को **अभिषिञ्चामि**=अभिषिक्त करता हूँ। मैं भी बल के दृष्टिकोण से अपनों में आगे बढ़ने के लिए प्रयत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—जैसे हाथी पशुओं में सर्वाधिक बली है, इसीप्रकार मैं अपने सजातियों में सर्वाधिक बली बनने के लिए यत्नशील होता हूँ।

विशेष—सुरक्षित शक्ति के द्वारा उत्तम सन्तानों का निर्माण करनेवाला यह साधक 'ब्रह्मा' (creater) बनता है। यह जिन सन्तानों को जन्म देता है, वे चन्द्रतुल्य सुन्दर मुखवाले होते हैं। अगले सूक्त का ऋषि यह ब्रह्मा है और देवता 'चन्द्रमाः' है—

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः, योनिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वेहत्वापादक पाप-रोग का विनाश

येन वेहद् बभूविथ नाशयामसि तत्त्वत्। इदं तदन्यत्र त्वदप दूरे नि दध्मसि॥ १ ॥

१. जिस बन्ध्यत्व के आपादक पाप से व तज्जन्य रोग से हे नारि! तू **वेहत्**=(विशेषेण हन्ति गर्भम्) गर्भघातिनी वन्ध्या **बभूविथ**=हो जाती है, उस पाप आदि को **त्वत्**=तुझसे **नाशयामसि**=नष्ट करते हैं। २. **इदम्**=इस **तत्**=उस वेहत्व के आपादक पाप-रोग आदि को **त्वत्**=तुझसे अत्यन्त **दूरे**=अन्य स्थान पर—दूर देश में **अपनिदध्मसि**=अपक्षिप्त करते हैं—कहीं सुदूर देश में फेंकते हैं।

भावार्थ—जिस भी पाप-रोग से बन्ध्यत्व की उत्पत्ति होती है, उसे उचित उपाय द्वारा दूर करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः, योनिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दशमास्यः वीरः

आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान्बाणइवेषुधिम्।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः॥ २ ॥

१. हे नारि! **ते**=तेरे **योनिम्**=जनन-स्थान में **पुमान्**=पुंस्त्व से युक्त **गर्भः एतु**=गर्भ प्राप्त हो। इसप्रकार प्राप्त हो **इव**=जैसेकि **बाणः**=बाण **इषुधिम्**=तरकस को प्राप्त होता है। १. वह **ते**=तेरा गर्भ **पुत्रः**=पुत्ररूप में परिणत हुआ-हुआ **दशमास्यः**=दस महीने तक गर्भ में भृत हुआ-हुआ सर्वावयव सम्पूर्ण **वीरः**=बल से युक्त **अत्र**=इस प्रसूतिकाल में **आजायताम्**=अभिमुख उत्पन्न हो।

भावार्थ—गर्भ में दसमास तक ठीक रूप में पुष्ट हुआ-हुआ वीर पुत्र हमारे घर में जन्म ले।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**चन्द्रमाः, योनिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पुमान् पुत्र की उत्पत्ति

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम्।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयांश्च यान्॥ ३॥

१. हे स्त्रि! **पुमांसम्**=पुंस्त्वोपेत **पुत्रम्**=पुत्र को **जनय**=जन्म दे, **अनु**=उस पुमान् के बाद भी **पुमान् जायताम्**=पुमान् पुत्र ही उत्पन्न हो। २. हे नारि! तू **जातानां पुत्राणाम्**=इन उत्पन्न हुए-हुए पुत्रों की **माता भवासि**=माता होती है, **यान् च**=और जिनको **जनयाः**=भविष्य में जन्म देगी, उनकी भी तू माता होती है। उनका तू उत्तम निर्माण करनेवाली बनती है। प्रयत्न करके तू उन्हें शरीर में स्वस्थ, मन में निर्मल व बुद्धि में तीव्र बनाकर राष्ट्र का उत्तम अंग बनाती है, तभी तो तू माता इस यथार्थ नामवाली होती है।

भावार्थ—हमारे घरों में वीर सन्तानें जन्म लें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**चन्द्रमाः, योनिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऋषभक ओषधि के बीज

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव॥ ४॥

१. **यानि**=जो **भद्राणि**=भजनीय, अमोघवीर्य **बीजानि**=बीज हैं **च**=और जिन्हें **ऋषभाः**=ऋषभक नामक ओषधियाँ **जनयन्ति**=पैदा करती हैं, **तैः**=उन बीजों से **त्वम्**=तू **पुत्रम्**=नर सन्तान को **विन्दस्व**=प्राप्त कर। २. **सा**=वह तू **प्रसूः**=उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली व **धेनुका**=उस सन्तान को दूध पिलानेवाली **भव**=हो। तू स-पुत्र वृद्धि को प्राप्त हो, मृत-अपत्या न हो।

भावार्थ—ऋषभक नामक ओषधि के बीजों का प्रयोग हमें अमोघ-वीर्य बनाता है। इन बीजों का प्रयोग करनेवाली माता जीवित सन्तानोंवाली होती हुई उन्हें दूध पिलानेवाली होती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**चन्द्रमाः, योनिः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्भुरिग्बृहती**॥

प्राजापत्य

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते।
विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव॥ ५॥

१. हे नारि! **ते**=तेरे साथ **प्राजापत्यम्**=ब्रह्म से निर्मित प्रजा की उत्पत्ति करनेवाले कर्म को **कृणोमि**=करता हूँ। **ते**=तेरे **योनिम्**=गर्भाशय-स्थान को **गर्भः**=गर्भ **आ एतु**=प्राप्त हो। २. हे **नारि**=स्त्रि! **त्वम्**=तू **पुत्रम्**=पुत्र को **विन्दस्व**=प्राप्त हो, **यः**=जो पुत्र **तुभ्यम्**=तेरे लिए, **शम्, असत्**=शान्ति देनेवाला हो **उ**=और **तस्मै**=उस पुत्र के लिए **त्वम्**=तू भी **शम्, भव**=शान्ति देनेवाली हो।

भावार्थ—प्राजापत्य कर्म से हमें सन्तान प्राप्त हो। माता सन्तान के लिए व सन्तान माता के लिए शान्ति देनेवाली हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः, योनिः** ॥ छन्दः—**स्कन्धोग्रीवाबृहती** ॥

दैवी ओषधियाँ

यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता संमुद्रो मूलं वीरुधां बभूव।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥ ६ ॥

१. **यासाम्**=जिन **वीरुधाम्**=विरोहणस्वभावा ओषधियों का **द्यौः**=द्युलोक **पिता**=वृष्टिजलरूप में रेतस् का सेचन करनेवाला उत्पादक पिता **बभूव**=है और उस रेतस को धारण करनेवाली **पृथिवी**=पृथिवी **माता**=जनयित्री है और जिन वीरुधों का **समुद्रः**=स्यन्दनशील जलराशिरूप समुद्र ही **मूलम्**=मूलकारण है। समुद्र ही से तो वाष्पीभूत होकर जल मेघरूप में परिणत होकर बरसता है। २. **ताः**=वे **देवी**=सब रोगों को जीतने की कामना करनेवाली **ओषधयः**=दोषों का दहन करनेवाली ओषधियाँ **त्वा**=तुझे **पुत्रविद्याय**=पुत्र की प्राप्ति के लिए **प्रावन्तु**=प्रकर्षेण रक्षित करें।

भावार्थ—उत्तम वानस्पतिक पदार्थों का प्रयोग हमें नीरोग बनाए व नीरोग सन्तानों को प्राप्त करानेवाला हो।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि 'भृगु' है—तपस्वी (भ्रस्ज् पाके) यह वानस्पतिक पदार्थों का प्रयोग करता है। यह प्रभु के सन्देश को इस रूप में प्रकट करता है—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पयस्वतीः ओषधयः

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः।
अथो पयस्वतीनामा भरे ऽहं सहस्रशः ॥ १ ॥

१. **ओषधयः**=व्रीहि-यव (चावल-जौ) आदि ओषधियाँ **पयस्वतीः**=सारवाली हैं। इनके प्रयोग से **मामकं वचः**=मेरा वचन भी **पयस्वत्**=सारवाला हो। २. **अथ उ**=अब निश्चय से **अहम्**=मैं **पयस्वतीनाम्**=इन सारभूत ओषधियों का **सहस्रशः**=हज़ारों प्रकार से **आभरे**=भरण करता हूँ।

भावार्थ—व्रीहि-यव आदि ओषधियाँ सारवाली हैं। इनके विविध प्रकार के प्रयोग से मेरा वचन भी सदा सारवाला होता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्पथ्यापङ्क्तिः** ॥

पयस्वान् संभृत्वा, अयः

वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु।
संभृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे योयो अयज्वनो गृहे ॥ २ ॥

१. **अहम्**=मैं **पयस्वन्तम्**=उस सारवाले देव को **वेद**=जानता हूँ। वह देव ही **धान्यम्**=व्रीहि-यव आदि को **बहु चकार**=खूब उत्पन्न करते हैं। इस धान्य के द्वारा ही वे प्रभु सब प्राणियों का आप्यायन (वृद्धि) करते हैं। २. **संभृत्वा नाम**=संभरणशील नामक **यः देवः**=जो देव है **तं वयं हवामहे**=उसे हम पुकारते हैं। ये प्रभु सर्वत्र स्थित सार का संभरण करनेवाले हैं और **यः**=जो प्रभु **अयज्वनः**=अयज्ञशील पुरुष के **गृहे**=घर में **अयः**=अग्नि (fire) के समान हैं, उसमें स्थित

सब द्रव्यों को भस्म करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु 'पयस्वान्' हैं—सारभूत पदार्थोंवाले हैं। प्रभु ही व्रीहि-यव आदि धान्यों को जन्म देते हैं। ये संभरणशील प्रभु अयज्ञशील पुरुष के गृह में अग्नि के समान दाहक हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

स्फाति

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः।
वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान्॥ ३ ॥

१. **इमाः**=ये **याः**=जो **पञ्च**=पाँच **प्रदिशः**=प्रकृष्ट दिशाएँ हैं और इनमें जो ये **मानवीः**=मनुष्य-सम्बन्धी **पञ्च**=पाँच (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद) **कृष्टयः**=प्रजाएँ हैं, वे **इह**=यहाँ—इस जीवन में **स्फातिम्**=धन-धान्य की समृद्धि को **समावहान्**=प्राप्त कराएँ। २. इसप्रकार धन-धान्य की समृद्धि को प्राप्त कराएँ **इव**=जैसे **वृष्टे**=मेघजल का वर्षण होने पर **नदीः**=(नद्यः इव) नदियाँ **शापम्**=अन्नाभावरूप सब शाप को **समावहान्**=दूर बहा ले जाती हैं। नदियाँ सब ऊषर भूमियों को सींचकर धन-धान्य की वृद्धि का कारण बनती हैं और इसप्रकार अन्नाभाव के शाप को दूर करती हैं।

भावार्थ—वृष्टि होकर अन्नाभाव का अभिशाप दूर हो। सब प्रजाएँ सब दिशाओं में धन-धान्य की समृद्धि प्राप्त करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शतधार-सहस्रधार उत्स

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम्। एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम्॥ ४॥

१. यहाँ गतमन्त्र से 'वृष्टे' शब्द की अनुवृत्ति है। (वृष्टे) वृष्टि होने पर **उत्सम्**=जलोत्पत्ति-सधान (निर्झर) **शतधारम्**=सैकड़ों उदक-धाराओं से युक्त होता हुआ तथा **सहस्रधारम्**=हज़ारों धाराओं का रूप धारण करता हुआ **अक्षितम्**=(न क्षितं यस्मात्) विनाश को दूर करनेवाला होकर **उद् (भवति)**=उद्भूत होता है। २. **एव**=इसीप्रकार **अस्माकम्**=हमारा **इदम् धान्यम्**=यह धान्य **सहस्रधारम्**=अपरिमित धाराओं से युक्त—बहुत प्रकार के उपायों से बढ़ा हुआ **अक्षितम्**=क्षयरहित हो। यह धान्य धारण करनेवाला हो, विनाश से बचानेवाला हो।

भावार्थ—वृष्टि से सैकड़ों धाराओंवाले स्रोत फूट पड़ें और हमें सहस्रों का धारण करनेवाले धान्य प्राप्त हों।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

धन-धान्य की समृद्धि व कर्त्तव्य-कर्मों की स्फाति

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर। कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह॥ ५ ॥

१. हे **शतहस्त**=सैकड़ों हाथों से युक्त प्रभो! आप सैकड़ों हाथों से **समाहर**=हमारे लिए धन-धान्य प्राप्त कराईए। हे **सहस्रहस्त**=हज़ारों हाथोंवाले प्रभो! **संकिर**=हममें धनों को प्रेरित कीजिए (विक्षिप)। २. **च**=और इसप्रकार **इह**=इस जीवन में **कृतस्य कार्यस्य**=कर्त्तव्यभूत कार्यों की **स्फातिम्**=समृद्धि को **समावह**=दीजिए। हम धन-धान्य प्राप्त करके अपने कर्त्तव्य-कर्मों को ठीक रूप से करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु हमें प्रभूत धन-धान्य प्राप्त कराएँ। पोषण की चिन्ता से रहित होकर हम अपने कर्त्तव्य-कर्मों को ठीक रूप से करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तीन+चार+एक

तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः।
तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि॥ ६॥

१. अर्जित धन-धान्य में से **तिस्रः मात्रा**=तीन अंश **गन्धर्वाणाम्**=ज्ञान को धारण करनेवाले के हों, अर्थात् धन के तीन अंश ज्ञान-प्राप्ति में व्ययित (खर्च) हों। बच्चों के शिक्षण, पुस्तकों के संग्रह व पाठशाला के लिए दान आदि कार्यों में धन के तीन अंशों का विनियोग किया जाए २. **चतस्त्रः**=धन की चार मात्राएँ **गृहपत्न्याः**=गृहपत्नी की हों। इन्हें वह घर के आवश्यक अन्न-वस्त्र आदि के जुटाने में प्रयुक्त करेगी। ३. **तासाम्**=उन मात्राओं में **या**=जो **स्फातिमत्तमा**=अतिशयेन वृद्धि से युक्त है—राष्ट्र-वृद्धि का कारण बनती है **तया**=उस कला से **त्वा अभिमृशामसि**=तुझे छूते हैं। धन की इस आठवीं कला को राजा के लिए देते हैं, जिसके द्वारा वह राष्ट्रवृद्धि के कार्यों को करनेवाला होता है।

भावार्थ—धन को हम आठ भागों में बाँटें, तीन अंशों का शिक्षा व ज्ञानवृद्धि में व्यय करें, चार अंशों को घर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तथा एक अंश को राजा के लिए कर-रूप में दें, जिससे राष्ट्र की वृद्धि ठीक रूप से हो सके।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उपोह+समूह

उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते।
ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम्॥ ७॥

१. **उपोहः**=(उप समीपं अहति प्रापयति) अप्राप्त धान्य आदि को प्राप्त करना, अर्थात् योग **च**=और **समूहः**=(प्राप्तं समूहति अभिवर्धयति) प्राप्त धन-धान्य का अभिवर्धन व रक्षण, अर्थात् क्षेम **च**=निश्चय से **ते**=तेरे **क्षत्तारौ**=क्षतों से त्राण करनेवाले हैं। ये योग-क्षेम हे **प्रजापते**=परिवार का पालन करनेवाले सद्गृहस्थ! तेरे रक्षक हैं। **तौ**=वे योग और क्षेम **इह**=यहाँ—इस घर में **बहुं स्फातिम्**=खूब ही वृद्धि को **आवहताम्**=प्राप्त कराएँ, जो वृद्धि **भूमानम्**=घर की सत्ता का कारण बनती है। (भू सत्तायाम्) तथा **अक्षितम्**=घर को विनाश से बचाती है।

भावार्थ—एक गृहस्थ योग-क्षेम का ध्यान करे। ये ही घर की स्थिति या विनाश का करण बनते हैं। अगले सूक्त का ऋषि भी 'भृगु' ही है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कामेषुः, मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उत्तुदः (कामः)

उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा धृथाः शयने स्वे।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि॥ १॥

१. पति पत्नी से कहता है कि **उत्तुदः**=(उत्कृष्टं तुदति) बहुत पीड़ित करनेवाला यह 'काम' **त्वा उत्तुदतु**=तुझे पीड़ित करे। तू कामार्त्ता होकर **स्वे शयने**=अपने बिछौने पर **मा धृथाः**=मत पड़ी रहे, तेरा झुकाव मेरी ओर हो। तू मुझसे मेल की कामनावाली हो। २. **या**=जो **कामस्य**=कामदेव का **भीमा इषुः**=भयकारी बाण है, **तया**=उस बाण से **त्वा**=तुझे **हृदि**=हृदय

में **विध्यामि**=बींधता हूँ।

भावार्थ—पत्नी में पति के प्रति संग की कामना हो। यह काम पत्नी को पति के प्रति झुकाववाला करे।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कामेषुः, मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

काम का बाण

आधीपर्णां कामशल्यामिषुं सङ्कल्पकुल्मलाम्।
तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि॥ २॥

१. **आधीपर्णाम्**=मानस पीड़ाएँ ही जिसके पत्ते हैं, **कामशल्याम्**=अभिलाषा (रिरंसा) ही जिसका शल्य है (बाणाग्रे प्रोतं आयसं अंगम्), **संकल्पकुल्मलाम्**=भोगविषयक संकल्प ही जिसका कुल्मल है—दारु और शल्य को जोड़नेवाला द्रव्य है—ऐसा यह काम का बाण है। २. **ताम्, इषुम्**=उस काम के बाण को **सुसन्नताम्**=लक्ष्य की ओर ठीक झुका हुआ **कृत्वा**=करके **कामः**=यह कामदेव **त्वा**=तुझे **हृदि विध्यतु**=हृदय में विध्य करे।

भावार्थ—काम का बाण अति तीक्ष्ण है। उससे विद्ध होकर पत्नी पति की ओर झुकाववाली हो।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कामेषुः, मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्लीहा का शोषक कामेषु

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसंनता।
प्राचीनपक्षा व्यो॑षा तया विध्यामि त्वा हृदि॥ ३॥

१. **या**=जो **प्लीहानम्**=हृदय के परिसर भाग में होनेवाले प्लीहा नामक प्राणाश्रय मांसखण्ड को **शोषयति**=सुखा डालता है, वह **कामस्य**=काम का **इषुः**=बाण **सुसन्नता**=सम्यक् लक्ष्य की ओर झुका है। २. यह बाण **प्राचीनपक्षा**=प्राञ्चन—आगे बढ़नेवाला व ऋजु=सरल पक्षोंवाला है, **व्योषा**=विशेषरूप से जलानेवाला है, **तया**=उस बाण से **त्वा**=तुझे **हृदि**=हृदय में **विध्यामि**=बींधता हूँ।

भावार्थ—काम से पीड़ित व्यक्ति प्राणान्त की पीड़ा को अनुभव करता है। काम के बाण से विद्ध पत्नी पति के प्रति प्रेमवाली होती है और पति को पाकर अपने में प्राणशक्ति का अनुभव करती है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कामेषुः, मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मृदुः, निमन्युः, केवली

शुचा विद्धा व्यो॑षया शुष्कास्याभि सर्प मा।
मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता॥ ४॥

१. **व्योषया**=विशेष दाह करनेवाले, **शुचा**=शोकवर्धक बाण से **विद्धा**=बिंधी हुई तू **शुष्कास्या**=शोक के कारण शुष्क मुखवाली **मा अभिसर्प**=मुझे प्राप्त हो। अब तू **मृदुः**=मृदुस्वभावा, **निमन्युः**=क्रोधरहित (न्यक्कृतप्रणय-कलहा) **केवली**=असाधारणा—केवल मेरी कामनावाली, **प्रियवादिनी**=प्रिय शब्दों को बोलनेवाली व **अनुव्रता**=अनुकूल कर्मों को करनेवाली हो।

भावार्थ—काम का बाण पति के प्रति पत्नी के प्रेम को बढ़ानेवाला हो। यह उसे अधिक मृदु व पतिव्रता बनाये।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—**कामेषुः, मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रेमकशा से पत्नी का आकर्षण

आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥ ५॥

१. हे पत्नि! **त्वा**=तुझे **मातुः परि अथ उ पितुः** (परि)=माता व पिता के पास से **आजन्या**=प्रेम की कशा (चाबुक) के द्वारा **आ अजामि**=अपने अभिमुख प्रेरित करता हूँ। पति पत्नी के प्रति इसप्रकार प्रेमवाला हो कि पत्नी को अपने माता-पिता के वियोग का कष्ट अनुभव न हो। २. मैं तुझे प्रेमकशा से इसप्रकार आहत करता हूँ कि **यथा**=जिससे तू **मम**=मेरे **क्रतौ असः**=संकल्पों व कर्मों में ही निवास करनेवाली हो और **मम चित्तम्**=मेरे चित्त को **उपायसि**=समीपता से प्राप्त हो। तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल हो।

भावार्थ—पत्नी पति के प्रेम-व्यवहार से आकृष्ट होकर सदा पति-परायणा हो।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—**कामेषुः, मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पितृगृह-विस्मृति

व्य∫स्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम्।
अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे॥ ६॥

१. हे **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **अस्यै**=इस स्त्री के लिए **हृदः**=हृदय से—अन्तःकरण से **चित्तानि**=चेतनाओं को—पितृगृह की स्मृतियों को **वि-अस्यतम्**=दूर क्षिप्त कर दो। इसे यहाँ पतिगृह में इसप्रकार स्नेह व निर्द्वेषता का वातावरण प्राप्त हो कि यह पितृगृह के सुखों को याद न कर पाये। २. **अथ**=अब **एनाम्**=इसे **अ-क्रतुं कृत्वा**=पितृगृह में जाने के सब प्रकार के संकल्पों से रहित करके **मम एव**=मेरे ही **वशे कृणुतम्**=वश में करो। मेरे स्नेह व निर्द्वेषता के भाव इसे पूर्णतया मेरे वश में कर दें।

भावार्थ—पत्नी को पतिगृह में प्रेम व निर्द्वेषता के भाव इसप्रकार प्राप्त हों कि वह पितृगृह को याद ही न करे।

विशेष—गत सूक्त के अनुसार काम का स्वरूप यह है कि यह 'उत्तुद' है। काम का बाण आधीपर्णा है। यह काम वह है जो कि प्लीहानं शोषयति। इसका 'इषु व्योषा' है। इस स्वरूप को स्मरण करता हुआ व्यक्ति उचित प्रेम रखता हुआ कामासक्त नहीं होता। सदा आत्मनिरीक्षण करनेवाला यह अथर्वा बनता है—अथ अर्वाङ् (now within)। यह प्रार्थना करता है कि—

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—**साग्नयो हेतयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्पञ्चपदाविपरीतपादलक्षाः** ॥

प्राच्यां हेतयो नाम देवाः

ये३ऽस्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां वो अग्निरिषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा॥ १॥

१. प्राची का भाव 'प्र अञ्च' अर्थात् निरन्तर आगे बढ़ना है। इस प्राची (पूर्व) दिशा में उदित हुआ-हुआ सूर्य निरन्तर आगे बढ़ता हुआ सर्वोच्च स्थित (zenith) सूर्य हमें भी आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। इस प्रेरणा को प्राप्त करनेवाले साधक **हेतयः**=आसुरभावों के हन्ता बनते हैं। **ये**=जो **अस्याम्**=इस **प्राच्यां दिशि स्थ**=प्राची दिशा में स्थित होकर निरन्तर आगे बढ़ रहे हो,

वे आप **हेतयः**='आसुरभावों के विनाशक' इस नामवाले **देवाः**=देव **स्थ**=होते हो। **तेषां वः**=उन आपका **अग्निः**=यह अग्नि **इषवः**=प्रेरक है। अग्नि अग्रणी है। हमें भी अग्नि बनने के लिए प्रेरित कर रहा है। अग्नि सब मलों को भस्म करनेवाला है। ये देव भी सब आसुरभावों का हनन करनेवाले 'हेतयः' कहलाते हैं। २. हे हेतयः! **ते**=वे आप **नः मृडत**=हमें सुखी करो। **ते**=वे आप **नः**=हमारे लिए **अधिब्रूत**=आधिक्येन उपदेश दो। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **स्वाहा**=हम अपना अर्पण करते हैं। आपके सम्पर्क में हम भी 'हेतय' बन पाएँगे।

भावार्थ—हम प्राची दिशा से आगे बढ़ने का पाठ पढ़ें। इस पाठ को पढ़कर हम आसुरभावों के हन्ता बनें। अग्नि से हम निरन्तर आगे बढ़ने का पाठ पढ़ें। इस पाठ को पढ़कर हम आसुरभावों के हन्ता बनें। अग्नि हमें निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा देगी। इन देवों से हम भी उपदेश ग्रहण करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सकामा अविष्यवः** ॥ छन्दः—**जगती, पञ्चपदाविपरीतपादलक्षाः** ॥

दक्षिणस्यां अविष्यवो नाम देवाः

ये ३स्यां स्थ दक्षिणायां दिश्य विष्यवो नाम देवास्तेषां वः काम इषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा॥ २॥

१. **ये**=जो **अस्याम्**=उस **दक्षिणायां दिशि**=दक्षिण दिशा में स्थित हो—कुशलता की दिशा में स्थित हो—कुशलता के मार्ग से चल रहे हो, वे आप **अविष्यवः नाम**='अविष्यु' नामवाले—अपना रक्षण करनेवाले **देवाः स्थ**=देव हो, **तेषां वः**=उन आपका **कामः**=संकल्प—प्रबल इच्छा ही **इषवः**=प्रेरक है। कामना के बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता, बिना कामना के कुशलता से कर्मों के करने का प्रश्न ही नहीं उठता। कामना होने पर मनुष्य एकाग्रता से कार्य करता है, अतः वह कर्म कुशलता से होता है। जैसे एक कुशल सपेरा साँप को कुशलता से पकड़ता है, साँप उसे काट नहीं पाता। इसीप्रकार इस योगी के द्वारा कार्य ऐसी कुशलता से किये जाते हैं कि ये उसे बाँध नहीं पाते। २. **ते**=वे अविष्यु नामक देवो! आप **नः**=हमें **मृडत**=सुखी करो। **ते**=वे आप **नः**=हमारे लिए **अधिब्रूत**=आधिक्येन उपदेश दीजिए। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **नमः**=नमस्कार हो। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **स्वाहा**=हम आत्मसमर्पण करते हैं। आपके प्रति अपना समर्पण करके हम भी 'अविष्यु' बनें।

भावार्थ—गतमन्त्र के अनुसार निरन्तर आगे बढ़नेवाले लोग जिस भी कार्य को करते हैं, उसमें कुशलता प्राप्त करते हैं। कुशलता से कार्य करते हुए ये अपना रक्षण कर पाते हैं। उन कर्मों से ये बद्ध नहीं होते। हम भी उनसे दाक्षिण्य का पाठ पढ़ें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अब्युक्ता वैराजः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्पञ्चपदाविपरीतपादलक्षाः** ॥

प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवाः

ये ३स्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां वः आप इषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा॥ ३॥

१. 'प्रतीची' दिशा 'प्रति+अञ्च' वापस आने—इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहृत करने की दिशा है। **ये**=जो **अस्यां प्रतीच्याम्**=इस पश्चिमा—प्रतीची—प्रत्याहार की दिशा में **वैराजाः नाम**=वैराज नामवाले **देवाः**=देव **स्थ**=हैं—विशिष्टरूप से दीप्त होनेवाले व अपने जीवन को बड़ा व्यवस्थित (regulated) करनेवाले देव हैं, **तेषां वः**=उन आपका **आपः**=शरीरस्थ रेतःकणरूप

जल **इषवः**=प्रेरक हैं। इन कणों का रक्षण तभी होता है जब हम इन्द्रियों को विषयों से वापस ला पाते हैं और इनके रक्षण से ही हम '**वैराज**'=दीप्त जीवनवाले बनते हैं। मानो ये 'आपः' यही कह रहे हैं कि हमारा रक्षण ही तुम्हें 'वैराज' बनाएगा। २. **ते**=वे **वैराजः**=वशिष्टरूप से दीप्त जीवनवाले देवो! आप **नः मृडत**=हमपर अनुग्रह करो। **ते**=वे आप **नः**=हमारे लिए भी **अधिब्रूत**=इस प्रत्याहार का खूब ही उपदेश दो। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **नमः**=नमस्कार हो। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **स्वाहा**=हमारा अर्पण हो। आपके प्रति अपना अर्पण करके हम भी 'वैराज' बनें।

भावार्थ—संसार में हम प्रतीची दिशा से प्रत्याहार का पाठ पढ़ें और अपने जीवनों को दीप्त बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सवाताः प्रविध्यन्तः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्, पञ्चपदाविपरीतपादलक्षाः** ॥

उदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवाः

ये३॑ऽस्यां स्थोदी॑च्यां दि॒शि प्र॒विध्य॑न्तो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो॒ वात॒ इष॑वः।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

१. प्रत्याहार का पाठ पढ़कर अब मनुष्य ऊपर उठता है—उन्नत होता है। यही उदीची दिक् (उद्+अञ्च=ऊपर उठना) है। **ये**=जो **अस्याम्**=इस **उदीच्यां दिशि**=उदीची दिशा में—उत्तर दिशा में **प्रविध्यन्तः**=सब शत्रुओं का वेधन करके ऊपर उठनेवाले 'प्रविध्यन्' नामक **देवाः स्थ**=देव हैं, **तेषां वः**=उन आपका यह **वातः**=वायु **इषवः**=प्रेरक है। वायु गति के द्वारा सब मलों का संहार करता है। शरीर में प्राण के रूप में यह सब दोषों को दग्ध करता है—'**प्राणायामैर्दहेद् दोषान्**'। यह वायु हमें भी उत्कृष्ट गति द्वारा सब बुराइयों के संहार का उपदेश करता है। २. **ते**=वे प्रविध्यन् नामक देवो! **नः मृडत**=हमें सुखी करो। **ते**=वे आप **नः**=हमारे लिए **अधिब्रूत**=आधिक्येन उपदेश दो। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **नमः**=नमस्कार हो। **तेभ्यःवः**=उन आपके लिए **स्वाहा**=हमारा समर्पण हो। आपके सम्पर्क में हम भी 'प्रविध्यन्' नामक देव बनें।

भावार्थ—उदीची दिक् हमें ऊपर उठने की प्रेरणा दे। सब बाधाओं को विद्ध करके हम उन्नत होते चलें। वायु से गति के द्वारा सब दोषों को दग्ध करने की प्रेरणा लें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सौषधिका निलिम्पाः** ॥ छन्दः—**जगती, पञ्चपदाविपरीतपादलक्षाः** ॥

ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवा

ये३॑ऽस्यां स्थ ध्रु॒वायां॑ दि॒शि निलि॒म्पा नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ व॒ ओष॑धी॒रिष॑वः।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

१. उन्नति के लिए नींव की दृढ़ता व स्थिरता आवश्यक है, अतः ध्रुवा दिशा आती है। यह स्थिरता का पाठ पढ़ाती है। **ये**=जो **अस्याम्**=इस **ध्रुवायां दिशि**=ध्रुवा दिक् में **निलिम्पाः नाम**=उस उन्नति के कार्य में नितरां लिप्त हो जानेवाले—उन्नति में ही लिप्त व आश्रित (लगे हुए) निलिम्प नामक **देवाः स्थ**=देव हैं। ये शत्रुओं को विद्ध करके ब्रह्मरूप लक्ष्य के वेधन का प्रयत्न करते हैं—'**प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्**'॥ **तेषां वः**=उन आपकी **ओषधीः इषवः**=व्रीहि-यवादि ओषधियाँ प्रेरक हैं। इन सब ओषधियों की जड़ें भूमि में जितनी दृढ़ हो जाती हैं, उतनी ही ये फूलती-फलती हैं। इसप्रकार हम जितना आधार को दृढ़ बनाएँगे उतना ही उन्नत हो पाएँगे। २. **ते**=वे निलिम्प

नामक देवो! **नः मृडत**=हमपर अनुग्रह करो। **ते**=वे आप **नः**=हमारे लिए **अधिब्रूत**=आधिक्येन उपदेश दो। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **नमः**=नमस्कार हो। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **स्वाहा**=हमारा समर्पण हो।

भावार्थ—निलिम्प नामक देववृत्ति के पुरुषों के सम्पर्क में हम भी निलिम्प बनें, उन्नति के कार्यों में स्थिरता से लगे रहें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**बृहस्पतियुक्ता अवस्वन्तः**॥ छन्दः—**जगतीपञ्चपदाविपरीतपादलक्षाः**।

ऊर्ध्वायां दिशि अवस्वन्तो नाम देवाः

ये ३स्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा॥ ६॥

१. **ये**=जो **अस्याम्**=इस **ऊर्ध्वायाम्**=उन्नति की चरमसीमारूप ऊर्ध्वा **दिशि**=दिक् में **अवस्वन्तः नाम**='अपना पूर्णतया रक्षण करनेवाले' अवस्वान् नामक **देवाः स्थ**=देव हैं। जो अपना पूर्ण रक्षण करते हैं, वे ही ऊर्ध्वा दिक् के अधिपति बनते हैं—उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँच पाते हैं। **तेषां वः**=उन आपका **बृहस्पतिः इषवः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु ही प्रेरक है। हृदयस्थ प्रभु से प्रेरणा प्राप्त करते हुए ये प्रभु के समान ही बनने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः ज्ञान ही हमारा रक्षण करता है। ज्ञानाग्नि में सब बुराइयाँ भस्म हो जाती हैं। **ते नः मृडत**=वे अवस्वान् नामक देव हमपर अनुग्रह करें। **ते नः अधिब्रूत**=वे हमारे लिए आधिक्येन उपदेश देनेवाले हों **तेभ्यः वः नमः**=उन आपके लिए नमस्कार हो। **तेभ्यः वः स्वाहा**=उन आपके लिए हमारा समर्पण हो।

भावार्थ—हम ज्ञान के द्वारा अपना पूर्णतया रक्षण करते हुए ऊर्ध्वा दिक् के अधिपति बनें।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'अथर्वा' ही है।

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**प्राची, अग्निः, असितः, आदित्याः**॥
छन्दः—**अष्टिः पञ्चपदाविपरीतपादलक्षाः**॥

प्राची दिक्

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ १॥

१. **प्राची दिक्**=(प्र अञ्च) आगे बढ़ने की दिशा है। इसमें उदित होकर सूर्य आगे-और-आगे बढ़ता है। इसीप्रकार इस दिशा का संकेत प्राप्त करके जो आगे बढ़ता चलता है, वह एक दिन इस प्रगति का **अधिपतिः**=स्वामी होता है। इसका नाम **अग्निः**=अग्नि हो जाता है। इसने आगे बढ़ते हुए अपने आपको अग्रस्थान पर प्राप्त कराया है। इस प्रगति का **रक्षिता**=रक्षक **असितः**=अ+सित है-अबद्ध है। जो विषयों से बद्ध नहीं हुआ वही प्रगति के मार्ग का पथिक होता है। इस प्रगति के लिए निरन्तर आगे बढ़ते हुए **आदित्याः**=सूर्य **इषवः**=प्रेरक हैं। सूर्य से प्रेरणा प्राप्त करके हम सूर्य के समान निरन्तर आगे बढ़ते हैं। २. **तेभ्यः नमः**=उन्नति-पथ पर चलनेवालों के लिए नमस्कार हो। **रक्षितृभ्यः नमः**=उन्नति के रक्षकों के लिए नमस्कार हो। **इषुभ्यः**=उन्नति की प्रेरणा देनेवालों के लिए **नमः**=नमस्कार हो। **एभ्यः**=इन सबके लिए हमारा नमस्कार **अस्तु**=हो। **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हम सबके साथ द्वेष करता है और

यम्=जिससे **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=प्रीति नहीं करते **तम्**=उस समाज-द्वेषी को **वः**=आपके **जम्भे**=न्याय के जबड़े में **दध्मः**=स्थापित करते हैं। स्वयं दण्ड देने की अपेक्षा यही उचित है कि उसे अधिकारियों को सौंप दिया जाए। स्वयं दण्ड देने से तो अव्यवस्था ही बढ़ेगी।

भावार्थ—हम 'प्राची दिक्' का ध्यान करते हुए आगे बढ़ें। इस दिशा के अधिपति 'अग्नि' बनें। विषयों से अबद्ध होकर आगे बढ़ते चले जाएँ। सूर्य से आगे बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त करें। इन सब अग्नि आदि के लिए आदर का भाव रखें। जो द्वेष करे, उसे उन्हें सौंप दें, जिससे वे उसे उचित दण्ड आदि की व्यवस्था से द्वेषरहित करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**दक्षिणा, इन्द्रः, तिरश्चिराजिः, पितरः**॥ छन्दः—**अत्यष्टिः (पञ्चपदाः)**।

दक्षिणा दिक्

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ २॥

१. **दक्षिणा दिक्**=दाक्षिण्य की दिशा है। जो भी व्यक्ति 'प्राची' का पाठ पढ़कर निरन्तर आगे बढ़ता चलेगा, वह उस-उस कार्य में अवश्य निपुण बनेगा ही। इस नैपुण्य के कारण इसका ऐश्वर्य वृद्धि को प्राप्त होगा, अतः इस दिशा का **अधिपतिः**=स्वामी **इन्द्रः**=परमैश्वर्याशाली है। २. इस नैपुण्य की **रक्षिता**=रक्षक **तिरश्चिराजी**=पशु-पक्षियों की पंक्ति हैं। प्रभु ने इनमें वासनात्मकरूप (instinct) से दाक्षिण्य रक्खा है। मधुमक्खिका किस अद्भुत कुशलता से फूलों से रस लेती है और शहद का निर्माण करती है। चील किस कुशलता से आकाश में पंख हिलाये बिना ही उड़ती जाती है। सिंह का नदी को सीधा तैरना कितना विस्मयकारक है। ३. इस नैपुण्य के लिए **इषवः**=प्रेरणा देनेवाले **पितरः**=माता-पिता हैं। ये अपने सन्तानों को निरन्तर निपुण बनने की प्रेरणा देते रहते हैं। (शेष पूर्ववत्)।

भावार्थ—हम दक्षिण दिशा से नैपुण्य प्राप्त करने का संकेत ग्रहण करें। नैपुण्य हमें ऐश्वर्यशाली बनाएगा। प्रभु ने इस नैपुण्य को पशु-पक्षियों में रक्खा है। माता-पिता सदा इस नैपुण्य के लिए सन्तानों को प्रेरणा देते रहते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**प्रतीची, वरुणः, पृदाकुः, अन्नम्**॥ छन्दः—**अत्यष्टिः (पञ्चपदाः)**॥

प्रतीची दिक्

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार ऐश्वर्य प्राप्त करके कहीं हम इन्द्रिय-विषयों में आसक्त न हो जाएँ, अतः **प्रतीची दिक्**=प्रतीची दिक् आती है और हमें 'प्रति अञ्च' वापस लौटने का उपदेश देती है। यही योग में 'प्रत्याहर' कहलाता है। इन्द्रियों को विषयों से वापस लाना ही 'प्रतीची' का पाठ है। इस प्रत्याहार का **अधिपतिः**=स्वामी **वरुणः**=वरुण है—इन्द्रियों को विषयों से निवारित करनेवाला। इस प्रत्याहार से इसका जीवन श्रेष्ठ बनता है 'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः'। २. इस प्रत्याहार की **रक्षिता**=रक्षा करनेवाली यह **पृदाकुः**=पालन व पूरण के लिए (पृ) सब-कुछ देनेवाली (दा) यह पृथिवी (कु) है। यह अपने से दूर गई हुई वस्तुओं को फिर से अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। इसी प्रकार हमें भी भटकी हुई इन्द्रियों को लौटना है। ३. नहीं

लौटाएँगे तो इन्द्रियाँ भोगों में फँस जाएँगी और हम रोगाक्रान्त व दुर्बल जाठराग्निवाले होकर सामान्य अन्न भी न खा सकेंगे, अतः यह **अन्नम्**=अन्न ही **इषवः**=इस प्रत्याहार की प्रेरणा दे रहा है, मानो यह कह रहा है कि इन्द्रियों को विषयासक्ति से रोको, अन्यथा कुछ वर्षों बाद तुम मुझे भी आस्वादित नहीं कर पाओगे। (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम ऐश्वर्य को प्राप्त करके प्रत्याहार का पाठ पढ़ें। यही श्रेष्ठ बनने का मार्ग है। जैसे पृथिवी दूरङ्गत वस्तुओं को अपनी ओर खेंचती है, उसी प्रकार हम इन्द्रियों को विषयव्यावृत करें तभी हम अन्त तक जाठराग्नि के ठीक रहने से अन्न को आस्वादित कर पाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उदीची, सोमः, स्वजः, अशनिः,**॥ छन्दः—**अत्यष्टिः (पञ्चपदाः)**॥

उदीची दिक्

उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रत्याहार का पाठ पढ़ने पर हम उन्नत होंगे। यही **'उदीची दिक्'** का सन्देश है-'उद् अञ्च'=ऊपर चलें—उन्नति करते चलें। इस उन्नति की दिशा का **अधिपतिः**=स्वामी **सोमः**=सोम है—सौम्य स्वभाव का, विनीत। वस्तुतः वास्तविक उन्नति की पहचान है ही 'विनीतता'। भतृहरि के शब्दों में '**नम्रत्वेनोन्नमन्तः**'–नम्रता से ही ये अधिक उन्नत होते हैं। २. इस उन्नति का **रक्षिता**=रक्षक **स्वजः**=खूब क्रियाशीलता है—'अज गतौ'। क्रियाशीलता के द्वारा सब बुराइयों को परे फेंकता हुआ यह उन्नत और उन्नत होता चलता है। **अशनिः**=अग्नि इस दिशा की **इषवः**=प्रेरक है। अग्नि की लपट सदा ऊपर जाती है। सदा ऊपर जाती हुई यह अग्नि की लपट हमें भी ऊपर उठने की प्रेरणा देती है। (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—इन्द्रियों का विषयों से प्रत्याहरण हमें ऊपर ले-चलता है। उन्नत पुरुष विनीत बनता है। क्रियाशीलता द्वारा मलों को दूर फेंकता हुआ यह उन्नति का रक्षक होता है। आग की ऊर्ध्वमुखी ज्वाला से यह ऊपर-और-ऊपर उठने की प्रेरणा लेता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ध्रुवा, विष्णुः, कल्माषग्रीवः, वीरुधः**॥ छन्दः—**भुरिगष्टिः (पञ्चपदाः)**॥

ध्रुवा दिक्

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हमें ऊपर-और-ऊपर उठना है। ऊपर उठने के लिए आधार का ध्रुव (स्थिर) होना आवश्यक है, अतः **ध्रुवा दिक्**=स्थिरतरता की दिशा ध्रुवता का संकेत करती है। अपने आधार को हम बड़ा दृढ़ बनाएँ। नींव जीतनी विशाल होगी उतना ही ठीक, अतः इस दिशा का **अधिपतिः**=स्वामी **विष्णुः**=(विष् व्याप्तौ) व्यापक उन्नतिवाला है। यह 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों को खूब विकसित करने का प्रयत्न करता है। २. इस ध्रुवा दिक् का **अधिपतिः**=स्वामी **कल्माषग्रीवः**=चित्रित कण्ठवाला है। विविध विद्याओं से सुभूषित कण्ठवाला व्यक्ति ही उन्नति की ध्रुव नींव की स्थापना करता है। **वीरुधः**=प्रतानिनी लताएँ—फैली हुई बेलें **इषवः**=प्रेरणा दे रही हैं, मानो ये कह रही हैं कि तुम भी हमारी भाँति अपने को फैलाओ। जितना अपने को फैलाओगे, उतनी ही तुम्हारी नींव दृढ़ बनेगी और तुम उतना ही अधिक उन्नत हो सकोगे। (शेष

पूर्ववत्)

भावार्थ—हम अपनी उन्नति के आधार को दृढ़ बनाएँ। शरीर, मन, मस्तिष्क—तीनों को उन्नत करें। विविध विद्याओं से सुभूषित कण्ठवाले हों तथा फैली हुई बेलों से व्यापकता की प्रेरणा लें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ऊर्ध्वा, बृहस्पतिः, श्वित्रः, वर्षम्**॥ छन्दः—**अष्टिः (पञ्चपदाः)**॥

ऊर्ध्वा दिक्

ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार यदि हम अपनी उन्नति के आधार को ध्रुव बनाएँगे तो उन्नति करते-करते 'ऊर्ध्वा दिक्' में अवस्थित होंगे। यह जीव की उन्नति की चरम सीमा है। इसका **अधिपतिः**=स्वामी **बृहस्पतिः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानवाला 'ब्रह्मणस्पति' है। २. इस चरम उन्नति का **रक्षिता**=रक्षक **श्वित्रः**=श्वेत, शुद्ध, उज्ज्वल जीवनवाला है। धर्ममेघ समाधि की स्थिति में योगी को अनुभव होनेवाली **वर्षम्**=आनन्द की वर्षा **इषवः**=प्रेरक है, मानो यह कह रही है कि इस ऊर्ध्वा दिक् में पहुँचो और उद्भुत आनन्द का अनुभव करो। (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—उन्नति के आधार को व्यापक और ध्रुव बनाकर हम ऊर्ध्वा दिक् में पहुँचे। यहाँ पहुँचने पर हम बृहस्पति कहलाएँगे। जीवन को शुद्ध बनाकर इस ऊर्ध्वतम स्थिति का रक्षण करें और परिणामतः एक आनन्द की वृष्टि का अनुभव करें।

विशेष—इस ऊर्ध्वा दिक् में पहुँचनेवाला ब्रह्मा कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यमिनी**॥ छन्दः—**अतिशक्वरीगर्भाचतुष्पदातिजगति**॥

वेदवाणी का महत्त्व

एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः।
यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा पशून्क्षिणाति रिफती रुशती॥ १॥

१. **एषा**=यह ब्रह्मा से जानी जानेवाली वेदवाणी **एकैकया**=प्रत्येक **सृष्ट्या**=सृष्टि के साथ **संबभूव**=सम्यक् प्रादुर्भूत होती है। सृष्टि के प्रारम्भ में इसका ज्ञान 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' के द्वारा ब्रह्मा में स्थापित किया जाता है। **यत्र**=जिस वेदवाणी में **भूतकृतः**=(भूत=Well-being, welfare) शुभ, मङ्गल व स्वास्थ्य देनेवाली **गाः**=वाणियाँ **असृजन्त**=विसृष्ट होती हैं। ये वाणियाँ **विश्वरूपाः**=सब पदार्थों का निरूपण करनेवाली हैं, सब पदार्थों का ज्ञान देकर ही वस्तुतः ये हमारा मङ्गल करती हैं। २. **यत्र**=इन वेदवाणियों का स्वाध्याय करनेवाला व्यक्ति संयत बुद्धि को प्राप्त करता है, उस बुद्धि को जोकि मन का शासन करनेवाली होती है, नकि मन से शासित होती है। ३. वेदवाणियों के—ज्ञान की वाणियों के अध्ययन के अभाव में जब वह बुद्धि **अपर्तुः (जायते)**=ऋतु-क्रम—नियमित गति से रहित, उच्छृंखल-सी हो जाती है तब **सा**=वह **पशून्**=पशुओं को **क्षिणाति**=हिंसित करती है, मांसाहार व शिकार की ओर झुकती है। मन से शासित होकर यह ठीक सोच ही नहीं पाती। यह **रिफती**=कड़वे शब्दों का उच्चारण (to utter a rough grunting sound) करती है और **रुशती**=औरों को तंग करती है (to tease)। ज्ञान की ओर झुकाव न होने पर मनुष्य शिकार (मांसाहार) में प्रवृत्त होता है, कड़वी वाणी

बोलता है तथा औरों को तंग करने में स्वाद लेता है।

भावार्थ—प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में वेद ज्ञान देते हैं। यह वेदवाणी सब पदार्थों का निरूपण करती हुई हमारा शुभ करती है। इसके अध्ययन से बुद्धि संयत बनती है, अन्यथा मनुष्य शिकार में, कड़वे शब्द बोलने में व औरों को तंग करने में लगा रहता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यमिनी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्रव्यात् व्यद्वरी Vs (बनाम) स्योना शिवा (बुद्धि)

एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद्भूत्वा व्यद्वरी।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात्तथा स्योना शिवा स्यात्॥ २॥

१. **एषा**=यह गतमन्त्र में वर्णित अपर्तु (नियमित गति से रहित) बुद्धि **पशून्**=पशुओं को **संक्षिणाति**=नष्ट करती है। यह **व्यद्वरी**=(वि+अद्)शास्त्र-विरुद्ध भोजनों को खानेवाली **भूत्वा**=होकर **क्रव्यात्**=मांसाहारवाली हो जाती है। २. यदि मनुष्य **उत**=निश्चय से **एनाम्**=इस बुद्धि को अपर्तु न होने देकर, **ब्रह्मणे दद्यात्**=ज्ञान के लिए दे दे—ज्ञान-प्राप्ति में ही लगादे तो **तथा**=वैसा करने पर **स्योना**=सुखदा व **शिवा**=कल्याण-ही-कल्याण करनेवाली **स्यात्**=हो।

भावार्थ—बुद्धि को ज्ञान-प्राप्ति में लगाएँ तो यह सुख व कल्याण करनेवाली होती है, अन्यथा अनियमित गतिवाली होकर शास्त्र-विरुद्ध भोजनों को खाने लगती है, मांसाहार करती हुई पशुओं का संहार करती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यमिनी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शिक्षा (बुद्धि)

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि॥ ३॥

१. हे यमिनि बुद्धे! तू **पुरुषेभ्यः**=सब पुरुषों के लिए **शिवा भव**=कल्याणकारी हो। किसी के लिए कड़वी बात न बोल, किसी को तंग न कर (न रिफती, न रुशती)। **गोभ्यः, अश्वेभ्यः**=गौ व घोड़े आदि पशुओं के लिए भी **शिवा**=कल्याण करनेवाली हो (न क्रव्यात्—मांसाहार करनेवाली नहीं) २. **अस्मै सर्वस्मै**=इस सारे **क्षेत्राय**=क्षेत्र के लिए—शरीरमात्र के लिए (इदं शरीरम् कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते), **शिवा**=तू कल्याणकर हो। **इह**=यहाँ, इस जीवन में **नः**=हमारे लिए **शिवा एधि**=कल्याणकर हो।

भावार्थ—हमारी बुद्धि यमिनी हो नकि अपर्तु। यह सब पुरुषों के साथ मधुर व्यवहार करे और पशुओं को हिंसित करनेवाली न हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यमिनी** ॥ छन्दः—**यवमध्याविराट्ककुप्** ॥

पुष्टि+रस

इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव। पशून्यमिनि पोषय॥ ४॥

१. यमिनी बुद्धि के कारण **इह**=यहाँ—हमारे घरों में **पुष्टिः**=उचित पोषण हो। **इह**=यहाँ **रसः**=रस हो—आपस के मधुर व्यवहार के कारण आनन्द-ही-आनन्द हो। २. हे **यमिनि**=संयत बुद्धि! तू **इह**=यहाँ **सहस्रसातमा**=सहस्रों धनों को अतिशयेन प्राप्त करनेवाली **भव**=हो। ३. तू **पशून्**=पशुओं को **पोषय**=पुष्ट कर, इनका संहार करनेवाली न हो।

भावार्थ—यमिनी (संयत) बुद्धि हमारा पोषण करती है, हमारे व्यवहार को रसमय बनाती है तथा हमें मांसाहार से दूर रखती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यमिनी**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

स्वर्ग

यत्रा॑ सु॒हार्दः॑ सु॒कृतो॒ मद॑न्ति वि॒हाय॒ रोगं॑ त॒न्व१ः॒ स्वायाः॑।
तं लो॒कं य॒मिन्य॑भि॒संब॑भूव॒ सा नो॒ मा हिं॑सी॒त्पुरु॑षान्प॒शूंश्च॑॥ ५॥

१. **यमिनी**=संयमवाली—मन को शासित करनेवाली (मनीषा) बुद्धि **तं लोकं अभि संबभूव**=उस लोक को लक्ष्य करके सत्तावाली होती है, अर्थात् उस लोक को जन्म देती है, **यत्र**=जहाँ **सुहार्दः**=उत्तम हृदयवाले **सुकृतः**=उत्तम कर्म करनेवाले लोग **स्वायाः तन्वः**=अपने शरीर के **रोगं विहाय**=रोग को छोड़कर **मदन्ति**=आनन्द का अनुभव करते हैं, अर्थात् जब तक बुद्धि का शासन रहता है तब तक (क) लोगों के हृदय उत्तम रहते हैं, (ख) उनके कर्म उत्तम होते हैं, (ग) शरीर नीरोग होते हैं। २. **सा**=वह यमिनी बुद्धि **नः**=हमारे **पुरुषान्**=पुरुषों को **च**=और **पशून्**=पशुओं को **मा हिंसीत्**=मत हिंसित करे। यह यमिनी बुद्धि पुरुषों के साथ ककर्श भाषा में व्यवहार नहीं करती और न ही उन्हें पीड़ित करती है। मांसाहार से दूर होने के कारण यह पशुओं का संहार भी नहीं करती। इसप्रकार यह 'यमिनी' स्वर्गलोक का निर्माण करती है।

भावार्थ—जब बुद्धि **यमिनी-मनीषा**=मन का शासन करनेवाली होती है तब १. लोगों के हृदय उत्तम होते हैं, २. उनके कर्म उत्तम होते हैं, ३. शरीर नीरोग होते हैं, ४. पुरुषों के प्रति इनका व्यवहार मधुर होता है, ५. मांसाहार के प्रति अरुचि के कारण यह पशुओं का संहार नहीं करती। इसप्रकार यमिनी बुद्धि घर को स्वर्ग बना देती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यमिनी**॥ छन्दः—**विराड्गर्भाप्रस्तारपङ्क्तिः**॥

उत्तम हृदय, उत्तम कर्म, अग्निहोत्र

यत्रा॑ सु॒हार्दां॑ सु॒कृता॑मग्निहोत्र॒हुतां॒ यत्र॑ लो॒कः।
तं लो॒कं य॒मिन्य॑भि॒संब॑भूव॒ सा नो॒ मा हिं॑सी॒त्पुरु॑षान्प॒शूंश्च॑॥ ६॥

१. **यमिनी**=संयमवाली बुद्धि **तं लोकं अभि**=उस लोक का लक्ष्य करके **संबभूव**=सत्तावाली होती है, अर्थात् उस लोक को जन्म देती है, **यत्र**=जहाँ **सुहार्दाम्**=उत्तम हृदयवालों का तथा **सुकृताम्**=उत्तम कर्म करनेवालों का **लोकः**=लोक होता है। उस लोक को जन्म देती है **यत्र**=जहाँ **अग्निहोत्रहुताम्**=अग्निहोत्र करनेवालों का **लोकः**=लोक होता है। २. **सा**=वह यमिनी बुद्धि **नः**=हमारे **पुरुषान्**=पुरुषों को **मा हिंसीत्**=मत हिंसित करे **च**=और **पशून्**=पशुओं को भी मत हिंसित करे, अर्थात् मांसाहार के प्रति रुचिवाली न हो।

भावार्थ—यमिनी बुद्धि लोगों के हृदयों व कर्मों को उत्तम बनाती है तथा उन्हें अग्निहोत्र की प्रवृत्तिवाला करती है। यह बुद्धि पुरुषों व पशुओं को हिंसित नहीं करती।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि उद्दालक है—राष्ट्र में से सब बुराइयों का दलन करनेवाला। सूक्त का देवता 'शितिपाद् अवि' है—शुद्ध (शिति) गतिवाला रक्षक। राजा उद्दालक है। शुद्ध गतिवाला यह रक्षक है—

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**उद्दालकः**॥ देवता—**शितिपाद् अविः**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

राजा को प्रजाकृत पुण्य के सोलहवें भाग की प्राप्ति

यद्राजा॑नो वि॒भज॑न्त इष्टापू॒र्तस्य॑ षोड॒शं य॒मस्या॒मी स॑भा॒सदः॑।
अवि॒स्तस्मा॒त्प्र मु॑ञ्चति द॒त्तः शि॑तिपा॒त्स्व॒धा॥ १॥

१. **यत्**=जो **राजानः**=प्रजा के जीवन को व्यवस्थित बनानेवाले—प्रजा पर शासन करनेवाले, **यमस्य**=उस नियन्ता सभापति (राष्ट्रपति) के **अमी**=वे **सभासदः**=सभासद् लोग **इष्टापूर्तस्य**=प्रजा से किये जानेवाले यज्ञों व दान-पुण्य के कर्मों (वापी, कूप, तडागादि के बनवानेरूप कर्मों) के **षोडशम्**=सोलहवें भाग को **विभजन्ते**=विभक्त कर लेते हैं, अर्थात् शासकवर्ग से सुरक्षित प्रजा जिन उत्तम कर्मों को करती है, उनका सोलहवाँ भाग इन शासकों को प्राप्त होता है। प्रजारक्षण के कार्य में व्यग्र हुए-हुए ये लोग यज्ञादि के लिए समय नहीं निकाल पाते, परन्तु प्रजा जिन यज्ञादि कर्मों को करती है, उनका सोलहवाँ भाग इन्हें प्राप्त हो जाता है। जैसे प्रजा कमाती है और उसका सोलहवाँ भाग कर के रूप में देती है, इसीप्रकार इन राजाओं को प्रजा के पुण्य का भी सोलहवाँ भाग प्राप्त होता है। **तस्मात्**=उस सोलहवें भाग को प्राप्त करने के कारण **अविः**=यह रक्षण करनेवाला राजा **प्रमुञ्चति**=प्रजा को चोरों व डाकुओं आदि के भय से मुक्त करता है। इन भयों से मुक्त प्रजा ही कमा सकेगी तथा यज्ञ आदि कर पाएगी। २. **दत्तः**=(दत्तं यस्मै सः) जिस राजा के लिए इन पुण्यों का सोलहवाँ भाग दिया गया है, वह राजा **शितिपात्**=सदा शुद्ध गतिवाला होता है। वह शिकार खेलना आदि व्यसनों में नहीं फँसता। इसे प्रजा-रक्षण के कार्य से अवकाश ही नहीं मिलता। यह **स्वधा**=अपनी प्रजा का धारण करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रजा का रक्षक राजा प्रजा से किये गये पुण्य कार्यों के भी सोलहवें भाग को प्राप्त करता है। वह स्वयं शुद्ध आचरणवाला होता हुआ प्रजारक्षण में लगा रहता है।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आभवन्, प्रभवन्, भवन्

सर्वा॒न्कामा॑न्पूरयत्या॒भव॑न्प्र॒भव॒न्भव॑न्।
आ॒कू॒ति॒प्रो॒ऽवि॒र्द॒त्तः शि॑ति॒पान्नोप॑ दस्यति ॥ २ ॥

१. **दत्तः**=जिस राजा के लिए प्रजा से कर व पुण्य का सोलहवाँ भाग दिया गया है, वह राजा **अविः**=प्रजा का रक्षक होता है। **सर्वान् कामान् पूरयति**=वह प्रजा की सब कामनाओं को पूर्ण करता है। यह **आभवन्**=प्रजा में चारों ओर होता है, अर्थात् प्रजा में व्याप्त रहता है, सदा प्रजा में घूमता है, **प्रभवन्**=शक्तिशाली होता है, **भवन्**=वर्धिष्णु होता है। २. यह **आकूति-प्रः**=प्रजाओं के संकल्पों का पूर्ण करनेवाला होता है। यह **शितिपात्**=शुद्ध आचरणवाला—व्यसनों में न फँसनेवाला राजा **न उपदस्यति**=अपने प्रजारूप शरीर को नष्ट नहीं होने देता।

भावार्थ—प्रजा से कर प्राप्त करनेवाला यह राजा प्रजा में व्याप्तिवाला बनता है, शक्तिशाली होता है, प्रजा का वर्धन करता है तथा प्रजा की कामनाओं को पूर्ण करता है और प्रजा को नष्ट नहीं होने देता।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

राष्ट्र-स्वर्ग

यो ददा॑ति शिति॒पाद॒मविं॑ लो॒केन॒ संमि॑तम्।
स नाक॑म॒भ्यारो॑हति॒ यत्र॑ शु॒ल्को न क्रि॒यते॑ अब॒लेन॒ बली॑यसे ॥ ३ ॥

१. **यः**=जो प्रजावर्ग **शितिपादम्**=शुद्ध आचरणवाले **अविम्**=रक्षक राजा को **लोकेन संमितम्**=लोक से मानपूर्वक बनाये गये—राष्ट्रसभा से निर्धारित 'कर' **ददाति**=देता है, **सः**=वह प्रजावर्ग **नाकम्**=स्वर्ग को **अभ्यारोहति**=आरूढ़ होता है। यदि प्रजा राष्ट्रसभा से निर्धारित कर

को सभा के लिए देती रहती है तो राष्ट्र की व्यवस्था बड़ी सुन्दर बनी रहती है। राष्ट्र स्वर्ग-सा बन जाता है। २. यह राष्ट्र इसप्रकार का स्वर्ग होता है **यत्र**=जहाँ कि **अबलेन**=निर्बल से **बलीयसे**=बलवान् के लिए **शुल्कः**=कोई दण्डरूप धन **न क्रियते**=नहीं किया जाता है, अर्थात् इस राष्ट्र में सबल निर्बल पर अत्याचार नहीं करता है। राष्ट्र में चोर और डाकू औरों के धन को नहीं छीनते रहते। कर प्राप्त करनेवाले राजा का मौलिक कर्त्तव्य यह है कि वह प्रजा का रक्षण करे, बलवानों द्वारा निर्बलों पर अत्याचार न होने दे। इसप्रकार जब प्रजा राष्ट्र में निर्भय विचरेगी तब यह राष्ट्र स्वर्ग-सा बन जाएगा।

भावार्थ-प्रजा राष्ट्रसभा को निर्धारित कर देनेवाली हो। राजा प्रजा का रक्षण करे। राजा इस बात का ध्यान करे कि राष्ट्र में मात्स्यन्याय न फैल जाए, सबल निर्बल को न खाने लगे। राष्ट्र में सब सर्वत्र निर्भय विचर सकें, राष्ट्र स्वर्ग-सा बन जाए।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पितृणां लोके

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
प्रदातोप जीवति पितृणां लोकेऽक्षितम्॥ ४॥

१. **पञ्चापूपम्**=(पञ्च, अ, पूप=पूपी विशरणे) राष्ट्र के 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद'-इन पाँचों का विशीर्ण न होने देनेवाले, अथवा 'पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण व मध्य'—देश के इन पाँचों भागों में रहनेवाली प्रजा को विशीर्ण न होने देनेवाले **शितिपादम्**=शुद्ध गतिवाले, विषयों में अनासक्त **अविम्**=रक्षक राजा को **लोकेन संमितम्**=लोगों के प्रतिनिधियों से राष्ट्रसभा में निर्धारित-मानपूर्वक निश्चित किये गये कर का **प्रदाता**=देनेवाला प्रजावर्ग **पितृणाम्**=रक्षक राजपुरुषों के **लोके**=लोक में, अर्थात् राजपुरुषों से सुरक्षित राष्ट्र में **अक्षितम्**=अक्षीणता के साथ **उपजीवति**=जीवन धारण करता है। २. राजा का मौलिक कर्त्तव्य एक ही है कि वह चारों दिशाओं और मध्यभाग में स्थित सब प्रजाओं का ठीक से रक्षण करे—उन्हें विशीर्ण न होने दे। राजपुरुष पितरों के समान हों। ये प्रजावर्ग को सन्तान-तुल्य समझें। प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह ठीक प्रकार से कर देनेवाली हो।

भावार्थ— राजा प्रजा का रक्षण करे। राजपुरुष पितरों के समान हों। वे अपने सन्तानरूप प्रजाओं को क्षीण न होने दें।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूर्यामासयोः लोके

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम्॥ ५॥

१. **पञ्चापूपम्**=पाँचों दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण व मध्य) में स्थित प्रजावर्ग को विशीर्ण न होने देनेवाले **शितिपादम्**=शुद्ध आचरणवाले **अविम्**=रक्षक राजा को **लोकेन संमितम्**=लोकों के प्रतिनिधियों से राष्ट्रसभा में निर्धारित कर का **प्रदाता**=देनेवाला प्रजावर्ग **सूर्यामासयोः**=सूर्य-चन्द्रमा के लोक में (मस्यते क्षयवृद्धिभ्यां परिमीयते इति मासः चन्द्रमाः), **अक्षितम्**=अक्षीणता के साथ **उपजीवति**=निवास करता है, अर्थात् दिन-रात फूलता-फलता है। २. प्रजा जब राजा को ठीक से कर देती रहती है तब राजा दिन-रात प्रजा का रक्षण करता है। प्रजा दिन में निर्भयता से अपने व्यापार आदि कर्मों को करती है और रात्रि में निर्भयता

से विश्राम करती है। राजा 'जागृवि' है—सदा जागरूक होकर प्रजा का रक्षण करता है।

भावार्थ—राजा के लिए निश्चित कर देनेवाली प्रजा दिन-रात राजा से सुरक्षित हुई-हुई दिन में अपने-अपने कार्यों को करती हुई रात्रि में निर्भयता से विश्राम करती है।

ऋषि:—**उद्दालक:** ॥ देवता—**शितिपाद् अवि:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

इरा इव, समुद्र इव, सवासिनौ देवौ इव

इरेव नोप दस्यति समुद्रइव पयो महत्।
देवौ सवासिनाविव शितिपान्नोप दस्यति॥ ६॥

१. **इरा इव**=इस भूमि के समान **शितिपात्**=शुद्ध आचरणवाला राजा **न उपदस्यति**=प्रजा का कभी क्षय नहीं करता। भूमि माता के समान सदा अन्नों को देनेवाली है। इसीप्रकार राजा प्रजा को कभी अन्नाभाव से मृत नहीं होने देता। २.यह सदाचारी राजा **समुद्र: इव**=समुद्र के समान **महत् पय:**=महान् जल-राशि है। समुद्र का जल क्षीण नहीं होता। इस राजा का कोश भी सदा परिपूर्ण रहता है। ३. **सवासिनौ**=सदा साथ रहनेवाले **देवौ इव**=प्राणापानरूप अश्विनीदेवों के समान यह राजा है। यह प्रजा में प्राणशक्ति का सञ्चार करता है, प्रजा से मलिनताओं को दूर करता है। इसप्रकार यह शितिपात् राजा **न उपदस्यति**=प्रजा का क्षय नहीं करता।

भावार्थ—राजा प्रजा के लिए अन्नाभाव नहीं होने देता। यह अपने कोष को क्षीण नहीं होने देता। यह प्रजा में प्राणशक्ति का सञ्चार करता हुआ सब मलिनताओं को दूर करता है।

ऋषि:—**उद्दालक:** ॥ देवता—**काम:** ॥ छन्द:—**षट्पदा-उपरिष्टाद्दैवीबृहतीककुम्मतीगर्भा-विराड्जगती** ॥

काम: दाता, काम: प्रतिग्रहीता

क इदं कस्मा अदात्काम: कामायादात्।
कामो दाता काम: प्रतिग्रहिता काम: समुद्रमा विवेश।
कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत्ते॥ ७॥

१. राजा के लिए प्रजा कर देती है, राजा प्रजा से कर लेता है। वस्तुत: **क:**=कौन **इदम्**=कररूप इस धन को **कस्मै**=किसके लिए **अदात्**=देता है **काम: कामाय अदात्**=काम ही काम के लिए देता है। प्रजा में यह कामना होती है कि उसे अन्त: व बाह्य उपद्रवों के भय से कोई रक्षित करनेवाला हो तथा राजा के अन्दर भी 'मैं इतनी विशाल प्रजा का राजा हूँ' ऐसा कहलाए जानेरूप यश की कामना होती है। यह कामना ही प्रजा व राजा के सम्बन्ध को स्थिर रखती है। **काम: दाता**=काम ही देनेवाला है, **काम: प्रतिग्रहीता**=काम ही लेनेवाला है। २. **काम: समुद्रम् आविवेश**=यह काम समुद्र की भाँति निरवधिक (अनन्त) रूप को प्राप्त होता है '**समुद्र इव हि काम:, नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति**'=(तै० २.२.५.६)। राजा कहता है कि हे कररूप द्रव्य! मैं **त्वा**=तुझे **कामेन**=प्रजारक्षा की कामना से ही **प्रतिगृह्णामि**=लेता हूँ। हे **काम**=प्रजारक्षण की इच्छे! **एतत्**=यह सब धन **ते**=तेरा ही है। राजा इस सारे धन का विनियोग प्रजोन्नति के कार्यों में ही करता है।

भावार्थ—प्रजा कर देती है, राजा कर लेता है। यह लेना-देना कामना से ही होता है। प्रजा राजा के द्वारा रक्षण की कामना करती है, राजा प्रजारक्षण से प्राप्य यश की कामनावाला होता है।

ऋषिः—उद्दालकः ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—उपरिष्टाद्बृहतिः ॥

मा प्राणेन, मा आत्मना, मा प्रजया (विराधिषि)

भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत्।
माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि ॥ ८ ॥

१. हे कररूप द्रव्य! **भूमिः त्वा प्रतिगृह्णातु**=यह भूमि तेरा ग्रहण करे। राजा राष्ट्र की रक्षा व राष्ट्र में कृषि आदि कार्यों की उन्नति के लिए कर ग्रहण करे। कर से प्राप्त धन का इन्हीं कार्यों में विनियोग करे। २. **इदम्**=यह **महत् अन्तरिक्षम्**=महान् अन्तरिक्ष तेरा ग्रहण करे। कर से प्राप्त धन का विनियोग विस्तृत अन्तरिक्ष को उत्तम बनाने में किया जाए। 'राष्ट्र का सारा वातावरण उत्तम बने', ऐसा राजा का प्रयत्न होना चाहिए। राष्ट्र के शिक्षणालय युवकों के आचार को उत्तम बनाने का ध्यान करें। राष्ट्र में होनेवाले यज्ञ सब प्राकृतिक देवों की अनुकूलता को सिद्ध करें। ३. राजा कहता है कि **अहम्**=मैं **प्रतिगृह्य**=कामरूप में धन लेकर **प्राणेन मा विराधिषि**=प्राणों से वर्जित न हो जाऊँ, भोगों में फँसकर प्राणशक्ति को ही नष्ट न कर लूँ। **मा आत्मना**=मैं भोग-प्रवण होकर आत्मतत्त्व को न भूल जाऊँ, **मा प्रजया**=मैं प्रजा से दूर न हो जाऊँ, सदा प्रजाहित में लगा रहूँ।

भावार्थ—कररूप धनों का विनियोग राष्ट्रभूमि को उन्नत करने व राष्ट्र के वातावरण को अच्छा बनाने में करना चाहिए। राजा धनों का विनियोग भोग-विलास में करके अपनी प्राणशक्ति को क्षीण न कर ले। वह आत्मतत्त्व से दूर न हो जाए। भोग-प्रवण राजा तो प्रजा से दूर और दूर होता जाता है। इसे प्रजाहित की कामना नहीं रहती।

विशेष—अन्नाभाव की कमी से रहित तथा उत्तम वातावरणवाले राष्ट्र में गृहों के अन्दर पति-पत्नी भी **अथर्वा**=न डाँवाडोल वृत्तिवाले होते हैं। इन घरों में सबके हृदय मिले होते हैं, अतः अगले सूक्त का ऋषि 'अथर्वा' है तथा देवता 'सांमनस्यम्' है।

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—सांमनस्यम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सहृदयं, सांमनस्यं, अविद्वेषम्

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥

१. मैं **वः**=तुम्हारे लिए **सहृदयम्**=सहृदयता, अर्थात् प्रेमपूर्ण हृदय, **सांमनस्यम्**=शुभ विचारों से परिपूर्ण मन और **अविद्वेषम्**=निर्वैरता **कृणोमि**=करता हूँ। २. तुममें से प्रत्येक **अन्यः अन्यम्**=एक-दूसरे को **अभिहर्यत**=प्रीति करनेवाला हो, **इव**=जैसे **अघ्न्या**=गौ **जातं वत्सम्**=उत्पन्न हुए-हुए बछड़े के प्रति प्रेम करती है।

भावार्थ—घर में सहृदयता, सांमनस्य व अविद्वेष का राज्य हो। सब एक-दूसरे के प्रति प्रेम करनेवाले हों।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—सांमनस्यम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अनुव्रत पुत्र+मधुर पत्नी

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान् ॥ २ ॥

१. **पुत्रः**=पुत्र **पितुः**=पिता के **अनुव्रतः**=अनुकूल कर्म करनेवाला हो, **मात्रा संमनाः भवतु**=माता के साथ सांमनस्यवाला हो, माता के प्रति शुभ विचारों से परिपूर्ण मनवाला हो। २. **जाया**=पत्नी **पत्ये**=पति के लिए **मधुमतीम्**=माधुर्य से भरी हुई **वाचं वदतु**=वाणी को बोले। **शान्तिवान्**=शान्तिशील पति भी पत्नी के साथ मीठी वाणी बोले।

भावार्थ—पुत्र माता-पिता का आज्ञाकारी हो तथा पत्नी पति के प्रति मधुर व्यवहारवाली हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परस्पर प्रेम व भद्र व्यवहार

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ ३॥

१. **भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत्**=भाई-भाई से द्वेष न करे **उत**=और **स्वसा**=बहिन **स्वसारम् मा**=बहिन से द्वेष न करे। २. **सम्यञ्चः**=समान गतिवाले **सव्रताः भूत्वा**=समान कर्मोंवाले होकर **भद्रया**=बड़ी कल्याणमयी रीति से **वाचं वदत**=वाणी को बोलो, परस्पर भद्रता से वार्तालाप करो।

भावार्थ—भाई-बहिनों में परस्पर प्रेम हो। सब परस्पर अविरुद्ध गतिवाले हों और वाणी को भद्रता से बोलें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

निर्द्वेषता-साधक ज्ञान

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥ ४॥

१. **येन**=जिससे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **न वियन्ति**=परस्पर विरुद्ध गतिवाले नहीं होते **च**=और **मिथः**=परस्पर **नो विद्विषते**=द्वेष नहीं करते **तत्**=उस **ब्रह्म**=ज्ञान को **वः गृहे**=तुम्हारे घरों में **कृण्मः**=करते हैं। २. यह ज्ञान **पुरुषेभ्यः**=पुरुषों के लिए **संज्ञानम्**=परस्पर ऐक्यमत्य का उत्पादक होता है। ज्ञान प्राप्त करके पुरुष परस्पर सांमनस्यवाले होते हैं।

भावार्थ—घर में सबकी वृत्ति ज्ञानप्रधान होगी तो परस्पर एकता बनी रहेगी। ज्ञान के साथ द्वेषवृत्ति नहीं रहती।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

घर का नियम (बड़ों का आदर)

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥ ५॥

१. **ज्यायस्वन्तः**=बड़ों को मान देनेवाले **चित्तिनः**=उत्तम चित्तवाले **संराधयन्तः**=मिलकर कार्य को सिद्ध करनेवाले, **सधुराः**=समान कार्यभार का वहन करनेवाले, **चरन्तः**=क्रियाशील होते हुए **मा वियोष्ट**=विरोधवाले मत होओ—एक-दूसरे से अलग मत होओ। २. **अन्यः अन्यस्मै**=एक-दूसरे के लिए **वल्गु वदन्तः एत**=मधुर भाषण करते हुए गति करो। **वः**=तुम्हें **सध्रीचीनान्**=मिलकर पुरुषार्थ करनेवाले व **संमनसः**=एक विचार से युक्त मनवाले **कृणोमि**=करता हूँ।

भावार्थ—घर में बड़ों का आदर हो, सब मिलकर-अविरुद्धभाव से कार्य करें। परस्पर प्रिय बोलें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

सब-कुछ सम्मिलित

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥

१. **प्रपा समानी**=तुम्हारा जल पीने का स्थान एक हो। **वः अन्नभागः सह**=तुम्हारा अन्न का भाग भी साथ-साथ हो, **समाने योक्त्रे**=एक ही जोते में **वः सह युनज्मि**=मैं तुम्हें साथ-साथ जोड़ता हूँ। २. **सम्यञ्चः**=मिल-जुलकर **अग्निं सपर्यत**=उस प्रभु का पूजन करो, **नाभिं अभितः अरा इव**=जैसे नाभि में चारों ओर चक्र के अरे जड़े होते हैं। नाभि के चारों ओर अरों के समान हम मिलकर घर में प्रभु-पूजन व अग्निहोत्र करें।

भावार्थ—घर में खान-पान सब सांझा हो। सब मिलकर घर को अच्छा बनाने में लगे हों, मिलकर प्रभु-पूजन व अग्निहोत्र करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रातः-सायं परस्पर प्रेम से मिलना

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवाइवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

१. मैं **वः**=तुम सबको **सध्रीचीनान्**=एक कार्य के करने में साथ-साथ उद्युक्त **संमनसः**=समान मनवाला **कृणोमि**=करता हूँ, **सर्वान्**=तुम सबको **संवननेन**=सम्यक् विभागपूर्वक **एकश्नुष्टीन्**=एक प्रकार के ही अन्नों का भोजनवाला करता हूँ। २. **अमृतं रक्षमाणा देवाः इव**=नीरोगता का रक्षण करनेवाले देवों के समान **वः**=तुम्हारा **सायं-प्रातः**=सायं-प्रातः **सौमनसः अस्तु**=सौमनस्य-शोभन मनस्कता हो, तुम परस्पर प्रेमयुक्त मनवाले होकर परस्पर बात करनेवाले होओ।

भावार्थ—घर में सब मिलकर कार्य करें, समान भोजनवाले हों, नीरोग रहते हुए प्रातः-सायं परस्पर प्रेम से मिलें।

विशेष—इसप्रकार उत्तम वातावरणवाले घरों के अन्दर ज्ञानप्रधान वृत्ति के कारण 'ब्रह्मा' का प्रादुर्भाव होता है। उन्नति करते-करते मनुष्य ब्रह्मा बनता है, ज्ञानाग्नि में सब पापों को भस्म करनेवाला 'पाप्महा' होता है। अगले सूक्त में इस 'पाप्महा' का ही वर्णन है।

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

जीर्णता व अदानशीलता=पाप व रोग

वि देवा जरसावृतन्वि त्वमग्ने अरात्या। व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १ ॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **जरसा**=जीर्णता से **वि अवृतन्**=व्यावृत्त होते हैं—दूर रहते हैं। **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **अरात्या**=अदान से सदा दूर हैं। आप सदा देनेवाले होते हैं। २. **अहम्**=मैं **सर्वेण**=सब **पाप्मना**=पापों से **वि**=दूर रहूँ, परिणामतः **यक्ष्मेण वि**=रोगों से भी दूर होता हूँ और **आयुषा सम्**=उत्कृष्ट दीर्घजीवन से संयुक्त होता हूँ।

भावार्थ—हम देव बनकर जीर्णता से दूर रहें। प्रभु की उपासना करते हुए अदानवृत्ति से दूर रहें। पापों व रोगों से रहित होकर उत्कृष्ट दीर्घजीवन को प्राप्त करें। वस्तुतः जीर्णता व अदानशीलता ही पापों व रोगों का कारण बनकर जीवन के ह्रास का कारण बनते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पवित्रता व शक्ति

व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ २॥

१. **पवमानः**=अपने जीवन को पवित्र बनानेवाला पुरुष **आर्त्या वि**=पीड़ाओं से पृथक् रहता है। जीवन की अपवित्रता ही विविध पीड़ाओं का कारण बनती है। २. **शक्रः**=शक्तिशाली पुरुष **पापकृत्यया वि**=पाप कर्मों से दूर रहता है। निर्बलता पाप का कारण बनती है। मैं भी सब पापों व रोगों से दूर होकर उत्कृष्ट दीर्घजीवनवाला बनता हूँ।

भावार्थ—हम जीवन को सदा पवित्र रखने का प्रयत्न करें, यही पीड़ाओं से बचने का मार्ग है। शक्तिशाली बनकर हम पाप कर्मों से दूर रहें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पाप की अप्रवृत्ति

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्या॒पस्तृष्णयासरन्।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ३॥

१. **ग्राम्याः पशवः**=गौ, भेड़, बकरी आदि ग्राम्य पशु **आरण्यैः**=सिंह-व्याघ्र आदि वन्य पशुओं से **वि**=दूर रहते हैं। ये स्वभावतः इकट्ठे नहीं रहते। **आपः**=जल **तृष्णया वि असरन्**=प्यास से दूर रहते हैं, जलरहित प्राणियों को ही प्यास सताती है। इसीप्रकार मैं पाप और रोग से दूर रहूँ तथा दीर्घजीवन से संगत होऊँ। २. पाप की ओर मेरा झुकाव ही न हो, तब मैं पापों व रोगों से पृथक् होकर दीर्घजीवन से संगत होऊँ।

भावार्थ—मैं स्वभावतः ही पापवृत्ति से दूर हो जाऊँ, पाप की ओर मेरा झुकाव न रहे, तब पापों व रोगों से पृथक् होकर मैं दीर्घजीवन से संयुक्त होऊँगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

पापों से इतना दूर जितना कि द्युलोक पृथ्वीलोक से

वी३मे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम्।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ४॥

१. परिदृश्यमान **इमे**=ये **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **वि इतः**=स्वभावतः अलग-अलग ही हैं। इसीप्रकार मैं भी पाप से उतना ही दूर होऊँ जितना कि द्युलोक पृथ्वीलोक से। २. **दिशं दिशम्**=एक ग्राम से प्रत्येक दिशा में जाते हुए **पन्थानः**=मार्ग **वि**=स्वभावतः ही विगत व पृथगवस्थान होते हैं, इसीप्रकार मैं भी पापों से भिन्न मार्गवाला होता हूँ। मैं पापों से पृथक् होता हूँ, रोगों से पृथक् होता हूँ और दीर्घजीवन से संगत होता हूँ।

भावार्थ—पापों से मैं इतनी दूर होऊँ जितना कि द्युलोक पृथिवीलोक से। पापों व रोगों का तथा मेरा मार्ग भिन्न-भिन्न दिशाओं में हो। इसप्रकार मेरा जीवन दीर्घ व उत्कृष्ट हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

पापों से ऐसे दूर जैसे दहेज पितृगृह से दूर

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ५॥

१. **त्वष्टा**=(त्विषेः दीप्तिकर्मणः) एक समझदार पिता **दुहित्रे**=अपनी दुहिता के लिए **वहतुम्**=दहेज को (उह्यते जामातृगृहं प्रति) **युनक्ति**=देने के लिए अलग करता है, **इति**=इसप्रकार **इदं विश्वं भुवनम्**=यह सारा संसार **वियाति**=अलग-अलग चलता है, संसार में लोग एक-दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। कन्या पितृगृह से दूर हो जाती है। २. इसीप्रकार मैं भी पापों से पृथक् होता हूँ, रोगों से पृथक् होता हूँ और उत्कृष्ट दीर्घजीवन से संगत होता हूँ।

भावार्थ—जिस प्रकार दहेज पितृगृह से पृथक् होकर दूर जामातृगृह में जाता है, इसीप्रकार पाप व रोग मुझसे पृथक् होते हैं। पापों और रोगों से पृथक् होकर मैं दीर्घजीवन से संगत होता हूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जाठराग्नि तथा मन की ठीक स्थिति

अ॒ग्निः प्रा॒णान्त्सं द॑धाति च॒न्द्रः प्रा॒णेन॒ संहि॑तः।
व्य१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा॥ ६॥

१. **अग्निः**=भोजन के पाचन का हेतुभूत जाठराग्नि **प्राणान्**=चक्षु आदि इन्द्रियों को **संदधाति**=संश्लिष्ट, स्वस्थ व कार्यसमर्थ करता है। **चन्द्रः**=(चन्द्रमा मनो भूत्वा०) मन **प्राणेन संहितः**=प्राण के संयम से संहित (एकाग्र) होता है। इसीप्रकार मैं पाप व रोग से पृथक् होकर उत्कृष्ट आयुष्य से संहित होऊँ। २. वस्तुतः जाठराग्नि का ठीक रहना और मन का न भटकना ही पापों व रोगों से पार्थक्य का साधन बनता है तथा उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—मैं जाठराग्नि को ठीक रखता हुआ सब इन्द्रियों को ठीक रक्खूँ तथा प्राण-साधना द्वारा मन को एकाग्र करनेवाला बनूँ। इसप्रकार मैं निष्पाप, नीरोग व दीर्घजीवनवाला बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विश्वतो वीर्य सूर्य के सम्पर्क में

प्रा॒णेन॑ वि॒श्वतो॑वीर्यं दे॒वाः सूर्यं॒ समै॑रयन्।
व्य१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा॥ ७॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **विश्वतो वीर्यम्**=सब सामर्थ्यों से युक्त—सारे प्राणदायी तत्त्वों से युक्त **सूर्यम्**=सूर्य को **प्राणेन समैरयन्**=अपने प्राण के साथ सम्प्रेरित करते हैं। इसीप्रकार मैं पापों व रोगों से दूर होकर अपने को उत्कृष्ट दीर्घजीवन से सङ्गत करता हूँ। २. वस्तुतः सूर्य के सम्पर्क में जीवन बिताना पापों व रोगों से पार्थक्य का तथा उत्कृष्ट दीर्घजीवन से सम्पर्क का साधन बनता है।

भावार्थ—मैं सूर्य के सम्पर्क में रहता हुआ अपने में प्राणशक्ति का सञ्चार करूँ और निष्पाप, नीरोग व दीर्घजीवन प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आयुष्मान् आयुष्कृत्

आ॒यु॒ष्म॒तामा॑यु॒कृतां॑ प्रा॒णेन॑ जीव॒ मा मृ॑थाः।
व्य१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा॥ ८॥

१. हे माणवक (बालक)! तू **आयुष्मताम्**=प्रशस्त जीवनवाले **आयुष्कृताम्**=दीर्घजीवन को उत्पन्न करनेवाले लोगों के **प्राणेन**=प्राण से **जीव**=जीवन को धारण कर, **मा, मृथाः**=तू मृत मत हो। २. मैं भी इन आयुष्मान्, आयुष्कृत पुरुषों के समान प्राणशक्ति को उत्पन्न करता हुआ

सब पापों व रोगों से पृथक् होऊँ और उत्कृष्ट दीर्घजीवन को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—हम आयुष्मान्, निष्पाप, नीरोग और दीर्घजीवनवाले बनें, दीर्घजीवन के साधनों का अनुष्ठान करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

न मरियल जीवन

प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव मा मृथाः।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ९॥

१. **प्राणताम्**=जीवित रहनेवालों के **प्राणेन**=प्राण से **प्राण**=हे प्राणवान् पुरुष! तू जीवित है। **इह एव भव**=यहाँ सूर्य के सन्दर्शन में ही हो। **मा मृथाः**=तू प्राणों का त्याग मत कर। २. मैं भी सब पापों व रोगों से पृथक् होकर उत्कृष्ट दीर्घजीवन को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—प्राणशक्ति का वर्धन करते हुए हम उत्कृष्ट जीवनवाले बनें, मरियल-से न हों। मैं निष्पाप, नीरोग, दीर्घजीवन को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ओषधीनां रसेन

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ १०॥

१. **आयुषा**=आयुष्य के द्वारा **उत्**=मैं मृत्यु से ऊपर उठूँ। **आयुषा सम्**=उत्कृष्ट दीर्घजीवन से सङ्गत होऊँ। **ओषधीनां रसेन**=जौ-चावल आदि ओषधियों के रस के द्वारा **उत्**=मैं रोगों से दूर रहूँ। ओषधियों के रस का प्रयोग करते हुए मैं मृत्यु से बचा रहूँ, रोगों का शिकार न होऊँ। २. मैं सब पापों से पृथक् होकर उत्कृष्ट दीर्घजीवन से सङ्गत होऊँ।

भावार्थ—ओषधियों का रस मुझे नीरोग बनाए और दीर्घजीवन प्राप्त कराए।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वृष्टि-जल व अमरता

आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम्।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ११॥

१. **वयम्**=हम **पर्जन्यस्य वृष्ट्या**=परातृप्ति के जनक मेघ की वृष्टि से—मेघ के वृष्टिजल से **आ**=सब प्रकार से **उत् अस्थाम**=रोगों से बाहर—दूर स्थित हों और **अमृताः**=नीरोग जीवनवाले बनें। २. मैं सब पापों व रोगों से पृथक् होऊँ और उत्कृष्ट जीवन से संगत होऊँ।

भावार्थ—वृष्टि का जल प्रयोग हमें नीरोगता व अमरता प्रदान करे।

विशेष—यहाँ तृतीय काण्ड समाप्त होता है और चतुर्थ काँड 'वेनः' मेधावी ऋषि के सूक्त से आरम्भ होता है। पूर्ण नीरोग व निष्काम जीवनवाला यह 'वेन' प्रभु का उपासन करता है।

॥ इति तृतीयं काण्डम्॥

अथ चतुर्थं काण्डम्

अथ सप्तमः प्रपाठकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्म का हृदय में प्रादुर्भाव

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः॥ १॥

१. **वेनः**=(वेन् to go, to know, to worship) गतिशील ज्ञानी उपासक **पुरस्तात्**=सृष्टि के आरम्भ में **जज्ञानम्**=प्रादुर्भूत होनेवाले **प्रथमम्**=अति विस्तृत—'प्रकृति, जीव व परमात्मा' तीनों का ही ज्ञान देनेवाले वेदज्ञान को **सीमतः**=मर्यादा में चलने के द्वारा और **सुरुचः**=परिष्कृत रुचि के द्वारा—सात्त्विक प्रवृत्ति के द्वारा **वि आवः**=अपने हृदय में प्रकट करता है। वेदज्ञान सृष्टि के आरम्भ में प्रभु के द्वारा दिया जाता है। यह ज्ञान अति विस्तृत है—'प्रकृति, जीव व परमात्मा'—तीनों का ही प्रकाश करता है। इसका प्रकाश उसी के जीवन में होता है जो मर्यादित जीवनवाला होता है तथा उत्तम, परिष्कृत रुचिवाला होता है। २. **सः**=वह वेन **अस्य**=इस प्रभु के इन **बुध्न्याः**=अन्तरिक्ष में होनेवाले **उपमाः**=उपमा देने योग्य 'अद्भुत' **विष्ठाः**=अलग-अलग, मर्यादा में स्थित सूर्यादि लोकों को **विवः**=विशद रूप से देखता है **उ**=और **सतः असतः च**=दृश्य कार्यजगत् तथा अदृश्य कारणजगत् के **योनिम्**=आधारभूत उस प्रभु को (**विवः**)=अपने हृदय में प्रकट करता है। सूर्यादि लोकों में उस प्रभु की ही महिमा दृष्टिगोचर होती है और वह 'वेन' इस कार्यकारणात्मक जगत् के योनिभूत उस प्रभु के प्रकाश को देखने लगता है।

भावार्थ—सृष्टि के आरम्भ में वेदज्ञान का प्रकाश होता है। इसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि जीवन मर्यादा-सम्पन्न हो तथा उत्तम रुचिवाला हो। क्रियाशील ज्ञानी उपासक सब लोक-लोकान्तरों में प्रभु की महिमा को देखता है। प्रभु को ही कार्यकारणात्मक जगत् की योनि जानता है।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्** ॥

वेदवाणी व यज्ञ

इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः।
तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे॥ २॥

१. **इयम्**=यह **पित्र्या**=परमपिता प्रभु से होनवाली **राष्ट्री**=हमारे जीवनों को दीप्त करनेवाली (राज दीप्तौ) **भुवनेष्ठाः**=सब लोकों में स्थित होनेवाली वेदवाणी **प्रथमाय जनुषे**=सर्वोत्कृष्ट जीवन के लिए अथवा (प्रथ विस्तारे) विस्तृत शक्तियोंवाले जीवन के लिए **अग्रे एतु**=हमें सर्वप्रथम प्राप्त हो। वेदवाणी सृष्टि के आरम्भ में प्रभु द्वारा दी जाती है। यह सब लोकों में समानरूप से प्रादुर्भूत होती है। यह हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाती है। हमारे जीवन में इसका प्रमुख स्थान है। हम सबसे पहले इसी का स्वाध्याय करें। २. **तस्मै प्रथमाय धास्यवे**=उस सर्वमुख्य धारण करनेवाले के लिए **एतम्**=इस **घर्मम्**=यज्ञ को **श्रीणन्तु**=परिपक्व करें—संस्कृत

करें। यज्ञ के द्वारा ही उस यज्ञरूप प्रभु का यजन (उपासन) होता है। यह यज्ञ **सुरुचम्**=हमारे जीवन को सम्यक् दीप्त करनेवाला है, **ह्वारम्**=क्रोध का निवारक (दया०) अथवा धूएँ के रूप में कुटिल गतिवाला है तथा **अह्यम्**=प्रतिदिन होनेवाला है (अहनि भवम्)। यह प्रतिदिन करना होता है—इसमें अनध्याय का प्रश्न ही नहीं। यह अत्यन्त बुढ़ापे या मृत्यु पर ही छूटेगा। यह हमारे जीवन को दीप्त करता है तथा क्रोधादि आसुरभावों का निवारक है।

भावार्थ—हम जीवन को उत्कृष्ट बनाने के लिए वेदवाणी का स्वाध्याय करें। वेद-प्रतिपादित यज्ञों को करते हुए प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान का मार्ग

प्र यो ज॒ज्ञे वि॒द्वान॒स्य॒ बन्धु॒र्विश्वा॑ दे॒वानां॒ जनि॑मा विवक्ति।
ब्रह्म॒ ब्रह्म॑ण॒ उज्ज॑भार॒ मध्या॑न्नी॒चैरु॒च्चैः स्व॒धा अ॒भि प्र त॑स्थौ॥ ३॥

१. **यः**=जो **विद्वान् प्रजज्ञे**=ज्ञानी बनता है, वह **अस्य बन्धुः**=इस प्रभु का मित्र होता है-अपने हृदय में प्रभु को बाँधनेवाला होता है। वह **देवानाम्**=देवों के—दिव्य गुणों के **विश्वा जनिमा**=सब जन्मों को **विवक्ति**=अपने जीवन में कहता है, अर्थात् अपने जीवन को दिव्य गुण-सम्पन्न बनाता है। २. **ब्रह्मणः**=ब्रह्म से **ब्रह्म**=वेद को **उज्जभार**=उद्धृत करता है, अर्थात् हृदय में प्रभु का ध्यान करता हुआ यह विद्वान् ज्ञान को प्राप्त करता है और **मध्यात्**=मध्य से **नीचैः उच्चैः**=नीचे व ऊपर से—अन्तरिक्षलोक से तथा पृथिवी व द्युलोक से—हृदय, शरीर व मस्तिष्क से **स्वधाः**=आत्मधारण-शक्तियोंवाला यह विद्वान् **अभिप्रतस्थौ**=प्रभु की ओर प्रस्थित होता है—'हृदय, शरीर व मस्तिष्क' तीनों को उन्नत करता हुआ यह प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ता है।

भावार्थ—ज्ञानी १. प्रभु को हृदय में बाँधता है, २. दिव्य गुणयुक्त बनता है, ३. प्रभु से वेदज्ञान प्राप्त करने का यत्न करता है, ४. हृदय, शरीर व मस्तिष्क को उन्नत करता हुआ प्रभु की ओर बढ़ता है।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रोदसी स्कम्भन

स हि दि॒वः स पृ॑थि॒व्या ऋ॑त॒स्था म॒ही क्षेमं॒ रोद॑सी अस्कभायत्।
म॒हान्म॒ही अस्क॑भाय॒द्वि जा॒तो द्यां सद्म॒ पार्थि॑वं च॒ रजः॑॥ ४॥

१. **सः**=वह प्रभु **हि**=ही **दिवः**=द्युलोक को **सः**=वही **पृथिव्याः**=इस पृथिवीलोक को **ऋतस्थः**=ऋत में स्थापित करनेवाला है—दोनों लोकों को नियम में स्थित करता है। **मही रोदसी**=इन महान् द्यावापृथिवी को **क्षेमं अस्कभायत्**=कल्याणकारीरूप में थामता है। २. वह **महान्**=पूजनीय प्रभु **मही**=इन महान् लोकों को **अस्कभायत्**=थामता है। वह प्रभु **द्यां सद्म**=द्युलोक के रूप गृह में **च**=तथा **पार्थिवं रजः**=इस पृथिवीलोक में **विजातः**=विशेषरूप से प्रादुर्भूत हुआ है—इन लोकों में सर्वत्र प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है।

भावार्थ—प्रभु ही द्युलोक व पृथिवीलोक को नियम में स्थापित करते हैं। वे ही सबके कल्याण के लिए इनका धारण करते हैं। वे महान् प्रभु इन्हें थामते हैं, इनमें प्रभु की महिमा का प्रादुर्भाव होता है।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप्त्रिष्टुप्**॥

सर्वव्यापक प्रभु के उपासन के साथ दिन का आरम्भ

स बुध्न्या [दाष्ट्र जनुषोऽभ्यग्रं बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट्।
अहर्यच्छुक्रं ज्योतिषो जनिष्टाथ द्युमन्तो वि वसन्तु विप्राः॥ ५॥

१. **सः**=वे महान् प्रभु **जनुषः**=इस उत्पन्न होनेवाले संसार के **बुध्न्यात्**=मूल से लेकर **अग्रं, अभि**=ऊपरी भाग तक **आष्ट्र**=व्याप्त हो रहे हैं और **देवता**=दान आदि गुणों से युक्त **बृहस्पतिः**=सम्पूर्ण ज्ञान के अधिपति प्रभु **तस्य**=उस उत्पन्न लोक के **सम्राट्**=शासक हैं, २. **यत्**=जब **शुक्रम्**=यह दीप्यमान **अहः**=दिन **ज्योतिषः**=द्योतमान सूर्य से **जनिष्ट**=प्रकट होता है, **अथ**=तब **द्युमन्तः**=ज्ञान की दीप्तिवाले **विप्राः**=मेधावी पुरुष **विवसन्तु**=अपने-अपने कर्मों में विविधरूप से प्रवृत्त होते हैं, अथवा हवि के द्वारा देवों का परिचरण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु एक सिरे से दूसरे सिरे तक सर्वत्र व्याप्त हैं। वे ही इस ब्रह्माण्ड के शासक हैं। ज्ञानी लोग सूर्योदय होते ही उस प्रभु का उपासन करते हैं और अपने कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उत्थाय पश्चिमे यामे

नूनं तदस्य काव्यो हिनोति महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम।
एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था पूर्वे अर्धे विषिते ससन्नु॥ ६॥

१. **नूनम्**=निश्चय से **अस्य**=इस **पूर्व्यस्य**=सृष्टि से पूर्व होनेवाले (हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे) **महो देवस्य**=महान् देव के **तत् धाम्**=उस तेज को **काव्यः**=ज्ञानी पुरुष **हिनोति**=अपने अन्दर प्रेरित करता है। ज्ञानी सूर्योदय होते ही प्रभु के सम्पर्क में आता है और प्रभु के तेज को अपने में ग्रहण करता है। २. **इत्था**=इसप्रकार **एषः**=यह ज्ञानी **नु**=अब **ससन्**=सोता हुआ रात्रि के **पूर्वे अर्धे**=पहले आधे भाग के **विषिते**=(षोऽन्तकर्मणि, सित=finished, ended) समाप्त होने पर **बहुभिः साकम्**=अपने परिवार के बहुत व्यक्तियों के साथ **जज्ञे**=उदित हो उठता है। रात्रि के पिछले प्रहर में उठकर यह सपरिवार उपासना आदि कर्मों में प्रवृत्त होता है। वस्तुतः प्रभु के तेज को प्राप्त करने का यही मार्ग है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष प्रभु के तेज को अपने में प्रेरित करता है। इसी उद्देश्य से यह (उत्थाय पश्चिमे यामे) रात्रि के पूर्वार्द्ध में निद्रा लेकर उत्तरार्द्ध में प्रभु की उपासना के लिए उठ खड़ा होता है।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

नम्रता द्वारा प्रभु का ज्ञान

योऽथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात्।
त्वं विश्वेषां जनिता यथासः कविर्देवो न दभायत्स्वधावान्॥ ७॥

१. **यः**=जो **अथर्वाणम्**=(थर्वतिचरतिकर्मा) निश्चल, कूटस्थ **पितरम्**=सबके पालक **देवबन्धुम्**=देववृत्ति के व्यक्तियों के बन्धु **च**=और **बृहस्पतिम्**=ब्रह्मणस्पति—ज्ञान के स्वामी—प्रभु को **नमसा अवगच्छात्**=नमन के द्वारा जानता है। वह जानता है **यथा**=कि हे प्रभो! **त्वम्**=आप **विश्वेषां जनिता असः**=सबके प्रादुर्भूत करनेवाले हैं। उपासक नम्रता के द्वारा प्रभु को सबके उत्पादक के रूप में जान पाता है। २. यह जानता है कि **कविः**=वे प्रभु क्रान्तदर्शी

हैं—सर्वज्ञ हैं, **देवः**=प्रकाशमय हैं—सबके प्रकाशित करनेवाले हैं, वे सब-कुछ देनेवाले हैं (देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा)। **न दभायत्**=वे प्रभु उपासक को कभी हिंसित नहीं होने देते, वासनाओं के आक्रमण से उपासक को प्रभु ही बचाते हैं, **स्व-धावान्**=प्रभु आत्मधारण-शक्तिवाले हैं अथवा (स्वधा-अन्न) धारण करने के लिए सब अन्नों को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—नम्रता द्वारा हम प्रभु के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करें। इन्हें सर्वोत्पादक, सर्वज्ञ, सर्वप्रद, रक्षक व अन्नदाता के रूप में देखें। अगले सूक्त का ऋषि भी 'वेन' ही है—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आत्मदाः, बलदाः

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वं उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
योऽ३स्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १॥

१. **यः**=जो **आत्मदाः**=जीवों का हित सिद्ध करने के लिए अपने को दे डाले हुए हैं—उस प्रभु का प्रत्येक कार्य जीवों की उन्नति के लिए है, **बलदाः**=जो प्रभु सब शक्तियों को देनेवाले हैं, **विश्वे**=सभी **यस्य उपासते**=जिसकी उपासना करते हैं, कष्ट आने पर सभी उस प्रभु का स्मरण करते हैं, परन्तु **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यस्य**=जिसकी **प्रशिषम्**=आज्ञा को उपासित करते हैं। देव सदा प्रभु की आज्ञा की उपासना करते हैं—प्रभु के निर्देशों के अनुसार चलते हैं। २. **यः**=जो प्रभु **अस्य**=इस **द्विपदः**=दो पैरवाले पक्षियों और **यः**=जो **चतुष्पदः**=चौपाये पशुओं के **ईशे**=ऐश्वर्य को स्थापित करनेवाले हैं, पशु-पक्षियों में वासनारूप से ऐश्वर्यों की स्थापना करनेवाले हैं। मधुमक्षिका को मधु-निर्माण की क्या ही अद्भुतशक्ति उसने प्राप्त कराई है? चील को उड़ने की, सिंह को तैरने की, इसीप्रकार सब कौशलों को मानव के लिए आदर्श के रूप में प्रभु ने उस-उस पशु-पक्षी में रक्खा है। उस **कस्मै**=आनन्दमय **देवाय**=देव के लिए, प्रकाशमय प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **विधेम**=हम पूजा करते हैं। प्रभु देव हैं, दानवाले हैं, सब-कुछ दे डालते हैं। हम भी देव बनें, देव बनकर ही प्रभु का सच्चा उपासन होता है।

भावार्थ—सब शक्तियों को देनेवाले उस प्रभु की हम उपासना करें। प्रभु के निर्देशों के अनुसार चलें, सदा बचे हुए को खानेवाले बनें। यज्ञरूप प्रभु का उपासन इसीप्रकार हो सकता है।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अनन्य शासक प्रभु

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैको राजा जगतो बभूव।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ २॥

१. **यः**=जो **प्राणतः**=श्वासोच्छ्वास लेनेवाले और **निमिषतः**=आँख मूँदे हुए, अर्थात् सुस-से—जड़ **जगतः**=जगत् का—चराचर व स्थावर-जंगम जगत् का **महित्वा**=अपनी महिमा के कारण **एकः राजा बभूव**=अकेले ही शासक हैं। प्रभु किसी अन्य की सहायता बिना ही सम्पूर्ण संसार का शासन कर रहे हैं। प्रभु की महिमा महान् है। २. **यस्य**=जिस प्रभु का—प्रभु से किया गया **छाया**=छेदन-भेदन (छो छेदने) **अमृतम्**=हमारे लिए अमृतत्व को देनेवाला है, प्रभु से दिया गया दण्ड हमारी उन्नति का ही कारण होता है। **यस्य**=जिस प्रभु से प्राप्त कराई गई **मृत्युः**=मृत्यु

भी हमारी अमरता के लिए ही है, उस **कस्मै**=आनन्दमय **देवाय**=सर्वप्रद व प्रकाशमय प्रभु के लिए हम **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=पूजा करते हैं। प्रभु यज्ञरूप हैं। हम भी यज्ञशेष का सेवन करते हुए प्रभु का सच्चा पूजन कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अनन्य शासक हैं। प्रभु से दिया गया दण्ड व प्रभु-प्राप्त मृत्यु हमारे भले के लिए ही है। यज्ञशेष का सेवन करते हुए हम प्रभु का उपासन करें।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यस्य असौ पन्थाः रजसो विमानः

यं क्रन्दसी अवतश्चस्कभाने भियसाने रोदसी अह्वयेथाम्।
यस्यासौ पन्था रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ३॥

१. **यम्**=जिस प्रभु को **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी **अव-तः**=रक्षण के हेतु से **अह्वयेथाम्**=पुकारते हैं। ये द्यावापृथिवी **क्रन्दसी**=(क्रन्दन्ति क्रोशन्ति अनयोराश्रिता जनाः) प्रभु को पुकारनेवाले हैं, इनमें स्थित लोग **भियसाने**=भयभीत होते हुए सदा रक्षणार्थ प्रभु को पुकारते हैं। ये द्यावापृथिवी प्रभु की व्यवस्था में **चस्कभाने**=एक-दूसरे का धारण किये हुए हैं। यह पृथिवी यज्ञों द्वारा द्युलोक का धारण करती हैं, द्युलोक वृष्टि द्वारा पृथिवी का धारण करता है। २. **यस्य**=जिस प्रभु का **असौ**=वह **पन्थाः**=मार्ग—प्रभु-प्राप्ति का मार्ग **रजसः विमानः**=रजोगुण का विशेषरूप से माप-तोलकर निर्माण करनेवाला है, अर्थात् प्रभु-प्राप्ति के मार्ग में—देवयान में—सत्त्वगुण के साथ रजोगुण का परिमित अंश होता है, जो सत्त्वगुण को क्रियाशील बनाये रखता है। यह देववृत्ति का मनुष्य इसीलिए सात्त्विक होते हुए भी क्रियाशील होता है। हम उस आनन्दमय देव के लिए हवि के द्वारा पूजन करें।

भावार्थ—सारा संसार रक्षण के लिए प्रभु को पुकारता है। प्रभु-प्राप्ति का सात्त्विक मार्ग रजो-गुण के उचित पुट के कारण क्रियाशील होता है। हम यज्ञरूप प्रभु का हवि के द्वारा पूजन करें।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

त्रिलोकी व सूर्य में प्रभु की महिमा का दर्शन

यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्व१न्तरिक्षम्।
यस्यासौ सूरो विततो महित्वा कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ४॥

१. **यस्य**=जिसकी **महित्वा**=महिमा से **द्यौः**=यह द्युलोक **उर्वी**=विस्तीर्ण हुआ है **च**=और जिसकी महिमा से **पृथिवी**=यह पृथिवी **मही**=महत्त्वपूर्ण हुई है, **यस्य**=जिसकी महिमा से ही **अदः**=वह **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक **उरु**=विस्तीर्ण हुआ है, उस आनन्दमय देव का हम दानपूर्वक अदन से पूजन करें। २. उस देव का पूजन करें **यस्य**=जिसकी महिमा से **असौ**=वह **सूरः**=सूर्य **विततः**=अपने प्रकाश से सर्वत्र फैला-सा हुआ है।

भावार्थ—यह द्युलोक, पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक व द्युलोकस्थ सूर्य—ये सब उस प्रभु की महिमा का प्रकाश कर रहे हैं, प्रभु की महिमा से ही ये विस्तीर्ण हो रहे हैं। हम हवि के द्वारा इस प्रभु का पूजन करें।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'पर्वतों, समुद्रों, पृथिवी व दिशाओं' में प्रभु की महिमा का दर्शन

यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा समुद्रे यस्य रसामिदाहुः।
इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ५॥

१. उस आनन्दमय देव का हम हवि के द्वारा पूजन करें **यस्य महित्वा**=जिसकी महिमा से **विश्वे**=सब **हिमवन्तः**=हिमाच्छादित पर्वत खड़े हैं, **यस्य**=जिसकी महिमा से **इत**=ही **समुद्रे**=समुद्र में भी **रसाम्**=रसों की उत्पत्ति-स्थान पृथिवी को **आहुः**=कहते हैं। चारों ओर समुद्र है, बीच में यह पृथिवी है। समुद्रों से आवृत यह पृथिवी भी प्रभु की महिमा को प्रकट कर रही है। २. **च**=और **इमाः**=ये **प्रदिशः**=फैली हुई दिशाएँ **यस्य**=जिस प्रभु की **बाहू**=बाहु स्थानापन्न हैं, उस आनन्दमय देव का हम हवि के द्वारा पूजन करें।

भावार्थ—हिमाच्छादित पर्वतों में, समुद्र के मध्य में स्थित इस पृथिवी में, इन विस्तृत दिशाओं में—सर्वत्र प्रभु की महिमा का प्रकाश हो रहा है। हम इस प्रभु का हवि के द्वारा पूजन करें।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप्त्रिष्टुप्** ॥

अपो वै द्यौः

आपो अग्रे विश्वमावन्गर्भं दधाना अमृता ऋतज्ञाः।
यासु देवीष्वधि देव आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ६ ॥

१. **आपो वै द्यौ** (शत० ६.४.१.९) **आपो वै दिव्यं नभः** (शत० ६.८.५.३) इन वाक्यों के अनुसार द्युलोक (आकाश) ही 'आपः' है। यह आकाश भी प्रभु से प्रादुर्भूत होता है—तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। इस आकाश में ही सारा संसार गर्भरूप से रहता है। **आपः**=यह आकाश व दिव्य नभ (Nebula) ही **अग्रे**=आरम्भ में **विश्वम्**=सम्पूर्ण विश्व को **आवन्**=अपने में (अरक्षत्) रखता था, **गर्भं दधानाः**=इन्होंने ही इसे गर्भरूप से धारण किया हुआ था। **अमृताः**=यह द्युलोक अविनाशी है। स्वामी दयानन्द के शब्दों में 'उत्पन्न-सा' होता है, वस्तुतः यह तो सदा से है। **ऋतज्ञाः**=ये द्युलोक ही वृष्टि-जल को (ऋत-rain-water) जाननेवाले हैं, यहीं से वृष्टि होती है। २. **यासु**=जिस **देवीषु**=प्रकाशमय द्युलोक में **अधि देवा आसीत्**=अधिष्ठातृरूपेण प्रभु थे। प्रभु से अधिष्ठित ही यह आकाश सम्पूर्ण विश्व को जन्म देता है। उस **कस्मै**=आनन्दमय **देवाय**=सर्वप्रद प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **विधेम**=पूजा करें।

भावार्थ—सम्पूर्ण संसार इस आकाश के गर्भ में है। प्रभु से अधिष्ठित आकाश विश्व को जन्म देता है। इस प्रभु के लिए हम हवि द्वारा पूजन करनेवाले हों।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्** ॥

'हिरण्यगर्भ' प्रभु

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीमुत द्यां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ७ ॥

१. **हिरण्यगर्भः**=ज्योतिर्मय पदार्थों को गर्भ में धारण करनेवाला वह प्रभु **अग्रे समवर्त्तत**=पहले से ही है—वह सृष्टि से पूर्व है। वह कभी उत्पन्न नहीं होता। **जातः**=सदा से प्रादुर्भूत हुआ-हुआ वह प्रभु **भूतस्य**=प्राणिमात्र का **एकः**=अकेला ही **पतिः आसीत्**=रक्षक है। वे प्रभु सृष्टि के निर्माण व धारणरूप कार्यों में किसी के साहाय्य की अपेक्षा नहीं करते। २. **सः**=वे प्रभु ही **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को **दाधार**=धारण कर रहे हैं। उस **कस्मै**=आनन्दमय **देवाय**=सर्वप्रद, प्रकाशमय प्रभु के लिए **हविषा**=हवि के द्वारा **विधेम**=हम पूजन करें।

भावार्थ—सारे ब्रह्माण्ड को गर्भरूप में धारण करनेवाले प्रभु कभी बने नहीं। सदा से विद्यमान प्रभु ही प्राणिमात्र के रक्षक हैं। वे ही पृथिवीलोक व द्युलोक का धारण करते हैं। हम हवि के द्वारा उस प्रभु का अर्चन करें।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

हिरण्यय उत्सः

आपो॑ व॒त्सं ज॒नय॑न्ती॒र्गर्भ॒मग्रे॑ समैरयन्।
तस्यो॒त जाय॑मानस्योल्ब॑ आसीद्धिर॒ण्ययः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥ ८॥

१. **आपः**=इस द्युलोक ने **वत्सं जनयन्तीः**=सबके निवासस्थानभूत इस संसार को जन्म देने के हेतु से (वसन्ति अस्मिन् इति वत्सः) **अग्रे**=सृष्टि के आरम्भ में **गर्भम्**=गर्भरूप से अवस्थित इस संसार को **समैरयन्**=प्रेरित किया—गतिमय किया। २. **उत**=और **जायमानस्य**=उत्पन्न होते हुए **तस्य**=उस द्युलोक के गर्भरूप संसार का **उल्बः**=गर्भ-वेष्टन **हिरण्ययः आसीत्**=ज्योतिर्मय प्रभु ही थे—प्रभु ने ही इन सबको वेष्टित किया हुआ था। **कस्मै**=उस आनन्दमय **देवाय**=प्रकाशमय प्रभु के लिए **हविषा विधेम**=दानपूर्वक अदन द्वारा पूजन करें।

भावार्थ—द्युलोक से जन्म लेनेवाला यह सारा संसार प्रभु से वेष्टित था। हम उस ज्योतिर्मय प्रभु का हवि के द्वारा अर्चन करें।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि 'अथर्वा' है—प्रभु-पूजन से अपनी वृत्ति को स्थिर बनानेवाला। वह प्रयत्न करके कामादि शत्रुओं को अपने से दूर करता है।

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**व्याघ्रः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

व्याघ्र-तस्कर-वृक

उदि॒तस्त्रयो॑ अक्रम॒न्व्या॒घ्रः पुरु॑षो॒ वृकः॑।
हिरु॒ग्घि यन्ति॒ सिन्ध॑वो॒ हिरु॑ग्दे॒वो वन॒स्पति॒र्हिरु॑ङ्‍ नमन्तु॒ शत्र॑वः॥ १॥

१. **इतः**=इस स्थान से **त्रयः**=तीन **उद् अक्रमन्**=उठकर दूर चले जाएँ। एक तो **व्याघ्रः**=विशिष्ट आघ्राणमात्र से प्राणियों को नष्ट करनेवाला व्याघ्र, दूसरा **पुरुषः**=(परमेणोत तस्करः) चोर पुरुष और तीसरा **वृकः**=प्राणियों का घातक अरण्यश्वा (भेड़िया)। २. **सिन्धवः**=स्यन्दनशील नदियाँ **हिरुक् हि**=नीचे (Below) की ओर ही **यन्ति**=चली जाती हैं। यह **देवः**=रोगों को जीतनेवाला **वनस्पतिः**=वृक्ष **हिरुक्**=नीचे भूमि में, जड़के रूप मे चला जाता है। **शत्रवः**=ये शातनशील व्याघ्र आदि भी **हिरुक् नमन्तु**=नीचे झुक जाएँ। नदियाँ नीचे की ओर जा रही हैं, वृक्षों की जड़ें नीचे और नीचे चली जा रही हैं, ये हमारे शत्रु भी नीचे झुक जाएँ।

भावार्थ—व्याघ्र, तस्कर व वृक हमसे दूर ही रहें। ये हमारे सामने झुक जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**व्याघ्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सर्प और अघायु

परे॑णैतु प॒था वृकः॑ पर॒मेणो॒त तस्क॑रः। परे॑ण द॒त्वती॒ रज्जुः॒ परे॑णाघा॒युर॑र्षतु॥ २॥

१. **वृकः**=यह प्राणिहिंसक अरण्यश्वा **परेण**=हमारे सञ्चार-मार्ग से भिन्न **पथ**=मार्ग से **एतु**=जाए, **उत**=और **तस्करः**=चोर पुरुष भी **परमेण**=उससे भी दूरतर मार्ग से जानेवाला हो। २. **दत्वती**=यह दाँतोंवाली **रज्जुः**=रस्सी के आकार का सर्प **परेण**=अन्य मार्ग से जाए।

अघायुः=अघ=पाप, अर्थात् दूसरों का हिंसन चाहनेवाला यह पापी भी **परेण**=अन्य मार्ग से ही **अर्षतु**=जाए।

भावार्थ—वृक, चोर, साँप व अशुभेच्छु हिंसक हमसे सदा दूर रहें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**व्याघ्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

व्याघ्र के 'आँख, मुख व दाँतों का नाश'

अक्ष्यौ॑ च ते॒ मुखं॑ च ते॒ व्या॑घ्र जम्भयामसि। आत्सर्वा॑न्विंश॒तिं न॒खान्॥ ३॥

१. हे **व्याघ्र**=अपने विशिष्ट आघ्राणमात्र से नष्ट करनेवाले व्याघ्र! **ते अक्ष्यौ च**=तेरी आँखों को और **ते मुखं च**=तेरे मुख को भी **जम्भयामसि**=हम विनष्ट करते हैं। २. **आत्**=और **सर्वान्**=सब **विंशतिं नखान्**=बीसों नाखुनों को भी नष्ट करते हैं।

भावार्थ—व्याघ्र आदि के उन अङ्गों को नष्ट कर दिया जाए, जिनसे वे विनाश का कारण बनते हैं। इसीप्रकार राष्ट्र में हिंसकों के हिंसा-साधनों को समाप्त करके उन्हें हिंसन के अयोग्य बना दिया जाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**व्याघ्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'व्याघ्र, स्तेन, अहि, यातुधान व वृक' का विनाश

व्या॒घ्रं द॒त्वतां॑ व॒यं प्र॑थ॒मं ज॑म्भयामसि। आदु॑ ष्टे॒नमथो॒ अहिं॑ यातु॒धान॒मथो॒ वृक॑म्॥ ४॥

१. **वयम्**=हम **दत्वताम्**=दाँतोंवालों में **प्रथमम्**=मुख्य—अपनी दंष्ट्राओं से फाड़ देनेवालों में प्रधानभूत **व्याघ्रम्**=व्याघ्र को **जम्भयामसि**=नष्ट करते हैं। व्याघ्रों व व्याघ्र-वृत्तिवाले पुरुषों को राष्ट्र से दूर करना आवश्यक है। २.**आत उ**=और अब इसके बाद **स्तेनम्**=चोर को नष्ट करते हैं। **अथ उ**=और अब निश्चय से **अहिम्**=सर्प को नष्ट करते हैं। **यातुधानम्**=पीड़ा का आधान करनेवाले राक्षसों को दूर करते हैं, **अथ उ**=और निश्चय से **वृकम्**=भेड़िये को व भेड़िये की वृत्तिवाले पुरुष को विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र से व्याघ्र, स्तेन, अहि, यातुधान व वृकों का दूर करना आवश्यक है। निरुपद्रव राष्ट्र में ही प्रजा उन्नति कर सकती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**व्याघ्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

चोर का निरादर, मार्गध्वंसक को वध-दण्ड

यो अ॒द्य स्ते॒न आय॑ति॒ स संपि॑ष्टो॒ अपा॑यति।
प॒थाम॑पध्वं॒सेनै॒त्विन्द्रो॒ वज्रे॑ण हन्तु॒ तम्॥ ५॥

१. **अद्य**=आज **यः**=जो भी **स्तेनः**=चोर **आयति**=आता है, **सः**=वह **संपिष्टः**=सम्यक् पिसा हुआ—चूर्णीभूत-सा किया हुआ **अपायति**=दूर जाता है। चोर को सारा जनसमाज सामूहिकरूप से दण्डित करनेवाला हो, उन्हें कोई आश्रय देनेवाला न हो। २. जो कोई भी **पथाम्**=मार्गों के—नियमों के, **अपध्वंसेन**=बुरी तरह ध्वंस से—नियमों के भंग से **एतु**=गति करे, **इन्द्रः**=राजा **तम्**=उसे **वज्रेण**=वज्र के द्वारा—विनाशक शस्त्र के द्वारा **हन्तु**=नष्ट करे। नियमों को बुरी तरह तोड़नेवाले को राजा वध-दण्ड दे।

भावार्थ—चोर को जनसमाज उचित दण्ड देता हुआ चोरी आदि से निरुत्साहित करे। सदा उलटे मार्ग से चलनेवाले को राजा वध-दण्ड दे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**व्याघ्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हिंस्र पशुओं के भय से रहित मार्ग

मूर्णा मृगस्य दन्ता अपिशीर्णा उ पृष्टयः।
निम्रुक्ते गोधा भवतु नीचायच्छशयुर्मृगः ॥ ६ ॥

१. **मृगस्य**=हिंस्र पशु के **दन्ताः**=दाँत **मूर्णाः**=मूढ—खादन में असमर्थ हो जाएँ **उ**=और **पृष्टयः अपि**=इसकी पसलियाँ भी **शीर्णाः**=विनष्ट हो जाएँ, यह किसी के भी हिंसन में समर्थ न रहे। २. हे पान्थ! **गोधा**=गोह आदि प्राणी **ते**=तेरी **निम्रुक्**=दृष्टि का अविषय **भवतु**=हो। रास्ते में तुझे गोह आदि विघ्नकारक न मिलें। यह **शशयुः**=झाड़ियों में छिपकर सोनेवाला **मृगः**=हिंस्र पशु **नीचा अयत्**=निचले मार्ग से ही चला जाए—यह मार्ग में रुकावट का कारण न बने।

भावार्थ—हिंस्र पशुओं के दाँत व पसलियाँ शीर्ण कर दी जाएँ। मार्ग में गोह व हिंस्र पशुओं का भय न बना रहे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**व्याघ्रः** ॥ छन्दः—**ककुम्मतीगर्भोपरिष्टाद्बृहती** ॥

संयम न कि वियम

यत्संयमो न वि यमो वि यमो यन्न संयमः ॥
इन्द्रजाः सोमजा आथर्वणमसि व्याघ्रजम्भनम् ॥ ७ ॥

१. **यत्**=चूँकि **संयमः**=जो संयम है—आत्मशासन है वह **वियमः न**=उच्छृंखलता नहीं और **यत्**=क्योंकि **वियमः**=उच्छृंखलता—नियमविरुद्ध गति **संयमः न**=संयम नहीं है। इन संयम और वियम में आकाश-पाताल का अन्तर है। २. जो संयम है, वह **इन्द्रजाः**=(इन्द्रस्य जनयिता) इन्द्र को जन्म देनेवाला है। यह संयम मनुष्य को इन्द्र, अर्थात् देवराट् बनाता है—सब दिव्य गुणों से सम्पन्न करता है। यह संयम **सोमजाः**=(सोमस्य जनयिता) शरीर में सोमशक्ति को उत्पन्न करनेवाला है—सोम (Semen) की स्थिरता का कारण बनता है। हे संयम! तू **व्याघ्रजम्भनम्**=व्याघ्र आदि हिंस्र पशुओं के समान हिंसक वृत्तियों को समाप्त करनेवाला है। संयम मनुष्य को पाशविक वृत्तियों से ऊपर उठाकर दिव्य वृत्तियोंवाला बनाता है। वियम मनुष्य में पाशववृत्तियों को प्रबल करता है।

भावार्थ—संयम हमें इन्द्र—देवराट् बनाता है। यह व्याघ्रतुल्य हिंस्रवृत्तियों का विनाश करता है। यह हममें सोम का रक्षण करता है। इसके विपरीत वियम हमें पशु ही बना डालता है।

विशेष—संयम 'सोमजाः' है, सोम को जन्म देनेवाला है। इस सोम से शक्तिशाली बनकर यह अथर्वा सदा प्रसन्नचित्त व गतिशील होता है। यह सोमजनक ओषधियों का ही प्रयोग करता है। अगले सूक्त में इसी बात का वर्णन है।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गन्धर्व द्वारा ओषधि खनन

यां त्वा गन्धर्वो अखनद्वरुणाय मृतभ्रजे। तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम् ॥ १ ॥

१. **याम् त्वा**=जिस तुझ ओषधि को **गन्धर्वः**=ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाले ज्ञानी पुरुष ने **वरुणाय**=पाप का निवारण करनेवाले उत्तम पुरुष के लिए **अखनत्**=खोदा है, जो किन्हीं अज्ञात कारणों से **मृत-भ्रजे**=(भ्राजृ दीप्तौ) नष्ट दीप्तिवाला हो गया है, रोगवश उसकी शक्ति में

कमी आ गई है। सामान्यतः उसकी वृत्ति अच्छी है। इसके स्वास्थ्य व शक्तिवर्धन के लिए गन्धर्व एक ओषधि खोदकर लाता है। २. **ताम्**=उस **त्वा ओषधिम्**=तुझ ओषधि को **वयम्**=हम **खनामसि**=खोदते हैं, जो तू **शेपहर्षिणीम्**=(शेप=पेशस्) रूप को—आकृति को हर्षित करनेवाली है। यह ओषधि शक्ति-सम्पन्न बनाकर मृत-दीप्तिवाले चेहरे को फिर से दीप्त-सा कर देती है। इस ओषधि का सेवन करके यह वरुण फिर चमक उठता है।

भावार्थ—उत्तम वृत्तिवाले, परन्तु किसी रोगवश नष्ट दीप्तिवाले पुरुष के लिए ज्ञानी वैद्य 'ऋषभक' आदि ओषधियों को खोदकर लाता है। इस ओषधि के सेवन से फिर सबल होकर यह वरुण चमक उठता है। ओषधि का प्रयोग ज्ञानी पुरुष को ही करना है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उषा-जागरण व प्रभु-स्तवन

उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः। उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना॥ २॥

१. **उषाः उत्**=(एजत्) उषा का उदय हुआ है, **उ**=और **सूर्यः उत्**=सूर्य ऊपर उठा है। इस सूर्योदय काल में **इदम्**=यह **मामकम्**=मेरे द्वारा किया जानेवाला **वचः**=स्तुति-वचन भी **उत्**=उच्चरित हुआ है। २.यह—गतमन्त्र के अनुसार गन्धर्व से खोदी गई ओषधि का सेवन करनेवाला पुरुष **वाजिना**=शक्तिदेनेवाले **शुष्मेण**=शत्रु-शोषक बल से **उद् एजतु**=ऊपर गतिवाला हो, उन्नत हो। यह **प्रजापतिः**=उत्तम प्रजाओं का स्वामी बने—उत्तम सन्तानों को प्राप्त करे और **वृषा**=शक्तिशाली हो।

भावार्थ—उषा में प्रबुद्ध होकर सूर्योदय के साथ ही हम प्रभु-स्तवन करनेवाले बनें। उत्तम ओषधियों के प्रयोग से उत्तम सन्तानोंवाले व शक्तिशाली हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

तपे हुए सोने के समान

यथा स्म ते विरोहतोऽभितप्तमिवानति। ततस्ते शुष्मवत्तरमियं कृणोत्वोषधिः॥ ३॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **विरोहतः**=स्वास्थ्य में विशिष्ट रूप से उन्नत होते हुए **ते**=तेरा चेहरा **अभितप्तम् इव**=तपे हुए स्वर्ण के समान **अनति स्म**=प्राणित होता है, **ततः**=उस प्रकार **इयम्**=यह **ओषधिः**=ओषधि **ते**=तेरे शरीर को **शुष्मवत्तरम्**=अतिशयित बलवाला **कृणोतु**=कर दे।

भावार्थ—ओषधि-प्रयोग से पूर्ण स्वस्थ हुआ-हुआ यह पुरुष सबल होकर इसप्रकार चमक उठे कि इसका चेहरा तपे हुए सोने के समान दीप्त हो उठे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सुषमा-सारा (ओषधि)

उच्छुष्मौषधीनां सार ऋषभाणाम्। सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमस्मिन्धेहि तनूवशिन्॥ ४॥

१. **ओषधीनाम्**=ओषधियों में यह ओषधि **शुष्मा**=रोगरूप शत्रुओं के शोषक बलवाली है **ऋषभाणाम्**=शक्तिसेचन-समर्थ ओषधियों में यह **सारः**=सारभूत व उत्कृष्ट है। यह ओषधि इस वरुण को (वरुणाय मृतभ्रजे-मन्त्र १) **उत्**=फिर से उठा दे—उन्नत बलवाला करे। २. हे **तनूवशिन्**=शरीर को वश में करनेवाले **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **अस्मिन्**=अपने इस शरीर में **पुंसाम्**=शक्तिशाली पुरुषों में होनेवाले **वृष्ण्यम्**=वीर्य को **संधेहि**=सम्यक् धारण कर।

भावार्थ—शक्तिवर्धक ओषधि के प्रयोग से यह मृत-सी दीप्तिवाला रुग्ण पुरुष उठ खड़ा हो। शरीर को वश में रखता हुआ यह उत्कृष्ट शक्ति को धारण करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'आर्शम्' वृष्ण्यम्

अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम्। उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम् ॥ ५ ॥

१. ओषधियों से उत्पन्न होनेवाली शक्ति के विषय में कहते हैं कि तू **अपाम्**=जलों का **प्रथमजः**=प्रथम स्थान में होनेवाला **रसः**=रस है, **अथ उ**=और निश्चय से **वनस्पतीनाम्**=वनस्पतियों का सार है। वनस्पतियाँ जल से ही परिपोषित होती हैं। उन वनस्पतियों में यह जल ही रोग-निवारक तत्त्वों की स्थापना करता है 'अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा'। २. **उत**=और यह जलों और वनस्पतियों का रस **सोमस्य**=सोमशक्ति का—वीर्य का **भ्राता असि**=भरण करनेवाला है **उत**=तथा तू वह **वृष्ण्यम्**=वीर्य है जो **आर्शम्**=(ऋश्=to kill) रोग-कृमियों को नष्ट करनेवाला है और पुरुषों को (ऋश=to go) गतिशील बनानेवाला है।

भावार्थ—जलों व ओषधियों के सेवन से शरीर में उस सोम (वीर्य) की उत्पत्ति होती है जो हमें नीरोग बनाकर खूब गतिशील बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः, सविता, सरस्वती, ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

धनुः इव तानया पसः

अद्याग्ने अद्य सवितरद्य देवि सरस्वति।
अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥ ६ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अद्य**=आज—गतमन्त्र के अनुसार ओषधियों व जलों के रस का सेवन होने पर **अस्य**=इस पुरुष के **पसः**=(राष्ट्रम्) शरीररूप राष्ट्र को **धनुः इव**=धनुष के समान **तानय**=फैलाइए। इसके शरीर-राष्ट्र की शक्तियाँ इसप्रकार फैलें, जैसेकि तीर चलाने के समय धनुष को फैलाते हैं। २. हे **सवितः**=प्रेरणा देनेवाले प्रभो! **अद्य**=आज आप उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराते हुए इस पुरुष के शरीर-राष्ट्र का वर्धन कीजिए। हे **देवि**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाली **सरस्वति**=विद्या की अधिष्ठातृदेवते! तू **अद्य**=आज इसके ज्ञान का वर्धन करती हुई इसके शरीररूपी राष्ट्र का वर्धन कर। हे **ब्रह्मणस्पते**=(ब्रह्म=तपः) तपों के रक्षक प्रभो! **अद्य**=आज आप **अस्य**=इस पुरुष को तपस्वी बनाते हुए इसके शरीर-राष्ट्र का वर्धन कीजिए।

भावार्थ—आगे बढ़ने की भावना, प्रभु की प्रेरणा, विद्या का आराधन व तपस्या हमारे शरीर-राष्ट्र का वर्धन करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

अग्लान मन से

आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि।
क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥ ७ ॥

१. प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **ते पसः**=तेरे शरीररूप राष्ट्र को इसप्रकार **आतनोमि**=विस्तृत करता हूँ, **इव**=जैसेकि **ज्याम्**=डोरी को **धन्वनि अधि**=धनुष पर फैलाते हैं। तेरा यह शरीर-राष्ट्र जलों व ओषधियों के रसों के सेवन से विस्तृत शक्तिवाला बन जाए। २. हे विस्तृत शक्तिवाले पुरुष! **इव**=जैसे **ऋशः**=हिंस्र पशु (ऋश् to kill) **रोहितम्**=मृग पर आक्रमण करता है, इसीप्रकार तू **सदा**=सदा **अनवग्लायता**=ग्लान न होते हुए मन से **आक्रमस्व**=जीवन-मार्ग पर आक्रमण करनेवाला बन। सब विघ्नों को जीतता हुआ तू आगे बढ़।

भावार्थ—शरीर की शक्तियों का वर्धन करते हुए हम अग्लान मन से विघ्नों पर आक्रमण

करते हुए आगे बढ़ें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'अश्व व ऋषभ' के समान शक्तिवाला बनना

अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्वस्य च।
अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन्धेहि तनूवशिन्॥ ८॥

१. हे **तनूवशिन्**=शरीर को वश में करनेवाले पुरुष! तू **अस्मिन्**=इस शरीर में **तान्**=उन **वाजान्**=शक्तियों को **धेहि**=धारण कर **ये वाजाः, अश्वस्य**=जो शक्तियाँ घोड़ों की हैं, घोड़े के समान तू इस शरीर को सबल बना। यह चलते हुए कभी थके नहीं। **अश्वतरस्य**=खच्चर की जो शक्तियां हैं, उन्हें तू धारण कर। तू खच्चर के समान कार्यभार को वहन करनेवाला बन। **अजस्य**=बकरे की जो शक्तियाँ हैं, तू उन्हें धारण कर। तू अज के समान गतिशील हो तथा सब रोगों को दूर फेंकनेवाला हो। **च**=और **पेत्वस्य**=मेढे की जो शक्तियाँ हैं, उन्हें तू धारण कर। मेढा जिस प्रकार अपने विरोधियों से टक्कर लेता है, उसी प्रकार तू अपने शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला हो। २. **अथ**=और अब **ऋषभस्य**=एक बैल की जो शक्तियाँ हैं, उन्हें तू धारण कर। बैल की भाँति तू कार्य-शकट की धुरा का वहन करनेवाला हो।

भावार्थ—हम संयमी जीवन बिताते हुए अश्व के समान वेगवाले हों, खच्चर के समान कार्यभार का वहन करें, बकरे के समान दिनभर गतिशील हों, मेढे के समान शत्रुओं से टक्कर ले सकें तथा बैल के समान कार्य-शकट की धुरा को धारण करनेवाले हों।

विशेष—इसप्रकार शक्तियों का वर्धन करता हुआ यह 'ब्रह्मा' बनता है। यह वस्तुतः राष्ट्र-यज्ञ का भी ब्रह्मा बनकर राष्ट्र का प्रबन्ध इतनी उत्तमता से करता है कि राष्ट्र में चोरी इत्यादि का कोई भय नहीं रहता, सारी प्रजा चैन की नींद सो सकती है। इस राजा का उद्देश्य यही होता है कि सारे लोग आराम से सो सकें। उनकी नींद को निर्विघ्न बनाने के लिए वह स्वयं जागरित रहता है।

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वृषभः, स्वापनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सूर्यास्त के साथ सोने की तैयारी

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत्।
तेना सहस्येना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि॥ १॥

१. **सहस्रशृङ्गः**=हज़ारों रश्मियोंवाला **वृषभः**=वृष्टिजल का वर्षक **यः**=जो सूर्य **समुद्रात्**=उदयाचल के परिसरवर्ति (समीपस्थ) अन्तरिक्ष प्रदेश से **उदाचरत्**=उदित होता है, **तेन**=उस **सहस्येन**=शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले बल को प्राप्त कराने में उत्तम सूर्य के साथ **वयम्**=हम **जनान्**=लोगों को **निस्वापयामसि**=सुलाते हैं, अर्थात् सूर्यास्त होता है—सूर्य सोता-सा है और हम लोगों को भी सुला देता है। २. राजा राष्ट्र में ऐसा प्रयत्न करे कि प्रजा सूर्योदय के साथ जाग उठे और सूर्यास्त के साथ कार्य-विरत हो सोने की तैयारी करे। इस स्वाभाविक जीवन के परिणामस्वरूप लोग न केवल शरीर में अपितु मन में भी स्वस्थ बने रहेंगे।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में ऐसी व्यवस्था करे कि सभी प्रजा सूर्यास्त होने पर सोने की तैयारी करे। शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—वृषभः, स्वापनम् ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥

नींद के अनुकूल वातावरण

न भूमिं वातो अति वाति नाति पश्यति कश्चन।
स्त्रियश्च सर्वाः स्वापय शुनश्चेन्द्रसखा चरन्॥ २॥

१. राष्ट्र में नगरों का निर्माण इसप्रकार हो कि **वातः**=वायु **भूमिं न अतिवाति**=भूमि पर बहुत तीव्र गति से—आँधी आदि के रूप में बहनेवाला न हो। नगरों के चारों ओर एक-दो किलोमीटर चौड़े बगीचे हों। ये वायु के वेग को रोकने में सहायक होंगे। २. घरों का निर्माण भी इसप्रकार हो कि **कश्चन**=कोई भी **न अतिपश्यति**=ऊपर से एक-दूसरे घरवालों को देख न सके। सब घरवाले कुछ गुप्तता अनुभव कर सकें। ३. हे वायो! **इन्द्रसखा**=इन जितेन्द्रिय पुरुषों का मित्रभूत **चरन्**=बहता हुआ तू **सर्वाः स्त्रियः**=सब स्त्रियों को **स्वापय**=सुला दे, **च**=और **शुनः च**=कुत्तों को भी सुला दें। कुत्तों का भौंकना भी नींद में विघ्न का कारण न बन जाए।

भावार्थ—नगरों व घरों का निर्माण इसप्रकार हो कि तेज हवा के झोंके न लगें तथा लोगों को अपने घरों में कुछ एकान्त-सा प्रतीत हो, कुत्तों का भौंकना भी नींद के विघ्न का कारण न बने।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—वृषभः, स्वापनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

स्त्रियों की निर्भीक निद्रा

प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारीर्या वह्यशीवरीः।
स्त्रियो याः पुण्यगन्धयस्ताः सर्वाः स्वापयामसि॥ ३॥

१. अवस्था-भेद के अनुसार कोई नारी कहीं सोई है और कोई कहीं। **प्रोष्ठेशयाः**=(प्रोष्ठ) जो दस-बारह वर्ष की कुमारियाँ छोटे-छोटे फलकों पर सोई हैं। **तल्पेशयाः**=जो युवतियाँ खाटों पर सो रही हैं, **याः नारीः**=जो स्त्रियाँ अभी बहुत छोटी अवस्था में होने से **वह्यशीवरीः**= आन्दोलिका—हिंडोले में ही सो रही हैं तथा **याः**=जो **पुण्यगन्धयः**=पुण्यगन्धवाली **स्त्रियः**=विवाहित स्त्रियाँ हैं, **ताः सर्वाः**=उन सबको **स्वापयामसि**=हम सुलाते हैं।

भावार्थ—घरों में स्त्रियों का कमरा इसप्रकार सुरक्षित हो कि वे निश्चिन्त होकर सो सकें। यह निश्चिन्तता की निद्रा उन्हें स्वस्थ बनाएगी और वे घर को बड़ा उत्तम बना सकेंगी।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—वृषभः, स्वापनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

निश्चेष्टतामयी गाढ़ निद्रा

एजदेजदजग्रभं चक्षुः प्राणमजग्रभम्। अङ्गान्यजग्रभं सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे॥ ४॥

१. **एजत् एजत् अजग्रभम्**=प्रत्येक हिलते हुए अङ्ग को मैंने नींद के द्वारा निग्रह में किया है **चक्षुः**=आँख को व **प्राणम्**=घ्राणेन्द्रिय को (प्राणसञ्चारस्थानाश्रितं गन्धग्राहकमिन्द्रियम्—सा०), **अजग्रभम्**=निद्रा से निश्चल किया है। २. इन **रात्रिणां अतिशर्वरे**=रात्रियों के घने अन्धकार के काल में **सर्वा**=सब **अङ्गानि**=अंगों को **अजग्रभम्**=मैंने निगृहीत किया है।

भावार्थ—गाढ़ निद्रा में सब अङ्ग बिल्कुल निश्चेष्ट हो गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई मनुष्य घोड़े बेचकर सो गया है। यह गाढ़ निद्रा स्वास्थ्य के लिए अत्युत्तम होती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वृषभः, स्वापनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

घर के द्वारों व इन्द्रिय-द्वारों को बन्द करना

य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन्विपश्यति।
तेषां सं दध्मो अक्षीणि यथेदं हर्म्यं तथा॥ ५॥

१. **यः आस्ते**=जो बैठा है, **यः चरति**=जो चल रहा है **च**=और **यः तिष्ठन्**=जो खड़ा हुआ **विपश्यति**=विविध दिशाओं में देख रहा है, **तेषाम्**=इन सबकी **अक्षिणि सन्दध्मः**=आँखों को बन्द करते हैं। २. **यथा**=जैसे **इदम्**=यह **हर्म्यम्**=घर बन्द द्वारवाला किया जाता है, **तथा**=उसी प्रकार घर में रहनेवाले भी बन्द इन्द्रिय-द्वारोंवाले किये जाते हैं। घर के सब द्वारों का ठीक से बन्द होना निश्चिन्तता व सुरक्षा की भावना में सहायक है तथा इन्द्रिय-द्वारों का बन्द होना निद्रा की गाढ़ता की ओर ले-जाता है।

भावार्थ—हम घर के द्वारों को बन्द करके निश्चिन्त-से होकर, इन्द्रिय-द्वारों को बन्द करके गाढ़ निद्रा में जानेवाले बनें। घर में कुछ व्यक्ति हिल-डुल रहे हों तो भी दूसरों को ठीक नींद नहीं आ सकती।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वृषभः, स्वापनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

छोटे बालक की गाढ़ निद्रा

स्वप्तु माता स्वप्तु पिता स्वप्तु श्वा स्वप्तु विश्पतिः।
स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः॥ ६॥

१. **माता**=इस नव उत्पन्न बालक की माता **स्वप्तु**=अब रात्रि के समय सोये। **पिता स्वप्तु**=पिता भी सोये, **श्वा स्वप्तु**=घर का कुत्ता भी सो जाए—यह भौंकता न रहे, क्योंकि बालक की नींद पर उसका हानिकर प्रभाव होगा। **विश्पतिः**=घर का मुखिया—प्रजापति भी **स्वप्तु**=सो जाए। २. **अस्यै ज्ञातयः**=इसके अन्य बन्धु-बान्धव भी **स्वपन्तु**=सो जाएँ। **अयम्**=यह **अभितः जनः**=चारों ओर के लोग भी **स्वप्तु**=सो जाएँ। पड़ौस में भी शोर न होता रहे अथवा घर के नौकर-चाकर भी शोर न करते रहें। वे भी सोने की करें।

भावार्थ—छोटे बालक के विकास के लिए उसकी नींद बड़ी आवश्यक है। माता-पिता व अन्य बन्धु-बान्धव रात्रि में सब सो जाएँ, ताकि शान्त, नीरव वातावरण में बच्चा भी सोया रहे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वृषभः, स्वापनम्** ॥ छन्दः—**पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्** ॥

राजा जागे, सब सोएँ

स्वप्न स्वप्नाभिकरणेन सर्वं नि ष्वापया जनम्।
ओत्सूर्यमन्यान्त्स्वापयाव्युषं जागृतादहमिन्द्रइवारिष्टो अक्षितः॥ ७॥

१. राजा स्वप्न को सम्बोधित करते हुए कहता है कि **स्वप्न**=निद्रा की देवते! **स्वप्नाभिकरणेन**=नींद के सब साधनों से **सर्वं जनम्**=सब लोगों को **निष्वापय**=सुला दे। राजा राष्ट्र में इसप्रकार की व्यवस्थाएँ करता है कि लोग सूर्यास्त के साथ सोने की तैयारी करें। नित्य कर्मों से निवृत्त होकर सो जाएँ। २. **आ उत्सूर्यम्**=सूर्योदय तक **अन्यान् स्वापय**=हे निद्रे! औरों को तो सुला, बस **अहम्**=मैं **इन्द्रः इव**=एक जितेन्द्रिय पुरुष की भाँति **आव्यूषम्**=उषाकाल तक **जागृतात्**=जागता रहूँ। राजा ही सो गया तो राष्ट्र-रक्षा कैसे होगी? राष्ट्र-यज्ञ को चलानेवाला ब्रह्मा यह राजा ही तो है, इसके मन्त्री, कार्यकर्त्ता व सेवक ही ऋत्विज हैं। ये सो गये तो यज्ञ समाप्त हो जाएगा। राजा जागता तो राष्ट्र में सब चोरी आदि के भय से लोग निश्चिन्त निद्रा प्राप्त

न कर सकेंगे। राजा जागता है तो प्रजा निश्चिन्त हो निन्द्रा ले-पाती है। मैं **अक्षितः**=(न क्षितं
यस्मात्) राष्ट्र को क्षीण न होने दूँ, **अरिष्टः**=(न रिष्टं यस्मात्) राष्ट्र को हिंसित न होने दूँ।
जागता हुआ राजा ही 'अक्षित व अरिष्ट' होता है।

भावार्थ—राजा सदा जागरूक बनकर प्रजा को क्षीण व हिंसित होने से बचाए।

विशेष—राष्ट्र-रक्षा के महान् भार को उठाकर चलनेवाला 'गरुत्मान्' (गुरुं भारं उद्यम्य उड्डीय
गतः) अगले सूक्त का ऋषि है। यह सब प्रकार के विषों के निवारण की व्यवस्था करता है।

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**ब्राह्मणः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'दशशीर्ष, दशास्यं' ब्राह्मण

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः। स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम्॥ १॥

१. **ब्राह्मणः**=वेदज्ञान प्राप्त करनेवाला **प्रथमः जज्ञे**=(प्रथ विस्तारे) शक्तियों का विस्तार
करनेवाला होता है। **दशशीर्षः**=धर्म के दसों लक्षणों (धृति-क्षमा-दम-अस्तेय-शौच-इन्द्रियनिग्रह-
धी-विद्या-सत्य-अक्रोध) के दृष्टिकोण से यह शिखर पर होता है—यही इसके दस शिर होते
हैं। यह **दशास्यः**=दस मुखोंवाला—दसों इन्द्रियों से ज्ञान व शक्ति का भोजन करनेवाला होता
है। २. **सः**=वह **प्रथमः**=प्रथम स्थान में स्थित (विस्तृत उन्नत शक्तियोंवाला) ब्राह्मण **सोमं**
पपौ=सोम का पान करता है—वीर्यशक्ति का अपने अन्दर रक्षण करता है और परिणामतः
सः=वह **विषम्**=विष को **अरसं चकार**=प्रभावशून्य कर देता है—विष को यह निर्वीर्य कर देता
है। इसपर विष का प्रभाव नहीं होता। सोमरक्षण से जहाँ शरीर पर विषों का प्रभाव नहीं होता,
वहाँ 'ब्राह्मण, दशशीर्ष व दशास्य' बनने से लोगों की विषभरी बातों का इसके मन पर कुप्रभाव
नहीं पड़ता।

भावार्थ—हम ज्ञानप्रधान जीवनवाले बनकर लोगों के विषभरे शब्दों से मानस-सन्तुलन को
न खोनेवाले बनें। शरीर में सोम का रक्षण करते हुए शरीर में विष का प्रभाव न होने दें।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**द्यावापृथिवी, सप्त सिन्धवः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विषैली भावना को दूर करना

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावत्सप्त सिन्धवो वितष्ठिरे।
वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निरवादिषम्॥ २॥

१. **यावती**=जितने ये **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **वरिम्णा**=विस्तार से फैले हैं,
यावत्=जहाँ तक ये **सप्त सिन्धवः**=सात समुद्र **वितष्ठिरे**=विशेषरूप से स्थित हुए हैं, **इतः**=इस
सारे प्रदेश से **ताम्**=उस **विषस्य दूषणीम्**=विष को दूषित करनेवाली, अर्थात् विषप्रभाव को नष्ट
करनेवाली **वाचम्**=मधुर ज्ञान की वाणी को **निरवादिषम्**=मैंने निश्चय से व्यक्तरूप से कहा।
२. हम मधुर ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हुए लोकहृदय से विषभरे भावों को दूर करने
का प्रयत्न करें।

भावार्थ—हम उस ज्ञानमयी मधुरवाणी का उच्चारण करें जो लोगों के हृदयों से विषैले भावों
को दूर करनेवाली हो।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सुपर्णः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'गरुत्मान् सुपर्ण'

सुपर्णस्त्वा गरुत्मान्विष प्रथममावयत्। नामीमदो नारूरुप उतास्मा अभवः पितुः॥ ३॥

१. हे **विष**=विष **गरुत्मान्**=कर्म व ज्ञानरूप उत्तम पंखोंवाले **सुपर्णः**=सम्यक् पालक व पूरणात्मक कर्मों में प्रवृत्त पुरुष ने **प्रथमम्**=सर्वप्रथम **त्वा आवयत्**=तेरा भक्षण किया है, **न अमीमदः**=न तो तूने उसे मदयुक्त—ज्ञानविकल किया और न ही मूढ़ बनाया (रूप विमोहने)। २. ज्ञानविकल व मूढ़ बनना तो दूर रहा **उत**=प्रत्युत तू **अस्मै**=इस गरुत्मान् सुपर्ण के लिए **पितुः अभवः**=रक्षक अन्नवाला बन गया। गरुड़ पक्षी साँप को खा जाता है, परन्तु उसपर साँप के विष का घातक प्रभाव नहीं होता।

भावार्थ—हम ज्ञान व कर्मरूप उत्तम पक्षोंवाले बनें। पालन व पूरणात्मक कर्मों में लगे हुए हम लोगों की विषैली बातों से ज्ञानविकल व मूढ़ न बनेंगे, अपितु उनके निन्दात्मक प्रलापों में अपनी कमियों का निरीक्षण करते हुए अपने को निर्दोष बनाने के लिए यत्नशील होंगे।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विषदिग्ध बाण

यस्त आस्यत्पञ्चाङ्गुरिर्वक्राच्चिदधि धन्वनः।
अपस्कम्भस्य शल्यान्निरवोचमहं विषम्॥ ४॥

१. **यः**=जो **पञ्चांगुरिः**=पाँच अंगुलियोंवाला हाथ **वक्रात्**=वक्रीभूत (टेढ़े हुए-हुए) **अधिधन्वनः चित्**=अधिज्य (डोरीयुक्त) धनुष से **अपस्कम्भस्य**=(अपस्कभ्यते धनुषि धार्यते इति बाणः) बाण के **शल्यात्**=लोहमय अग्रभाग से हे विष! **ते**=तुझे **आस्यत्**=पुरुष-शरीर में फेंकता है, **अहम्**=मैं **विषम्**=उस विष को **निरवोचम्**=उचित चिकित्सा द्वारा निर्गत हुआ-हुआ कहता हूँ, अर्थात् शरीर से उस विषप्रभाव को दूर कर देता हूँ।

भावार्थ—युद्ध में विषैले बाणों का प्रयोग होने पर शरीर में होनेवाले विषप्रभाव को सद्वैध शीघ्र ही दूर कर देता है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विष को मन्त्रयुक्त औषध से दूर करना

शल्याद्विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः।
अपाष्ठाच्छृङ्गात्कुल्मलान्निरवोचमहं विषम्॥ ५॥

१. **शल्यात्**=बाण के अयोमय अग्रभाग से होनेवाले **विषम्**=विष को **निरवोचम्**=मैंने मन्त्रयुक्त (विचारपूर्वक प्रयुक्त) औषध से निकाल दिया है, इसी प्रकार **प्राञ्जनात्**=किसी वस्तु के प्रलेप से होनेवाले विष को मैंने दूर किया है। २. **अपाष्ठात्**=बाण की नोक से—किसी नुकीले कील आदि से होनेवाले विष को मैंने दूर किया है। इसीप्रकार **शृंगात्**=किसी पशु के सींग से होनेवाले विष को तथा **कुल्मलात्**=कुत्सित प्राणिमल से उद्भूत विष को मैं मन्त्रयुक्त औषध से दूर करता हूँ।

भावार्थ—विविध कारणों से उत्पन्न होनेवाले विष को एक सद्वैद्य मन्त्रयुक्त औषध से दूर करे।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शल्य, इषु व धनुष की अरसता

अरसस्त इषो शल्योऽथो ते अरसं विषम्।
उतारसस्य वृक्षस्य धनुष्टे अरसारसम्॥ ६॥

१. हे **इषो**=बाण! **ते**=तेरा **शल्यः**=विषदग्ध अयोमय अग्रभाग **अरसः**=निर्विष हो जाए **अथो**=और तब हे बाण! **ते**=तेरा **विषम्**=विष **अरसम्**=निर्वीर्य—प्रभावशून्य हो जाए। २. **उत**=और **अरसस्य**=नि:सार **वृक्षस्य**=वृक्ष का बना हुआ **ते**=तेरा **धनुः**=धनुष **अरसारसम्**=अतिशयेन नीरस व निर्वीर्य हो जाए।

भावार्थ—धनुषबाण व बाण का अग्रभाग सभी विष-प्रभावों से रहित हो जाएँ।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विषदाताओं को दण्डित करना

ये अपीषन्ये अदिहन्य आस्यन्ये अवासृजन्।
सर्वे ते वध्रयः कृता वध्रिर्विषगिरिः कृतः॥ ७॥

१. **ये**=जो लोग **अपीषन्**=विषोपादान औषध को पीसकर देते हैं, **ये**=जो लोग **अदिहन्**=इस विष का लेप करते हैं, **ये आस्यन्**=जो विष को दूर से शरीर पर फेंकते हैं—ऐसिड आदि डाल देते हैं, **ये अवासृजन्**=जो समीपस्थ होते हुए अन्न-पान आदि में विष मिला देते हैं, **ते सर्वे**=वे सब **बध्रयःकृताः**=उचित दण्ड-व्यवस्था के द्वारा निर्वीर्य किये जाते हैं। राजा इन्हें दण्डित करता हुआ इन पापों से रोकता है २. **विषगिरिः**=कन्दमूल आदि के विष का उत्पत्तिहेतुभूत पर्वत भी **वध्रिः कृतः**=निर्वीर्य किया गया है। ऐसे पर्वतों पर भी राजा सामान्य लोगों के आने-जाने पर प्रतिबन्ध लगाता है, तब उस पर्वत के कन्दमूल आदि का दुरुपयोग नहीं हो पाता।

भावार्थ—राजा विविध प्रकार से विष देनेवालों को दण्डित करे। विषोत्पत्ति स्थानों पर सामान्य लोगों के आने-जाने को निषिद्ध कर दे।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विष-खनन पर प्रतिबन्ध

वध्रयस्ते खनितारो वध्रिस्त्वमस्योषधे।
वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम्॥ ८॥

१. राष्ट्र में उचित नियमों के द्वारा हे **ओषधे**! विषोपादानभूत ओषधे! **ते खनितारः**=तेरे खोदनेवाले **वध्रयः**=निर्वीय हो जाएँ—इन कर्मों को करने में इनकी कमर टूट जाए। हे ओषधे! **त्वम्**=तू भी **वध्रिः असि**=निर्वीर्य हो गई है। २. वास्तव में **सः पर्वतः**=पर्वोंवाला—शिलाओं की तहोंवाला **गिरिः**=पर्वत भी **वध्रिः**=निर्वीर्य हो गया है, **यतः**=जिस पर्वत से **इदं विषम्**=यह विष **जातम्**=उत्पन्न होता है।

भावार्थ—विषौषधों को खोदनेवालों पर प्रतिबन्ध हो। विषोत्पदक पर्वतों पर भी लोगों के आने-जाने पर प्रतिबन्ध हो।

विशेष—अगले सूक्त का विषय भी यही है। 'गरुत्मान्' ही ऋषि है।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वरणावत्याम् अधि

वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि। तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम्॥ १॥

१. **इदम्**=यह **वाः**=जल **वारयातै**=विष का निवारण करता है, जो **वरणावत्याम् अधि**=उस नदी में है, जो वरणवृक्षोंवाली है। जिस नदी के किनारे वरण-वृक्ष हों, उस नदी का जल

विषनिवारक गुणों से युक्त होता है। २. **तत्र**=वहाँ—उस वरण-वृक्षवाली नदी में **अमृतस्य आसक्तिम्**=अमृत का आसेचन होता है। वरण वृक्ष के पत्तों व फूलों आदि में जो रस है, वह नदी के जल को विष-निवारक औषध-सा बना देता है। **तेन**=उससे **ते विषम्**=तेरे विष को **वारये**=दूर करता हूँ।

भावार्थ—घर व ग्रामों में जलों के किनारे वरण-वृक्षों का रोपण करना चाहिए, इससे उन जलों में विष-निवारणशक्ति उत्पन्न हो जाएगी। ये जल हमें नीरोग बनाएँगे।

ऋषिः—**गरुत्मान्** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

करम्भ

अरसं प्राच्यं विषमरसं यदुदीच्यम्। अथेदमधराच्यं करम्भेण वि कल्पते ॥ २ ॥

१. **प्राच्यं विषम्**=शरीर के पूर्वभाग में होनेवाला विष **अरसम्**=निर्वीर्य होता है। **यत् उदीच्यम्**=जो उत्तरभाग में होनेवाला विष है, वह भी **अरसम्**=प्रभावशून्य होता है। २. **अथ**=और अब **इदम्**=यह **अधराच्यम्**=निचले भाग में होनेवाला विष **करम्भेण**=दधिमिश्रित सत्तुओं से (जौ के बने सत्तुओं से) **विकल्पते**=विगत सामर्थ्य होता है।

भावार्थ—दधिमिश्रित सत्तुओं के प्रयोग से सब विष-प्रभाव शून्य हो जाते हैं।

ऋषिः—**गरुत्मान्** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'तिर्य, पीबस्पाक उदारथि' करम्भ

करम्भं कृत्वा तिर्यं पीबस्पाकमुदारथिम्।
क्षुधा किल त्वा दुष्टनो जक्षिवान्त्स न रूरुपः ॥ ३ ॥

१. **तिर्यम्**=विष के प्रभाव को तिरोहित करनेवाले, **पीबस्पाकम्**=चरबी का ठीक से पाचन कर देनेवाले **उदारथिम्**=विषप्रभाव को दूर करके इन्द्रियों की शक्तियों को प्रकाशयुक्त करनेवाले **करम्भं कृत्वा**=दधिमिश्रित सत्तुओं को बनाकर **क्षुधा**=भूख के अनुसार **किल जक्षिवान्**=निश्चय से इस पुरुष ने खाया है। २. हे **दुष्टनो**=शरीर को दूषित करनेवाले विष! **त्वा**=तुझे लक्ष्य करके ही इस करम्भ का प्रयोग किया गया है। **सः**=वह तू इस करम्भ-प्रयोग को **न रूरुमः**=मूढ़ (मूर्च्छित) नहीं बनता।

भावार्थ— दधिमिश्रित सत्तु विषप्रभाव को दूर करते हैं, शरीर में चरबी का ठीक से पाचन करते हैं, इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन करके उन्हें प्रकाशमय करते हैं। इनका प्रयोग होने पर ये शरीर को विषमूढ़ नहीं होने देते। ये शरीर से विषैले प्रभाव को हटाते हैं।

ऋषिः—**गरुत्मान्** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**।

वचा

वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि।
प्र त्वा चरुमिव येषन्तं वचसा स्थापयामसि ॥ ४ ॥

१. हे **मदावति**=विषप्रभाव से मूर्च्छा लानेवाली—विषोपादानभूत औषध! **ते**=तेरे **मदम्**=मूर्च्छाकर प्रभाव को **शरम् इव**=धनुष से विमुक्त बाण की भाँति **विपातयामसि**=शरीर से विलोपित करते हैं। २. **येषन्तम्**=बुद्बुदाते हुए **चरुम् इव**=चरु के समान (An oblation of rice and barly) तुझे **वचसा**=वच ओषधि के प्रयोग द्वारा **प्रस्थापयामसि**=दूर भेजते हैं। (वचः=A kind of aromatic root) विष शरीर में एक विचित्र सी गरमी पैदा करता है। यहाँ इस गरमी को बुद्बुदाते हुए चरु की गरमी से उपमित किया गया है। वच ओषधि इस प्रभाव को दूर करती है।

भावार्थ—वच नामक ओषधि विष-प्रभाव को दूर कर शरीर को नीरोग और स्वस्थ बनाती है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

स्थाम्नि तिष्ठ

परि ग्राममिवाचितं वचसा स्थापयामसि। तिष्ठा वृक्षइव स्थाम्न्यभ्रिखाते न रूरुपः॥ ५॥

१. **ग्रामम् इव**=ग्राम के समान—जनसमूह के समान **आचितम्**=उपचित हुए-हुए इस विष को **वचसा**=वच ओषधि के प्रयोग से **परिस्थापयामसि**=अन्यत्र स्थापित करते हैं, अर्थात् दूर करते हैं। २. हे **अभ्रिखाते**=कुदाल से खोदी गई ओषधे! तू **वृक्षः इव**=वृक्ष की भाँति **स्थाम्नि**=स्थिरता में **तिष्ठ**=स्थित हो, अपने स्थान पर वृक्ष की भाँति निश्चल होकर ठहर। तू शरीर में व्याप्त मत हो। **न रूरुपः**=तू शरीर को मूढ़ मत बना। वच के प्रयोग से गतमन्त्र की 'मदावती' का प्रभाव सीमित (localised) हो जाता है।

भावार्थ—विष के बढ़ते प्रभाव को हम वच के प्रयोग से सीमित कर देते हैं।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पर्वतों पर मिलनेवाली 'विषौषध'

पवस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन्दूर्शेभिरजिनैरुत। प्रक्रीरसि त्वमोषधेऽभ्रिखाते न रूरुपः॥ ६॥

१. हे ओषधे! **पवस्तैः**=पवन के लिए—शोधन के लिए एकत्र फेंके गये—इकट्ठे किये गये (पवमानाय अस्तैः) सम्मार्जनीतृणों से **त्वा**=तुझे **पर्यक्रीणन्**=इन लोगों ने खरीदा है, **उत**=और **दूर्शेभिः**=दुष्ट ऋश्य-सम्बन्धी **अजिनैः**=चर्मों से तुझे खरीदा है। सम्मार्जनी-तृण व अजिन देकर तेरा क्रय किया गया है। २. इसप्रकार हे **ओषधे**=विषमूलिके! **त्वम्**=तू **प्रक्रीः असि**=प्रकर्षेण खरीदी गई है। हे **अभ्रिखाते**=कुदाल से खोदी गई ओषधे! तू **न रूरुपः**=इस पुरुष को मूढ़ नहीं बनाती।

भावार्थ—सम्मार्जनी-तृणों व ऋश्य-सम्बन्धी चर्मों से विनिमय के द्वारा इस विषनाशक ओषधि को खरीदा गया है। यह मनुष्य को विषप्रभाव-जनित मूर्च्छा से मुक्त करती है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विष-चिकित्सा

अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे।
वीरान्नो अत्र मा दभन्तद्व एतत्पुरो दधे॥ ७॥

१. **ये अनाप्ताः**=जो अननुकूल—अविश्वसनीय, धोखेबाज लोग **वः**=तुम्हारे साथ सम्बद्ध **यानि**=जिन **प्रथमा**=मुख्य **कर्माणि**=कर्मों को **चक्रिरे**=करते हैं, उन अनाप्त पुरुषों के वे कर्म **अत्र**=यहाँ **नः वीरान्**=हमारे वीरों को **मा दभन्**=मत हिंसित करें। २. धोखेबाज लोग यदि धोखे से किन्हीं विष-प्रयोगों को करते हैं **तत्**=तो मैं **एतत्**=इस भैषज्य कर्म—विष-चिकित्सा कर्म को **वः**=तुम्हारे **पुरः**=सामने **दधे**=स्थापित करता हूँ। वरणवृक्ष के रसयुक्त जलों, दधिमिश्रित सत्तुओं व वच के प्रयोग से तुम विष-प्रभाव को दूर करो।

भावार्थ—धोखे से किसी ने विष दे दिया तो शीघ्र ही उचित भैषज्यरूप कर्म से उस विष-प्रभाव को दूर किया जाए।

विशेष—इन अनाप्त पुरुषों को प्रजा के अहितकारी कर्मों से दूर करनेवाले राजा का उल्लेख अगले सूक्त में है। वह स्थिरवृत्ति का होने से 'अ-थर्वा' कहलाता है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाला यह 'आङ्गिरसः' है अथवा सतत क्रियाशील होने से यह अङ्गिराः है, यही

अगले सूक्त का ऋषि है।

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वाङ्गिराः ॥ देवता—राज्याभिषेकः, आपः (मन्त्रोक्ता राजादयः)॥
छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥

आचार्य द्वारा राज्याभिषेक

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम्॥ १ ॥

१. **भूतः**=ऐश्वर्य को प्राप्त यह राजा (भूतिः अस्य अस्तीति) **भूतेषु**=सब प्राणियों में **पयः**=आप्यायन (वर्धन) को **आदधाति**=धारण करता है। उनके लिए आप्यायन के साधनभूत दूध आदि पदार्थों को प्राप्त कराता है। इसप्रकार **सः**=वह **भूतानाम्**=सब प्राणियों का—प्रजावर्ग का **अधिपतिः**=स्वामी व रक्षक **बभूव**=होता है। २. **तस्य**=उसके **राजसूयम्**=राज्याभिषेक कर्म को **मृत्युः चरति**=आचार्य सम्पादित करता है (आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः)। इसके पिछले जीवन को समाप्त करके इसे नया ही जीवन देता है। **सः राजा**=वह राजा **इदं राज्यम्**=इस राज्य को **अनुमन्यताम्**=स्वीकार करे। यह राज्यकार्य को करनेकी स्वीकृति दे—इस बोझ को उठाने के लिए अनुकूल मतिवाला हो।

भावार्थ—आचार्य एक योग्य व्यक्ति को राज्यभार वहन करने के लिए तैयार करे। उसका राज्याभिषेक करके उसे राज्यकार्य को सम्यक् सम्पादित करने की प्रेरणा दे। यह राजा सब प्रजावर्ग का रक्षण करता हुआ उनके जीवन-धारण के लिए आवश्यक दूध आदि पदार्थों को उन्हें प्राप्त कराए।

ऋषिः—अथर्वाङ्गिराः ॥ देवता—राज्याभिषेकः, आपः (मन्त्रोक्ता राजादयः)॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

सपत्नहा, मित्रवर्धनः

अभि प्रेहि माप वेन उग्रश्चेत्ता सपत्नहा।
आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधि ब्रुवन्॥ २ ॥

१. आचार्य राजा को राज्यसिंहासन पर बिठाता हुआ कहता है—हे राजन्! **अभिप्रेहि**=इस सिंहासन की ओर बढ़ (चल)। **मा अपवेनः**=अनिच्छा व्यक्त मत कर (वेनतिः कान्तिकर्मा)। **उग्रः**=उद्‌गूर्ण बलवाला तू शत्रुओं के लिए दुरासद (अजय्य) हो। **चेत्ता**=कार्य-अकार्य के विभाग के ज्ञानवाला तू **सपत्नहा**=शत्रुओं को नष्ट करनेवला हो। २. हे **मित्रवर्धनः**=मित्रभूत राष्ट्रों का वर्धन करनेवाले राजन्! तू **आतिष्ठ**=सिंहासन पर स्थित हो और **देवाः**=देववृत्ति के ज्ञानी पुरुष **तुभ्यम्**=तेरे लिए **अधिब्रुवन्**=आधिक्येन उपदेश देनेवाले हों। उनके योग्य परामर्शों से तू सदा राज्यकार्यों को ठीक से करनेवाला हो।

भावार्थ—राजा तेजस्वी, कार्याकार्य विभाग को समझनेवाला व शत्रुओं का संहार करनेवाला हो। मित्रों का वर्धन करनेवाला यह राजा उत्कृष्ट ज्ञानी पुरुषों से उचित परामर्शों को प्राप्त करता रहे।

ऋषिः—अथर्वाङ्गिराः ॥ देवता—राज्याभिषेकः, आपः (मन्त्रोक्ता राजादयः)॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

श्रियं वसानः

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषं छ्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः।
महत्तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ॥ ३ ॥

१. **आतिष्ठन्तम्**=सिंहासन पर आरूढ़ होते हुए इस राजा को **विश्वे**=सब **परि-अभूषन्**=चारों ओर से सेवित करनेवाले हों (परितः भवन्तु, वर्त्तन्ताम्, सेवन्ताम्)। **श्रियं वसानः**=राज्यलक्ष्मी को धारण करता हुआ यह राजा **स्वरोचिः**=स्वायत्त दीप्तिवाला—तेजस्विता से चमकता हुआ **चरति**=राज्य का परिपालन करता है। २. इस **वृष्णः**=प्रजा पर सुखों का सेचन करनेवाले **असुरस्य**=शत्रुओं का प्रक्षेपण करनेवाले इस राजा का **नाम**=यश **महत्**=महान् है। इसके नाम-श्रवण से ही शत्रु भयभीत होकर भाग उठते हैं। यह **विश्वरूपः**=शत्रु, मित्र, कलत्र आदि में नानाविध रूपवाला होता हुआ—सबके साथ तदनुरूप व्यवहार करता हुआ **अमृतानि**=अमृतत्व के प्रापक—राष्ट्र के अविनाश के साधनभूत—दण्ड युद्ध आदि कर्मों को **आतस्थौ**=(आतिष्ठतु, आचरतु) स्थिरता से करता है।

भावार्थ—सिंहासनारूढ़ राजा का सब प्रजावर्ग सेवन करता है। यह राजा दीप्तिवाला होता हुआ विचरता है। इसके नाम से ही शत्रु भयभीत हो जाते है। यह उपर्युक्त कामों को करता हुआ प्रजा को अमर बनाने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**राज्याभिषेकः, आपः (मन्त्रोक्ता राजादयः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रजाओं का प्रिय राजा

व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ ४ ॥

१. **वैयाघ्रे**=व्याघ्र-चर्म पर, व्याघ्र-चर्म से बने हुए सिंहासन पर **अधि**=अधिष्ठित हुआ-हुआ तू **व्याघ्रः (इव)**=व्याघ्र की भाँति दुष्प्रधर्ष होता हुआ **महीः दिशः**=प्राची आदि महान् दिशाओं में **विक्रमस्व**=विक्रम कर। विजय प्राप्त करनेवाला होकर अपने को इन दिशाओं में फैला। २. तेरी शासन की प्रणाली ऐसी उत्तम हो कि **सर्वाः विशः**=सब प्रजाएँ **त्वा**=तुझे **वाञ्छन्तु**=चाहें तथा **दिव्याः**=अन्तरिक्ष से होनेवाले **पयस्वतीः**=सारवाले, वर्धन के साधनभूत **आपः**=जल भी तुझे चाहें, अर्थात् तेरे राष्ट्र में अनावृष्टि न हो।

भावार्थ—राजा सिंहासन पर बैठकर चारों ओर विजय प्राप्त करे। यह प्रजाओं का प्रिय हो। इसके राष्ट्र में अनावृष्टि न हो।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**राज्याभिषेकः, आपः (मन्त्रोक्ता राजादयः)** ॥
छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

'दिव्यान्तरिक्ष व पार्थिव' जल

या आपो दिव्याः पयसा मदन्त्यन्तरिक्ष उत वा पृथिव्याम्।
तासां त्वा सर्वासामपामभि षिञ्चामि वर्चसा ॥ ५ ॥

१. **दिव्याः**=द्युलोक में होनेवाले **याः आपः**=जो जल **पयसा**=अपने सारभूत रस से **मदन्ति**=प्राणियों को आनन्दित करते हैं और जो जल **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्षलोक में हैं, **उत वा**=अथवा **पृथिव्याम्**=पृथिवी में हैं **तासाम्**=उन **सर्वासाम्**=लोक-त्रय में अवस्थित सब **अपाम्**=जलों के **वर्चसा**=बलकर सार से **त्वा अभिषिञ्चामि**=तुझे अभिषिक्त करता हूँ। २. राज्याभिषेक के समय सब जलों को इकट्ठा करके उनसे राजा का अभिषेक करते हैं। इसप्रकार 'राजा का शासन कहाँ तक' है—यह सबको ज्ञात हो जाता है। राजा को भी राष्ट्र में सब जलों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना है। राजा के 'ब्रह्मज्य' बनने पर ही अनावृष्टि आदि होती है। राजा राष्ट्र में शिक्षा आदि की व्यवस्था करता है तो इसप्रकार की आधिदैविक आपत्तियाँ नहीं

आर्ती।

भावार्थ—राज्याभिषेक के समय राजा को दिव्य, अन्तरिक्ष व पार्थिव—सब जलों से अभिषिक्त करते हुए प्रेरित करते हैं कि उसे इन सब जलों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना है।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**राज्याभिषेकः, आपः (मन्त्रोक्ता राजादयः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'प्रभु-प्रेरणा प्राप्त करनेवाला' राजा

अ॒भि त्वा॑ वर्च॑सासिच॒न्नापो॑ दि॒व्याः पय॑स्वतीः।
यथासो॑ मि॒त्रव॑र्धन॒स्तथा॑ त्वा सवि॒ता क॑रत्॥ ६॥

१. हे राजन्! **दिव्याः**=आकाश से होनेवाले **पयस्वतीः**=रसमय, व आप्यायन के हेतुभूत **आपः**=जलों ने **त्वा**=तुझे **वर्चसा**=रोग-निवारक शक्ति से **अभि असिचन्**=सर्वतः सिक्त किया है। २. अभिषिक्त होने पर **सविता**=वह प्रेरक प्रभु **त्वा**=तुझे **तथा करत्**=इसप्रकार बनाये—ऐसी क्षमता प्राप्त कराए कि **यथा**=जिससे तू **मित्रवर्धनः असः**=मित्रों का वर्धन करनेवाला हो।

भावार्थ—दिव्य जलों के तेज से अभिषिक्त होकर राजा शक्तिशाली बनता है। प्रभु की प्रेरणा के अनुसार कार्य करता हुआ यह मित्रों का वर्धन करनेवाला होता है।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**राज्याभिषेकः, आपः (मन्त्रोक्ता राजादयः)** ॥
छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'व्याघ्र, सिंह, द्वीपी'

ए॒ना व्या॒घ्रं प॑रिषस्वजा॒नाः सिं॒हं हि॑न्वन्ति मह॒ते सौभ॑गाय।
स॒मु॒द्रं न सु॒भुव॑स्तस्थि॒वांसं॑ मर्मृ॒ज्यन्ते॑ द्वी॒पिन॑म॒प्स्व१॒॑न्तः ॥ ७॥

१. **एनाः**=गतमन्त्र में वर्णित '**दिव्याः पयस्वती आपः**'=दिव्य पयस्वान् जल **व्याघ्रम्**=व्याघ्रवत् पराक्रमयुक्त **सिंहम्**=सहनशील व सिंह-तुल्य पराक्रमवाले राजा को **परिषस्वजानाः**=परितः आलिङ्गन करते हुए **हिन्वन्ति**=वीर्यप्रदान से प्रीणित करते हैं। ये जल **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिए होते हैं, **समुद्रं न**=जिस प्रकार नदीरूप जल समुद्र को प्रीणित करते हैं, इसीप्रकार अभिषेक के साधनभूत जल राजा को प्रीणित करते हैं। २. **अप्सु अन्तः तस्थिवांसम्**=प्रजाओं में स्थित होनेवाले इस **द्वीपिनम्**=शार्दूल की भाँति अप्रधृष्ट राजा को **सुभुवः**=उत्तम स्थिति में होनेवाले सब प्रजाजन **मर्मृज्यन्ते**=अभिषेक द्वारा शुद्ध करनेवाले होते हैं। अभिषेक करते हुए वे राजा को यही प्रेरणा देते हैं कि जैसे जल बाह्य मलों का विध्वंस कर रहे हैं, इसीप्रकार तेरे अन्तःमलों का भी विध्वंस हो जाए।

भावार्थ—राजा को अभिषेक द्वारा यही प्रेरणा लेनी है कि वह अन्दर से भी उसी प्रकार पवित्र बने, जैसे ये जल उसे बाहर से पवित्र कर रहे हैं। राजा व्याघ्र, सिंह व द्वीपी के समान शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला हो।

विशेष—राजा से रक्षित राष्ट्र में प्रजा अभ्युदय व निःश्रेयस को सिद्ध करने के लिए यत्नशील होती है, प्रभु का पूजन करती हुई तपोमय जीवन बिताती है। अगले सूक्त का ऋषि यह तपस्वी 'भृगु' ही है (भ्रस्ज पाके)। यह परमेश्वर को सम्पूर्ण संसार को गति देनेवाले के रूप में देखता है। यह 'आञ्जन' गति देनेवाला प्रभु ही इस सूक्त का देवता है।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

जीवनाय परिधिः

एहि जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्ष्यम्। विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम्॥ १॥

१. हे प्रभो! आप **त्रायमाणं जीवम्**=वासनाओं व रोगों के आक्रमण से अपनी रक्षा करनेवाले जीव को **एहि**=प्राप्त होओ। आप **पर्वतस्य**=अपना पूरण करनेवाले—अपनी न्यूनताओं को दूर करनेवाले पुरुष की **अक्ष्यम् असि**=उत्तम चक्षु हैं। हृदयस्थरूपेण आप ही उसे मार्ग-दर्शन कराते हैं। २. आप **विश्वेभिः देवैः दत्तम्**=सब दिव्य गुणों के द्वारा दिये गये **जीवनाय**=जीवन के लिए **परिधिः**=प्राकार हैं—मृत्यु को हम तक न पहुँचने देने के लिए आप परिधि होते हैं, इसप्रकार **कम्**=हमारे सुख का साधन बनते हैं। मृत्यु से बचाने के लिए प्रभु हमारे प्राकार बनते हैं, परन्तु प्रभु हमें प्राप्त तो तभी होते हैं जब हम दिव्य गुणों को धारण करने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—प्रभु अपने रक्षण में प्रवृत्त पुरुष को प्राप्त होते हैं। अपना पूरण करनेवालों के ये मार्गदर्शक हैं। दिव्य गुणों को धारण करने से प्राप्त होते हैं। हमारे जीवन के लिए—मृत्यु को हम तक न आने देने के लिए ये प्राकार होते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

'परिपाण' प्रभु

परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि। अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे॥ २॥

१. हे प्रभो! आप **पुरुषाणाम्**=पुरुषों के **परिपाणम्**=रक्षा करनेवाले हैं। **गवाम्**=अर्थों की गमक ज्ञानेन्द्रियों के **परिपाणम् असि**=रक्षक हैं। २. तथा **अर्वताम्**=शत्रुओं के संहारक **अश्वानाम्**=सतत कर्मों में व्याप्त (अश् व्याप्तौ) कर्मेन्द्रियों के **परिपाणाय**=रक्षण के लिए **तस्थिषे**=हमारे हृदयों में स्थित होते हैं।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु हमारा सर्वतः रक्षण करते हैं। प्रभु हमारी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को सुरक्षित करते हैं। वस्तुतः इनके रक्षण द्वारा ही वे हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

यातुजम्भनम्

उतासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन।
उतामृतस्य त्वं वेत्थाथो असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम्॥ ३॥

१. हे **आञ्जन**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले प्रभो! आप **परिपाणम् असि**=सर्वतः रक्षा करनेवाले हैं, **उत**=और **यातुजम्भनम्**=यातनाओं (पीड़ाओं) के नष्ट करनेवाले हैं। २. **उत**=और **त्वम्**=आप ही **अमृतस्य**=अमृत का **वेत्थ**=ज्ञान रखते हैं। आपसे ही उपासक को अमृत (नीरोगता-प्राप्ति के साधनों) का ज्ञान होता है। इसप्रकार **अथो**=(अपि च) आप ही **जीवभोजनम्**=सब प्राणियों का पालन करनेवाले हैं। **अथो**=और आप ही **हरितभेषजम्**=पाण्डु आदि रोगों से जनित श्यामलत्व के निवर्तक हैं। प्रभु का स्मरण हमें नीरोग बनाकर दीप्ति प्राप्त कराता है।

भावार्थ—प्रभु रक्षिता हैं, पीड़ाओं के निवर्तक हैं, अमृत का ज्ञान देनेवाले हैं। वे हमारा पालन करते हैं और रोगों को दूर करते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**।

प्रभु की भावना व नीरोगता

यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः। ततो यक्ष्मं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव॥ ४॥

१. हे **आञ्जन**=सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले प्रभो! **यस्य**=जिसके **अंगम् अंगम्**=एक-एक अंग में तथा **परुः परुः**=प्रत्येक पर्व में आप **प्रसर्पसि**=गतिवाले होते हो, अर्थात् जिसकी रग-रग में आप समा जाते हो **ततः**=उस पुरुष के शरीर से **यक्ष्मम्**=रोग को **विबाध से**=विशेषरूप से पीड़ित करते हो—उससे रोग को दूर कर देते हो। २. आप उस पुरुष के रोगों को पीड़ित करके इसप्रकार दूर कर देते हो **इव**=जैसेकि **उग्रः**=तेजस्वी, उद्गूर्ण बलवाला **मध्यमशीः**=राजमण्डल के मध्य में होनेवाला राजा पर्यन्तवर्ती शत्रुओं का निग्रह करता है। हृदयस्थप्रभु भी हमारे शरीर के सभी रोगों को विनष्ट करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—जब हम प्रभु की भावना से ओत-प्रोत हो जाते हैं तब प्रभु हमारे सब रोगों को विनष्ट कर देते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**।

दुष्टता से दूर

नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम्।
नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन॥ ५॥

१. हे **आञ्जन**=ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले प्रभो! **यः**=जो भी उपासक **त्वा बिभर्ति**=आपको धारण करता है—हृदय में आपका ध्यान करता है, **एनम्**=इसे **शपथः न प्राप्नोति**=परकृत शपथ प्राप्त नहीं होती, अर्थात् यह दूसरों से दी गई गालियों से मानस-सन्तुलन नहीं खो बैठता, **न कृत्या**=न ही इसे परकृत हिंसक कर्म (छेदन-भेदन) प्राप्त होता है, **न अभिशोचनम्**=और न ही इसे शोक प्राप्त होता है। २. **एनम्**=इस पुरुष को **विष्कन्धम्**=गति का प्रतिबन्धक कोई विघ्न भी **न अश्नुते**=नहीं व्यापता। यह उपासक अपनी जीवन-यात्रा में निर्विघ्नरूप से आगे-और-आगे बढ़ता जाता है। आनेवाले विघ्नों को यह प्रभु-शक्ति से पार कर जाता है।

भावार्थ—प्रभु का हृदय में धारण हमें क्रोध, हिंसन, शोक व विघ्नों का शिकार नहीं होने देता।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**।

दुष्टता से दूर

असन्मन्त्राद्दुष्वप्न्याद्दुष्कृताच्छमलादुत।
दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात्तस्मान्नः पाह्याञ्जन॥ ६॥

१. हे **आञ्जन**=ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले प्रभो! आप **असत् मन्त्रात्**=असत्य मन्त्रणा से—कुविचारों से **नः पाहि**=हमें बचाइए। हम कभी कुविचारों में न पड़ जाएँ। **दुष्वप्न्यात्**=अशुभ स्वप्नों के कारणभूत असन्मन्त्रों से हम सदा दूर रहें, अशुभ विचारों के कारण हमें बुरे स्वप्न ही न आते रहें। **उत**=और **शम् अलात्**=शान्ति का निवारण करनेवाले—सतत अशान्ति के कारणभूत **दुष्कृतात्**=दुष्कर्मों से हमें बचाइए। ३. **दुर्हार्दः**=दौर्मनस्य से तथा **घोरात् चक्षुसा**=क्रोधभरी आँख से **तस्मात्**=अनुक्रम से उन सबसे आप हमें बचाइए। हम कभी दौर्मनस्य से युक्त न हों। हमारी आँख कभी क्रोध को न उगल रही हो।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें बुरे स्वप्नों के कारणभूत दुर्विचारों से बचाती है। यह उपासना ही हमें शान्ति के ध्वंसक दुष्कर्मों से दूर रखती है तथा इसी उपासना से हम दुष्ट हृदयता

व क्रोध-वर्षिणी आँखों से बचे रहते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**।

अश्व, गौ, आत्मा

इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम्। सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष ॥ ७ ॥

१. हे **आञ्जन**=सम्पूर्ण संसार को व्यक्त करने व गति देनेवाले प्रभो! **विद्वान्**=आपकी महिमा को समझता हुआ मैं **इदं सत्यम्**=इस सत्य को ही **वक्ष्यामि**=बोलूँगा, **अनृतं न**=मैं कभी झूठ नहीं बोलूँगा। २. सदा सत्य बोलता हुआ मैं आपके अनुग्रह से **अश्वम्**=कर्मों में व्याप्तिवाली कर्मेन्द्रियों को **सनेयम्**=प्राप्त करूँ। **अहम्**=मैं **गाम्**=अर्थों की गमक ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करूँ तथा **तव**=आपका ही होता हुआ मैं हे **पूरुष**=ब्रह्माण्डरूप पुरी में शयन करनेवाले प्रभो! **आत्मानम्**=अपने को—आत्मस्वरूप को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—प्रभु की महिमा को जानते हुए हम सदा सत्य ही बोलें और उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को प्राप्त करके आत्मस्वरूप को पहचानें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**।

पर्वतानाम् वर्षिष्ठः

त्रयो दासा आञ्जनस्य तक्मा बलास आदहिः।
वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिककुन्नाम ते पिता ॥ ८ ॥

१. **आञ्जनस्य**=ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले प्रभु के ये **त्रयः**=तीनों **दासाः**=(दस्यन्ते) दास हैं—क्षीण करने योग्य हैं, अर्थात् प्रभु-भक्त को ये तीन पीड़ित करनेवाले नहीं होते—(क) **तक्मा**=कष्टमय जीवन का कारण बननेवाला ज्वर (तकि कृच्छ्रजीवने), (ख) **बलासः**=(शरीरं बलम् अस्यति क्षिपतीति) शरीर के बल को नष्ट करनेवाला सन्निपात आदि रोग **आत्**=और (ग) **अहिः**=सर्पजन्य विष का विकार। प्रभु उपासना करने पर इन तीनों का भय नहीं रहता। २. **पर्वतानाम्**=अपना पूरण करनेवालों में **वर्षिष्ठः**=सर्वश्रेष्ठ **त्रिककुत्**=ज्ञान, बल व ऐश्वर्य तीनों ही दृष्टिकोणों से शिखर पर स्थित—सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् व सर्वैश्वर्यसम्पन्न—इस **नाम**=नामवाले वे प्रभु हे उपासक! **ते पिता**=तेरे रक्षक हैं। प्रभु से रक्षित इस उपासक को भय कहाँ?

भावार्थ—प्रभु का उपासक ज्वर, सन्निपात रोग व सर्पदंश का शिकार नहीं होता। सब न्यूनताओं से रहित ज्ञान, बल व ऐश्वर्य के शिखर पर स्थित वे प्रभु इस उपासक के रक्षक हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सब पीड़ाओं का अन्त

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि।
यातूंश्च सर्वाञ्जम्भयत्सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ९ ॥

१. **त्रैककुदम्**=ज्ञान, बल व ऐश्वर्यरूप तीन शिखरोंवाला—इन तीनों के दृष्टिकोण से शिखर पर स्थित **आञ्जनम्**=ब्रह्माण्ड को गति देनेवाला वह प्रभु **यत्**=जब **हिमवतः परि**=हिमवान् के उपरि भाग में **जातम्**=प्रादुर्भूत होते हैं **च**=तो **सर्वान् यातून्**=सब पीड़ाओं को **जम्भयत्**=नष्ट करता हुआ होता है **च**=और **सर्वाः**=सब **यातुधान्यः**=पीड़ाओं को आहित करनेवाली बीमारियों को वे प्रभु नष्ट करते हैं। २. शरीर में मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) ही मेरुपर्वत कहलाता है। इसके शिखर पर हिम के समान एक श्वेत पदार्थ है, अतः इसे हिमवान् कहा जाता है। प्राणसाधना करता हुआ पुरुष इस हिमवान् मेरुपर्वत के निचले आठ चक्रों में से ऊपर-और-ऊपर इन प्राणों

का संयम करता है। मूलाधारचक्र से आरम्भ करके सहस्रारचक्र तक पहुँचता है। इस समय **'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'** ऋतम्भरा (सत्य का भरण करनेवाली) प्रज्ञा का विकास होता है और यह साधक प्रभु के प्रकाश को देखता है। प्रभु का प्रकाश होने पर सब पीड़ाएँ समाप्त हो जाती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा मेरुदण्ड के शिखर पर सहस्रारचक्र में प्राणनिरोध होने पर ऋतम्भरा प्रज्ञा का विकास होता है। इस समय प्रभु-दर्शन होकर सब पीड़ाओं का अन्त हो जाता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

त्रैककुदं+यामुनम्

यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यसे।
उभे ते भद्रे नाम्नी ताभ्यां नः पाह्याञ्जन॥ १०॥

१. हे प्रभो! आप **यदि वा**=या तो **त्रैककुदम् असि**='ज्ञान, शक्ति व धन' तीनों के दृष्टिकोण से शिखर पर पहुँचे हुए हैं, अतः 'त्रैककुदम्' नामवाले हैं, **यदि**=अथवा **यामुनम्**=(यमुनायाः अपत्यम्) संयमवृत्ति से प्रादुर्भूत होनेवाले हैं। संयमी पुरुष के हृदय में आपका प्रादुर्भाव होता है, अतः 'यामुनम्' इस नाम से **उच्यसे**=कहे जाते हैं। २. **ते**=आपके ये **उभे**=दोनों **नाम्नी**=नाम (त्रैककुद और यामुन) **भद्रे**=कल्याणकर हैं। हे **आञ्जन**=हमारे जीवनों में सब गुणों का प्रकाश करनेवाले प्रभो! **ताभ्याम्**=उन दोनों नामों के द्वारा **नः पाहि**=आप हमारा रक्षण कीजिए। हम भी त्रैककुद बनने का प्रयत्न करें—ज्ञान, शक्ति व ऐश्वर्य के शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करें तथा यामुन बनें—यथाशक्तिसंयमी जीवनवाले हों।

भावार्थ—प्रभु को 'त्रैककुद व यामुन' नामों से स्मरण करते हुए हम जहाँ ज्ञान, शक्ति व ऐश्वर्य की प्राप्ति में आगे बढ़ें, वहाँ संयमी जीवनवाले हों।

विशेष—यह संयमी जीवनवाला पुरुष 'अथर्वा' (न डाँवाडोल) बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। यह प्रभु को 'शंख' नाम से स्मरण करता है—'शम् ख' इन्द्रियों को शान्ति देनेवाला। यह कहता है कि—

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अंहसः पातु

वाताज्जातो अन्तरिक्षाद्विद्युतो ज्योतिषस्परि।
स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशनः पात्वंहसः॥ १॥

१. वह 'शंख' इन्द्रियों को शान्ति देनेवाला प्रभु **वातात् जातः**=वायु से प्रादुर्भूत होते हैं—निरन्तर गतिवाली इस वायु में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। **अन्तरिक्षात्**=इस अन्तरिक्ष से वे प्रभु प्रकट होते हैं। लोक-लोकान्तरों से खचित यह अन्तरिक्ष प्रभु की महिमा को प्रकट करता है। **विद्युतः**=विद्युत् से प्रभु की महिमा का प्रकाश होता है और **ज्योतिषः परि**=इस देदीप्यमान सूर्यरूप ज्योति से प्रभु की महिमा का प्रकाश हो रहा है। २. **सः**=वे सर्वत्र प्रादुर्भाव महिमावाले प्रभु **नः**=हमारे लिए **हिरण्यजाः**=(हिरण्यं वै ज्योतिः) ज्योति को प्रादुर्भूत करनेवाले हैं, **शंखः**=ज्ञान के द्वारा इन्द्रियों के लिए शान्ति देनेवाले हैं, **कृशनः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं के तनूकर्त्ता 'क्षीण करनेवाले' हैं। ये प्रभु हमें **अंहसः पातु**=पाप से बचाएँ।

भावार्थ—वायु, अन्तरिक्ष, विद्युत् व सूर्य-ज्योतियों में प्रभु की महिमा का प्रकाश हो

रहा है। ये प्रभु हमारे लिए ज्ञान का प्रादुर्भाव करते हैं, इन्द्रियों को शान्त करते हैं, काम-क्रोध आदि शत्रुओं को क्षीण करते हैं और हमें पापों से बचाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रक्षो हनन व अत्रि-पराभव

यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे। शङ्खेन हत्वा रक्षांस्यत्त्रिणो वि षहामहे॥ २ ॥

१. **यः**=जो प्रभु **रोचनानाम् अग्रतः**=देदीप्यमान पदार्थों में सर्वाग्रणी हैं, वे प्रभु **समुद्रात् अधि जज्ञिषे**=(समुद्र) प्रसन्नता युक्त मन से प्रादुर्भूत होते हैं। मनःप्रसाद होने पर हृदय में प्रभु का प्रकाश होता है। प्रभु के प्रकाश से ही सब पिण्ड चमक रहे हैं—**'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'** २. हृदय में प्रादुर्भूत हुए-हुए इस **शंखेन**=इन्द्रियों को शान्ति देनेवाले प्रभु से **रक्षांसि**=सब राक्षसी भावों को **हत्वा**=विनष्ट करके **अत्त्रिणः**=हमें खा जानेवाले रोगकृमियों को भी **विषहामहे**=विशेषेण अभिभूत करते हैं। रक्षोहनन द्वारा मानस स्वास्थ्य सिद्ध होता है और अत्रि-विध्वंस द्वारा शरीर नीरोग बनता है।

भावार्थ—प्रसन्न हृदय में उस ज्योतिर्मय प्रकाश को देखते हुए हम राक्षसी वृत्तियों का विध्वंस करके स्वस्थ मन बनें और रोगकृमियों का पराभव करते हुए हमारे शरीर स्वस्थ हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रभु 'विश्वभेषज' हैं

शङ्खेनामीवाममतिं शङ्खेनोत सदान्वाः।
शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः॥ ३ ॥

१. **शङ्खेन**=इन्द्रियों की शान्ति देनेवाले प्रभु के द्वारा हम **अमीवाम्**=सब रोगों को अभिभूत करते हैं। अजितेन्द्रियता में ही खान-पान का संयम न रहने से रोग पनपते हैं। इस शङ्ख के द्वारा ही **अमतिम्**=सब अनर्थों के मूल अज्ञान को दूर करते हैं **उत**=और **शङ्खेन**=इन्द्रियों की शान्ति देनेवाले प्रभु की उपासना से ही **सदान्वाः**=(सदा नोनूयमानाः) सदा पीड़ित करनेवाली (रुलानेवाली) अलक्ष्मियों को दूर करते हैं। २. यह **शङ्खः**=इन्द्रियों को शान्ति देनेवाले प्रभु **नः**=हमारे लिए **विश्वभेषजः**=सब रोगों के औषध हैं, **कृशनः**=सब क्लेशों को क्षीण करनेवाले हैं। ये प्रभु हमें **अंहसः पातु**=पाप से रक्षित करें।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें रोगों से बचाती है, हमारे अज्ञान को दूर करती है, अलक्ष्मी का विनाश करती है। प्रभु की उपासना सब रोगों का औषध है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आयुष्प्रतरणो मणिः

दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्याभृतः।
स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्प्रतरणो मणिः॥ ४ ॥

१. **दिवि जातः**=ये प्रभु द्युलोक में प्रादुर्भूत होते हैं—द्युलोक में प्रभु की महिमा का प्रकाश होता है, **समुद्रजः**=वे प्रभु इन समुद्रों में प्रादुर्भूत होते हैं—इनमें प्रभु की महिमा का प्रकाश होता है, वे प्रभु **सिन्धुतः परि आभृतः**=नदियों से चारों ओर धारण किये जाते हैं। पूर्व से पश्चिम में, उत्तर से दक्षिण में—इसीप्रकार भिन्न-भिन्न दिशाओं में बहती हुई नदियाँ उस प्रभु की महिमा का गायन करती हैं। २. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे लिए **हिरण्यजाः**=हितरमणीय ज्ञान-ज्योति को प्रादुर्भूत करनेवाले हैं, **शङ्खः**=शान्ति के द्वारा इन्द्रियों की शान्ति देनेवाले हैं, शान्त इन्द्रियों

के द्वारा **आयुष्प्रतरणः**=आयुष्य का वर्धन करनेवाले हैं, **मणिः**=(मण=to sound) ये प्रभु ही हृदयस्थरूपेण कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान देनेवाले हैं, सदा हृदय-गुहा में धर्म की प्रेरणा देनेवाली वाणी का उच्चारण करनेवाले हैं।

भावार्थ—द्युलोक, समुद्र, नदियों में सर्वत्र प्रभु की महिमा का प्रकाश है। ये प्रभु ज्ञान देकर हमें शान्त इन्द्रियोंवाला बनाते हैं और इसप्रकार दीर्घजीवन देकर हृदयस्थरूपेण सदा धर्म की प्रेरणा देते रहते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वृत्रात् जातः दिवाकरः

समुद्राज्जातो मणिर्वृत्राज्जातो दिवाकरः। सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः ॥ ५ ॥

१. **समुद्रात्**=अन्तरिक्ष से (समुद्रम्=अन्तरिक्षम्—निरु०) **जातः**=प्रादुर्भूत हुआ-हुआ (अन्तरिक्ष में सर्वत्र प्रभु की महिमा का प्रकाश होता ही है) अथवा (स+मुद्) प्रसादमय हृदयान्तरिक्ष में प्रकट हुआ-हुआ **मणिः**=धर्म की प्रेरणा देनेवाले प्रभु इसप्रकार देदीप्यमान होते हैं, जैसेकि **वृत्रात्**=आवरक मेघ से **जातः**=प्रादुर्भूत हुआ-हुआ **दिवाकरः**=सूर्य। मेघ के आवरण के हटने पर जैसे सूर्य चमक उठता है, उसी प्रकार वासना के आवरण के हटने पर हृदय में प्रभु का प्रकाश चमक उठता है। २. **सः**=वह प्रभु **अस्मान्**=हमें **सर्वतः पातु**=सब ओर से रक्षित करें। **हेत्या**=हनन की प्रवृत्तियों से वे प्रभु हमें बचाएँ। हम हिंसक वृत्तिवाले न बन जाएँ। **देवासुरेभ्यः**=(देवान् अस्यन्ति) दिव्यभावों को दूर फेंकनेवाले आसुरीभावों से भी वे प्रभु हमें बचाएँ। प्रभु से दूर होने पर जीवन में घात-पात की प्रवृत्तियाँ प्रबल हो उठती हैं।

भावार्थ—प्रभु सूर्य के समान चमकते हैं। जब हृदय से वासना के मेघ का विलय हो जाता है तब प्रभु हमें पापों, हिंसाओं व आसुरी प्रवृत्तियों से बचाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

हिरण्यानाम् एकः

हिरण्यानामेकोऽसि सोमात्त्वमधि जज्ञिषे।
रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वं प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

१. हे प्रभो! आप **हिरण्यनाम्**=ज्योतिर्मय पदार्थों में **एकः असि**=अद्वितीय हैं। वस्तुतः सब ज्योतिर्मय पदार्थों को ज्योति आप ही प्राप्त कराते हैं। **सोमात्**=शरीर में सुरक्षित सोम से **त्वम्**=आप **अधिजज्ञिषे**=प्रादुर्भूत होते हैं—शरीर में सुरक्षित सोम ही आपके दर्शन का कारण बनता है। **रथे**=इस शरीर-रथ में **त्वम्**=आप **दर्शतः असि**=दर्शनीय हैं। प्रभु का दर्शन बाहर न होकर यहाँ अन्दर ही होता है। वह प्रभु **नः**=हमारे **आयूंषि**=आयुष्य को **प्रतारिषत्**=बढ़ाए—हमें दीर्घजीवी बनाए।

भावार्थ—उस सर्वतो दीप्तिमान प्रभु का प्रकाश वही देखता है जो शरीर में सोम का रक्षण करता है। वे प्रभु इस शरीर में ही दर्शनीय हैं। प्रेरणा को सुननेवालों में प्रदीप्त होते हैं, उसके अनुग्रह से हम दीर्घजीवी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदापरानुष्टुप्छक्वरी** ॥

आत्मन्वत्

देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्यप्स्वऽन्तः। तत्ते बध्नाम्यायुषे
वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय कार्शनस्त्वाभि रक्षतु ॥ ७ ॥

१. **कृशनम्**=सब क्लेशों को क्षीण करनेवाला वह प्रभु **देवानाम्**=सब देवों के **अस्थि**=(अस्यति) मलों को दूर करनेवाला **बभूव**=है। वस्तुतः उसी ने इन्हें निर्मल बनाकर देवत्व प्राप्त कराया है। **तत्**=वह कृशन **आत्मन्वत्**=सब आत्माओंवाला है—सब आत्माओं का निवास उस प्रभु में ही है। वह **अप्सु अन्तः**=सब प्रजाओं के अन्दर **चरति**=विचरण करता है। वह सर्वभूतात्मा है। २. **तत्**=उस प्रभु को **ते बध्नामि**=मैं तेरे हृदय में बाँधता हूँ—तुझे सदा प्रभु का स्मरण रहे। यही मार्ग है **आयुषे**=दीर्घायुष्य की प्राप्ति के लिए, **वर्चसे**=रोगनिवारक शक्ति की प्राप्ति के लिए, **बलाय**=मानस बल प्राप्ति के लिए तथा **शतशारदाय दीर्घायुत्वाय**=सौ वर्ष के दीर्घजीवन के लिए। **कार्शनः**=वासनाओं को अतिशयेन क्षीण करनेवाला वह प्रभु **त्वा अभिरक्षतु**=तेरा रक्षण करे। प्रभु से रक्षित होकर ही हम पवित्र व दीर्घजीवन प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे जीवनों को निर्मल बनाकर हमें देवत्व प्राप्त कराते हैं। प्रभु हम सबकी आत्मा हैं। वे हम सबके अन्दर विचरण करते हैं। प्रभु ही हमें पवित्र व सबल दीर्घजीवन देते हैं।

विशेष—प्रभु के अनुग्रह से तपस्वी जीवनवाला 'भृगु' अगले सूक्त का ऋषि है। सबल शरीरवाला, अङ्ग-अङ्ग में रसवाला यह 'अङ्गिराः' है। यह प्रभु को संसार-शकट को वहन करनेवाले अनड्वान् के रूप में देखता है।

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सर्वाधार, सर्वव्यापक

अनड्वान्दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान्दाधारोर्व१न्तरिक्षम्।
अनड्वान्दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान्विश्वं भुवनमा विवेश॥ १ ॥

१. **अनड्वान्**=संसार-शकट का वहन करनेवाले प्रभु **पृथिवीम्**=पृथिवीलोक को **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को **दाधार**=धारण कर रहे हैं। ये **अनड्वान्**=संसार-शकट के वाहक प्रभु ही **उरु अन्तरिक्षम्**=इस विशाल अन्तरिक्ष को **दाधार**=धारण करते हैं। २. **अनड्वान्**=ये प्रभु **प्रदिशः**=प्राची आदि प्रकृष्ट दिशाओं को **दाधार**=धारण करते हैं। **षट् उर्वीः**=प्रभु ही 'द्यौश्च पृथिवी च, अहश्च रात्रिश्च, आपश्चौषधयश्च' (आ० श्रौ० १.२.१) द्युलोक, पृथिवीलोक, दिन, रात, जल व ओषधियाँ—इन छह उर्वियों का धारण करते हैं। ये **अनड्वान्**=प्रभु ही **विश्वं भुवनम्**=सम्पूर्ण भुवन में **आविवेश**=व्यापक हो रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु सारे संसार का धारण कर रहे हैं और सारे भुवनों में व्यापक हो रहे हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

सर्वद्रष्टा, विधाता

अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयां छक्रो वि मिमीते अध्वनः।
भूतं भविष्यद्भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि॥ २ ॥

१. **अनड्वान्**=यह संसार-शकट का वहन करनेवाला प्रभु **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली है। **सः**=वह **पशुभ्यः विचष्टे**=सब प्राणियों का ध्यान करता है (looks after)। वह **शक्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **त्रयान् अध्वनः**=तीन मार्गों को **विमिमीते**=निर्मित करता है। 'देवयान, पितृयान व जायस्व-म्रियस्व' नामक तीन ही मार्ग हैं, जिनसे यह संसार चलता है। निष्काम कर्मवाले देवयान मार्ग से जाते हैं, सकाम कर्मवाले पितृयान से तथा शास्त्रविरुद्ध कर्म करनेवाले व्यक्ति 'जायस्व-

म्रियस्व मार्गवाले होते हैं। २. यह अनड्वान् प्रभु' **भूतम्**=भूतकाल में **भविष्यत्**=भविष्यकाल में तथा **भुवना**=वर्त्तमान में होनेवाले सब पदार्थों का **दुहानः**=प्रपूरण करता हुआ **देवानाम्**=देवों के **सर्वा व्रतानि**=सब व्रतों को **चरति**=पूरा करता है। सूर्यादि सब देवों के व्रतों का पालन वे प्रभु ही कर रहे हैं। उसी के शासन में ब्रह्माण्ड के सब पदार्थ गति कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु सभी प्राणियों का ध्यान करते हैं। प्रभु ने कर्मानुसार जीवों के तीन भाग किये हैं—(क) देवयान से जानेवाले, (ख) पितृयान से जानेवाले, (ग) 'जायस्व-म्रियस्व' की गतिवाले। सब लोकों का पूरण प्रभु ही करते हैं। सूर्यादि सब देव प्रभु के शासन में चल रहे हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु-ज्ञान, अनासक्ति व मोक्ष

इन्द्रो जातो मनुष्ये॑ष्व॒न्तर्घ॒र्मस्त॒प्तश्च॑रति शोशु॑चानः।
सुप्र॒जाः सन्त्स उ॒दारे॒ न स॑र्ष॒द्यो ना॑श्नी॒याद॑न॒डुहो॑ विजा॒नन्॥ ३ ॥

१. **इन्द्रः**=यह परमैश्वर्यशाली प्रभु **मनुष्येषु अन्तः जातः**=विचारशील मनुष्यों के हृदयों में प्रादुर्भूत होता है। **तप्तः घर्मः शोशुचानः**=(तप दीप्तौ) दीप्त सूर्य के समान चमकता हुआ यह प्रभु **चरति**=सब प्रजाओं में विचरण करता है। हृदय पर वासना के आवरण के कारण ही हम प्रभु को नहीं देख पाते। २. **यः**=जो **अनडुहः विजानन्**=संसार-शकट के सञ्चालक प्रभु को जानता हुआ **न अश्नीयात्**=प्रकृति के भोगों को भोगने में नहीं फँस जाता, **सः**=वह **सुप्रजाः सन्**=इस जीवन में उत्तम प्रजाओं—(सन्तानों व विकासों)-वाला होता हुआ **उदारे**=(उत् आरे) शरीर से आत्मा के बाहर होने पर **न सर्षत्**=फिर भटकता नहीं, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदय-गगन में देदीप्यमान सूर्य की भाँति चमक रहे हैं। प्रभु को जानता हुआ जो भी मनुष्य प्रकृति के भोगों में नहीं फँसता वह इस जन्म में उत्तम शक्तियों के विकास व सन्तानोंवाला होता हुआ शरीर छूटने पर सुदीर्घकाल तक दुबारा शरीर नहीं लेता—मुक्त हो जाता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

पुरस्तात् (आगे और आगे)

अ॒न॒ड्वान्दु॑हे सु॒कृ॒तस्य॑ लो॒क ऐनं॑ प्याययति॒ पव॑मानः पु॒रस्ता॑त्।
प॒र्जन्यो॒ धारा॑ म॒रुत॒ ऊधो॑ अस्य य॒ज्ञः पयो॒ दक्षि॑णा॒ दोहो॑ अस्य॥ ४॥

१. **अनड्वान्**=संसार-शकट का वहन करनेवाला वह प्रभु **एनम्**=इस उपासक को **सुकृतस्य लोके**=पुण्य के लोक में **दुहे**=प्रपूरित करता है। वह **पवमानः**=पवित्र करनेवाला प्रभु इसे **पुरस्तात् आप्याययति**=आगे और आगे बढ़ाता है। २. **पर्जन्यः**=परातृप्ति को पैदा करनेवाला मेघ ही **अस्य**=इस प्रभु की **धाराः**=धारण शक्तियाँ हैं। पर्जन्य से अन्न का सम्भव होकर सब प्रजाओं का धारण होता है। इस प्रभु के **मरुतः**=४९ भागों में विभक्त होकर कार्य करनेवाले प्राणप्रद वायु **ऊधः**=वहन सामर्थ्य के रूप में हैं। इन मरुतों के द्वारा प्रभु सम्पूर्ण संसार की प्रजाओं का वहन करते हैं। **अस्य यज्ञः**=इस प्रभु का पूजन व संगतिकरण **पयः**=दूध है—दूध के समान हमारा आप्यायन करनेवाला है और **दक्षिणा**=दान **दोहाः**=हमारा प्रपूरण करनेवाला है। प्रभु-प्रदत्त सब वस्तुएँ व शक्तियाँ हमारा पूरण करती हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें पुण्यलोक में प्राप्त कराते हैं, अर्थात् प्रकृति का उपासन अवनति का कारण है तो प्रभु का उपासन उन्नति का। हमें पवित्र करते हुए प्रभु आगे और आगे ले-चलते हैं। प्रभु पर्जन्य द्वारा प्रजाओं का धारण करते हैं, वायु द्वारा जीवनशक्ति का वहन करते हैं। प्रभु की पूजा हमारा आप्यायन करती है। प्रभु-प्रदत्त सब वस्तुएँ हमारा कल्याण करती हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ईशिता न कि ईशितव्य

यस्य नेशे यज्ञपतिर्न यज्ञो नास्य दातेशे न प्रतिग्रहीता।
यो विश्वजिद्विश्वभृद्विश्वकर्मा घर्मं नो ब्रूत यतमश्चतुष्पात्॥ ५॥

१. प्रभु वे हैं **यस्य**=जिनका **यज्ञपतिः**=यज्ञों का करनेवाला व्यक्ति **न ईशे**=ईश नहीं बन पाता। यज्ञपति तो क्या **यज्ञः न**=साक्षात् यज्ञ भी प्रभु का ईश नहीं होता। **न अस्य**=न तो इसका **दाता ईशे**=दान देनेवाला ईश होता है, **न प्रतिग्रहीता**=न प्रतिग्रह करनेवाला (लेनेवाला) इसका ईश बनता है, अर्थात् सब यज्ञों व दानादि कर्मों के प्रभु ही ईश हैं, कोई भी प्रभु का ईश नहीं है। २. **यः**=जो **विश्वजित्**=सब धनों का विजय करनेवाले हैं, **विश्वभृत्**=सबका भरण करनेवाले हैं, **विश्वकर्मा**=सम्पूर्ण जगत् जिनका कर्म (रचना) है, वह **चतुष्पात्**=चारों दिशाओं में (सर्वत्र) गतिवाले **यतमः**=यज्जातीय—जिस स्वरूपवाले प्रभु हैं, उस **घर्मम्**=आदित्य के समान देदीप्यमान प्रभु को **नः ब्रूत**=हमें बताओ। विद्वान् योगी लोग उस प्रभु का हमारे लिए उपदेश करें।

भावार्थ—बड़े-से-बड़ा, पवित्र, धर्मात्मा पुरुष भी जिससे ईशितव्य होता है, उस 'विश्वजित्, विश्वभृत्, विश्वकर्मा, व्यापक' प्रभु का ज्ञानी लोग हमारे लिए उपदेश करें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

घर्मस्य व्रतेन+तपसा

येन देवाः स्व॒रारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं घर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः॥ ६॥

१. **येन**=जिस **घर्मस्य व्रतेन**=देदीप्यमान सूर्य के व्रत से (स्वस्तिपन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव)—सूर्य के समान नियमित जीवन से तथा **तपसा**=तप के द्वारा **यशस्यवः**=यश की कामनावाले—यशस्वी जीवनवाले **देवाः**=देवपुरुष **स्वः आरुरुहः**=स्वर्ग का आरोहण करते हैं—प्रकाशमयलोक को प्राप्त करते हैं, २. हम भी **तेन**=उस व्रत व तप के द्वारा **शरीरं हित्वा**=इस शरीर को छोड़कर **अमृतस्य नाभिम्**=अमृत के केन्द्र उस प्रभु को **गेष्म**=जाएँ, **सुकृतस्य लोकम्**=पुण्य के लोक को प्राप्त करें।

भावार्थ—सूर्य के समान नियमित जीवन व तप के द्वारा यशस्वी जीवनवाले बनते हुए हम शरीर-त्याग के पश्चात् अमृत के केन्द्र प्रभु को प्राप्त करें—पुण्यलोक-भागी हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**षट्पदाऽनुष्टुब्गर्भोपरिष्टाज्जगती-निचृच्छक्वरी** ॥

जीवन्मुक्त

इन्द्रो रूपेणाग्निर्वहेन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट्।
विश्वानरे अक्रमत वैश्वानरे अक्रमतानडुह्यक्रमत। सोऽदृंहयत सोऽधारयत॥ ७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति **रूपेण इन्द्रः**=रूप से इन्द्र के समान होता है—ब्रह्म की उपासना करता हुआ ब्रह्म-सा (ब्रह्म इव) हो जाता है। अग्नि में पड़कर

जैसे लोह-शलाका अग्नि-सी हो जाती है, इसीप्रकार यह ब्रह्म में स्थित होकर ब्रह्म-सा बन जाता है। यह **वहेन**=सब लोगों का वहन करने के द्वारा **अग्निः**=(अग्रणी) आगे ले-चलनेवाला होता है। ज्ञान व प्रेरणा देता हुआ सबकी उन्नति का साधक होता है, **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक होता है। यही मानव जीवन की चरम उन्नति है, अतः यह **परमेष्ठी**=परम स्थान में स्थित है और **विराट्**=विशेष रूप से चमकता है। २. यह **विश्वानरे अक्रमत**=सब मनुष्यों में विचरता है—छोटे-से-छोटे से लेकर बड़े-से-बड़े तक सब पुरुषों के सम्पर्क में आता है। जो जिस स्थिति में है उसके प्रति वह उसी के अनुसार गतिवाला होकर उसे उन्हीं शब्दों में उपदेश करता है, जिन्हें कि वह समझ सके। इसी से उस व्यक्ति को 'तथा-गत' कहने लगते हैं। ३. सब मनुष्यों में विचरण करता हुआ यह **वैश्वानरे अक्रमत**=विश्व-नर-हितकारी कर्मों में प्रवृत्त होता है। इस वृत्ति को बनाये रखने के लिए **अनडुहि अक्रमत**=यह संसार-शकट के वाहक प्रभु में विचरता है। प्रभु में स्थित होने से यह काम-क्रोध के आक्रमण से बचा रहता है। **सः**=वे प्रभु ही इसे **अदृंहयत**=दृढ़ बनाते हैं, फिसलने नहीं देते। **सः अधारयत**=वस्तुतः प्रभु ही इसका धारण करते हैं और इसके द्वारा औरों का धारण करते हैं, इसे सदा लोकसंग्रहात्मक कर्मों में प्रवृत्त रखते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासक प्रभु-जैसा ही हो जाता है। सब लोगों का धारण करता हुआ यह उन्हें आगे ले-चलता है। यह सबका नेतृत्व करता है, सबके भले के कार्यों को करता है, परमात्मा में विचरता है। प्रभु इसे दृढ़ बनाते हैं व इसके द्वारा सभी का धारण कराते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु के एक देश में

मध्यमेतदनडुहो यत्रैष वह आहितः। एतावदस्य प्राचीनं यावान्प्रत्यङ् समाहितः ॥ ८ ॥

१. इस संसार-शकट का वहन करनेवाले वे प्रभु 'अनड्वान्' हैं। उस अनड्वान् पर ही इस सारे ब्रह्माण्ड का बोझ रखा है, परन्तु यह सब उसके एक देश में ही है। पुरुषसूक्त में कहा है—'**पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**'। यहाँ कहते हैं कि **एतत्**=यह **अनडुहः**=इस अनड्वान् प्रभु का **मध्यम्**=मध्य भाग है, **यत्र**=जहाँ कि **एषः**=यह **वहः**=सारे संसार का बोझ **आहितः**=स्थापित है। प्रभु ने अपने एक देश में सारे ब्रह्माण्ड को धारण किया हुआ है। २. **एतावत्**=इतना ही **अस्य**=इस अनड्वान् का **प्राचीनम्**=प्राग्भाग है **यावान्**=जितना कि **प्रत्यङ्**=प्रत्यग्भाग **समाहितः**=सम्यक् निवर्तित हुआ है—बना है। इधर उस अनड्वान् का पूर्वभाग है, उधर प्राग्भाग है, मध्य में यह सारा ब्रह्माण्ड रक्खा हुआ है।

भावार्थ—प्रभु अनन्त व्याप्तिवाले हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड प्रभु के एक देश में है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सप्त दोह

यो वेदानडुहो दोहान्त्सप्तानुपदस्वतः।
प्रजां च लोकं चाप्नोति तथा सप्तऋषयो विदुः ॥ ९ ॥

१. प्रभु ने गायत्री आदि सात छन्दों में यह वेदज्ञान दिया है, अतः ये सात ज्ञान के दोह कहलाते हैं। वेद धेनु है, उसके ये सात ज्ञान-दुग्धप्रपूरण हैं। **यः**=जो **अनडुहः**=संसार-शकट के सञ्चालक प्रभु के **सप्त**=सात **अनुपदस्वतः**=कभी क्षीण न होनेवाले **दोहान्**=ज्ञानप्रपूर्तियों को **वेद**=जानता है, वह **प्रजां च**=उत्तम सन्तान को व **लोकं च**=उत्तम लोक को **आप्नोति**=प्राप्त

करता है। वेद के साथ ज्ञान-प्रवाहों के अनुसार जीवन-यात्रा में चलता हुआ व्यक्ति उत्तम गति
को प्राप्त करता है। २. सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले **सप्तऋषयः**=विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज,
गौतम, अत्रि, वसिष्ठ व कश्यप **तथा**=ठीक उस रूप में इन सात ज्ञानदोहों को **विदुः**=जानते हैं।
'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' से इन ज्ञानों को प्राप्त करके ये अगलों को वेद-ज्ञान दिया
करते हैं। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में ये सात दोह प्रादुर्भूत होते हैं। सृष्टि की समाप्ति पर ये
परमात्मज्ञान में रहते हैं। इनका प्रादुर्भाव व तिरोभाव होता रहता है, परन्तु ये कभी नष्ट नहीं
होते।

भावार्थ—प्रभु सात छन्दों में सात ज्ञान-प्रवाहों को प्राप्त कराते हैं। इन्हें प्राप्त करनेवाला
व्यक्ति उत्तम सन्तान व उत्तम लोक को प्राप्त करता है। सृष्टि के आरम्भ में इन्हें ऋषि अग्नि आदि
से प्राप्त करते हैं। वे इस ज्ञान को आगे और आगे प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनड्वान् कीनाशः च

पद्भिः सेदिमवक्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन्।
श्रमेणानड्वान्कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः ॥ १० ॥

१. एक किसान बैलों द्वारा हल चलाता हुआ भूमि जोतता है, उस समय **पद्भिः**=अपने
चारों पाँवों से **सेदिम्**=अवसान-(विनाश)-कारी अलक्ष्मी को **अवक्रामन्**=पाँवों तले रोंदता हुआ
इराम्=भूमि को **जङ्घाभिः**=जाँघों से कर्षण द्वारा **उत्खिदन्**=उद्भिन्न करता हुआ यह **अनड्वान्**=बैल
कीनाशः च=और किसान **श्रमेण**=श्रम के द्वारा **कीलालम्**=अन्न को **अभिगच्छतः**=प्राप्त होते
हैं। प्रभु श्रम करने पर ही अन्न प्राप्त कराते हैं। जैसे बैल के द्वारा श्रम होने पर ही किसान अन्न
पाता है, इसीप्रकार 'प्रभु बिना श्रम के हमें खिलाते रहेंगे' ऐसी बात नहीं है।

भावार्थ—श्रम करनेवाले के योगक्षेम को प्रभु अवश्य चलाते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

बारह रात्रियाँ

द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः।
तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद्वा अनडुहो व्रतम् ॥ ११ ॥

१. वैदिक साहित्य में 'रात्रि' अन्धकार का प्रतीक है, 'दिन' प्रकाश का। दिन का
करनेवाला सूर्य 'ज्ञानसूर्य' का प्रतीक है। बृहस्पति को 'द्वादशार्चि' अथवा 'द्वादशांशु' कहते हैं,
अर्थात् जिसकी 'दसों इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' ये बारह-के-बारह प्रकाशमय हो गये हैं। जब तक
मनुष्य के ये बारह-के-बारह प्रकाशमय न हो जाएँ जब तक व्रतमय जीवन बिताते हुए इन्हें
उज्ज्वल करने का प्रयत्न करना है। मन्त्र में कहते हैं कि **एताः**=इन **द्वादश**=बारह **रात्रीः**=रात्रियों
को **वा**=निश्चय से **प्रजापतेः व्रत्याः**=प्रजापति के व्रतवाला **आहुः**=कहते हैं। प्रजापति ही ब्रह्मा
हैं। 'इनके व्रतवाला' का भाव यह है कि ब्रह्मा की भाँति चारों वेदों का विद्वान् बनना—मन,
बुद्धि व इन्द्रियों को एकमात्र ज्ञान-प्राप्ति के व्रत में लगाना। २. **तत्र**=वहाँ-उन बारह रात्रियों में
यः=जो **ब्रह्म**=ज्ञान को **उपवेद**=आचार्य के समीप रहकर प्राप्त करता है **तत्**=वह **वा**=निश्चय
से **अनडुहः व्रतम्**=उस संसार-सञ्चालक प्रभु का (प्रभु-सम्बद्ध) व्रत हो जाता है।

भावार्थ—हमें 'प्रभु के व्रत' का पालन करते हुए 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि को प्रकाशमय
बनाना चाहिए।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रातः, सायं व मध्यन्दिन में दोहन

दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यन्दिनं परि।
दोहा ये अस्य संयन्ति तान्विद्मानुपदस्वतः ॥ १२ ॥

१. प्रभु ने जो वेदधेनु दी है मैं उसका **सायं दुहे**=सायं दोहन करता हूँ, **प्रातः दुहे**=प्रातः उसका दोहन करता हूँ, **मध्यन्दिनं परिदुहे**=मध्याह्न में उसका दोहन करता हूँ। प्रातः, सायं व मध्याह्न में—जब भी समय मिले इस वेदधेनु का दोहन आवश्यक है। २. **अस्य**=इस संसार-सञ्चालक प्रभु के **ये**=जो **दोहाः**=ज्ञानदुग्ध के प्रपूरण **संयन्ति**=हमें सम्यक् प्राप्त होते हैं, **तान्**=उन **अनुपदस्वतः**=न क्षय होने देनेवाले दोहों को हम **विद्म**=जानते हैं। ये ज्ञानदुग्ध के दोह हमें विनाश से बचाते हैं।

भावार्थ—हम प्रातः, सायं व मध्याह्न में समय मिलने पर सदा वेदधेनु का दोहन करें। इसके द्वारा प्राप्त ज्ञानदुग्ध हमें विनष्ट न होने देगा।

विशेष—अगले सूक्त में इस वेदज्ञान से खूब दीप्त होनेवाले 'ऋभु' (उरु भाति) का उल्लेख है। यह इस ज्ञान द्वारा ज्ञात रोहणी ओषधि के प्रयोग से छिन्न अस्थि आदि को ठीक करके शरीर-रथ को जीवन-यात्रा के लिए उपयुक्त बनाता है—

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ऋभुः** ॥ देवता—**रोहणी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदागायत्री** ॥

रोहणी

रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी। रोहयेदमरुन्धति ॥ १ ॥

१. **रोहणी असि**=हे ओषधे! तू रोहणी है—घाव को भर देनेवाली है। **छिन्नस्य अस्थ्नः**=टूटी हुई हड्डी को भी **रोहणी**=पूर्ण कर देनेवाली है। २. हे **अरुन्धति**=दूसरों से अभिभूत न होनेवाली अथवा आरोधनशील—घाव भरने की प्रगति को ठीक से चालू रखनेवाली रोहणि! तू **इदं रोहय**=इस भग्न व स्रुत-रक्त अङ्ग को प्ररूढ़ कर दे—फिर से ठीक-ठीक कर दे, इसे अव्रण बना दे।

भावार्थ—हम रोहणी ओषधि के प्रयोग से भग्न अस्थि को भी फिर से ठीक करके शरीर-अस्थि को ठीक करनेवाले हों।

ऋषिः—**ऋभुः** ॥ देवता—**रोहणी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रिष्टं, द्युत्तं, पेष्ट्रम्

यत्ते रिष्टं यत्ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि।
धाता तद्भद्रया पुनः सं दधत्परुषा परुः ॥ २ ॥

१. हे शस्त्र आदि से अभिहत पुरुष! **यत्**=जो **ते**=तेरा अङ्ग **रिष्टम्**=हिंसित है, **यत्**=जो **ते**=तेरा अङ्ग **द्युत्तम्**=(द्योतितम्) शस्त्र-प्रहार से प्रज्वलित-सा **अस्ति**=है और **पेष्ट्रम्**=मुद्गर आदि के प्रहार से **ते**=तेरे **आत्मनि**=शरीर में जो छित-सा गया है, **धाता**=जगत् का विधाता देव **तत्**=उन सब अङ्गों को **भद्रया**=इस कल्याणकारक ओषधि से **पुनः सन्दधत्**=फिर जोड़ दे। २. इस ओषधि के प्रयोग से **परुषा परुः**=जोड़-से-जोड़ को संयुक्त कर दे। अस्थिभ्रंश आदि को इस ओषधि के प्रयोग से ठीक किया जा सकता है।

भावार्थ—रोहणी ओषधि के प्रयोग से घावों, प्रज्वलित वेदनाओं तथा पिस जाने आदि विकारों को दूर करके जोड़ों को ठीक से संयुक्त किया जा सकता है।

ऋषिः—**ऋभुः** ॥ देवता—**रोहणी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विस्रस्त मांस का फिर से ठीक हो जाना

सं ते॑ म॒ज्जा म॒ज्ज्ञा भ॑वतु॒ समु॑ ते॒ परु॑षा॒ परुः॑।
सं ते॑ मां॒सस्य॒ विस्र॑स्तं॒ सम॒स्थ्यपि॑ रोहतु ॥ ३ ॥

१. हे प्रहृत (घायल) व्यक्ति! **ते मज्जा**=तेरे शरीर में स्थित यह मज्जा नामक धातु **मज्ज्ञा संभवतु**=मज्जा के साथ संयुक्त हो जाए **उ**=और **परुषा**=तेरे पर्व (जोड़) के साथ **परुः**=पर्व **सम्**=जुड़ जाए। २. **ते**=तेरे **मांसस्य**=मांस का जो **विस्रस्तम्**=भ्रंश है, वह भी पुनः **रोहतु**=उत्पन्न हो जाए। भ्रष्ट हुआ-हुआ मांस फिर से ठीक हो जाए। **अस्थि अपि**=हड्डी भी **सम्**=सम्यक् प्ररूढ़ व संहित हो जाए।

भावार्थ—रोहणी के प्रयोग से सब व्रण व घाव ठीक हो जाएँ जोकि अस्त्र आदि के आघात से मज्जा, परु, मांस, अस्थि में उत्पन्न हो गया है।

ऋषिः—**ऋभुः** ॥ देवता—**रोहणी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मज्जा व चर्म आदि का सन्धान

म॒ज्जा म॒ज्ज्ञा सं धी॑यतां॒ चर्म॑णा॒ चर्म॑ रोहतु।
असृ॑क्ते॒ अस्थि॑ रोहतु मां॒सं मां॒सेन॑ रोहतु ॥ ४ ॥

१. तेरी **मज्जा**=मज्जा नामक षष्ठ धातु (रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य) **मज्ज्ञा**=मज्जा (Marrow) नामक धातु से **सन्धीयताम्**=संहित हो जाए—मज्जा मज्जा के साथ जुड़ जाए। **चर्मणा**=चमड़े के साथ **चर्म**=चमड़ा **रोहतु**=प्ररूढ़ हो जाए, अर्थात् जुड़ जाए। २. रुधिर **असृक्**=रुधिर से मेलवाला हो जाए। इसीप्रकार **ते अस्थि**=तेरी हड्डी **रोहतु**=हड्डी से जुड़ जाए और **मांसं मांसेन रोहतु**=मांस बढ़कर मांस से मिल जाए।

भावार्थ—रोहणी के प्रयोग से मज्जा मज्जा के साथ, चर्म चर्म के साथ, रुधिर रुधिर के साथ, हड्डी हड्डी के साथ तथा मांस मांस के साथ संयुक्त हो जाए।

ऋषिः—**ऋभुः** ॥ देवता—**रोहणी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

छिन्न अंगों का सन्धान

लोम॒ लोम्ना॒ सं क॑ल्पया त्व॒चा सं क॑ल्पया॒ त्वच॑म्।
असृ॑क्ते॒ अस्थि॑ रोहतु॒ छिन्नं॒ सं धे॑ह्योषधे ॥ ५ ॥

१. हे **ओषधे**=ओषधे! तू शरीरस्थ **लोम**=बाल को जोकि प्रहार से विश्लिष्ट (पृथक्) हो गया है **लोम्ना**=अन्य बालों से **संकल्पय**=संक्लृप्त, अर्थात् पुनः स्थानगत कर दे। उसी प्रकार **त्वचम्**=त्वचा को **त्वचा**=पृथक् हुई त्वचा से **संकल्पय**=संक्लृप्त व मिला हुआ कर दे। २. **ते**=तेरा **असृक्**=रुधिर जोकि अस्थियों के समीप से पृथक् हो गया है वह फिर से **अस्थि रोहतु**=तेरी अस्थियों को प्राप्त हो जाए। इसीप्रकार और भी **छिन्नम्**=जो-जो अङ्ग छिन्न हुआ है, उन सबको **सन्धेहि**=संश्लिष्ट व कार्यक्षम कर दे।

भावार्थ—रोहणी के प्रयोग से आघात से उत्पन्न हुए-हुए लोमों व त्वचा के विकार दूर हो जाएँ तथा सब छिन्न अङ्ग फिर से ठीक होकर कार्यक्षम हो जाएँ।

ऋषिः—ऋभुः ॥ देवता—रोहणी वनस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिपदायवमध्याभुरिग्गायत्री ॥

'सुचक्र, सुपवि, सुनाभि' रथ

स उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः। प्रति तिष्ठोर्ध्वः ॥ ६ ॥

१. हे घायल पुरुष! **सः**=वह तू ओषधि-प्रयोग से संहितगात्र हुआ-हुआ **उत्तिष्ठ**=उठ खड़ा हो, **प्रेहि**=प्रकर्षेण इधर-उधर जानेवाला हो **प्रद्रव**=वेग से जानेवाला हो। २. तेरा यह **रथः**=शरीर-रथ अब **सुचक्रः**=उत्तम हाथ-पाँव आदि अङ्गोंवाला हो गया है, **सुपविः**=उत्तम नेमि व चक्रधारावाला यह शरीर-रथ है, **सुनाभिः**=उत्तम नाभिवाला है। इसप्रकार अब तू सुदृढ़ अङ्गोंवाला हुआ-हुआ **ऊर्ध्वः**=उत्थित हुआ-हुआ **प्रतितिष्ठ**=अपने कार्यों के लिए प्रतिष्ठित हो।

भावार्थ—रोहणी के प्रयोग से स्वस्थ व सुदृढ़ अङ्गोंवाला हुआ-हुआ यह पुरुष अपने कार्यों में व्यापृत हो जाए।

ऋषिः—ऋभुः ॥ देवता—रोहणी वनस्पतिः ॥ छन्दः—बृहती ॥

सब रथाङ्गों का ठीक होना

यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान।
ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत्परुषा परुः ॥ ७ ॥

१. **यदि कर्तम्**=यदि किसी छेदक आयुध ने **पतित्वा**=गिरकर **संशश्रे**=हिंसित किया है, **यदि वा**=अथवा किसी के द्वारा **अश्मा**=पाषाण (पत्थर) **प्रहृतः**=फेंका हुआ **जघान**=पुरुष को हिंसित करता है तो इस रोहणी औषध का सामर्थ्य **परुः**=पर्व को **परुषा**=दूसरे पर्व से **सन्दधत्**=संहित कर दे—फिर से घाव को ठीक करके सब पर्वों को ठीक से संश्लिष्ट कर दे। २. यह ओषधि सब अङ्गों को इसप्रकार संश्लिष्ट कर दे **इव**=जैसेकि **ऋभुः**=ज्ञानी शिल्पी **रथस्य अंगानि**=रथ के अंगों को संश्लिष्ट कर देता है। संश्लिष्ट (जुड़ा) हुआ रथ ठीक गतिवाला होता है, इसीप्रकार यह आहत पुरुष भी अब संश्लिष्ट-अङ्ग होकर कार्यों में शीघ्रता से गतिवाला हो।

भावार्थ—यदि किसी आयुध या पत्थर से घाव हो गया है तो यह रोहणी ओषधि उसे ठीक कर दे। इसके प्रयोग से ठीक हुआ-हुआ शरीर-रथ अपने कार्यों में व्याप्त हो।

विशेष—नीरोग हुआ-हुआ यह पुरुष सब अङ्गों में शान्तिवाला हुआ-हुआ 'शन्ताति' कहलाता है। यह नीरोगता के लिए ही प्रार्थना करता हुआ कहता है—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'स्वस्थ व निष्पाप' जीवन

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः। उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ १ ॥

१. हे **देवाः**=आधि-व्याधियों पर विजय पाने की कामनावाले **देवाः**=विद्वान् पुरुषो! आप **अवहितम् उत**=रोगादि से नीचे पड़े हुए भी इस पुरुष को पुनः **उन्नयथ**=फिर से उन्नत कर देते हो। आप इसे फिर से उठा देते हो। २. **उत**=और हे **देवाः**=ज्ञान की ज्योतिवाले **देवाः**=ज्ञानी पुरुषो! आप **आगः चक्रुषम्**=पाप कर चुके हुए भी इस पुरुष की पापवृत्ति को दूर करके **पुनः**=फिर से **जीवयथ**=नवजीवन प्रदान करते हो।

भावार्थ—देवपुरुष हमारे रोगों व पापों को दूर करके हमें नया, स्वस्थ और निष्पाप जीवन प्रदान करें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्राण+अपान

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः। दक्षं ते अन्य आवातु व्य१न्यो वातु यद्रपः ॥ २ ॥

१. **इमौ**=ये **द्वौ वातौ**=प्राण और अपानरूप दो वायुएँ **वातः**=शरीर में सञ्चरण करती हैं। इनमें से एक प्राण तो **आसिन्धोः**=स्यन्दनशील स्वेद के अयनोंपर्यन्त गतिवाला होता है तथा दूसरा अपान **आपरावतः**=शरीर से बाहर बारह अंगुल परिमित स्थान तक संचारवाला होता है। २. इनमें **अन्यः**=एक प्राण **ते**=तेरे लिए **दक्षम् आवातु**=बल प्राप्त कराए और **अन्यः**=दूसरा अपान तेरा **यत् रपः**=जो पाप व दोष है, उसे **विवातु**=तुझसे दूर करे।

भावार्थ—शरीर में ठीक गति करता हुआ 'प्राण' बल का सञ्चार करे और 'अपान' शरीरस्थ दोषों को दूर करे।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दोष-निवारण

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः। त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे ॥ ३ ॥

१. हे **वात**=प्राणवायो! तू **भेषजम्**=सर्वव्याधिनिवर्तक औषध को **आवाहि**=प्राप्त करा। हे **वात**=अपान वायो! **यत् रपः**=जो पाप व दोष व्याधि का निदान (कारण) है, उसे **विवाहि**=दूर कर। २. हे वायो! **त्वं हि**=तू ही **विश्वभेषज**=सब व्याधियों का निवर्तक है। तू **देवानाम्**=सब इन्द्रियों का **दूतः**=दूत की भाँति समीपवर्ती होता हुआ उनके पोषण के लिए **ईयसे**=सारे शरीर को व्याप्त करके गतिवाला होता है, अतः हे विश्वभेषज वात! तू इन इन्द्रियों को निर्दोष बना।

भावार्थ—हम प्राणापान की साधना करते हुए सब इन्द्रियों को निर्दोष, नीरोग व सबल बनाएँ।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देव+मरुद्गण—विश्वा भूतानि

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः।
त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत् ॥ ४ ॥

१. **देवाः**=वाणी आदि इन्द्रियों के अधिष्ठातृभूत अग्नि आदि देव उस-उस इन्द्रिय की कार्यक्षमता देते हुए **इमम् त्रायन्ताम्**=इस पुरुष को रक्षित करें तथा **मरुतां गणाः**=देह में अवस्थित प्राण-अपान-व्यान आदि के गण इसे **त्रायन्ताम्**=रक्षित करें २. **विश्वा भूतानि**=शरीर का निर्माण करनेवाले पृथिवी आदि पाँचों भूत **त्रायन्ताम्**=इसका रक्षण करें, **यथा**=जिससे **अयम्**=यह पुरुष **अरपाः**=निष्पाप व निर्दोष शरीरवाला **असत्**=हो जाए।

भावार्थ—शरीर में अग्नि आदि देव तथा प्राण, अपान, व्यान आदि के गण ठीक से कार्य करते हुए हमारा रक्षण करें। पृथिवी आदि पाँचों भूत ठीक स्थिति में होते हुए हमारे शरीर को निर्दोष बनाएँ।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'शन्तातिः अरिष्टतातिः' भेषज

आ त्वागमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः।
दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥ ५ ॥

१. वैद्य रोगी से कहता है कि मैं **त्वा**=तेरे समीप **शन्तातिभिः**=शान्ति का विस्तार करनेवाली (शं-कर) **अथो**=और **अरिष्टतातिभिः**=हिंसा न करनेवाली ओषधियों के साथ **आ अगमम्**=प्राप्त हुआ हूँ। २. मैं **ते**=तेरे लिए इनके ठीक विनियोग से **उग्रम्**=उद्गूर्ण—प्रबल **दक्षम्**=समृद्धिकर बल को **आभारिषम्**=लाया हूँ। बस, मैं शीघ्र ही **यक्ष्मम्**=रोग को **ते**=तुझसे **परा सुवामि**=दूर करता हूँ।

भावार्थ—वैद्य रोगी को रोगों को शान्त करनेवाली तथा हानिरहित औषधों का सेवन कराके सबल व नीरोग बनाता है।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शिवाभिमर्शन हस्त

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः। अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥ ६ ॥

१. वैद्य रोगी से कहता है कि **अयं मे हस्तः**=यह मेरा बायाँ हाथ **भगवान्**=बड़ा भाग्यवाला है, **अयम्**=यह **मे**=मेरा दायाँ हाथ **भगवत्तरः**=अतिशयित भाग्ययुक्त है। २. **अयम्**=यह **मे**=मेरा बायाँ हाथ **विश्वभेषजः**=सब ओषधियों को लिये हुए है तथा **अयम्**=यह दायाँ तो **शिवाभिमर्शनः**=सुखकर स्पर्शवाला है—छूते ही कल्याण करनेवाला है।

भावार्थ—वैद्य रोगी को आश्वस्त व विश्वस्त करता हुआ कहता है कि मेरे हाथ बड़े भाग्यवाले हैं। ये तुझे ओषधि देते ही व छूते ही ठीक किये देते हैं।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनामयित्नु हाथ

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥ ७ ॥

१. वैद्य जब रोगी की चिकित्सा करता है तब हाथों का प्रयोग तो करता ही है, परन्तु जिह्वा वाक् की पुरोगवी होती है, जिह्वा शब्दों के उच्चारण के लिए पहले व्यापृत होती है। हाथ से यदि वह उसे औषध देता है, तो वाणी से उसे उत्साह प्राप्त कराता है। **दशशाखाभ्यां हस्ताभ्याम्**=दश शाखाओंवाले हाथों के साथ **जिह्वा**=वागिन्द्रिय की अधिष्ठातृभूत रसना **वाचः**=शब्द को **पुरोगवी**=आगे ले-चलनेवाली होती है। शब्द के उच्चारण के लिए यह रसना व्यापृत होती है। २. वैद्य कहता है कि **अनामयित्नुभ्याम्**=आरोग्य के हेतुभूत **ताभ्यां हस्ताभ्याम्**=उन हाथों से **त्वा**=तुझे **अभिमृशामसि**=अभितः संस्पृष्ट करते हैं। यह हाथों का स्पर्श तुझे नीरोग बना देगा।

भावार्थ—वैद्य हाथों से रोगी की चिकित्सा करता हुआ वाणी से उसे उत्साहित करनेवाला हो, उसे यही कहे कि मेरे हाथ तुझे अभी स्वस्थ किये देते हैं। ये हाथ अनामयित्नु हैं।

विशेष—नीरोग बनकर यह व्यक्ति तपस्वी बनता है-'भृगु' (भ्रस्ज पाके)। भृगु बनकर ऊपर उठता हुआ यह ब्रह्म को प्राप्त करता है-

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, आज्यम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

जनितृ-दर्शन

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे।
तेन देवा देवतामग्र आयन्तेन रोहान्रुरुहुर्मेध्यासः ॥ १ ॥

१. **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु के **शोकात्**=दीपन से (शुच to illuminate), प्रकाश से **हि**=ही **अजः अजनिष्टः**=जीवात्मा गति के द्वारा सब बुराइयों को परे फेंकनेवाला बनता है (अज् गतिक्षेपणयोः)। **सः**=यह बुराइयों को परे फेंकनेवाला जीव **जानितारम्**=उस उत्पादक प्रभु को **अग्रे**=सामने **अपश्यत्**=देखता है। २. यह परमात्मा को इस रूप में देखता है कि **तेन**=उस प्रभु से ही **देवाः**=सब देव **अग्रे**=सर्वप्रथम **देवताम्**=देवत्व को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। सूर्यादि देवों को प्रभु ही दीप्ति प्राप्त कराते हैं। इसीप्रकार **मेध्यासः**=पवित्र जीवनवाले पुरुष **तेन**=उस प्रभु के द्वारा ही **रोहान् रुरुहुः**=उन्नति-शिखरों पर आरोहण करते है। बुद्धिमान् पुरुष प्रभु से ही बुद्धि प्राप्त करते हैं, बलवानों को वे प्रभु ही बल देते हैं।

भावार्थ—प्रभु के दीपन से जीव सब बुराइयों को दूर कर पाता है। अब यह प्रभु-दर्शन करता है और देखता है कि प्रभु से ही सूर्यादि सब देव देवत्व को प्राप्त होते हैं तथा सब पवित्र जीव प्रभु से ही उन्नति-शिखरों पर आरोहण कर पाते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, आज्यम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यज्ञ व स्वर्ग

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यान्हस्तेषु बिभ्रतः।
दिवस्पृष्ठं स्व॒र्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम्॥ २॥

१. **उख्यान्**=उखा (स्थाली, हाँडी) में पकाये जानेवाले अन्नों को **हस्तेषु बिभ्रतः**=हाथों में धारण करते हुए—अन्नदान करते हुए अथवा यज्ञों में इनका विनियोग करते हुए तुम **अग्निना**=उस अग्रणी प्रभु की सहायता से **नाकं क्रमध्वम्**=स्वर्ग की ओर गतिवाले होओ—यज्ञों के द्वारा स्वर्ग प्राप्त करो। २. **दिवः पृष्ठम्**=द्युलोक के पृष्ठ पर **स्वः गत्वा**=स्वर्गलोक को प्राप्त करके **देवेभिः मिश्राः**=देवों के सम्पर्क में आये हुए तुम **आध्वम्**=आसीन होओ।

भावार्थ—अन्नदान व अग्निहोत्र स्वर्ग-प्राप्ति के साधन हैं। ज्ञानियों के सम्पर्क में आसीन होना ही स्वर्ग है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, आज्यम्** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

स्वर्ज्योति की प्राप्ति

पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्व१र्ज्योतिरगामहम्॥ ३॥

१. **पृथिव्याः पृष्ठात्**=पृथिवी के पृष्ठ से **अहम्**=मैं **अन्तरिक्षम् आरुहम्**=अन्तरिक्षलोक में आरोहण करूँ। जब मनुष्य भोगों से ऊपर उठकर रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होता है, तब वह अगला जन्म मर्त्यलोक में न लेकर अन्तरिक्षलोक—चन्द्रलोक में ही लेता है। चन्द्रलोकवासी व्यक्ति 'पितृ' संज्ञावाले होते हैं। २. **अन्तरिक्षात्**=अन्तरिक्ष से भी ऊपर उठकर मैं **दिवम् आरुहम्**=द्युलोक का आरोहण करूँ। ज्ञान-प्रधान जीवन बिताने पर देवयान से चलते हुए हम द्युलोक—सूर्यलोक में जन्म लेते हैं। यहाँ हमारा नाम देव हो जाता है। ३. यही स्वर्गलोक है। यहाँ दुःख नहीं, अतः इसे 'नाकम्' (न अकम् अस्मिन्) कहते हैं। इस **नाकस्य पृष्ठात्**=स्वर्ग के पृष्ठरूप **दिवः**=द्युलोक से भी ऊपर उठकर **अहम्**=मैं **स्वः ज्योतिः**=स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म को **अगाम**=प्राप्त होऊँ।

भावार्थ—'पृथिवी से अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष से द्युलोक में, स्वर्गपृष्ठ द्युलोक से ब्रह्मलोक में'—यह है हमारा यात्रा-क्रम। इसे पूर्ण करते हुए हम ब्रह्म को प्राप्त हों।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, आज्यम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्वतोधार यज्ञ

स्व१र्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे॥ ४॥

१. **स्वः यन्तः**=स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु की ओर जाते हुए **ये सुविद्वांसः**=जो उत्तम ज्ञानी पुरुष हैं, वे **न अपेक्षन्ते**=ऐहिक सुखों की—प्रजा, पशु, अन्न आदि भौतिक काम्य वस्तुओं की अपेक्षा नहीं करते। इन वस्तुओं की कामना से वे ऊपर उठ जाते हैं। वे तो पूर्वमन्त्र में वर्णित क्रम से **द्याम्**=अन्तरिक्ष का व **रोदसी**=द्यावापृथिवी का **आरोहन्ति**=आरोहण करते हैं। २. इस आरोहण के लिए ही ये **विश्वतोधारम्**=सबका धारण करनेवाले **यज्ञं वितेनिरे**=यज्ञ का विस्तार करते हैं। यह विश्वतोधार यज्ञ ही प्रभु-प्राप्ति का उपाय बनता है।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनकर लौकिक वस्तुओं की कामना से ऊपर उठें और सबका धारण करनेवाले यज्ञों को करते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, आज्यम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'भृगुभिः सजोषाः' यजमानाः

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम्।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्व१र्यन्तु यजमानाः स्वस्ति॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **प्रेहि**=आप हमें प्राप्त होओ—हम आपको प्राप्त कर सकें। आप ही **देवतानां प्रथमः**=सब देवों में प्रथम (मुख्य) हैं। आपसे ही तो सब देव देवत्व को प्राप्त करते हैं। आप **देवानां चक्षुः**=सूर्यादि सब ज्योतिर्मय पिण्डों के प्रकाशक हैं, **उत**=और **मानुषाणाम्**=विचारशील पुरुषों के लिए भी बुद्धिप्रदान द्वारा प्रकाश प्राप्त करानेवाले हैं—**'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि'**। २. **इयक्षमाणाः**=यज्ञों की कामनावाले, **भृगुभिः सजोषाः**=ज्ञानपरिपक्व लोगों के साथ समानरूप से प्रीतिवाले **यजमानाः**=यज्ञशील पुरुष **स्वस्ति**=कल्याणपूर्वक **स्वः यन्तु**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योतिस्वरूप प्रभु को प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु ही सब देवों के अग्रणी और सूर्यादि के प्रकाशक हैं, वे ही बुद्धिमानों की बुद्धि हैं। यज्ञ की कामनावाले, ज्ञानियों के सम्पर्क में रहनेवाले यज्ञशील पुरुष कल्याणपूर्वक प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, आज्यम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पयसा घृतेन

अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्व१रारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम्॥ ६॥

१. **पयसा**=शक्तियों के आप्यायन के द्वारा तथा **घृतेन**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा **अजम्**=गति के द्वारा सब बुराइयों को परे फेंकनेवाले प्रभु को **अनज्मि**=मैं प्राप्त होता हूँ। उस प्रभु को जो **दिव्यम्**=सदा ज्ञान के प्रकाश में निवासवाले हैं, **सुपर्णम्**=उत्तमता से हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं, **पयसम्**=आप्यान—वर्धन के कारण हैं, **बृहन्तम्**=स्वयं सदा बढ़े हुए हैं। २. **तेन**=उस प्रभु के द्वारा-प्रभु की उपासना द्वारा **सुकृतस्य लोकम्**=पुण्य के लोक को **गेष्म**=जाएँ। **स्वः आरोहन्तः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति की ओर आरोहण करते हुए हम **उत्तमं नाकम्**=दुःख-संस्पर्शशून्य उत्तम लोक को **अभि**=लक्ष्य करके चलनेवाले हों। इस नाकलोक से ऊपर उठकर हम प्रभु

को प्राप्त करेंगे।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन करें और ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, आज्यम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

पञ्चौदन

पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलिभिर्दर्व्योद्धर पञ्चधैतमोदनम्।
प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम्॥ ७॥

१. जैसे ओदन [भात] अंगुलियों व दर्वी (कड़छी) से निकाला जाता है, उसी प्रकार ज्ञान का ओदन (भोजन) भी अंगुलियों से (अगि गतौ), अर्थात् गतिशीलता से तथा दर्वी से अर्थात् (दृ विदारणे) वासनाओं के विदारण से उद्धृत हुआ करता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होनेवाला यह ओदन 'पञ्चौदन' कहलाता है। प्रभु जीव से कहते हैं कि तू **पञ्चभिः अंगुलिभिः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की सम्यग् गतियों के द्वारा तथा **दर्व्या**=वासना-विदारण के द्वारा **पञ्चधा**=पाँच भागों में बँटे हुए—'शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध' भेद से पाँच प्रकार के **एतं ओदनम्**=इस ज्ञान को जोकि 'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी' रूप पाँचों भूतों का ज्ञान होने से **पञ्चौदनम्**=पञ्चौदन कहलता है, उस ज्ञान को **उद्धर**=कुएँ से पानी प्राप्त करने की भाँति आचार्यों से प्राप्त कर। २. ज्ञान को प्राप्त करता हुआ तू **अजस्य**=(अज गतिक्षेपणयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों को परे फेंकनेवाले उस आत्मा के **शिरः**=शरीरस्थ सिर (मस्तिष्क) को **प्राच्यां दिशि धेहि**=प्राची दिशा में स्थापित कर। यह ज्ञान-प्राप्ति के कार्य में निरन्तर प्रगतिशील (प्र अञ्च) हो। मस्तिष्क का प्राची में स्थापन यही है कि यह ज्ञान-प्राप्ति में निरन्तर आगे और आगे बढ़ता चले। २. इस अज के **दक्षिणं पार्श्वम्**=दाहिने पासे को **दक्षिणायां दिशि**=दक्षिण दिशा में **धेहि**=स्थापित कर। इस अज के शरीर का यह दक्षिण हस्त कार्यों को दाक्षिण्य से करनेवाला हो। ज्ञानी पुरुष को कर्मों को कुशलता से करना ही शोभा देता है।

भावार्थ—पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की ठीक गतियों व वासना-विनाश के द्वारा हम आचार्यों से पञ्चभूतात्मक संसार का ज्ञान प्राप्त करें। मस्तिष्क को ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में निरन्तर गतिवाला बनाएँ तथा हमारा दक्षिण हस्त दाक्षिण्य से कर्म करनेवाला हो।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, आज्यम्** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिशक्वरी** ॥

'अज' का जीवन

प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम्।
ऊर्ध्वायां दिश्य१जस्यानूकं धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्य१मन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य॥ ८॥

१. **अस्य**=इस अज के **भसदम्**=कटिप्रदेश (उपस्थ) को **प्रतीच्यां दिशि**=प्रतीची दिशा में **धेहि**=स्थापित कर, अर्थात् इसे भोगवृत्ति से (प्रति अञ्च्) प्रत्याहृत कर। **उत्तरं पार्श्वम्**=उत्तर पार्श्व को **उत्तरस्यां दिशि**=उत्तर दिशा में **धेहि**=स्थापित कर। शरीर में 'वामपार्श्व' को ही उत्तर पार्श्व कहा जाता है। यह 'वामपार्श्व' वाम, अर्थात् सुन्दर व उत्कृष्ट कार्यों को ही करनेवाला हो। २. **अजस्य**=गतिशीलता द्वारा वासनाओं को परे फेंकनेवाले इस अज की **अनूकम्**=पृष्ठवंश की अस्थि को (Spine, Backbone) **ऊर्ध्वायां दिशि धेहि**=ऊर्ध्व दिशा में स्थापित कर, अर्थात् इसे कभी झुकने न दे। पृष्ठवंश के सीधे रहने पर ही दीर्घजीवन निर्भर है। तू **पाजस्यम्**=बल

के लिए हितकर उदर को **ध्रुवायां दिशि**=ध्रुव दिशा में **धेहि**=स्थापित कर, अर्थात् उदर-सम्बद्ध भोजन की मर्यादा का कभी भी उल्लंघन मत कर और अन्त में **अस्य**=इस अज के **मध्यम्**=मध्यभाग को **अन्तरिक्षे मध्यतः**=अन्तरिक्ष में मध्य के दृष्टिकोण से स्थापित कर। हृदयान्तरिक्ष में कभी भी निर्मर्याद भावनाएँ न उठें। हृदय सदा स्वर्णीय मध्य को अपनाने की वृत्तिवाला हो।

भावार्थ—'अज' वह है जोकि उपस्थ का संयम करता है, वामहस्त से वाम (सुन्दर) कार्यों को ही करता है, पृष्ठवंश को सीधा रखता है, भोजन की मर्यादा को कभी तोड़ता नहीं और हृदय में स्वर्णीय मध्म में चलने की वृत्तिवाला होता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः आज्यम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'शृत अज'

शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः संभृतं विश्वरूपम्।
स उत्तिष्ठेतो अभि नाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु॥ ९॥

१. गतमन्त्रों में वर्णित साधना के अनुसार **शृतम्**=जिसका ठीक परिपाक हुआ है, उस **अजम्**=गतिशीलता के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाले व्यक्ति को **शृतया**=त्वचा से **प्रोर्णूहि**=आच्छादित कर, अर्थात् तपस्या के द्वारा हम त्वचा को कठोर बनाएँ। इसप्रकार शरीर बीमारियों का शिकार नहीं होगा। इस 'अज' में **सर्वैः अङ्गैः**=पूर्ण स्वस्थ (सर्व=Whole) अङ्गों से **विश्वरूपं संभृतम्**=सम्पूर्ण शरीर का सौंदर्य संभृत हुआ है। २.हे अज ! **सः**=वह तू **इतः**=यहाँ से—इस पार्थिवलोक में निवास से **नाकम्-अभि**=मोक्ष की ओर **उत्तिष्ठ**=उठ खड़ा हो। तू **दिक्षु**=सब दिशाओं में, अर्थात् सर्वत्र **चतुर्भिः पद्भिः**='धमार्थ-काममोक्ष' रूप चारों पगों के द्वारा **प्रतितिष्ठ**=जीवन-यात्रा में प्रस्थित हो। अथवा 'स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान' रूप चारों धर्मों का पालन करता हुआ तू मोक्ष की ओर बढ़।

भावार्थ—हम तपस्या की अग्नि में अपना ठीक परिपाक करें। हमारी त्वचा तपः परिपक्व हो, शरीर स्वस्थ अङ्गों के सौन्दर्य से परिपूर्ण हो तथा 'स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान' रूप चार धर्मों के पालन के द्वारा हम मोक्ष की ओर बढ़ें।

विशेष—इसप्रकार जीवन का ठीक परिपाक करनेवाला अज 'अथर्वा' बनता है—स्थिर वृत्ति का। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१५. [पञ्चदशं सूक्तं]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**दिशः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

गर्जते हुए बादलों का वर्षण

समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु॥ १॥

१. **प्रदिशः**=ये विस्तृत प्राची आदि दिशाएँ **नभस्वतीः**=(नभस्वता वायुना युक्ताः-सा०) वायु से युक्त हुई-हुई **समुत्पतन्तु**=मेघयुक्त होकर उद्गत हों। **अभ्राणि**=उदकपूर्ण मेघ **वातजूतानि**=वायु से प्रेरित हुए-हुए **संयन्तु**=संगत हों। २. **महऋषभस्य**=महान् ऋषभ के आकारवाले **नदतः**=गर्जन करते हुए **नभस्वतः**=वायु-प्रेरित मेघ से **आपः**=जल **वाश्राः**=शब्दायमान होते हुए **पृथिवीम्**=इस भूमि को **तर्पयन्तु**=तृप्त, अर्थात् ओषधि-प्ररोहण-समर्थ करें।

भावार्थ—दिशाएँ बादलों से घिर जाएँ। वायु-प्रेरित बादल आकाश को आवृत कर लें। इन गर्जते हुए मेघों के जल भूमि को तृप्त करके इसे ओषधि-प्ररोहण-समर्थ करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वीरुधः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

ओषधियों की उत्पत्ति

समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽ पां रसा ओषधीभिः सचन्ताम्।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग्जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः॥ २॥

१. **तविषाः**=महान् **सुदानवः**=उत्तम दानवाले मरुत् (मेघ-प्रेरक वायुएँ) **समीक्षयन्तु**=वृष्टि का दर्शन कराएँ। **अपां रसाः**=वृष्टि-जलों के रस **ओषधिभिः**=पृथिवी में बोये गये चावल-जौ आदि के बीजों के साथ **सचन्ताम्**=संगत हों। २. **वर्षस्य सर्गाः**=वृष्टि की धाराएँ **भूमिम्**=पृथिवी को **महयन्तु**=महिमायुक्त (समृद्ध) करें और वृष्टिधाराओं से अलंकृत भूप्रदेश से **विश्वरूपाः**=नानाविध **ओषधयः**=व्रीहि-यव आदि ओषधियाँ **पृथक्**=अलग-अलग, विविध स्थानों में **जायन्ताम्**=उत्पन्न हों।

भावार्थ—प्रभूत वृष्टि होकर पृथिवी में उप्त (बोये हुए) बीज जलों से सङ्गत हों। वृष्टि-जलों से पृथिवी के तृप्त होने पर ओषधियाँ खूब उत्पन्न हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वीरुधः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वीरुत् विकास

समीक्षयस्व गायतो नभांस्यपां वेगासः पृथगुद्विजन्ताम्।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग्जायन्तां वीरुधो विश्वरूपाः॥ ३॥

१. हे प्रभो! **गायतः**=स्तुति करनेवाले हम लोगों को **नभांसि**=अभ्रों को—वृष्टिजलयुक्त मेघों को **समीक्षयस्व**=दिखलाइए। **अपां वेगासः**=जलों के वेग **पृथक्**=विविध स्थलों पर **उद्विजन्ताम्**=उच्चलित हो उठें। २. **वर्षस्य सर्गाः**=वृष्टि की धाराएँ **भूमिम्**=भूमि को **महयन्तु**=पूजित—समृद्ध करें। **विश्वरूपाः**=नानाविध रूपोंवाली **वीरुधः**=फैलनेवाली बेलें **पृथक्**=अलग-अलग स्थानों में **जायन्ताम्**=उत्पन्न हों।

भावार्थ—हम स्तुति करनेवालों को प्रभु ठीक वृष्टि प्राप्त कराके विविध लताओं को प्राप्त करानेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मारुतपर्जन्यौ** ॥ छन्दः—**विराड्पुरस्ताद्बृहती** ॥

मेघगर्जना में प्रभु-महिमा का गायन

गणास्त्वोप गायन्तु मारुताः पर्जन्यघोषिणः पृथक्।
सर्गा वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु॥ ४॥

१. हे प्रभो! **पर्जन्यघोषिणः**=बादलों की गर्जनवाले **मरुताः गणाः**=वृष्टि लानेवाले वायुओं के गण **त्वा उपगायन्तु**=आपका ही गायन करें। हम इन मरुतों के शब्दों में—इन बादलों की गर्जना में आपकी ही महिमा के गायन का अनुभव करें। २. **वर्षतः**=पृथिवी को सींचते हुए **वर्षस्य**=वृष्टि करनेवाले मेघ की **सर्गाः**=जल धाराएँ **पृथक्**=विविध स्थानों में **पृथिवीम्**=पृथिवी को **अनुवर्षन्तु**=अनुकूलता से सींचनेवाली हों।

भावार्थ—हम मेघ-गर्जना में, वायु की ध्वनियों में प्रभु की महिमा का गायन सुनें। वृष्टिजल की धाराएँ पृथिवी को अनुकूलता से सींचनेवाली हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

समुद्रजल का वाष्पीभवन व मेघ-निर्माण

उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत्पातयाथ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु॥ ५॥

१. हे **मरुतः**=वायुओ! **समुद्रतः**=समुद्र से वृष्टिजल को **उदीरयत**=ऊपर प्रेरित करो। **त्वेषः अर्कः**=यह दीप्तिवाला सूर्य है। हे मरुतो! इस सूर्य से सहायता प्राप्त करके **नभः**=जलयुक्त मेघोंको **उत्पातयाथ**=ऊपर आकाश में प्राप्त कराओ। २. **महऋषभस्य**=महान् ऋषभ के समान **नदतः**=गर्जना करते हुए **नभस्वतः**=वायुप्रेरित मेघ के **वाश्राः**=शब्दायमान **आपः**=जल **पृथिवीम् तर्पयन्तु**=पृथिवी को तृप्त करें—उसे ओषधियों के प्ररोहण में समर्थ करें।

भावार्थ—सूर्य का प्रचण्ड ताप तथा वायुएँ मिलकर आकाश में मेघों को प्राप्त कराएँ। 'पृथिवी का समुद्र' 'आकाश का समुद्र' बन जाए। तब वृष्टि होकर पृथिवी नाना ओषधियों को जन्म देनेवाली हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मूसलधार वृष्टि

अभि क्रन्द स्तनयार्दयोदधिं भूमिं पर्जन्य पयसा समङ्ग्धि।
त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षमाशारैषी कृशगुरेत्वस्तम्॥ ६॥

१. हे **पर्जन्य**=मेघ! तू **अभिक्रन्द**=चारों ओर से गर्जना करनेवाला हो। **स्तनय**=विद्युत् की कड़क को उत्पन्न कर, **उदधिं अर्दय**=(अर्द याचने) समुद्र से जल की याचना कर। तू समुद्र से जल प्राप्त करनेवाला हो और **भूमिम्**=इस पृथिवी को **पयसः**=जल से **समंग्धि**=समक्त—संसिक्त कर। २. **त्वया सृष्टम्**=तुझसे उत्पन्न की हुई **बहुलं वर्षम्**=खूब वर्षा **आ एतु**=यहाँ भूमि पर समन्तात् प्राप्त हो। **कृशगुः**=वृष्टि के अभाव में घास के न होने से कृश गौओंवाला यह किसान **आशार एषी**=धारा-सम्पात को चाहनेवाला, खूब वृष्टि होने पर प्रसन्न मन से **अस्तम् एतु**=घर को आये। मूसलधार वर्षा में बाहर खड़ा होना सम्भव ही न हो।

भावार्थ—मूसलधार वृष्टि होकर भूमि तृणसंकुल हो जाए। गौ आदि पशु पर्याप्त चारे को प्राप्त करके कृश न रहें, आप्यायित शरीरोंवाले हो जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मेघों से उत्पन्न जल-प्रवाह

सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु॥ ७॥

१. हे **सुदानवः**=शोभन दान करनेवाले मनुष्यो! ये **उत्साः**=जलों के प्रवाह **उत अजगराः**=जोकि अजगरों के समान स्थूल आकारवाले प्रतीत हो रहे हैं (उत वितर्के), वे **वः**=तुम्हें **समवन्तु**=सम्यक् रक्षित करें। २. **मरुद्भिः**=वायुओं से **प्रच्युताः**=प्रेरित हुए-हुए **मेघाः**=बादल **पृथिवीं अनु वर्षन्तु**=पृथिवी पर अनुकूलता से वर्षा करें।

भावार्थ—हम अग्निहोत्र में सम्यक् आहुति देनेवाले हों—सुदानु बनें, तब मेघों से वृष्टि होकर स्थूल जल-प्रवाह हमारा कल्याण करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सर्वत्र वृष्टि की अनुकूलता

आशामाशां वि द्योततां वाता वान्तु दिशोदिशः।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः सं यन्तु पृथिवीमनु॥ ८॥

१. **आशाम् आशम्**=प्रत्येक दिशा में **विद्योतताम्**=विद्युत् की दीप्तियाँ चमकें। **दिशोदिशः**=प्रत्येक दिशा को प्राप्त करके **वाताः वान्तु**=मेघों को लानेवाले वायु बहें। २. **मरुद्भिः**=वायुओं से **प्रच्युताः मेघाः**=प्रेरित मेघ वृष्टि द्वारा **पृथिवीम् अनुसंयन्तु**=पृथिवी को अनुकूलता से प्राप्त रहें।

भावार्थ—गतमन्त्र के अनुसार प्रजा के अग्निहोत्र आदि करने पर सर्वत्र वृष्टि की अनुकूलता हो। बादलों में विद्युत् की दीप्ति चमके और वृष्टि को लानेवाले वायु सर्वत्र बहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

वृष्टि का वातावरण

आपो विद्युदभ्रं वर्षं सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनु॥ ९॥

१. हे **सुदानवः**=उत्तम दानशील पुरुषो! **आपः**=मेघस्थ जल, **विद्युत्**=बिजली, **अभ्रम्**=उदकपूर्ण मेघ **वर्षम्**=वृष्टि **उत अजगराः**=अजगरों के समान प्रतीत होनेवाले **उत्साः**=जल-प्रवाह—ये सब **वः**=तुम्हें **सम् अवन्तु**=सम्यक् रक्षित करें। २. **मरुद्भिः**=वायुओं से **प्रच्युताः मेघाः**=प्रेरित मेघ वृष्टि द्वारा **पृथिवीम् अनुसंयन्तु**=पृथिवी की अनुकूलता से रक्षा करें।

भावार्थ—अग्निहोत्र में उत्तम आहुतियाँ देनेवाले पुरुषों के लिए वायु-प्रेरित मेघ आदि सम्यक् वृष्टि करनेवाले और उनका रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'अमृत व प्राणस्वरूप' वृष्टिजल

अपामग्निस्तनूभिः संविदानो य ओषधीनामधिपा बभूव।
स नो वर्षं वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्परि॥ १०॥

१. **अपां तनूभिः संविदानः**=मेघस्थ जलों के शरीरों से ऐक्य को प्राप्त हुआ-हुआ—एक हुआ-हुआ **यः अग्निः**=जो विद्युद्रूप अग्नि है, वह **ओषधीनाम्**=ओषधियों का **अधिपाः बभूव**=अधिपति होता है। २. **सः**=वह **जातवेदाः**=प्रत्येक उत्पन्न मेघ में विद्यमान विद्युद्रूप अग्नि **दिवः परि**=आकाश से **अमृतं वर्षम्**=अमृततुल्य वृष्टिजल जो **प्रजाभ्यः प्राणम्**=प्रजाओं के लिए प्राणरूप है, उसे **नः**=हमारे लिए **वनुताम्**=प्राप्त कराए।

भावार्थ—विद्युत् मेघ-जलों में संचरित होता हुआ उन मेघ-जलों को अमृत बना देता है। ये मेघजल प्रजाओं के लिए प्राण ही होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः, स्तनयित्नुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रजापति का जल-प्रेरण

प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादाप ईरयन्नुदधिमर्दयाति।
प्र प्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोऽर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेहि॥ ११॥

१. **प्रजापतिः**=प्रजाओं का पालक, वृष्टिप्रद सूर्य **सलिलात्**=जलमय **समुद्रात्**=समुद्र से

आपः=जलों को **आ ईरयन्**=समन्तात् प्रेरित करता हुआ **उदधिम्**=समुद्र को **अर्दयाति**=हलचलवाला करता है। २. **वृष्णः**=वृष्टि करनेवाले **अश्वस्य**=आकाश में व्याप्त होनेवाले (अश् व्याप्तौ) मेघ का **रेतः**=वृष्टि का उपादानभूत वीर्य **प्र प्यायताम्**=बढ़े—मेघ की शक्ति बढ़े और खूब वर्षा हो। हे वृष्टे! तू **एतेन**=इस **स्तनयित्नुना**=गर्जन करनेवाले मेघ के साथ **अर्वङ् एहि**=यहाँ—हमारे अभिमुख प्राप्त हो।

भावार्थ—सूर्य समुद्र से जलों को आकाश में प्रेरित करे। मेघ की शक्ति बढ़े और गर्जना के साथ वृष्टि होकर यहाँ पृथिवी पर वृष्टिजल प्राप्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽनुष्टुब्गर्भाभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

गर्गर ध्वनियुक्त वृष्टिजल प्रवाह

अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणाव नीचीरपः सृज।
वदन्तु पृश्निबाहवो मण्डूका इरिणानु॥ १२॥

१. **असुरः**=(असु क्षेपणे) मेघों को अन्तरिक्ष में क्षेपण करनेवाला अथवा (असून् राति) वृष्टि-जल के द्वारा प्राणों को देनेवाला **नः पिता**=हमारा रक्षक सूर्य **अपः निषिञ्चन्**=जलों को इस पृथिवी पर सींचनेवाला हो और तब **अपाम्**=जलों के **गर्गराः**=गर्गर ध्वनियुक्त प्रवाह **श्वसन्तु**=उच्छ्वसित हों। हे **वरुण**=वृष्टि द्वारा हमारे क्लेशों का निवारण करनेवाले प्रभो! आप **अव नीचीः अपः**=(अवनिम् अञ्चन्ति) भूमि पर प्राप्त होनेवाले इन जलों को **सृज**=उत्पन्न कीजिए। २. अब वृष्टि के खूब होने पर **पृश्निबाहवः**=चित्रित व छोटी-छोटी (पृश्निरल्पतनौ) भुजाओंवाले **मण्डूकाः**=मेंढक **इरिण अनु**=निस्तृण भू-प्रदेशों को प्राप्त करके, वृष्टिजल से लब्ध प्राण हुए-हुए **वदन्तु**=शब्दों को करें।

भावार्थ—सूर्य अन्तरिक्ष में बादलों को उमड़ाकर वृष्टिजल प्रवाहों को उत्पन्न करे। वृष्टि से प्राणों को प्राप्त करके मेंढक शुष्कप्रदेशों में बैठे हुए शब्द करें, अर्थात् पर्याप्त वृष्टि होकर सब प्राणियों को जीवनशक्ति उपलब्ध हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मण्डूकाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

व्रतचारी ब्राह्मणों के समान

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः। वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः॥ १३॥

१. **मण्डूकाः**=मेंढक **पर्जन्यजिन्विताम्**=मेघ (बादल) से प्रेरित **वाचम्**=वाणी को **प्र अवादिषुः**=इसप्रकार खूब ही उच्चरित करते हैं, जैसेकि **संवत्सरम्**=वर्षभर **शशयानाः**=एक स्थान पर निवास करनेवाले **व्रतचारिणः**=मौनव्रत का पालन करनेवाले **ब्राह्मणाः**=ब्राह्मण व्रत समाप्ति पर वाणी को उच्चरित करते हैं।

भावार्थ—वर्षा होने पर मेंढकों की आवाज़ ऐसी प्रतीत होती है, जैसे वार्षिक मौनव्रत की समाप्ति पर ज्ञानी ब्राह्मणों की वाणी ही उच्चरित हुई हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मण्डूकाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः

उपप्रवद मण्डूकि वर्षमा वद तादुरि। मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः॥ १४॥

१. हे **मण्डूकि**=मेंढकी! तू हर्ष को **उप**=(उपेत्य) प्राप्त होकर **प्रवद**=प्रकृष्ट घोष करनेवाली हो। **तादुरि**=छोटी मेंढकी! तू **वर्षम् आवद**=वृष्टि को पुकार—वृष्टि को आने के लिए पुकार जैसेकि कोई बालिका माता को पुकारती है, तू ऐसा शब्द कर कि वृष्टि हो जाए। २. वृष्टिजलों

से ह्रदों (सरोवरों) के पूर्ण हो जाने पर तू उस **ह्रदस्य मध्ये**=तालाब के बीच में **चतुरः पदः**=अपने चारों पाँवों को **विगृह्य**=तैरने के लिए अनुकूलता पूर्वक फैलाकर **प्लवस्व**=तैर। तैरती हुई तू उस तालाब में आनन्दपूर्वक विहार कर।

भावार्थ—वृष्टि होने पर मेंढक हर्षपूर्वक ध्वनि करते हुए वृष्टि को ही मानो पुकारते हैं। वे वृष्टि-जलपूर्ण तालाबों में आनन्दपूर्वक तैरते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मण्डूकाः पितरश्च** ॥ छन्दः—**शंकुमत्यनुष्टुप्** ॥

मेंढकों की ध्वनि व वृष्टि की सूचना

खण्वखा३इ खैमखा३इ मध्ये तदुरि। वर्षं वनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत ॥ १५ ॥

१. हे **खण्वखे**=बिल में रहनेवाली **खैमखे**=शान्त रहनेवाली **तदुरि**=छोटी मेंढकी! तू **मध्ये**=तालाब के बीच में होती हुई अपने घोष से **वर्षम् वनुध्वम्**=वृष्टि देनेवाली हो। २. हे **पितरः**=राष्ट्र-रक्षण कार्य में तत्पर पुरुषो! आप **मरुताम्**=वृष्टि लानेवाले वायुओं के **मनः**=ज्ञान को **इच्छत**=चाहो। वायुओं के सम्यक् ज्ञान से वृष्टि के ठीक उपस्थापित करने से ये पितर राष्ट्र का सम्यक् रक्षण करनेवाले होंगे।

भावार्थ—राष्ट्ररक्षक पुरुष वृष्टि लानेवाले वायुओं का ज्ञान प्राप्त करके राष्ट्र में सम्यक् वृष्टि करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वातः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञाद् भवति पर्जन्यः

महान्तं कोशमुदचाभि षिञ्च सविद्युतं भवतु वातु वातः।
तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा आनन्दिनीरोषधयो भवन्तु ॥ १६ ॥

१. हे प्रभो! आप सूर्यकिरणों द्वारा **महान्तं कोशम्**=जल के महान् कोशभूत मेघ को **उदच**=समुद्र से उदकपूर्ण करके ऊपर अन्तरिक्ष में प्राप्त कराइए। **अभिषिञ्च**=उस मेघ से वृष्टिजल के द्वारा सम्पूर्ण भूमि को सिक्त कीजिए। अन्तरिक्ष **सविद्युतम् भवतु**=विद्युत्सहित हो जाए। **वातः**=वृष्ट्यनुकूल वायु **वातु**=बहे। २. **यज्ञं तन्वताम्**=इस पृथिवी पर यज्ञ विस्तृत हो। घर-घर में लोग यज्ञ करनेवाले हों। यज्ञों से वृष्टि होने पर अब **बहुधा**=बहुत प्रकार से **विसृष्टाः**=विविध रूपों में उत्पन्न हुई-हुई **ओषधयः**=ओषधियाँ—व्रीह-यव आदि ग्राम्य तथा तरु, गुल्म आदि अरण्य ओषधियाँ **आनन्दिनीः भवन्तु**=प्राणिमात्र को आनन्दित करनेवाली हों।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से सारा वातावरण वृष्टि के लिए अनुकूल हो। सब घरों में यज्ञों का विस्तार हो। उत्पन्न हुई-हुई विविध ओषधियाँ प्राणियों के लिए आनन्द देनेवाली हों।

विशेष—यज्ञों को उत्तमता से सम्पादित करनेवला 'ब्रह्मा' अगले सूक्त का ऋषि है। यह सत्य व अनृत के समीक्षक वरुण का स्मरण करता है और जीवन में सत्य (यज्ञ) को अपनाने का निश्चय करता है—

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वह महान् अधिष्ठाता

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति।
य स्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः ॥ १ ॥

१. **बृहन्**=वह महान् वरुण **एषाम्**=इन सब लोकों व प्राणियों का **अधिष्ठाता**=नियन्ता होता हुआ इन सब प्राणियों से किये जाते हुए कर्मों को **अन्तिकात् इव**=बहुत समीपता से ही **पश्यति**=देख रहा है। प्रभु से किसी का कार्य छिपा हुआ नहीं है। २. **यः**=वे प्रभु **तायत्**=सातत्येन वर्त्तमान स्थित वस्तु को तथा **चरन्**=चरणशील नश्वर वस्तु को **मन्यते**=जानते हैं—स्थावर-जंगमरूप यह सम्पूर्ण जगत् प्रभु के ज्ञान का विषय हो रहा है। जो **इदं सर्वम्**=इस सारी बात को कि 'प्रभु सब-कुछ देख रहे हैं, प्रभु के ज्ञान से कुछ भी परे नहीं' **विदुः**=जानते हैं, वे **देवाः**=देव बनते हैं। प्रभु की सर्वज्ञता व सर्वद्रष्टृत्व को समझते हुए ये पापवृत्ति से दूर रहते हैं और परिणामतः देववृत्ति के बनते हैं—इनके जीवन में असुरभाव नहीं पनप पाते।

भावार्थ—वे महान् अधिष्ठाता प्रभु सबको समीपता से देख रहे हैं। स्थावर-जंगम सम्पूर्ण जगत् प्रभु के ज्ञान का विषय बन रहा है। इस बात को समझनेवाले लोग देववृत्ति के बनते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सर्वज्ञ वरुण

यस्तिष्ठ॑ति चर॑ति यश्च॒ वञ्च॑ति॒ यो नि॒लायं॒ चर॑ति॒ यः प्र॒तङ्क॑म्।
द्वौ सं॑नि॒षद्य॒ यन्म॒न्त्रये॑ते॒ राजा॒ तद्वे॑द॒ वरु॑णस्तृ॒तीयः॑॥ २॥

१. **यः तिष्ठति**=जो खड़ा है अथवा **चरति**=चल रहा है **च**=और **यः वञ्चति**=जो कुटिलगति में व्यापृत है—किसी को ठग रहा है, **यः**=जो **निलायं चरति**=छिपकर कोई कार्य कर रहा है अथवा **यः प्रतंकम् (चरति)**=औरों के जीवन को कष्टमय बनाता हुआ गति करता है (तकि कृच्छ्रजीवने) **तत्**=उस सबको **राजा वरुणः**=वह शासक, पाप-निवारक प्रभु **वेद**=जानते हैं। प्रभु से कुछ भी छिपा नहीं है। **द्वौ**=दो पुरुष (व्यक्ति) **संनिषद्य**=एकान्त में सम्यक् आसीन होकर **यत्**=जो **मन्त्रयेते**=मन्त्रणा करते हैं, वह राजा वरुण **तृतीयः**=उन दो के साथ तीसरे के रूप में होकर उस सब मन्त्रणा को जान रहा होता है। उनकी वह गुप्त-मन्त्रणा प्रभु से गुप्त नहीं होती।

भावार्थ—प्रभु हमारे सब कर्मों को देख रहे हैं। हमारी कोई भी मन्त्रणा उससे छुपी नहीं होती।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सर्वव्यापक प्रभु

उ॒तेयं भूमि॒र्वरु॑णस्य॒ राज्ञ॑ उ॒तासौ द्यौर्बृ॑ह॒ती दू॒रेअ॑न्ता।
उ॒तो स॑मु॒द्रौ वरु॑णस्य कु॒क्षी उ॒तास्मि॒न्नल्प॑ उद॒के निली॑नः॥ ३॥

१. **इयम्**=सबका अधिष्ठान बनी हुई यह **भूमिः**=पृथिवी **उत**=भी (अपि—सा०) **राज्ञः**=उस शासक **वरुणस्य**=पाप-निवारक प्रभु के वश में हैं। **उत**=(अपि च) और वह दूर स्थित **बृहती**=विशाल **दूरे अन्ता**=दूर-से-दूर व समीप-से-समीप वर्त्तमान **द्यौः**=द्युलोक (आकाश) भी उस वरुण के वश में है। २. **उत उ**=और निश्चय से **समुद्रौ**=ये पूर्व और पश्चिम के समुद्र **वरुणस्य**=उस प्रभु के **कुक्षी**=दक्षिण व उत्तर पार्श्व ही हैं। ये विराट् प्रभु की कुक्षियों के समान हैं, **उत**=और **अस्मिन्**=इस **अल्पे उदके**=तटाक, ह्रद (तालाब) आदिगत अल्प जलों में भी वे प्रभु **निलीनः**=अन्तर्हित होकर रह रहे हैं।

भावार्थ—यह पृथिवी व द्युलोक दोनों ही प्रभु के वश में हैं। पूर्व व पश्चिम समुद्र प्रभु

की कुक्षियों के तुल्य हैं। छोटे-छोटे तालाबों के जलों में भी प्रभु अन्तर्हितरूपेण रह रहे हैं।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वरुण:, सत्यानृतान्वीक्षणम्** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु के सहस्त्राक्ष स्पश

उत यो द्यामतिसर्पात्परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्त्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम्॥ ४॥

१. **उत**=और **यः**=जो **द्यां परस्तात् अति सर्पात्**=सम्पूर्ण द्युलोक को भी लाँघकर परे चला जाए **सः**=वह भी **राज्ञः वरुणस्य**=उस शासक पाप-निवारक प्रभु के पाश से **न मुच्यातै**=छूट नहीं पाता। २. **अस्य दिवः**=इस दिव्य (प्रकाशमय) देव (प्रभु) के **स्पशः**=गुप्तचर **इदं प्रचरन्ति**=इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र गति करते हैं। **सहस्त्राक्षाः**=हज़ारों की संख्यावाले दर्शनोपायों से युक्त ये गुप्तचर **भूमिम् अति पश्यन्ति**=भूलोक के सम्पूर्ण वृत्तान्त को अतिशयेन साक्षात् कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु की आँखों से कोई बचकर भाग नहीं सकता। प्रभु के सहस्त्राक्ष गुप्तचर सभी कुछ देख रहे हैं। प्रभु मानो राजा हैं और सूर्य-चन्द्र आदि प्रभु के चर हैं।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वरुण:, सत्यानृतान्वीक्षणम्** ॥ छन्द:—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु के लिए परोक्ष नहीं

सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात्।
संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि॥ ५॥

१. **राजा वरुणः**=वह शासक व पाप-निवारक प्रभु **तत् सर्वं विचष्टे**=उस सबको देखता है **यत्**=जो **रोदसी अन्तरा**=द्यावापृथिवी के बीच में है और **यत् परस्तात्**=जो इन लोकों के परे है। २. **जनानाम्**=लोगों की **निमिषः**=पलकों की झपकों को भी **अस्य संख्याताः**=इसने गिना हुआ है। यह **तानि**=उन पलकों की झपकों को भी इसप्रकार **निमिनोति**=नाप लेता है **इव**=जैसेकि **श्वघ्नी**=जुवारी **अक्षान्**=पाशों को नापता है।

भावार्थ—प्रभु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अन्दर-बाहर देख रहे हैं। मनुष्यों की पलकों की झपकों को भी वे ठीक प्रकार माप रहे हैं, अर्थात् छोटी-से-छोटी क्रिया को भी प्रभु जान रहे हैं।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वरुण:, सत्यानृतान्वीक्षणम्** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

सप्त सप्त त्रेधा स्थित पाश

ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु॥ ६॥

१. हे **वरुण**=पाप-निवारक प्रभो! **ये**=जो **ते**=आपके **पाशाः**=पापियों के बन्धनकारक जाल **सप्तसप्त**='शरीर, मन, बुद्धि, चित्त, ज्ञानेन्द्रिय व प्राणों' में समवेत **त्रेधा**=उत्तम, मध्यम व अधम भेद से तीन प्रकारों में बँटे हुए, शरीर की सात धातुओं में व्याप्त होनेवाले 'वात, पित्त व कफ़' के त्रिविध विकारों से उत्पन्न हुए-हुए ये रोगरूप पाश **तिष्ठन्ति**=स्थित हैं। ये सब पाश **विषिताः**=विशेषरूप से बद्ध हैं। इनका सरलता से टूट जाना सम्भव नहीं। **रुशान्तः**=ये पाश अतिशयेन पीड़ित करनेवाले हैं। २. ये **सर्वे**=सब पाश **अनृतं वदन्तम्**=असत्य बोलनेवाले को **छिनन्तु**=छिन्न करनेवाले हों। **यः सत्यवाद्यति**=जो सत्य बोलनेवाला है **तम्**=उसे **अतिसृजन्तु**=ये अतिसृष्ट करें—छोड़ दें—सत्यवादी के लिए ये बन्धनकारक न हों।

भावार्थ—वरुण के पाश अनृतवादी को छिन्न करते हैं, सत्यवादी के लिए ये बन्धनकारक

नहीं होते।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अनृतवादी का बन्धन

श॒तेन॒ पाशै॑र॒भि धे॑हि वरुणैनं॒ मा ते॑ मोच्यनृत॒वाङ् नृ॑चक्षः।
आस्तां॑ जा॒ल्म उ॒दरं॑ श्रंसयि॒त्वा कोश॑इवाब॒न्धः प॑रिकृ॒त्यमा॑नः॥ ७॥

१. हे **वरुण**=पाप-निवारक प्रभो! **एनम्**=उस अनृतवादी को **शतेन पाशैः**=सैकड़ों पाशों से **अभिधेहि**=बाँधिए। हे **नृचक्षः**=मनुष्यों के कर्मों के द्रष्टा प्रभो! **अनृतवाक्**=यह असत्य बोलनेवाला मनुष्य **ते**=आपसे **मा मोचि**=न छोड़ा जाए। २. यह **जाल्मः**=असमीक्ष्यकारी दुष्टपुरुष **उदरं स्रंसयित्वा**=जलोदररोग से अपने उदर को स्रस्त करके **अबन्धः कोशः इव**=चारों ओर से बन्ध से रहित कोश की भाँति (फूल की कली की भाँति) **परिकृत्यमानः**=चारों ओर से छिन्न होता हुआ **आस्ताम्**=बन्धन में पड़ा रहे।

भावार्थ—अनृतवाक् पुरुष बन्धन में डाला जाए। यह जलोदर आदि रोगों से पीड़ित होकर बन्धन से मुक्त न हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्** ॥ छन्दः—**त्रिपान्महाबृहती** ॥

विविध वरुण पाश

यः स॑मा॒म्यो॒३ वरु॑णो॒ यो व्या॒म्यो॒३ यः स॑न्दे॒श्यो॒३ वरु॑णो॒ यो वि॑दे॒श्यः॑।
यो दै॒वो वरु॑णो॒ यश्च॒ मानु॑षः॥ ८॥

१. **यः**=जो **समाम्यः**=(समानम् आमयति व्याधितो भवति पुरुषोऽनेन) समानरूप से रोगी कर देनेवाला—सब अंगों में व्याप्त होनेवाला, **वरुणः**=(लुप्ततद्धितोऽयं निर्देशः—वारुणः) वारुण पाश है, इसीप्रकार **यः**=जो **व्याम्यः**=पुरुष को विविधरूपों में पीड़ित करनेवाला—भिन्न-भिन्न अङ्गों में होनेवाला वारुण पाश है, **यः**=जो **सन्देश्यः**=समान देश में होनेवाला वारुण पाश है और **यः**=जो **विदेश्यः**=विविध देशों में होनेवाला वारुण पाश है—संदेश्य का भाव समानरूप से सब देश में फैल जानेवाला तथा विदेश्य का भाव देश-विदेश में फैलनेवाला रोग भी है। २. इसीप्रकार **यः**=जो **दैवः**=सूर्य-चन्द्र आदि देवों (प्राकृतिक पदार्थों) से होनेवाला **वरुणः**=वारुण पाश है **च**=और **यः**=जो **मानुषः**=मनुष्य द्वारा हो जानेवाला वारुण पाश है—आधिदैविक कष्ट 'दैवपाश' हैं तो आधिभौतिक कष्ट ही 'मानुष' पाश है।

भावार्थ—वरुण के पाश 'समाम्य-व्याम्य, सन्देश्य-विदेश्य तथा दैव-मानुष'-इन तीन द्वन्द्वों में विभक्त किये जा सकते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्** ॥ छन्दः—**विराण्नामत्रिपाद्गायत्री** ॥

शत्रुता व वारुण पाशबन्धन

तैस्त्वा॒ सर्वै॑र॒भि ष्या॑मि॒ पाशै॑रसावामुष्यायणामुष्याः पुत्र।
तानु॑ ते॒ सर्वा॑ननु॒सन्दि॑शामि॥ ९॥

१. गतमन्त्र में वर्णित सब पाश शत्रुओं को ही बाँधनेवाले हों। न हम शत्रुता करें और न इनसे बद्ध हों। **असौ**=वह **अमुष्यायण**=अमुक गोत्र में उत्पन्न! **अमुष्याः पुत्र**=अमुक माता की सन्तान! **त्वा**=तुझे **तैः**=गतमन्त्र में वर्णित **सर्वैः**=सब वारुण **पाशैः**=पाशों से **अभिष्यामि**=बाँधता हूँ। २. **उ**=निश्चय से **तान् सर्वान्**=उन सब पाशों को **ते अनु**=तेरा लक्ष्य करके **सन्दिशामि**=सन्दिष्ट करता हूँ। शत्रुता करनेवाला तू इन वारुण पाशों से बद्ध हो, अर्थात् तुझ शत्रुता करनेवाले

को प्रभु ही उचित दण्ड देंगे।

भावार्थ—हम किसी से शत्रुता न करें। 'शत्रुता करनेवाला प्रभु के पाशों के बद्ध होगा' इस तथ्य में विश्वास रक्खें।

टिप्पणी—प्रस्तुत मन्त्र में 'अमुष्यायण' सम्बोधन यह संकेत करता है कि पिता से आनुवंशिक रोग प्राप्त हो सकता है और 'अमुष्याः पुत्र' से माता से प्राप्त होनेवाले रोग का निर्देश हो रहा है।

विशेष—प्रभु को 'सर्वव्यापक, सर्वद्रष्टा' जाननेवाला व्यक्ति पवित्र जीवनवाला बनता है। यह वारुण-पाशों का भय मानता हुआ पाप से बचता है। पवित्र जीवनवाला यह व्यक्ति 'शुक्रः' (शुच्) बनता है। यही अगले तीन सूक्तों का ऋषि है। 'अपामार्ग' ओषधि के प्रयोग से यह सब दोषों को अपमार्जन करता हुआ प्राप्तना करता है-

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

भेषजों की ईशान

ईशानां त्वा भेषजानामुज्जेष आ रभामहे। चक्रे सहस्रवीर्यं सर्वस्मा ओषधे त्वा॥ १॥

१. **भेषजानाम्**=ओषधियों की **ईशानाम्**=ईशान-(ईश्वर)-भूत हे अपमार्ग! **त्वाम्**=तुझे **उज्जेषे**=रोगों को पराजित करने के लिए **आरभामहे**=संस्पृष्ट करते हैं। तेरे उचित प्रयोग से हम सब रोगों को दूर करते हैं। २. हे **ओषधे**=दोषों को दग्ध करनेवाली! **त्वा**=तुझे **सर्वस्मै**=सब दोषों की निवृत्ति के लिए प्रभु ने **सहस्रवीर्यम् चक्रे**=अपरिमित सामर्थ्ययुक्त बनाया है—तुझमें सब दोषों को दग्ध करने की शक्ति रक्खी है।

भावार्थ—अपामार्ग ओषधि अपरिमित सामर्थ्ययुक्त है। यह सब रोगों को दूर करने में समर्थ है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'शपथयावनी' ओषधि

सत्यजितं शपथयावनीं सहमानां पुनःसराम्।
सर्वाः समह्व्योषधीरितो नः पारयादिति॥ २॥

१. **सत्यजितम्**=सचमुच रोगों को जीतनेवाली **शपथयावनीम्**=पीड़ाजनित आक्रोशों को दूर करनेवाली, **सहमानाम्**=रोगों को अभिभूत करनेवाली **पुनः सराम्**=अनेक व्याधियों की निवृत्ति के लिए फिर-फिर मलों का निःसारण करनेवाली इस अपामार्ग ओषधि को **सम् अह्वि**=मैं पुकारता हूँ। २. इसीप्रकार मैं अन्य भी **सर्वाः ओषधीः**=सब ओषधियों को पुकारता हूँ **इति**= जिससे यह ओषधि **इतः**=इस रोग से **नः**=हमें **पारयात्**=पार करे।

भावार्थ—मैं रोग-निवारक ओषधियों का आह्वान करता हूँ और इनके ठीक प्रयोग से नीरोग बनता हूँ।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोगवृद्धि की समाप्ति

या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे।
या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा॥ ३॥

१. **या**=जो रोग **शपनेन**=आक्रोशों के द्वारा **शशाप**=आक्रोशयुक्त करता है, अर्थात् जिस बीमारी में रोगी ऊटपटांग बोलने लगता है, **या**=जो बीमारी **मूरम्**=(मुर्छा मोहे) मूर्च्छा उत्पन्न करनेवाले **अघम्**=कष्ट को **आदधे**=धारण करती है अथवा **या**=जो रोग **रसस्य हरणाय**=शरीरगत रुधिर आदि रसों के हरण के लिए **जातम् आरेभे**=उत्पन्न सन्तान का आलिङ्गन करता है—बच्चे को चिपट जाता है **सा**=वह अपामार्ग नामक ओषधि **तोकम् अत्तु**=इस रोग की वृद्धि को खा जाए—ओषध-प्रयोग से यह रोग जाता रहे।

भावार्थ—कई रोगों में रोगी ऊटपटाँग बोलने लगता है, उसे चित्तभ्रम-सा (delirium) हो जाता है, कइयों में मूर्च्छा की स्थिति हो जाती है, कइयों में खून सूखने लगता है। अपामार्ग ओषधि इन सब रोगों को रोकती है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कृत्याकृत् हनन

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्नीललोहिते।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुस्तया कृत्याकृतो जहि॥ ४॥

१. यह शरीर 'चमस् या पात्र' कहा गया है। कई रोग बाल्यकाल में, जबकि यह शरीर परिपक्व नहीं हुआ होता, होने लगते हैं, उन्हीं के लिए कहते हैं कि **याम्**=जिस **कृत्याम्**=छेदन (हिंसन) क्रिया को **ते**=तेरे **आमे पात्रे**=कच्चे (अपरिपक्व) शरीर-पात्र में **चक्रुः**=ये रोगकृमि उत्पन्न करते हैं और **याम्**=जिस कृत्या को **आमे मांसे**=कच्चे मांस में **चक्रुः**=उत्पन्न करते हैं, **तया**=उस अपामार्ग ओषधि से इन सब **कृत्याकृतः**=हिंसन को उत्पन्न करनेवाले रोगकृमियों को **जहि**=नष्ट कर दे।

भावार्थ—रोगकृमि बालक के अपरिपक्व शरीर में रोगों को उत्पन्न कर देते हैं। ये रुधिर में या मांस में प्रविष्ट होकर विकार का कारण बनते हैं। अपमार्ग इन रोगकृमियों को नष्ट करता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'शुभ-लक्ष्मी-सम्पन्न' जीवन

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि॥ ५॥

१. **दौष्वप्न्यम्**=बुरे स्वप्नों का आते रहना, **दौर्जीवित्यम्**=कष्टमय जीवन का होना **अभ्वं रक्षः**=(अभ्वं=महत्) महान् भय के कारणभूत रोगकृमि, **अराय्यः**=असमृद्धि की कारणभूत अलक्ष्मियाँ, **दुर्णाम्नीः**=दुष्ट नामवाले बवासीर आदि रोग तथा **सर्वा दुर्वाचः**=सब अशुभ वाणियाँ—**ताः**=उन सबको **अस्मत्**=अपने से **नाशयामसि**=हम नष्ट करते हैं।

भावार्थ—अपामार्ग के प्रयोग से हम पूर्ण स्वस्थ बनते हैं। बुरे स्वप्न नहीं आते, जीवन रोगशून्य होकर कष्टमय नहीं रहता, भयजनक रोगकृमियों का विनाश होता है, शरीर अलक्ष्मीक नहीं रहता, बवासीर आदि अशुभ रोग दूर हो जाते हैं, रोग से आक्रान्त होकर हम ऊटपाँग नहीं बोलते।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनपत्यता निवारण

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥ ६॥

१. **क्षुधामारम्**=भूख की पीड़ा से मनुष्य को मार डालनेवाले (भस्मक रोग) अथवा जिसमें भूख मारी जाती है, उस रोग को **तृष्णामारम्**=जो प्यास के अतिशय से मनुष्य को मार डालता है, अथवा जिसमें प्यास ही नष्ट हो जाती है, **अगोताम्**=इन्द्रियों के शैथिल्य को उत्पन्न करनेवाले रोग को तथा **अनपत्यताम्**=सन्तानहीनता (नपुंसकता) के रोग को हे **अपामार्ग**=अपामार्ग! **त्वया**=तेरे द्वारा **वयम्**=हम **तत् सर्वम्**=उस सबको **अपमृज्महे**=विनष्ट कर डालते हैं।

भावार्थ—हम 'भूख-प्यास' के अभावजनक रोग को, इन्द्रिय-शैथिल्य व नपुंसकता को अपामार्ग के प्रयोग से विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अक्षपराजय' दूरीकरण

तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥ ७॥

१. **तृष्णामारम्**=प्यास को मार देनेवाले अथवा प्यास से मार देनेवाले रोग को, **क्षुधामारम्**=भूख को मार देनेवाले अथवा भूख से मार देनेवाले रोग को **अथ उ**=और निश्चय से **अक्षपराजयम्**=इन्द्रियों के पराजय-(शैथिल्य)-रूप रोग को हे अपामार्ग! **त्वया**=तेरे प्रयोग से **वयम्**=हम **तत् सर्वम्**=उस सबको **अपमृज्महे**=दूर करते हैं।

भावार्थ—अपामार्ग के प्रयोग से भूख व प्यास ठीक लगने लगती है और इन्द्रियों का शैथिल्य नष्ट होता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अगदता

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद्वशी।
तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर॥ ८॥

१. हे **अपामार्ग**=अपामार्ग! तू **सर्वासाम्**=सब **ओषधीनाम्**=ओषधियों का **एकः इत्**=अकेला ही **वशी**=वश में करनेवाला है। तू ओषधियों का सम्राट् है। २. हे रुग्ण पुरुष! **तेन**=उस अपामार्ग के प्रयोग से **ते**=तेरे **आस्थितम्**=शरीर में समन्तात् स्थित रोग को **मृज्मः**=साफ़ कर डालते हैं। **अथ**=अब **त्वम्**=तू **अगदः**=नीरोग होकर **चर**=विचारनेवाला हो।

भावार्थ—अपामार्ग सब ओषधियों के गुणों से सम्पन्न है। इसके प्रयोग से शरीर में कहीं भी स्थित रोग को हम दूर करते हैं। यह रुग्ण पुरुष नीरोग होकर विचरण करे।

अपामार्ग का ही विषय अगले सूक्त में भी है।

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सत्यपालन व अहिंसा

समं ज्योतिः सूर्येणाह्ना रात्री समावती।
कृणोमि सत्यमूतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः॥ १॥

१. **सूर्येण**=सूर्य के साथ **ज्योतिः**=उसका प्रभामण्डल **समम्**=समान ही होता है। यह प्रभामण्डल सूर्य से कभी पृथक् नहीं होता और **रात्री**=रात **अह्ना**=दिन के साथ **समावती**=समान आयामवाली होती है। वस्तुतः रात्रि दिन के साथ जुड़ी हुई है। जहाँ दिन है, रात्रि उसके साथ

है ही, जैसे ज्योति सूर्य से कभी अलग नहीं होती, जैसे रात्रि दिन के साथ जुड़ी हुई है, इसीप्रकार मैं अपने साथ **सत्यं कृणोमि**=सत्य को जोड़ता हूँ। यह सत्य **ऊतये**=मेरे रक्षण के लिए होता है। मेरे जीवन के साथ सत्य का इसप्रकार सम्बन्ध होने पर **कृत्वरीः**=कर्तनशील कृत्याएँ—सब हिंसाएँ **अरसाःसन्तु**=रसशून्य, शुष्क व व्यर्थ हो जाएँ। सत्यशील होने पर मुझे किसी प्रकार से भी हिंसित नहीं होना पड़ता।

भावार्थ—मैं जीवन में सत्य का इसप्रकार सम्बन्ध स्थापित करता हूँ, जैसा ज्योति का सूर्य के साथ सम्बन्ध है और रात्रि का दिन के। यह सत्य का सम्बन्ध मुझे हिंसित नहीं होने देता।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हिंसा द्वारा हिंसक का हिंसन

यो दे॑वाः कृ॒त्यां कृ॒त्वा हरा॒दवि॑दुषो गृ॒हम्।
व॒त्सो धा॒रुरि॑व मा॒तरं॒ तं प्र॒त्यगुप॑ पद्यताम्॥ २॥

१. हे **देवाः**=देवो! **यः**=जो **कृत्यां कृत्वा**=हिंसा का प्रयोग करके **अ-विदुषः**=छल-कपट की सम्भावना को न समझते हुए (विद् जानना) अजान पुरुष के **गृहं हरात्**=घर का अपहरण करता है—उसे हानि पहुँचता है। यह हिंसा-कर्म **तम् प्रत्यक्**=उसकी ओर लौटकर उसे उसी प्रकार **उपपद्यताम्**=प्राप्त हो **इव**=जैसेकि **धारुः**=(धेट पाने) स्तनपान करनेवाला **वत्सः**=बछड़ा **मातरम्**=माता के प्रति ही जाता है। २. जो छल-कपटपूर्वक दूसरों का हिंसन करने का प्रयत्न करता है, वह अन्ततः उस हिंसा का स्वयं ही शिकार हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु की सब प्राकृतिक शक्तियाँ ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देती हैं कि हिंसा करनेवाला उस हिंसा-प्रयोग का स्वंय ही शिकार हो जाता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गूढ़ शत्रु

अ॒मा कृ॒त्वा पा॒प्मानं॒ यस्तेना॒न्यं जिघांसति॥
अश्मा॑न॒स्तस्यां॑ द॒ग्धाया॑ं बहु॒लाः फट्करिक्रति॥ ३॥

१. **यः**=जो छिपा शत्रु (गूढ़ शत्रु) **अमा**=अनुकूल की भाँति साथ रहता हुआ **पाप्मानं कृत्वा**=हिंसा का षड्यन्त्ररूप पाप करके **तेन**=उस पाप से **अन्यं जिघांसति**=दूसरे को मारने की इच्छा करता है तो **तस्यां दग्धायाम्**=उस हिंसा-प्रयोग के प्रज्वलित होने पर **बहुलाः अश्मानः**=बहुत-से (कितने ही) पत्थर **फट् करिक्रति**=उस शत्रु का ही पुनः-पुनः हिंसन करते हैं। जिस बारूद का प्रयोग यह मूढ़ दूसरे के हिंसन के लिए करता है, उससे यह स्वयं ही नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—मित्र के रूप में वर्तनेवाला गूढ़ शत्रु जिस हिंसा का प्रयोग दूसरे के लिए करता है, उस हिंसा के प्रयोग से वह स्वंय हिंसित हो जाता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रियां प्रियावते (हर)

सह॑स्रधामन्विशि॒खान्विग्री॑वां छा॒यया॒ त्वम्।
प्रति॑ स्म च॒क्रुषे॑ कृ॒त्यां प्रि॒यां प्रि॒याव॑ते हर॥ ४॥

१. हे **सहस्रधामन्**=अनन्त तेजोंवाले प्रभो! **त्वम्**=आप हमारे इन कृत्या (हिंसा) करनेवाले शत्रुओं को **विशिखान्**=विच्छिन्न केशोंवाले व **विग्रीवान्**=छिन्न ग्रीवावाले व शिरोंवाला करके **शामय**=

भूमि पर सुला दीजिए। २. इस **कृत्याम्**=हिंसा की क्रिया को **चक्रुषे**=इस कृत्या को करनेवाले के **प्रति हरस्म**=हर प्रकार वापस प्राप्त कराइए जैसेकि **प्रियाम्**=प्रिय पत्नी को **प्रियावते**=उस प्रियावाले के लिए—पति के लिए प्राप्त कराया जाता है। खोई हुई पत्नी को जैसे पति के पास पहुँचाते हैं, इसीप्रकार इस हिंसा की क्रिया को प्रभु इसे करनेवाले को ही प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—औरों का हिंसन करनेवाले लोग प्रभु की व्यवस्था से स्वयं हिंसित हों।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

कृत्यामात्र का दूषण

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम्। यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु॥ ५॥

१. **अहम्**=मैं **अनया**=इस **ओषध्या**=अपामार्ग नामक ओषधि के द्वारा **सर्वाः कृत्याः**=सब प्रकार के रोगकृमियों से जनित शरीर के हिंसनों को **अदूदुषम्**=दूर करता हूँ। इन सब हिंसन-कार्यों को दूषित करता हूँ। २. **याम्**=जिस हिंसन-क्रिया को **क्षेत्रे**=शरीररूप क्षेत्र में **चक्रुः**=करते हैं, **याम्**=जिसे **गोषु**=गौओं में **याम्**=जिसे **वाते**=वायु-सम वेगवाले अश्वों में करते हैं **वा**=और जिसे **पुरुषेषु**=हमारे किन्हीं भी व्यक्तियों में जिस हिंसन-कार्य को करते हैं, उस सब हिंसन-कार्य को दूषित करके मैं दूर करता हूँ। ३. यहाँ 'गोषु' का भाव ज्ञानेन्द्रियों में करे तो 'वाते' का भाव (वा गतौ) कर्मेन्द्रियों में होगा। इनमें उत्पन्न किये गये हिंसन-कार्यों को भी मैं दूर करता हूँ।

भावार्थ—अपामार्ग ओषधि के प्रयोग से शरीर में—ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में या अन्य व्यक्तियों में रोगकृमियों द्वारा जनित हिंसनों को हम दूर करते हैं।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्**॥

अपने पाँव पर ही कुठाराघात

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम्।
चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः॥ ६॥

१. **यः**=जो शत्रु **चकार**=हिंसन-कार्य करता है, और इस हिंसन-कार्य द्वारा **पादम्**=एक पाँव को अथवा **अंगुरिम्**=एक अंगुलि को **शश्रे**=हिंसित करता है, वह शत्रु **कर्तुं न शशाक**=हिंसन-कार्य को करने में समर्थ नहीं होता। २. वस्तुतः **सः**=वह शत्रु इन हिंसन-प्रयोगों से **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **भद्रं चकार**=कल्याण ही करता है, **आत्मने तु**=अपने लिए तो **तपनम्**=दहन को करनेवाला होता है। ये हिंसन के प्रयोग हमें धैर्य धारण का अवसर देते हैं और इनका प्रयोक्ता अपने ही हृदय में विषैली वासनाओं को जन्म देनेवाला होता है।

भावार्थ—जो दूसरों का हिंसन करने का प्रत्यन करता है, वह वस्तुतः अपना ही अमङ्गल करता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

क्षेत्रिय रोग-निराकरण

अपामार्गोऽप मार्ष्टु क्षेत्रियं शपथश्च यः।
अपाह यातुधानीरप सर्वा अराय्यः॥ ७॥

१. **अपामार्गः**=(अपमृज्यते रोगादिनिराकरणेन पुरुषः शोध्यते अनने) यह अपामार्ग ओषधि **क्षेत्रियम्**=माता-पिता के शरीर से आगत संक्रामक क्षय, कुष्ठ, अपस्मार आदि रोगों को **अपमार्ष्टु**=दूर करे **च**=और **यः**=जो **शपथः**=रोगपीड़ा-जनित आक्रोश है, उसे भी दूर करे। २. यह अपामार्ग **अह**=निश्चय से **यातुधानीः**=पीड़ा को आहित करनेवाली व्याधियों को **अप**=दूर करे तथा यह

सर्वाः=सब **अराय्यः**=अलक्ष्मियों को—निस्तेजताओं को **अप**=दूर करे।

भावार्थ—अपामार्ग ओषधि द्वारा सब आक्रोशजनक व कष्टप्रद क्षेत्रिय रोग भी दूर हो जाते हैं। निस्तेजस्कता दूर होकर शरीर लक्ष्मी-(कान्ति)-सम्पन्न हो जाता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अलक्ष्मी-वारण

अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराय्यः। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ८ ॥

१. हे **अपामार्ग**=अपामार्ग! **वयम्**=हम **त्वया**=तेरे यथायोग के द्वारा **यातुधानान्**=पीड़ाओं को आहित करनेवाले कष्टों (रोगों) को **अपमृज्य**=दूर करके तथा **सर्वाः**=सब **अराय्यः**=अलक्ष्मियों को **अप**=शोधकर **तत् सर्वम्**=उस सब अवाञ्छनीय रोगमात्र को **अपमृज्महे**=दूर कर देते हैं।

भावार्थ—अपामार्ग का यथायोग शरीर को रोगरहित व तेजस्वी बनाता है। इसके द्वारा हम रोगों को दूर करते हैं।

अगले सूक्त में भी अपामार्ग का ही विषय है—

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अबन्धुकृत् जामिकृत्

उतो अस्यबन्धुकृदुतो असि नु जामिकृत्।
उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा च्छिन्धि वार्षिकम्॥

१. हे अपामार्ग! तू **उत उ**=निश्चय से ही **अबन्धु-कृत्**=(शत्रूणां कर्तकः) शत्रुभूत रोगों का छेदन करनेवाला **असि**=है और **नु**=अब **उत उ**=निश्चय ही **जामिकृत् असि**=(जामयः सहजाः) जन्म के साथ होनेवाले रोगों का भी छेदन करनेवाला है। सहज व असहज (कृत्रिम्) सभी रोगों का यह अपामार्ग विनाशक है। २. **उत उ**=निश्चय से **कृत्याकृतः**=हिंसन को पैदा करनेवाले कृमियों की **प्रजाम्**=सन्तानों को इसप्रकार से **छिन्धि**=नष्ट कर डाल **इव**=जैसे **वार्षिकं नडम्**=वर्षाऋतु में उत्पन्न हो जानेवाले तृणविशेषों को छिन्न किया जाता है।

भावार्थ—अपामार्ग ओषधि सहज व कृत्रिम सभी दोषों को दूर करती है और रोगकृमियों के वंश को ही समाप्त कर देती है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

नार्षद-कण्व-उपदिष्ट

ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन।
सेनेवैषि त्विषीमती न तत्र भयमस्ति यत्र प्राप्नोष्योषधे॥ २ ॥

१. हे अपामार्ग! **नार्षदेन**=मनुष्यों में आसीन होनेवाले—सब मनुष्यों के भले के लिए उनमें स्थित होनेवाले **कण्वेन**=मेघावी **ब्राह्मणेन**=ज्ञानी पुरुष से **पर्युक्ता असि**=तू उपदिष्ट हुई है। तेरा ज्ञान नर-हितकारी ज्ञानी पुरुष द्वारा दिया गया है। २. हे **ओषधे**=दोषों का दहन करनेवाली अपामार्ग ओषधे! तू **त्विषीमती**=दीप्तिवाली **सेना इव एषि**=सेना के समान आती है। जैसे सेना शत्रुओं का सफ़ाया कर देती है, उसी प्रकार तू रोगरूपी शत्रुओं का सफाया करती है। **यत्र**=जहाँ **प्राप्नोषि**=तू प्राप्त होती है **तत्र**=वहाँ **भयं न अस्ति**=रोगों का भय नहीं रहता।

भावार्थ—मनुष्यों का भला चाहनेवाले मेधावी, ज्ञानी पुरुष से उपदिष्ट होकर प्रयुक्त हुई

यह अपामार्ग ओषधि रोग-भय का निवारण कर देती है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पाप-त्राण, रक्षो-हनन

अग्रमेष्योषधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयन्।
उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः ॥ ३ ॥

१. हे अपामार्ग! तू **ज्योतिषा**=अपने तेज से **अभिदीपयन् इव**=रोगकृमिजनित हिंसा-दोषों को दग्ध-सा करता हुआ **ओषधीनाम् अग्रम् एषि**=सब ओषधियों में प्रथम है। २. तू **पाकस्य**=पक्तव्यप्रज्ञ दुर्बल बालक का **त्राता असि**=रक्षक है, **अथ उ**=और निश्चय ही **रक्षसः**=अपने रमण के लिए हमारा क्षय करनेवाले रोगकृमियों का **हन्ता असि**=नष्ट करनेवाला है।

भावार्थ—रोगकृमियों को नष्ट करता हुआ अपामार्ग ओषधियों का सम्राट् है। यह दुर्बल का रक्षण करता है और रोगकृमियों का विनाश करता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अपामार्ग की यथार्थता

यददो देवा असुरांस्त्वयाग्रे निरकुर्वत। ततस्त्वमध्योषधेऽपामार्गो अजायथाः ॥ ४ ॥

१. हे ओषधे! **यत्**=चूँकि **अदः**=उस **दूरस्थ अग्रे**=प्राचीनकाल में **त्वया**=तेरे द्वारा **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषों ने **असुरान्**=(आसून् प्राणन् रिणोति, to kill) प्राणशक्ति को नष्ट करनेवाले रोगकृमियों को **निरकुर्वत**=दूर किया, **ततः**=इस दूर (अप) सफाया करने के कारण (मृज्) **त्वम्**=तू **अधि**=सब ओषधियों के ऊपर **अजायथाः**=हो गया और **अपामार्गः**=तेरा नाम अपामार्ग हुआ (अपमृज्यन्ते असुराः यया)।

भावार्थ—देववृत्ति के ज्ञानी पुरुष अपामार्ग ओषधि से रोगकृमियों का अपमार्जन करते हैं, अतः यह ओषधि सर्वश्रेष्ठ व अपामार्ग नामवाली हो गई है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अपामार्ग=विभिन्दती

विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन्नाम ते पिता।
प्रत्यग्वि भिन्धि त्वं तं यो अस्माँ अभिदासति ॥ ५ ॥

१. हे अपामार्ग ओषधे! **शतशाखा**=अपरिमित शाखाओंवाली होती हुई तू **विभिन्दती**=विभेदनशीला है—रोगों का भेदन करनेवाली है, **ते**=तेरा **पिता**=उत्पादक भी तेरे द्वारा रोगों का भेदन करने के कारण **विभिन्दन्**=विभेदक **नाम**=नामवाला है। २. अतः **त्वम्**=तू **तम्**=उस हमारे शत्रुभूत रोग को **प्रत्यग्**=उसकी ओर जाकर (प्रति अञ्च) उसपर आक्रमण करके **भिन्धि**=विदीर्ण कर, **यः**=जो रोग **अस्मान्**=हमें **अभिदासति**=उपक्षीण करता है। हमारा क्षय करनेवाले इन रोगों को तुझे ही नष्ट करना है।

भावार्थ—रोगों का भेदन करनेवाला अपामार्ग 'विभिन्दती' है। यह हमारा भेदन करनेवाले रोग का भेदन करता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रत्यक् कर्तारम्

असद्भूम्याः समभवत्तद्यामेति महद्व्यचः। तद्वै ततो विधूपायत्प्रत्यक्कर्तारमृच्छतु ॥ ६ ॥

१. हे ओषधे! **तत्**=वह **महत् व्यचः**=तेरा सर्वत्र व्याप्त महान् तेज **याम्**=जिस (भूमिम्) शरीररूप पृथिवी को **एति**=प्राप्त होता है तो **भूम्याः**=उस शरीररूप पृथिवी का रोगजनित हिंसन **असत् समभवत्**=बाधक करनेवाला नहीं होता—वह रोगकृमियों का हिंसनरूप कर्म उस भूमि (शरीर) को पीड़ित नहीं कर पाता। २. **ततः**=वहाँ से—उस हमारे शरीर से **तत्**=वह हिंसनरूप कर्म **वै**=निश्चय से **विधूपायत्**=विशेषरूप से सन्तापकारी होता हुआ **कर्तारम्**=उन पीड़ाकर कृमियों को ही **प्रत्यक् ऋच्छतु**=लौटकर प्राप्त हो। अपामार्ग के प्रयोग से रोगकृमि हमारे शरीर का हिंसन न करके अपना ही हिंसन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—अपामार्ग का व्याप्त तेज रोगकृमियों का हिंसन करता है और हमारे शरीर को हिंसन से बचाता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'शपथ व वध'-निराकरण

प्रत्यङ् हि संबभूविथ प्रतीचीनफलस्त्वम्।
सर्वान्मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया वधम्॥ ७॥

१. हे अपामार्ग! **त्वम्**=तू **हि**=निश्चय से **प्रत्यङ्**=हमारी ओर गतिवाला होता हुआ—हमारे अन्दर प्राप्त होता हुआ **प्रतीचीनफलः**=हमारे विरोधियों का—रोगजनक कृमियों का विशरण (त्रिफला विशरणे) करनेवाला **संबभूविथ**=होता है। तू हमारे शरीरों में प्रविष्ट होकर सब रोगकृमियों को समाप्त कर देता है। २. तू **मत्**=मुझसे **सर्वान्**=सब **शपथान्**=रोगपीड़ा-जनक आक्रोशों का तथा **वधम्**=रोगजनित हिंसन को **वरीयः**=(उरुतरम्) खूब ही—बहुत ही **अधियावय**—आधिक्येन पृथक् कर। तेरे प्रयोग से न तो हमें रोगजनित पीड़ाएँ प्राप्त हों और न ही यह रोग हमें नष्ट करनेवाला हो।

भावार्थ—शरीर में पहुँचकर अपामार्ग रोगकृमियों का विनाश कर देता है और हमें रोगजनित पीड़ाओं व बाधाओं से बचाता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शतेन-सहस्रेण

शतेन मा परि पाहि सहस्रेणाभि रक्ष मा।
इन्द्रस्ते वीरुधां पत उग्र ओज्मानमा दधत्॥ ८॥

१. हे अपामार्ग! तू **शतेन**=सौ वर्षों से पूर्ण जीवन के हेतु से **मा परिपाहि**=मुझे इन रोगकृमियों की कृत्याओं से बचा। **स-हस्रेण**=आनन्दमय जीवन के हेतु से तू **मा अभिरक्ष**=मेरा रक्षण कर। २. हे **वीरुधां पते**=लताओं के स्वामिरूप (मुखिया) अपामार्ग! **उग्रः**=तेजस्वी **इन्द्रः**=प्रभु ने—सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले परमात्मा ने **ते**=तुझमें **ओज्मानम्**=तेजस्विता को **आदधात्**=स्थापित किया है। तेरा तेज रोगकृमियों व रोगों का संहार करनेवाला होता है।

भावार्थ—अपामार्ग में प्रभु ने उस तेज को स्थापित किया है जो रोग-विनाश द्वारा हमें शतवर्ष का आनन्दमय जीवन प्राप्त कराता है।

विशेष—अपामार्ग से व्यक्ति स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मनवाला बनकर 'वेदमाता' के दर्शन करता है। यह वेदमाता इसकी अन्तर्दृष्टि को पवित्र करती है—उसे 'सब लोकों, सब पदार्थों व सब मनुष्यों' को समझने की योग्यता प्राप्त कराती है। इस वेदमाता को अपनानेवाला यह व्यक्ति 'मातृनामा' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—मातृनामा॥ देवता—ओषधिः॥ छन्दः—स्वराडनुष्टुप्॥

सर्वदर्शन

आ प॑श्यति॒ प्रति॑ पश्यति॒ परा॑ पश्यति॒ पश्य॑ति।
दिव॑म॒न्तरि॑क्ष॒माद्भूमिं॒ सर्वं॒ तद्दे॑वि पश्यति॥ १॥

१. 'स्तुता मया वरदा वेदमाता' इन शब्दों में वेद को माता कहा गया है। यह वेदमाता हम पुत्रों के जीवनों को प्रकाशमय करती है, इसी से इसे 'देवी' कहा गया है। हे **देवी**=हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनानेवाली वेदमातः! आपकी कृपा से आपका पुत्र **आ पश्यति**=चारों ओर सब पदार्थों को देखनेवाला बनता है, **प्रतिपश्यति**=यह प्रत्येक पदार्थ को देख पाता है, **परापश्यति**=इस जगत् से परे अलौकिक वस्तुओं (आत्मतत्त्व) को भी देखनेवाला यह बनता है, इसप्रकार यह **पश्यति**=ठीक से देखता है। २. हे देवि! **दिवम्**=द्युलोक को, **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक को **आत् भूमिम्**=और इस भूमि को **तत् सर्वम्**=उस सम्पूर्ण जगत् को **पश्यति**=यह आपका पुत्र आपकी कृपा से देखता है। इस वेदमाता से सब लोक-लोकान्तरों का ज्ञान प्राप्त होता है।

भावार्थ—यह वेदमाता देवी है। यह हमारे लिए सब लोक-लोकान्तरों व पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कराती है।

ऋषिः—मातृनामा॥ देवता—ओषधिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

तिस्रो दिवः, तिस्रः पृथिवीः

ति॒स्रो दिव॑स्ति॒स्रः पृ॑थि॒वीः षट् चे॒माः प्र॒दिशः॒ पृथ॑क्।
त्वया॒हं सर्वा॑ भू॒तानि॒ पश्या॑नि दे॒व्यो॑षधे॥ २॥

१. यह वेदमाता दोषों का दहन करने के कारण 'ओषधि' है (उष् दाहे)। हे **ओषधे**=दोषों का दहन करनेवाली **देवि**=हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनानेवाली वेदमातः! **त्वया**=तेरे द्वारा **अहम्**=मैं **सर्वा**=सब **भूतानि**=भूतों को—ब्रह्माण्ड के निर्माण में कारणभूत 'पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश' को **पश्यानि**=देखता हूँ—इनका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करता हूँ। २. **तिस्रः दिवः**=द्युलोक के 'उत्तम, मध्यम, अधम' तीनों क्षेत्रों को तथा तिस्रः **पृथिवीः**=पृथिवी के भी 'उत्तम, मध्यम, अधम' तीनों भागों को **च**=और **इमाः**=इन **षट्**='पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-ध्रुवा-ऊर्ध्वा' नामक छह **प्रदिशः**=प्रकृष्ट दिशाओं को **पृथक्**=अलग-अलग करके विविक्तरूप में मैं इस वेदमाता के द्वारा देखनेवाला बनाता हूँ।

भावार्थ—वेदमाता के द्वारा द्युलोक व पृथिवीलोक के तीनों विभागों का तथा व्यापक छह दिशाओं का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त होता है।

ऋषिः—मातृनामा॥ देवता—ओषधिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

दिव्य सुपर्ण की कनीनिका

दि॒व्यस्य॑ सु॒प॒र्णस्य॒ तस्य॑ हासि क॒नीनि॑का।
सा भूमि॒मा रु॑रोहिथ व॒ह्यं श्रा॒न्ता व॒धूरि॑व॥ ३॥

१. यह वेदमाता **तस्य**=उस **दिव्यस्य**=देववृत्ति को अपनानेवाले **सुपर्णस्य**=उत्तम पालन व पूर्णात्मक कर्मों में लगे हुए मनुष्य की **ह**=निश्चय से **कनीनिका**=आँख की पुतली **असि**=है, अर्थात् यह सुपर्ण इससे ही सब पदार्थों को देखता है। २. **सा**=वह वेदमाता **भूमिम्**

आरुरोहिथ=हमारी इस शरीर-भूमि का इसप्रकार ओरोहण करती है, **इव**=जैसेकि **श्रान्ता वधूः**=थकी हुई वधू **वह्यम्**=एक सवारी पर आरूढ़ होती है। जब हमारे जीवन में वेदमाता का निवास होता है, उस समय हमारा यह शरीर-रथ ज्ञानदीप्ति से उज्ज्वल हो उठता है। यह वेदमाता इसकी कनीनिका (कन् दीप्तौ)—दीप्त करनेवाली बनती है।

भावार्थ—हम देववृत्ति का बनने का प्रयत्न करें, पालन व पूरणात्मक कर्मों में प्रवृत्त हों तब वेदमाता हमारे जीवन की कनीनिका होगी—इसे दीप्त करनेवाली बनेगी। हमारे शरीर-रथ में इसका आरोहण होगा और यह शरीर-रथ चमक उठेगा।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शूद्र व आर्य का विवेचन

तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत्।
तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः ॥ ४ ॥

१. '**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्**'—इन शब्दों में प्रभु को सहस्राक्ष कहा गया है। इस **सहस्राक्षः देवः**=हजारों आँखोंवाले प्रकाशमय प्रभु ने **ताम्**=उस वेदवाणिरूप माता को **मे**=मेरे **दक्षिणे हस्ते**=दाहिने हाथ में **आदधत्**=स्थापित किया है, इस वेदमाता को मुझे प्राप्त कराया है। २. **तया**=उसके द्वारा **अहम्**=मैं **सर्वं पश्यामि**=समाज के सब व्यक्तियों को ठीकरूप में देख पाता हूँ—**यः च शूद्रः**=जो शूद्र है **उत**=और **आर्यः**=श्रेष्ठ है। इस वेदमाता ने 'शूद्र व आर्य' का ठीक-ठीक लक्षण कर दिया है। उस लक्षण के अनुसार मैं शूद्रों व आर्यों को पृथक्-पृथक् करके जान पाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु सहस्राक्ष हैं। वे वेदवाणी द्वारा हमें भी सब शूद्रों व आर्यों को पृथक्-पृथक् देखने की शक्ति प्रदान करते हैं।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रतिपश्याः 'किमीदिनः'

आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमप गूहथाः।
अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः ॥ ५ ॥

१. हे वेदमातः! तू **रूपाणि**=संसार के सब रूपवान् पदार्थों को **आविष्कृणुष्व**=हमारे लिए प्रकट कर—हमें इन पदार्थों का ठीक-ठीक ज्ञान दे। तू **आत्मानम्**=अपने-आपको **मा अप गूहथाः**=हमसे मत छिपा। हम तेरा दर्शन करें और तेरे द्वारा संसार के सब रूपों को—रूपवान् पदार्थों को समझें। २. हे **सहस्राक्षो**=अनन्त दर्शन-शक्तिवाले प्रभो! **अथ उ**=अब निश्चय से इस वेदमाता के द्वारा **त्वम्**=आप **किमीदिनः**=(किम् इदानीं किम् इदानीम् इति गूढं सञ्चरतः राक्षसान्) 'अब क्या भोगूँ, अब क्या भोगूँ' इसप्रकार स्वार्थ-भोग के लिए औरों को पीड़ित करनेवाले राक्षसों को **प्रतिपश्याः**=(प्रतिदर्शय) एक-एक करके हमें दिखलाइए। इन्हें सम्यक् देखकर हम अपने को इनसे बचा सकें। इनसे हम सदा सावधान रह सकें।

भावार्थ—हम वेदवाणी द्वारा सब रूपवान् पदार्थों व प्राणियों को समझें। हम भोगप्रधान जीवनवाले राक्षसीवृत्ति के पुरुषों को समझकर उनसे अपना रक्षण कर सकें।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'यातुधान व पिशाच' का लक्षण

दर्शय मा यातुधानान्दर्शय यातुधान्यः। पिशाचान्त्सर्वान्दर्शयेति त्वा रभ ओषधे ॥ ६ ॥

१. हे **ओषधे**=दोषों को दहन करनेवाली वेदमातः। मैं **त्वा आरभे**=तेरा आश्रय करता हूँ, तुझे अपनाता हूँ। तू **सर्वान् पिशाचान्**=सब पिशाचों को—औरों का मांस खानेवालों को (पिशितम् अश्नन्ति) **दर्शय इति**=मुझे दिखला, इसलिए मैं तेरा आश्रय लेता हूँ। २. **मा**=मुझे **यातुधानान्**=पीड़ा को आहित करनेवालों को **दर्शय**=दिखा तथा **यातुधान्यः**=इन यातुधानों की पत्नियों को **दर्शय**=दिखा।

भावार्थ—वेद द्वारा हम 'यातुधान, यातुधानी व पिशाचों' के लक्षणों को समझते हुए इनसे बचें।

सूचना—शरीरस्थ कुछ रोगकृमि भी इसप्रकार के हैं, जो शरीर में पीड़ा के कारण बनते हैं। अन्य रोगकृमि मांस को खा जाते हैं और हमें अमांस (दुर्बल, emaciated) कर देते हैं। वेद द्वारा इन्हें समझकर हम अपने को इनका शिकार होने से बचाएँ।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'कश्यप व शुनि' की आँख

क॒श्यप॑स्य चक्षु॑रसि शु॒न्याश्च॑ च॒तुर॑क्ष्याः।
वी॒ध्रे सूर्य॑मिव॒ सर्प॑न्तं॒ मा पि॑शा॒चं ति॒रस्क॑रः ॥ ७ ॥

१. हे वेदवाणि! तू **कश्यपस्य**=ज्ञानी पुरुष की **चक्षुः असि**=आँख है। एक ज्ञानी पुरुष तेरे द्वारा ही अपने कर्त्तव्य-कर्मों को देख पाता है **च**=और **चतुः अक्ष्याः**=चार आँखोंवाली, अर्थात् 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष'—रूप चारों पुरुषार्थों को देखनेवाली **शुन्याः**=(शुन गतौ) विषयों के प्रकाशन में गतिवाली बुद्धि (सरमा=देवशुनी) की तू आँख है। यह बुद्धि तेरे द्वारा ही सब धर्मादि को देख पाती है। २. हे वेदवाणि! तू **वीध्रे**=(विविधम् इन्धन्ते दीप्यन्ते अस्मिन् ग्रहनक्षत्रादीनि इति) अन्तरिक्ष में **सर्पन्तं सूर्यम् इव**=गति करते हुए इस सूर्य की भाँति हमारे हृदयान्तरिक्षों में गति करते हुए **पिशाचम्**=मांस को खा जानेवाले राक्षसीभावों को **मा तिरस्करः**=मत छिपानेवाली हो, अर्थात् तेरे द्वारा इन राक्षसी भावों को हम दूर करनेवाले हों।

भावार्थ—वेदमाता ज्ञानी पुरुष की बुद्धि की आँख के समान है। इसके द्वारा हम हृदयान्तरिक्ष में छिपकर गति करनेवाले राक्षसीभावों को दूर कर पाते हैं।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'यातुधान किमीदि' का उद्ग्रहण (उखाड़ देना)

उद॑ग्रभं परि॒पाणा॑द्यातु॒धानं॒ किमी॒दिन॑म्। तेना॒हं सर्वं॑ पश्याम्यु॒त शू॒द्रमु॒तार्य॑म् ॥ ८ ॥

१. **परिपाणात्**=रक्षण के हेतु से मैंने **किमीदिनम्**='अब क्या भोगूँ, अब क्या भोगूँ' इसप्रकार स्वार्थभोग के लिए औरों को पीड़ित करनेवाले **यातुधानम्**=राक्षसीभाव को **उद् अग्रभम्**=हृदयक्षेत्र से उद्ग्रहीत कर लिया है—इन स्वार्थभावों को नष्ट करके ही तो मैं शुद्ध दृष्टिवाला बन पाता हूँ। २. **तेन**=इन राक्षसीभावों के दूरीकरण से शुद्ध दृष्टि होने से **अहम्**=मैं **सर्वं पश्यामि**=सबको ठीकरूप में देखता हूँ **उत शूद्रम् उत आर्यम्**=चाहे वह शूद्र है या आर्य। मैं शूद्र व आर्यों को पृथक्-पृथक् देख पाता हूँ और शूद्रभावों का परित्याग करके आर्यभावों को ग्रहण करनेवाल बनता हूँ।

भावार्थ—भोगप्रधान परपीड़क भावों को दूर करके हम अपना रक्षण करते हैं। इस रक्षण से शुद्ध दृष्टि बनकर हम शूद्र व आर्यभावों को देखते हुए शूद्रभावों का परित्याग करते हैं और आर्यभावों का ग्रहण करते हैं।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

'अन्तरिक्ष, द्युलोक व भूमि' पर आधिपत्यवाला पिशाच

यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति।
भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्र दर्शय॥ ९॥

१. **यः**=जो राक्षसीभाव **अन्तरिक्षेण पतति**=हृदयान्तरिक्ष से गतिवाला होता है—जो हृदय में उत्पन्न होता है, **यः च**=और जो **दिवम् अतिसर्पति**=मस्तिष्करूप द्युलोक में अतिशयेन गति करता है, **यः**=जो **भूमिम्**=इस शरीररूपी पृथिवीलोक का **नाथम्**=अपने को स्वामी **मन्यते**=मानता है—जो शरीर पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेता है, **तम्**=हमारा मांस ही खा जानेवाले राक्षसीभाव को हे वेदमातः! तू **प्रदर्शय**=दिखला। २. हृदय में उत्पन्न हुआ-हुआ राक्षसीभाव मस्तिष्क में अतिशयेन गतिवाला होता है, मस्तिष्क में वही भाव चक्कर काटने लगता है। इस शरीर पर उसका आतिपत्य-सा स्थापित हो जाता है। हम वेद के द्वारा इन भावों के स्वरूप को समझें और इनसे बचें।

भावार्थ—अशुभवासना हृदय में उत्पन्न होकर मस्तिक में घर कर लेती है और शरीर पर आधिपत्य स्थापित कर लेती है। इसके स्वरूप को समझकर हम इससे बचने के लिए यत्नशील हों।

विशेष—पैशाचिकभावों को दूर करने के लिए आवश्यक है कि हम आहार को सात्त्विक करें। सर्वाधिक सात्त्विक आहार 'गोदुग्ध' है, अतः अगले सूक्त में 'गावः' ही देवता (वर्ण्यविषय) है और गोदुग्ध-सेवन से पवित्र बुद्धिवाला ज्ञानी 'ब्रह्मा' ऋषि है—

अथाष्टमः प्रपाठकः

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'प्रजावतीः पुरुरूपाः' गावः

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः॥ १॥

१. **गावः**=गौएँ **आ अग्मन्**=हमारा लक्ष्य करके आएँ **उत**=और **भद्रम् अक्रन्**=हमारा कल्याण करें। **गोष्ठे**=गोशाला में—गौओं के ठहरने के स्थान में **सीदन्तु**=बैठें और ये गौएँ **अस्मे रणयन्तु**=हमें क्षीर आदि के प्रदान से आनन्दित करें। २. **प्रजावतीः**=उत्तम बछड़ी-बछड़ोंवाली **पुरुरूपाः**=श्वेत, कृष्ण, अरुण आदि अनेक वर्णोंवाली **इह स्युः**=गाएँ हमारे घरों में समृद्ध हों। ये गौएँ **पूर्वीः उषसः**=बहुत उषाकालों तक **इन्द्राय**=उस प्रभु के लिए 'सन्नाय्य व आशिर' आदि हवियों के लिए **दुहानाः**=दुग्ध का दोहन (प्रपूरण) करनेवाली हों। हम गोदुग्ध से घृत प्राप्त करके यज्ञों में आहुति देकर प्रभु के प्रिय बनें।

भावार्थ—हमारे-घरों में गौओं का निवास हो। वे दुग्ध देती हुई हमें आनन्दित करनेवाली हों। गोदुग्ध से यज्ञों को सिद्ध करते हुए हम प्रभु को आराधित करनेवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

यज्वा+गृणन्देवयु का स्वर्णतुल्य गृह

इन्द्रो यज्वने गृणते च शिक्षत उपेद्ददाति न स्वं मुषायति।
भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम्॥ २॥

१. **यज्वने**=यज्ञशील पुरुष के लिए **च**=और **गृणते**=स्तवन करनेवाले मनुष्य के लिए **इन्द्रः**=वे प्रभु **शिक्षते**=गौएँ देते हैं। प्रभु **इत्**=निश्चय से **उपददाति**=इस यजनशील स्तोता के लिए इन गौओं को समीपता से प्राप्त कराते हैं, **स्वं न मुषायति**=प्रभु इस यजनशील के धन का अपहरण नहीं करते। २. प्रभु **भूयः**=अधिक और अधिक ही **अस्य**=इस यज्वा व स्तोता के **रयिम्**=धन को **इत्**=निश्चय से **वर्धयन्**=बढ़ाते हुए इस **देवयुम्**=दिव्यगुणों को अपनाने की कामनावाले पुरुष को **अभिन्ने**=दुःखों से **असंभिन्ने खिल्ये**=वासनाओं से अहत (अनाक्रान्त) स्वर्गलोक में **निदधाति**=स्थापित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु यज्ञशील पुरुष को खूब ही धन प्राप्त कराते हैं। इन धनों के द्वारा यज्ञ करनेवाले इस देवयु पुरुष को प्रभु दुःखों से रहित व वासनाओं से अनाक्रान्त स्वर्गलोक में स्थापित करते हैं—इसका घर स्वर्ग बन जाता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

देवयज्ञ व दक्षिणा की साधनभूत गौएँ

न ता नंशन्ति न दंभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दंधर्षति।
देवांश्च याभिर्यजंते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह॥ ३॥

१. **ताः**=प्रभु से दी गई वे गौएँ **न नशन्ति**=नष्ट नहीं होती हैं, **तस्करः**=चोर **न दभाति**=इन्हें हिंसित नहीं करता। **आसाम्**=इन गौओं का **आमित्रः**=(अमित्रजनितः) शत्रुओं से किया हुआ **व्यथिः**=व्यथाजनक आयुध **न आदधर्षति**=धर्षण नहीं करता—शत्रुओं के अस्त्र इन्हें पीड़ित नहीं करते। २. **च**=और **याभिः**=जिन गौओं के द्वारा **देवान् यजते**=क्षीर आदि हवियों को प्राप्त करके दवेयज्ञ करता है **च**=और **ददाति**=जिन गौओं को दक्षिणा के रूप में देता है, **ताभिः सह**=उन गौओं के साथ यह **गोपतिः**=गौओं की रक्षा करनेवाला यज्ञशील पुरुष **ज्योग् इत्**=निश्चय से चिरकाल तक **सचते**=समवेत होता है—इन गौओं से कभी पृथक् नहीं होता।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष का गौओं के साथ सदा सम्बन्ध रहता है। इनके द्वारा ही वह देवयज्ञ कर पाता है और दक्षिणा देता है। ये गौएँ चोरों और शत्रुओं के अस्त्रों से हिंसित नहीं होतीं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

गोरक्षण का सुप्रबन्ध (गोमांस-भक्षण-निषेध)

न ता अर्वा रेणुकंकाटोऽश्नुते न संस्कृतत्रमुपं यन्ति ता अभि।
उरुगायमभंयं तस्य ता अनु गावो मर्तंस्य वि चंरन्ति यज्वनः॥ ४॥

१. **ताः**=उन गौओं को **अर्वा**=हिंसक **रेणुककाटः**=पादाघात से पार्थिव धूलिका उद्भेदक (कटिभेदनकर्मा) व्याघ्र आदि हिंसक पशु **न अश्नुते**=नहीं प्राप्त होता। **ताः**=वे गौएँ **संस्कृतत्रम्** **अभि**=(संस्कृतत्रश्च पाचकः) भोजन के लिए इनका मांस पकानेवाले का लक्ष्य करके **न उपयन्ति**=नहीं प्राप्त होती हैं। न तो कोई हिंस्र पशु और न ही कोई मांसाहारी इनका विनाश करता है। २. **ताः गावः**=वे गौएँ तो **तस्य यज्वनः**=उस यज्ञशील पुरुष के **उरुगायम्**=विस्तीर्ण गमनवाले—विशाल **अभयम्**=भयरहित देश को **अनु**=लक्ष्य करके **विचरन्ति**=विचरण करती हैं।

भावार्थ—व्याघ्र आदि हिंसक पशुओं से गौओं के रक्षण की व्यवस्था हो। कोई मांसाहारी इनके मांस को न पका सके। इनके विचरण के लिए विशाल भयरहित गोचरभूमियाँ हों।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—गावः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

गौएँ ही ऐश्वर्य हैं

गावो॒ भगो॒ गाव॒ इन्द्रो॑ म इच्छा॒द्गावः॒ सोम॑स्य प्रथ॒मस्य॑ भ॒क्षः।
इ॒मा या गावः॒ स जना॑स॒ इन्द्र॑ इ॒च्छामि॑ हृ॒दा मन॑सा चि॒दिन्द्र॑म्॥ ५॥

१. **गावः**=गौएँ ही **भगः**=पुरुष का धन व सौभाग्य हैं, अतः **इन्द्रः**=प्रभु **मे**=मेरे लिए **गावः इच्छात्**=गौओं की कामना करें—मुझे गौएँ प्राप्त कराएँ। **गावः**=ये गोदुग्ध ही **प्रथमस्य**=मुख्य हवियों में श्रेष्ठ **सोमस्य**=सोम का **भक्षः**=भोजन बनता है। अभिषुत (निचोड़े हुए) सोम को गव्य दूध व दही में मिलकार ही आहुत करते हैं। २. हे **जनासः**=लोगो! **इमाः याः गावः**=ये जो गौएँ हैं **सः (एव)**=वे ही इन्द्र हैं। गौएँ व प्रभु का उपजीव्योपजीवक भाव से तारतम्य-सा है। इन गोदुग्धों ने ही सात्त्विक बुद्धि को जन्म देकर हमें प्रभु-दर्शन कराया है। गोदुग्ध के सेवन से **हृदा**=हृदय से **मनसाचित्**=और निश्चयपूर्वक मन से **इन्द्रम्**=उस इन्द्र को **इच्छामि**=चाहता हूँ। गोदुग्धसेवन सात्त्विकवृत्ति को जन्म देकर हमें प्रभु-प्रवण करता है।

भावार्थ—गौएँ ऐश्वर्य हैं। इनके दुग्ध से मिश्रित सोम की यज्ञों में आहुति होती हैं। इन गोदुग्धों के सेवन से मैं प्रभु-प्रवण वृत्तिवाला—प्रभु की ओर झुकाववाला बनता हूँ।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—गावः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

बृहद् वयः (गोदुग्ध—एक पूर्ण भोजन)

यू॒यं गा॑वो मेदयथा कृ॒शं चि॑दश्री॒रं चि॑त्कृणुथा सु॒प्रती॑कम्।
भ॒द्रं गृ॒हं कृ॑णुथ भद्रवाचो बृ॒हद्वो॒ वय॑ उच्यते स॒भासु॑॥ ६॥

१. हे **गावः**=गौओ! **यूयम्**=तुम **कृशं चित्**=दुर्बल शरीरवाले को भी **मेदयथ**=दूध-दही आदि से आप्यायित करके मोटा बना देती हो। **अश्रीरं चित्**=अश्रीक—अशोभन अङ्गोंवाले पुरुष को भी **सुप्रीकम्**=शोभन अवयवोंवाला **कृणुथ**=करती हो। २. हे **भद्रवाचः**=कल्याणी वाणीवाली गौओ! **गृहं भद्रं कृणुथ**=हमारे घर को कल्याणयुक्त करो। **सभासु**=सभाओं में **वः**=आपका **वयः**=दुग्ध-दधि लक्षण अन्न **बृहत् उच्यते**=खूब ही प्रशंसित होता है। वस्तुतः यह गोदुग्ध व दधिरूप भोजन एक पूर्ण भोजन है।

भावार्थ—गौएँ दूध-दही आदि द्वारा कृश को सबल व अशोभन को शोभन अंगोंवाला बनाती हैं। इनकी वाणी घर को मंगलमय बनाती है। इनका दूध व दही पूर्ण व प्रशस्त भोजन है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—गावः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

शुद्ध चारा व शुद्ध जल

प्र॒जाव॑तीः सू॒यव॑से रु॒शन्तीः॑ शु॒द्धा अ॒पः सु॑प्रपा॒णे पिब॑न्तीः।
मा व॑ स्ते॒न ई॑शत॒ माघशं॑सः॒ परि॑ वो रु॒द्रस्य॑ हे॒तिर्वृ॑णक्तु॥ ७॥

१. हे गौओ! **प्रजावतीः**=उत्तम बछड़ी-बछड़ोंवाली **सूयवसे**=शोभन तृणयुक्त देश में **रुशन्तीः**=चमकती हुई, अर्थात् प्रसन्नता से तृणों को खाती हुई तथा **सुप्रपाणे**=शोभन अवतरण मार्ग से युक्त तालाब आदि में **शुद्धाः**=निर्मल **अपः**=जलों को **पिबन्तीः**=पीती हुई इन **वः**=तुम गौओं को **स्तेनः**=चोर **मा ईशत**=चुराने में समर्थ न हो। २. **अघशंसः**=वधलक्षण पाप की कामनावाला पुरुष भी इन गौओं का ईश न हो। **रुद्रस्य**=ज्वराभिमानी देव का **हेतीः**=आयुध भी **वः**=तुम गौओं को **परिवृणक्तु**=दूर से ही छोड़नेवाला हो, अर्थात् ये गौएँ किसी रोग से भी आक्रान्त न हो जाएँ।

भावार्थ—गौओं को शुद्ध चारा व शुद्ध जल प्राप्त हो। इन्हें न कोई चुरा सके, न मार सके और न ये रोगाक्रान्त हों।

विशेष—गोदुग्धों का प्रयोग करता हुआ यह 'वसिष्ठ'=अत्यन्त उत्तम निवासवाला व 'अथर्वा' स्थिर वृत्तिवाला (न डाँवाडोल) बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

एकवृष राजा

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्।
निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान्रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु॥ १॥

१. राजपुरोहित प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **इन्द्र**=प्रभो! **मे**=मेरे **इमम्**=इस **क्षत्रियम्**=प्रजाओं का क्षतों से त्राण करनेवाले राजा को **वर्धय**=बढ़ाइए। यह कोश—दण्ड आदि से खूब समृद्ध बने। **त्वम्**=आप **इमम्**=इसे **विशाम्**=सब प्रजाओं में **एकवृषम्**=अद्वितीय शक्तिशाली व प्रजाओं पर सुखों का वर्षक **कृणु**=कीजिए। २. **अस्य**=इस राजा के **सर्वान्**=सब **अमित्रान्**=शत्रुओं को **निः अक्ष्णुहि**=निर्गतव्याप्तिवाला—संकुचित प्रभाववाला **कृणुहि**=कीजिए। **तान्**=उन शत्रुओं को **अहम् उत्तरेषु**='मैं उत्कृष्ट होऊँ, मैं उत्कृष्ट होऊँ' इसप्रकार के भावोंवाले संग्रामों में **अस्मै**=इस राजा के लिए **रन्धय**=वशीभूत कीजिए।

भावार्थ—अद्वितीय शक्तिशाली राजा संग्रामों में सब शत्रुओं को पराजित करके प्रजा पर सुखों का सेचन करनेवाला बने।

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

क्षत्रियों में मूर्धन्य

एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य।
वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमान् प्रभो! **इमम्**=इस राजा को **ग्रामे**=जनसमूह में **अश्वेषु गोषु**=घोड़ों में और गौओं में **आभज**=समन्तात् भागी कर। **यः**=जो **अस्य**=इस राजा का **अमित्रः**=शत्रु है **तं निर्भज**=उसे 'ग्राम, अश्व व गौओं' से पृथक् कर। २. **अयं राजा**=यह राजा **क्षत्राणाम्**=क्षत से त्राण करनेवाले कार्यों में **वर्ष्म अस्तु**=शरीर के मुख्य अंग सिर के समान हो। हे **राजेन्द्र**=परमात्मन्! आप **अस्मै**=इसके लिए **सर्वं शत्रुम्**=सब शत्रुओं को **रन्धय**=वशीभूत कीजिए।

भावार्थ—हमारा राजा ग्रामों, घोड़ों व गौओं का अधिपति हो। यह क्षत्रियों में मूर्धन्य हो। सब शत्रुओं को वश में करनेवाला हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

धनानां धनपतिः+विशां विश्पतिः

अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा।
अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य॥ ३॥

१. **अयम्**=यह **राजा**=शासक **धनानां धनपतिः**=धनों का खूब ही स्वामी **अस्तु**=हो। इसका कोश खूब बढ़ा हुआ हो। **अयम्**=यह **विशाम्**=प्रजाओं का **विश्पतिः अस्तु**=उत्तम प्रजापालक हो। २. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमान् प्रभो। **अस्मिन्**=इस राजा में **महि**=महत्त्वपूर्ण **वर्चांसि**=शक्तियों को

धेहि=धारण कीजिए। **अस्य**=इस राजा के **शत्रुम्**=शत्रु को **अवर्चसम् कृणुहि**=नष्ट शक्तिवाला कीजिए।

भावार्थ—राजा का कोश खूब बढ़ा हुआ हो। यह प्रजापालन को मुख्य कार्य जाने। यह शक्तिशाली हो, शत्रुओं को निस्तेज करके यह प्रजा का रक्षण करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सर्वप्रिय राजा

अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं दुहाथां घर्मदुघेइव धेनू।
अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात्प्रियो गवामोषधीनां पशूनाम्॥ ४॥

१. **अस्मै**=इस राजा के लिए **द्यावापृथिवी**=द्युलोक से लेकर पृथिवीलोक तक सारा संसार **भूरि**=खूब ही **वामम्**=सुन्दर, वननीय धन का **दुहाथाम्**=प्रपूरण करे। द्युलोक वृष्टिरूप धन दे तो पृथिवी विविध अन्नों व ओषधियों को प्राप्त करानेवाली हो। ये द्यावापृथिवी इसके लिए इसप्रकार हों **इव**=जैसेकि **घर्मदुघे धेनू**=धारोष्ण दूध (घर्म) देनेवाली गौएँ होती हैं। २. इन धनों से यज्ञों को करता हुआ—लोकरक्षणरूप महान् यज्ञ करता हुआ **अयं राजा**=यह राजा **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु का **प्रियः**=प्रिय **भूयात्**=हो। यज्ञों से वृष्टि करानेवाला यह राजा **गवाम्**=गौ आदि पशुओं का **ओषधीनाम्**=ओषधियों का तथा **पशूनाम्**=सब प्राणियों का **प्रियः**=प्रिय हो।

भावार्थ—राजा धन प्राप्त करके यज्ञशील हो। यही राजा प्रभु का प्रिय होता है। इसके राज्य में वृष्टि आदि के ठीक होने से गौएँ, ओषधियाँ व अन्य प्राणी ठीक स्थिति में होते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु-स्मरण व अपराजय

युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते।
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम्॥ ५॥

१. हे राजन्! **ते**=तेरे साथ **उत्तरावन्तम्**=अतिशयित उत्कर्षवाले **इन्द्रम्**=उस प्रभु को **युनज्मि**=जोड़ता हूँ **येन**=जिस इन्द्र से प्रेरित तेरे सैनिक **जयन्ति**=शत्रुसेना को जीतते हैं, **न पराजयन्ते**=और कभी पराजय को प्राप्त नहीं होते। वस्तुतः प्रभु-स्मरण के साथ चलनेवाला राजा युद्ध में शत्रुओं से कभी पराजित नहीं होता। २. हे राजन्! **त्वा**=तुझे **यः इन्द्रः**=जो प्रभु हैं वे **जनानाम्**=लोगों में **एकवृषम्**=अद्वितीय शक्तिशाली **करत्**=बनाते हैं, **राज्ञाम्**=सब राजाओं में भी अनुपम शक्तिशाली करते हैं, **मानवानाम्**=सब मनुष्यों में वे प्रभु तुझे **उत्तमम्**=सर्वोत्कृष्ट स्थिति में स्थापित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण के साथ संग्राम में चलनेवाला राजा कभी पराजित नहीं होता। यह अनुपम शक्तिशाली व उत्तम बनता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

त्वम् उत्तरः अधरे सपत्नाः

उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन्प्रतिशत्रवस्ते।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा भरा भोजनानि॥ ६॥

१. हे **राजन्**=अपनी प्रजाओं का रञ्जन करनेवाले शासक! **त्वम् उत्तरः**=तू सर्वोत्कृष्ट हो। **ते**=तेरे **सपत्नाः**=शत्रु **अधरे**=निकृष्ट हों—हीनतर स्थिति में हों। **ये के च**=और जो कोई भी **ते**

प्रतिशत्रवः=तेरे प्रति शत्रुत्व का आचरण करनेवाले हों, वे सब अधर-स्थिति में हों। २. **एकवृषः**=अद्वितीय शक्तिशाली **इन्द्रसखा**=प्रभु की मित्रतावाला **जिगीवान्**=शत्रुओं को जीतता हुआ तू **शत्रूयताम्**=शत्रु की भाँति आचरण करनेवाले विरोधियों के **भोजनानि**=भोगसाधन धनों का **आभार**=हरण करनेवाला हो। शत्रुओं को जीतकर उनके धनों को तू अपहृत कर ले।

भावार्थ—प्रभु के साथ मित्रतावाला यह राजा सदा शत्रुओं को पराजित करनेवाला होता है। उनके भोगसाधन धनों का यह अपहरण कर लेता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सिंहप्रतीकः—व्याघ्रप्रतीकः

सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽव बाधस्व शत्रून्।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा खिदा भोजनानि॥ ७॥

१. **सिंहप्रतीकः**=सिंहतुल्य पराक्रमवाला, सिंह-शरीर होता हुआ तू आज्ञामात्र से **सर्वाः विशः**=सब प्रजाओं को **अद्धि**=खानेवाला बन, अर्थात् तू उनसे कररूप उचित धन प्राप्त करनेवाला बन। कोई भी व्यक्ति कुछ भी कर न देनेवाला न हो। श्रमिक भी तीस दिन में एक दिन अवैतनिक राजकार्य करे। २. **व्याघ्रप्रतीकः**=व्याघ्र-शरीर होता हुआ—व्याघ्र की भाँति आक्रमण करके **शत्रून्**=शत्रुओं को **अवबाधस्व**=राष्ट्र की सीमाओं से दूर ही रख। ३. **एकवृषः**=अद्वितीय शक्तिशाली होता हुआ **इन्द्रसखा**=प्रभुरूप मित्रवाला **जिगीवान्**=शत्रुओं को जीतता हुआ **शत्रूयताम्**=शत्रुवत् आचरण करते पुरुषों के भोजननानि=भोग-साधन धनों को **आखिद**=छिन्न करनेवाला—अपहृत करनेवाला हो।

भावार्थ—राजा सिंह के समान प्रभावशाली शरीरवाला होता हुआ राष्ट्र में उचित करों को लेनेवाला बने, व्याघ्र के समान आक्रमण करके शत्रुओं को राष्ट्र की सीमा से दूर ही रक्खे।

विशेष—इस सुरक्षित, सुव्यवस्थित राष्ट्र में साधनामय जीवन बिताता हुआ व्यक्ति आत्मान्वेषण करनेवाला (मृग) सब दोषों को दूर करने के लिए गतिशील (अरः, ऋ गतौ) बनता है। यह 'मृगार' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मृगारः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'प्रथम-प्रचेता-पाञ्चजन्य' प्रभु

अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य बहुधा यमिन्धते।
विशोविशः प्रविशिवांसमीमहे स नो मुञ्चत्वंहसः॥ १॥

१. मैं **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु का **मन्वे**=मनन व चिन्तन करता हूँ जोकि **प्रथमस्य**=सर्वमुख्य व सर्वव्यापक हैं (प्रथ विस्तारे), **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले—सर्वज्ञ हैं और **पाञ्जन्यस्य**=पञ्चजनों का हित करनेवाले हैं। 'पञ्च यज्ञशील जन' पञ्चजन हैं। ये प्रभु को सदा प्रिय होते हैं। उस प्रभु का मैं मनन करता हूँ **यम्**=जिसे **बहुधा**=अनेक प्रकार से—नानाविध यत्नों से **इन्धते**=साधक लोग अपने हृदयदेश में दीप्त करते हैं। २. **विशः विशः प्रविशिवांसम्**=सब प्रजाओं में प्रविष्ट हुए-हुए उस प्रभु को **ईमहे**=हम प्रार्थित करते हैं। **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **अंहसः**=सब अनर्थों के कारण पाप से **मुञ्चतु**=मुक्त करें—वे प्रभु हमें पापों से छुड़ाएँ।

भावार्थ—हम उस प्रभु का स्मरण करें जोकि 'अग्नि, प्रथम, प्रचेता व पाञ्चजन्य' हैं। हम सबके अन्दर वे प्रभु रह रहे हैं। उन्हीं से हम आराधना करते हैं कि वे हमें पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हव्य-यज्ञ-सुमति

यथा॑ ह॒व्यं वह॑सि जातवेदो॒ यथा॑ य॒ज्ञं क॒ल्पय॑सि प्रजा॒नन्।
ए॒वा दे॒वेभ्यः॑ सुम॒तिं न॒ आ व॑ह॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः॥ २॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञः, सर्वव्यापक प्रभो! (जातं जातं वेत्ति, जाते जाते विद्यते वा) **यथा**=जैसे **हव्यं वहसि**=आप हमारे लिए हव्य—यज्ञिय-पवित्र पदार्थों को प्राप्त कराते हो और **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले होते हुए आप **यथा**=जैसे **यज्ञं कल्पयसि**=हमारे जीवनों में यज्ञ को सिद्ध करते हैं **एव**=इसीप्रकार **देवेभ्यः**=माता-पिता व आचार्यरूप देवों से **नः**=हमारे लिए **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **आवह**=प्राप्त कराइए। २. इसप्रकार हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हुए—हमारे यज्ञों को सिद्ध करते हुए तथा सुमति को प्राप्त कराते हुए **सः**=वे आप **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतु**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु हमें पवित्र यज्ञिय पदार्थों को प्राप्त कराएँ। प्रभु हमारे यज्ञों को सिद्ध करें। प्रभु हमें उत्तम माता-पिता व आचार्यों से सुमति प्राप्त कराएँ। इसप्रकार प्रभु हमें पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताज्ज्योतिष्मतीत्रिष्टुप्** ॥

रक्षोहणं, यज्ञवृधं, घृताहुतम्

याम॑न्याम॒न्नुप॑युक्तं॒ वहि॑ष्ठं॒ कर्म॑न्कर्म॒न्नाभ॑गम्।
अ॒ग्निमी॑डे र॒क्षो॒हणं॑ यज्ञ॒वृधं॑ घृ॒ताहु॑तं॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः॥ ३॥

१. **यामन् यामन्**=जीवन के प्रत्येक मार्ग में—ज्ञान-भक्ति व कर्मप्रधान सभी मार्गों में **उपयुक्तम्**=उपयुक्त, अर्थात् ज्ञानियों को ज्ञान प्राप्त करानेवाले, भक्तों की वृत्ति को उत्तम बनानेवाले व यज्ञादि कर्मों को सिद्ध करनेवाले उस **वहिष्ठम्**=वोढृतम—लक्ष्य-स्थान तक पहुँचानेवाले, **कर्मन् कर्मन्**=प्रत्येक कर्म में **आभगम्**=उपासनीय, अर्थात् कर्मों के द्वारा ही जिसकी उपासना होती है, उस **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **ईडे**=मैं उपासित करता हूँ। २. उस प्रभु की उपासना करता हूँ जोकि **रक्षोहणम्**=राक्षसी वृत्तियों का संहार करनेवाले हैं, **यज्ञवृधम्**=हमारे यज्ञों का वर्धन करनेवाले हैं और **घृताहुतम्**=(घृ दीप्तौ) ज्ञान-दीप्तियों द्वारा हृदयदेश में आहुत (दीप्त) होते हैं। सब यज्ञ प्रभु द्वारा ही पूर्ण किये जाते हैं तथा ज्ञानाग्नि को दीप्त करने पर ही प्रभु का हृदय में दर्शन होता है। **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतु**=मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से ही हमें सर्वत्र सफलता मिलती है, प्रभु ही हमें लक्ष्यस्थान पर पहुँचाते हैं, ये प्रभु ही हमारे कर्मों को पूर्ण करते हैं, राक्षसी वृत्तियों को नष्ट करके प्रभु ही हममें यज्ञों का वर्धन करते हैं। ज्ञान-दीप्ति से हृदय में द्योतित ये प्रभु हमें पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'वैश्वानर विभु, हव्यवाट्' प्रभु

सु॒जातं॑ जा॒तवे॑दसम॒ग्निं वै॑श्वान॒रं वि॒भुम्। ह॒व्य॒वाहं॑ हवामहे॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः॥ ४॥

१. **सुजातम्**=उत्तम प्रादुर्भाववाले—सर्वत्र अपनी महिमा से व्यक्त होनेवाले **जातवेदसम्**=सर्वव्यापक, सर्वज्ञ **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **हवामहे**=हम पुकारते हैं। २. हम उस प्रभु को पुकारते हैं जोकि **वैश्वानरम्**=सब नरों का—उन्नति-पथ पर चलनेवाले व्यक्तियों का हित करनेवाले हैं, **विभुम्**=सर्वव्यापक हैं और **हव्यवाहम्**=सब हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। **सः**=वे प्रभु

नः=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतु**=मुक्त करें।

भावार्थ—वह 'सुजात, जातवेदा, वैश्वानर, विभु, हव्यवाट्' अग्नि हमें पापों से मुक्त करे।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

बलद्योतन+माया-हनन+पणि-पराजय

येन ऋषयो बलमद्योतयन्युजा येनासुराणामयुवन्त मायाः।
येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय स नो मुञ्चत्वंहसः॥ ५॥

१. **येन युजा**=जिस मित्र के द्वारा—जिससे युक्त होकर **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **बलम् अद्योतयन्**=अपने बल को द्योतित करते हैं और **येन**=जिसके द्वारा **असुराणाम्**=असुर वृत्तियों की **मायाः**=व्यामोहन शक्तियों को **अयुवन्त**=देव लोग अपने से पृथक् करते हैं और **येन अग्निना**=जिस अग्रणी प्रभु के द्वारा **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **पणीन् जिगाय**=वणिक् वृत्तियों को—कृपणता के भावों को जीतता है, **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतु**=मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु मित्रता में बल की वृद्धि होती है, असुरभाव हमें मोहित नहीं कर पाते, हम कार्पण्य से दूर रहते हैं। इसप्रकार प्रभु-मित्रता हमें पापों से बचाती है।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

नीरोगता, माधुर्य, प्रकाश

येन देवा अमृतमन्वविन्दन्येनौषधीर्मधुमतीरकृण्वन्।
येन देवाः स्व१राभरन्त्स नो मुञ्चत्वंहसः॥ ६॥

१. **येन**=जिस प्रभु के द्वारा **देवाः**=देववृत्ति के लोग **अमृतम्**=पूर्ण नीरोगता को **अन्वविन्दन्**=क्रमशः प्राप्त करते हैं, **येन**=जिसके द्वारा **ओषधीः**=सब ओषधियों, वनस्पतियों को **मधुमती अकृण्वन्**=अत्यन्त माधुर्यवाला कर लेते हैं। प्रभु की उपासना होने पर मनुष्यों की वृत्तियाँ उत्तम बनती हैं तब आधिदैविक कष्ट नहीं होते। वृष्टि आदि के ठीक होने से सब ओषधियाँ मधुर रसयुक्त होती हैं। **येन**=जिसके द्वारा **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **स्वः**=अपने हृदय में प्रकाश को **आभरन्**=भरते हैं, **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतु**=मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में देव नीरोगता प्राप्त करते हैं, ओषधियों को माधुर्ययुक्त कर पाते हैं और अपने हृदयों में प्रकाश पाते हैं। ये प्रभु हमें भी पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्तौमि+जोहवीमि

यस्येदं प्रदिशि यद्विरोचते यज्जातं जनितव्यं च केवलम्।
स्तौम्यग्निं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः॥ ७॥

१. **इदम्**=यह सम्पूर्ण जगत् **यस्य प्रदिशि**=जिस अग्नि के प्रशासन में है, **यत् विरोचते**=जो ये ग्रह-नक्षत्रादि अन्तरिक्ष में चमकते हैं **च**=और **यत्**=जो **जातम्**=इस पृथिवी पर उत्पन्न हुआ है और **जनितव्यम्**=भविष्य में उत्पन्न होनेवाला है, वह **केवलम्**=अनन्य साधारणरूप से जिसके प्रशासन में है, मैं उस **अग्निं स्तौमि**=अग्नि की स्तुति करता हूँ। २. **नाथितः**=(नाथ उपतापे, Harsh, trouble) वासनाओं से उपतप्त हुआ-हुआ मैं उस प्रभु को ही **जोहवीमि**=पुकारता हूँ। **सः**=वे प्रभु ही **नः**=हमें **अंहसः मञ्चतु**=पाप से मुक्त करें—मेरी शक्ति तो इन काम-क्रोध आदि को जीत सकने की नहीं है।

भावार्थ—प्रभु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक हैं। मैं प्रभु का ही स्तवन करता हूँ। शत्रुओं से

सन्तप्त किया गया मैं प्रभु को ही पुकारता हूँ। वे प्रभु मुझे पापों से मुक्त करें।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'मृगार' ही है—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**शक्वरीगर्भापुरःशक्वरी** ॥

दाश्वान् सुकृत्

इन्द्रस्य मन्महे शश्वदिदस्य मन्महे वृत्रघ्न स्तोमा उप मेम आगुः।
यो दाशुषः सुकृतो हवमेति स नो मुञ्चत्वंहसः॥ १॥

१. **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्ययुक्त उस प्रभु का **मन्महे**=हम मनन करते हैं—प्रभु की महिमा का स्मरण करते हैं, **शश्वत्**=पुनः-पुनः **अस्य**=इस प्रभु का **इत्**=ही **मन्महे**=ध्यान करते हैं। **वृत्रघ्नः**=ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश करनेवाले उस इन्द्र के **इमे**=ये **स्तोमाः**=स्तोत्र **मा**=मुझे **उप आगुः**=समीपता से प्राप्त होते हैं। २. **यः**=जो प्रभु **दाशुषः**=यज्ञों में हवि देनेवाले—दानशील **सुकृतः**=पुण्यकर्मा पुरुष की **हवम्**=पुकार को सुनकर **एति**=प्राप्त होते हैं, **सः नो अंहसः मुञ्चतु**=वे प्रभु हमें पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—हम सदा वासना के विनाशक प्रभु का स्तवन करते हैं। दानशील पुण्यात्मा की पुकार को प्रभु अवश्य सुनते हैं। वे प्रभु हमें पाप से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

येन जितः सिन्धवः, येन गावः

य उग्रीणामुग्रबाहुर्ययुर्यो दानवानां बलमारुरोज।
येन जिताः सिन्धवो येन गावः स नो मुञ्चत्वंहसः॥ २॥

१. **यः**=जो **उग्रबाहुः**=उद्गूर्णहस्त—तेजस्वी भुजाओंवाला प्रभु **उग्रीणाम्**=उद्गूर्ण—प्रबल शत्रुसेनाओं का **ययुः**=आक्रान्ता है—शत्रुसेनाओं पर आक्रमण करके उन्हें पराजित करनेवाला है। **यः**=जो प्रभु **दानवानाम्**=राक्षसी वृत्तिवालों के **बलम् आरुरोज**=सैन्य का भंग करता है—या सामर्थ्य को नष्ट करता है। २. **येन**=जिस प्रभु के द्वारा हमारे लिए **सिन्धवः**=नदियों को **जिता**=विजय किया जाता है और **येन**=जिस प्रभु से **गावः**=भूमि का विजय किया जाता है। अध्यात्म में **सिन्धवः**=स्यन्दशील रेतःकण हैं तथा **गावः**=ज्ञान की वाणियाँ हैं। प्रभु ही हमारे लिए इन रेतःकणों के रक्षण के द्वारा बुद्धि को तीव्र करके ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराते हैं। **सः नः अंहसः मुञ्चतु**=वे प्रभु हमें पापों से मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु हमारे प्रबल शत्रुसैन्य पर आक्रमण करते हैं, दानवों के बल का भंग करते हैं। ये प्रभु ही हमारे लिए नदियों और भूमियों का विजय करते हैं। वे प्रभु हमें पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

चर्षणिप्रः, वृषभः, स्वर्वित्

यश्चर्षणिप्रो वृषभः स्वर्विद्यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति नृम्णम्।
यस्याध्वरः सप्तहोता मदिष्ठः स नो मुञ्चत्वंहसः॥ ३॥

१. **यः**=जो प्रभु **चर्षणिप्रः**=मनुष्यों को अभिमत फलदान से प्रपूरित करनेवाले हैं, **वृषभः**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं, **स्वर्वित्**=प्रकाश (सुख) को प्राप्त करानेवाले हैं,

ग्रावाणः=(विद्वांसः—शत० ३.९.३.१४) ज्ञानी स्तोता **यस्मै**=जिसकी प्राप्ति के लिए **नृम्णम्**=बल (Strength) को साधन रूप से **प्रवदन्ति**=कहते हैं। २. **यस्य**=जिस प्रभु का **सप्तहोताः**='कर्णाविमौ' नासिके चक्षणी मुखम् [नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः] इन सात होताओं से चलाया जानेवाला **अध्वरः**=यह जीवन-यज्ञ **मदिष्ठः**=अतिशयेन आनन्दित करनेवाला है। जीवन को यज्ञ का रूप देते ही वह आनन्दमय बन जाता है। प्रभु ने वस्तुतः यह दिया तो इसीलिए है। **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतु**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—वे प्रभु हमारे अभिलषितों को पूर्ण करनेवाले, सुखों के वर्षक व प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं। सबलता ही प्रभु-प्राप्ति का साधन है। हम जीवन को यज्ञमय बनाकर प्रभु के प्रिय बनते हैं। वे प्रभु हमें पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वशासः, ऋषभासः, उक्षणः

यस्य॑ व॒शास॑ ऋष॒भास॑ उ॒क्षणो॒ यस्मै॑ मी॒यन्ते॒ स्वर॑वः स्व॒र्विदे॑।
यस्मै॑ शु॒क्रः पव॑ते ब्रह्मशु॒म्भित॒: स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ ४ ॥

१. **यस्य**=जिस प्रभु के व्यक्ति वे हैं जोकि **वशासः**=(वश् to shine) ज्ञान-दीप्ति से चमकते हैं, **ऋषभासः**=(ऋष् to kill) ज्ञानाग्नि द्वारा शत्रुओं का संहार करते हैं और **उक्षणः**=अपने में शक्ति का सेचन करते हैं। **यस्मै**=जिस **स्वर्विदे**=सुख व प्रकाश प्राप्त करानेवाले प्रभु की प्राप्ति के लिए **स्वरवः**=यज्ञ (a sacrifice) **मीयन्ते**=किये जाते हैं। २. **यस्मै**=जिस प्रभु की प्राप्ति के लिए **ब्रह्मशुम्भितः**=ज्ञान के द्वारा अलंकृत किया हुआ—स्वाध्याय की वृत्ति के द्वारा वासना-मल से शून्य किया हुआ **शुक्रः**=वीर्य **पवते**=शरीर में ही गतिवाला होता है, **सः**=वह प्रभु **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतु**=पाप से पृथक् करे।

भावार्थ—प्रभु को वे प्राप्त होते हैं जो अपने को ज्ञान दीप्त करें, ज्ञानाग्नि में वासनाओं को दग्ध करें, अपने अन्दर शक्ति का सेचन करें व यज्ञशील हों। स्वाध्याय द्वारा वीर्यशक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करते हुए हम प्रभु के प्रिय बनें। प्रभु हमें पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अर्कः, ओजः

यस्य॒ जुष्टिं॑ सो॒मिन॑: का॒मय॑न्ते॒ यं हव॑न्त॒ इषु॑मन्तं॒ गवि॑ष्टौ।
यस्मि॑न्न॒र्कः शि॑श्रि॒ये यस्मि॒न्नोज॒: स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ ५ ॥

१. **सोमिनः**=सोम का (वीर्यशक्ति का) अपने अन्दर रक्षण करनेवाले संयमी पुरुष **यस्य**=जिस प्रभु की **जुष्टिम्**=प्रीतिपूर्वक उपासना को **कामयन्ते**=चाहते हैं, **यम्**=जिस **इषुमन्तम्**=(इष प्रेरणे) उत्कृष्ट प्रेरणा देनेवाले प्रभु को **गविष्टौ**=ज्ञान यज्ञों में **हवन्ते**=पुकारते हैं। प्रभु-प्रेरणा ही वस्तुतः अन्तर्ज्ञान का स्रोत बनती है। २. **यस्मिन्**=जिस प्रभु में **अर्कः**=ज्ञान का सूर्य **शिश्रिये**=आश्रय करता है, **यस्मिन् ओजः**=जिसमें बल आश्रय करता है—प्रभु ही सम्पूर्ण ज्ञान और बल के कोश हैं। **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतु**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—सोमरक्षण करनेवाला संयमी पुरुष प्रभु का प्रीतिपूर्वक सेवन करता है, ज्ञान-यज्ञों में इस प्रभु को ही पुकारता है। वे ही ज्ञान व बल के कोश हैं। वे प्रभु हमें ज्ञान और बल देकर पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सर्वकर्त्ता सर्वशक्तिमान्' प्रभु

यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे यस्य वीर्यं प्रथमस्यानुबुद्धम्।
येनोद्यतो वज्रोऽभ्यायताहिं स नो मुञ्चत्वंहसः॥ ६॥

१. **यः**=जो **प्रथमः**=सर्वप्रमुख व सर्वव्यापक (प्रथ विस्तारे) प्रभु **कर्मकृत्याय**=सृष्टि रचनादि कर्मों को करने के लिए **जज्ञे**=प्रादुर्भूत हुए हैं। सृष्टि के बनने से पहले विद्यमान होते हुए जो सृष्टि का निर्माण करते हैं। **यस्य प्रथमस्य**=जिस सर्वव्यापक, सर्वाग्रणी प्रभु का **वीर्यम्**=पराक्रम **अनुबुद्धम्**=प्रत्येक पदार्थ के बोध में जाना गया है। सूर्यादि पिण्डों के अन्दर प्रभु की शक्ति ही तो कार्य कर रही है। २. **येन**=जिस प्रभु से **उद्यतः**=उठाया हुआ **वज्रः**=वज्र **अहिम्**=वासनारूप शत्रु के **अभि आयत**=प्रति गतिवाला होता है। प्रभु ही उपासक के शत्रुभूत काम का हनन करते हैं, **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतु**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु सृष्टि से पहले होते हुए सृष्टिरूप कर्म करते हैं। सूर्यादि पिण्डों में प्रभु का पराक्रम ही दृष्टिगोचर हो रहा है। प्रभु ही उपासक की शत्रुभूत वासना को नष्ट करते हैं। ये प्रभु हमें पाप से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'संग्राम-नेता, गृहप्रणेता' प्रभु

यः संग्रामान्नयति सं युधे वशी यः पुष्टानि संसृजति द्वयानि।
स्तौमीन्द्रं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः॥ ७॥

१. **यः**=जो प्रभु **वशी**=सबको वश में करनेवाले हैं और **युधे**=संहार के लिए **संग्रामान् सं नयति**=संग्रामों को सम्यक् प्राप्त कराते हैं। **यः**=जो प्रभु **पुष्टानि**=शक्ति से खूब समृद्ध **द्वयानि**=स्त्री-पुंपात्मक मिथुनों को **संसृजति**=परस्पर संसृष्ट करते हैं, उन **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् परमैश्वर्यशाली प्रभु को **स्तौमि**=मैं स्तुत करता हूँ। २. **नाथितः**=वासनाओं से उपतप्त हुआ-हुआ उस प्रभु को ही **जोहवीमि**=पुकारता हूँ। **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतु**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु ही संग्रामों में हमसे युद्ध कराते हैं। प्रभु ही हमें उत्तम सन्तानों को जन्म देने योग्य बनाते हैं। हम प्रभु का स्मरण करते हैं, प्रभु को ही पुकारते हैं। वे हमें पापमुक्त करें।

अगला सूक्त भी 'मृगार' ऋषि का ही है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**वायुसवितारौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'वायु व सूर्य' का यथोचित सेवन

वायोः सवितुर्विदथानि मन्महे यावात्मन्वद्विशथो यौ च रक्षथः।
यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥ १॥

१. **वायोः**=(वा गतिगन्धनयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले वायुतत्त्व के तथा **सवितुः**=सबको कार्यों में प्रेरित करनेवाले सविता—सूर्यदेव के **विदथानि**=वेदितव्य श्रुतिविहित कर्मों का **मनामहे**=हम मनन करते हैं। श्रुति में वायु व सूर्य के विषय में जो ज्ञान दिया गया है तथा उनके सेवन का जो प्रकार बताया गया है, उसे हम सम्यक् समझने का प्रयत्न करते हैं। **यौ**=जो वायु और सूर्य **आत्मन्वत्**=आत्मावाले स्थावर-जंगम जगत् में **विशथः**=प्रवेश

करते हैं। वायु प्राणरूप से नासिका में प्रवेश करती है तो सूर्य चक्षु बनकर आँखों में प्रवेश करता है **च**=और इसप्रकार शरीर में प्रवेश करके **यौ**=जो वायु और सूर्य **रक्षथ:**=सबका रक्षण करते हैं। २. **यौ:**=जो दोनों वायु और सूर्य **विश्वस्य**=सम्पूर्ण जगत् के **परिभू**=परिग्रहीता **बभूवथु:**=होते हैं **तौ**=वे दोनों **न:**=हमें **अंहस:**=पापों व कष्टों से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें। वायु व सूर्य का सेवन शरीर को नीरोग बनाकर हमें स्वस्थ मनवाला बनाता है। इसप्रकार ये हमें पापों से मुक्त करते हैं।

भावार्थ—वायु व सूर्य का ठीक ज्ञान प्राप्त करके उनके यथोचित सेवन से हम स्वस्थ शरीर व स्वस्थ्य मनवाले बनते हैं और इसप्रकार ये वायु और सूर्य हमें पापवृत्ति से बचाते हैं।

ऋषि:—**मृगार:** ॥ देवता—**वायुसवितारौ** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

रज: युपितम् अन्तरिक्षे

ययो: संख्याता वरिमा पार्थिवानि याभ्यां रजो युपितमन्तरिक्षे।
ययो: प्रायं नान्वानशे कश्चन तौ नो मुञ्चतमंहस: ॥ २ ॥

१. **ययो:**=जिन वायु और सूर्य के **पार्थिवानि**=पृथिवी पर होनेवाले **वरिमा**=महत्त्वपूर्ण कार्य **संख्याता**=लोगों से सम्यक् आख्यात होते हैं—कहे जाते हैं। पृथिवी से उत्पन्न होनेवाले सब वनस्पति वायु व सूर्य की महिमा से ही विकसित होते हैं। **याभ्याम्**=जिन वायु व सूर्य के द्वारा **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में **रज:**=वृष्टि का कारणभूत उदक **युपितम्**=मूर्च्छित हुआ-हुआ धारण किया जाता है २. **ययो:**=जिन वायु और सूर्य के **प्रायम्**=प्रकृष्ट गमन को **कश्चन**=कोई अन्य देव **न अन्वानशे**=अनुगमन करने के लिए समर्थ नहीं होता **तौ**=वे वायु व सूर्यदेव **न:**=हमें **अंहस: मुञ्चतम्**=पाप व कष्टों से मुक्त कर दें।

भावार्थ—वायु व सूर्य के महत्त्वपूर्ण कार्य इस पृथिवी पर दृष्टिगोचर होते हैं। इन्हीं के द्वारा अन्तरिक्ष में जल मेघरूप से धारण किया जाता है। इनकी प्रकृष्ट गति अन्य सब देवों को लाँघ जाती है। ये देव हमें पापों से मुक्त करें।

ऋषि:—**मृगार:** ॥ देवता—**वायुसवितारौ** ॥ छन्द:—**अतिशक्वरी** ॥

सूर्य के व्रत में

तव व्रते नि विशन्ते जनासस्त्वय्युदिते प्रेरते चित्रभानो।
युवं वायो सविता च भुवनानि रक्षथस्तौ नो मुञ्चतमंहस: ॥ ३ ॥

१. हे सवित:! **जनास:**=लोग **तव व्रते**=तेरे साथ सम्बद्ध तेरे परिचरणात्मक कर्म में **निविशन्ते**=नियम से प्रवृत्त होते हैं, अत: हे **चित्रभानो**=अद्भुत दीप्तिवाले सूर्य! **त्वयि उदिते**=तेरे उदित होने पर लोग **प्रेरते**=प्रकृष्ट गतिवाले होते हैं। सूर्योदय हुआ और सब प्राणी अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त होते हैं। २. हे **वायो**=वायुदेव! **च**=और **सविता**=सूर्य **युवम्**=तुम दोनों **भुवनानि रक्षथ:**=सब भुवनों का—भूतजात का, प्राणिमात्र का रक्षण करते हो। **तौ**=वे वायु व सूर्य दोनों **न:**=हमें **अंहस: मुञ्चतम्**=पाप से छुड़ाएँ।

भावार्थ—सब प्राणी सूर्य के व्रत में स्थित होते हैं, सूर्योदय होने पर अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। वायु और सूर्य हमारा रक्षण करते हैं। ये हमें पाप से बचाएँ।

ऋषि:—**मृगार:** ॥ देवता—**वायुसवितारौ** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

सं ऊर्जया, सं बलेन

अपेतो वायो सविता च दुष्कृतमप रक्षांसि शिमिदां च सेधतम्।
सं ह्यू३र्जया सृजथ: सं बलेन तौ नो मुञ्चतमंहस: ॥ ४ ॥

१. हे **वायो**=वायुदेव! तू **च**=और **सविता**=सूर्यदेव **दुष्कृतम्**=हमारे पाप को **अप इतः**=अपगत करते हो। हे वायो और सूर्य! आप दोनों **रक्षांसि**=रोगकृमियों को व राक्षसीभावों को **च**=और **शिमिदाम्**=(कर्म—नि० २.१, दा लवने) कर्म का खण्डन करनेवाली आलस्यवृत्ति को **अपसेधतम्**=दूर करते हो। २. हे वायु और सूर्य! आप हमें **ऊर्जया**=अन्न-रस से जनित पुष्टि के साथ **संसृजथः**=संसृष्ट करते हो और **हि**=निश्चय से आप हमें **बलेन संसृजथः**=बल से युक्त करते हो। **तौ**=वे आप दोनों **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करो।

भावार्थ—वायु और सूर्य दुष्कृतों को, राक्षसीभावों को तथा आलस्य वृत्तियों को दूर करते हैं। ये हमें पुष्टि और बल प्राप्त कराके पाप से बचाते हैं।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**वायुसवितारौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रयिं महः

रयिं मे पोषं सवितोत वायुस्तनू दक्षमा सुवतां सुशेवम्।
अयक्ष्मतातिं मह इह धत्तं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥

१. **सविता उत वायुः**=सूर्य और वायुदेव **मे**=मेरे लिए **रयिम्**=स्वास्थ्यरूप धन को तथा **पोषम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग की पुष्टि को **सुवताम्**=उत्पन्न करें तथा **तनू**=मेरे शरीर में **सुशेवम्**=उत्तम सुख देनेवाले **दक्षम्**=बल को **आ सुवताम्**=समन्तात् प्रेरित करें। २. तथा हे वायु व सवितादेवो! **अयक्ष्मतातिम्**=नीरोगता को **महः**=तेज को **इह**=यहाँ—यज्ञशील पुरुष के शरीर में **धत्तम्**=धारण करो और **तौ**=वे वायु और सूर्य दोनों देव **नः**=हमें **अंहसः**=पाप और कष्ट से **मञ्चतम्**=मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**वायुसवितारौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सुमति व सोम-संरक्षण

प्र सुमतिं सवितर्वाय ऊतये महस्वन्तं मत्सरं मादयाथः।
अर्वाग्वामस्य प्रवतो नि यच्छतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

१. हे **सवितः वायो**=सूर्य और वायो! आप दोनों **ऊतये**=रक्षा के लिए **सुमतिम्**=कल्याणी मति (बुद्धि) को **प्र (यच्छतम्)**=दीजिए। हमारे शरीरों में **महस्वन्तम्**=दीप्तिवाले **मत्सरम्**=हर्ष के जनक सोम (वीर्यशक्ति) को **मादयाथः**=पिलाकर आनन्द प्राप्त कराओ। २. इस **वामस्य**=वननीय, सुन्दर व सेवनीय **प्रवतः**=प्रकर्ष को प्राप्त करनेवाली सोम-सम्पत् को **अर्वाग्**=अस्मदभिमुख—हमारे शरीरों के अन्दर ही **नियच्छतम्**=नियमन करो और इसप्रकार **तौ**=वे वायु और सूर्य **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=छुड़ा दें।

भावार्थ—वायु और सूर्य के सम्पर्क में रहना हमारी बुद्धि को उत्तम करे तथा सोम (वीर्य) को हमारे शरीरों में ही सुरक्षित करके हमें तेजस्वी व आनन्दयुक्त बनाए। इसप्रकार हमारा जीवन निष्पाप हो।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**वायुसवितारौ** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

देवयोः धामन्

उप श्रेष्ठा न आशिषो देवयोर्धामन्नस्थिरन्।
स्तौमि देवं सवितारं च वायुं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

१. **नः**=हमारी **श्रेष्ठः आशिषः**=उत्तम आकांक्षाएँ **देवयोः**=वायु व सूर्यदेव के **धामन्**=तेज में **उपास्थिरन्**=हमें उपस्थित करें—स्थिर करें। हम सदा सूर्य और वायु के सम्पर्क में जीवन बिताते हुए तेजस्वी बनें और हमारी इच्छाएँ शुभ बनी रहें, अर्थात् हमें इन दोनों देवों के सम्पर्क

में शरीर व मन दोनों का स्वास्थ्य प्राप्त हो। २. मैं **देवम्**=दिव्य गुणों से युक्त **सवितारम्**=सूर्य को **च**=और **वायुम्**=वायु को **स्तौमि**=स्तुत करता हूँ। इनके गुणों का ध्यान करते हुए इनके सम्पर्क में रहने का प्रयत्न करता हूँ। **तौ**=वे दोनों **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें।

भावार्थ—हमारी सूर्य व वायु के सम्पर्क में निवास की शुभ इच्छा सदा बनी रहे। इसी से हम तेजस्वी व निष्पाप जीवनवाले बन पाएँगे।

अगले सूक्त में भी 'मृगार' ही ऋषि हैं—

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**पुरोऽष्टिर्जगती** ॥

'सुभोजसौ, सचेतसौ' द्यावापृथिवी

मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेथाममिता योजनानि।
प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां ते नो मुञ्चतमंहसः॥ १॥

१. हे **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक! आप दोनों **सुभोजसौ**=उत्तमरूप से हमारा पालन करनेवाले हो। द्युलोक हमारे पिता हैं तो पृथिवी माता। ये हम पुत्रों को सब उत्तम भोग प्राप्त कराते हैं तथा **सचेतसौ**=ये चेतना से युक्त हैं, अर्थात् हमें चेतना प्राप्त करानेवाले हैं। मैं **वाम् मन्वे**=आप दोनों के माहात्म्य का मनन करता हूँ। **ये**=जो आप दोनों **अमिता योजनानि**=अनन्त योजनों तक **अप्रथेताम्**=विस्तृत करते हो। २. **हि**=निश्चय से ये द्यावापृथिवी **वसूनाम्**=निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों के **प्रतिष्ठे अभवतम्**=आधार हों। **ते**=वे आप दोनों **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करो।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवीलोक हमारे माता-पिता के समान हैं। ये हमारा पालन करते हैं और हमारी चेतना को ठीक रखते हैं। इनमें सब वसुओं की स्थिति है। ये हमें पाप से बचाएँ।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'प्रवृद्धे-सुभगे' द्यावापृथिवी

प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां प्रवृद्धे देवी सुभगे उरूची।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः॥ २॥

हे **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक! आप **हि**=निश्चय से **वसूनाम्**=निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों के **प्रतिष्ठे अभवतम्**=आधार हो। आप दोनों **प्रवृद्धे**=बड़े विशाल, **सुभगे**=उत्तम ऐश्वर्यों से युक्त **देवी**=प्रकाश आदि दिव्य गुणों से युक्त **उरूची**=बड़े विस्तारवाले **भवतम्**=हो। आप दोनों **मे**=मेरे लिए **स्योने भवतम्**=सुख देनेवाले होओ और **ते**=आप दोनों **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतम्**=पाप से मुक्त करो।

भावार्थ—ये द्यावापृथिवी सब वसुओं के आधार हैं। ये प्रकाश व सौभाग्य प्राप्त करानेवाले हैं। ये विशाल द्यावापृथिवी हमें पाप से बचाएँ।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'असन्तापे सुतपसौ' द्यावापृथिवी

असन्तापे सुतपसौ हुवेऽहमुर्वी गम्भीरे कविभिर्नमस्ये [।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः॥ ३॥

१. **असन्तापे**=सब प्राणियों के सन्ताप को हरनेवाले, सन्ताप से रहित **सुतपसौ**=खूब दीप्त,

तेजस्वी **उर्वी**=विस्तीर्ण **गम्भीरे**=गाम्भीर्य से युक्त, अर्थात् 'ये ऐसे हैं' इसप्रकार जिनका पूर्णरूप से ज्ञान होना सम्भव नहीं **कविभिः**=क्रान्तदर्शी ज्ञानियों से **नमस्ये**=नमस्कार के योग्य इन द्यावापृथिवी को **अहम्**=मैं **हुवे**=रक्षा के लिए प्रार्थित करता हूँ। २. ये **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **मे**=मेरे लिए **स्योने**=सुख देनेवाले **भवतम्**=हों और **ते**=वे दोनों **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें।

भावार्थ—ये द्यावापृथिवी सन्ताप से रहित, दीप्त, विशाल व रहस्यमय हैं, ये हमारे लिए सुखद हों और हमें पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अमृतं हवींषि

ये अमृतं बिभृथो ये हवींषि ये स्रोत्या बिभृथो ये मनुष्या [न्]।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥

१. **ये**=जो द्यावापृथिवी **अमृतम्**=अमरण हेतुभूत वृष्टिजल (अमृत) का **बिभृथः**=धारण करते हैं और **ये हवींषि**=जो द्यावापृथिवी त्यागपूर्वक अदन के योग्य सात्त्विक अन्नों को धारण करते हैं **ये**=जो द्यावापृथिवी **स्रोत्याः**=स्रोतस्विनी नदियों को **बिभृथः**=धारण करते हैं और **ये मनुष्यान्**=जो मनुष्यों को धारण करते हैं। २. वे **द्यावापृथिवी**=द्यावापृथिवी **मे**=मेरे लिए **स्योने भवतम्**=सुखद हों, **ते**=वे दोनों **नः**=हमें **अहंसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें।

भावार्थ—द्युलोक अमृत वृष्टिजल को धारण करता है तो पृथिवी पवित्र अन्नों व स्रोतस्विनी नदियों को धारण करती हुई मनुष्यों का धारण करती है। ये दोनों सुख देते हुए हमें पाप से बचाएँ।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उस्त्रियाः+वनस्पतीन् (गोदुग्ध, फल व वानस्पतिक भोजन)

ये उस्त्रिया बिभृथो ये वनस्पतीन्ययोर्वां विश्वा भुवनान्यन्तः।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥

१. हे **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोको! **ये**=जो आप **उस्त्रियाः**=गौओं को **बिभृथः**=धारण करते हो, **ये वनस्पतीन्**=जो आप वनस्पतियों को धारण करते हो, **ययोःवाम्**=जिन आप दोनों के **अन्तः**=अन्दर **विश्वा भुवनानि**=सब प्राणियों की स्थिति है, २. वे द्यावापृथिवी **मे**=मेरे लिए **स्योने भवतम्**=सुखद हों और **ते**=वे **नः**=हमें **अहंसः मुञ्चतम्**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—माता-पिता के स्थानापन्न ये द्यावापृथिवी हमारे खान-पान के लिए गोदुग्ध तथा विविध वनस्पतियों को प्राप्त कराते हैं। इसप्रकार ये सब प्राणियों का धारण करते हैं। ये हमारे लिए सुख देनेवाले हों और हमें पाप से बचाएँ।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अन्न व जल

ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन याभ्यामृते न किं चन शक्नुवन्ति।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

१. हे **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलाको! **ये**=जो आप **कीलालेन**=(कीलालम् अन्नम्—नि० २.७) अन्न के द्वारा **तर्पयथः**=प्राणियों को तृप्त करते हो, **ये**=जो आप **घृतेन**=मलों के क्षरण

करनेवाले व स्वास्थ्य की दीप्ति को प्राप्त करानेवाले 'जल' से प्राणियों को तृप्त करते हो, **याभ्याम् ऋते**=जिन अन्न व जल को प्राप्त करानेवाले द्यावापृथिवी के बिना **किं चन न शक्नुवन्ति**=कुछ भी कार्य नहीं कर पाते, २. वे द्यावापृथिवी **मे**=मेरे लिए **स्योने**=सुखद **भवतम्**=हों, **ते**=वे **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें।

भावार्थ—ये द्यावापृथिवी हमारे पोषण के लिए 'अन्न व जल' प्राप्त कराके हमें सब कार्यों को करने के लिए सशक्त बनाते हैं। ये द्यावापृथिवी हमें सुख दें और पाप-मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**शाक्वरगर्भामध्येज्योतिस्त्रिष्टुप्** ॥

पौरुषेयात् न दैवात्

यन्मेदमभिशोचति येनयेन वा कृतं पौरुषेयान्न दैवात्।
स्तौमि द्यावापृथिवी नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

१. **यत्**=जो **इदम्**=यह पाप तथा पाप का फल दुःख **मा**=मुझे **अभिशोचति**=सर्वतः शोकसन्तप्त करता है, **येनयेन वा**=अथवा जिस-जिस पाप से **कृतम्**=उत्पन्न हुआ-हुआ दुःख मुझे सन्तप्त करता है, यह सब दुःख **पौरुषेयात्**=पुरुष से की गई गलती का ही परिणाम है, **न दैवात्**=द्यावापृथिवी आदि देवों से वह कष्ट प्राप्त नहीं होता। द्यावापृथिवी तो हमारे लिए सब उत्तम वस्तुओं को ही प्राप्त कराते हैं। मनुष्य उनका अनुचित प्रयोग करता है और कष्टभोगी होता है। द्यावापृथिवी ने 'गौ' दूध के लिए प्राप्त कराई है न कि उसका मांस खाने के लिए। मनुष्य गोदुग्ध का प्रयोग न करके गोमांस का सेवन करने लगता है और परिणामतः नाना रोगों का शिकार होता है। २. मैं **द्यावापृथिवी स्तौमि**=इन द्यावापृथिवी का स्तवन करता हूँ और **नाथितः**=कष्टों से सन्तप्त होने पर **जोहवीमि**=इन्हें ही पुकारता हूँ। **ते**=वे **द्यावापृथिवी नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतम्**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—कष्ट हमें अपने पापों के कारण होते हैं। द्यावापृथिवी आदि हमें कष्ट नहीं पहुँचाते। इनके द्वारा प्रदत्त वस्तुओं का ठीक प्रयोग करते हुए हम सुखी हों।

अगला सूक्त भी 'मृगार' ऋषि का ही है—

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्राणसाधना से बल का रक्षण व लक्ष्य-प्राप्ति

मरुतां मन्वे अधि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु।
आशूनिव सुयमानह्व ऊतये ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

१. **मरुताम् मन्वे**=शरीर में उनचास भागों में विभक्त होकर विविध कार्यों को करते हुए इन मरुतों (प्राणों) का मैं मनन करता हूँ—इनके महत्त्व को समझने के लिए यत्नशील होता हूँ। वे मरुत् **मे**=मेरे लिए **अधिब्रुवन्तु**='हमारा यह अनुगृह्य है'—इसप्रकार कहें, अर्थात् मैं सदा इन प्राणों का अनुकम्पनीय बना रहूँ। ये मरुत् **वाजसाते**=इस जीवन-संग्राम में मेरे **इमम्**=इस **वाजम्**=बल को **प्र अवन्तु**=प्रकर्षेण रक्षित करें। २. **सुयमान्**=सम्यक् नियन्त्रित **आशून् इव**=मार्ग का शीघ्रता से व्यापन करनेवाले घोड़ों की भाँति मैं इन प्राणों को अपने **ऊतये**=रक्षण के लिए **अह्वे**=पुकारता हूँ। **ते**=वे मरुत् **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें।

भावार्थ—हम प्राणों के महत्त्व को समझें। ये प्राण ही हमारे बल का रक्षण करते हैं। सुनियन्त्रित अश्वों के समान लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाकर ये हमारा कल्याण करते है। ये हमें पाप-

मुक्त करें। प्राणसाधना दोषदहन करती ही है।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अक्षित उत्स के विस्तारक' मरुत्

उत्समक्षितं व्यचन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोषधीषु।
पुरो दधे मरुतः पृश्निमातॄंस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २ ॥

१. आधिदैविक जगत् में 'मरुत्' वायुओं का नाम है। **ये**=जो मरुत् **सदा**=सदा **उत्सम्**=वृष्टिधारायुक्त मेघ को **अक्षितम्**=क्षयरहित, अर्थात् सदा प्रवृद्ध **व्यचन्ति**=अन्तरिक्ष में विस्तृत करते हैं और इनके द्वारा **ओषधीषु**=ओषधियों-वनस्पतियों में **ये**=जो **रसम्**=वृष्टिजलरूप रस को **आसिञ्चन्ति**=समन्तात् सिक्त करते हैं। २. उन **पृश्निमातॄन्**=अन्तरिक्ष में होनेवाली माध्यमिका वाक् (मेघगर्जना) के बनानेवाले **मरुतः**=इन मरुतों को मैं **पुरः दधे**=सबसे प्रथम स्थापित करता हूँ। इनका मेरे जीवन में सर्वप्रथम स्थान है। इन मरुतों के अभाव में वृष्टि न होने पर सब प्राणियों का जीवन समाप्त ही हो जाए। **ते**=वे मरुत् **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चन्तु**=छुड़ाएँ। अन्न के खूब होने पर किसी के भूखे न रहने से पापवृत्ति कम हो ही जाती है।

भावार्थ—मरुत् अन्तरिक्ष में मेघों का विस्तार करते हैं। उनके द्वारा ये ओषधियों में रस का सेचन करते हैं। इसप्रकार इन मरुतों का हमारे जीवन में प्रमुख स्थान है। ये हमें खूब अन्न प्राप्त कराके पाप-मुक्त जीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'शग्माः स्योनाः' मरुतः

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ।
शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥

१. मरुत् प्राण हैं। इनकी साधना से बुद्धि की तीव्रता व ज्ञान-दीप्ति प्राप्त होती है, इसलिए इन्हें यहाँ 'कवयः' कहा गया है। हे **कवयः मरुतः**=क्रान्तदर्शित्व के साधनभूत प्राणो ! **ये**=जो आप **धेनूनां पयः**=गौओं के दूध को तथा **ओषधीनां रसः**=ओषधियों के रस को और परिणामतः **अर्वताम्**=इन्द्रिय-अश्वों के **जवम्**=वेग को, स्फूर्ति से कार्य करने की शक्ति को **इन्वथ**=अपने सब अंगों में व्याप्त करते हो। २. वे मरुत् **नः**=हमारे लिए **शग्माः**=शक्ति देनेवाले तथा **स्योना**=सुख प्राप्त करानेवाले **भवन्तु**=हों। इसप्रकार **ते**=वे **नः**=हमें **अहंसः**=पाप से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करते हुए गोदुग्ध व ओषधियों का ही सेवन करें। इससे हमारे इन्द्रियाश्व स्फूर्तियुक्त होंगे। ये प्राण हमें शक्ति व सुख प्राप्त कराएँ। इसप्रकार ये हमें पापमुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'वृष्टिकारक' मरुत्

अपः समुद्राद्दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति।
ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥

१. **ये मरुतः**=जो वृष्टि-जलों को लानेवाले वायु **समुद्रात्**=समुद्र से **अपः**=जलों को **दिवम् उद्वहन्ति**=मेघों द्वारा अन्तरिक्ष के प्रति प्राप्त कराते हैं और फिर **ये**=जो मरुत् **दिवः**=अन्तरिक्ष से **पृथिवीम् अभि**=पृथिवी का लक्ष्य करके उन जलों को **सृजन्ति**=विसृष्ट करते हैं। २. **अद्भिः**=इन जलों के द्वारा **ईशानाः**=हमारे जीवनों के ईश होते हुए **चरन्ति**=गति करते हैं, **ते**=वे

मरुत् **नः**=हमें **अहंसः**=पाप से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें।

भावार्थ—मरुत् ही समुद्र से जलों को अन्तरिक्ष में ले-जाते हैं। ये ही वहाँ से उस जल को पुनः पृथिवी पर विसृष्ट करते हैं। इसप्रकार जलों के साथ विचरते हुए ये मरुत् हमारे जीवन के ईशान होते हैं। ये हमें प्रभूत अन्न आदि प्राप्त कराके कष्टों व पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'अन्न में मेदस्तत्त्व के जनक' मरुत्

ये कीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति।
ये अद्भिरीशाना मरुतो वर्षयन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ५॥

१. **ये**=जो मरुत् **कीलालेन**=अन्न से **तर्पयन्ति**=हमें प्रीणित करते हैं, **ये**=जो **घृतने**=मलों का क्षरण करनेवाले व स्वास्थ्य की दीप्ति देनेवाले जल से हमें प्रीणित करते हैं, **ये वा**=अथवा जो मरुत् **वयः**=अन्न को **मेदसा**=मेदस्तत्त्व (Fat) से **संसृजन्ति**=संसृष्ट करते हैं, २. **ये मरुतः**=जो मरुत् **अद्भिः**=जलों के द्वारा **ईशानाः**=हमारे जीवनों के ईशान होते हुए **वर्षयन्ति**=जलों की वृष्टि करते हैं, **ते**=वे मरुत् **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—मरुत् ही हमें अन्न व जल प्राप्त कराते हैं। ये ही अन्न में मेदस्तत्त्व को पैदा करते हैं। ये वृष्टि करनेवाले मरुत् हमें प्रभूत अन्न आदि प्राप्त कराके पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मारुतेन दैव्येन

यदीदिदं मरुतो मारुतेन यदि देवा दैव्येनेदृगार।
यूयमीशिध्वे वसवस्तस्य निष्कृतेस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ६॥

१. प्राणसाधना करते हुए यदि हठपूर्वक प्राणायाम करने से शरीर में कोई दोष हो जाए तो यह 'मारुत' अपराध कहलाता है। उससे उत्पन्न कष्टों को भी मरुतों ने ही दूर करना है। **इदम्**=यह अनुभूयमान मेरा दुःख हे **मरुतः**=मरुतो ! **मारुतेन**=प्राणों के विषय में किये गये अपराध से **इत्**=ही **ईदृक्**=ऐसा कष्ट **यदि**=यदि **आर**=प्राप्त हुआ है अथवा हे **देवाः**=वायुरूप देवो! **यदि**=यदि यह कष्ट **दैव्येन**=वायु आदि देवों के विषय में किय गये अग्निहोत्र आदि यज्ञों के न करनेरूप पाप से हमें प्राप्त हुआ है तो **यूयम्**=हे मरुतो! आप **तस्य**=उस कष्ट के **निष्कृतेः**=बाहर निकालने व परिहार के लिए **ईशिध्वे**=समर्थ हो। हे मरुतो! आप इन कष्टों का निराकरण करके **वसवः**=हमें उत्तमता से बसानेवाले हो। २. **ते**=वे मरुत् (प्राण) **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें। **'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्'**—प्राणसाधना से दोष दूर होते ही हैं।

भावार्थ—यदि हठपूर्वक प्राणसाधना से कोई कष्ट प्राप्त हुआ है अथवा अग्निहोत्रादि न करने से वृष्टिवाहक मरुतों का कार्य ठीक न होने से कष्ट हुआ है, तो मरुत् ही उन कष्टों को दूर कर हमें पाप-मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उग्रं शर्धः

तिग्ममनीकं विदितं सहस्वन्मारुतं शर्धः पृतनासूग्रम्।
स्तौमि मरुतो नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ७॥

१. **मारुतम्**=प्राणों का **अनीकम्**=बल **तिग्मम्**=बड़ा तीव्र है। यह **सहस्वत् विदितम्**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाला माना गया है। प्राणसाधना से शरीर में रोगकृमिरूप सब शत्रुओं का नाश होता है तो मानसक्षेत्र में वासनारूप शत्रुओं का मर्षण होता है। यह **शर्धः**=प्राणों का बल **पृतनासु उग्रम्**=संग्रामों में बड़ा उद्गूर्ण—शत्रुओं का नाशक है। २. मैं इन **मरुतः**=प्राणों की **स्तौमि**=स्तुति करता हूँ, **नाथितः**=कष्टों से सन्तप्त हुआ-हुआ **जोहवीमि**=इन प्राणों को ही पुकारता हूँ। **ते**=वे प्राण **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें।

भावार्थ—प्राणों का बल बड़ा प्रचण्ड है। यह रोगकृमियों व वासनाओं को नष्ट करके हमें व्याधि व आधि के कष्टों से बचाता है। हम इन प्राणों का स्तवन करते हैं। ये हमें पाप से मुक्त करें।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'मृगार' है—

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**भवाशर्वौ** ॥ छन्दः—**अतिजागतगर्भाभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

भव+शर्व

भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद्विरोचते।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

१. 'भवति अस्मात्' इस व्युत्पत्ति से भव का अर्थ है—'सर्वजगत् का उत्पादक प्रभु'। 'शृणाति हिनस्ति सर्वम्' इस व्युत्पत्ति से शर्व का अर्थ है 'प्रलयकर्ता रुद्र'। **भवाशर्वौ मन्वे**=मैं उस उत्पादक और प्रलयकर्त्ता प्रभु का मनन करता हूँ। हे भव और शर्व! **वाम्**=आप **तस्य वित्तम्**=उस मुझसे किये जाते हुए मनन को जानिए। मैं आपका दृग्गोचर बना रहूँ। आपकी कृपादृष्टि मुझे सदा प्राप्त हो। **ययोः वाम्**=जिन आपके **प्रदिशि**=प्रदेशन—प्रशासन में **यत् इदम्**=जो यह सम्पूर्ण जगत् है, वह **विरोचते**=प्रकाशित होता है। **यौ**=जो आप **अस्य द्विपदः ईशाथे**=इस पादद्वयोपेत (दो पाँववाले) प्राणिजगत् के ईश हैं, **यौ**=जो आप **चतुष्पदः**=पादचुष्टयोपेत गवादि के ईश हैं, **तौ**=वे आप **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें।

भावार्थ—हम उत्पादक व प्रलयकर्त्ता प्रभु का स्मरण करें। सब जगत् प्रभु के शासन में ही दीप्त हो रहा है। प्रभु ही द्विपाद् व चतुष्पाद् के ईश हैं। वे प्रभु हमें पाप-मुक्त करें। प्रभु-स्मरण निष्पाप बनाता ही है।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**भवाशर्वौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इषुभृताम् असिष्ठौ

ययोरभ्यध्व उत यद्दूरे चिद्यौ विदितावुिषुभृतामसिष्ठौ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥

१. **अभ्यध्वे**=(अभि अध्वनः=अभ्यध्वः समीपदेशे) जो समीप देश में है **उत**=और **यत्**=जो **दूरे चित्**=बहुत ही दूर है, वह सब **ययोः**=जिन भव और शर्व के प्रशासन में है। **यौ**=जो भव और शर्व हैं वे **इषुभृताम्**=अस्त्रधारण करनेवालों में **असिष्ठौ विदितौ**=सर्वोत्तम क्षेप्ता माने गये हैं। इन भव और शर्व के समान शत्रुओं पर वज्रप्रहार कौन कर सकता है? 'भूकम्प व ज्वालामुखी का फटना' आदि इन भव और शर्व के अस्त्र हैं—ये क्षणों में ही विनाश कर देते हैं। २. **यौ**=जो भव और शर्व **अस्य द्विपदः**=इन दो पाँववालों के **ईशाथे**=ईश हैं, **यौ**=जो **चतुष्पदः**=चार पावोंवालों के ईश हैं **तौ**=वे **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें।

भावार्थ—भव और शर्व दूर-से-दूर और समीप-से-समीप सर्वत्र शासकरूप से विद्यमान हैं। ये क्षण में ही वज्रप्रहार द्वारा विनाश कर सकते हैं। वे हमें पापमुक्त करें। इनका चिन्तन हमें पाप-प्रवणता से बचाए।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**भवाशर्वौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सहस्राक्षा वृत्रहणा' भवाशर्वौ

सहस्राक्षौ वृत्रहणा हुवेऽहं दूरेगव्यूती स्तुवन्नेम्युग्रौ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥ ३॥

१. ये भव और शर्व **सहस्राक्षौ**=अनन्त आँखोंवाले हैं, **वृत्रहणा**=वासनारूप वृत्र के विनष्ट करनेवाले हैं, **अहम्**=मैं इन्हें **हुवे**=पकारता हूँ। **दूरेगव्यूती**=(दूरेगव्यूतिः गोसचारभूमिः ययोः) इन्द्रियरूप गौओं के संचारदेश से ये दूर हैं। इन्द्रियों की पहुँच इन तक नहीं है। ये अतीन्द्रिय हैं। मैं इन **उग्रौ**=उद्‌गूर्ण बलवाले भव और शर्व को **स्तुवन्**=स्तुत करता हुआ **एमि**=जीवन-यात्रा में चलता हूँ। २. **यौ**=जो भव और शर्व **अस्य**=इस **द्विपदः**=द्विपाद् जगत् के **ईशाथे**=ईश हैं और **यौ**=जो **चतुष्पदः**=चतुष्पाद् जगत् के ईश हैं, **तौ**=वे **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतम्**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—भव और शर्व अनन्त आँखोंवाले हैं, हमारी वासनाओं को विनष्ट करनेवाले हैं, इन्द्रियातीत व उग्र हैं। मैं इनका स्तवन करता हूँ। ये मुझे पाप से मुक्त करते हैं।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**भवाशर्वौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मानवजन्म व अभिदीप्ति की प्राप्ति

यावारेभाथे बहु साकमग्रे प्र चेदस्राष्ट्रमभिभां जनेषु।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥ ४॥

१. हे भव और शर्व! **यौ**=जो आप **अग्रे**=सृष्टि के प्रारम्भ में **बहु साकम्**=(बहुनां साकं सहभावो यस्मिन्) बहुत-से प्राणियों के सहभाव (जनसंघ) को **आरेभाथे**=आरम्भ—उत्पन्न करते हो **च**=और **जनेषु**=उन उत्पन्न प्राणियों में **अभिभाम्**=अभिदीप्ति को **इत्**=निश्चय से आप ही **प्र अस्राष्ट्रम्**=प्रकर्षेण उत्पन्न करते हो। २. **यौ**=जो आप **अस्य द्विपदः**=इस द्विपाद् जगत् के **ईशाथे**=ईश हो, **यौ**=जो **चतुष्पदः**=चतुष्पाद् जगत् के ईश हो **तौ**=वे दोनों **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु ही सृष्टि के आरम्भ में जनसमूह को जन्म देते हैं और उनमें अभिदीप्ति स्थापित करते हैं। वे प्रभु हमें पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**भवाशर्वौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु का अप्रतिकार्य वध

ययोर्वधान्नापपद्यते कश्चनान्तर्देवेषूत मानुषेषु।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥ ५॥

१. **ययोः**=जिन भव और शर्व के **वधात्**=हनन-साधन आयुध से **न देवेषु अन्तः कश्चन**=न तो सूर्य-चन्द्र, तारे आदि देवों में कोई **उत**=और न ही **मानुषेषु**=मनुष्यों में कोई **अपपद्यते**=भागकर जा सकता है, अर्थात् जब प्रभु प्रलय करते हैं तब कोई बच नहीं सकता। प्रभु सूर्य को समाप्त करेंगे तो सूर्य बच नहीं सकता। इसीप्रकार कोई मनुष्य भी प्रतिरोध करनेवाला नहीं होता। २. **यौ**=जो भव और शर्व **अस्य द्विपदः**=इस द्विपाद् जगत् के **ईशाथे**=ईश हैं, **यौ चतुष्पदः**=जो चतुष्पाद् जगत् के ईश हैं, **तौ**=वे **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें। प्रभु के रुद्ररूप

का स्मरण हमें पाप-भीत करता ही है।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**भवाशर्वौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यातुधान-हिंसन

यः कृत्याकृन्मूलकृद्यातुधानो नि तस्मिन्धत्तं वज्रमुग्रौ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

१. **यः**=जो **कृत्याकृत्**=(कृती छेदने) छेदन-भेदन करनेवाला है और जो **यातुधनः**=पीड़ा पहुँचानेवाला राक्षस **मूलकृत्**=वंशाभिवृद्धि के मूल-सन्तानों को ही नष्ट करनेवाला है, **तस्मिन्**=उस यातुधान पर हे **उग्रौ**=तेजस्वी भव और शर्व! आप **वज्रं निधत्ताम्**=वर्जक आयुध को फेंकिए। इस वज्र द्वारा उसका वध करके उसे समाप्त कीजिए। २. **यौ**=जो आप **अस्य द्विपदः**=इस द्विपाद् प्राणिजगत् के **ईशाथे**=ईश हैं और **यौ**=जो **चतुष्पदः**=चतुष्पाद् प्राणिजगत् के ईश हैं, **तौ**=वे **नः**=हमें **अहंसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें।

भावार्थ—भव और शर्व हिंसक शत्रुओं को नष्ट करें। हमें भी पाप से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**भवाशर्वौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'किमीदी' का संहार

अधि नो ब्रूतं पृतनासूग्रौ सं वज्रेण सृजतं यः किमीदी।
स्तौमि भवाशर्वौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

१. हे **उग्रौ**=उद्‌गूर्ण बलवाले, तेजस्वी भव और शर्व! आप **पृतनासु**=संग्रामों में **नः**=हमें **अधिब्रूतम्**=आधिक्येन उपदेश कीजिए। काम आदि शत्रुओं से संग्राम होने पर 'हमें क्या करना चाहिए' इसका ज्ञान दीजिए। **यः**=जो **किमीदी**=(किम् इदानीम् उत्पन्नम्, किम् इदानीम् उत्पन्नम् इति रन्ध्रान्वेषी) पर-छिद्रान्वेषी स्वार्थी पुरुष है, उसे **वज्रेण**=वज्र से **संसृजतम्**=संसृष्ट करो—वज्र से समाप्त कर दीजिए। २. मैं **भवाशर्वौ**=उस उत्पादक और पालनकर्त्ता प्रभु का **स्तौमि**=स्तवन करता हूँ। **नाथितः**=वासनाओं से सन्तप्त किया गया मैं उसे **जोहवीमि**=पुकारता हूँ। **तौ**=वे प्रभु **नः**=हमें **अहंसः मुञ्चतम्**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु संग्रामों में शत्रु-विजय के लिए हमें उपदेश करें, पर-छिद्रान्वेषी पुरुष को नष्ट करें। ये प्रभु हमें पाप-मुक्त करें।

अगले सूक्त में भी ऋषि 'मृगार' ही है—

○ २९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'ऋतवृधौ सचेतसौ' मित्रावरुणौ

मन्वे वां मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे।
प्र सत्यावानमवथो भरेषु तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

१. 'मित्र' शब्द स्नेह का सूचक है, 'वरुण' द्वेष-निवारण व निर्द्वेषता का प्रतीक है। हे **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! मैं **वां मन्वे**=आपका मनन करता हूँ। आप **ऋतावृधौ**=मेरे जीवन में ऋत (ठीक, यज्ञ) का वर्धन करनेवाले हो तथा **सचेतसौ**=हमारे जीवनों को चेतना (ज्ञान) से युक्त करते हो। आप वे हैं **यौ**=जो **द्रुह्वणः नुदेथे**=द्रोह करनेवालों को हमसे दूर करते हो। २. और **सत्यावानम्** सत्ययुक्त पुरुष को **भरेषु**=संग्रामों में **प्र अवथः**=प्रकर्षेण रक्षित करते

हो। **तौ**=वे आप—मित्र और वरुण **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करो।

भावार्थ—हम स्नेह व निर्द्वेषता का पाठ पढ़ें। इससे हममें ऋत व चेतना का वर्धन होगा और द्रोह की भावना समाप्त होकर हमारा जीवन सत्ययुक्त होगा।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'नचृक्षसौ' मित्रावरुणौ

सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे प्र सत्यावानमवथो भरेषु।
यौ गच्छथो नृचक्षसौ बभ्रुणा सुतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥

१. **सचेतसौ**=हमारे जीवनों को चेतना से युक्त करनेवाले हे मित्र और वरुण! **यौ**=जो आप **द्रुह्वणः**=द्रोह करनेवालों को **नुदेथे**=हमसे दूर करते हो, वे आप **सत्यावानम्**=सत्ययुक्त पुरुष को **भरेषु**=संग्रामों में **प्र+अवथः**=प्रकर्षेण रक्षित करते हो। २. **यौ**=जो आप दोनों **बभ्रुणा**=धारणात्मक कर्मों को करनेवाले पुरुष से किये गये **सुतम्**=यज्ञ को **गच्छथः**=जाते हो **तौ**=वे **नृचक्षसौ**=(नृणां द्रष्टारौ) मनुष्यों के देखनेवाले—उनके हित का ध्यान करनेवाले आप **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करो।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता का उपासक बभ्रु=धारणकर्त्ता बनता है। यह धारणात्मक कर्मों को ही करता है। इसका जीवन द्रोहरहित व सत्य से युक्त होता है। यह सभी का ध्यान करता है। ये स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमें पाप-मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अङ्गिरा से वसिष्ठ तक

यावङ्गिरसमवथो यावगस्तिं मित्रावरुणा जमदग्निमत्रिम्।
यौ कश्यपमवथो यौ वसिष्ठं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥

१. **मित्रावरुण**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **यौ**=जो आप **अङ्गिरसम् अवथः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले को रक्षित करते हैं, **यौ**=जो **अग-स्तिम्**=पाप का संघात करनेवाले को रक्षित करते हैं (स्त्यै संघाते), जो आप **जमदग्निम्**=जीमनेवाली है जाठराग्नि जिसकी, अर्थात् अतिभोजन आदि दोषों के कारण जिसकी जाठराग्नि मन्द नहीं हो जाती तथा **अत्रिम्**='काम-क्रोध-लोभ'—इन तीनों से रहित को आप रक्षित करते हो। २. **यौ**=जो आप **कश्यपम्**=(कश्यप=पश्यकः) तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी का **अवथः**=रक्षण करते हो, **यौ**=जो आप **वसिष्ठम्**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले को रक्षित करते हो **तौ**=वे आप **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतम्**=पाप से मुक्त करो।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमें 'अङ्गिराः, अगस्ति, जमदग्नि, अत्रि, कश्यप व वसिष्ठ बनाते हैं। ये हमें पाप से मुक्त करते हैं।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

श्यावाश्व से सप्तवध्रि तक

यौ श्यावाश्वमवथो वध्र्यश्वं मित्रावरुणा पुरुमीढमत्रिम्।
यौ विमदमवथः सप्तवध्रिं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥

१. **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **यौ**=जो आप **श्यावाश्वम् अवथः**=(श्यै गतौ) गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाले—क्रियाशील पुरुष का रक्षण करते हैं और **वध्र्यश्वम्**=व्रतों की रज्जु से इन्द्रियाश्वों को बाँधनेवाले—जितेन्द्रिय पुरुष का रक्षण करते हो (वध्री=रस्सी), **पुरुमीढम्**=शक्ति

का अपने में खूब ही सेचन करनेवाले का (मिह सेचने) रक्षण करते हो, और **अत्रिम्**='काम-क्रोध-लोभ' से अतीत का रक्षण करते हो, **यौ**=जो आप **विमदम्**=मदशून्य—गर्वरहित—गौरवान्वित पुरुष का **अवथः**=रक्षण करते हो, **सप्तवध्रिम्**=सात रज्जुओंवाले—अपने-आपको सात मर्यादाओं के बन्धनों में बाँधनेवाले को रक्षित करते हो (सप्त मर्यादः कवयस्ततक्षुः०), **तौ**=वे आप मित्र और वरुण **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करो।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमें श्यावाश्व, पुरुमीढ, अत्रि, विमद व सप्तवध्रि' बनाते हैं। वे हमें पाप-मुक्त करते हैं।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

भरद्वाज से कण्व तक

यौ भरद्वाजमवथो यौ गविष्ठिरं विश्वामित्रं वरुण मित्र कुत्सम्।
यौ कक्षीवन्तमवथः प्रोत कण्वं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥

१. **वरुण मित्र**=निर्द्वेषता व स्नेह के भावो! **यौ**=जो आप **भरद्वाजम् अवथः**=अपने में शक्ति का भरण करनेवाले को रक्षित करते हो, **यौ**=जो आप **गविष्ठिरम्**=वेदात्मिका वाणी में स्थिर पुरुष का रक्षण करते हो—ज्ञानी पुरुष का रक्षण करते हो, **विश्वामित्रम्**=सबके प्रति स्नेह करनेवाले का रक्षण करते हो और **कुत्सम्**=वासनाओं का संहार करनेवाले का रक्षण करते हो। २. **यौ**=जो आप **कक्षीवन्तम्**=प्रशस्त कटिबन्धन—रज्जुवाले—कमर कसे हुए दृढ़ निश्चयी पुरुष का **अवथः**=रक्षण करते हो **उत**=और **कण्वम्**=कण-कण करके ज्ञान का सञ्चय करनेवाले मेधावी पुरुष का **प्र**=प्रकर्षेण रक्षण करते हो, **तौ**=वे आप **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमें 'भरद्वाज, गविष्ठिर, विश्वामित्र, कुत्स, कक्षीवान् व कण्व' बनाते हैं। वे हमें पाप से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'मेधातिथि से मुद्गल' तक

यौ मेधातिथिमवथो यौ त्रिशोकं मित्रावरुणावुशनां काव्यं यौ।
यौ गोतममवथः प्रोत मुद्गलं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

१. हे **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **यौ**=जो आप **मेधातिथिम्**=(मेधां अतति) निरन्तर बुद्धि की ओर चलनेवाले को **अवथः**=रक्षित करते हो, अर्थात् स्नेह व निर्द्वेषता को अपनानेवाला बुद्धिमान् बनता है। **यौ**=जो आप **त्रिकशोकम्**='शरीर, मन व बुद्धि' तीनों को दीप्त करनेवाले को रक्षित करते हो, **यौ**=जो आप **उशनाम्**=(वष्टि)प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाले पुरुष को रक्षित करते हो, और **काव्यम्**=(कौति) प्रभु-नामों का उच्चारण करनेवाले ज्ञानी भक्त का रक्षण करते हो। २. **यौ**=जो आप **गोतमम्**=अतिशयेन प्रशस्त इन्द्रियोंवाले का **अवथः**=रक्षण करते हो, **उत**=और **मुद्गलम्**=(मुदं गलति Drops) सांसारिक मौजों को अपने जीवन से पृथक् कर देता है, उस मुद्गल को आप **प्र**=प्रकर्षेण रक्षित करते हो, **तौ**=वे आप **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतम्**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमें 'मेधातिथि, त्रिशोक, उशना, काव्य, गोतम व मुद्गल' बनाते हैं। ये हमें पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**शक्वरीगर्भाऽतिजगती** ॥

मित्रावरुण का 'सत्यवर्मा ऋजुरश्मि' रथ

ययो रथः सत्यवर्त्मर्जुरश्मिर्मिथुया चरन्तमभियाति दूषयन्।
स्तौमि मित्रावरुणौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

१. **ययोः**=जिन मित्र और वरुण का—स्नेह व निर्द्वेषता के दिव्य भावों का **रथः**=रथ **सत्यवर्मा**=सत्य के मार्गवाला है और **ऋजुरश्मिः**=अकुटिल प्रग्रहों-(लगामों)-वाला है। यह रथ **मिथुया चरन्तम्**=असत्य व्यवहारवाले को **दूषयन्**=दूषित करने के हेतु से **अभियाति**=उसकी ओर आता है—उसपर आक्रमण करता है, अर्थात् स्नेह व निर्द्वेषता का व्रती सत्य व ऋजुता (सरलता) को अपनाता है। यह मिथ्याव्यवहार को आक्रान्त करके दूषित करता है। मैं इन **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावों को **स्तौमि**=स्तुत करता हूँ—इनके महत्त्व का गायन करता हूँ। **नाथितः**=वासनाओं से सन्तप्त किये जाने पर **जोहवीमि**=मैं इन्हें पुकारता हूँ। **तौ**=वे **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतम्**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता का व्रती सत्य व सरलता को अपनाता हुआ मिथ्या व्यवहार को अपने से दूर करता है। स्नेह व निर्द्वेषता का स्तवन करता हुआ यह पापों से मुक्त रहता है।

विशेष—पापमुक्त होकर अपने अन्दर आत्मतत्त्व को देखनेवाला यह व्यक्ति 'अथर्वा' (अथ अर्वाङ्) बनता है। अगले सूक्त का यही ऋषि है। यह प्रभु से इसप्रकार उपदिष्ट होता है—

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवों के साथ महादेव

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥

१. प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **रुद्रेभिः वसुभिः चरामि**=रुद्रों व वसुओं के साथ गति करता हूँ। **अहम्**=मैं ही **आदित्यैः**=आदित्यों के साथ **उत**=और **विश्वदेवैः**=सब देवों के साथ गति करता हूँ। जब कोई उपासक मुझे प्राप्त करता है तो इन सब देवों को भी प्राप्त करता है अथवा जो इन देवों को प्राप्त करने का यत्न करता है, वही मुझे प्राप्त करता है। देवों को—दिव्य भावों को प्राप्त करनेवाला ही तो महादेव की प्राप्ति का अधिकारी होता है। २. **अहम्**=मैं **मित्रावरुण उभा**=स्नेह व निर्द्वेषता की भावनाओं को—दोनों वृत्तियों को **बिभर्मि**=धारण करता हूँ। प्रभु का उपासक किसी के प्रति द्वेषवाला नहीं होता, वह सबके प्रति स्नेहवाला होता है। **अहम्**=मैं **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि का धारण करता हूँ। प्रभु का उपासक **इन्द्र**=जितेन्द्रिय होता है तथा **अग्नि**=प्रगतिशील होता है। यह शक्ति (इन्द्र) व प्रकाश (अग्नि) का पुञ्ज बनता है। **अहम्**=मैं **अश्विना उभा**=प्राण और अपान दोनों का धारण करता हूँ। प्रभु का उपासक प्राणापान की साधना द्वारा आधिव्याधि-शून्य जीवनवाला बनता है।

भावार्थ—हम रुद्र बनें (रुत् द्र)—रोगों को अपने से दूर भगाएँ, वसु बनें—उत्तम निवास-वाले हों, आदित्य बनें—गुणों का आदान करें, सब दिव्यताओं को अपनाने के लिए यत्नशील हों—ऐसा करने पर प्रभु का हमारे साथ निवास होगा। प्रभु की उपासना ही हमें इन दिव्य गुणों को प्राप्त कराएगी।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सबके शासक, सबके आधार' प्रभु

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः ॥ २ ॥

१. **अहम् राष्ट्री**=मैं ही इस विश्वराष्ट्र की शासिका—ईश्वरी हूँ, **वसूनां संगमनी**=सब वसुओं को—निवास के लिए धनों को प्राप्त करानेवाली हूँ, **चिकितुषी**=ज्ञानवाली हूँ, अतएव **यज्ञियानां प्रथमा**=उपास्यों में प्रथम हूँ। २. **ताम्**=उस **मा**=मुझे **देवाः**=देववृत्ति के लोग **पुरुत्रा**=पालन व पूरण के दृष्टिकोण से खूब ही **व्यदधुः**=धारण करते हैं। उस मुझे धारण करते हैं जोकि **भूरिस्थात्राम्**=पालक व पोषकरूप में सर्वत्र स्थित हूँ तथा **भूरि आवेशयन्तः**=पालक व पोषक तत्त्वों को सब जीवों में प्रवेश करानेवाली हूँ। प्रभु सूर्यादि देवों को भी देवत्व प्राप्त कराते हैं तथा सब जीवों का पोषण भी वही करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सबके शासक और सबके आधार हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उग्र ऋषि, ब्रह्मा व सुमेधा

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम्।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥ ३ ॥

१. **अहम् स्वयम् एव**=मैं स्वयं ही **इदं वदामि**=इस ज्ञान को उच्चारित करता हूँ, जो ज्ञान **देवानां जुष्टम्**=देवताओं से प्रीतिपूर्वक सेवित होता है **उत**=और **मानुषाणाम्**=विचारशील पुरुषों से सेवित हुआ करता है। प्रभु अग्नि आदि देवों के हृदयों में इस ज्ञान का प्रकाश कर देते हैं। अग्नि आदि से यह ज्ञान विचारशील पुरुषों को प्राप्त होता है। २. **यं कामये**=जिन्हें मैं चाहता हूँ, जो मेरे प्रिय बनते हैं **तं तम् उग्रं कृणोमि**=उन-उनको मैं तेजस्वी बनाता हूँ, **तं ब्रह्माणम्**=उसे ज्ञानी बनाता हूँ, **तम् ऋषिम्**=उसे तत्त्वद्रष्टा व गतिशील बनाता हूँ, **तं सुमेधाम्**=उसे उत्तम मेधावाला बनाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु सृष्टि के आरम्भ से अग्नि आदि देवों को वेद-ज्ञान प्रदान करते हैं। उनसे यह ज्ञान मनुष्यों को प्राप्त होता है। हम प्रभु-प्रिय बनते हैं तो वे प्रभु हमें 'उग्र, ब्रह्मा, ऋषि व सुमेधा' बनाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सर्वपालक प्रभु

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि॥ ४ ॥

१. **सः**=वह **मया**=मुझसे ही **अन्नम् अत्ति**=अन्न खाता है, **यः**=जो **विपश्यति**=देखता है। वे प्राणी जो देखते हैं—कुछ समझते नहीं, वे अत्यन्त स्थिर-सी अवस्था में पड़े हुए क्षुद्र जन्तु मुझसे ही भोजन खाते—प्राप्त करते हैं। इसीप्रकार **यः**=जो **प्राणति**=श्वासोच्छ्वास लेते हुए जीवन बिता रहे हैं, वे भी मुझसे ही अन्न प्राप्त करते हैं। केवल देखनेवालों से ये कुछ उत्कृष्ट हैं। इनसे भी उत्कृष्ट वे हैं, **ये**=जो **ईम्**=निश्चय से **उक्तम् शृणोति**=कहे हुए को सुनता है। इसप्रकार श्रवण से ज्ञान की वृद्धि करनेवाले मनुष्य भी मुझसे ही अन्न खाते हैं। २. **ते अमन्तवः**=वे मनन व विचार से शून्य लोग—अतएव मुझे न माननेवाले—भोगप्रधान वृत्तिवाले लोग भी **माम्**

उपक्षियन्ति=मेरे आधार से ही निवास करते हैं। मेरे आधार से जीते हुए भी वे माया से मोहित हुए-हुए मुझे नहीं देखते, परन्तु प्रभु का प्रिय पुत्र तो वही है जो मायामूढ़ न बनकर प्रभु की प्रेरणा को सुनता है। 'अमन्तव:' शब्द का अर्थ मन्तुरहित (आगोऽपराधो मन्तुश्च), अर्थात् अपराधरहित निर्दोष भी है, **ते**=वे निर्दोष जीवनवाले व्यक्ति **माम् उपक्षियन्ति**=मेरे समीप निवास करते हैं। जितने-जितने हम निर्दोष होते जाते हैं, उतने-उतने ही प्रभु के प्रिय बनते जाते हैं। हे **श्रुत**=अन्त:स्थित प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले जीव! **श्रुधि**=सुन। **श्रद्धेयम्**=श्रद्धा से लभ्य आत्मज्ञान को मैं **ते वदामि**=तेरे लिए कहता हूँ। प्रभु की वाणी को सुननेवाला श्रद्धावान् पुरुष ही ज्ञान प्राप्त करता है।

भावार्थ—केवल देखनेवाले, श्वासोच्छ्वास लेनेवाले तथा सुनकर ज्ञान प्राप्त करनेवाले—सभी प्रभु से ही अन्न प्राप्त करते हैं। मननरहित भोगप्रधान पुरुषों को भी प्रभु ही भोजन देते हैं और श्रद्धायुक्त होकर उपासक प्रभु से ही आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

'संग्राम-विजेता' प्रभु

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ५ ॥

१. राष्ट्र में प्रजाओं के कष्टों का निवारण करनेवाला राजा रुद्र है (रुत् कष्टं द्रावयति)। यह अपने धनुष् से प्रजा-पीड़कों का संहार करता है। इसके लिए धनुष आदि साधनों को प्राप्त करानेवाले प्रभु ही हैं। **अहम्**=मैं ही **रुद्राय**=प्रजा-कष्ट-निवारक इस राजा के लिए **धनुः**=धनुष् को **आतनोमि**=ज्या इत्यादि से युक्त करता हूँ, जिससे यह राजा **ब्रह्मद्विषे**=ज्ञान के साथ प्रीति न रखनेवाले **शरवे**=हिंसक पुरुष के **हन्तवा उ**=हनन के लिए निश्चय से समर्थ हो सके। इसप्रकार राजा राष्ट्र की उन्नति में विघ्नभूत लोगों को उचित दण्ड देने का सामर्थ्य उस प्रभु से ही प्राप्त करता है। २. लोगों का जो अपने अन्त:शत्रु काम-क्रोध आदि से युद्ध चलता है, उस युद्ध में भी प्रभु ही विजय प्राप्त कराते हैं। **अहम्**=मैं ही **जनाय**=लोगों के लिए **समदं कृणोमि**=संग्राम करता हूँ। वस्तुत: काम आदि शत्रुओं का संहार प्रभु ही करते हैं। **अहम्**=मैं ही **द्यावापृथिवी आविवेश**=सम्पूर्ण द्युलोक व पृथिवीलोक में व्याप्त हो रहा हूँ। सर्वत्र मेरी ही शक्ति काम कर रही है।

भावार्थ—राजा को राष्ट्र-पालन की शक्ति प्रभु से ही प्राप्त होती है। मनुष्यों को काम-क्रोध आदि को जीतने की शक्ति भी प्रभु ही देते हैं।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

'हविष्मान्, यजमान, सुन्वन्'

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणा हविष्मते सुप्राव्या३ यजमानाय सुन्वते ॥ ६ ॥

१. **अहम्**=मैं **सोमम्**=उस सोम (वीर्यशक्ति) को उपासकों के शरीर में **बिभर्मि**=धारण करता हूँ जोकि **आहनसम्**=शरीर के सब रोगों का हनन करनेवाला है। **अहं त्वष्टारम्**=मैं निर्माण की देवता को **उत**=और **पूषणं भगम्**=पोषण के लिए आवश्यक ऐश्वर्य को धारण करता हूँ, **अहं**=मैं **हविष्मते**=हविष्मान् के लिए—सदा दानपूर्वक अदन (भोग) करनेवाले के लिए **द्रविणा दधामि**=धनों का धारण करता हूँ, इस हविष्मान् को धनों की कमी नहीं रहती। **सुन्वते**=अपने

अन्दर सोमशक्ति का सम्पादन करनेवाले **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए मैं **सुप्राव्या**=उत्तमता से प्रकृष्ट रक्षण करनेवाले धनों का धारण करता हूँ। 'सुन्वन्' का भाव 'निर्माणात्मक कर्मों को करना' भी है। इस निर्माण के कार्य में लगे हुए व्यक्ति के लिए भी प्रभु धनों की कभी कमी नहीं होने देते।

भावार्थ—प्रभु वीर्यशक्ति प्राप्त कराके उपासक को नीरोग बनाते हैं, उसे निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त करके पोषण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त कराते है। प्रभु 'हविष्मान्, यजमान व सुन्वन्' पुरुष को उत्तम धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'सूर्य व जलों के निर्माता' प्रभु

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानि विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि॥ ७॥

१. **अहम्**=मैं **अस्य**=इन जगत् के **मूर्धन्**=मस्तकरूप आकाश में—द्युलोक में **पितरम्**=इस पालक सूर्य को **सुवे**=उत्पन्न करता हूँ—'**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**'—यह सूर्य ही सब प्रजाओं का प्राण है। २. **मम**=मेरा **योनिः**=गृह **अप्सु अन्तः**=जलो के अन्दर **समुद्रे**=समुद्र में है। जल व समुद्रों में भी मेरा ही वास है। मेरे ही कारण उनमें रस है—'रसोऽहमप्सु कौन्तेय'। ३. **ततः**=इसप्रकार सूर्य व जलों का निर्माण करके **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों में **वितिष्ठे**=मैं स्थित होता हूँ। **उत**=और **वर्ष्मणा**=मैं अपने शरीर-प्रमाण से **अमूं द्याम्**=उस सुदूरस्थ द्युलोक को **उपस्पृशामि**=छूता हूँ। वस्तुतः यह द्युलोक मेरे विराट् शरीर का मूर्धा ही तो है।

भावार्थ—प्रभु सूर्य को द्युलोक में स्थापित करते हैं। प्रभु ही जलों में रसरूप से स्थित हैं। वे सब लोकों में व्याप्त हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

एतावनस्य महिमा, अतो ज्यायाँश्च पूरुषः

अहमेव वातइव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिम्ना सं बभूव॥ ८॥

१. **अहम् एव**=मैं ही **विश्वा भुवनानि आरभमाणा**=सब भुवनों को बनाता हुआ **वातःइव प्रवामि**=वायु की भाँति गतिवाला होता हूँ। जिस प्रकार वायु निरन्तर चल रही है, इसीप्रकार प्रभु की क्रिया भी स्वाभाविक है। वे अपनी इस क्रिया से ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं। इस निर्माण-कार्य में उन्हें किसी दूसरे की सहायता अपेक्षित नहीं होती। २. वे प्रभु **दिवा परः**=इस द्युलोक से परे भी हैं और **एना पृथिव्या परः**=इस पृथिवी से भी परे हैं। ये द्युलोक और पृथिवीलोक प्रभु को अपने में नहीं समा पाते। **महिम्ना**=अपनी महिमा से वह प्रभु-शक्ति **एतावती**=इतनी **संबभूव**=है, अर्थात् प्रभु की महिमा इस ब्रह्माण्ड के अन्दर ही दीखती है, ब्रह्माण्ड से परे तो प्रभु का अचिन्त्य, निर्विकार, निराकार रूप ही है।

भावार्थ—प्रभु अपनी स्वाभाविकी क्रिया से इस ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं। यह ब्रह्माण्ड प्रभु की महिमा है, प्रभु इससे सीमित नहीं हो जाते, वे इससे परे भी हैं।

विशेष—यह ब्रह्म का विचार करनेवाला 'ब्रह्मा' बनता है। वासनाओं पर आक्रमण करने से यह 'स्कन्द' कहलाता है। यह 'ब्रह्मास्कन्दः' अगले सूक्त का ऋषि है—

इत्यष्टमः प्रपाठकः

अथ नवमः प्रपाठकः

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अग्निरूप नरों का उपप्रयाण

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणा हृषितासो मरुत्वन्।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना उप प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः॥ १॥

१. हे **मन्यो**=ज्ञान! **त्वया**=तेरे साथ **सरथम्**=समान रथ पर आरूढ़ हुए-हुए **आरुजन्तः**=समन्तात् शत्रुओं को नष्ट करते हुए **हर्षमाणाः**=आनन्द का अनुभव करते हुए **हृषितासः**=शत्रु-संहार के लिए अस्त्रों से सुसज्जित (armed) **नरः**=मनुष्य **उपप्रयन्तु**=अभ्युदय व निःश्रेयस-सम्बन्धी क्रियाओं के प्रति प्राप्त हों। २. हे **मरुत्वन्**=प्राणोंवाले—प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता को प्राप्त होनेवाले **मन्यो**=ज्ञान! **तिग्मेषवः**=तीव्र (इषु) प्रेरणाओंवाले—प्रभु-प्रेरणाओं को ठीक से सुननेवाले, आयुधा **संशिशानाः**=इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप अस्त्रों को तीव्र करते हुए **अग्निरूपाः**=अग्नि के समान तेजस्वी अथवा उस अग्निनामक प्रभु के ही छोटेरूप बने हुए ये लोग (उप प्रयन्तु) प्रभु के समीप प्राप्त हों।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

'सेनापति' ज्ञान

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि।
हत्वाय शत्रून्वि भजस्व वेद ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व॥ २॥

१. हे **मन्यो**=ज्ञान! **अग्निः इव**=अग्नि के समान **त्विषितः**=दीप्तिवाला होता हुआ तू **सहस्व**=हमारे शत्रुओं का पराभव कर। हे **सहुरे**=शत्रुओं का पराभव करनेवाले ज्ञान! **हूतः**=पुकारा गया तू **नः**=हमारा **सेनानीः**=सेनापति **एधि**=हो। ज्ञान ही वस्तुतः उन सब साधनों में मुख्य है जो वासनाओं का नाश करनेवाले हैं। २. **शत्रून्**=काम-क्रोध आदि सब शत्रुओं को **हत्वाय**=नष्ट करके **वेदः**=जीवन-धन को **विभजस्व**=विशेषरूप से हमें प्राप्त करा। काम-क्रोध आदि से भरा जीवन जीवन ही प्रतीत नहीं होता। ज्ञान इन काम-क्रोध आदि को नष्ट करता है और हमारे लिए उत्कृष्ट जीवन-धन को प्राप्त कराता है। ३. **ओजः मिमानः**=हमारे जीवनों में ओजस्विता का निर्माण करते हुए **मृधः**=हिंसक शत्रुओं को **विनुदस्व**=विशेषरूप से दूर धकेल दे। ज्ञान हमें ओजस्वी बनाता है और काम आदि शत्रुओं के संहार के लिए समर्थ करता है।

भावार्थ— ज्ञान हमारा सेनापति बनता है और इन्द्रियों, मन व बुद्धि आदि साधनों द्वारा शुत्रओं को नष्ट कर डालता है।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञान द्वारा अभिमान का विनाश

सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मै रुजन्मृणन्प्रमृणन्प्रेहि शत्रून्।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयासा एकज त्वम्॥ ३॥

१. हे **मन्यो**=ज्ञान! तू **अस्मै**=हमारे लिए **अभिमातिम्**=अभिमानरूप शत्रु को **सहस्व**=कुचल डाल। **शत्रून्**=इन काम-क्रोध आदि शत्रुओं को **रुजन्**=भग्न करते हुए **मृणन्**=कुचलते हुए और **प्रमृणन्**=एकदम मसलते हुए **प्रेहि**=प्रकर्षेण आगे बढ़नेवाला हो। २. **ते पाजः**=तेरी शक्ति

उग्रम्=अत्यन्त तेजोमय है। यह **नु**=अब न **आरूरुजे**=रोकी नहीं जा सकती अथवा यह निश्चय से शत्रुओं का निरोध करती है। **त्वम्**=तू **एकज**=अकेला ही **वशी**=सब शत्रुओं को वश में करनेवाला है और **वशं नयासा**=सब शत्रुओं को वशीभूत करता है।

भावार्थ—ज्ञानोपर्जन द्वारा हम अभिमानरूप शत्रु को दूर करें। यह ज्ञान हमारे काम-क्रोधादि सब शत्रुओं को भस्म कर दे।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान+उपासना=विजय

एको बहूनामसि मन्य ईडिता विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि॥ ४॥

१. हे **मन्यो**=ज्ञान। **ईडिता**=प्रभु का पूजक होता हुआ तू **एकः**=अकेला ही **बहूनाम्**=काम-क्रोध आदि बहुत-से शत्रुओं का **असि**=पराभव करने में समर्थ है तू **विशंविशम्**=प्रत्येक प्रजा को **युद्धाय**=इन कामादि शत्रुओं से युद्ध करने के लिए **संशिशाधि**=सम्यक् तीक्ष्ण करता है। जब तक मनुष्य ज्ञानोपासना में नहीं चलता तब तक वह काम-क्रोध आदि को शत्रुओं में समझता ही नहीं, उन्हें पराजित करने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। ज्ञान व उपासना के आते ही वह इन काम-क्रोध आदि को शत्रुरूप में देखने लगता है और अब वह इनके साथ युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाता है। २. यह ज्ञान **अकृत्तरुक्**=अविच्छिन्न क्रान्तिवाला है। यह ज्ञानी पुरुष प्रभु से यही प्रार्थना करता है कि हे ज्ञानपुञ्ज प्रभो (मन्यो)! **त्वया युजा**=तुझ साथी के साथ **वयम्**=हम **विजयाय**=विजय के लिए **द्युमन्तं घोषम्**=ज्योतिर्मय स्तोत्रोच्चारणों को **कृण्महे**=करते हैं। जब हमारा स्तवन ज्ञानपूर्वक होता है तब यह स्तवन हमें इन शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ करता है।। इस विजय के लिए हम ज्ञानपूर्वक स्तवन में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ=ज्ञान ही हमें काम-क्रोध आदि शत्रुओं के उच्छेद के लिए समर्थ करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'ज्ञान की चरमसीमा' प्रभु

विजेषकृदिन्द्रइवानवब्रवो३ऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ॥ ५॥

१. हे **मन्यो**=ज्ञान! तू **विजेषकृत्**=विजय प्राप्त करनेवाला है **इन्द्रः इव**=एक जितेन्द्रिय पुरुष की भाँति तुझे **अनवब्रवः**=हुँकार द्वारा पराजित करके भगाया नहीं जा सकता। काम-क्रोधादि की हुँकार तुझे उसी प्रकार भयभीत नहीं कर पाती जैसेकि एक जितेन्द्रिय पुरुष को आसुरवृत्तियाँ पराजित नहीं कर पातीं। हे ज्ञान! तू **इह**=इस जीवन-यज्ञ में **अस्माकम्**=हमारा **अधिपाः भव**= रक्षक हो। २. हे **सहुरे**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाले ज्ञान! हम **ते**=तेरे **प्रियम्**=प्रिय **नाम गृणीमसि**=नाम का उच्चारण करते हैं, अर्थात् ज्ञान की महिमा को हृदय में अंकित करने के लिए आपका स्तवन करते हैं और ज्ञान के महत्त्व को समझते हुए **तम् उत्सम्**=उस स्रोत को भी **विद्म**=जानते हैं **यतः आबभूथ**=जहाँ से कि यह ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान के स्रोत प्रभु का ज्ञान ही ज्ञान की चरमसीमा है। यहाँ पहुँचने पर सब पापों का ध्वंस हो जाता है।

भावार्थ—ज्ञान काम आदि का पराभाव व ध्वंस करता है। यही हमारा रक्षक है। ज्ञान के स्रोत प्रभु का दर्शन ही ज्ञान की चरमसीमा है, एवं ज्ञान-प्राप्ति ही उपासना है।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'ऐश्वर्य के साथ उत्पन्न होनेवाला' ज्ञान

आभूत्या सहजा वज्र सायक सहो बिभर्षि सहभूत उत्तरम्।
क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्ये॑धि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि॥ ६॥

१. **आभूत्या**=सब कोशों में व्याप्त होनेवाली भूति (ऐश्वर्य) के **सहजाः**=साथ उत्पन्न होनेवाले ज्ञान के प्रकट होने पर अन्नमयकोश तेज से पूर्ण होता है, प्राणमय वीर्य से पूर्ण होता है, मनोमय ओज व बल से भर जाता है, विज्ञानमय तो इस मन्यु से युक्त होता ही है, आनन्दमय सहस् से परिपूर्ण बनता है, **वज्रः**=(वज गतौ) गति को उत्पन्न करनेवाले ज्ञान से जीवन गतिमय होता है। **सायक**=(षोऽन्तकर्मणि) सब बुराइयों का अन्त करनेवाले ज्ञान से सब मलिनताएँ नष्ट हो जाती हैं। **सहभूते**=भूति (ऐश्वर्य) के साथ निवास करनेवाले ज्ञान! तू **उत्तरं सह बिभर्षि**=उत्कृष्ट बल को धारण करता है। हे **मन्यो**=ज्ञान! तू **क्रत्वा सह**=यज्ञ आदि उत्तम कर्मों के साथ **नः मेदी एधि**=हमारे साथ स्नेह करनेवाला हो। हम ज्ञान प्राप्त करके यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले बनें। हे **पुरुहूत**=पालक व पूरक है पुकार जिसकी ऐसे ज्ञान! तू **महाधनस्य**=उत्कृष्ट ऐश्वर्य के **संसृजि**=निर्माण में हमसे (मेदी एधि) स्नेह करनेवाला हो। तुझे मित्र के रूप में पाकर हम उत्कृष्ट ऐश्वर्य का उत्पादन करनेवाले हों।

भावार्थ—ज्ञान ही सब ऐश्वर्यों का मूल है। यह उत्कृष्ट बल देता है, यह हमें क्रियाशील बनाकर हमारा सच्चा मित्र होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

श्रद्धा व ज्ञान का समन्वय

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्युः।
भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम्॥ ७॥

१. **मन्युः**=ज्ञान **च**=तथा **वरुणः**=ज्ञान के द्वारा सब बुराइयों का निवारण करनेवाले प्रभु **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **अभयम्**=ज्ञान व श्रद्धारूप उभयविध **धनम्**=धन को जोकि **समाकृतम्**=सम्यक् उत्पन्न किया हुआ तथा **संसृष्टम्**=परस्पर मिला हुआ है, उसे **धत्ताम्**=दें। हमारे जीवनों में ज्ञान व श्रद्धा का समन्वय हो। वस्तुतः 'ठीक ज्ञान' श्रद्धा को उत्पन्न करता है, 'श्रद्धा' ज्ञान को। २. इसप्रकार हमारे मस्तिष्क व हृदय के परस्पर संगत हो जाने पर **शत्रवः**=काम आदि सब शत्रु **हृदयेषु भियं दधानाः**=अपने हृदयों में भय को धारण करते हुए **पराजितासः**=पराजित हुए-हुए **अपनिलयन्ताम्**=कहीं सुदूर निलीन हो जाएँ, हम इनसे आक्रान्त न हों।

भावार्थ—ज्ञान के द्वारा प्रभु-दर्शन होने पर हमारे जीवनों में ज्ञान व श्रद्धा के धन का वह समन्वय होता है कि काम आदि सब शत्रु सुदूर विनष्ट हो जाते हैं।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'ब्रह्मास्कन्दः' ही है—

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'वज्रसायक' मन्यु की प्राप्ति व शत्रु-मर्षण

यस्ते मन्योऽविधद्वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक्।
साह्याम दासमार्यं त्वया युजा वयं सहस्कृतेन सहसा सहस्वता॥ १॥

१. हे **मन्यो**=ज्ञान (मनु अवबोधे)! **वज्र**=हमें गतिशील बनाने वाले—'**क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः**', **सायक**=हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं का अन्त करनेवाले (षोऽन्तकर्मणि)! **यः**=जो **ते**=तेरी **अविधत्**=उपासना करता है, वह व्यक्ति **विश्वम्**=सम्पूर्ण **सहःओजः**=साथ ही उत्पन्न होनेवाले नैसर्गिक ओज को **आनुषक्**=निरन्तर **पुष्यति**=अपने में धारण करता है। यह अपने में ओजस्विता को धारण करता है। २. हे ज्ञान! **त्वया युजा**=तुझ मित्र के साथ **वयम्**=हम **दासम्**=उपक्षय करनेवाले **आर्यम्**=(ऋ गतौ) हमपर आक्रमण करनेवाले शत्रु को **सह्याम**=पराभूत करें। उस तेरे साथ जो तू **सहस्कृतेन**=सहस् (शत्रुमर्षक बल) के उद्देश्य से उत्पन्न किया गया है। **सहसा**=सहस् से—ज्ञान तो है ही सहस्—यह शत्रुओं का पराभव करनेवाला है, **सहस्वता**=सहस्वाला है, यह अवश्य ही कामदि शत्रुओं का मर्षण करेगा।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनें। ज्ञान के द्वारा काम आदि शत्रुओं का पराभव करें।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

इन्द्र-देव-वरुण-जातवेदाः

मन्युरिन्द्रो॑ मन्युरे॒वास॑ दे॒वो म॒न्युर्होता॒ वरु॑णो जा॒तवे॑दाः।
म॒न्युर्विश॑ ईडते॒ मानु॑षी॒र्याः पा॒हि नो॑ मन्यो॒ तप॑सा स॒जोषाः॑ ॥ २ ॥

१. यह **मन्युः**=ज्ञान ही **इन्द्रः**=इन्द्र है। ज्ञान ही हमें इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनाता है। इस ज्ञान से ही हम आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले वृत्रहन्ता 'इन्द्र' बनते हैं। **मन्युः एव**=यह ज्ञान ही **देवः आस**=देव है। यही हमें दिव्य वृत्तियोंवाला बनाता है। ज्ञानी पुरुष ही संसार की सब क्रियाओं को एक खिलाड़ी की मनोवृत्ति से करता हुआ सच्चा देव बनता है (दिव् क्रीडायाम्)। **मन्युः**=ज्ञान ही **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला—यज्ञ करके यज्ञशेष का सेवन करनेवाला होता है। ज्ञानी कभी अकेला नहीं खाता—सबके साथ बाँटकर ही खाता है। यह मन्यु ही **वरुणः**=हमसे द्वेष का निवारण करनेवाला होता है और **जातवेदाः**=(वेदस्=wealth) आवश्यक धनों को उत्पन्न करनेवाला है। ज्ञान से मनुष्य में आवश्यक धन को उत्पन्न करने की योग्यता आ जाती है। २. **याः मानुषीः विशः**=जो विचारशील प्रजाएँ हैं वे **मन्युः** (मन्युम्) **ईडते**=ज्ञान को उपासित करती हैं। ये ज्ञान की साधना में प्रवृत्त होती हैं। हे **मन्यो**=ज्ञान! **तपसा सजोषाः**=तप के साथ हमारे लिए समान प्रीतिवाला होता हुआ **नः पाहि**=तू हमारा रक्षण कर। तपस्या के साथ ही ज्ञान का निवास है।

भावार्थ—ज्ञान से हम जितेन्द्रिय, दिव्य गुणोंवाले, दाता, निर्द्वेष तथा धनार्जन की क्षमतावाले होते हैं। यह ज्ञान ही हमारा रक्षण करता है। ज्ञान-साधना के लिए तप आवश्यक है।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शत्रुनाश व वसु-प्राप्ति

अ॒भी᳚हि म॑न्यो त॒वस॒स्तवी॑या॒न्तप॑सा यु॒जा वि ज॑हि॒ शत्रू॑न्।
अ॒मि॒त्र॒हा वृ॑त्र॒हा द॑स्यु॒हा च॒ विश्वा॒ वसू॒न्या भ॑रा॒ त्वं नः॑ ॥ ३ ॥

१. हे **मन्यो**=ज्ञान! तू **अभि इहि**=हमारी ओर आनेवाला हो—हमें प्राप्त हो। तू **तवसः तवीयान्**=बलवान् से भी बलवान् है। ज्ञान सर्वाधिक शक्तिवाला है। हे ज्ञान! **तपसा युजा**=तपरूप साथी के साथ तू **शत्रून् विजहि**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं को नष्ट कर दे। तप से ज्ञान उत्पन्न होता है और यह ज्ञान काम आदि शत्रुओं का विध्वंस करनेवाला होता है। २. हे मन्यो! **अमित्रहा**=तू हमारे शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है, **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को

नष्ट करता है **च**=और **दस्युहा**=तू दास्यववृत्ति को समाप्त करनेवाला है। यह ज्ञान हमारी ध्वंसक वृत्तियों को दूर करता है। हे ज्ञान! तू **नः**=हमारे लिए **विश्वा वसूनि**=निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों को **आभर**=प्राप्त करानेवाला हो।

भावार्थ—ज्ञान एक प्रबल शक्ति है। यह हमारे सब शत्रुओं को समाप्त करती है। यह ज्ञान हमें वसुओं को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान एक प्रबलशक्ति के रूप में

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि॥ ४॥

१. हे **मन्यो**=ज्ञान! **त्वम् हि**=तू ही **अभिभूत्योजाः**=शत्रुओं को पराभूत करनेवाले ओजवाला है। तेरे द्वारा काम आदि शत्रुओं का पराभव होता है। यह ज्ञान **स्वयंभूः**=स्वयं होनेवाला है—(अग्नि आदि ऋषियों के) हृदय में प्रभु के द्वारा स्थापित किया जाता है। ईर्ष्या-द्वेष आदि के आवरण के कारण हमारा यह ज्ञान आवृत-सा हुआ रहता है। यह ज्ञान **भामः**=तेज है—हमें तेजस्वी बनाता है, **अभिमातिषाहः**=अभिमान का यह पराभव करनेवाला है—ज्ञानी पुरुष सदा विनीत होता है। २. यह ज्ञान **विश्वचर्षणिः**=सर्वद्रष्टा है, अर्थात् यह केवल अपने ही हित को न देखकर सभी के हित का ध्यान करता है। **सहुरिः**=सहनशील होता है। **सहीयान्**=खूब ही सहन शक्तिवाला होता है। यह ज्ञानी दूसरों से किये गये अपमान से उत्तेजित नहीं हो जाता। हे ज्ञान! तू **पृतनासु**=काम-क्रोध आदि के साथ चलनेवाले आध्यात्मिक संग्रामों में **अस्मासु**=हममें **ओजः धेहि**=ओजस्विता का आधान कर। तेरे द्वारा ओजस्वी बनकर हम इन आध्यात्म-संग्रामों में कभी पराजित न हों।

भावार्थ—ज्ञान वह शक्ति है जिसके द्वारा हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव कर पाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान के प्रति अरुचि=दौर्भाग्य

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीडाहं स्वा तनूर्बलदावा न एहि॥ ५॥

१. हे **प्रचेतः**=प्रकृष्ट ज्ञान! **अभागः सन्**=कुछ अल्प भाग्यवाला होता हुआ मैं **तविषस्य**=महान् शक्तिशाली **तव**=तेरे **क्रत्वा**=कर्म से, अर्थात् ज्ञान-साधक कर्मों से **अपपरेतः अस्मि**=दूर होता हुआ मार्ग से भटक गया हूँ। यह मेरे सौभाग्य की कमी है कि मैं ज्ञान-प्राप्ति के कर्मों में नहीं लगा रह सका। हे **मन्यो**=ज्ञान! **तं त्वा**=उस तुझसे **अक्रतुः**=अकर्मण्य होता हुआ मैं **जिहीड**=घृणा करता हूँ। आलस्य के कारण तेरे प्रति मेरी रुचि नहीं होती। २. परन्तु अब मैं समझता हूँ कि आलस्य व अकर्मण्यता से दूर होकर सतत प्रयत्न से ज्ञान प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है, अतः हे ज्ञान! **स्वा तनूः** (मम शरीरभूतः त्वम्—सा०) मेरा शरीर बना हुआ तू **बलदावा**=बल को देनेवाला **नः आ इहि**=हमें प्राप्त हो। ज्ञान मेरा शरीर ही बन जाए। मैं सदा ज्ञान में निवास करनेवाला बनूँ। इसी से मुझे इस संघर्षमय संसार में आनेवाले विघ्नों को सहन करने की शक्ति प्राप्त होगी।

भावार्थ—सबसे बड़ा दौर्भाग्य यह है कि हम ज्ञान-प्राप्ति के साधक कर्मों से दूर हो जाते

हैं। ज्ञान में ही निवास करने पर वह शक्ति प्राप्त होती है जो संसार में आगे बढ़ने में समर्थ बनाती है।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान के प्रति रुचि=सौभाग्य

अयं ते अस्म्युप न एह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वदावन्।
मन्यो वज्रिन्नभि न आ ववृत्स्व हनाव दस्यूंरुत बोध्यापेः ॥ ६ ॥

१. ज्ञान-रुचि बनकर यह कहता है कि हे ज्ञान! **अयं ते अस्मि**=यह मैं तेरा हूँ, अर्थात् अब मैं ज्ञान का भक्त बन गया हूँ। **उप नः अर्वाङ् आ इह**=तू हमें समीपता से अभिमुख होता हुआ प्राप्त हो। **प्रतीचीनः**=मेरे शत्रुओं के प्रति गति करता हुआ तू मुझे प्राप्त हो। **सहुरे**=हे शत्रुओं का पराभव करनेवाले ज्ञान! **विश्वदावन्**=तू हमारे लिए सब ऐश्वर्यों का देनेवाला है। **हे वज्रिन्**=क्रियाशील—हमें क्रियाशील बनानेवाले **मन्यो**=ज्ञान! तू **नः अभिः**=हमारी ओर **आववृत्स्व**=आनेवाला हो। तू हमें सदा प्राप्त हो। **दस्यून् हनाव**=हम तेरे साथ मिलकर दस्युओं का हनन करनेवाले हों। तेरे द्वारा हम दास्यववृत्तियों को नष्ट कर सकें, **उत**=और हे ज्ञान! तू **आपेः**=अपने मित्र का—मेरा **बोधि**=ध्यान करनेवाला हो। तुझे ही शत्रुओं के संहार के द्वारा हमारा रक्षण करना है।

भावार्थ—जिस दिन हम ज्ञान के आराधक बनते हैं, वह दिन हमारे सौभाग्यवाला होता है। इस ज्ञान के साथ मिलकर हम दास्यववृत्तियों का संहार करनेवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान+ध्यान=सोमरक्षण

अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा नोऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि।
जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभावुपांशु प्रथमा पिबाव ॥ ७ ॥

१. हे ज्ञान! तू **अभि प्रेहि**=मुझे अभिमुख्येन प्राप्त हो। **नः**=हमारे **दक्षिणतः भव**=दक्षिण की ओर हो, अर्थात् मैं तेरा आदर करनेवाला बनूँ। जिसे हम आदर देते हैं, उसे दाहिनी ओर ही बिठाते हैं। **अध**=अब हम तेरे साथ मिलकर **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **भूरि**=खूब ही **जंघनाव**=नष्ट करें। २. **ते**=तेरे उद्देश्य से, तेरी प्रगति के लिए **धरुणम्**=शरीर का धारण करनेवाले **मध्वः अग्रम्**=मधुर वस्तुओं में सर्वश्रेष्ठ इस सोम को **जुहोमि**=अपने अन्दर आहुत करता हूँ। सोमरक्षण से बुद्धि की तीव्रता होकर ज्ञान में वृद्धि होती है। हे ज्ञान! तू और मैं **उभा**=दोनों मिलकर **उपांशु**=चुपचाप—मौनपूर्वक—ध्यानावस्था को अपनाकर **प्रथमा पिबाव**=सबसे प्रथम इस सोम का पान करते हैं। ज्ञान-प्राप्ति व ध्यान सोमरक्षण के साधन बनते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान को साथी बनाकर वृत्र आदि शत्रुओं का हनन करें। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए सोम का पान करें। ये ज्ञान और ध्यान हमें सोम-रक्षण में समर्थ बनाएँ।

विशेष—ज्ञान और ध्यान द्वारा वासना-विनाश करता हुआ तथा सब शक्तियों का विकास करता हुआ यह व्यक्ति 'ब्रह्मा' बनता है। पाप का नाश करनेवाला यह 'ब्रह्मा' प्रार्थना करता है—

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

पवित्र धन

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम्। अप नः शोशुचदघम् ॥ १ ॥

१. **नः**=हमसे होनेवाला **अघम्**=पाप **अप**=दूर होकर **शोशुचत्**=ठहरने का स्थान न रहने से शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **रयिम्**=हमारे धनों को **शुशुग्धि**=सब प्रकार से शुद्ध कर दीजिए। हमारा धन सुपथ से कमाया जाकर प्रकाशमय ही हो। २. 'वस्तुतः शुद्ध मार्ग से ही धन कमाना है', इस वृत्ति के आते ही पाप समाप्त हो जाते हैं। अन्याय से धन कमाने की वृत्ति के मूल में 'लोभ' है। यह लोभ ही सब पापों का मूल है, अतः हे प्रभो! आप हमारे इस लोभ को दूर करके धन को पवित्र कीजिए, जिससे हमारा यह सब **अघम्**=पाप **अप**=हमसे दूर होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए।

भावार्थ—हम पवित्र कर्मों से ही धन कमाएँ। ऐसा होने पर न लोभ होगा और न पाप। पवित्र धन हमारे सब पापों को नष्ट कर देगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सुक्षेत्र+सुगातु+वसु

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे। अप नः शोशुचदघम्॥ २॥

१. **सुक्षेत्रिया**=इस उत्तम शरीररूप क्षेत्र को शोभन बनाने की इच्छा से **यजामहे**=हे प्रभो! हम आपका पूजन करते हैं। प्रभु-पूजन से हम प्रकृति के भोगों में नहीं फँसते और शरीर में रोग नहीं आते। एवं, यह शरीररूप क्षेत्र नीरोगता के द्वारा सुक्षेत्र बना रहता है। २. **सुगातुया**=उत्तम मार्ग की कामना से हम हे प्रभो! आपका संगतिकरण करते हैं। आपके साथ चलते हुए हम भटकते नहीं। आप हमारा मार्ग-दर्शन करते हैं और इसप्रकार हम जीवन में शुभ मार्ग से ही चलते हैं **च**=और **वसूया**=वसुओं को प्राप्त करने की कामना से (यजामहे)—हम आपके प्रति अपना दान करते हैं। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला प्रभु से सब वसुओं को प्राप्त करता है। ३. हे प्रभो! हमारी ये कामनाएँ बनी रहें कि (क) हमें प्रभु-पूजन द्वारा भोग-प्रवणता से ऊपर उठकर शरीर के नीरोग बनाना है, (ख) प्रभु के सम्पर्क में रहकर सदा उत्तम मर्ग पर चलना है और (ग) प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके—दानवृत्ति को अपनाकर वसुओं को प्राप्त करना है। ऐसा होने पर **अघम्**=पाप **नः**=हमसे **अप**=दूर होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए।

भावार्थ—शरीर को उत्तम बनाने की कामना, उत्तम मार्ग पर चलने की कामना व वसु-प्राप्ति की कामना से 'प्रभु-पूजन, प्रभु-संगतिकरण व प्रभु के प्रति अर्पण' में प्रवृत्त होने पर हम पापों से दूर हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

लोकहितप्रवृत्ति व सज्जन-संग

प्र यद्भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः। अप नः शोशुचदघम्॥ ३॥

१. **यत्**=क्योंकि मैं **एषाम्**=इन मनुष्यों का **प्रभन्दिष्ठः**=(भदि कल्याणे सुखे च) अधिक-से-अधिक कल्याण व सुख करनेवाला हूँ **च**=और **अस्माकासः**=हमारे साथ मेलवाले लोग **प्रसूरयः**=प्रकृष्ट ज्ञानी हैं, अर्थात् हम ज्ञानियों के सम्पर्क में ही उठते-बैठते हैं, अतः **नः**=हमारा **अघम्**=पाप **अप**=हमसे पृथक् होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए। २. पाप को दूर करने के लिए आवश्यक है कि (क) हम लोकहित के कर्मों में लगे रहें, आराम की वृत्ति आई तो पाप भी आये, (ख) हम सदा ज्ञानियों के सम्पर्क में रहें, उन्हीं के साथ हमारा उठना-बैठना हो। सत्सङ्ग पाप से बचाता है, कुसंग पाप में फँसाता है।

भावार्थ—पाप से बचने के लिए हम लोकहित के कामों में लगे रहें और सदा सत्संग में रहें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

ज्ञान व पाप-शोषण

प्र यत्ते॑ अग्ने सूरयो॒ जायेमहि॒ प्र ते॑ व॒यम्। अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम्॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यत्**=यदि **सूरयः**=ज्ञानी बनकर **वयम्**=हम **ते**=आपके और **ते**=आपके ही **प्रप्र जायेमहि**=प्रकर्षेण, पूर्णरूपेण हो जाएँ तो **नः**=हमारा **अघम्**=पाप **अप**=हमसे दूर होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए। २. जितना-जितना हम प्रकृति की ओर झुकते हैं, उतनी-उतनी ही पापों में फँसने की आशंका बढ़ती जाती है। प्रभु-प्रवणता हमें प्रकाशमय जीवनवाला 'सूरी' बनाती है। ये 'सूरी' प्रभु के ही हो जाते हैं और ऐसा होने पर पापों की सम्भावना ही नहीं रहती।

भावार्थ—हम प्रभु के ज्ञानीभक्त बनें और इसप्रकार पापों का समूल शोषण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

शक्ति व प्रकाश

प्र यद॒ग्नेः सह॑स्वतो वि॒श्वतो॒ यन्ति॑ भा॒नवः॑। अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम्॥ ५॥

१. **यत्**=जब **सहस्वतः**=सहस्वाले—सहोरूप (शक्तिपुञ्ज) **अग्नेः**=अग्रणी प्रभु की **भानवः**=ज्ञानदीप्तियाँ **विश्वतः**=हमारे जीवन में सब ओर **प्रयन्ति**=प्रकर्षेण गति करती हैं, तब **नः**=हमारे **अघम्**=पाप **अप**=हमसे दूर होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाते हैं। २. ज्ञान के प्रकाश में पापान्धकार विलीन हो जाता है। सहस्वान् प्रभु के सहस् से सहस्वाले बनकर हम पापरूप शत्रुओं को कुचल डालते हैं (**सहस्**=शत्रु-मर्षक बल)।

भावार्थ—प्रभु के सम्पर्क में हम प्रकाश व बल को प्राप्त करके पापों को कुचल डालते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

विश्वतोमुख प्रभु का उपासन

त्वं हि वि॑श्वतोमुख वि॒श्वतः॑ प॒रि॒भूरसि॑। अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम्॥ ६॥

१. हे **विश्वतोमुख**=सब ओर मुखोंवाले परामात्मन्! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **विश्वतः**=सब ओर से **परिभूः**=हमारे रक्षक **असि**=हैं (**परिभू**=परिग्रहीता)। चारों ओर से आक्रमण करनेवाले इन शत्रुओं को विश्वतोमुख आप ही नष्ट कर सकते हो। २. हे प्रभो! आपके रक्षण में **अघम्**=यह पाप **नः**=हमसे **अप**=दूर होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए। किसी भी ओर से पाप का आक्रमण हो, ये विश्वतोमुख प्रभु उसका नाश करते ही हैं। अन्दर-ही-अन्दर पैदा हो जानेवाले (मनसिज) कामादि शत्रु भी हृदयस्थ प्रभु के तेज से दग्ध हो जाते हैं।

भावार्थ—विश्वतोमुख प्रभु का उपासन हमें सब ओर से रक्षित करता है, हमपर पापों का आक्रमण नहीं होने देता।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

द्वेष के पार

द्विषो॑ नो विश्वतोमु॒खाति॑ ना॒वेव॑ पारय। अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम्॥ ७॥

१. हे **विश्वतोमुख**=सब ओर मुखोंवाले—सर्वद्रष्टा प्रभो! **नः**=हमें **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं से उसी प्रकार **अतिपारय**=पार कीजिए **इव**=जैसेकि **नावा**=नौका से किसी नदी को पार किया

जाता है। २. हम द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठकर प्रेम के क्षेत्र में विचरें, जिससे **नः**=हमारा **अघम्**=पाप हमसे दूर होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए।

भावार्थ—द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठकर ही हम पाप को विनष्ट कर पाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभुरूपी नाव

स नः सिन्धुमिव नावाति पर्षा स्वस्तये। अप नः शोशुचदघम्॥ ८॥

१. हे प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमें **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति व कल्याण के लिए उसी प्रकार **अतिपर्षा**=सब पापों से पार करके पालित व पूरित कीजिए, **इव**=जैसे **नावा**=नाव के द्वारा **सिन्धुम्**=नदी को पार करते हैं। आपका नाम ही इस भव-सागर से तैरने के लिए नाव बन जाए, और **नः**=हमारा **अघम्**=पाप **अप**=हमसे दूर होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए।

भावार्थ—जैसे समुद्र को पार करने के लिए नाव साधन होती है, उसी प्रकार प्रभु का नाम हमारे लिए संसार-सागर को तैरने के लिए नाव हो जाए। पाप से पार होकर हम सुखमय स्थिति में हों।

विशेष—प्रभु-नाम का स्मरण करनेवाला यह व्यक्ति अपने अन्दर 'ब्रह्मौदन' (ज्ञान-भोजन) का परिपाक करता है। यह अथर्वा होता है—अथ अर्वाङ्=आत्म-निरीक्षण करता है, अपने अन्दर देखता है और (अ-थर्व) डाँवाडोल नहीं होता।

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्मौदन का स्वरूप

ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठं वामदेव्यमुदरमोदनस्य।
छन्दांसि पक्षौ मुखमस्य सत्यं विष्टारी जातस्तपसोऽधि यज्ञः॥ १॥

१. **अस्य**=इस **ओदनस्य**=ब्रह्मौदन का **ब्रह्म**=ज्ञान ही **शीर्षम्**=सिर है। **बृहत्**=(बृहि वृद्धौ) हृदय की विशालता ही **अस्य पृष्ठम्**=इसकी पीठ है और **वामदेव्यम्**=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला होता ही **उदरम्**=उदर है। ब्रह्मौदन को यदि एक पुरुष के रूप में चित्रित करें तो ये 'ब्रह्म, बृहत् और वामदेव्य' इसके भिन्न-भिन्न अङ्ग हैं। २. इसीप्रकार **छन्दांसि**=पापों को अपवारित करनेवाले वेदमन्त्र इस ओदन के **पक्षौ**=पासे—पार्श्व हैं तथा **सत्यम्**=सत्य **अस्य**=इसका **मुखम्**=मुख है। इसप्रकार **तपसः अधि**=ज्ञानग्रहणरूप तप से विष्टारी **यज्ञः जातः**=हमारी सब शक्तियों का विस्तार करनेवाला यज्ञ उत्पन्न हुआ है, अर्थात् ज्ञान हमारे जीवनों में यज्ञ को जन्म देता है, उस यज्ञ को जो हमारी सब शक्तियों के विस्तार का साधन बनता है।

भावार्थ—हम ज्ञानभोजन करनेवाले बनें। इस ज्ञानग्रहणरूप तप से ही उस यज्ञ की भावना का हममें उदय होता है जो हमारी सब शक्तियों का विस्तार करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पूताः, शुचयः

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम्।
नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम्॥ २॥

१. **अनस्थाः**=जो हाड-मांस से बने हुए शरीर से ऊपर उठ जाते हैं—स्थूलशरीर के भोगों से ऊपर उठे हुए हैं, **पूताः**=जो पवित्र वृत्तिवाले हैं, **पवनेन शुद्धाः**=प्राणायाम के द्वारा शुद्ध जीवनवाले बने हैं, **शुचयः**=ज्ञान से दीप्त मस्तिष्कवाले हैं—ये व्यक्ति **शुचिम् लोकम्**=पवित्र लोक को **अपियन्ति**=प्राप्त होते हैं। २. **एषाम्**=इनके **शिश्नम्**=उपस्थेन्द्रिय को **जातवेदाः**=कामाग्नि न **प्रदहति**=जलाती नहीं। ये कामाग्नि से सन्तप्त नहीं होते। इनका घर स्वर्ग-सा बन जाता है और **एषाम्**=इनके इस **स्वर्गे लोके**=स्वर्गलोक में **बहु स्त्रैणम्**=बहिनों, भौजाइयों, पत्नी व माता आदि कितनी ही स्त्रियों का सुखपूर्वक निवास होता है।

भावार्थ—ज्ञान-भोजन करनेवाले लोग भौतिक सुखों से ऊपर उठकर प्राणसाधना करते हुए पवित्र व दीप्त जीवन बिताते हैं। ये लोग कामाग्नि से सन्तप्त नहीं होते। इनका घर स्वर्ग लोक-सा बन जाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

विष्टारी ओदन का परिपाक

वि॒ष्टा॒रिण॑मोद॒नं ये पच॑न्ति॒ नैना॒नव॑र्तिः सचते क॒दा च॒न।
आस्ते॑ य॒म उप॑ याति दे॒वान्त्सं ग॑न्ध॒र्वैर्म॑दते सो॒म्येभिः॑ ॥ ३ ॥

१. **ये**=जो **विष्टारिणम्**=शक्तियों का विस्तार करनेवाले **ओदनम्**=ज्ञान-भोजन को **पचन्ति**=पकाते हैं, अर्थात् जो ज्ञान-प्रधान जीवनवाले बनकर, भोगासक्ति से ऊपर उठ कर अपनी शक्तियों का विस्तार करते हैं, **एनान्**=ब्रह्मौदन का सेवन करनेवाले इन व्यक्तियों को **अवर्तिः**=(वर्ति=जीविका) जीविका के लिए आवश्यक धन का अभाव **कदाचन**=कभी भी **न सचते**=नहीं प्राप्त होता। ज्ञानी दारिद्र्य पीड़ित नहीं होता। २. यह ज्ञानी **यमे**=उस सर्वनियन्ता प्रभु में **आस्ते**=आसीन होता है, **देवान् उपयाति**=दिव्य गुणों को प्राप्त होता है। ब्रह्म-उपासना दिव्य गुण-प्राप्ति का साधन बनती है। यह **सोम्येभिः**=सोम का रक्षण करनेवाले—विनीत **गन्धर्वैः**=ज्ञान-वाणियों के धारक पुरुषों के साथ **संमदते**=उत्कृष्ट हर्षयुक्त होता है।

भावार्थ—ज्ञानप्रधान जीवनवाला व्यक्ति १. दरिद्र नहीं होता, २. प्रभु का उपासक होता है, ३. दैवीसम्पत्ति को प्राप्त होता है, ४. विनीत ज्ञानियों के सम्पर्क में हर्ष का अनुभव करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

रथी-पक्षी

वि॒ष्टा॒रिण॑मोद॒नं ये पच॑न्ति॒ नैना॒न्य॒मः परि॑ मुष्णाति॒ रेतः॑।
र॒थी ह॑ भू॒त्वा र॑थ॒यान॑ ईयते प॒क्षी ह॑ भू॒त्वाति॒ दिवः॒ समे॑ति ॥ ४ ॥

१. **ये**=जो **विष्टारिणाम्**=शक्तियों का विस्तार करनेवाले **ओदनम्**=ज्ञान-भोजन को **पचन्ति**=पकाते हैं, अर्थात् ज्ञानप्रधान जीवनवाले बनकर, भोगासक्ति से ऊपर उठे हुए, अपनी शक्तियों का विस्तार करते हैं—ब्रह्मौदन का सेवन करनेवाले होते हैं, **यमः**=सर्वनियन्ता प्रभु **एनान्**=इन व्यक्तियों की **रेतः न परिमुष्णाति**=शक्तियों का अपहरण नहीं करता। यह ज्ञानी वासनाओं से आक्रान्त न होने के कारण शक्तिशाली बना रहता है। २. यह **ह**=निश्चय से **रथी भूत्वा**=उत्तम शरीर-रथवाला होकर **रथयाने**=रथ के मार्ग पर **ईयते**=गतिवाला होता है। यह कभी मार्ग-भ्रष्ट नहीं होता और **ह**=निश्चय से **पक्षी**-उत्तम बातों का परिग्रहवाला होकर **दिवः अति**=द्युलोक से भी ऊपर उठकर सूर्यद्वार से **समेति**=प्रभु से साथ सङ्गत होता है।

भावार्थ—ब्रह्मौदन का सेवन करनेवाला ज्ञानप्रधान व्यक्ति १. शक्तिशाली बना रहता है, २.

उत्तम शरीर-रथवाला होता हुआ कभी मार्ग-भ्रष्ट नहीं होता, ३. उत्तम बातों का परिग्रह करता हुआ द्युलोक से भी ऊपर उठकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्**॥ छन्दः—**सप्तपदाकृतिः**॥

'वितत वहिष्ठ' ज्ञानयज्ञ

एष य॒ज्ञानां॒ वित॑तो॒ वहि॑ष्ठो विष्टा॒रिणं॑ प॒क्त्वा दि॒वमा वि॑वेश।
आ॒ण्डीकं॑ कुमु॒दं सं त॑नोति॒ बिसं॑ शा॒लूकं॒ शफ॑को मु॒लाली।
ए॒तास्त्वा॒ धारा॒ उप॑ यन्तु॒ सर्वाः॑ स्व॒र्गे लो॒के मधु॑म॒त्पिन्व॑माना॒
उप॑ त्वा तिष्ठन्तु पुष्क॒रिणीः॒ सम॑न्ताः॥ ५॥

१. **एषः**=यह ज्ञानयज्ञ **यज्ञानाम्**=यज्ञों में **विततः**=सर्वाधिक विशालतावाला है—ज्ञानयज्ञ का कहीं अन्त नहीं है—'**अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्**'। यह **वहिष्ठः**=वोढ़तम है—हमें अधिक-से-अधिक प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाला है। **विष्टारिणम्**=शक्तियों का विस्तार करनेवाले इस ज्ञान-भोजन को **पक्त्वा**=पकाकर मनुष्य **दिवम् आविवेश**=स्वर्ग में प्रवेश करता है। २. यह अपने घर में **आण्डीकम्**=अण्डाकृति कन्द से उत्पन्न होनेवाले **कुमुदम्**=कमलों को घर के चारों ओर होनेवाले जलकुण्डों में (ह्रदेषु) **सन्तनोति**=विस्तृत करता है। ये कुमुद (को मोदते) घर के वातावरण को शोभायुक्त करते हैं। इन ह्रदों में **विसम्**=मृणाल (अब्जमूल) कमल-फूल होते हैं। ये रोगों के विनाश का करण बनते हैं (मृण हिंसायाम्) और शरीर में रुधिराभिसरण के लिए सहायक होते हैं (विस प्रेरणे)। **शालूकम्**=यहाँ उत्पलकन्द दिखते हैं, **शफकः**=शफ की आकृति के कन्दविशेष होते हैं और **मुलाली**=मृणालियाँ होती हैं—इसप्रकार **समन्ताः**=पर्यन्तवर्तिनी—चारों दिशाओ में होनेवाली **पुष्करिण्यः**=कमल की सरसियाँ (छोटे-छोटे तलाब) **त्वा उपतिष्ठन्तु**=तेरे समीप उपस्थित हों। ३. **एताः**=ये **सर्वाः**=सब **धाराः**=धारण करनेवाली मृणालियाँ **त्वा**=तुझे **उपयन्तु**=समीपता से प्राप्त हों। ये **स्वर्गे लोके**=स्वर्गतुल्य इस गृहप्रदेश में **मधुमत् पिन्वमानाः**=माधुर्ययुक्त रस का सचेन करनेवाली हों। इन विविध प्रकार के कमलों से युक्त पुष्करिणियाँ गृह को लक्ष्मीयुक्त (शोभा-सम्पन्न) बनाती हैं। लक्ष्मी का नाम ही 'पद्मालया' है। इनका केसर 'किञ्जल्क' है (किञ्चित् जलति, जल अपवारणे) कुछ रोगादि का अपवारण करनेवाला है। इस पवित्र वातावरण में ज्ञानयज्ञ अधिक सुन्दरता से चल पाता है।

भावार्थ—ज्ञानयज्ञ हमें तत्त्व-प्राप्ति में सर्वाधिक सहायक है। यह शक्तिप्रसारक यज्ञ हमें स्वर्ग में ले-जाता है। इस यज्ञ के लिए वातावरण को उपयुक्त बनाने के लिए हम घरों में छोटी-छोटी पुष्करिणियों का आयोजन करें। उनमें खिले कमल गृह को लक्ष्मी-सम्पन्न बनाएँगे। इनका केसर नीरोगता का कारण बनता हुआ आनन्द का सञ्चार करेगा।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्**॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिशक्वरी**॥

क्षीर, उदक, दधि

घृतह्र॑दा॒ मधु॑कूला॒ः सुरो॑दकाः क्षी॒रेण॑ पू॒र्णा उ॒दके॑न द॒ध्ना।
ए॒तास्त्वा॒ धारा॒ उप॑ यन्तु॒ सर्वाः॑ स्व॒र्गे लो॒के मधु॑म॒त्पिन्व॑माना॒
उप॑ त्वा तिष्ठन्तु पुष्क॒रिणीः॒ सम॑न्ताः॥ ६॥

१. **घृतह्रदाः**=घृत के तालाब **मधुकूलाः**=जिसके किनारे शहद के बने हुए हैं तथा ऐसे तालाब जोकि **सुरोदकाः**=(सुरा) उत्तम से हुए जलवाले हैं। ये तालाब जोकि **क्षीरेण**=दूध से **पूर्णाः**=भरे हुए हैं, **उदकेन**=जल से पूर्ण हैं और **दध्ना**=दही से भरे हुए हैं। **एताः**=ये

सर्वाः=सब **धाराः**=धारण करनेवाले तालाब **त्वा उपयन्तु**=तुझे समीपता से प्राप्त हों, अर्थात् घर में 'घृत, मधु, पवित्रजल, दूध, दही' की कमी न हो। २. ये सब धारण करनेवाले तालाब **स्वर्गे लोके**=स्वर्गतुल्य इस गृहप्रदेश में **मधुमत् पिन्वमानाः**=माधुर्ययुक्त रस का सेचन करनेवाले हों और **समन्ताः**=चारों दिशाओं में होनेवाली **पुष्करिणीः**=कमलों की सरसियाँ **त्वा**=तेरे गृह में **उपतिष्ठन्तु**=उपस्थित हों।

भावार्थ—हमारे घरों में 'घृत मधु, पवित्रजल, दूध व दही' की कमी न हो। घर में चारों ओर कमलों के छोटो-छोटे तालाब हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाभुरिक्शक्वरी** ॥

चार घड़े

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णाँ उदकेन दध्ना।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ७ ॥

१. **क्षीरेण**=दूध से **उदकेन**=जल से, **दध्ना**=तथा दधि से **पूर्णान्**=भरे हुए **चतुरः कुम्भान्**=चार घड़ों को **चतुर्धा**=पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण में चार प्रकार से **ददामि**=(दधामि) धारण करता हूँ **एताः**=ये **सर्वाः**=सब **धाराः**=धारण करनेवाली दूध, जल व दही की घटियाँ (घड़े) **त्वा उपयन्तु**=तुझे समीपता से प्राप्त हों। २. **स्वर्गे लोके**=स्वर्गतुल्य गृहप्रदेश में **मधुमत् पिन्वमानाः**=माधुर्ययुक्त रस का सेचन करती हुई **समन्ताः**=पर्यन्तवर्तिनी **पुष्करिणीः**=कमल सरसियाँ **त्वा उपतिष्ठन्तु**=तेरे लिए उपस्थित हों।

भावार्थ—घर में दूध, उदक व दधि से पूर्ण घड़े मङ्गल के प्रतीक हैं। ये घर में माधुर्य का सचेन करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'विश्वरूपा कामदुघा' धेनुः

इममोदनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम्।
स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु ॥ ८ ॥

१. प्रभु कहते हैं कि **इमम् ओदनम्**=इस ब्रह्मौदन (ज्ञान-भोजन) को **ब्राह्मणेषु निदधे**=ज्ञानप्रधान जीवनवाले व्यक्तियों में उपस्थित करता हूँ। यह ओदन **विष्टारिणम्**=शक्तियों का विस्तार करनेवाला है, **लोकजितम्**=पुण्यलोक (ब्रह्मलोक) का विजय करनेवाला है, यह **स्वर्गम्**=सुख प्राप्त करानेवाला है। २. **सः**=वह **मे**=मेरा ज्ञान-भोजन **मा क्षेष्ट**=क्षय को प्राप्त न हो। **स्वधया पिन्वमानः**=यह मुझे आत्मधारणशक्ति से सींचनेवाला हो। **विश्वरूपा**=सब सत्यविद्याओं का निरूपण करनेवाली यह **धेनुः**=वेदवाणीरूप कामधेनु **मे**=मेरे लिए **कामदुघा**='आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' रूप सब काम्य वस्तुओं का दोहन करनेवाली **अस्तु**=हो।

भावार्थ—ज्ञानप्रधान जीवनवाला बनकर मैं ज्ञान-भोजन का पात्र बनूँ। इससे मेरी शक्तियों का विस्तार होगा, उत्तम लोक की प्राप्ति होगी, प्रकाश व सुख मिलेगा। यह ज्ञान मुझे आत्मधारणशक्ति से युक्त करे और सब काम्य वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला हो।

विशेष—इस ज्ञान के द्वारा सब प्रजाओं का रक्षण करनेवाला 'प्रजापति' अगले सूक्त का ऋषि है। ज्ञान के द्वारा मृत्यु को तैर जाने का इस सूक्त में उल्लेख है—

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

लोकधारण आदेन

यमो॑द॒नं प्र॑थम॒जा ऋ॒तस्य॑ प्र॒जाप॑ति॒स्तप॑सा ब्र॒ह्मणेऽप॑चत्।
यो लो॒काना॒ं विधृ॑ति॒र्नाभि॒रेषा॒त्तेनौ॑द॒नेनाति॑ तराणि मृ॒त्युम्॥ १॥

१. **ऋतस्य प्रथमजाः**=ऋत के—सब सत्यविद्याओं के प्रथम उत्पत्तिस्थान **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं के रक्षक प्रभु ने **तपसा**=अपने ज्ञानरूप तप के द्वारा (तस्य ज्ञानमयं तपः) **यम् ओदनम्**=जिस ज्ञान-भोजन (ब्रह्मौदन) को **ब्रह्मणे**=ज्ञान के लिए—लोगों को ज्ञान देने के लिए **अपचत्**=पकाया, प्रभु ने ही सृष्टि के प्रारम्भ में लोकहित के लिए इस ज्ञानभोजन को परिपक्व किया, २. **यः**=जो ज्ञान का भोजन **लोकानाम्**=सब लोकों का **विधृतिः**=धारण करनेवाला है और **न अभिरेषात्**=जो हमारा हिंसन नहीं करता—हमें हिंसित होने से बचाता है, **तेन ओदनेन**=उस ज्ञान-भोजन से **मृत्युम् अतितराणि**=मृत्यु को तैर जाऊँ। प्रकृति का ज्ञान मुझे प्राकृतिक पदार्थों के यथायोग द्वारा रोगों से बचाता है तथा आत्मज्ञान जन्म-मरण के चक्र से बचानेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु ने ही सृष्टि के आरम्भ में इस ज्ञान-भोजन का परिपाक किया। यह ज्ञान ही सब लोकों का धारक है। यह मुझे मृत्यु से तराता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तप और श्रम के द्वारा

येनात॑रन्भूत॒कृतोऽति॑ मृ॒त्युं यम॒न्ववि॑न्द॒न्तप॑सा॒ श्रमे॑ण।
यं प॒पाच॑ ब्र॒ह्मणे॒ ब्रह्म॒ पूर्वं॒ तेनौ॑द॒नेनाति॑ तराणि मृ॒त्युम्॥ २॥

१. **येन**=जिस ज्ञान के द्वारा **भूतकृतः**=(भूत=right, proper, fit) ठीक कार्यों को करनेवाले ज्ञानी पुरुष **मृत्युम्**=मृत्यु को **अति अतरन्**=लाँघ गये, **यम्**=जिस ज्ञान को **तपसा**=तप के द्वारा तथा **श्रमेण**=श्रम से **अन्वविन्दन्**=क्रमशः प्राप्त करते हैं, अर्थात् तप और श्रम के द्वारा प्राप्त होनेवाले इस ज्ञान को प्राप्त करके उचित कार्यों को करनेवाले लोग मृत्यु को तैर जाते हैं। २. **यम्**=जिस ज्ञान को **पूर्वम्**=सर्वप्रथम **ब्रह्म**=परमात्मा ने **ब्रह्मणे**=ज्ञानवृद्धि के लिए **पपाच**=परिपक्व किया, **तेन ओदनेन**=उस ज्ञानभोजन से मैं भी **मृत्युम् अतितराणि**=मृत्यु को तैर जाऊँ।

भावार्थ—तप और श्रम के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य उचित क्रियाओं को करता हुआ मृत्यु को तैर जाता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥

नीरोगता, स्नेह, उच्च विचार

यो दा॒धार॑ पृथि॒वीं वि॒श्वभो॑जसं॒ यो अ॒न्तरि॑क्षमापृ॒णाद्रसे॑न।
यो अस्त॑भ्नाद्दि॒वमू॒र्ध्वो म॑हि॒म्ना तेनौ॑द॒नेनाति॑ तराणि मृ॒त्युम्॥ ३॥

१. **यः**=जो ज्ञान-भोजन (ओदन) **विश्वभोजसम्**=सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों का पालन करनेवाली **पृथिवीम्**=शरीररूपी पृथिवी को **दाधार**=धारण करता है, **यः**=जो ज्ञान **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **रसेन आपृणात्**=प्रेमरस से प्रपूरित करता है। ज्ञान के द्वारा खान-पान के ठीक होने से शरीर सुदृढ़ बना रहता है। इसीप्रकार सब प्राणियों में एकत्व देखकर हृदय सबके प्रति स्नेहवाला होता

है। २. **यः**=जो ज्ञान **महिम्ना**=अपनी महिमा से **दिवम् ऊर्ध्वा अस्तभ्नात्**=मस्तिष्क को ऊपर थामता है, अर्थात् ज्ञान से मस्तिष्क बड़ी उन्नत स्थिति में बना रहता है। यह मस्तिष्क बड़े ऊँचे विचारों का स्रोत बनता है। **तेन ओदनेन**=उस ज्ञान-भोजन से **मृत्युम् अतितराणि**=मृत्यु को तैर जाऊँ। यह ज्ञान मुझे रोगों व जन्म-मरण के चक्र से बचानेवाला हो।

भावार्थ—ज्ञान द्वारा शरीर नीरोग बनता है, हृदय स्नेहरस से परिपूर्ण होता है, मस्तिष्क उच्च विचारोंवाला बना रहता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

नैत्यिके नास्त्यनध्यायः

यस्मा॒न्मासा॒ निर्मि॑तास्त्रिं॒शद॑राः संवत्स॒रो यस्मा॒न्निर्मि॑तो॒ द्वाद॑शारः।
अ॒हो॒रा॒त्रा यं प॑रि॒यन्तो॒ नापु॒स्तेनौ॑द॒नेनाति॑ तराणि मृ॒त्युम्॥ ४॥

१. **यस्मात्**=जिस ओदन के हेतु से **त्रिंशत् अराः**=तीस दिनरूप अरोंवाले **मासाः**=महिने **निर्मिताः**=बनाये गये हैं और **यस्मात्**=जिसके हेतु से **द्वादशारः**=बारह मासरूप अरोंवाला **संवत्सरः**=संवत्सर (वर्ष) **निर्मितः**=बनाया गया है, अर्थात् प्रभु ने ये वर्ष व महीने वस्तुतः बनाये ही इसलिए हैं कि हम इनमें सदा स्वाध्याय करनेवाले बनें। वर्ष में बारह महिनों व महिने के तीस दिनों में स्वाध्याय करना ही है—'**नैत्यिके नास्त्यनध्यायः**'—इस नैत्यिक कर्त्तव्यरूप स्वाध्याय में कभी अनध्याय नहीं करना। २. **परियन्तः**=दिन-रात्रि के क्रम से पर्यावर्त्तमान होते हुए **अहोरात्राः**=दिन-रात **यं न आपुः**=जिस ओदन को समाप्त नहीं कर लेते, अर्थात् दिन-प्रतिदिन जिसे प्राप्त करने के लिए यत्नशील होते हुए भी हम जिसका अन्त नहीं पा सकते, **तेन ओदनेन**=उस ब्रह्मौदन से मैं **मृत्युम् अतितराणि**=मृत्यु को तैर जाऊँ। ज्ञान मुझे जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठानेवाला हो।

भावार्थ—प्रभु ने दिन-रात्रि, महिने व वर्ष हमारे स्वाध्याय के लिए ही बनाये हैं। हमारा मुख्य कर्त्तव्य इस ब्रह्मौदन को प्राप्त करना है। यही हमें मृत्यु से तराता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्राण+प्रकाश

यः प्रा॑ण॒दः प्रा॑ण॒दवा॑न्ब॒भूव॒ यस्मै॑ लो॒का घृ॒तव॑न्तः॒ क्षर॑न्ति।
ज्योति॑ष्मतीः प्र॒दिशो॒ यस्य॒ सर्वा॒स्तेनौ॑द॒नेनाति॑ तराणि मृ॒त्युम्॥ ५॥

१. **यः प्राणदः**=जो ज्ञानरूप ओदन प्राणशक्ति देनेवाला है, **प्राणदवान् बभूव**=जो प्राणशक्ति के तत्त्वों को देनेवाला है—प्राणदोंवाला है। ज्ञान 'वासना' को दग्ध करके सोम (वीर्य) का रक्षण करता है। इस सोम में ही सब प्राणदायी तत्त्वों का निवास है। **यस्मै**=जिस ज्ञान के लिए **घृतवन्तः**=दीप्तिवाले **लोकाः**=लोक **क्षरन्ति**=स्रुत होते हैं, अर्थात् जिसके द्वारा दीप्तिमय लोकों में जन्म प्राप्त होता है। २. **यस्य**=जिस ज्ञानरूप ओदन की **सर्वाः प्रदिशः**=सब दिशाएँ **ज्योतिष्मतीः**=प्रकाशमय होती है, अर्थात् जिस ज्ञान के होने पर जीवन के सब मार्ग प्रकाशमय हो जाते हैं—हमें सदा कर्त्तव्यमार्ग दिखता है, **तेन ओदनेन**=उस ज्ञानरूप भोजन से **मृत्युम्**=मृत्यु को **अतितराणि**=तैर जाऊँ।

भावार्थ—ज्ञान वासनाओं को दग्ध करके प्राणशक्ति का रक्षण करता है। ज्ञान से दीप्तिमय लोकों की प्राप्ति होती है। ज्ञान से जीवन में कर्त्तव्यमार्ग दीखता है। इस ज्ञान से कर्त्तव्यों का पालन करते हुए हम मृत्यु से ऊपर उठें।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गायत्री का अधिपति

यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव।
यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥ ६ ॥

१. **यस्मात् पक्वात्**=जिस परिपक्व हुए-हुए भोजन से **अमृतं सम्भूव**=अमृत की उत्पत्ति होती है। ज्ञान का परिपाक होने पर निष्पापता होती है। यह निष्पापता 'नीरोगता व अमृतत्व' का साधन बनती है। **यः**=जो ज्ञान **गायत्र्याः**=गायत्री का **अधिपतिः बभूव**=अधिपति है (प्राणो गायत्रम्-तां० ७.१.९) यह ज्ञान प्राणशक्ति का स्वामी है। वासना-दहन द्वारा यह प्राणशक्ति का रक्षण करता है। अथवा (गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १.८) यह ज्ञान स्तुति का अधिपति है—ज्ञानी स्तोता ही सर्वोत्कृष्ट स्तोता है। २. **यस्मिन्**=जिस ज्ञान में **विश्वरूपाः**=सब सत्यविद्याओं का निरूपण करनेवाले **वेदाःनिहिताः**=वेद निहित हैं, अर्थात् जो ज्ञान इन वेदों से निर्दिष्ट हुआ है, **तेन ओदनेन**=उस ज्ञानरूप भोजन से **मृत्युम् अतितराणि**=मैं मृत्यु को पार कर जाऊँ।

भावार्थ—ज्ञान अमृतत्व का साधन है। यह प्राणशक्ति का अधिपति है। वेदों द्वारा प्रभु ने यह ज्ञान दिया है। इस ज्ञान से हम मृत्यु को तैर जाएँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

विश्वजित् ब्रह्मौदन का पाक

अव बाधे द्विषन्तं देवपीयुं सपत्ना ये मेऽप ते भवन्तु।
ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः ॥ ७ ॥

१. मैं ज्ञान के द्वारा **द्विषन्तम्**=द्वेष करनेवाले शत्रु को **अवबाधे**=अपने से दूर रखता हूँ—द्वेष की भावना को अपने समीप नहीं आने देता, **देवपीयुम्**=देवों की हिंसक—दिव्य गुणों को नष्ट करनेवाली वृत्ति को दूर रखता हूँ। **ये**=जो **मे**=मेरे **सपत्नाः**=रोगरूप शत्रु हैं, **ते अपभवन्तु**=वे सब दूर हों। २. मैं **विश्वजितम्**=सम्पूर्ण संसार का विजय करनेवाले—काम आदि सब शत्रुओं को पराजित करनेवाले **ब्रह्मौदनम्**=ज्ञान के भोजन को **पचामि**=पकाता हूँ—अपने में ज्ञानवृद्धि के लिए यत्नशील होता हूँ। **श्रत्-दधानस्य**=श्रद्धा से युक्त **मे**=मेरी प्रार्थना को **देवाः**=ज्ञानी पुरुष **शृण्वन्तु**=सुनें, सब देव मुझे ज्ञानभोजन देने का अनुग्रह करें। इनकी कृपा से ही मुझे ज्ञान प्राप्त होगा।

भावार्थ—ज्ञान से द्वेष व अन्य काम-क्रोधादि शत्रु नष्ट हो जाते हैं। यह ज्ञानभोजन सबका विजय करता है। श्रद्धायुक्त होकर मैं देवों से ज्ञान प्राप्त करता हूँ।

विशेष—ज्ञान के द्वारा शत्रुओं को नष्ट करनेवाला यह 'चातन' बनता है (one who destroys)। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सत्यौजा-वैश्वानर-वृषा' अग्नि

तान्त्सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा।
यो नो दुरस्याद्दिप्साच्चाथो यो नो अरातियात्॥ १ ॥

१. **सत्यौजाः**=सत्य के बलवाला या सत्य बलवाला **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित

करनेवाला **वृषा**=सबपर सुखों का सेचन करनेवाला **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **तान् प्रदहतु:**=उन्हें भस्म कर दे **यः**=जो **नः**=हमें **दुरस्यात्**=बुरी अवस्था में फेंकनेवाला हो—हममें अविद्यमान दोषों का भी यूँही उद्भावन करता रहे, **च**=और **दिप्सात्**=हिंसित करने की इच्छा करे (धिप्सेत्) **अथ उ**=और निश्चय से **यः**=जो शत्रु **नः**=हमारे प्रति **अरातियात्**=अराति-(शत्रु)-वत् आचरण करे—जो हमारे प्रति सदा शत्रुता की भावनावाला है। २. अध्यात्म में 'काम' रूप शत्रु हमें बड़ी दुरवस्था में फेंकनेवाला होता है, 'क्रोध' हमें हिंसित करता है (दिप्सात्) तथा 'लोभ' हमारे प्रति अराति की भाँति आचरणवाला होता है (अ-राति=न देने की वृत्ति) वस्तुतः न देने की वृत्ति (अ+राति) ही तो लोभ है। काम को जीतकर हम सत्य बलवाले होंगे, क्रोध को जीतकर ही 'वैश्वानर' बनेंगे। लोभ को जीतकर दान करते हुए सबपर सुखों का वर्षण करनेवाले होंगे (वृषा)। इसप्रकार उन्नति-पथ पर बढ़नेवाले हम 'अग्नि' ही बन जाएँगे।

भावार्थ—हम काम-क्रोध व लोभ को जीतकर 'सत्यौजा-वैश्वानर-वृषा' अग्नि बनें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वैश्वानर अग्नि की दंष्ट्राओं में

यो नो दिप्सदद्दिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति।
वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम्॥ २॥

१. **यः**=जो **अदिप्सतः**=हिंसित करना न चाहते हुए **नः**=हमें **दिप्सात्**=हिंसित करने की इच्छा करे **च**=और **यः**=जो **दिप्सतः**=अपराध करने पर हिंसित करने की कामनावाले राजपुरुषों को **दिप्सति**=हिंसित करना चाहता हैं, अर्थात् जो राजपुरुषों (Police) पर ही आक्रमण कर देता है, **तम्**=उसे **वैश्वानरस्य**=सारे मानवसमाज का हित करनेवाले **अग्नेः**=राष्ट्र के अग्रणी राजा के **दंष्ट्रयोः**=दाढों में **अपिदधामि**=धारण करते हैं—उसे राजा के सुपुर्द करते हैं। वह राजा की न्यायदंष्ट्राओं से ही दण्डित होगा। २. न्याय को अपने हाथ में न लेकर अपराधी को राजा के न्यायालय को ही सौंपते हैं।

भावार्थ—जो हिंसा न करनेवाले हमारी हिंसा करे अथवा जो न्याय को अपने हाथ में ले अथवा रक्षा-पुरुषों पर ही आक्रमण करे, उसे राजा के न्याय के जबड़ों में स्थापित करना ही उत्तम है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आगरे प्रतिक्रोशे अमावास्ये

य आगरे मृगयन्ते प्रतिक्रोशे ऽमावास्ये।
क्रव्यादो अन्यान्दिप्सतः सर्वांस्तान्त्सहसा सहे॥ ३॥

१. **ये**=जो हमें **आगरे**=(आ गीर्यते समन्ताद् युज्यते अत्र) भोजनालय (Hotel) में **मृगयन्ते**=मारने के लिए ढूँढते फिरते हैं, प्रतिक्रोशे—प्रतिकूल शत्रुओं से किये हुए आक्रोश के अवसर पर—कलह के अवसर पर **अमावास्ये**=अमावास्या की रात्रि में—अन्धकार में—मारने के लिए खोजते फिरते हैं, इन **क्रव्यादः**=मांसभोजी **अन्यान् दिप्सतः**=औरों को मारने की इच्छा करनेवाले **तान् सर्वान्**=उन सबको **सहसा**=शत्रुमर्षक बल के द्वारा **सहे**=पराभूत करता हूँ।

भावार्थ—भोजनालयों में, कलहों के अवसर पर, अन्धकारमयी रात्रि में जो औरों को मारने की इच्छा करते हैं, 'वैश्वानर अग्नि' उन सबको बल से पराभूत करें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पिशाचों का विनाश

स॒हे पि॑शा॒चान्त्सह॑सैषां॒ द्रवि॑णं ददे। सर्वा॑न्दुरस्य॒तो ह॑न्मि॒ सं म॒ आकू॑तिर्ऋध्यताम् ॥ ४ ॥

१. 'वैश्वानर अग्नि', अर्थात् सभी प्रजा का हितकारी राजा कामना करता है कि **पिशाचान् सहसा सहे**=औरों का मांस खानेवाले राक्षसों को मैं बल से अभिभूत करता हूँ। **एषां द्रविणम्**=लूट आदि के द्वारा उपार्जित इनके धन को **आददे**=छीन लेता हूँ। २. **दुरस्यतः**=औरों की दुष्ट अवस्था चाहनेवाले **सर्वान्**=सबको **हन्मि**=नष्ट करता हूँ। **मे**=मेरा यह **आकूतिः**=संकल्प **संऋध्यताम्**=सम्यक् सफल हो।

भावार्थ—राजा राष्ट्र से पिशाचों को दूर करे, इनके द्रव्यों को छीन ले, औरों की दुरवस्था के कारणभूत इन दुष्टों को नष्ट करे। राजा की यही कामना हो कि राष्ट्र को पिशाचों से रहित करना है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवों व पशुओं का भी रक्षण

ये दे॒वास्तेन॒ हास॑न्ते॒ सूर्ये॑ण मिमते ज॒वम्। न॒दीषु॒ पर्व॑तेषु॒ ये सं तैः प॒शुभि॑र्विदे ॥ ५ ॥

१. राजा कहता है कि **ये देवाः**=राष्ट्र में देववृत्ति के जो पुरुष **तेन**=गतमन्त्र में वर्णित पिशाचों से **हासन्ते**=(जिहास्यते—सा०) धन आदि से पृथक् किये जाते हैं, **सूर्येण जवं मिमते**=जो देववृत्ति के पुरुष सूर्य के साथ वेग को मापते हैं, अर्थात् सूर्योदय से सूर्यास्त तक कर्त्तव्यकर्मों में लगे रहते हैं, **तैः**=उनके साथ **संविदे**=संज्ञानवाला होता हूँ, उनसे सब बात जानकर दुष्टों को दण्ड देने के लिए यत्नशील होता हूँ। २. **नदीषु पर्वतेषु**=नदियों पर या पर्वतों पर **ये**=जो पशु विचरते हैं **तैः पशुभिः**=उन पशुओं के साथ भी, उनके निरोधक राक्षसों को नष्ट करके, संज्ञानवाला होता हूँ, उन्हें सम्यक् प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ—राजा को केवल देवों का ही रक्षण नहीं करना, अपितु नदी-तटों व पर्वतों पर संचरण करनेवाले पशुओं का भी रक्षण करना है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पिशाचों को न्यञ्चन का न मिलना

तप॑नो अस्मि पिशा॒चानां॑ व्या॒घ्रो गोम॑तामिव।
श्वानः॑ सिं॒हमि॑व दृ॒ष्ट्वा ते न वि॑न्दन्ते॒ न्यञ्च॑नम् ॥ ६ ॥

१. राजा कहता है कि मैं **पिशाचानाम्**=पर-मांसभोजियों का **तपनः अस्मि**=सन्तप्त करनेवाला हूँ, **इव**=जैसे **गोमताम्**=गवादि पशुओं के स्वामियों का **व्याघ्रः**=व्याघ्र सन्तापक होता है। २. **इव**=जैसे **श्वानः**=कुत्ते **सिंहं दृष्ट्वा**=शेर को देखकर घबरा जाते हैं, इसीप्रकार **ते**=वे पिशाच मुझे देखकर **न्यञ्चनम्**=(नि+अञ्चनम्) इधर-उधर भागकर छिपने का स्थान **न विन्दते**=नहीं पा सकते।

भावार्थ—राजा पिशाचों का सन्तापक होता है। राजा से भयभीत हुए-हुए ये पिशाच छिपने के स्थानों को भी नहीं पा सकते।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पिशाच-पलायन

न पिंशाचैः सं शंक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्रामंमाविशे॥ ७॥

१. राजा कहता है कि मैं **पिशाचैः**=औरों का मांस खानेवाले राक्षसों के साथ **न संशक्नोमि**=किसी प्रकार से मेल नहीं कर सकता—इन्हें कठोर दण्ड देता हूँ, **स्तेनैः न**=चोरों के साथ भी मेल नहीं कर सकता और **न**=न ही **वनर्गुभिः**=वनगामी डाकुओं के साथ मेल कर सकता हूँ। २. मैं **यम्**=जिस भी **ग्रामम् आविशे**=ग्राम में प्रवेश करता हूँ, **तस्मात्**=उस ग्राम से **पिशाचाः नश्यन्ति**=पिशाच नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—राजशासन का सौन्दर्य यही है कि राष्ट्र से 'स्तेनों व वनगुओं' का नामोनिशान भी मिट जाए। राष्ट्र इनके उपद्रवों से रहित हो।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पाप का उग्र-दण्ड

यं ग्राम॑मावि॒शत॑ इ॒दमु॒ग्रं सहो॒ मम॑।
पिशाचास्तस्मान्नश्यंन्ति न पापमुप जानते॥ ८॥

१. राजा कहता है कि **मम**=तेरा **इदम्**=यह **उग्रम्**=तीक्ष्ण—पिशाच-सन्तापनकारी **सह**=बल **यम् ग्रामम्**=जिस भी ग्राम में **आविशते**=प्रविष्ट होकर कार्य करता हूँ, **तस्मात्**=उस ग्राम से **पिशाचाः**=पर-मांसभोजी पिशाच **नश्यन्ति**=भाग जाते हैं। २. राजभय से पिशाच अपनी वृत्ति में परिवर्त्तन करते हैं और **पापम् न उपजानते**=पाप को नहीं जानते—पाप करना उन्हें भूल ही जाता है। अब ये चोरी आदि का नाम नहीं लेते। पाप का दण्ड उग्र होने पर पाप समाप्त हो जाता है।

भावार्थ—राजा पापी को ऐसा उग्र दण्ड दे कि आगे से लोग पाप करना भूल ही जाएँ।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जन-मार्ग से पिशाचों को दूर करना

ये मा॑ क्रो॒धय॑न्ति लपि॒ता ह॒स्तिनं॑ म॒शका॑ इव।
ताने॒हं म॑न्ये दु॒र्हि॑ता॒ञ्जने॒ अल्प॑शयूनिव॥ ९॥

१. राजा कहता है कि **ये**=जो पिशाच **लपिताः**=व्यर्थ बकवास करनेवाले होते हुए—झूठ के द्वारा अपने अपराध को छिपाने का प्रयत्न करते हुए **मा क्रोधयन्ति**=मुझे क्रुद्ध कर देते हैं, उसी प्रकार **इव**=जैसेकि **मशकाः**=शब्द करते हुए मच्छर **हस्तिनम्**=हाथी को, **तान्**=उन्हें **अहम्**=मैं **दुर्हितान् मन्ये**=लोक में दुःख बढ़ानेवाला—अस्थान में स्थित (दुर् हित) **मन्ये**=मानता हूँ। २. **जने**=जनसंघ में—जनसमूह के सञ्चरण स्थल में अवस्थित **अल्पशयून् इव**=अल्पकाय शयनस्वभाव (संचार-अक्षम) कीटों की भाँति मैं उन्हें मार्ग से हटाने योग्य ही समझता हूँ। ये पिशाच लोक-व्यवहार में विघ्नरूप ही होते हैं। इन्हें दूर करना नितान्त आवश्यक होता है।

भावार्थ—झूठे, चोर, ऊटपटाँग बातें बनानेवाले व्यक्ति राजा के क्रोध के पात्र होते हैं। राजा इन्हें प्रजा के मार्ग से हटा देना आवश्यक समझता है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दुष्ट-बन्धन

अभि तं निर्ऋतिर्धत्तामश्वमिवाश्वाभिधान्या।
मल्वो यो मह्यं क्रुध्यति स उ पाशान्न मुच्यते॥ १०॥

१. **तम्**=राष्ट्र के शत्रु उस पिशाच को **निर्ऋतिः**=दुर्गति **अभिधत्ताम्**=इसप्रकार बाँध ले—अपने पाशों में जकड़ ले, **इव**=जैसेकि **अश्वाभिधान्या**=रज्जु से **अश्वम्**=घोड़े को बाँधते हैं। २. **यः**=जो **मल्वः**=मलिन-आचरण पुरुष अपने पाप को झूठ से छिपाने का प्रयत्न करता हुआ **मह्यं क्रुध्यति**=मुझे क्रुद्ध करता है **सः**=वह **उ**=निश्चय से **पाशात् न मुच्यते**=दण्ड-पाश से मुक्त नहीं होता। मैं उसे अवश्य दण्डित करता हूँ।

भावार्थ—कोई भी दुष्ट राजा के दण्डपाश से मुक्त न हो।

विशेष—आधिभौतिक उपद्रवों से शून्य इस राष्ट्र में स्थिरवृत्ति से कार्य करनेवाला 'वादरायणि' (वद स्थैर्ये) अजशृंगी आदि ओषधियों के प्रयोग से आध्यात्मिक कष्टों को भी दूर करने के लिए यत्नशील होता है।

३७. [सप्तत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—ओषधिः (**अजशृङ्गी**) ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अथर्वा, कश्यप, कण्व, अगस्त्य

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे। त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः॥ १॥

१. हे **ओषधे**=दोषों का दहन करनेवाली ओषधे! **त्वया**=तेरे द्वारा **पूर्वम्**=सबसे प्रथम **अथर्वाणः**=(न थर्व्) स्थिरवृत्ति के लोग **रक्षांसि**=रोगकृमियों को **जघ्नुः**=नष्ट करते हैं। २. **त्वया**=तेरे द्वारा **कश्यपः**=ज्ञानी पुरुष **जघान**=रोगकृमियों का नाश करता है और **अगस्त्यः**=पाप का संघात (विनाश) करनेवाला व्यक्ति तेरे द्वारा इन कृमियों को विनष्ट करता है।

भावार्थ—ओषधि द्वारा 'अथर्वा, कश्यप, कण्व व अगस्त्य' रोगकृमियों का विनाश करते हैं। ओषधि का प्रयोग इन लोगों द्वारा ही ठीक से होता हे जो स्थिरवृत्ति के हैं, ज्ञानी हैं, कण-कण करके शक्ति का सञ्चय करते हैं व पाप का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—ओषधिः (**अजशृङ्गी**) ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अप्सरस् गन्धर्वों का चातन

त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे। अजशृङ्ग्यज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय॥ २॥

१. हे **अजशृंगि**='विषाणी' नामवाली ओषधे! **त्वया**=तेरे द्वारा **वयम्**=हम **अप्सरसः**=जल में गति करनेवाले—फैलनेवाले **गन्धर्वान्**=गुञ्जनरूप गायन करनेवाले कृमियों को **चातयामहे**=विनष्ट करते हैं। २. हे अजशृंगि! तू इन रोगकृमियों को **अज**=परे फेंक—दूर कर, **सर्वान् रक्षः**=सब रोगकृमियों को **गन्धेन**=अपनी गन्ध से **नाशय**=नष्ट कर दे—दूर भागा दे।

भावार्थ—अजशृंगी ओषधि के गन्ध से जल-प्रदेश-विहारी मच्छर आदि रोगकृमि नष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**अप्सरसः** ॥ छन्दः—**षट्पदात्रिष्टुप्** ॥

ओषधि पञ्चक

नदीं यन्त्वप्सरसोऽपां तारमवश्वसम्। गुल्गुलूः पीला नलद्यौ३क्षगन्धिः प्रमन्दनी।
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन॥ ३॥

१. **अप्सरसः**=जलप्राय स्थानों में विहरण करनेवाले कृमि **अपां तारम्**=(तारऽत्युच्चैः) जलों से ऊपर तक भरी हुई **नदीम्**=नदी को ही **यन्तु**=जाएँ। ये वहाँ **अवश्वसम्**=प्राणशून्य होकर नष्ट हो जाएँ (अव, श्वस प्राणने)। २. हे **अप्सरसः**=जलप्रायः स्थानों में विचरनेवाले रोगकृमियो! **गुल्गुलूः, पीला, नलदी, ओक्षगन्धि, प्रमन्दनी**=इन नामोंवाली ये ओषधियाँ **प्रतिबुद्धाः अभूतन**=प्रतिबुद्ध हुई हैं—हमारे ज्ञान का विषय बनी हैं, **तत् परेत**=अब तुम यहाँ से बाहर हो जाओ। इन ओषधियों के प्रयोग से हम तुम्हारा नाश करते हैं। ३. गुल्गुलु के नाम 'भूतहर, यातुघ्न व रक्षोहा' भी हैं। पीला के नाम 'गुडफल व स्रंसी' हैं। नलदी 'भूतघ्नी, दाहघ्नी, पित्तघ्नी' है। ओक्षगन्धी का दूसरा नाम 'ऋषभक' भी है। यह वाजीकरण औषध है। प्रमन्दनी (घातकी) 'क्रिमि व विसर्प'-जित् है (विसर्प=एग्ज़िमा)।

भावार्थ—'गुल्गुलु, पीला, नलदी, ओक्षगन्धि, व प्रमन्दनी' नामक ओषधियाँ जलप्राय स्थानों में हो जानेवाले कृमियों का नाश कर देती हैं।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**ओषधिः (अजशृङ्गी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अश्वत्थ, न्यग्रोध, शिखण्डी (महावृक्ष) का रोपण

यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः। तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ४ ॥

१. हे **अप्सरसः**=जलप्राय स्थानों में विहरण करनेवाले कृमियो! **यत्र**=जहाँ **अश्वत्थाः**=पीपल **न्यग्रोधाः**=वट व **शिखण्डिनः**=शिखण्डी (a kind of Jasmine) आदि **महावृक्षाः**=महत्त्वपूर्ण वृक्ष **प्रतिबुद्धाः अभूतन**=प्रतिबुद्ध हो गये हैं, ज्ञान का विषय बन गये हैं, अतः **तत् परेत**=तुम यहाँ से दूर भाग जाओ। २. अश्वत्थ व न्यग्रोध दोनों योनि-दोषों का निराकरण करनेवाले हैं। इसीप्रकार शिखण्डी (चमेली) गन्ध द्वारा कृमियों की नाशक है।

भावार्थ—अश्वत्थ, वट व शिखण्डी आदि महावृक्षों का रोपण रोगकृमि-विनाशक है।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**अप्सरसः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

अर्जुनाः, आघाटाः, कर्कर्यः

यत्र वः प्रेङ्खा हरिता अर्जुना उत यत्राघाटाः कर्कर्यः संवदन्ति।
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ५ ॥

१. हे **अप्सरसः**=जलप्राय स्थानों में विहरण करनेवाले कृमियो! **यत्र**=जहाँ **वः**=तुम्हें **प्रेङ्खाः**=दूर करने के लिए (प्रईंख) **हरिताः**=हरिद्वर्ण **अर्जुनाः**=अर्जुनवृक्ष **उत**=और **यत्र**=जहाँ **आघाटाः**=(आहन्) समन्तात् तुम्हारा हनन करती हुई अपामार्ग ओषधि तथा **कर्कर्यः**=(gourd) घिया की बेलें **संवदन्ति**=परस्पर संवाद-सा करती हैं, अतः तुम **तत् परेत**=वहाँ से दूर भाग जाओ। यहाँ तो ये 'अर्जुनवृक्ष, अपामार्ग व घिया की बेलें' **प्रतिबुद्धा अभूतन**=जागरित हो गई हैं, अतः अब यहाँ तुम्हारा काम नहीं।

भावार्थ—रोगकृमियों को दूर करने के लिए 'अर्जुनवृक्ष, अपामार्ग तथा घिया की बेलों' का रोपण करना चाहिए।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**ओषधिः (अजशृङ्गी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अजशृंगी=अराटकी

एयमगन्नोषधीनां वीरुधां वीर्यावती।
अजशृङ्ग्यराटकी तीक्ष्णशृङ्गी व्यृषतु ॥ ६ ॥

१. **ओषधीनाम्**=दोषों का दहन करनेवाली **वीरुधाम्**=विरोहण स्वभाववाली लताओं में **इयम्**=यह **वीर्यावती**=अतिशयित सामर्थ्यवाली अजशृंगी नामवाली ओषधि **आ आगन्**=प्राप्त हुई है। २. **अराटकी**=(अरान् आटयति) शरीर में कुत्सित गति करनेवाले कृमियों का नाश करनेवाली **तीक्ष्णशृंगी**=उग्र गन्धवाली व शृंगाकृति फलोंवाली यह **अजशृंगी व्यृषतु**=रोगकृमियों को (हिनस्तु) विशेषरूप से नष्ट करनेवाली हो।

भावार्थ—अजशृंगी ओषधि बड़ी शक्तिशाली है। यह रोगकृमियों को नष्ट करनेवाली है।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

कृमि-प्रजनन-निरोध

आनृत्यतः शिखण्डिनो गन्धर्वस्याप्सरापतेः।
भिनद्मि मुष्कावपि यामि शेपः ॥ ७ ॥

१. **आनृत्यतः**=चारों ओर नृत्य-सा करते हुए **शिखण्डिनः**=चूड़ा-(चोटी)-वाले **गन्धर्वस्य**=गायन-सा करनेवाले **अप्सरापतेः**=जलसञ्चारी कृमियों के मुखिया के **मुष्कौ**=अण्डकोशों को **भिनद्मि**=तोड़ देता हूँ और **शेपः अपियामि**=उसके प्रजननांग का नाश करता हूँ।

भावार्थ—कृमियों के प्रजनन को समाप्त करके हम इन्हें बीमारी फैलाने से रोकते हैं।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भीमा इन्द्रस्य हेतयः

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीरयस्मयीः।
ताभिर्हविरदान्गन्धर्वानवकादान्व्यृषतु ॥ ८ ॥

१. **इन्द्रस्य**=सूर्य की **हेतयः**=कृमियों का विनाश करनेवाली किरणें **भीमाः**=बड़ी भयंकर हैं। ये **शतम्**=सैकड़ों **ऋष्टीः**=दुधारी तलवारों के समान हैं। **अयस्मयीः**=ये तलवारें लोहे की बनी हुई हैं, बड़ी दृढ़ हैं। २. **ताभिः**=उन किरणरूप दुधारी तलवारों से यह सूर्य **हविरदान्**=अन्न को खा जानेवाले और **अवकादान्**=जल-उपरिस्थ शैवाल (काई) को भी खा जानेवाले **गन्धर्वान्**=गायक कृमियों को **व्यृषतु**=हिंसित कर दे।

भावार्थ—सूर्यकिरणें कृमियों को नष्ट करने के लिए दुधारी तलवारों के समान हैं।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

चमकती हुई किरणरूप तलवारें

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीर्हिरण्ययीः।
ताभिर्हविरदान्गन्धर्वानवकादान्व्यृषतु ॥ ९ ॥

१. कृमियों का नाश करनेवाली **इन्द्रस्य**=सूर्य की किरणें **हेतयः**=अस्त्रों के समान हैं। ये **शतम् ऋष्टीः**=सैकड़ों दुधारी तलवारों के समान हैं जोकि **हिरण्ययीः**=स्वर्ण के समान चमक रही हैं। २. **ताभिः**=उन चमकती हुई किरणरूप तलवारों से **हविरदान्**=अन्न को खा-जानेवाले **अवकादान्**=जलोपरिस्थ शैवाल को भी खा जानेवाले **गन्धर्वान्**=इन गायक कृमियों को **व्यृषतु**=यह सूर्य हिंसित करनेवाला हो।

भावार्थ—चमकती हुई सूर्यकिरणें वे तलवारें हैं जो अन्न तथा शैवाल को खा जानेवाले इन कृमियों को नष्ट कर देती हैं।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**ओषधिः (अजशृङ्गी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अवकाद, अभिशोच' पिशाच

अवकादानभिशोचानप्सु ज्योतय मामकान्।
पिशाचान्त्सर्वानोषधे प्र मृणीहि सहस्व च॥ १०॥

१. हे **ओषधे**=अजशृङ्ग! तू **अवकादान्**=जल पर के शैवाल को भी खा जानेवाले **अभिशोचान्**=दाह व सन्ताप पैदा करनेवाले **अप्सु**=शरीरस्थ जलांशों में रहनेवाले **मामकान्**=मेरे **पिशाचान्**=मांस को खा जानेवाले कृमियों को **ज्योतय**=जला दे। २. **सर्वान्**=मांस खा जानेवाले इन सब कृमियों को **प्रमृणीहि**=तू हिंसित कर **च**=और **सहस्व**=इन रक्तशोषक कृमियों का मर्षण कर दे—इन्हें कुचल डाल।

भावार्थ—जो कृमि रक्त का शोषण करते हैं और मांस को भी खा जाते हैं, उन्हें अजशृङ्गी नष्ट कर डाले।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

ब्राह्मी ओषधि

श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः सर्वकेशकः। प्रियो दृशइव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियस्तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्या[वता॥ ११॥

१. यह **गन्धर्वः**=गायन करनेवाला **एकः**=एक कृमि **श्वा इव**=कुत्ते के समान है—इसका स्वर भौंकता-सा प्रतीत होता है। **एकः**=एक कृमि **कपिः इव**=बन्दर के समान अत्यन्त चञ्चल है। यह **कुमारः**=बुरी भाँति मारनेवाला है। **सर्वकेशकः**=सब ओर बालोंवाला कृमि **दृशः प्रियः इव भूत्वा**=आँखों के लिए प्रिय-सा होता हुआ—दिखने में अच्छा लगता हुआ **स्त्रियः सचते**=स्त्री शरीरों में प्रवेश करता है। २. **तम्**=उस कृमि को **इतः**=यहाँ से—शरीर से **वीर्यावता**=बड़ी शक्तिवाली **ब्रह्मणा**=ब्राह्मी ओषधि से **नाशयामसि**=दूर भगाते हैं।

भावार्थ—स्त्री-शरीरों में प्रविष्ट होकर योनि-दोषों को उत्पन्न करनेवाले कृमियों को ब्राह्मी के प्रयोग से दूर करते हैं।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥

गन्धर्व+अप्सराः

जाया इद्वो अप्सरसो गन्धर्वाः पतयो यूयम्। अप धावतामर्त्या मर्त्यान्मा सचध्वम्॥ १२॥

१. हे **गन्धर्वाः**=गायन-सा करनेवाले कृमियो! **अप्सरसः**=जलप्राय स्थानों में विचरनेवाली ये अप्सराएँ—कृमिविशेष **इत्**=ही **वः जायाः**=तुम्हारी पत्नियाँ हैं, **यूयम्**=तुम इनके **पतयः**=पति हो। २. हे **अमर्त्याः**=जिनका मारना बड़ा कठिन है, ऐसे कृमियो! **अपधावत**=तुम यहाँ से दूर भाग जाओ, हम **मर्त्यान्**=मनुष्यों को **मा**=मत **सचध्वम्**=प्राप्त होओ, हमपर तुम्हारा आक्रमण न हो।

भावार्थ—नर कृमि 'गन्धर्व' हैं तो मादा 'अप्सरस्'। इनका मारना आसान नहीं। प्रभु के अनुग्रह से ये कृमि हमसे दूर रहें। हम स्वच्छता आदि की ऐसी व्यवस्था रक्खें कि इन कृमियों का यहाँ उद्भव ही न हो।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'वादरायणि' ही है—

३८. [अष्टात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**अप्सराः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अप्सरा का आवाहन

उद्भिन्दतीं संजयन्तीमप्सरां साधुदेविनीम्।
ग्लहे कृतानि कृण्वानामप्सरां तामिह हुवे॥ १ ॥

१. मैं **इह**=इस घर में **ताम्**=उस **अप्सराम्**=(अप्=कर्म, सृ गतौ) क्रियाशील, आलस्यरहित गृहिणी को **हुवे**=पुकारता हूँ—प्रभु से ऐसी गृहिणी के लिए प्रार्थना करता हूँ जो **उद्भिन्दतीम्**=वासनारूप शत्रुओं को उखाड़ देनेवाली है—जिसका जीवन वासनामय नहीं है, **सञ्जयन्तीम्**=जो वासनारूप शत्रुओं पर सदा विजय पाती है, **साधुदेविनीम्**=जो उत्तम व्यवहारवाली है—घर के सब कार्यों को कुशलता से करती है। २. मैं उस गृहिणी को चाहता हूँ जो **ग्लहे**=स्पर्धा के समय **कृतानि कृण्वानाम्**=उत्तम कृत्यों को करनेवाली है और **अप्सराम्**=खूब ही क्रियाशील है। जुए में जैसे स्पर्धा से अधिक और अधिक शर्त लगाते हैं, उसी प्रकार यह गृहिणी 'घर को उत्तम बनाने में' औरों को जीतने की कामनावाली होती है।

भावार्थ—पत्नी के मुख्य गुण हैं—(क) वासनाओं का विदारण—इनपर विजय पाना, (ख) क्रियाशील होना, (ग) उत्तम व्यवहारवाली होना—क्रियाओं को कुशलता से करना, (घ) घर को उत्तम बनाने की स्पर्धावाला होना।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**अप्सराः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विचिन्वती आकिरन्ती

विचिन्वतीमाकिरन्तीमप्सरां साधुदेविनीम्।
ग्लहे कृतानि गृह्णानामप्सरां तामिह हुवे॥ २ ॥

१. **इह**=इस घर में **ताम्**=क्रियाओं में विचरण करनेवाली गृहिणी को **हुवे**=पुकारता हूँ जोकि **विचिन्वन्तीम्**=धन का सञ्चय करनेवाली है और **आकिरन्तीम्**=सञ्चित धन को यज्ञात्मक विविध कर्मों के लिए विकीर्ण करनेवाली है, **साधुदेविनीम्**=उत्तम व्यवहारवाली है—कार्यों को कुशलता से करनेवाली है। २. **ग्लहे**=घर को उत्तम बनाने की स्पर्धा में यह गृहिणी **कृतानि गृह्णानाम्**=उत्तम कर्मों का स्वीकार करनेवाली है और **अप्सराम्**=सदा क्रियाओं में विचरनेवाली—आलस्यशून्य है।

भावार्थ—उत्तम पत्नी की विशेषता यह है कि वह १. धनों का सञ्चय करती है, पति के कमाये गये धन को जोड़ती है, २. उसका यज्ञात्मक कर्मों में विनियोग करती है, ३. क्रियाशील है—सदा उत्तम व्यवहारवाली है और ४. घर को उत्तम बनाने की स्पर्धा में उत्तम कर्मों का स्वीकार करती है।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**अप्सराः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

शुभ कर्मों में नृत्य करनेवाली

यायैः परिनृत्यत्यादाना कृतं ग्लहात्।
सा नः कृतानि सीषती प्रहामाप्नोतु मायया।
सा नः पयस्वत्यैतु मा नो जैषुरिदं धनम्॥ ३ ॥

१. हमारे घर में उस गृहिणी का प्रवेश हो **या**=जो **अयैः**=शुभावह विधियों से—पुण्यमार्गों

से **परिनृत्यति**=कार्यों में नृत्य करती है—कार्यों को स्फूर्ति से करती है। वह पत्नी **ग्लहात्**=घर को उत्तम बनाने की स्पर्धा से **कृतम् आददाना**=उत्तम कर्मों का आदान करती है। २. **सा**=यह गृहिणी **नः**=हमारे **कृतानि**=कर्त्तव्यकर्मों को **सीषती**=नियमबद्ध करती हुई (ओहाङ् गतौ) अथवा प्रकृष्ट त्याग—सब अशुभों के दूरीकरण को (ओहाक् त्यागे) **आप्नोतु**=प्राप्त करे। ३. **सा**=वह पत्नी **पयस्वती**=दूध आदि उत्तम पदार्थोंवाली **नः**=हमें **आ एतु**=सर्वथा प्राप्त हो। गृहिणी इस बात का ध्यान करे कि दूसरे लोग **नः इदं धनम्**=हमारे इस उत्तम गृहरूप धन को **मा जैषुः**=जीतनेवाले न हों। हमारा घर उत्तमता में पिछड़ न जाए।

भावार्थ—१. पत्नी शुभ-कर्मों को सदा स्फूर्ति से करनेवाली हो, २. गृह को उत्तम बनाने की स्पर्धा से शुभकर्मों का स्वीकार करे, ३. समझदारी से घर को आगे और आगे ले-चले, ४. घर में दूध आदि पदार्थों की कभी न होने दे, ५. गृह-धन को अपव्ययित न होने दे।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**अप्सराः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शुचं क्रोधं च बिभ्रती

या अ॒क्षेषु॑ प्र॒मोद॑न्ते शु॒चं क्रोधं॑ च॒ बिभ्र॑ती।
आ॒न॒न्दिनीं॑ प्र॒मो॒दिनी॑मप्स॒रां तामि॒ह हु॑वे॥ ४॥

१. **ताम्**=उस **अप्सराम्**=गृहकार्यों में प्रवृत्त होनेवाली सुन्दर पत्नी को **इह**=यहाँ—गृहों में **हुवे**=पुकारते हैं **याः**=जो **अक्षेषु प्रमोदन्ते**=इन्द्रियों में सदा प्रमोदवाली हैं—सदा प्रसन्न मुख हैं, **शुचम्**=शोक को **च**=और **क्रोधम्**=क्रोध को **बिभ्रती**=धारण करती हुई—अपने वश में करनेवाली होती है—क्रोध इसे धारण नहीं कर लेता। २. **आनन्दिनीम्**=जो घर में सभी को अपने यथायोग्य व्यवहार से आनन्दित करनेवाली है तथा **प्रमोदिनीम्**=सदा प्रहृष्टा है।

भावार्थ—पत्नी वही उत्तम है जोकि (क) प्रसन्नमुख है, (ख) शोक व क्रोध को वशीभूत करती है, (ग) अपने यथोचित व्यवहार से सबको प्रसन्न करनेवाली है, (घ) प्रसनचित्त और क्रियाशील है।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**वाजिनीवान् ऋषभः** ॥ छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः** ॥

उत्तम पति-पत्नी

सूर्य॑स्य र॒श्मीननु॒ याः सं॒चर॑न्ति॒ मरी॑चीर्वा॒ या अ॑नुसं॒चर॑न्ति।
यासा॑मृष॒भो दू॑र॒तो वा॒जिनी॑वान्त्स॒द्यः सर्वाँ॑ल्लो॒कान्पर्यै॑ति॒ रक्ष॑न्।
स न॒ ऐतु॒ होम॑मि॒मं जु॑षा॒णो॒३॒ न्तरि॑क्षेण स॒ह वा॒जिनी॑वान्॥ ५॥

१. गृहिणियाँ वे ही उत्तम हैं **याः**=जो **सूर्यस्य रश्मीनन् सञ्चरन्ति**=सूर्य की रश्मियों के अनुसार सञ्चरण करती हैं, अर्थात् सूर्योदय से सूर्यास्त तक कार्यों में लगी रहती हैं, **वा**=तथा **याः**=जो **मरीचीः**=सूर्यप्रकाश में **अनुसञ्चरन्ति**=अनुकूलता से सञ्चरण करती हैं—अँधेरे कमरों में नहीं बैठी रहतीं। २. **यासाम्**=जिनका **ऋषभः**=सेचन-समर्थ—सन्तान को जन्म देने की सामर्थ्यवाला श्रेष्ठ पति **दूरतः वाजिनीवान्**=(वाजिनी=उषा) दूर से उषावाला है, अर्थात् उषाकाल से भी पहले ही (Early in the morning) प्रबुद्ध होनेवाला है। यह ऋषभ **सद्यः**=शीघ्र ही **सर्वान् लोकान्**=सब लोगों का **रक्षन्**=रक्षण करता हुआ **परिएति**=चारों ओर गति करता है—अपने सब कर्त्तव्यकर्मों का सम्यक् पालन करता है। ३. पत्नी कामना करती है कि **सः**=वह गृहपति **नः**=हम गृहिणियों को **आ एतु**=सर्वथा प्राप्त हो, जो **इमं होमं जुषाणः**=इस यज्ञ को प्रतिदिन प्रीतिपूर्वक करनेवाला हो (पत्युर्नो यज्ञसंयोगे), जोकि **अन्तरिक्षेण सह**=अन्तरिक्ष के साथ, अर्थात् सदा

मध्यमार्ग में चलता हुआ **वाजिनीवान्**=प्रशस्त उषावाला है। पति का कर्त्तव्य है कि अति में न जाता हुआ—कार्यों को मर्यादा में करता हुआ—उषाकाल में प्रबुद्ध हो।

भावार्थ—वही घर स्वर्ग बनता है जहाँ पत्नी (क) सूर्योदय से सूर्यास्त तक क्रियाशील हो, (ख) अँधेरे कमरे में न बैठी रहकर सूर्यप्रकाश में अपने कार्य को करती हुई स्वस्थ हो। इस स्वर्गतुल्य गृह में पति शक्तिशाली होता है, रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होता है, यज्ञशील बनता है, मध्यमार्ग में चलता हुआ उषा में प्रबुद्ध होनेवाला यह गृहपति मर्यादित जीवनवाला होता है।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**वाजिनीवान् ऋषभः** ॥ छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः** ॥

आदर्श पति

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन्कर्की वत्सामिह रक्ष वाजिन्।
इमे ते स्तोका बहुला एह्यर्वाङियं ते कर्कीह ते मनोऽस्तु॥ ६॥

१. पत्नी पति से कहती है कि हे **वाजिनीवन्**=प्रशस्त उषावाले **वाजिन्**=बलवाले—उषा में प्रबुद्ध होनेवाले सबल पते! **अन्तरिक्षेण सह**=सदा मध्यमार्ग में चलने के साथ, अर्थात् मर्यादित जीवनवाला होते हुए **इह**=इस गृहस्थजीवन में अपनी **कर्कीम्**=शुद्ध जीवनवाली (श्वेत घोड़ी) की भाँति शुद्ध, पवित्र व क्रियाशील **वत्साम्**=प्रिय व प्रातः प्रबुद्ध होने पर प्रभु-स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाली (वदति) इस पत्नी का **रक्ष**=तू रक्षण करनेवाला है। २. **इमे**=ये **ते**=तेरे **स्तोका**=(स्तुच् घञ् स्तोचते to be light, to shine) दीप्त-(शानदार)-कर्म **बहुलाः**=बहुत समृद्धियों को प्राप्त करानेवाले हों। तू यहाँ **अर्वाङ् एहि**=घर की ओर ही आनेवाला हो—क्लब आदि में जानेवाला न बन जाए। **इयम्**=यह **ते**=तेरी **कर्की**=शुद्ध, क्रियाशील पत्नी है। **इह**=यहाँ घर में ही ते **मनः अस्तु**=तेरा मन हो। तेरे लिए घर का वातावरण मनःप्रसाद देनेवाला हो।

भावार्थ—पत्नी चाहती है कि उसका पति (क) मर्यादित जीवनवाला हो, (ख) उषा में प्रबुद्ध होनेवाला हो (ग) वस्तुतः गृहरक्षक हो, (घ) शुद्ध कर्मों से गृह को समृद्ध करनेवाला हो—घर में अशुद्ध कमाई न आये, (ङ) घर का वातावरण उसके लिए मनःप्रसाद-जनक हो—क्लब-लाइफ़वाला न हो।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**वाजिनीवान् ऋषभः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदानुष्टुब्गर्भा-पुरउपरिष्टाज्ज्योतिष्मतिजगती** ॥

उत्तम घर

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन्कर्की वत्सामिह रक्ष वाजिन्।
अयं घासो अयं व्रज इह वत्सां नि बध्नीमः। यथानाम व ईश्महे स्वाहा॥ ७॥

१. हे **वाजिनीवन्**=प्रशस्त उषाकालवाले! उषाकाल में प्रबुद्ध होनेवाले **वाजिन्**=शक्तिशाली गृहपते! **अन्तरिक्षेण सह**=अन्तरिक्ष के साथ, अर्थात् सदा मध्यमार्ग में चलने के साथ **इह**=इस जीवन में **कर्कीम्**=क्रियाशील **वत्साम्**=प्रभु-स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाली प्रिय पत्नी की **रक्ष**=तू रक्षा करनेवाला हो। २. पति उत्तर देता हुआ कहता है कि **अयं घासः**=यह वानस्पतिक भोजन यहाँ घर में है। **अयं व्रजः**=यह क्रियाशील जीवन है (व्रज गतौ)। **इह**=यहाँ **वत्साम्**=तुझ प्रभु-भक्तिवाली प्रिय पत्नी को हम **निबध्नीमः**=बाँधते हैं। वस्तुतः पति का मुख्य कर्त्तव्य यही हो कि वह घर में पोषण के लिए आवश्यक पदार्थों की कमी न होने दे और आलसी जीवनवाला न हो। ये दो बातें ही पत्नी को घर में बाँधनेवाली होती हैं। पति विवाह-संस्कार के समय कहता

है कि—'ध्रुवैधि पोष्ये मयि'। ३. ये पति-पत्नी अपनी सन्तानों के साथ मिलकर प्रातः-सायं प्रभु का उपासन करते हैं और कहते हैं कि हे प्रभो! **वः यथानाम**=आपके नाम के अनुसार, अर्थात् जितना-जितना आपका नाम लेते हैं, उतना-उतना ही हम **ईश्महे**=ऐश्वर्यवाले होते हैं, अतः **स्वाहा**=हम आपके प्रति ही अपना (स्व) अर्पण करते हैं (हा)—आपकी शरण में आते हैं।

भावार्थ—पति प्रातः प्रबुद्ध होनेवाला हो, शक्तिशाली हो, घर में खान-पान की कमी न होने दे—क्रियाशील हो। घर में पति-पत्नी अपनी सन्तानों के साथ प्रभु का उपासन करनेवाले बनें।

विशेष—अपने जीवन को सुन्दर बनानेवाले पति-पत्नी 'अंगिरस्' बनते हैं। अगले सूक्त का ऋषि 'अंगिराः' ही है—

३९. [एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**पृथिव्यग्नी** ॥ छन्दः—**त्रिपदामहाबृहती** ॥

पृथिवी में अग्नि

पृथिव्यामग्नये समनमन्त्स आर्ध्नोत्।
यथा पृथिव्यामग्नये समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु॥ १॥

१. **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी में **अग्नये**=अग्नितत्त्व के लिए **समनमन्**=सब प्राणी संनत होते हैं। **सः**=वह अग्नितत्त्व ही **आर्ध्नोत्**=(ऋध्=to cause, to succeed) इन प्राणियों को विजयी (सफल) बनाता है। **यथा**=जैसे **पृथिव्याम्**=इस पृथिवीरूपी शरीर में **अग्नये**=अग्नि के लिए **समनमन्**=संनत (to make ready) होते हैं—अपने को तैयार करते हैं, **एव**=इसीप्रकार **मह्यम्**=मेरे लिए **संनमः**=अभिलषित फलों की प्राप्तियाँ (संनतयः) **संनमन्तु**=संनत हों—प्राप्त हों।

भावार्थ—शरीररूप पृथिवी में अग्नितत्त्व ही प्रधान देवता है। इसके ठीक होने पर शरीर में सब अभिलषित (दिव्य) पदार्थ उपस्थित होते हैं। अग्नि प्रधान देव है—इसके होने पर अन्य पार्थिव देव क्यों न उपस्थित होंगे?

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**पृथिव्यग्नी** ॥ छन्दः—**संस्तारपङ्क्तिः** ॥

पृथिवीरूप धेनु का अग्निरूप वत्स

पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः। सा मेऽग्निना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम्।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा॥ २॥

१. **पृथिवी**=यह शरीररूप पृथिवी **धेनुः**=धेनु है तो **तस्याः**=उस धेनु का **अग्निः वत्सः**=अग्नि बछड़ा है। **सा**=वह धेनु इस **अग्निना वत्सने**=अग्निरूप वत्स के साथ **मे**=मेरे लिए **इषम्**=अन्न, **ऊर्जम्**=बलकर रस और **कामम्**=काम्यमान अन्य तत्त्वों को **दुहाम्**=प्रपूरित करे। २. **प्रथमं आयुः**=शतसंवत्सर-पर्यन्त विस्तीर्ण आयु **प्रजाम्**=पुत्र आदिरूप उत्तम प्रजा व शक्ति-विकास **पोषम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग का पोषण और **रयिम्**=धन दे। **स्वाहा**=मैं इस अग्नितत्त्व के लिए अपने को अर्पित करता हूँ। शरीररूप पृथिवी में अग्निदेव के स्थापन के लिए यत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—शरीररूप पृथिवी में अग्नितत्त्व के ठीक होने पर सब इष्ट पदार्थ प्राप्त होते हैं, दीर्घ जीवन, सब अंगों का पोषण व धन—सब सुलभ होते हैं।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—वाय्वन्तरिक्षे ॥ छन्दः—त्रिपदामहाबृहती ॥

अन्तरिक्ष में वायु

अन्तरिक्षे वायवे समनमन्त्स आर्ध्नोत्।
यथान्तरिक्षे वायवे समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु॥ ३॥

१. **अन्तरिक्षे**=इस हृदयरूप अन्तरिक्ष में **वायवे**=वायुतत्त्व के लिए—निरन्तर क्रियाशीलता के संकल्प के लिए **समनमन्**=सब प्राणी संनत होते हैं। **सः आर्ध्नोत्**=यह वायुतत्त्व ही—क्रियाशीलता का संकल्प ही (हृत्सु क्रतुम्) उन्हें सफल बनाता है। २. **यथा**=जैसे **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **वायवे**=क्रियाशीलता के संकल्प के लिए **समनमन्**=संनत होते हैं, **एव**=इसीप्रकार **मह्यम्**=मेरे लिए **संनमः**=अभिलषित फलों की प्राप्तियाँ **संनमन्तु**=संनत हों।

भावार्थ—हृदयान्तरिक्ष में वायु ही मुख्य देव है। इसके होने पर अन्य सब देवों की उपस्थिति होती ही है। क्रियाशीलता सब अभिलषितों को सिद्ध करती है।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—वाय्वन्तरिक्षे ॥ छन्दः—संस्तारपङ्क्तिः ॥

अन्तरिक्ष धेनु का वायुरूप वत्स

अन्तरिक्षं धेनुस्तस्या वायुर्वत्सः। सा मे वायुना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम्।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा॥ ४॥

१. **अन्तरिक्षम् धेनुः**=हृदयान्तरिक्ष ही एक गौ है, **वायुः**=क्रियाशीलता ही **तस्याः**=उसका **वत्सः**=बछड़ा है। **सा**=वह अन्तरिक्षरूप **धेनु वायुना वत्सेन**=क्रियाशीलतारूपी बछड़े के साथ **मे**=मेरे लिए **इषम्**=अन्न को **ऊर्जम्**=अन्न-रस को, **कामम्**=अन्य अभिलषित पदार्थों को **दुहाम्**=प्रपूरित करे। २. **प्रथमं आयुः**=शतसंवत्सर के दीर्घजीवन को, **प्रजाम्**=उत्तम सन्तान व शक्तिविकास को **पोषम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग के पोषण को **रयिम्**=धन को हमें यह प्राप्त कराए। **स्वाहा**=मैं इस वायुतत्त्व के लिए—क्रियाशीलता के लिए अपने को अर्पित करता हूँ। हृदयान्तरिक्ष में क्रियाशीलता के संकल्पवाला होता हूँ।

भावार्थ—हृदयान्तरिक्ष में क्रियाशीलता का संकल्प होने पर सब इष्ट-पदार्थ प्राप्त होते हैं। दीर्घजीवन, अङ्ग-प्रत्यङ्ग की पुष्टि व आवश्यक धन की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—दिवादित्यौ ॥ छन्दः—त्रिपदामहाबृहती ॥

द्युलोक में आदित्य

दिव्या॑दित्याय समनमन्त्स आर्ध्नोत्।
यथा दिव्या॑दित्याय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु॥ ५॥

१. **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **आदित्याय**=ज्ञानसूर्य के लिए **समनमन्**=सब संनत होते हैं। **सः**=वह ज्ञानरूप सूर्य **आर्ध्नोत्**=सफलता का कारण बनता है। २. **यथा**=जैसे **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **समनमन्**=संनत होते हैं—आदर के भाववाले होते हैं, **एव**=इसप्रकार **मह्यम्**=मेरे लिए **संनमः**=अभिलषित फलों की प्राप्तियाँ **संनमन्तु**=संनत हों।

भावार्थ—मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य ही प्रमुख देव है। इसके होने पर द्युलोक के अन्य सब देव उपस्थित होंगे ही। ज्ञान सब अभिलषितों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—दिवादित्यौ ॥ छन्दः—संस्तारपङ्क्तिः ॥

द्युलोकरूप धेनु का आदित्यरूप वत्स

द्यौर्धेनुस्तस्या आदित्यो वत्सः। सा म आदित्येन वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम्।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा॥ ६॥

१. **द्यौः धेनुः**=मस्तिष्करूप द्युलोक धेनु है। **आदित्यः**=ज्ञानरूप सूर्य **तस्याः वत्सः**=उसका बछड़ा है। **सा**=वह धेनु **वत्सेन आदित्येन**=ज्ञानरूप बछड़े के साथ **मे**=मेरे लिए **इषम्**=अन्न को, **ऊर्जम्**=रस को, **कामम्**=सब अभिलषित पदार्थों को **दुहाम्**=प्रपूरित करे। २. **प्रथमं आयुः**=शतसंवत्सर का विस्तीर्ण जीवन **प्रजाम्**=उत्तम सन्तति व शक्ति-विकास **पोषम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग का पोषण और **रयिम्**=धन हमें दे। **स्वाहा**=मैं इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपना अर्पण करता हूँ।

भावार्थ—मस्तिष्क में ज्ञान होने पर सब इष्ट पदार्थ प्राप्त होते हैं। दीर्घजीवन, अङ्ग-प्रत्यङ्ग का पोषण व आवश्यक धन इस ज्ञान से प्राप्त होता है।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—दिक्चन्द्रमसः ॥ छन्दः—त्रिपदामहाबृहती ॥

दिशाओं में चन्द्रमा

दिक्षु चन्द्राय समनमन्त्स आर्ध्नोत्।
यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु॥ ७॥

१. **दिक्षु**=पूर्व-पश्चिम आदि शरीर के दिग्भागों में **चन्द्राय**=आह्लाद-(विकास)-रूप चन्द्रमा के लिए **समनमन्**=सब प्राणी संनत होते हैं। शरीर के सब प्रदेश आह्लादित व विकसित हों तो सबको अच्छा लगता है। **सः**=वह आह्लाद व विकास **आर्ध्नोत्**=सफलता प्राप्त कराता है। २. **यथा**=जैसे **दिक्षु**=शरीर के सब प्रदेशों में **चन्द्राय**=आह्लाद व विकास के लिए **समनमन्**=संनत होते हैं, **एव**=इसी प्रकार **मह्यम्**=मेरे लिए **संनमः**=अभिलषित फलों की प्राप्तियाँ **संनमन्तु**=संनत हों। सब शरीरावयवों के विकास में ही अभिलषित प्राप्ति होती है।

भावार्थ—शरीर के सब देश—अङ्ग आह्लादमय हों। ऐसा होने पर ही सब अभिलषित सिद्ध होते हैं।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—दिक्चन्द्रमसः ॥ छन्दः—संस्तारपङ्क्तिः ॥

दिशारूप धेनुओं का वत्स 'चन्द्र'

दिशो धेनवस्तासां चन्द्रो वत्सः। ता मे चन्द्रेण वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम्।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा॥ ८॥

१. **दिशः धेनवः**=शरीर के सब दिग्भाग धेनुएँ हैं, तो **चन्द्रः**=आह्लाद व विकास ही **तासाम्**=उनका **वत्सः**=बछड़ा है। **ताः**=वे दिशाएँ **वत्सेन चन्द्रेण**=इस वत्सभूत चन्द्र (विकास) के साथ **मे**=मेरे लिए **इषम्**=अन्न को, **ऊर्जम्**=बलकर रस को तथा **कामम्**=अभिलषित तत्त्वों को **दुहाम्**=प्रपूरित करें। २. ये मुझे **प्रथमम्**=शतसंवत्सरपर्यन्त विस्तीर्ण आयुष्य **प्रजाम्**=शक्तियों का प्रादुर्भाव, **पोषम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग का पोषण व **रयिम्**=उत्कृष्ट धन प्राप्त कराएँ। **स्वाहा**=मैं इन चन्द्र-शक्तियों के विकास व आह्लाद के लिए अपना अर्पण करता हूँ—पूर्ण प्रयत्न से इन्हें प्राप्त करने में लगता हूँ।

भावार्थ—शरीर के सब दिग्भागों के विकसित होने पर सब अभिलषित तत्त्वों की प्राप्ति

होती है। इसी से दीर्घ जीवन, शक्तियों का विकास व पोषण प्राप्त होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**जातवेदसोऽग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु-स्मरण

अ॒ग्नाव॒ग्निश्च॑रति॒ प्रवि॑ष्ट॒ ऋषी॑णां पु॒त्रो अ॑भिशस्ति॒पा उ॑।
न॒म॒स्का॒रेण॒ नम॑सा ते जुहोमि॒ मा दे॒वानां॑ मिथु॒या क॑र्म भा॒गम्॥ ९॥

१. **अग्नौ**=प्रगतिशील जीव में **प्रविष्टः**=प्रविष्ट हुआ-हुआ **अग्निः**=अग्रणी प्रभु (तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशन्) **चरति**=सब क्रियाओं को करता है। एक ज्ञानी पुरुष सब कार्यों को अन्तःस्थित प्रभु की शक्ति से होता हुआ जानता है। यह प्रभु **ऋषीणां पुत्रः**=इन तत्त्वद्रष्टा पुरुषों को पवित्र करनेवाला (पुनाति) व त्राण करनेवाला (त्रायते) है। तत्त्वद्रष्टा पुरुष अन्तःस्थित प्रभु को देखते हैं। यह प्रभु-दर्शन उन्हें पवित्र हृदयवाला व नीरोग शरीरवाला बनाता है। **उ**=निश्चय से ये प्रभु **अभिशस्तिपाः**=हिंसन से बचानेवाले हैं। प्रभु को देखनेवाला ऋषि पापों व रोगों से आक्रान्त नहीं होता। २. हे प्रभो! मैं **ते**=तेरे प्रति **नमस्कारेण**=नमस्कार के साथ **नमसा**=हविर्लक्षण अन्न के द्वारा **जुहोमि**=अग्निहोत्र करता हूँ। हम **देवानां भागम्**=वायु आदि देवों के भजनीय इस हविर्लक्षण अन्न को कभी **मिथुया मा कर्म**=मिथ्या न करें—अग्निहोत्र की सारी प्रक्रिया को पवित्रता से करें।

भावार्थ—ऋषि सब कार्यों को अन्तःस्थित प्रभु की शक्ति से होते हुए देखता है। यह भावना इन्हें विनाश से बचाती है। प्रभु के प्रति नमन करते हुए हम सदा पवित्रता के साथ अग्निहोत्र करनेवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**जातवेदसोऽग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पवित्र यज्ञ

हृ॒दा पू॒तं मन॑सा जातवेदो॒ विश्वा॑नि दे॒व व॒युना॑नि वि॒द्वान्।
स॒प्ता॒स्या॑नि॒ तव॑ जातवेद॒स्तेभ्यो॑ जुहोमि॒ स जु॑षस्व ह॒व्यम्॥ १०॥

१. हे **जातवेदः**=अग्ने! मैं **हृदा**=हृदय से—श्रद्धा से तथा **मनसा**=मन से—ज्ञानपूर्वक **पूतम्**=पवित्र हवि को **जुहोमि**=आहुत करता हूँ। हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप **विश्वानि**=सब **वयुनानि**=प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जानते हैं। आपके स्मरण से मैं सदा पवित्र कर्मों को ही करनेवाला बनूँ। हे जातवेदः! **तव**=तेरे **सप्त आस्यानि**='काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी, विश्वरुची' इन नामोंवाली सात जिह्वाएँ (मुख) हैं। मैं **तेभ्यः**=उनके लिए इस हविर्लक्षण अन्न को आहुत करता हूँ। **सः**=वह तू **हव्यम्**=इस होतव्य पदार्थ का **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर।

भावार्थ—प्रभु हमारे सब विचारों को जानते हैं। हम प्रभु-स्मरण करते हुए सदा यज्ञादि पवित्र कर्मों को करनेवाले बनें।

विशेष—प्रभु-स्मरणपूर्वक पवित्र कर्मों को करता हुआ यह व्यक्ति वासना-विनाश द्वारा शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगतिवाला होता है। यह सब शत्रुओं को नष्ट करनेवाला शक्तिशाली 'शुक्र' बनता है। यह शुक्र ही अगले सूक्त का ऋषि है—

४०. [चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्राची दिक् से

ये पुरस्ताज्जुह्वति जातवेदः प्राच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
अग्निमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि॥ १॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **ये**=जो **पुरस्तात्**=सामने से—पूर्व दिशा से **जुह्वति**=(हु अदने) हमें खाने के लिए आते हैं, **प्राच्याः दिशः**=इस पूर्व दिशा से **अस्मान् अभिदासन्ति**=हमारा क्षय करना चाहते हैं **ते**=वे सब **अग्निम् ऋत्वा**=हमारे अन्दर स्थित अग्नितत्त्व को प्राप्त करके **पराञ्चः**=पराङ्मुख हुए-हुए **व्यथन्ताम्**=पीड़ित हों। मेरे अन्दर स्थित अग्नितत्त्व इन्हें दूर भगानेवाला हो। २. मैं **एनान्**=इन सब शत्रुओं को **प्रतिसरेण**=प्रतिसर के द्वारा—शरीर में उत्पन्न वीर्यशक्ति को अङ्ग-प्रत्यङ्ग में गतिवाला करके **प्रत्यग् हन्मि**=पराङ्मुख करके (प्रतीचीनम् निवर्त्य) नष्ट कर डालता हूँ।

भावार्थ—मेरे अन्दर का अग्नितत्त्व पूर्व से आक्रमण करनेवाले सब शत्रुओं को विनष्ट करनेवाला हो।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदो यमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

दक्षिण दिक् से

ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
यममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि॥ २॥

१. **ये**=जो **दक्षिणतः**=दक्षिणपार्श्व से **जुह्वति**=नष्ट करना चाहते हैं, **ते**=वे सब **यमम् ऋत्वा**=हमारे अन्दर स्थित नियन्त्रण की भावना को प्राप्त करके **पराञ्चः**=पराङ्मुख हुए-हुए **व्यथन्ताम्**=पीड़ित हों। मेरे अन्दर स्थित नियन्त्रण की भावना इन शत्रुओं को दूर भगानेवाली हो। २. मैं **एनान्**=इन शत्रुओं को **प्रतिसरेण**=प्रतिसर के द्वारा—शरीर में उत्पन्न वीर्यशक्ति को अङ्ग-प्रत्यङ्ग में गतिशील करके **प्रत्यग् हन्मि**=पराङ्मुख करके नष्ट कर डालता हूँ।

भावार्थ—मेरे अन्दर स्थित नियन्त्रण की भावना दक्षिणपार्श्व से आक्रमण करनेवाले सब शत्रुओं को विनष्ट करनेवाली हो।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदो वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रतीची दिक् से

ये पश्चाज्जुह्वति जातवेदः प्रतीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
वरुणमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि॥ ३॥

१. **ये**=जो **पश्चात्**=पीछे से **जुह्वति**=हमें खाने को आते हैं, हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **प्रतीच्याः दिशः**=पश्चिम दिशा से **अस्मान् अभिदासन्ति**=हमारा उपक्षय करते हैं, **ते**=वे वरुणम् **ऋत्वा**=(वारयति) मेरे अन्दर स्थित द्वेष-निवारण—निर्द्वेषता की भावना को प्राप्त करके **पराञ्चः**=पराङ्मुख होकर **व्यथन्ताम्**=पीड़ित हों। २. मैं **एनान्**=इन शत्रुओं को **प्रतिसरेण**=शरीर में उत्पन्न सोम को अङ्ग-प्रत्यङ्ग में गतिवाला करके **प्रत्यग् हन्मि**=पराङ्मुख करके नष्ट कर डालता हूँ।

भावार्थ—मेरे अन्दर स्थित निर्द्वेषता पीछे से आक्रमण करनेवाले सब शत्रुओं को

समाप्त कर देता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदो भूमिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उदीची दिक् से

य उत्तरतो जुह्वति जातवेद उदीच्या दिशो ऽभिदासन्त्यस्मान्।
सोममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि॥ ४॥

१. **ये**=जो **उत्तरतः**=उत्तरभाग से **जुह्वति**=हमें खाने को आते हैं, हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **उदीच्याः दिशः**=उत्तर दिशा से **अस्मान् अभिदासन्ति**=हमारा उपक्षय करते हैं, **ते**=वे **सोमम् ऋत्वा**=हमारे अन्दर स्थित सोमतत्त्व को—सौम्यता—शान्ति को प्राप्त करके **पराञ्चः**=पराङ्मुख होकर **व्यथन्ताम्**=पीड़ित हों। २. मैं **एनान्**=इन शत्रुओं को **प्रतिसरेण**=शरीर में उत्पन्न सोम को अङ्ग-प्रत्यङ्ग में गतिवाला करके **प्रत्यग् हन्मि**=पराङ्मुख करके नष्ट कर डालता हूँ।

भावार्थ—मेरे अन्दर स्थित सौम्यता का भाव उत्तर से आक्रमण करनेवाले सब शत्रुओं को समाप्त कर देता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदो भूमिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ध्रुवा दिक् से

ये३धस्ताज्जुह्वति जातवेदो ध्रुवाया दिशो ऽभिदासन्त्यस्मान्।
भूमिमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि॥ ५॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **ये**=जो शत्रु **अधस्तात्**=नीचे की ओर से **जुह्वति**=हमें खाने को आते हैं, **ध्रुवायाः दिशः**=इस ध्रुवा दिक् से **अस्मान् अभिदासन्ति**=हमारा उपक्षय करते हैं, **ते**=वे शत्रु **भूमिम्**=(भवन्ति भूतानि अस्याम्) 'सब प्राणियों के कल्याण की कामना की वृत्ति' को **ऋत्वा**=प्राप्त करके **पराञ्चः**=पराङ्मुख होकर **व्यथन्ताम्**=पीड़ित हों। २. **एनान्**=इन शत्रुओं को **प्रतिसरेण**=शरीर में उत्पन्न सोम की अङ्ग-प्रत्यङ्ग में गति के द्वारा प्रत्यग् **हन्मि**=पराङ्मुख करके नष्ट कर डालता हूँ।

भावार्थ—हमारे हृदयों में सब प्राणियों के कल्याण की कामना हो। यह काम ध्रुवा दिक् से आक्रमण करनेवाले शत्रुओं का विनाश करेगी।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदो वायुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

व्यध्वा दिक् से

ये३ऽन्तारिक्षाज्जुह्वति जातवेदो व्यध्वाया दिशो ऽभिदासन्त्यस्मान्।
वायुमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि॥ ६॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **ये**=जो शत्रु **अन्तरिक्षात् जुह्वति**=अन्तरिक्ष से—मध्यलोक से हमें खाने को दौड़ते हैं **व्यध्वायाः**=विविध मार्गोंवाली (अध्वोंवाली) **दिशः**=दिशा से **अस्मान् अभिदासन्ति**=हमारा उपक्षय करते हैं, **ते**=वे शत्रु **वायुम्**=गतिशीलता के भाव को—हृदयस्थ कर्मसंकल्प को **ऋत्वा**=प्राप्त करके **पराञ्चः**=पराङ्मुख होकर **व्यथन्ताम्**=पीड़ित हों। २. **एनान्**=इन शत्रुओं को **प्रतिसरेण**=शरीर में उत्पन्न सोम के अङ्ग-प्रत्यंग में सरण के द्वारा **प्रत्यग् हन्मि**=पराङ्मुख करके नष्ट करता हूँ।

भावार्थ—हृदयों में कर्मशीलता का संकल्प व्यध्वा दिक् से आक्रमण करनेवाले सब शत्रुओं का विनाश करे।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदः सूर्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ऊर्ध्वा दिक् से

य उ॒परि॑ष्टाज्जु॒हति॑ जातवेद ऊ॒र्ध्वाया॑ दि॒शो ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान्।
सूर्य॑मृ॒त्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॑नान्प्रतिस॒रेण॑ हन्मि ॥ ७ ॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **ये**=जो शत्रु **उपरिष्टात् जुह्वति**=ऊपर से हमें खाने को दौड़ते हैं, **ऊर्ध्वायाः दिशः**=ऊर्ध्वा दिक् से **अस्मान् अभिदासन्ति**=हमें उपक्षीण करते हैं, **सूर्यम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक में स्थित ज्ञानसूर्य को **ऋत्वा**=प्राप्त करके **ते**=वे शत्रु **पराञ्चः**=पराङ्मुख होकर **व्यथन्ताम्**=पीड़ित हों। २. **एनान्**=इन शत्रुओं को **प्रतिसरेण**=शरीरस्थ सोम के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सरण के द्वारा **प्रत्यग् हन्मि**=पराङ्मुख करके नष्ट करता हूँ।

भावार्थ—मस्तिष्क में स्थित ज्ञानसूर्य के प्रकाश में ऊर्ध्वा दिक् से आक्रमण करनेवाले शत्रुओं का विलय हो जाता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदो ब्रह्म** ॥ छन्दः—**परोऽतिशक्वरीपाद्युग्जगती** ॥

सब दिशाओं से

ये दि॒शाम॑न्तर्दे॒शेभ्यो॑ जु॒हति॑ जातवेदः॒ सर्वा॑भ्यो दि॒ग्भ्यो ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान्।
ब्रह्म॒र्त्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॑नान्प्रतिस॒रेण॑ हन्मि ॥ ८ ॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **ये**=जो शत्रु **दिशाम् अन्तर्देशेभ्यः**=दिशाओं के अन्तर्देशों से **जुह्वति**=हमें खाने को आते हैं, **सर्वाभ्यः दिग्भ्यः**=सब दिशाओं से **अस्मान् अभिदासन्ति**=हमारा उपक्षय करते हैं, **ब्रह्म**=उस सर्वव्यापक प्रभु की व्यापकता के स्मरण के भाव को **ऋत्वा**=प्राप्त होकर **ते**=वे शत्रु **पराञ्चः**=पराङ्मुख होकर **व्यथन्ताम्**=पीड़ित हों। २. **एनान्**=इन शत्रुओं को **प्रतिसरेण**=शरीरस्थ सोम के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सरण के द्वारा **प्रत्यग्**=पराङ्मुख करके **हन्मि**=नष्ट करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु की व्यापकता का स्मरण सब दिशाओं से आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को विनष्ट करे।

सूचना—इस सूक्त में काव्यमयी भाषा में आक्रामक शत्रुओं के विनाश का बड़ा सुन्दर संकेत है। विविध दिशाओं से काम-क्रोध आदि शत्रु हमपर आक्रमण करते हैं। इनसे अपने को बचाने के लिए इन दिशाओं में 'अग्नि, यम, वरुण, सोम, भूमि, वायु, सूर्य व ब्रह्म' रूप पहरेदारों को नियुक्त करना है। आगे बढ़ने की भावना ही 'अग्नि' है, नियन्त्रण—संयम का भाव 'यम' है। निर्द्वेषता 'वरुण' है। सौम्यता का भाव 'सोम' है। 'सब प्रणियों के कल्याण की कामना' ही भूमि है, क्रियाशीलता वायु है। ज्ञान का सूर्य 'सूर्य' है तो सर्वव्यापक प्रभु का स्मरण ही 'ब्रह्म' है। ये आठ वृत्तियाँ पहरेदार हैं, ये हमें शत्रुओं के आक्रमण से बचाती हैं।

॥ इति चतुर्थं काण्डम् ॥

अथ पञ्चमं काण्डम्

१. [प्रथमं सूक्तम्]

गतसूक्त की भावना को जीवन में अनूदित करनेवाला यह साधक सब ओर से शत्रुओं से अपना रक्षण करता है। शत्रुओं के आक्रमण से सुरक्षित यह साधक '**बृहद्दिवः**'=बड़ा ज्ञानी-प्रकाशमय जीवनवाला बनता है। यह '**अथर्वा**'=स्थिरवृत्ति का (अ+थर्व) अथवा अन्तःनिरीक्षण की वृत्तिवाला (अथ अर्वाङ्) बनता है। इसी 'बृहद्दिव अथर्वा' का यह सूक्त है—

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**पराबृहतीत्रिष्टुप्** ॥

ऋधङ्मन्त्रः, भ्राजमानः

ऋधङ्मन्त्रो योनिं य आबभूवामृतासुवर्धमानः सुजन्मा।
अदब्धासुर्भ्राजमानोऽहेव त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि॥ १॥

१. वे प्रभु **ऋधङ्मन्त्रः**=प्रवृद्ध ज्ञानवाले—सर्वज्ञ हैं, **योनिम्**=संसार के मूलकारण प्रकृति को **यः आबभूव**=जिसने व्याप्त किया हुआ है, **अमृतासुः**=ये प्रभु अमर प्राणोंवाले व **वर्धमानः**=सदा से बढ़े हुए हैं, **सुजन्मा**=ये प्रभु उत्तम शक्तियों के विकासवाले हैं—प्रभु अपने उपासकों को शक्तियों के विकासवाला बनाते हैं। २. **अदब्धासुः**=अहिंसित प्राणवाले (नि० ३.९) ये प्रभु **अहा इव भ्राजमानः**=दिनों को प्रकट करनेवाले सूर्य के समान देदीप्यमान हैं। ये **त्रितः**=(तीर्णतमो मेधया बभूव—निरु० ९.६, त्रितः त्रिस्थान इन्द्रः, नि० ८.२५) निरतिशय बुद्धिवाले व तीनों लोकों में व्याप्त प्रभु **धर्ता**=धारण करनेवाले हैं और **त्रीणि दाधार**=तीनों लोकों का धारण कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रवृद्ध ज्ञानवाले प्रभु का उपासन करता हुआ उपासक भी प्रभु की भाँति ज्ञान, प्राणशक्ति व अन्य शक्तियों के विकासवाला बनने का यत्न करता है। यह 'शरीर, मन व बुद्धि' इन तीनों का धारण करनेवाला होता है।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अनुदित वाणी का प्रकाश

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत॥ २॥

१. **यः**=जो प्रभु **प्रथमः**=अत्यन्त विस्तारवाले—सर्वव्यापक हैं, **धर्माणि आससाद**=सब धारणात्मक कर्मों को प्राप्त होते हैं, **ततः**=उन धारणात्मक कर्मों के द्वारा ही **पुरूणि वपूंषि**=नाना प्रकार के शरीरों को **कृणुषे**=करते हैं। २. ये **धास्युः**=सबका धारण करनेवाले **प्रथमः**=सर्वव्यापक प्रभु **योनिम् आविवेश**=संसार की योनिभूत प्रकृति में प्रविष्ट हो रहे हैं। इसमें प्रविष्ट होकर ही ये इस अनन्त रूपोंवाले ब्रह्माण्ड का निर्माण व धारण करते हैं। ये प्रभु वे हैं **यः**=जो संसार का निर्माण करके, सृष्टि के आरम्भ में अपने अमृत पुत्रों को जन्म देकर उनके हृदयों में स्थित हुए-हुए **अनुदिताम्**=मुख से उच्चारण न की गई **वाचम्**=इस वेदवाणी का **चिकेत**=ज्ञान कराते हैं। 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' नामक (पूर्वे चत्वारः) सर्वाधिक तीव्र बुद्धिवाले ऋषियों के हृदयों में प्रभु इस वेदज्ञान को बिना शब्दोच्चारण के ही प्राप्त करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—सर्वव्यापक प्रभु धारणात्मक कर्मों को करते हैं, विविध रूपोंवाले इस ब्रह्माण्ड

का निर्माण व धारण करनेवाले वे प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में 'अग्नि' आदि ऋषियों के हृदयों में वेदज्ञान का प्रकाश करते हैं।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अमृतत्व व नैर्मल्य

यस्ते शोकाय तन्वं रिरेच क्षरद्धिरण्यं शुचयोऽनु स्वाः।
अत्रा दधेते अमृतानि नामास्मे वस्त्राणि विश एरयन्ताम्॥ ३॥

१. हे प्रभो! **यः**=जो **ते**=आपकी **शोकाय**=दीप्ति को प्राप्त करने के लिए **तन्वं रिरेच**=अपने शरीर को शुद्ध कर डालता है—इसमें से सब मलों का रेचन कर डालता है, वह **हिरण्यं क्षरत्**=अपने अन्दर ज्योति व वीर्य को (हिरण्यं वै ज्योतिः, हिरण्यं वै वीर्यम्) संचरित करता है। इसके जीवन में **स्वाः शुचयः**=आत्मदीप्तियाँ **अनु**=अनुकूलता से गतिवाली होती हैं। २. **अत्र**=यहाँ—इस योगी (साधक) के जीवन में प्राण और अपान **अमृतानि**=नीरोगता का **दधेते नाम**=निश्चय से धारण करते हैं। **विशः**=शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्रवेश करनेवाले ये प्राण **अस्मे**=हमारे लिए **वस्त्राणि**=इन 'अन्नमय, प्राणमय' आदि कोशरूप वस्त्रों को **एरयन्ताम्**=गति के द्वारा सर्वथा कम्पित करके दूरीकृत मलोंवाला करें—हमारे कोशरूप सब वस्त्र निर्मल हों।

भावार्थ—हम हृदय में प्रभु की दीप्ति के लिए शरीरों को निर्मल करें—अपने अन्दर दीप्ति को सञ्चरित करें। आत्मदीप्ति को देखने के लिए यत्नशील हों। प्राणापान हमें निर्मल व नीरोग बनाएँ।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रतरं, पूर्व्यं, अजुर्यम्

प्र यदेते प्रतरं पूर्व्यं गुः सदःसद आतिष्ठन्तो अजुर्यम्।
कविः शुषस्य मातरा रिहाणे जाम्यै धुर्यं पतिमेरयेथाम्॥ ४॥

१. **यत्**=जब **एते**=ये साधक लोग **प्रतरम्**=संसार-सागर से तरानेवाले **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम उस प्रभु को **प्रगुः**=प्रकर्षेण जानेवाले होते हैं तब ये **सदःसदः**=प्रत्येक शरीररूप घर में उस **अजुर्यम्**=कभी जीर्ण न होनेवाले परमेश्वर में **आतिष्ठन्तः**=स्थिर होनेवाले होते हैं। ये प्रत्येक प्राणी में उस प्रभु को देखते हैं। वे प्रभु को इस रूप में देखते हैं कि ये प्रभु **कविः**=सर्वज्ञ हैं। २. इसप्रकार सब प्राणियों में प्रभु को देखनेवाले पति-पत्नी **शुषस्य मातरा**=शत्रु-शोषक बल का निर्माण करनेवाले व **रिहाणे**=परस्पर प्रीतिवाले (रिह आस्वादने) होते हैं। ये **जाम्यै**=संसार को जन्म देनेवाली इस प्रकृति के **धुर्यं पतिम्**=सम्पूर्ण संसार के धारण में समर्थ उस पति प्रभु को **एरयेथाम्**=अपने हृदयों में प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—उस तारक, पालक प्रभु का उपासन करनेवाले लोग प्रत्येक प्राणी में उस अविनाशी प्रभु को देखते हैं। उसे सर्वज्ञ जानते हुए पति-पत्नी अपने में शत्रु-शोषक बल का निर्माण करते हैं और परस्पर प्रीतिवाले होते हैं। ये इस प्रकृति के धुर्य पति उस प्रभु को ही अपने हृदयों में प्रेरित करते हैं—उसी का ध्यान करते हैं।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सूर्य व पृथिवी' में प्रभु की महिमा का दर्शन

तदू षु ते महत्पृथुज्मन्नमः कविः काव्येना कृणोमि।
यत्सम्यञ्चावभियन्तावभि क्षामत्रा मही रोधचक्रे वावृधेते॥ ५॥

१. हे **पृथुज्मन्**=विस्तृत गतिवाले प्रभो! मैं **कविः**=ज्ञानी बनकर **काव्येन**=वेदरूप काव्य के द्वारा **ते**=आपके लिए **उ**=निश्चय से **तत्**=उस **सुमहत्**=बहुत अधिक **नमः कृणोमि**=नमस्कार करता हूँ, **यत्**=जो **अत्र**=इस संसार में **अभिक्षाम्**=(क्षि निवासगत्योः) हमारे उत्तम निवास के लिए **मही**=महत्त्वपूर्ण **रोधचक्रे**=परस्पर विरुद्ध चक्रोंवाले ये सूर्य और पृथिवी ('सूर्य' पृथिवी का आकर्षण करता है, 'पृथिवी' सूर्य का) **सम्यञ्चौ**=सम्यक् गतिवाले **अभियन्तौ**=चारों ओर गति करते हुए **वावृधेते**=निरन्तर हमारा वर्धन करते हैं। २. सूर्य और पृथिवी के ठीक कार्य से ही अन्तरिक्ष से वृष्टि होकर हमारा पालन-पोषण होता है। एवं, ये हमारे वर्धन का कारण बनते हैं। इनके कार्यों को देखकर प्रभु की महिमा का स्मरण होता है। हम प्रभु के प्रति नतमस्तक होते हैं। इन सबके अन्दर गति देनेवाले वे प्रभु ही तो हैं।

भावार्थ—एक ज्ञानी पुरुष सूर्य व पृथिवी की गतियों को—उनके द्वारा होते हुए सब प्राणियों के वर्धन को देखकर प्रभु के प्रति नतमस्तक होता है।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सप्त मर्यादाः

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यंहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥ ६ ॥

१. **कवयः**=क्रान्तदर्शी विद्वानों ने **सप्त**=सात **मर्यादाः**=मर्यादाएँ—पाप से बचने की व्यवस्थाएँ **ततक्षुः**=बनाई हैं, **तासाम्**=उनमें से जो **एकाम् इत्**=एक को भी **अभिगात्**=उल्लंघन करता है, वह **अंहुरः**=पापी होता है। २. **आयोः ह स्कम्भः**=(आयु=wind) वायु, अर्थात् प्राणों (वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्) को वश में करनेवाला—प्राणायाम का अभ्यासी पुरुष **उपमस्य**=अन्तिकतम—हृदय में ही स्थित उस प्रभु के **नीडे**=आश्रय में **पथां विसर्गे**=विविध मार्गों के (विसर्गः= abandonment) हो जाने पर **धरुणेषु**=धारणात्मक कर्मों में ही **तस्थौ**=स्थित होता है—अन्य बातों को छोड़कर धारणात्मक कर्मों में ही प्रवृत्त होता है। यास्क के शब्दों में सात छोड़ने योग्य बातें ये हैं—**स्तेयम्**=चोरी, **तल्पारोहण**=गुरु-शय्या पर आरोहण—बड़ों का निरादर, **ब्रह्महत्या**=ज्ञान का त्याग, **भ्रूणहत्या**=गर्भघात, सुरापान, दुष्कृत कर्म का फिर-फिर करना, पाप करके झूठ बोलना, अर्थात् उसे छिपाने का प्रयत्न करना'। इन सबको छोड़कर धारणात्मक कर्मों में ही स्थित होना चाहिए।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुषों ने सात मर्यादाएँ बना दी हैं। उन्हें तोड़ना पाप है। प्राणसाधना द्वारा मन को वशीभूत करनेवाला व्यक्ति प्रभु का स्मरण करता है और पापवृत्तियों को छोड़कर धारणात्मक कर्मों में ही प्रवृत्त रहता है।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अमृतासु-असुरात्मा

उतामृतासुर्व्रत एमि कृण्वन्नसुरात्मा तन्व१स्तत्सुमद्गुः।
उत वा शक्रो रत्नं दधात्यूर्जया वा यत्सचते हविर्दाः ॥ ७ ॥

१. **उत**=और **अमृतासुः**=अविनाशी प्रभु को अपना प्राण समझनेवाला **व्रतः**=व्रतमय जीवनवाला मैं **कृण्वत्**=कर्म करता हुआ ही **एमि**=जीवन-यात्रा में चलता हूँ। **असुरात्मा**=(असु+र) प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले प्रभु को अपना आत्मा समझनेवाला यह साधक **तत्**=तब **तन्वः**=इस शरीर को **सुमद्गुः**=(सुमत्=प्रशस्त) प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बनाता है। प्रभु-स्मरण से

इन्द्रियाँ विषय-वासनाओं से मलिन नहीं होतीं। २. **उत वा**=और निश्चय से **शुक्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **यत्**=अब—इस साधक के जीवन में **रत्नम्**=रमणीय तत्त्वों को दधाति=धारण करते हैं तो **हविर्दा**=यह हवि देनेवाला—यज्ञशील व्यक्ति **वा**=निश्चय से **ऊर्जया सचते**=बल और प्राणशक्ति से युक्त होता है।

भावार्थ—हम प्रभु को ही अपना प्राण समझें, प्रभु को ही अपनी आत्मा जानें। इससे हम प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बनेंगे। प्रभु हममें रमणीय रत्नों को धारण करेंगे। हम यज्ञशील बनकर बल व प्राणशक्ति से सम्पन्न होंगे।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पुत्र की पिता से बल की याचना

उत पुत्रः पितरं क्षत्रमीडे ज्येष्ठं मर्यादमह्वयन्त्स्वस्तये।
दर्शन्नु ता वरुण यास्ते विष्ठा आवर्व्रततः कृणवो वपूंषि॥ ८॥

१. **उत**=और **पुत्रः**=प्रभु का योग्य पुत्र बनता हुआ मैं **पितरम्**=अपने पिता प्रभु से **क्षत्रम् ईडे**=बल की याचना करता हूँ। ज्ञानी लोग उस **ज्येष्ठम्**=सर्वश्रेष्ठ **मर्यादम्**=सब मर्यादाओं का स्थापन करनेवाले प्रभु को **स्वस्तये**=कल्याण के लिए **अह्वयन्**=पुकारते हैं। २. हे **वरुण**=वरणीय प्रभो! **याः**=जो **ते**=आपकी **विष्ठाः**=व्यवस्थाएँ हैं, **नु**=निश्चय से **ताः**=उन्हें ये ज्ञानी पुरुष **दर्शन्**=देखते हैं। 'ब्रह्माण्ड में प्रत्येक पिण्ड को वे प्रभु किस प्रकार मर्यादा में चला रहे हैं'—इस बात को देखकर आश्चर्य ही होता है। इसीप्रकार हे प्रभो! आप ही **आवर्व्रततः**=(आवृत् यङ्लुगन्तशतृ) कर्मफल के अनुसार विभिन्न योनियों में विचरनेवाले जीव के **वपूंषि**=शरीरों को **कृणवः**=करते हैं। जीवों को कर्मानुसार विविध शरीर आप ही प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु से बल की याचना करें। ब्रह्माण्ड में उस प्रभु की व्यवस्था को देखें और प्रभु को ही कर्मानुसार विविध शरीरों को प्राप्त करानेवाला जानें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**षट्पदाऽत्यष्टिः** ॥

अविम् वरुणम्

अर्धमर्धेन पयसा पृणक्ष्यर्धेन शुष्म वर्धसे अमुर।
अविं वृधाम शग्मियं सखायं वरुणं पुत्रमदित्या इषिरम्।
कविशस्तान्यस्मै वपूंष्यवोचाम रोदसी सत्यवाचा॥ ९॥

१. हे **अमुर**=अमूढ़—सर्वज्ञ अथवा अमर प्रभो! आप **अर्धम्**=(Habitation) प्राणियों के निवासभूत इस लोक को **अर्धेन**=वृद्धि (Increase) के द्वारा तथा **पयसा**=आप्यायन के साधनभूत भोजनों के द्वारा **पृणक्षि**=पूर्ण करते हो। **अर्धेन**=इस वृद्धि के द्वारा **शुष्म वर्धसे**=हम सबके बल को बढ़ाते हो। प्रभु दूध आदि उत्तम भोजनों को प्राप्त कराके हमारे बलों का वर्धन करते हैं। २. हम स्तुतियों के द्वारा उस **अविम्**=रक्षक प्रभु का **वृधाम**=अपने में वर्धन करनेवाले बनें। वे प्रभु **शग्मियम्**=सर्वशक्तिमान् व आनन्दमय हैं, **वरुणम्**=हमारे सब कष्टों व पापों का निवारण करनेवाले हैं, **सखायम्**=हमारे सच्चे सखा हैं, **पुत्रम्**=(पुनाति त्रायते) हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले तथा हमारा त्राण—रक्षण करनेवाले हैं, **अदित्याः इषिरम्**=इस प्रकृति के प्रेरक—गति देनेवाले (Prime Mover) हैं। प्रभु से प्रेरित प्रकृति ही इस विकृति के रूप में—संसार के रूप में आती है। ३. **सत्यवाचा**=सत्य वेदवाणी द्वारा **कविशस्तानि**=ज्ञानियों से उपदिष्ट **रोदसी**=द्यावापृथिवी में होनेवाले **वपूंषि**=(wonder, wonderful phenomenon) आश्चर्यों को **अस्मै**=इस

प्रभु के स्तवन के लिए **अवोचाम**=कहें। इस ब्रह्माण्ड में होनेवाले आश्चर्यों में प्रभु की महिमा को देखें। प्रभु की महिमा को देखते हुए प्रभु का गुणगान करें, प्रभु-जैसा ही बनने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—प्रभु संसार को वृद्धि के साधनभूत तत्त्वों से परिपूर्ण करते हैं। हमारे बलों को बढ़ाते हैं। वे ही रक्षक, सुख के दाता और पाप-निवारक सखा हैं। वे ही प्रकृति में गति पैदा करके इस अद्भुत ब्रह्माण्ड की रचना करते हैं। हम उन प्रभु का ही गुणगान करें।

अगला सूक्त भी 'बृहद्दिव अथर्वा' का ही है—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उग्रः त्वेषनृम्णः

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यदेनं मदन्ति विश्व ऊमाः॥ १॥

१. **तत् इत्**=वे प्रभु ही **भुवनेषु**=सब लोक-लोकान्तरों व प्राणियों में **ज्येष्ठम्**=सबसे उत्तम **आस**=हैं, **यतः**=जिस ब्रह्म से **उग्रः**=तेजस्वी व **त्वेषनृम्णः**=दीप्त बलवाला **जज्ञे**=प्रादुर्भूत होता है, प्रभु की उपासना से उपासक 'उग्र व त्वेषनृम्ण' होता है। उपासना से उपासक के हृदय में ज्ञानसूर्य का उदय होता है। यह ज्ञानसूर्य उसे 'उग्र व त्वेषनृम्ण' बना देता है। २. **सद्यः**=शीघ्र ही **जातः**=प्रादुर्भूत हुआ-हुआ यह ज्ञानसूर्य **शत्रून् निरिणाति**=वासनारूप शत्रुओं को नष्ट कर देता है। यह समय वह होता है **यत्**=जबकि **विश्वे**=सब **ऊमाः**=शत्रुओं से अपना रक्षण करनेवाले तथा रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोग **एनम् अनुमदन्ति**=इस परमात्मा की उपासना के अनुपात में आनन्द का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—ज्येष्ठ ब्रह्म की उपासना से उपासक के हृदय में ज्ञान का प्रकाश होकर सब वासना-अन्धकार का विलय हो जाता है। इस ज्ञानसूर्य के उदय होते ही सब शत्रु नष्ट हो जाते हैं और रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त उपासक प्रभु की उपासना के अनुपात में आनन्दित होते हैं।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शक्तिपुञ्ज प्रभु

वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु॥ २॥

१. वे प्रभु **शवसा वावृधानः**=बल से खूब बढ़े हुए हैं, **भूरिओजः**=बहुत अधिक ओजवाले हैं, **शत्रुः**=हमारी वासनाओं का शातन करनेवाले हैं, **दासाय**=(दसु उपक्षये) हमारी शक्तियों को क्षीण करनेवाले काम-क्रोध के लिए **भियसं दधाति**=भय को धारण करते हैं। जहाँ महादेव हैं, वहाँ कामदेव आने से डरता है। २. वे प्रभु **अव्यनत् च**=प्राण न लेनेवाले स्थावर पदार्थों को **च**=तथा **व्यनत्**=विशेषरूप से प्राणधारण करनेवाले जंगम प्राणियों को **सस्नि**=शुद्ध करनेवाले हैं। सब प्रकार के मलों को दूर करके वे प्रभु सर्वत्र पवित्रता का सञ्चार करनेवाले हैं। हे प्रभो! **ते**=आपके **मदेषु**=आनन्दों में **प्रभृता**=धारण किये हुए सब प्राणी **संनवन्त**=सम्यक् स्तवन करते हैं (नु स्तुतौ) अथवा उत्तम गतिवाले होते हैं। (नवति गतिकर्मा)।

भावार्थ—प्रभु अनन्त शक्तिवाले हैं, हमारे शत्रुओं को भयभीत करके उन्हें हमसे दूर करते हैं। सबका शोधन करते हैं। प्रभु-प्राप्ति का आनन्द अनुभव होने पर उपासक प्रभु का निरन्तर

स्तवन करते हैं।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अपने संकल्पों को प्रभु में सम्पृक्त करना

त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः॥ ३॥

१. हे प्रभो! ये उपासक **त्वे**=आपमें ही **क्रतुम्**=अपने संकल्प व प्रज्ञान को **भूरि**=खूब ही **अपि पृञ्चन्ति**=संपृक्त करते हैं। **एते**=ये आपके साथ अपने को सम्पृक्त करके **ऊमाः**=अपना रक्षण करनेवाले लोग **यत्**=जब **द्विः भवन्ति**=दो बार—प्रातः और सायं आपके ध्यान में होते हैं अथवा **त्रिः (भवन्ति)**=तीन बार-प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन व सायन्तन सवन में आपकी उपासना में स्थित होते हैं तब **स्वादोः स्वादीयः**=स्वादु से भी स्वादु, अर्थात् मधुरतम आप इस उपासक के जीवन को **स्वादुना सृज**=माधुर्य से संसृष्ट करते हैं। २. इस उपासक के **अदः मधु**=उस मधुर जीवन को **अभियोधीः**=वासनाओं के साथ युद्ध के द्वारा **सुमधुना**=और अधिक माधुर्य से **सम्**=संगत करते हैं।

भावार्थ—हम अपने संकल्पों व प्रज्ञानों को प्रभु-उपासना में सम्पृक्त करें। प्रतिदिन दो या तीन-बार प्रभु-चरणों में बैठने का नियम बनाएँ। प्रभु वासना-विनाश के द्वारा हमारे जीवनों को मधुर बनाएँगे।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

लक्ष्मी के साथ विष्णु

यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः।
ओजीयः शुष्मिन्त्स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन्दुरेवासः कशोकाः॥ ४॥

१. **यदि**=यदि **नु**=अब **चित्**=निश्चय से **विप्राः**=ज्ञानी पुरुष **रणेरणे**=प्रत्येक संग्राम में **धना जयन्तं त्वा**=धनों का विजय करनेवाले आपको **अनुमदन्ति**=अनुकूलता से स्तुत करते हैं तो हे **शुष्मिन्**=शत्रु-शोषक बलवाले प्रभो! आप **ओजीयः**=ओजस्वितावाले **स्थिरम्**=स्थिर धन को **आतनुष्व**=हमारे लिए विस्तृत करो। हमें धन प्राप्त हो। हमारा धन हमारी ओजस्विता को बढ़ानेवाला हो और चित्तवृत्ति को स्थिर करनेवाला हो। २. इसके कारण हमारे जीवनों में **दुरेवासः**=दुर्गमनवाले—अशुभ आचरणवाले **कशोकाः**=(क-शोकाः) पर-सुख में शोक करनेवाले ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि के भाव **त्वा मा दभन्**=आपको हिंसित न कर दें, अर्थात् धनों में आसक्त होकर हम आपको न भूल जाएँ।

भावार्थ—हम धनों के विजेता प्रभु का स्मरण करें। प्रभु-स्मरण के साथ प्राप्त धन हमारे अन्दर स्थिर ओज को प्राप्त करानेवाले हों। धनों में आसक्त होकर हम ईर्ष्या-द्वेष आदि में फँसकर प्रभु को न भूल जाएँ।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उपासना व शत्रुविजय

त्वया वयं शाशद्महे रणेषु प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि।
चोदयामि त आयुधा वचोभिः सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि॥ ५॥

१. हे प्रभो! **रणेषु**=संग्रामों में **वयम्**=हम **त्वया**=आपके साथ **प्रपश्यन्तः**=अच्छी प्रकार से देखते हुए—ज्ञान प्राप्त करते हुए **युधेन्यानि**=युद्ध करने योग्य काम-क्रोधादि असुरों को **भूरि**=खूब

ही **शाशद्महे**=नष्ट करें। हम अपने अन्दर छिपकर रहनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं को अवश्य विनष्ट करनेवाले हों। मैं **ते**=आप द्वारा दिये हुए **आयुधा**=इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप अस्त्रों को **वचोभिः**=वेद में दिये गये आपके निर्देशों के अनुसार **चोदयामि**=प्रेरित करता हूँ। **ते ब्रह्मणा**=आपके इस वेदज्ञान व स्तवन से मैं **वयांसि**=अपने जीवन को **संशिशामि**=तीव्र करता हूँ। मेरा जीवन तीव्र बुद्धिवाला बनता है और मैं इन वासनारूप शत्रुओं का विनाश करनेवाला बनता हूँ।

भावार्थ—प्रभु से मिलकर हम युद्ध में वासनारूप शत्रुओं को पराजित करें। अपने इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप अस्त्रों को तीव्र करें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गृह में मातृ-प्रतिष्ठा

नि तद्दधिषेऽवरे परे च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे।
आ स्थापयत मातरं जिगत्नुमत इन्वत कर्वराणि भूरि ॥ ६ ॥

१. हे प्रभो! **यस्मिन् दुरोणे**=जिस यज्ञशील पुरुष के गृह में **अवसा**=(food, wealth) उत्तम भोजनों व धनों के द्वारा **आविथ**=आप रक्षण करते हो **तत्**=उस गृह को **अवरे परे च**=इस निचली श्रेणी के पार्थिव धन में तथा उत्कृष्ट दिव्य धन में **निदधिषे**=निश्चय से स्थापित करते हो। आप संसार-यात्रा के लिए पार्थिव धनों को प्राप्त कराते ही तो अध्यात्म उत्कर्ष के लिए दिव्य धनों को देते हो। २. हे उपासको! तुम अपने गृह में **जिगत्नुम्**=जीवन को गतिमय व विजयशील बनानेवाली **मातरम्**=वेदमाता को **आस्थापयत**=प्रतिष्ठित करो। श्रद्धायुक्त मन से इसका स्वाध्याय करो। **अतः**=इससे—इस वेदवाणी की प्रेरणा से **भूरि**=खूब ही धारण व पोषणात्मक **कर्वराणि**=कर्मों को **इन्वत**=व्याप्त करो, सदा ही उत्कृष्ट कर्मों में लगे रहो।

भावार्थ—प्रभु हमें पर व अपर दोनों धनों को प्राप्त कराते हैं। संसार-यात्रा के लिए धन तथा अध्यात्म जीवन के लिए ज्ञान। हम घरों में वेदमाता को प्रतिष्ठित करें और उससे प्रेरणा लेकर सदा उत्कृष्ट कर्मों को करनेवाले बनें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रतिमानं पृथिव्याः

स्तुष्व वर्ष्मन्पुरुवर्त्मानं समृभ्वाणमिनतममाप्तमाप्त्यानाम्।
आ दर्शति शवसा भूर्योजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः ॥ ७ ॥

१. हे जीव! तू **वर्ष्मन्**=(शरीरं वर्ष्मविग्रहः) इस मानव-शरीर में उस प्रभु का **स्तुष्व**=स्तवन कर जो प्रभु **पुरुवर्त्मानम्**=पालक व पूरक मार्गवाले हैं। प्रभु-प्राप्ति का मार्ग हमें नीरोगता व निर्मलता की ओर ले-चलता है। वे प्रभु **समृभ्वाणम्**=ज्ञान से सम्यग् दीप्त हैं, **इनतमम्**=सर्वमहान् स्वामी हैं, **आप्त्यानाम् आप्तम्**=विश्वसनीयों में विश्वसनीय हैं। प्रभु-भक्त को किसी प्रकार का संशय नहीं रहता। प्रभु उपासकों का रक्षण करते ही हैं। वे **भूर्योजाः**=अनन्त बलवाले प्रभु **शवसा**=बल के द्वारा **आदर्शति**=समन्तात् दृष्टिगोचर होते हैं—सर्वत्र प्रभु की शक्ति कार्य करती हुई प्रतीत होती है। वे प्रभु **पृथिव्याः**=पृथिवी के **प्रतिमानम्**=प्रतिमान को—समानता को **प्रसक्षति**=धारण करते हैं, अर्थात् इस पृथिवी की भाँति सबके आधार होते हुए सबका पालन व पोषण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का मार्ग पालन व पूरण करनेवाला है। प्रभु ज्ञानदीप्त हैं, सर्वेश्वर हैं, विश्वसनीयतम आधार हैं। सर्वत्र प्रभु की शक्ति कार्य करती हुई दृष्टिगोचर होती है। प्रभु पृथिवी की भाँति सर्वाधार हैं।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रकाश, बल व तेजस्वी इन्द्रियसमूह

इमा ब्रह्म बृहद्दिवः कृणवदिन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः।
महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा तुरश्चिद्विश्वमर्णवत्तपस्वान्॥ ८॥

१. **बृहद् दिवः**=प्रभु से ज्ञान प्राप्त करके उत्कृष्ट ज्ञान-धनवाला यह उपासक **इन्द्राय**=प्रभु की प्राप्ति के लिए **इमा ब्रह्म कृणवत्**=इन स्तोत्रों को करता है। इस स्तवन से **अग्रियः**=जीवन-मार्ग में आगे बढ़नेवाला यह 'बृहद् दिव' **स्वर्षाः**=प्रकाश को प्राप्त करनेवाला होता है, **शूषम् क्षयति**=शत्रु-शोषक बल को प्राप्त करता है और **महः गोत्रस्य**=तेजस्वी इन्द्रियसमूह का ईश्वर होता है (क्षि=to govern, rule, to be master of)। २. यह **स्वराजा**=आत्मज्ञान से दीप्त होनेवाला **तुरः**=शत्रुओं का संहार करनेवाला उपासक **तपस्वान्**=तपस्वी होता हुआ **चित्**=निश्चय से **विश्वम्**=सम्पूर्ण **अर्णवत्**=(ऋण=जल) ज्ञान-जल से पूर्ण ज्ञान-समुद्र वेद को (क्षयति) प्राप्त होता है (रायः समुद्रांश्चतुरः)।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्त करके हम प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनें। यह स्तवन हमें प्रकाश, बल व तेजस्वी 'इन्द्रियसमूह' को प्राप्त कराएगा।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**भुरिक्परातिजागतात्रिष्टुप्** ॥

स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिप्रे

एवा महान्बृहद्दिवो अथर्वावोचत्स्वां तन्व१मिन्द्रमेव।
स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिप्रे हिन्वन्ति चैने शवसा वर्धयन्ति च॥ ९॥

१. **एव**=इसप्रकार **महान्**=पूजा की वृत्तिवाला, **बृहद् दिवः**=उत्कृष्ट ज्ञानवाला **अथर्वा**=न डाँवाडोल वृत्तिवाला पुरुष **स्वां तन्वम्**=अपने शरीर को **इन्द्रम् एव अवोचत्**=परमेश्वर ही कहता है—अन्तःस्थित प्रभु के कारण अपने को प्रभु ही समझता है। शीशी में शहद हो तो शीशी की ओर संकेत करके यही तो कहा जाता है कि 'यह शहद है'। इसीप्रकार अन्तःस्थित प्रभु को देखता हुआ यह अपने शरीर की ओर निर्देश करता हुआ यही कहता है कि 'यह प्रभु ही है'। २. इस अथर्वा की 'ब्रह्म व क्षत्र' दोनों शक्तियों इसे **स्वसारौ**=आत्मतत्त्व की ओर ले-जानेवाली होती हैं, **मातरिभ्वरी**=(मातरि-भुवन्) ये इसे वेदमाता की गोद में स्थापित करती हैं और **अरिप्रे**=निर्दोष जीवनवाला बनाती हैं। इसी हेतु ये 'बृहद्दिव अथर्वा' लोग **एने हिन्वन्ति**=इन दोनों को अपने में प्रेरित करते हैं **च**=तथा **शवसा**=गति के द्वारा (शवतिर्गतिकर्मा) इन्हें **वर्धयन्ति**=बढ़ाते हैं।

भावार्थ—एक ज्ञानी पुरुष अन्तःस्थित प्रभु को देखता हुआ अपने को प्रभु से भिन्न अनुभव नहीं करता। यह ज्ञान व बल के द्वारा आत्मतत्त्व की ओर चलता है, वेदमाता की गोद में आसीन होता है और इसप्रकार निर्दोष जीवनवाला बनता है। ज्ञानी पुरुष इन 'ब्रह्म व क्षत्र' को बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। अगला सूक्त भी 'बृहद्दिव अथर्वा' का ही है—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

चतुर्दिग् विजय

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम॥ १॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **विहवेषु**=जीवन-संग्रामों में **मम वर्चः अस्तु**=मुझमें वर्चस् हो। इस वर्चस् के द्वारा मैं शत्रुओं को जीतनेवाला बनूँ। **वयम्**=हम **त्वा इन्धानाः**=आपको अपने हृदयों से दीप्त करते हुए **तन्वं पुषेम**=अपने शरीर का उचित पोषण करें। २. मेरी शक्ति इतनी बढ़े कि **चतस्त्रः प्रदिशः**=चारों प्रकृष्ट दिशाएँ **मह्यम्**=मेरे लिए **नमन्ताम्**=नत हो जाएँ। मैं चारों दिशाओं का विजय करनेवाला बनूँ। हे प्रभो! **त्वया अध्यक्षेण**=आप अध्यक्ष हों और हम आपकी अध्यक्षता से शक्ति-सम्पन्न होकर **पृतनाः**=सब संग्रामों को **जयेम**=जीतनेवाले हों। प्राची दिक् का अधिपति 'इन्द्र' बनकर मैं काम को पराजित करूँ। दक्षिणा दिक् का अधिपति 'यम' बनकर मैं क्रोध को जीतूँ। प्रतीची दिक् का अधिपति 'वरुण' बनकर मैं लोभ का निवारण करूँ और उदीची दिक् का अधिपति 'सोम' बनकर सब दुर्गुणों से ऊपर उठ जाऊँ।

भावार्थ—हम प्रभु-उपासना करते हुए प्रभु की अध्यक्षता में सब संग्रामों का विजय करें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

अरि-प्रतिनोदन

अग्ने मन्युं प्रतिनुदन्परेषां त्वं नो गोपाः परि पाहि विश्वतः।
अपाञ्चो यन्तु निवता दुरस्यवोऽमैषां चित्तं प्रबुधां वि नेशत्॥ २॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **परेषाम्**=शत्रुओं के **मन्युम्**=क्रोध को **प्रतिनुदन्**=परे धकेलते हुए **त्वम्**=आप **नः गोपाः**=हमारे रक्षक होते हुए **विश्वतः परिपाहि**=हमें सर्वतः सुरक्षित कीजिए। हम गौएँ हों, आप हमारे गोप हों। हम क्रोधरूप शेर का शिकार न हो जाएँ। २. ये **दुरस्यवः**=हमें बुरी स्थिति में फेंकनेवाले **अपाञ्चः**=धर्म-मार्ग से हटकर चलनेवाले लोग **निवता यन्तु**=निम्नमार्ग से जानेवाले हों, अर्थात् सदा पराजित ही हों। **एषाम्**=इन शत्रुओं के **प्रबुधाम्**=चेतानेवालों का **चित्तम्**=चित्त **अमा विनेशत्**=इन्हें घर की ओर ले जानेवाला हो। हमारे शत्रुओं में जो समझदार हैं वे भी इसप्रकार घबरा जाएँ कि वे हमारे सब शत्रुओं को घर लौट जाने का ही परामर्श दें। उनका मस्तिष्क भी हमपर आक्रमण करने के लिए कोई मार्ग न निकाल सके।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षक हों, हमारे शत्रुओं को परे धकेलनेवाले हों। प्रभु के अनुग्रह से हमारा अशुभ चाहनेवाले सब शत्रु पराजित हों। इन्हें घर लौट जाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही न सूझे।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उरुलोक अन्तरिक्ष

मम देवा विहवे सन्तु सर्व इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्निः।
ममान्तरिक्षमुरुलोकमस्तु मह्यं वातः पवतां कामायास्मै॥ ३॥

१. **मम विहवे**=मेरी पुकार होने पर **सर्वे देवाः सन्तु**=सब देव मेरे हों। आराधना करता हुआ मैं सब देवों को अपने में प्रतिष्ठित कर पाऊँ। कौन देव? **इन्द्रवन्तः**=इन्द्रवाले—इन्द्र जिनका अध्यक्ष है, जिनमें इन्द्र की ही शक्ति काम कर रही है, ये सब देव मुझे प्राप्त हो, **मरुतः**=प्राण मुझे प्राप्त हों, **विष्णुः**=(विश् व्याप्तौ) व्यापकता, उदारता, विशालता की देवता मुझे प्राप्त हों, **अग्निः**=मुझमें आगे बढ़ने की भावना हो (अग्रणीत्व हो)। मैं प्राणशक्ति-सम्पन्न, उदार व अग्रगतिवाला बनूँ। २. **मम**=मेरा **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष **उरुलोकम् अस्तु**=विस्तृत प्रकाशवाला व बहुत स्थानवाला हो। मेरा हृदय अन्धकार से रहित हो और उसमें सभी के लिए स्थान हो। **अस्मै कामाय**=इस हृदयान्तरिक्ष के उरुलोकत्व की कामना के लिए **वातः मह्यं**

पवताम्=वायु मेरे लिए अनुकूल होकर बहे—सारा वातावरण ऐसा हो कि मैं अपने हृदय को विशाल बना सकूँ।

भावार्थ—मेरा जीवन प्रभु-स्मरण के साथ प्राणशक्तिसम्पन्न, विशाल हृदयवाला व प्रगतिशील हो। मैं अनुदार व अन्धकारमय जीवनवाला न हो जाऊँ। बस, यही मेरी आराधना हो। प्रभु सारे वातावरण को मेरी इस कामना के अनुकूल बनाएँ।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**देवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शुभ संकल्प

मह्यं यजन्तां मम यानीष्टाकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु।
एनो मा नि गां कतमच्चनाहं विश्वेदेवा अभि रक्षन्तु मेह॥ ४॥

१. **मम**=मेरे **यानि**=जो **इष्टा**=अभिलषित पदार्थ व यज्ञादि उत्तम कर्म हैं, वे **मह्यम् यजन्ताम्**=मेरे लिए संगत हों—मुझे इष्ट पदार्थों व उत्तम कर्मों की प्राप्ति हो। **मे**=मेरे **मनसः**=मन का **आकूतिः**=संकल्प **सत्या अस्तु**=सत्य हो। मैं कभी असत्य संकल्पोंवाला न बनूँ। २. **अहम्**=मैं **कतमत् चन**=किसी भी **एनः**=पाप को **मा निगाम**=प्राप्त न होऊँ। **विश्वेदेवाः**=सब दिव्यगुण **इह**=यहाँ, इस जीवन में **मा अभिरक्षन्तु**=मेरा रक्षण करें।

भावार्थ—हमें सब इष्ट वस्तुएँ प्राप्त हों। हमारे संकल्प उत्तम हों। हम पाप से दूर रहें और दिव्य गुण हमारे रक्षक हों।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**द्रविणोदादयः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'देव-द्रविण' प्राप्ति

मयि देवा द्रविणमा यजन्तां मय्याशीरस्तु मयि देवहूतिः।
दैवा होतारः सनिषन्न एतदरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः॥ ५॥

१. **देवाः**=सब देव **मयि**=मुझमें **द्रविणम्**=ज्ञान आदिरूप धनों को **आयजन्ताम्**=संगत करें। **मयि**=मुझमें **आशीः अस्तु**=इन द्रविणों को प्राप्त करने की कामना हो। **मयि देवहूतिः**=मुझमें देवों का पुकारना हो—मैं देवों का आराधन करनेवाला बनूँ। **दैवाः होतारः**=उस महान् प्रभु के सात होता (दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँख व मुख) **नः**=हमारे लिए **एतत्**=इस अभिलषित द्रविण को **सनिषन्**=प्राप्त कराएँ। हम **तन्वा**=शरीर से **अरिष्टाः**=रोगादि से हिंसित न होते हुए **सुवीराः**=उत्तम वीर **स्याम**=हों।

भावार्थ—हम देवों से प्राप्य धनों को प्राप्त करें, देवों का आराधन करें, रोगादि से हिंसित न होते हुए वीर बनें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'अभिभा, अशस्ति, वृजिना' से दूर

दैवीः षडुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वेदेवास इह मादयध्वम्।
मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या॥ ६॥

१. **दैवीः**=उस महान् देव प्रभु की बनाई हुई अतएव दिव्य गुणोंवाली **षट् उर्वीः**=छह दिशाओ! (प्राची, दक्षिण, प्रतीची, उदीची, ध्रुवा व ऊर्ध्वा) **नः**=हमारे लिए **उरु कृणोत**=विशाल निवास-स्थान प्राप्त कराओ। हम सदा खुले स्थानों में रहनेवाले बनें। **विश्वेदेवासः**=सूर्यादि सब देवो तथा दिव्य वृत्तियो! **आप इह**=इस जीवन में हमें **मादयध्वम्**=आनन्दित करो। हम सूर्यादि

के सम्पर्क में हों तथा सदा उत्तम वृत्तियों को अपनाते हुए प्रसन्न जीवनवाले हों। २. **नः**=हमें **अभिभाः**=सम्मुख चमकती हुई आपत्ति **मा विदत्**=न प्राप्त हो। यह हमारे उत्साह को नष्ट न कर दे, हम साहसपूर्वक इसका मुक़ाबला करें। **मा उ अशस्तिः**=हमें मत ही अपकीर्ति प्राप्त हो। हम कायर बनकर अपयश के पात्र न बनें। **नः**=हमें **या**=जो **द्वेष्या**=न प्रीति करने योग्य **वृजिना**=वर्जनीय (कुटिल) पाप-बुद्धि है, वह **मा विदत्**=मत प्राप्त हो। हम कभी कुटिल बुद्धि के शिकार न हो जाएँ।

भावार्थ—हम खुले स्थानों में रहें, शुभ वृत्तियोंवाले बनें। आपत्ति में न घबराएँ, साहसपूर्वक उसका प्रतीकार करते हुए यशस्वी हों। कुटिल पाप-बुद्धि से कभी प्रीति न करें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'तिस्रः देवीः' (इडा, सरस्वती, भारती)

तिस्रो देवीर्महि नः शर्म यच्छत प्रजायै नस्तन्वे३ यच्च पुष्टम्।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन्॥ ७॥

१. **तिस्रः**=तीनों **देवीः**=दिव्य वृत्तियाँ (**इडा**=उपासना की वृत्ति, **सरस्वती**=ज्ञान की उपासना, **भारती**=शरीर के समुचित भरण-पोषण की वृत्ति) **नः**=हमें **महि शर्म यच्छत**=महनीय सुख प्राप्त कराएँ। हमारे मनों में 'इडा', मस्तिष्क में सरस्वती व शरीर में भारती का प्रतिष्ठापन हो। इसप्रकार हमारा जीवन आनन्दमय हो **च**=और **नः**=हमारी **प्रजायै**=सन्तानों के लिए तथा **तन्वः**=शरीरों के लिए **यत्**=जो **पुष्टम्**=उचित पोषण है, उसे प्राप्त कराएँ। २. हम **प्रजया**=सन्तानों से **मा हास्महि**=मत छूट जाएँ, अर्थात् सन्तान हमारे जीवनकाल में ही असमय में न चले जाएँ। हम **तनूभिः मा**=शरीरों से भी असमय में पृथक् न हो जाएँ—पूरे शतायु हों। हे **सोम**=सर्वोत्पादक **राजन्**=सर्वशासक प्रभो! हम **द्विषते**=शत्रु के **मा रधाम**=वशीभूत न हो जाएँ—शत्रु हमें हिंसित न कर पाएँ (रध हिंसासंराध्योः)।

भावार्थ—हम 'उपासना, ज्ञान व शक्ति' को प्राप्त होकर सुखी हों। हमारे शरीर व हमारी सन्तानें पुष्ट हों, उनसे हम असमय में वियुक्त न हो जाएँ और शत्रु हमें वशीभूत न कर सकें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'पुरुक्षु' शर्म

उरुव्यचा नो महिषः शर्म यच्छत्वस्मिन्हवे पुरुहूतः पुरुक्षु।
स नः प्रजायै हर्यश्व मृडेन्द्र मा नो रीरिषो मा परा दाः॥ ८॥

१. **उरुव्यचाः**=वह महान् विस्तारवाला—सर्वव्यापक **महिषः**=पूजनीय **पुरुहूतः**=बहुत पुकारा जानेवाला अथवा पालक व पूरक है पुकार जिसकी, ऐसा वह प्रभु **नः**=हमारे लिए **अस्मिन् हवे**=इस पुकार व आराधना के होने पर **पुरुक्षु**=अत्यन्त पालक व पूरक अन्नों से युक्त **शर्म**=गृह **यच्छतु**=दे। उस सर्वव्यापक पूजनीय प्रभु के अनुग्रह से हमारे घर पालक व पूरक अन्नों से युक्त हों। इनमें अन्न की कभी कमी न हो। २. हे **हर्यश्व**=तेजस्वी व लक्ष्यस्थान पर प्राप्त करानेवाले प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारे **प्रजायै**=सन्तान के लिए **मृड**=सुख प्राप्त कराइए। हे **इन्द्र**=सर्वेश्वर प्रभो! **नः**=हमें **मा रीरिषः**=मत हिंसित कीजिए, **मा परा दाः**=मत छोड़ दीजिए। हम सदैव आपके अनुग्रह के पात्र हों और आपके अनुग्रह से वासनारूप शत्रुओं से कभी हिंसित न हों।

भावार्थ—वे सर्वव्यापक पूजनीय प्रभु हमें पालक व पूरक अन्नों से भरपूर घर दें। हमारे सन्तान भी प्रभु के अनुग्रह से हम प्रभु से कभी छोड़ न दिये जाएँ और इसप्रकार हम कभी

वासनाओं के शिकार न बनें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**विश्वदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यजमान का रक्षण

धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिर्देवः संविताभिमातिषाहः।
आदित्या रुद्रा अश्विनोभा देवाः पान्तु यजमानं निर्ऋथात्॥ ९॥

१. **धाता**=वह धारण करनेवाला **विधाता**=सृष्टि का रचयिता **सविता देवः**=सबका प्रेरक प्रकाशमय प्रभु **अभिमातिषाहः**=हमारे सब अभिमानी शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं। प्रभु वे हैं, **यः**=जो **भुवनस्य पतिः**=सारे ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं। सारे ब्रह्माण्ड का धारण व रक्षण करनेवाले वे प्रभु हमारे शत्रुओं का विनाश करके हमारा भी धारण करते हैं। २. **आदित्याः**=आयुष्य का आदान करनेवाले ये बारह मास **रुद्राः**=शरीरस्थ प्राण (रोगों को दूर भगानेवाले ये प्राण) **उभा अश्विना**=दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक (इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ—शत० ४.२.५.१६) तथा **देवाः**=अन्य सब प्राकृतिक शक्तियाँ **यजमानम्**=इस यज्ञशील पुरुष को **निर्ऋथात्**=दुर्गति व विनाश से **पान्तु**=बचाएँ।

भावार्थ—उत्तम प्रेरणा प्राप्त करते हुए प्रभु हम यज्ञशील पुरुषों को यज्ञों के कर्तृत्व के अहंकार से ऊपर उठाएँ। प्रभु का बनाया हुआ यह सारा संसार हमें विनाश से बचाए।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**विश्वदेवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

आदित्यः, रुद्रः, उपरिस्पृश्

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामह एनान्।
आदित्या रुद्रा उपरिस्पृशो न उग्रं चेत्तारमधिराजमक्रत॥ १०॥

१. **ये**=जो **नः**=हमारे **सपत्नाः**=काम-क्रोध, लोभ आदि (स्वत्व पर समान अधिकार जमानेवाले) शत्रु हैं **ते**=वे **अप भवन्तु**=हमसे दूर रहें। **इन्द्राग्निभ्याम्**=(**इन्द्र**=बल, **अग्नि**=प्रकाश) बल व प्रकाश के हेतु से **एनान्**=इन शत्रुओं को **अप बाधामहे**=अपने से दूर ही करते हैं। 'काम' को दूर करके ही हम शरीर से सबल हो पाएँगे। क्रोध व लोभ का विनाश ही हमारे ज्ञान के प्रकाश को दीप्त करेगा। **नः**=हममें जो भी **आदित्याः**=सूर्य के समान ज्ञान के प्रकाशवाले, **रुद्राः**=रोगों को दूर भगानेवाले व **उपरिस्पृशः**=संसार के विषयों के स्पर्श से ऊपर उठनेवाले होते हैं—मात्रा-स्पर्शों में आसक्त नहीं होते वे **उग्रम्**=उस तेजस्वी, **चेत्तारम्**=सर्वज्ञ व उपासकों को चेतानेवाले प्रभु को **अधिराजम् अक्रत**=अधिराज बनाते हैं, प्रभु को ही अपना स्वामी जानते हैं। इसप्रकार ये पवित्र और निर्भीक जीवनवाले बनते हैं। वस्तुतः प्रभु को अधिराज बनाकर ही वे 'आदित्य, रुद्र व उपरिस्पृश्' बन पाते हैं।

भावार्थ—काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं को दूर भगाकर हम बल व प्रकाश का सम्पादन करें। ज्ञानसूर्य को उदित करके तथा रोगों को दूर भगाकर हम विषयों के स्पर्श से ऊपर उठें और प्रभु को ही अपना अधिराज जानें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गोजित्, धनजित्, अश्वजित्

अर्वाञ्चमिन्द्रममुतो हवामहे यो गोजिद्धनजिदश्वजिद्यः।
इमं नो यज्ञं विहवे शृणोत्वस्माकमभूर्हर्यश्व मेदी॥ ११॥

१. सामान्यतः हम प्रभु से दूर और दूर ही रहते हैं। प्रभु से दूर रहना ही हमारी विषयासक्ति

व विनाश का कारण हो जाता है, अतः **अमुतः**=दूर प्रदेश से **इन्द्रम्**=उस शत्रु-संहारक प्रभु को **अर्वाञ्चम्**=अपने अन्दर **हवामहे**=पुकारते हैं **यः**=जो प्रभु **गोवित्**=हमारे लिए ज्ञानेन्द्रियों का विजय करनेवाले हैं। इनके विजय के द्वारा वे प्रभु हमारे लिए **धनजित्**=आवश्यक सब धनों तथा ज्ञान का विजय करते हैं, **यः**=जो प्रभु **अश्वजित्**=हमारे लिए कर्मों में व्याप्त होनेवाली—निरन्तर यज्ञों में व्याप्त रहनेवाली कर्मेन्द्रियों का विजय करते हैं। २. वे प्रभु **विहवे**=संग्रामों में **नः**=हमारे **इमं यज्ञम्**=इस पूजन को **शृणोतु**=सुनें। प्रभु को ही तो इन संग्रामों में हमें विजयी बनाना है। हे **हर्यश्व**=दुःखों का हरण करनेवाले, इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप **अस्माकम्**=हमारे **मेदी अभूः**=स्नेह करनेवाले हैं। आप ही वस्तुतः हमारा हित करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु हमें उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ—ज्ञानधन व कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त कराते हैं। ये प्रभु ही हमें संग्रामों में विजयी बनाते हैं। प्रभु ही हमारे स्नेही हैं।

विशेष—उत्तम ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-परिपक्व होकर यह 'भृगु' बनता है। उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाला बनकर यह 'अङ्गिरा' होता है। यह 'भृग्वङ्गिराः' ही अगले सूक्त का ऋषि है। यह कुष्ठ ओषधि के प्रयोग से ज्वर आदि रोगों को नष्ट कर डालता है।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'तक्मनाशन' कुष्ठ

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः। कुष्ठेहि तक्मनाशन तक्मानं नाशयन्नितः॥ १ ॥

१. हे **कुष्ठ**=कुष्ठ नामक ओषधे! **यः**=जो तू **गिरिषु**=पर्वतों पर **अजायथाः**=उत्पन्न होती है, वह तू **वीरुधां बलवत्तमः**=लताओं में सर्वाधिक बलवाली है। हे कुष्ठ! तू **इहि**=हमें प्राप्त हो। हे **तक्मनाशन**=ज्वर को नष्ट करनेवाला! तू **इतः**=यहाँ से—हमारे शरीरों से **तक्मानं नाशयन्**=ज्वर को नष्ट कर डाल।

भावार्थ—पर्वतों पर होनेवाली कुष्ठ ओषधि ज्वर-नाशक है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हिमाच्छादित पर्वतों पर होनेवाला 'कुष्ठ'

सुपर्णसुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि। धनैरभि श्रुत्वा यन्ति विदुर्हि तक्मनाशनम्॥ २ ॥

१. **सुपर्णसुवने**=पालनात्मक उत्तम ओषधियों को जन्म देनेवाले **गिरौ**=पर्वत पर **हिमवतः परिजातम्**=हिमाच्छादित प्रदेशों में उत्पन्न हुए-हुए 'कुष्ठ' को **श्रुत्वा**=सुनकर **धनैः अभियन्ति**=धनों से उसकी ओर जाते हैं—धन लेकर उस ओषधि के क्रय के लिए जाते हैं। २. इस कुष्ठ को वे **हि**=निश्चय से **तक्मनाशनम् विदुः**=ज्वरनाशक जानते हैं।

भावार्थ—कुष्ठ नामक औषध उन हिमाच्छादित पर्वतों पर होती है जो पालनात्मक उत्तम ओषधियों को जन्म देनेवाले हैं। मनुष्य धन लेकर इनके क्रय के लिए उन स्थानों पर पहुँचते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सूर्य-किरणों द्वारा अमृत की स्थापनावाला' कुष्ठ

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि। तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत॥ ३ ॥

१. **अश्वत्थः**=सर्वव्यापक प्रभु में स्थित होनेवाले (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति) यह सूर्य **देवसदनः**=देवों का निवास-स्थान है (मर्त्यलोक में मनुष्य, चन्द्रलोक में पितर और सूर्यलोक में देव)। यह **इतः**=इस पृथिवी से **तृतीयस्याम्**=तीसरे **दिवि**=प्रकाशमय द्युलोक में है (पृथिवी,

अन्तरिक्ष, द्युलोक)। २. **तत्र**=उस सूर्य में **अमृतस्य**=अमृत का—सब प्राणदायी तत्त्वों का **चक्षणम्**=दर्शन होता है। यही अमृत उन हिमाच्छादित पर्वतों पर उत्पन्न कुष्ठ में सूर्य-किरणों द्वारा स्थापित होता है, अतः **देवाः**=सब रोगों को जीतने की कामनावाले पुरुष **कुष्ठम्**=कुष्ठ को **अवन्वत**=प्राप्त करते हैं (वन संभक्तौ)।

भावार्थ—हिमाच्छादित पर्वतों पर उत्पन्न होनेवाले कुष्ठ में सूर्य-किरणों द्वारा अमृत की (अमृतमय तत्त्वों की) स्थापना होती है, इसलिए देव कुष्ठ को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

हिरण्यबन्धना नौ

हि॒र॒ण्ययी॒ नौर॑चरद्धि॒र॑ण्यबन्धना दि॒वि। तत्रा॒मृत॑स्य॒ पुष्पं॑ दे॒वाः कुष्ठ॑मवन्वत॥ ४॥

१. **दिवि**=द्युलोक में यह सूर्य **हिरण्ययी नौः अचरत्**=ज्योतिर्मयी नाव के रूप में गमन कर रहा है। द्युलोक समुद्र है तो सूर्य उसमें एक चमकीली नाव है। यह नाव **हिरण्यबन्धना**=हितरमणीय वीर्य में बन्धनवाली है—सारी प्राणशक्ति इस सूर्य में ही है। २. **तत्र**=वहाँ—उस सूर्य में **अमृतस्य**=अमृत का—सब प्राणदायी तत्त्वों का **पुष्पम्**=पोषण है। यही तत्त्व सूर्य-किरणों द्वारा 'कुष्ठ' ओषधि में स्थापित होता है। इसी से **देवाः**=ज्वर को जीतने की कामनावाले ज्ञानी पुरुष **कुष्ठम् अवन्वत**=कुष्ठ का संभजन करते हैं।

भावार्थ—सूर्य द्युलोकरूप समुद्र की एक चमकीली नाव है। यह सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत है। कुष्ठ ओषधि में सूर्य-किरणों क द्वारा ही इस हिरण्य का स्थापन होता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

हिरण्यय अरित्र

हि॒र॒ण्यया॒: पन्था॑न आस॒न्नरि॑त्राणि हि॒र॒ण्यया॑।
नावो॑ हि॒र॒ण्ययी॑रास॒न्याभि॒: कुष्ठं॒ निराव॑हन्॥ ५॥

१. गतमन्त्र में सूर्य को द्युलोकरूप समुद्र की 'हिरण्ययी नाव' कहा गया है। इस नाव में **पन्थानः**=सब मार्ग **हिरण्ययाः आसन्**=ज्योतिर्मय हैं। यह द्युलोक का समुद्र सूर्य-किरणों से चमक रहा है। इस नाव के **अरित्राणि**=किरणरूप चप्पू भी **हिरण्यया**=ज्योतिर्मय हैं। **नावः**=ये सूर्यरूपी नौकाएँ तो **हिरण्ययीः आसन्**=ज्योतिर्मय हैं ही। ब्रह्माण्ड में सब लोकों का—सब सौर-जगतों का अलग-अलग सूर्य है, आठ सूर्यों का वर्णन मिलता है, अतः 'नावः' बहुवचन का प्रयोग हुआ है (आरोगो भ्राजः पाटः पतंगः स्वर्णदो ज्यातिषीमान् विभासः। कश्यपोऽष्टमः, स महामेरुं न जहाति—तै० आ० १.७.१-२)। २. ये सूर्यरूप नाव वे हैं **याभिः**=जिनसे **कुष्ठम्**=कुष्ठ को **निरावहन्**=निश्चय से प्राप्त करते हैं। सूर्य की दीप्तिमयी किरणों से ही तो इस कुष्ठ का पोषण होता है।

भावार्थ—ज्योतिर्मय द्युलोक में गति करते हुए ज्योतिर्मय सूर्य की ज्योतिर्मयी किरणों से परिपुष्ट हुई-हुई 'कुष्ठ' ओषधि को प्राप्त करके हम ज्वर आदि को दूर करनेवाले हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अगदता

इ॒मं मे॑ कुष्ठ॒ पूरु॑षं॒ तमा व॑ह॒ तं निष्कु॑रु। तमु॑ मे अग॒दं कृ॑धि॥ ६॥

१. हे **कुष्ठ**=कुष्ठ नामक ओषधे! **इमं मे पूरुषम्** (आवह) मेरे रोगी पुरुष को मेरे लिए

फिर से प्राप्त करा। **तं निष्कुरु**=उसे रोग से बाहर कर दे—उसके रोग को दूर कर दे। २. **मे तम्**=मेरे उस पुरुष को **उ**=निश्चय से **अगदं कृधि**=नीरोग कर दे।

भावार्थ—कुष्ठ ओषधि हमारे रुग्ण बन्धु को रोग से बाहर निकालकर—नीरोग बनाकर फिर से हमें प्राप्त कराए।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सोमस्य हितः सखा

देवेभ्यो अधि जातो ऽसि सोमस्यासि सखा हितः।
स प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड॥ ७॥

१. हे कुष्ठ! तू **देवेभ्यः**=सूर्य, वायु, पृथिवी आदि देवों के द्वारा **अधि जातः असि**=प्रकट हुआ है। **सोमस्य**=शरीरस्थ सोमशक्ति का तू **हितः सखा असि**=हितकर मित्र के रूप में स्थापित हुआ है। सोम-रक्षण में यह कुष्ठ सहायक है। २. **सः**=वह तू **मे अस्मै**=मेरे इस **प्राणाय**=प्राणशक्ति के लिए, **व्यानाय**=व्यानशक्ति के लिए तथा **चक्षुषे**=दृष्टिशक्ति के लिए **मृड**=सुखकर हो।

भावार्थ—कुष्ठ औषध शरीरस्थ विकारों को दूर करता हुआ प्राणादि वायुओं की क्रिया को ठीक करता है और इसप्रकार आँख आदि सब इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कुष्ठस्य उत्तमानि नामानि

उदङ् जातो हिमवतः स प्राच्यां नीयसे जनम्।
तत्र कुष्ठस्य नामान्युत्तमानि वि भेजिरे॥ ८॥

१. यह कुष्ठ **उदङ्**=उत्तर में **हिमवतः**=हिमाच्छादित पर्वतों से **जातः**=उत्पन्न होता है। **सः**=वह यह कुष्ठ **प्राच्याम्**=पूर्व दिशा में **जनं नीयसे**=लोगों के समीप प्राप्त कराया जाता है। हिमाच्छादित पर्वतों पर उत्पन्न हुआ-हुआ यह कुष्ठ सुदूर पूर्व दिशा में स्थित प्रदेशों में लोगों द्वारा उपयुक्त होता है। २. **तत्र**=वहाँ, उन प्रदेशों में **कुष्ठस्य उत्तमानि नामानि**=कुष्ठ के उत्तम नामों का **विभेजिरे**=वे लोग सेवन करते हैं। 'व्याधिः कुष्ठं पारिभाव्यं व्याप्तपाकलमुत्पलम्'—इन नामों का स्मरण करते हुए वे कहते हैं कि यह औषध (विगतः आधिर्येन) रोगों को भगानेवाली है, (कुष्णाति रोगम्) रोग को उखाड़ फेंकनेवाली है (परिभावे साधुः) रोग-पराजय में उत्तम है (व्यापे साधुः) सोमशक्ति को शरीर में व्याप्त करने में उत्तम है 'सोमस्यासि सखा हितः'। (पाकं लाति) शक्तियों का परिपाक प्राप्त कराती है, (उत्पलति) शरीर में सोम की ऊर्ध्व गति का कारण बनती है।

भावार्थ—उत्तर में हिमाच्छादित पर्वतों पर उत्पन्न हुआ-हुआ यह कुष्ठ पूर्व आदि दिशाओं में प्राप्त कराया जाता है। वहाँ सब इसके गुणसूचक उत्तम नामों का स्मरण करते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यक्ष्म व तक्मा का निवारण

उत्तमो नाम कुष्ठास्युत्तमो नाम ते पिता।
यक्ष्मं च सर्वं नाशय तक्मानं चारसं कृधि॥ ९॥

१. हे **कुष्ठ**=कुष्ठ औषध! तू **उत्तमः नाम असि**=निश्चय से उत्तम है—रोगों को उखाड़ फेंकने में सर्वोत्तम है। **ते पिता उत्तमः नाम**=तेरा उत्पादक यह हिमाच्छादित पर्वत भी निश्चय

से उत्तम है—यह भी रोगों को दूर करनेवाला है। इसलिए यक्ष्मा के रोगी को पर्वत पर ले-जाने के लिए कहा जाता है। २. हे कुष्ठ ! तू **सर्वं यक्ष्मं च नाशय**=सब रोगों को तो नष्ट कर ही **च**=और **तक्मानम्**=ज्वर को **अरसं कृधि**=नि:सार कर दे—तू ज्वर को दूर करनेवाला हो।

भावार्थ—कुष्ठ औषध व इसका जनक हिमाच्छादित पर्वत—दोनों ही रोगों को उखाड़ फेंकने में सर्वोत्तम हैं।

ऋषि:—**भृग्वङ्गिरा:** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशन:** ॥ छन्द:—**उष्णिग्गर्भानिचृदनुष्टुप्** ॥

सिर, आँखों व शरीर को नीरोग करनेवाला 'कुष्ठ'

शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्वो३ रप:। कुष्ठस्तत्सर्वं निष्करद्दैवं समह वृष्ण्यम्॥ १०॥

१. **शीर्षामयम्**=शिर-सम्बन्धि रोग को, **अक्ष्यो: उपहत्याम्**=दृष्टिशक्ति की क्षीणता को, **तन्व: रप:**=शरीर के दोषों को **तत् सर्वम्**=उस सबको **कुष्ठ:**=यह कुष्ठ औषध **निष्करत्**=बाहर कर देता है। २. हे **समह**=तेज:सम्पन्न कुष्ठ! तेरा **वृष्ण्यम्**=बल **दैवम्**=दिव्य है, अलौकिक है, असाधरण है।

भावार्थ—कुष्ठ औषध में असाधरण शक्ति है। यह सिर, आँखों और अन्य अङ्गों को निर्दोष बनाता है। अगले सूक्त का ऋषि 'अथर्वा' है और 'लाक्षा' देवता है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**लाक्षा** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

सिलाची देवस्वसा

रात्री माता नभ: पितार्यमा ते पितामह:।
सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा॥ १॥

१. हे लाक्षे! **रात्री माता**=रात्रि तेरी माता है। रात्रि में बढ़ने के कारण लाक्षा को रात्रिरूप मातावाली कहा गया है। ओस-बिन्दु इसके वर्धक होते हैं। **नभ: पिता**=पर्जन्य तेरा पिता है। आकाश से बरसा हुआ बादलों का पानी इस लाक्षा की वृद्धि का कारण बनता है। **अर्यमा**=सूर्य **ते**=तेरा **पितामह:**=पितामह स्थानापन्न है। सूर्य से उद्वाष्पित जल ही मेघ बनते हैं। मेघ लाक्षा को पैदा करते हैं। इसप्रकार सूर्य 'लाक्षा के पिता मेघों' का पिता होने से लाक्षा का पितामह हो जाता है। २. हे लाक्षे! तू **सिलाची नाम वा असि**=निश्चय से सिलाची नामवाली है (शिल श्लेषे, अञ्चु पूजायाम्) श्लेष में पूजित है—फटावों को भर देने में उत्तम है। **सा**=वह तू **देवानाम्**=सब इन्द्रियों की **स्वसा असि**=स्वसा है—उन्हें उत्तम स्थिति में रखनेवाली है।

भावार्थ—लाक्षा की उत्पत्ति रात्रि की ओस व वृष्टि-जल से होती है। यह घावों को भर देने में उत्तम है तथा इन्द्रिय-दोषों को दूर करती है।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**लाक्षा** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

भर्त्री-न्यञ्चनी

यस्त्वा पिबति जीवति त्रायसे पुरुषं त्वम्।
भर्त्री हि शश्वतामसि जनानां च न्यञ्चनी॥ २॥

१. **य:**=जो **त्वा**=तुझे **पिबति**=पीता है, वह **जीवति**=मृत्यु का शिकार नहीं होता। **त्वम्**=तू **पूरुषं त्रायसे**=पुरुष को रक्षित करती है। २. **शश्वताम्**=गतिशील व्यक्तियों का तू **हि**=निश्चय से **भर्त्री असि**=भरण करनेवाली है **च**=और **जनानाम्**=लोगों की **न्यञ्चनी**=रोगों को नीचे ले-

जानेवाली—रोगों को समाप्त करनेवाली है। पिये जाने पर विरेचक होती हुई यह रोगों का विरेचन ही कर देती है।

भावार्थ—लाक्षारस पिये जाने पर मनुष्य को मरने नहीं देता। यह गतिशील पुरुषों का भरण करता है और उनके रोगों का विरेचन कर देता है। ('लाक्षारस का पान करनेवाला लेटे नहीं चलता रहे')—यह संकेत स्पष्ट है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**लाक्षा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जयन्ती स्परणी

वृक्षंवृक्षमा रोहसि वृषण्यन्तीव कन्यला।
जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती स्परणी नाम वा असि॥ ३॥

१. हे लाक्षे! तू **वृषण्यन्तीव कन्यला इव**=पति की अभिलाषा करनेवाली कन्या की भाँति **वृक्षं वृक्षं आरोहसि**=प्रत्येक वृक्ष पर आरोहण करती है। २. **जयन्ती**=तू रोगों को जीतनेवाली है। **प्रति आतिष्ठन्ती**=प्रत्येक रोग का मुक़ाबला करनेवाली है। **वा**=निश्चय से **स्परणी नाम असि**=स्परणी नामवाली है (to deliver from) रोगों से मुक्त करनेवाली है, (to protect) रोगों के आक्रमण से रक्षित करनेवाली है, (to gratify) प्रीति का कारण बननेवाली है, (स्पृ प्रीतिपालनयोः) नीरोगता देकर प्रीति उत्पन्न करनेवाली है।

भावार्थ—'लाक्षा' वृक्षों पर आरोहण करती है, रोगमुक्त करके प्रीति प्रदान करती है, जयन्ती है, स्परणी है। रोगों का मुक़ाबला करनेवाली प्रत्यातिष्ठन्ती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**लाक्षा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'अरु की निष्कृति' लाक्षा

यद्दण्डेन यदिष्वा यद्वारुर्हरसा कृतम्।
तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पूरुषम्॥ ४॥

१. **यत्**=तो **अरुः**=व्रण (घाव) **दण्डेन कृतम्**=दण्डे की चोट से किया गया है, **यत् इष्वा**=जो बाण के प्रहार से किया गया है, **यत् वा**=अथवा जो घाव **हरसा (कृतम्)**=छेदक शस्त्र से किया गया है, **तस्य**=उस घाव का हे लाक्षे! **त्वम्**=तू **निष्कृतिः असि**=दूर करने में सर्वथा अचूक औषध है। २. **सा**=वह तू **इमम्**=इस **पुरुषम्**=पुरुष को **निष्कृधि**=घाव से रहित कर दे—इसके घाव को भर दे।

भावार्थ—लाक्षा का प्रयोग व्रणों (घावों) को ठीक करने की अचूक औषध है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**लाक्षा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

द्रुमामय=लाक्षा

भद्रात्प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात्खदिराद्धवात्।
भद्रान्न्यग्रोधात्पर्णात्सा न एह्यरुन्धति॥ ५॥

१. हे लाक्षे! तू **भद्रात्**=उत्तम **प्लक्षात्**=प्लक्ष (पिलखन) के पेड़ से, **अश्वत्थात्**=पीपल से, **खदिरात्**=खैर से, **धवात्**=बबूल के पेड़ से, **भद्रात्**=उत्तम बड़ के पेड़ से **पर्णात्**=ढाक से **निःतिष्ठसि**=निर्यासरूप से निकलकर उसपर जम जाती है। २. हे **उरुन्धति**=घावों को भर देनेवाली लाक्षे! **सा**=वह तू **नः एहि**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—लाक्षा विविध वृक्षों से निर्यासरूप में निकलकर उन्हीं पर चिपकी होती है। यह

घाव भरने की अचूक औषध है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**लाक्षा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वपुष्टमा निष्कृति

हिरण्यवर्णे सुभगे सूर्यवर्णे वपुष्टमे।
रुतं गच्छासि निष्कृते निष्कृतिर्नाम वा असि॥ ६॥

१. **हिरण्यवर्णे**=सुवर्ण के समान पीतवर्णवाली, **सुभगे**=उत्तम सौभाग्य की कारणभूत **सूर्यवर्णे**=सूर्य के समान चमकती हुई, **वपुष्टमे**=(वपू रूपम्-नि० ३.७) अतिशयित उत्तम रूपवाली **निष्कृते**=रोग को सर्वथा दूर करनेवाली लाक्षे! तू **रुतं गच्छासि**=रोग वा व्रण पर पहुँचती है—उस रोग वा व्रण को समाप्त करनेवाली होती है। २. तू **वा**=निश्चय से **निष्कृतिः**=निष्कृति **नाम असि**=नामवाली है—सचमुच रोग को बाहर करनेवाली है।

भावार्थ—लाक्षा चमकती हुई है। यह रोग वा व्रण को दूर करके सौभाग्य का कारण बनती है। वस्तुतः यह 'निष्कृति' है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**लाक्षा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुभगा, शुष्मा

हिरण्यवर्णे सुभगे शुष्मे लोमशवक्षणे।
अपामसि स्वसा लाक्षे वातो हात्मा बभूव ते॥ ७॥

१. **हिरण्यवर्णे**=सुवर्ण के समान वर्णवाली, **सुभगे**=उत्तम सौभाग्य की कारणभूत, **शुष्मे**=बलवाली—रोगरूप शत्रु के शोषक बल से सम्पन्न **लोमश-वक्षणे**=छेदनस्वभाववालों पर रोषवाली (लू छेदने, वक्ष रोषे) **लाक्षे**=लाक्षा नामक औषध! तू **अपाम् स्वसा असि**=प्रजाओं की स्वसा है, उन्हें उत्तम स्थिति में लानेवाली है (सु+अस्), रोग को दूर करके तू उन्हें सौभाग्यशाली बनाती है। २. **ह**=निश्चय से **वातः**=वायु **ते आत्मा बभूव**=तेरा आत्मा है—वायु से ही तू पुष्ट होती है।

भावार्थ—लाक्षा 'हिरण्यवर्णा, सुभगा, शुष्मा, लोमशवक्षणा' है। यह हमारे घावों को भरकर तथा रोगों को दूर करके उत्तम स्थिति में प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**लाक्षा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अजबभ्रू' लाक्षा

सिलाची नाम कानीनोऽजबभ्रु पिता तव।
अश्वो यमस्य यः श्यावस्तस्य हास्नास्युक्षिता॥ ८॥

१. हे लाक्षे! तू **सिलाची नाम**=(शिल श्लेषे, अञ्चु पूजायाम्) घावों को मिला देने में पूजित है, इसी से सिलाची नामवाली है। हे **अजबभ्रु**=(अज क्षेपणे, भृ धारणे) मलों के क्षेपण के द्वारा हमारा धारण करनेवाली लाक्षे! **कानीनः**=अतिशयेन दीप्तिवाला यह सूर्य **तव पिता**=तेरा पिता है, सूर्य की दीप्ति से ही वृक्षों से यह स्राव उत्पन्न होता है जो लाक्षा के रूप में वहाँ जम जाता है। २. **यमस्य**=उस सर्वनियन्ता प्रभु का **यः**=जो **श्यावः**=गतिशल (श्यै गतौ) यह **अश्वः**=घोड़े के समान सूर्य है अथवा सूर्य-किरण है **तस्य**=उसकी **अस्ना**=दीप्ति से (अस् दीप्तौ) **ह**=ही **उक्षिता असि**=तू सिक्त होती है, अर्थात् सूर्य-किरणों की चमक से वृक्षों की त्वचा का सम्पर्क होने पर यह स्राव-सा निकलता है। यह कहलाता ही 'द्रुमामय' है। यही लाक्षा है।

भावार्थ—लाक्षा व्रणों के घटकों को मिलानेवाली है। यह मल-विक्षेप द्वारा हमारा धारण

करती है। यह सूर्य-किरणों की दीप्ति के सम्पर्क से वृक्ष-त्वचा से स्रुत होती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**लाक्षा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सरा पतत्रिणी' लाक्षा

अश्वस्यास्नः संपतिता सा वृक्षाँ अभि सिष्यदे।
सरा पतत्रिणी भूत्वा सा न एह्यरुन्धति॥ ९॥

१. **अश्वस्य**=सूर्य-किरण की **अस्नः**=दीप्ति से तू सम्पतित होती है, **सा वृक्षान् अभि सिष्यदे**=वह तू वृक्षों की ओर स्रुत होती है। यह लाक्षारस वृक्षों से ही स्रुत होता है। २. सदा बहनेवाली **पतत्रिणी भूत्वा**=गतिशील होकर अथवा वृक्ष-शाखा पर चिपटे छिलकोंवाली होकर **सा**=वह हे **अरुधन्ति**=व्रणों को भरनेवाली लाक्षे! तू **नः एहि**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—सूर्य-किरणों की दीप्ति वृक्षत्वक् पर पड़ती है तो उससे एक रस-सा स्रुत होता है। वही लाक्षा के रूप में वहाँ वृक्षत्वक् पर चिपट जाती है। यह व्रणों को भर देनेवाली अचूक औषध है।

विशेष—लाक्षारस की उत्पत्ति में भी प्रभु-महिमा को देखनेवाला 'अथर्वा'—एकाग्रवृत्ति का पुरुष (न थर्वति) ब्रह्म का स्तवन करता हुआ कहता है—

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्म, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सीमतः सुरुचः

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः॥ १॥

१. **वेनः**=वेन् (to go, to know, to worship) गतिशील ज्ञानी उपासक **पुरस्तात्**=सृष्टि के प्रारम्भ में **जज्ञानम्**=प्रादुर्भूत होनेवाले **प्रथमम्**=अतिविस्तृत 'प्रकृति, जीव व परमात्मा'—तीनों का ही ज्ञान देनेवाले वेदज्ञान को **सीमतः**=मर्यादा में चलने के द्वारा और **सुरुचः**=परिष्कृत रुचि के द्वारा—सात्त्विक प्रवृत्ति के द्वारा **वि आवः**=अपने हृदय में प्रकट करता है। २. **सः**=वह वेन **अस्य**=इस प्रभु के इन **बुध्न्याः**=अन्तरिक्ष में होनेवाले **उपमा**=उपमा देने योग्य अर्थात् अद्भुत (जैसे 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः') **विष्ठाः**=अलग-अलग, अपनी-अपनी मर्यादा में स्थित सूर्यादि लोकों को **वि आवः**=विशदरूप में देखता है **च**=और **सतः असतः च**=दृश्य कार्यजगत् तथा अदृश्य कारणजगत् के **योनिम्**=आधारभूत उस प्रभु को **वि वः**=अपने हृदय में प्रकट करता है। सूर्यादि लोकों में उसे प्रभु की महिमा दीखती है।

भावार्थ—सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान का प्रकाश होता है। इसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि जीवन मर्यादा-सम्पन्न हो तथा उत्तम रुचिवाला हो। सब लोक-लाकान्तरों में यह क्रियाशील ज्ञानी उपासक प्रभु की महिमा को देखता है। प्रभु को ही कार्य-कारणात्मकजगत् की योनि जानता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कर्माणि** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पथ-प्रदर्शक वेदज्ञान

अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे।
वीरान्नो अत्र मा दभन्तद्व एतत्पुरो दधे॥ २॥

१. **ये**=जो **वः**=तुम्हारे **प्रथमाः**=पहले **अनाप्ताः**=अज्ञानी पुरुष **यानि कर्माणि**=जिन कर्मों को **चक्रिरे**=करते हैं, वे अज्ञानवश किये गये भ्रान्त कर्म **अत्र**=यहाँ **नः वीरान्**=हमारी वीर सन्तानों को **मा दभन्**=मत हिंसित करें। **तत्**=उस कारण से **एतत्**=इस वेदज्ञान को **वः पुरः दधे**=तुम्हारे आगे स्थापित करता हूँ। २. हमसे पहले के बड़े आदमी भी अज्ञानवश कुछ भ्रान्त कर्म कर बैठते हैं। उन्हें देखकर उन्हीं कर्मों में प्रवृत्त हो जाने से हानिकर परम्पराएँ चल पड़ती हैं। वे हमारे लिए हितकर नहीं होतीं। हमें चाहिए कि हम वेदज्ञान के अनुसार कार्यों को करते हुए अन्ध-परम्पराओं में बह जाने से बचें।

भावार्थ—वेदज्ञान हमारे लिए पथ-प्रदर्शक हो। हम देखादेखी भ्रान्त परम्पराओं में बहकर उलटे कर्म न कर बैठें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**रुद्रगणाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

मधुजिह्वाः, असश्चतः

सहस्रधार एव ते समस्वरन्दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः।
तस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवे॥ ३ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जो वेदज्ञान के अनुसार कर्म करनेवाले होते हैं **ते**=वे **सहस्रधारे**=हज़ारों प्रकार से धारण करनेवाले **दिवः नाके**=उस प्रकाशमय प्रभु के आनन्दमय लोक में स्थित हुए-हुए **समस्वरन्**=मिलकर प्रभु-स्तवन करते हैं, **मधुजिह्वाः**=माधुर्ययुक्त जिह्वावाले होते हैं, **असश्चतः**=स्थिर स्वभाववाले होते हैं (सश्चतिर्गतिकर्मा), विषयों से चिपक नहीं जाते (सश्च् cling to)। २. ये ज्ञानी लोग इस बात को नहीं भूलते कि **तस्य**=उस प्रभु के **स्पशः**=हमारे कर्मों को देखनेवाले सृष्टि नियमरूप दूत **न निमिषन्ति**=एक क्षण भी पलक नहीं मारते। **भूर्णयः**=ये नियम ही हमारा भरण-पोषण करनेवाले हैं **पदेपदे**=पग-पग पर **पाशिनः**=पाशों को हाथों में लिये हुए **सेतवे सन्ति**=दुष्टों के बन्धन के लिए होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु में स्थित हों, मिलकर प्रभु का स्तवन करें, मधुजिह्व बनें, विषयों में न फँसें। नियमों के तोड़ने पर प्रभु के दूत हमारे बन्धन के लिए होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**रुद्रगणाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुबुष्णिक्त्रिष्टुबार्भापञ्चपदाजगती** ॥

त्रयोदशः मासः, इन्द्रस्य गृहः

पर्यू षू प्र धन्वा वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः।
द्विषस्तदध्यर्णवेनेयसे सनिस्रसो नामासि त्रयोदशो मास इन्द्रस्य गृहः॥ ४॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए **परि उ सु-प्रधन्व**=चारों ओर अपने कर्त्तव्यकर्मों में खूब गतिवाला हो। इस क्रियाशीलता के द्वारा **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **परिसक्षणि**=चारों ओर से पराभूत करनेवाला हो। २. **तत्**=तब **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **अर्णवेन**=ज्ञानसमुद्र से **अधि ईसये**=आक्रान्त करता है—ज्ञान प्राप्त करके द्वेष आदि से ऊपर उठता है। **सनिस्रसः नाम असि**=शत्रुओं को अतिशयेन नीचे गिरानेवाला तू निश्चय से 'सनिस्नस' है। **त्रयोदशः**=दस इन्द्रियाँ, ग्यारवाँ मन, बारहवीं बुद्धि और तेरहवाँ आत्मा (इन्द्रियाणि पराण्याहुः, इन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः॥) **मासः**=(मसि परिमाणे) सब वस्तुओं में परिमाण को करनेवाला—मर्यादा में चलानेवाला यह आत्मा **इन्द्रस्य गृहः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का घर होता है, अर्थात् उस आत्मा में प्रभु का निवास होता है, जोकि तेरहवाँ बनता है—इन्द्रियों, मन और बुद्धि से ऊपर

उठता है, इन्हें वशीभूत करता है और सब बातों को माप-तोल कर करता है।

भावार्थ—हम गतिशील बनें, वासनाओं को जीतें। द्वेषादि की भावनाओं को ज्ञानसमुद्र में डुबो दें। सब वासनाओं को कुचलकर इन्द्रियों, मन व बुद्धि को वशीभूत करें तभी प्रभु को प्राप्त कर पाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमारुद्रौ** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराण्नामगायत्री** ॥

सोमारुद्रौ

न्वे३ तेनारात्सीरसौ स्वाहा। तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ५ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब जीवात्मा इन्द्रियों, मन व बुद्धि का अधिष्ठाता बनकर तेरहवाँ होता है और सब कार्यों में माप-तोलकर वर्तनेवाला होता है तब प्रभु का निवास-स्थान बनता है। **नु**=अब हे जीव! **असौ**=वह तू **एतेन**=इस प्रभु के द्वारा **अरात्सीः**=सिद्धि को प्राप्त करता है, **स्वाहा**=अतः तू प्रभु के प्रति ही समर्पण कर। २. प्रभु के प्रति समर्पण करने पर हममें सोम और रुद्र का वास होगा। सोमशक्ति के रक्षण से हम सौम्य बनेंगे और शत्रुओं के लिए भयंकर उन्हें रुलानेवाले रुद्र होंगे। **सोमारुद्रौ**=ये सोम और रुद्र **तिग्मायुधौ**=तीक्ष्ण आयुधोंवाले हैं—युद्ध में इन आयुधों के द्वारा शत्रुओं को परास्त करनेवाले हैं। **तिग्महेती**=तीक्ष्ण वज्रवाले हैं। क्रियाशीलता-(गति=हन् गतौ)-रूप वज्र के द्वारा काम-क्रोध आदि शत्रुओं का हनन करनेवाले हैं, **सुशेवौ**=आन्तरिक व बाह्य शत्रुओं के विनाश के द्वारा ये उत्तम कल्याण करनेवाले हैं। ये सोम और रुद्र **इह**=इस जीवन में **नः**=हमें **सुमृडतम्**=उत्तमता से सुखी करें।

भावार्थ—जीवात्मा जब प्रभु का गृह बनता है तब अन्तःस्थित प्रभु के द्वारा सिद्धि को प्राप्त करता है। प्रभु ही इसे सोम व रुद्र तत्त्वों को (आपः+अग्नि व ज्योति) प्राप्त कराते हैं। ये तत्त्व हमारे जीवनों को सुखी बनाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमारुद्रौ** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराण्नामगायत्री** ॥

आपः, ज्योतिः, रसः, अमृतम्

अवैतेनारात्सीरसौ स्वाहा। तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ६ ॥
अपैतेनारात्सीरसौ स्वाहा। तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ७ ॥

१. प्रभु का घर बननेवाले, प्रभु को अपने हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित करनेवाले जीव! **असौ**=वह तू **एतेन**=इस प्रभु के द्वारा **अव अरात्सीः**=शत्रुओं को (injure, kill, destroy, exterminate) कुचल देनेवाला होता है, अतः **स्वाहा**=तू उस प्रभु के प्रति समपर्ण कर। शेष पूर्ववत्।

२. **एतेन**=इस प्रभु के द्वारा **असौ**=वह तू **अप अरात्सीः**=इन शत्रुओं को सुदूर नष्ट करनेवाला होता है, अतः **स्वाहा**=इस प्रभु के प्रति तू अपना अर्पण कर। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु की आराधना से हमारे जीवनों में सोम और रुद्रतत्त्व का—आपः+ज्योति का इसप्रकार समन्वय होता है कि जीवन में सब शत्रुओं की समाप्ति होकर रस का प्रादुर्भाव होता है और अमृत की प्राप्ति होती है (आपो ज्योती रसोऽमृतम्०)।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमारुद्रौ** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप्** ॥

अवद्य से दूर, यज्ञ के समीप

मुमुक्तमस्मान्दुरितादवद्याज्जुषेथां यज्ञममृतमस्मासु धत्तम् ॥ ८ ॥

१. गतमन्त्रों में वर्णित सोम और रुद्रतत्त्वों से (प्रार्थना करते) हैं कि **अस्मान्**=हमें

अवद्यात्=निन्दनीय **दुरितात्**=दुराचार से **मुमुक्तम्**=मुक्त करो, **यज्ञं जुषेथाम्**=यज्ञ को प्रीतिपूर्वक सेवित कराओ और इसप्रकार **अस्मासु**=हममें **अमृतं धत्तम्**=अमृतत्व का स्थापन करो—हमें नीरोग और मोक्ष का पात्र बनाओ।

भावार्थ—हम सोम और रुद्रतत्त्वों के सुन्दर समन्वय से निन्दनीय दुराचारों से पृथक् रहकर यज्ञों में प्रवृत्त हों। इसप्रकार नीरोगता व मोक्ष को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**हेतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'चक्षु, मन ब्रह्म व तप' का वज्र

चक्षुषो हेते मनसो हेते ब्रह्मणो हेते तपसश्च हेते।
मेन्या मेनिरस्यमेनयस्ते सन्तु येऽस्माँ अभ्यघायन्ति ॥ ९ ॥

१. हे **चक्षुषः हेते**=चक्षु के वज्र! **मनसः हेते**=मन के वज्र! **ब्रह्मणः हेते**=ज्ञान के वज्र! **च**=और **तपसः हेते**=तप के वज्र! तू **मेन्याः मेनिः असि**=वज्रों का भी वज्र है। 'आँख से सबको भद्र दृष्टि से देखना, मन से सबके कल्याण की कामना करना, ज्ञान से सबमें आत्मभाव का होना, तप से दिव्य वृत्तिवाला बनना'—ये चार बातें वे वज्र हैं जोकि सब शत्रुओं का विनाश करनेवाले हैं। २. **ये**=जो **अस्मान् अभि**=हमारे प्रति **अघायन्ति**=अघ (पाप) की कामनावाले होते हैं, **ते**=वे **अमेनयः सन्तु**=वज्ररहित हो जाएँ। हमारी भद्रदृष्टि, पवित्र मानसभाव, ज्ञान के कारण आत्मदृष्टि तथा तपोजन्य निःस्वार्थ वृत्ति अघायुओं को भी पवित्र बना दे। इन वज्रों के सामने उनके आयस वज्र निकम्मे पड़ जाएँ।

भावार्थ—हम भद्रदृष्टि, शुभविचार, आत्मैक्य दृष्टि तथा तपोजन्य दिव्य वृत्ति द्वारा शत्रुओं को भी मित्र बनाने में समर्थ हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

'मेन्या अमेनीन् कृणु'

योऽस्मांश्चक्षुषा मनसा चित्त्याकूत्या च यो अघायुरभिदासात्।
त्वं तानग्ने मेन्यामेनीन्कृणु स्वाहा ॥ १० ॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यः यः**=जो-जो भी **अघायुः**=पाप की कामनावाला **चक्षुषा**=अशुभ दृष्टि से **मनसा**=अशुभभावों से **चित्त्या**=ज्ञान के दुरुपयोग से **च**=तथा **आकूत्या**=अशिवसंकल्प से **अस्मान् अभिदासात्**=हमें विनष्ट करना चाहता है, **त्वम्**=आप **तान्**=उन सबको **मेन्या**=वज्र द्वारा **अमेनीन्**=वज्ररहित **कृणु**=कीजिए, **स्वाहा**=हम आपके प्रति अपना अर्पण करते हैं। २. चाहिए तो यह कि हम सभी को भद्रदृष्टि से देखें, मन में सभी के प्रति भद्र भावनावाले हों, ज्ञान से सबमें आत्मभाववाले हों तथा शिवसंकल्प ही करें, परन्तु यदि कोई इन पवित्र साधनों का दुरुपयोग करता हुआ हमें विनष्ट करना चाहता है तो प्रभु उस **अघायु**=पापी के इन वज्रों को अवज्र करने की कृपा करें।

भावार्थ—हम अघायु न बनें और हमारे 'चक्षु, मन, चित्त व संकल्प' अघायुओं के लिए वज्र-तुल्य बनें। ये अघायुओं को वज्ररहित करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सर्वात्मको रुद्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

इन्द्रस्य गृहः (गृह्णाति, गृह्+क)

इन्द्रस्य गृहोऽसि। तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः
सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥ ११ ॥

१. हे प्रभो! आप **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **गृहः असि**=ग्रहण करनेवाले—स्वीकार करनेवाले हैं, **तं त्वा प्रपद्ये**=मैं उन आपकी शरण में आता हूँ, **तं त्वा प्रविशामि**=उन आपमें मैं प्रवेश करता हूँ। २. **सर्वगुः**=सब ज्ञानेन्द्रियोंवाला, **सर्वपूरुषः**=सब पौरुषोंवाला (पुरुषस्य भावः पौरुषम्), **सर्वात्मा**=सब मनोबलवाला (आत्मा=मन), **सर्वतनूः**=पूर्ण स्वस्थ शरीरवाला मैं **यत् मे अस्ति**=जो कुछ मेरा है, **तेन सह**=उसके साथ आपकी शरण में आता हूँ—आपमें ही प्रविष्ट होता हूँ।

भावार्थ—हे प्रभो! आप जितेन्द्रिय पुरुष को स्वीकार करते हो। मैं अपनी ज्ञानेन्द्रिय, पौरुष, मन व शरीर को उत्तम बनाता हुआ इन सबके साथ आपमें प्रवेश करता हूँ, आपकी शरण में आता हूँ। जो कुछ मेरा है, वस्तुतः वह सब आपका ही है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सर्वात्मको रुद्रः** ॥ छन्दः—**१२-१३ पङ्क्तिः, १४ स्वराट्पङ्क्तिः** ॥

शर्म, वर्म, वरूथ

इन्द्रस्य शर्मासि। तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः
सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन॥ १२॥
इन्द्रस्य वर्मासि। तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः
सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन॥ १३॥
इन्द्रस्य वरूथमसि। तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः
सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन॥ १४॥

१२. हे प्रभो! आप **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष की **शर्म असि**=(blessing, protection, house) रक्षास्थली हो। जितेन्द्रिय पुरुष आपमें निवास करता हुआ अपने को शत्रुओं से सुरक्षित कर पाता है। शेष पूर्ववत्।

१३. हे प्रभो! आप **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का **वर्म असि**=कवच हो। आप इस जितेन्द्रिय पुरुष को कामदेव के बाणों के आक्रमण से इसप्रकार बचाते हो जैसेकि कवच हमें शत्रु के बाणों से बचाता है। शेष पूर्ववत्।

१४. हे प्रभो! आप **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष की **वरूथम् असि**=ढाल हो। एक जितेन्द्रिय पुरुष अपने पर होनेवाले काम-क्रोधरूप वज्र-प्रहारों से अपने को बचाने के लिए आपको अपनी ढाल बनाता है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे रक्षक हैं, प्रभु ही कवच हैं, प्रभु ही हमारी ढाल हैं—प्रभु का स्मरण ही हमें शत्रुओं के आक्रमण से आक्रान्त होने से बचाएगा।

अगले सूक्त में भी ऋषि 'अथर्वा' ही है।

७ [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अरातयः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भाप्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

'वीर्त्सा, असमृद्धि, अराति' से दूर

आ नो भर मा परि ष्ठा अराते मा नो रक्षीर्दक्षिणां नीयमानाम्।
नमो वीर्त्साया असमृद्धये नमो अस्त्वरातये॥ १॥

१. हे प्रभो! **नः**=हमारा **आभर**=समन्तात् भरण कीजिए, **मा परिष्ठाः**=आप हमसे दूर न होओ। आपकी समीपता में ही हम दान आदि उत्तम वृत्तिवाले बनें रहेंगे और धनलोलुप न बनेंगे।

हे **अराते**=अदान की वृत्ते! **नियमानाम्**=प्राप्त कराई जाती हुई **नः**=हमारी **दक्षिणाम्**=दान में देय धन को **मा रक्षीः**=मत रख ले, अर्थात् दान देते-देते हम उस देय धन को रोक ही न लें। २. इस **वीर्त्सायै**=विशिष्टरूप से ऋद्धि की प्राप्ति की इच्छा के लिए **नमः**=हम दूर से नमस्कार करते हैं। इसप्रकार **असमृद्धये**=असमृद्धि के लिए भी **नमः**=नमस्कार करते हैं। दान देते हुए हम कभी असमृद्ध तो होंगे ही नहीं, अतः **अरातये**=इस अदानवृत्ति के लिए **नमः अस्तु**=दूर से नमस्कार हो।

भावार्थ—हे प्रभो ! हमसे वीर्त्सा दूर हो जाए। हम वीर्त्सा के कारण दान ही न दें, ऐसा न हो। परिणामतः असमृद्धि हमसे दूर ही रहे। दानवृत्ति तो हमारे धनों को बढ़ाती ही है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अरातयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दानवृत्ति का पोषण

यमराते पुरोधत्से पुरुषं परिरापिणम्। नमस्ते तस्मै कृण्मो मा वनिं व्यथयीर्मम ॥ २ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार मनुष्य जब 'वीर्त्सा' वाला हो जाता है तब वह अपने समय के किसी कृपण धनी पुरुष को अपना आदर्श बनाता है—उसे अपने सामने आदर्श के रूप में रखता है कि मैं भी इतना ही धनी हो जाऊँ। मन्त्र में कहते हैं कि **अराते**=हे अदानवृत्ते! **यम्**=जिस **परिरापिणम्**=बहुत ही बोलनेवाले, बड़ी आत्मश्लाघा करनेवाले पुरुष को—धनाभिमानी पुरुष को **पुरः धत्से**=तू अपने सामने रखती है, हम तो **ते**=तेरे **तस्मै**=उस पुरुष के लिए **नमः कृण्मः**=नमस्कार करते हैं—उसे अपने से दूर रखते हैं। हम उसे अपना आदर्श नहीं बनाते। २. हे अदानवृत्ते! तू **मम**=मेरी **वनिम्**=इस सम्भजन वृत्ति को—धन को बाँटकर खाने की वृत्ति को **मा व्यथयीः**=मत पीड़ित कर। मैं धन के लोभ में अदानवृत्तिवाला न बनूँ। मैं अदानी धनी को अपना आदर्श न बना लूँ।

भावार्थ—अपने धनित्व का बखान करनेवाले कृपण व्यक्ति को हम अपना आदर्श न बना लें। हमारी दानवृत्ति कभी खण्डित न हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अरातयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वनिः देवकृता

प्र णो वनिर्देवकृता दिवा नक्तं च कल्पताम्।
अरातिमनुप्रेमो वयं नमो अस्त्वरातये ॥ ३ ॥

१. **नः**=हमारी **देवकृता**=प्रभु से उत्पन्न की गई—प्रभु ने जिसका वेद में आदेश दिया है वह **वनिः**=दानवृत्ति (सम्भजनशीलता) **दिवा नक्तं च**=दिन और रात **प्रकल्पताम्**=अधिक-और-अधिक शक्तिशाली बने। २. **वयम्**=हम **अरातिम् अनु**=अदानवृत्ति का लक्ष्य करके **प्रेमः** (**प्र इमः**)=प्रकर्षेण आक्रमण करते हैं। इस **अरातये**=अदानवृत्ति के लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो—इसे दूर से ही छोड़ते हैं।

भावार्थ—प्रभु से उपदिष्ट दानवृत्ति हममें फूले-फले। अदानवृत्ति को हम कुचल दें। इसे दूर से ही नमस्कार कर दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

सरस्वती अनुमति

सरस्वतीमनुमतिं भगं यन्तो हवामहे।
वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं देवानां देवहूतिषु ॥ ४ ॥

१. **भगं यन्तः**=ऐश्वर्य को प्राप्त होते हुए हम **सरस्वतीम्**=विद्या की अधिष्ठातृदेवता सरस्वती को तथा **अनुमतिम्**=शास्त्रानुकूल कर्म की मति को **हवामहे**=पुकारते हैं। हम ऐश्वर्यशाली होकर ज्ञान की रुचिवाले तथा शास्त्रानुकूल यज्ञादि कर्मों के करने की वृत्तिवाले बने रहें, अन्यथा यह धन हमें विलास की ओर ले-जाएगा। २. मैं सदा **देवहूतिषु**=देवों के आह्वानवाली सभाओं में **देवानां जुष्टाम्**=देवों की प्रिय **मधुमतीम्**=माधुर्यवाली **वाचम्**=वाणी को **अवादिषम्**=बोलूँ। मैं सदा सत्सङ्गों में उपस्थित होऊँ और मधुर वाणी ही बोलूँ।

भावार्थ—ऐश्वर्यशाली होकर हम विद्यारुचि व शास्त्रानुकूल कर्मों की प्रवृत्तिवाले बनें, सत्संगों में सम्मिलित हों और मधुर शब्द ही बोलें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सरस्वती**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ज्ञान+श्रद्धा

यं याचाम्यहं वाचा सरस्वत्या मनोयुजा।
श्रद्धा तमद्य विन्दतु दत्ता सोमेन बभ्रुणा॥ ५॥

१. **अहम्**=मैं **मनोयुजा**=जिसमें मन को लगाया गया है, उस **सरस्वत्या**=ज्ञान की अधिष्ठातृदेवता की उपासक **वाचा**=वाणी से **यं याचामि**=जिस वस्तु को माँगता हूँ, **सोमेन**=उस शान्त **बभ्रुणा**=सर्वाधार—सबके धारक प्रभु से **दत्ता**=दी गई **श्रद्धा**=श्रद्धा **तम्**=उस वस्तु को **अद्य**=आज **विन्दतु**=प्राप्त कराए। २. एकाग्र मन से सरस्वती की आराधना करता हुआ जो व्यक्ति ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करता है, वह जिस वस्तु को चाहता है, उसे श्रद्धा के द्वारा प्राप्त करने में समर्थ होता है। ज्ञान से हम विवेकपूर्वक ठीक ही वस्तु की याचना करते हैं और श्रद्धा के द्वारा प्रयत्न करते हुए उस वस्तु को प्राप्त कर पाते हैं।

भावार्थ—हम एकाग्र मन से स्वाध्याय करते हुए ज्ञान का वर्धन करें। ज्ञान होने पर विवेकपूर्वक वस्तुओं की कामना करें और श्रद्धापूर्वक प्रयत्न करते हुए उन्हें प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अरातयः**॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

वनिम्-वाचम्

मा वनिं मा वाचं नो वीर्त्सीरुभाविन्द्राग्नी आ भरतां नो वसूनि।
सर्वे नो अद्य दित्सन्तोऽरातिं प्रति हर्यत॥ ६॥

१. उपासक प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! **नः**=हमारी **वनिम्**=सम्भजनवृत्ति को—बाटँकर खाने की वृत्ति को **मा**=मत **वि ईर्त्सीः**=विगत वृद्धिवाला कीजिए—हमारी सम्भजनवृत्ति घटे नहीं बढ़ती ही जाए। हमारी **वाचम्**=इस ज्ञान की वाणी को भी **मा**=मत विगत वृद्धिवाला कीजिए। हमारे ज्ञान की वाणियाँ भी उत्तरोत्तर बढ़ती जाएँ। **उभौ**=ये दोनों **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश की देवता इन्द्र और अग्नि **नः**=हमारे लिए **वसूनि आभरताम्**=वसुओं का—धनों का भरण करनेवाले हों। २. **नः सर्वे**=हमारे कुल के सब लोग **दिप्सन्तः**=सदा धनों के देने की कामनावाले हों। हे हमारे कुल के सब लोगो! तुम **अरातिं प्रतिहर्यत**=अदानवृत्ति पर आक्रमण करनेवाले होओ (हर्य गतौ), आदनवृत्ति को समाप्त करके देने की वृत्तिवाले बनो।

भावार्थ—हम सम्भजन की वृत्तिवाले व स्वाध्यायशील बनें। बल व प्रकाश हमें वसुओं को प्राप्त करानेवाले हों। हमारे कुल में सभी दान की वृत्तिवाले हों, अदानवृत्ति पर आक्रमण करके हम उसे विनष्ट कर डालें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अरातयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

निमीवन्तीम् नितुदन्तीम्

परोऽ पेह्यसमृद्धे वि ते हेतिं नयामसि। वेद त्वाहं निमीवन्तीं नितुदन्तीमराते॥ ७॥

१. हे **असमृद्धे**=ऐश्वर्य के अभाव! **परः अप इह**=हमसे परे सुदूर प्रदेश में चला जा। हम **ते**=तेरे लिए **हेतिम्**=वज्र को **विनयामसि**=विशेषरूप से प्राप्त कराते हैं, अर्थात् वज्रप्रहार द्वारा तेरा विनाश करते हैं। असमृद्धि को नष्ट करनेवाला वज्र क्रियाशीलता ही है। २. हे **अराते**=अदानशीलते! दान न देने की वृत्ते! **अहम्**=मैं **त्वा**=तुझे **निमीवन्तीम्**=(निमी=Shut the eyes, मी to destroy) आँखों को बन्द कर देनेवाली, अर्थात् ज्ञान पर पर्दा डाल देनेवाली तथा विनाशकारिणी और **नितुदन्तीम्**=परिणाम में निश्चय से पीड़ित करनेवाली **वेद**=जानता हूँ। अदानशीलता 'अज्ञान, ह्रास व पीड़ा' का कारण बनती है।

भावार्थ—हम श्रम द्वारा असमृद्धि को दूर करें तथा दानशीलता द्वारा ह्रास व कष्टों से बचें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अरातयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अदानशीलता व घोर निर्धनता

उत नग्ना बोभुवती स्वप्नया सचसे जनम्।
अराते चित्तं वीर्त्सन्त्याकूतिं पुरुषस्य च॥ ८॥

१. हे **अराते**=अदानशीलते! **उत**=निश्चय से **नग्ना बोभुवती**=नग्न होती हुई तू **जनम्**=मनुष्य को **स्वप्नया सचसे**=स्वप्नावस्था से समवेत कर देती है। अदानशील मनुष्य अत्यन्त निर्धन अवस्था में पहुँचकर अपनी पहली स्थिति के स्वप्न ही लिया करता है—उसे स्वयं ही वह अवस्था स्वप्नतुल्य लगने लगती है। २. हे अदानशीलते! तू **पुरुषस्य**=इस कृपण पुरुष के **चित्तम्**=चित्त को **च**=और **आकूतिम्**=संकल्पों को **वीर्त्सन्ती**=विगत ऋद्धिवाला कर देती है। कृपणता मनुष्य के चित्त व संकल्पों को समाप्त कर देती है। यह मनुष्य को भीषण निर्धनता में ले-जाकर सुला-सा देती है। यह सोया हुआ पुरुष अपनी पूर्वावस्था के स्वप्न ही लिया करता है।

भावार्थ—अदानशीलता मनुष्य को घोर निर्धनता में ले-जाती है। उसका चित्त व संकल्प सब नष्ट हो जाता है। यह दीन अवस्था में सोया हुआ-सा पूर्वावस्था के स्वप्न ही लिया करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अरातयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हिरण्यकेशी निर्ऋति (तामस कृपणता)

या महती महोन्माना विश्वा आशा व्यानशे।
तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्या अकरं नमः॥ ९॥

१. कृपण व्यक्ति वह है जो धन होते हुए भी उस धन का दान व भोग में व्यय नहीं करता। दान में तो धन व्यय करता ही नहीं, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी धन-व्यय करता हुआ संकोच करता है, अतएव दुर्गति को प्राप्त होता है। धन की कमी न होने से वहाँ सोने का प्रकाश है (हिरण्य-केश=रश्मि), परन्तु कृपणता ने वहाँ आफ़त मचाई हुई है। यही 'हिरण्यकेशी निर्ऋति' है। **तस्यै**=उस **हिरण्केश्यै निर्ऋत्यै**=सुवर्ण के प्रकाशवाली निऋर्ति=दुर्गति के लिए मैं **नमः अकरम्**=दूर से ही नमस्कार करता हूँ। २. **या**=जो **महती**=बड़ी प्रबल है (Mighty), **महोन्माना**=महान् परित्राणवाली है। यह कृपणता बढ़ती जाती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अरातयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

राजस कार्पण्य

हिर॑ण्यवर्णा सु॒भगा॒ हिर॑ण्यकशिपुर्म॒ही।
तस्यै॒ हिर॑ण्यद्रापयेऽरा॑त्या अकरं॒ नम॑ः ॥ १० ॥

१. वह कृपण व्यक्ति जो दान देने में संकोच करता है, परन्तु अपने भोगों पर खुला खर्च करता है, राजसी वृत्तिवाला कृपण है। इसका घर भोग-विलास की वस्तुओं से चमकता है, परन्तु यह दान नहीं दे पाता, **तस्यै**=उस **हिरण्यद्रापये**=सुवर्ण को कवच की भाँति धारण करनेवाली (द्रापि=कवच-द०) **अरात्यै**=अदानवृत्ति के लिए **नमः अकरम्**=मैं नमस्कार करता हूँ—इसे अपने से दूर ही रखता हूँ। २. यह अराति **हिरण्यवर्णा**=स्वर्ण के वर्णवाली है—स्वर्ण का ही सदा वर्णन करती है, **सुभगा**=देखने में बड़ी भाग्यवती—चमकती हुई है, **हिरण्य-कशिपुः**=स्वर्ण के आच्छादनोंवाली है, **मही**=महिमावाली है—देखने में कितनी बड़ी है।

भावार्थ—कृपण राजस पुरुष अपने घर के लिए भौतिक साधनों को खूब ही जुटाता है। इसका घर चमकता प्रतीत होता है, सौभाग्यशाली लगता है। यह बड़ा कहाता है। हम इस राजसी कृपणता से ऊपर उठें, धनों का व्यय भोगों में न करके दान में करें।

अगले सूक्त में भी ऋषि 'अथर्वा' ही है।

अथैकादशः प्रपाठकः

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः=**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वैकंकत इध्म

वै॒कङ्क॒तेने॒ध्मेन॑ दे॒वेभ्य॒ आज्यं॑ वह। अग्ने॒ ताँ इ॒ह मा॑दय॒ सर्व॒ आ य॑न्तु मे॒ हव॑म् ॥ १ ॥

१. जैसे 'कंकतिका' बालों में से मैल को दूर कर देती है (comb off=remove), उसी प्रकार वह ज्ञानदीप्ति जो जीवन में से काम-क्रोध आदि को दूर कर देती है, यहाँ 'वैकङ्कत इध्म' कही गई है (इन्धी दीप्तौ)। इस **वैकङ्कतेन इध्मेन**=विशेषरूप से मलों का वारण करनेवाली ज्ञानदीप्ति के हेतू से हे **अग्ने**=प्रभो! **देवेभ्यः आज्यं वह**=विद्वानों से हमारे लिए ज्ञानरूपी घृत प्राप्त कराइए। २. **तान्**=उन देवों को **इह**=यहाँ—हमारे जीवनों में **मादय**—अनान्दित कीजिए। हम इन ज्ञानियों का सत्कार करें, वे हमसे प्रसन्न रहें और **सर्वे**=वे सब **मे हवम्**=मेरी पुकार को सुनकर **आयन्तु**=मुझे प्राप्त हों। मेरा घर सदा ज्ञानियों का अतिथिगृह बना रहे।

भावार्थ—ज्ञान वह कंकतिका (कंघी) है जो काम-क्रोध आदि मलों का वारण करती है। मुझे ज्ञानियों से यह ज्ञान प्राप्त होता रहे। हम ज्ञानियों का सम्पर्क करें और उनके प्रिय बनें।

ऋषिः=**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

ऐन्द्राः अतिसराः

इन्द्र॒ या॑हि मे॒ हव॑मि॒दं क॑रिष्यामि॒ तच्छृ॑णु।
इ॒म ऐ॒न्द्रा अ॑तिस॒रा आकू॑तिं॒ सं न॑मन्तु मे।
तेभि॑ः शकेम वी॒र्यं१॒॑ जात॑वेद॒स्तनू॑वशिन् ॥ २ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **मे हवम् आयाहि**=मेरी प्रार्थना को सुनकर आप मुझे प्राप्त हों। हे प्रभो! मैं अपना **इदं करिष्यामि**=जो कर्तव्यकर्म करूँगा, **तत् शृणु**=उसे आप सुनिए।

वस्तुतः आपकी शक्ति से शक्तिमान् होकर ही तो मै इस कार्य को कर पाऊँगा। २. **इमे**=ये **ऐन्द्राः**=प्रभु-प्राप्ति के निमित्त किये गये **अतिसराः**=अतिशयित—विशिष्ट प्रयत्न **मे आकूतिं संनमन्तु**=मेरे संकल्प के प्रति सन्नत हों। मुझे प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना हो और मैं उस कामना को कार्यान्वित करने के लिए यत्न करूँ। ३. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ! **तनूवशिन्**=हमारे शरीरों के वास्तविक शासक प्रभो! **तेभिः**=उन अतिसरों के द्वारा हम **वीर्यं शकेम**=शक्ति प्राप्त करने में समर्थ हों।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के निमित्त हम प्रभु-स्मरणपूर्वक अपने कर्त्तव्यकर्मों को करते चलें। इन कर्मों को करने का ही हमारा संकल्प हो। ये कर्म हमें शक्तिशाली बनाएँ।

ऋषिः=**अथर्वा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**भुरिक्पथ्यापङ्क्तिः**॥

अदेव के सुधार के लिए

यदसावमुतो देवा अदेवः संश्चिकीर्षति।
मा तस्याग्निर्हव्यं वाक्षीद्धवं देवा अस्य मोप गुर्ममैव हवमेतन॥ ३॥

१. यदि कोई हमारा विरोध करता है तो प्रभु ठीक मार्ग पर चलनेवाले हम लोगों का रक्षण करें और उस अदेववृत्ति के व्यक्ति को उचित दण्ड दें। हे **देवाः**=देवो! **यत्**=जो **असौ**=वह **अदेवः सन्**=अदेव (न देने की) वृत्तिवाला होता हुआ व्यक्ति **अमुतः**=उस सुदूर प्रदेश से—हमारे विरोधी पक्ष से **चिकीर्षति**=हमारा हानिकर कर्म करना चाहता है तो **अग्निः**=वे प्रभु **तस्य**=उसके **हव्यं मा वाक्षीत्**=हव्यपदार्थ का वहन न करें—प्रभु उसे आवश्यक पदार्थों से वञ्चित करें। वह इसप्रकार दरिद्रता में व्यथित हो कि उसमें पर-पीड़न की शक्ति ही न रहे। २. **देवाः**=विद्वान् लोग **अस्य हवं मा उपगुः**=उसकी पुकार को सुनकर उसे प्राप्त न हों—विद्वानों से उसका बहिष्कार किया जाए। ये विद्वान् **मम एव हवं एतन**=मेरी ही पुकार पर प्राप्त हों। इसप्रकार यह अदेव सामाजिक बहिष्कार की पीड़ा को अनुभव करे।

भावार्थ—हे देवो! यदि कोई अदेव वृत्ति का व्यक्ति देववृत्ति के व्यक्तियों को पीड़ित करना चाहता है तो प्रभु उसे हव्य पदार्थ प्राप्त न कराके उसे दण्डित करें तथा विद्वान् लोग उसके आमन्त्रण को अस्वीकार करके उसे सामाजिक बहिष्कार की पीड़ा को अनुभव कराएँ।

ऋषिः=**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिक्पथ्यापङ्क्तिः**॥

इन्द्रस्य वचसा हत

अति धावतातिसरा इन्द्रस्य वचसा हत।
अविं वृकइव मथ्नीत स वो जीवन्मा मोचि प्राणमस्यापि नह्यत॥ ४॥

१. हे **अतिसराः**=अतिशयेन गतिशील पुरुषो! **अतिधावत**=तुम गति द्वारा अपने जीवन को अति शुद्ध बनाओ। **इन्द्रस्य वचसा हत**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के वचन से—उसके आदेश के अनुसार सम्पूर्ण समाज के शत्रु को मार डालो। यदि उसके सुधरने की आशा नहीं है तो उसे प्राणों से वञ्चित करना ठीक ही है। २. **इव**=जैसे **वृकः अविम्**=एक भेड़िया भेड़ का मथन कर डालता है, इसप्रकार तुम इस समाज-शत्रु को **मथ्नीत**=कुचल डालो। **सः**=वह **वः**=तुमसे **जीवन् मा मोचि**=जीता हुआ न छूट जाए। **अस्य**=इसके **प्राणम्**=प्राण को **अपिनह्यत**=बाँध डालो। इसकी प्राणशक्ति इसप्रकार नियन्त्रित कर दी जाए कि यह समाज की कुछ भी हानि न कर सके।

भावार्थ—हम अपने जीवन को शुद्ध बनाएँ। प्रभु के आदेश के अनुसार समाज-

शत्रु को उचित दण्ड देना आवश्यक हो तो वह दिया जाए अथवा उसकी गतिविधियों को पूर्णरूप से नियन्त्रित कर दिया जाए।

ऋषिः=**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अपभूति के कारणभूत विद्वान् को दण्ड

यम॒मी पु॒रोद॑धि॒रे ब्र॒ह्माण॑मप॒भूत॑ये।
इन्द्र॒ स ते॑ अध॒स्प॒दं तं प्रत्य॑स्यामि मृ॒त्यवे॑॥ ५॥

१. **अमी**=ये समाज के शत्रु **यम्**=जिस **ब्रह्माणम्**=ज्ञानी को भी **अपभूतये**=राष्ट्र की अपभूति (अनैश्वर्य) के लिए **पुरः दधिरे**=आगे स्थापित करते हैं, हे **इन्द्र**=राजन्! **सः ते अधस्पदम्**=वह भी तुझसे पादाक्रान्त किया जाए, अर्थात् यदि किसी ज्ञानी की चेष्टाएँ भी समाज-विरोधी हैं—राष्ट्र के अनैश्वर्य के लिए हैं, तो उसे भी दण्डित किया ही जाए। २. **तम्**=उस ज्ञानी को भी **मृत्यवे प्रत्यस्यामि**=मृत्यु के लिए फेंकता हूँ, कई बार इन्हें समाप्त कर देना ही राष्ट्रहित में होता है।

भावार्थ—यदि कोई अदेव पुरुष किसी विद्वान् को आगे करके राष्ट्र के अहित में प्रवृत्त होता है तो उस विद्वान् को भी दण्डित करना ही चाहिए।

ऋषिः=**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

यदि प्रेयुः

यदि॑ प्रे॒युर्दे॑वपु॒रा ब्रह्म॒ वर्मा॑णि चक्रि॒रे।
त॒नू॒पानं॑ परि॒पाणं॑ कृण्वा॒ना यदु॑पोचि॒रे सर्वं॒ तद॑र॒सं कृ॑धि॥ ६॥

१. **यदि**=यदि **देवपुराः**=देवनगरियों में निवास करनेवाले व्यक्ति **प्रेयुः**=(प्र ईयुः) शत्रु पर आक्रमण करने के लिए चलते हैं तो वे **ब्रह्म वर्माणि**=ज्ञान व प्रभु को अपना कवच **चक्रिरे**=करते हैं—ब्रह्म-कवच से ये अपना रक्षण करनेवाले होते हैं। २. ज्ञानपूर्वक तथा प्रभु-स्मरणपूर्वक **तनूपानम्**=अपने शरीरों का रक्षण तथा **परिपाणम्**=समन्तात् नगर व राष्ट्र का रक्षण **कृण्वानाः**=करते हुए ये **तत् सर्वम् अरसं कृधि**=उस सबको निःसार कर देते हैं, **यत्**=जो **उप उचिरे**=हमारे विषय में शत्रुओं ने हीन बातें कही हैं। ('कृधि'-एकवचनं छान्दसम्)। शत्रुओं की डींगों को, अभिमानभरी बातों को—उन्हें परास्त करके व्यर्थ कर देते हैं।

भावार्थ—देव लोग पहले तो आक्रमण करते ही नहीं। यदि उन्हें आक्रमण करना ही पड़ जाए तो ये प्रभु को अपना कवच बनाते हैं तथा ज्ञानपूर्वक शरीरों व राष्ट्र के रक्षण की व्यवस्था करते हुए शत्रुओं को परास्त करके उनकी अभिमानभरी बातों को निःसार कर देते हैं।

ऋषिः=**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**द्व्युष्णिग्गर्भापथ्यापङ्क्तिः** ॥

प्रतीचः पुनराकृधि

यान॒सावति॑स॒रांश्च॒कार॑ कृ॒णव॑च्च॒ यान्।
त्वं तानि॑न्द्र वृत्रहन्प्र॒तीचः॒ पुन॒रा कृ॑धि य॒थामुं तृ॑ण॒हां जन॑म्॥ ७॥

१. **असौ**=वह हमारा शत्रु **यान् अतिसरान् चकार**=जिन विशिष्ट उद्योगों (धावों) को करता रहा है **च**=और **यान् कृणवत्**=जिन धावों को अब करे, हे **वृत्रहन् इन्द्र**=राष्ट्र को घेरनेवाले शत्रुओं के विनाशक शत्रुविद्रावक राजन्! **त्वम्**=आप **तान्**=उन सबको **पुनः**=फिर **प्रतीचः कृधि**=उलटे मुख भाग जानेवाला कीजिए। २. ऐसी व्यवस्था कीजिए कि **यथा**=जिससे **अमुं जनम्**=उस शत्रुभूत मनुष्य को हम **तृणहाम्**=हिंसित कर सकें।

भावार्थ—समझदार राजा प्रभुकृपा से शत्रुओं से किये गये व किये जानेवाले सब धावों को व्यर्थ करे, शत्रुओं को उलटे पाँव भगा दे। राजा ऐसी व्यवस्था करे कि हम शत्रुभूत मनुष्य को समाप्त कर सकें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

काम आदि शत्रुओं का पराजय

यथेन्द्र उद्वाचनं लब्ध्वा चक्रे अधस्पदम्।
कृण्वे३ हमधरांस्तथामूञ्छश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ ८॥

१. **यथा**=जैसे **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला राजा **उद्वाचनम्**=ऊँचा-ऊँचा बोलनेवाले—डींग मारनेवाले शत्रुओं को **लब्ध्वा**=पाकर **अधस्पदं चक्रे**=उन्हें अपने पाँव तले करनेवाला होता है, अर्थात् कर्मवीर बनकर इन वाग्वीरों को परास्त कर देता है, २. **तथा**=उसी प्रकार **अहम्**=मैं **अमून्**=उन 'काम-क्रोध-लोभ' आदि शत्रुओं को **शाश्वतीभ्यः समाभ्यः**=चिरकाल तक के लिए—सदा के लिए **अधरान् कृण्वे**=पाँवतले रौंद डालता हूँ—पूर्णरूप से अधीन कर लेता हूँ।

भावार्थ—जैसे एक जितेन्द्रिय राजा डींग मारनेवाले शत्रुओं को परास्त करता है, वैसे ही मैं काम-क्रोधादि इन प्रबल शत्रुओं को अपने अधीन करता हूँ।

ऋषिः=**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**षट्पदाद्व्यनुष्टुब्गर्भाजगती** ॥

प्रभु की सहायता से काम आदि शत्रुओं का विनाश

अत्रैनानिन्द्र वृत्रहन्नुग्रो मर्मणि विध्य। अत्रैवैनानभि तिष्ठेन्द्र मेद्य१हं तव।
अनु त्वेन्द्रा रभामहे स्याम सुमतौ तव॥ ९॥

१. प्रभु कहते हैं कि **अत्र**=यहाँ—इसी जीवन में **एनान्**=इन शत्रुओं को हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **वृत्रहन्**=इन वासनाओं को विनष्ट करनेवाले पुरुष! तू **मर्मणि विध्य**=मर्मस्थलों में विद्ध करनेवाला हो। **अत्र एव**=यहाँ, इस जीवकाल में ही **एनान् अभितिष्ठ**=इन्हें पादाक्रान्त कर। हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **अहम्**=मैं (प्रभु) तव **मेदी**=तुझ जितेन्द्रिय पुरुष का स्नेही बनता हूँ। प्रभु जितेन्द्रिय के ही मित्र होते हैं। २. एक जितेन्द्रिय पुरुष उत्तर देता है कि हे **इन्द्र**=हमारे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! हम **त्वा अनु आरभामहे**=आपके पीछे-पीछे ही—आपकी सहायता से ही इस शत्रु-विनाश के कार्य को प्रारम्भ करते हैं। हम सदा **तव**=आपकी **सुमतौ स्याम**=कल्याणी मति में हों।

भावार्थ—प्रभु का आदेश है कि हम इस जीवन में काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव करने के लिए यत्नशील हों, अतः हम प्रभु की सहायता से इन्हें परास्त करनेवाले बनें।

विशेष—सब शत्रुओं का पराभव करके यह 'ब्रह्म' का सच्चा पुत्र 'ब्रह्मा' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—१, ५ **दैवीबृहती**; २, ६ **दैवीत्रिष्टुप्**; ३, ४ **दैवीजगती** ॥

त्रिलोकी का विजेता 'ब्रह्मा'

दिवे स्वाहा॥ १॥ पृथिव्यै स्वाहा॥ २॥ अन्तरिक्षाय स्वाहा॥ ३॥
अन्तरिक्षाय स्वाहा॥ ४॥ दिवे स्वाहा॥ ५॥ पृथिव्यै स्वाहा॥ ६॥

१. ब्रह्मा प्रभु से प्रार्थना करता है कि मैं **दिवे**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक के लिए—मस्तिष्करूप द्युलोक के पूर्ण स्वास्थ के लिए **स्वाहा**=आपके प्रति अपना समर्पण करता हूँ। **पृथिव्यै**=इस पृथिवीरूप शरीर के लिए **स्वाहा**=आपके प्रति अपना अर्पण करता हूँ। **अन्तरिक्षाय**=हृदयरूप अन्तरिक्ष की पवित्रता के लिए आपके प्रति **स्वाहा**=अपना अर्पण करता हूँ। २. **अन्तरिक्षाय**=हृदयान्तरिक्ष की पवित्रता के लिए **स्वाहा**=आपके प्रति अपना अर्पण करता हूँ। **दिवे स्वाहा**=मस्तिष्करूप द्युलोक की उज्ज्वलता के लिए आपके प्रति अपना अर्पण करता हूँ और **पृथिव्यै स्वाहा**=शरीररूपी पृथिवी की दृढ़ता के लिए आपके प्रति अपना अर्पण करता हूँ।

भावार्थ—ब्रह्मा वही है जिसने त्रिलोकी का विजय करके अपने को ब्रह्मलोक की प्राप्ति के योग्य बनाया है। तीनों लोकों की उन्नति समानरूप से अपेक्षित है। यही भाव क्रम-विपर्यय से सूचित किया गया है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिग्बृहतीगर्भापञ्चपदाजगती** ॥

अस्तृत

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणो३ऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं नि दधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय॥ ७॥

१. यह ब्रह्मा विराट् शरीर से अपने शरीर को उपमित करता हुआ कहता है कि **सूर्यः मे चक्षुः**=सूर्य ही मेरी आँख है—सूर्य ही तो चक्षु का रूप धारण करके मेरी आँखों में रह रहा है। **वातः प्राणः**=वायु ही प्राणरूप से मुझमें निवास करता है। **आत्मा**=मेरा मन **अन्तरिक्षम्**=विराट् शरीर का अन्तरिक्ष है—'अन्तरा क्षि' सदा मध्यमार्ग में चलने की वृत्तिवाला है। मेरा **शरीरम्**=शरीर **पृथिवी**=पृथिवी के समान दृढ़ है। २. **अयम् अहम्**=यह मैं **अस्तृतः नाम अस्मि**=अहिंसित नामवाला हूँ। (स्तृ=to kill) विनाश से मैं परे हूँ। **सः**=वह मैं **आत्मानम्**=अपने को **द्यावापृथिवीभ्याम् निदधे**=द्युलोक व पृथिवीलोक के प्रति अर्पित करता हूँ—'द्यौष्पिता पृथिवी माता'—द्युलोक ही मेरा पिता है, पृथिवीलोक माता। ये दोनों मेरा रक्षण करते हैं। माता-पिता पुत्र का रक्षण करते ही हैं। इसप्रकार मैं **गोपीथाय**=इन्द्रियरूप सब गौओं के रक्षण के लिए समर्थ होता हूँ।

भावार्थ—सूर्यादि सब देवों का मेरे शरीर में निवास है। मैं अमर हूँ। द्युलोक व पृथिवी-लोक मेरे पिता-माता हैं। ये मेरा रक्षण करते हैं और मैं इन्द्रियों के रक्षण में समर्थ होता हूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**पुरस्कृतित्रिष्टुब्बृहतीगर्भाचतुष्पदाऽतिजगती** ॥

उत्

उदायुरुद्बलमुत्कृतमुत्कृत्यामुन्मनीषामुदिन्द्रियम्।
आयुष्कृदायुष्पत्नी स्वधावन्तौ गोपा मे स्तं गोपायतं मा।
आत्मसदौ मे स्तं मा मा हिंसिष्टम्॥ ८॥

१. **आयुः उत्**=मेरे आयुष्य को उत्कृष्ट करो। **बलम् उत्**=मेरे बल को उन्नत करो। **कृतम् उत्**=मेरे पुरुषार्थ को बढ़ाओ। **कृत्याम् उत्**=मेरे कर्त्तव्यकर्मों को उन्नत करो। **मनीषाम् उत्**=मेरी बुद्धि को उन्नत करो और **इन्द्रियम् उत**=मेरी इन्द्रियों की शक्ति को उत्कृष्ट करो। २. यह द्युलोकरूप पिता **आयुष्कृत्**=दीर्घजीवन करनेवाला हो। **आयुष्पत्नी**=यह पृथिवीरूप माता आयुष्य का रक्षण करनेवाली हो। **स्वधावन्तौ**=उत्तम अन्नों को प्राप्त करानेवाले ये द्यावापृथिवी **मे**=मेरे **गोपा**=रक्षक **स्तम्**=हों, **मा गोपायतम्**=मेरा रक्षण करें। ये **आत्मसदौ मे स्तम्**=मेरे शरीर में

पूर्णरूप से विराजमान हों। ये **मा मा हिंसिष्टम्**=मुझे हिंसित न करें। शरीर में द्यावापृथिवी की ठीक स्थिति पूर्ण स्वास्थ्य का हेतु बनती है।

भावार्थ—शरीर में द्यावापृथिवी की समुचित स्थिति 'आयु, बल, बुद्धि व इन्द्रियशक्ति' की वर्धक होती है।

अगले सूक्त में भी ऋषि यह 'ब्रह्मा' ही है।

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—१-६ **यवमध्यात्रिपदागायत्रीः, ७ यवमध्याककुप्** ॥

अघायु से किया गया अघ उसे ही प्राप्त हो

अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्राच्या दिशोऽघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ १॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा दक्षिणाया दिशोऽघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ २॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्रतीच्या दिशोऽघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ ३॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मोदीच्या दिशोऽघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ ४॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा ध्रुवाया दिशोऽघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ ५॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मोर्ध्वाया दिशोऽघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ ६॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा दिशामन्तर्देशेभ्योऽघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ ७॥

१. साधक कहता है कि हे ब्रह्म (प्रभो)! आप **मे**=मेरे **अश्मवर्म असि**=पत्थर के (सुदृढ़) कवच हैं—**ब्रह्मवर्म ममान्तरम्**। आपसे रक्षित **मा**=मुझे **यः**=जो **अघायुः**=अघ=(अशुभ, पाप) की कामनावाला **प्राच्याः दिशः**=पूर्व दिशा की ओर से, **दक्षिणायाः दिशः**=दक्षिण दिशा की ओर से, **प्रतीच्याः दिशः**=पश्चिम दिशा की ओर से **उदीच्याः दिशः**=उत्तर दिशा की ओर से, **ध्रुवायाः दिशः**=ध्रुवा दिशा की ओर से, **ऊर्ध्वायाः दिशः**=ऊर्ध्वा दिक् की ओर से तथा **दिशाम् अन्तर्देशेभ्यः**=दिशाओं के अन्तर्देशों से **अभिदासात्**=आक्रमण करके उपक्षीण करना चाहता है, **एतत्**=इस अघ को—इस उपक्षय को **सः ऋच्छात्**=वह स्वयं प्राप्त हो। २. हमारे ब्रह्म-कवच से टकराकर यह अघ उस अघायु को ही पुनः प्राप्त हो। यह अघायु हमें हानि न पहुँचा सके। उसके क्रोध को हम अक्रोध से जीतनेवाले बनें, उसके आक्राशों को कुशल शब्दों से पराजित करनेवाले हों।

भावार्थ—हम ब्रह्म को अपना कवच बनाकर चलें। उस समय जो कोई भी अघायु पुरुष हमारे प्रति पाप करेगा, वह पाप लौटकर उसे ही व्यथित करेगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**पुरोधृत्यनुष्टुब्गर्भापराष्टिश्चतुष्पदाऽतिजगती** ॥

'मनोयुजा सरस्वत्या' वाचम् (उपह्वयामहे)

बृहता मन उप ह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ।
सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम्।
सरस्वत्या वाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा॥ ८॥

१. मैं **बृहता**=महत्तत्त्व से **मनः उपह्वये**=मन को पुकारता हूँ। महत्तत्त्व से प्राप्त होनेवाला मेरा यह मन भी महान् हो। **मातरिश्वना**=वायु से मैं **प्राणापानौ**=प्राणापान को माँगता हूँ। मेरे प्राणापान वायु की भाँति निरन्तर गतिशील हों। २. **सूर्यात् चक्षुः**=सूर्य से मैं चक्षु माँगता हूँ। सूर्याभिमुख होकर बैठने से मेरी दृष्टिशक्ति ठीक बनी रहे। **अन्तरिक्षात् श्रोत्रम्**=अन्तरिक्ष

से मुझे श्रोत्रशक्ति प्राप्त हो। **पृथिव्याः शरीरम्**=पृथिवि से मुझे शरीर मिले। अन्तरिक्ष—'अन्तरिक्ष' मध्यमार्ग में चलने से श्रोत्रशक्ति ठीक बनी रहे। पृथिवी के सम्पर्क में मेरा शरीर सुदृढ़ रहे। ३. **मनोयुजा**=मन के सम्पर्कवाली **सरस्वत्या**=सरस्वती से हम **वाचम् उपह्वयामहे**=ज्ञान की वाणियों का आराधन करते हैं—मनोयोग से विद्या पढ़ेगें तो ज्ञान बढ़ेगा ही।

भावार्थ—हमारे शरीर के सब अङ्ग विराट् शरीर के अङ्गों से मेलवाले होकर उत्तम बने रहें। हम मनोयोग द्वारा सरस्वती का आराधन करते हुए ज्ञान को बढ़ाएँ।

विशेष—प्रत्येक अङ्ग में सुस्थिर ब्रह्मा 'अथर्वा' बनता है। आत्म-निरीक्षण करता हुआ यह एक-एक अङ्ग को उत्तम बनाता है। (अथ अर्वाङ्) यह आत्मनिरीक्षक 'अथर्वा' अगले सूक्त का ऋषि है।

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

त्वेषनृम्णः

कथं महे असुरायाब्रवीरिह कथं पित्रे हरये त्वेषनृम्णः।
पृश्निं वरुण दक्षिणां ददावान्पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः॥ १॥

१. **कथम्**=कैसे **महे**=पूजा की वृत्तिवाले **असुराय**=प्राणायाम द्वारा अपने में प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले उपासक के लिए **इह**=यहाँ **अब्रवीः**=आप उपदेश करते हैं। **कथम्**=कैसे आप **पित्रे**=सबका पालन करनेवाले **हरये**=दुःखो का हरण करनेवाले पुरुष के लिए वेदज्ञान को उपदिष्ट करते हैं। आप सचमुच **त्वेषनृम्णः**=दीप्त तेजवाले हैं। २. हे **वरुण**=सब कष्टों का निवारण करनेवाले प्रभो! आप **पृश्निम्**=इस सम्पूर्ण प्राकृतिक धन व वेदज्ञान को **दक्षिणां ददावान्**=जीव के लिए दक्षिणारूप से देते हैं। हे **पुनर्मघ**=पुनः-पुनः ऐश्वर्य प्राप्त करानेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **मनसा अचिकित्सीः**=मन से—हृदयस्थरूप से हमें ज्ञान देते हैं (कित=to know, चिकिति)।

भावार्थ—हम पूजा की वृत्तिवाले, प्राणायाम द्वारा प्राण-साधना करनेवाले, रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त व दुःखों का हरण करनेवाले बनें। वे दीप्ततेज प्रभु हृदयस्थ होकर हमें ज्ञान देंगे। वे प्रभु उपासक को दक्षिणारूप में वेदज्ञान देते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

जातवेदाः

न कामेन पुनर्मघो भवामि सं चक्षे कं पृश्निमेतामुपाजे।
केन नु त्वमथर्वन्काव्येन केन जातेनासि जातवेदाः॥ २॥

१. हे प्रभो! मैं यह **संचक्षे**=सम्यक् देखता हूँ कि **न कामेन**=न केवल कामना से मैं **पुनः मघः**=पुनः ऐश्वर्यवाला **भवामि**=होता हूँ। इसी से मैं **कम्**=सब सुखों को देनेवाले **एतां पृश्निम्**=इस वेदज्ञान को **उप अजे**=समीपता से प्राप्त होता हूँ। आपकी उपासना करता हुआ इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होता हूँ। २. हे **अथर्वन्**=(अथ अर्वाङ्) हम सबके अन्दर विचरनेवाले प्रभो! (अ-थर्व) डाँवाडोल न होनेवाले एकरस प्रभो! **त्वम्**=आप **नु**=निश्चय से **केन केन**=किस-किस अथवा किस सुख को देनेवाले **जातेन काव्येन**=प्रादुर्भूत हुए-हुए वेदरूप काव्य से **जातवेदाः असि**='जातवेदाः' नामवाले होते हैं। वस्तुतः आपका यह वेदरूपी काव्य हमारे जीवनों के सुख के लिए सर्वमहान् साधन है।

भावार्थ—केवल चाहने से मनुष्य ऐश्वर्यशाली नहीं बनता। मनुष्य को चाहिए कि प्रभु का

उपासन करके वेदज्ञान प्राप्त करे। उसके अनुसार चलता हुआ जीवन में देखे कि प्रभु ने किस अद्भुत सुखदायी वेद-काव्य का प्रादुर्भाव किया है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

न दासः, न आर्यः (न अर्यः)

सत्यमहं गभीरः काव्येन सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः।
न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये॥ ३॥

१. वेद का ज्ञान होने पर उपासक अनुभव करता है कि **अहम्**=मैं **सत्यम्**=सचमुच **काव्येन**=इस वेदरूप काव्य से **गभीरः**=कुछ गम्भीर वृत्ति का बना हूँ। **सत्यम्**=सचमुच **जातेन**=प्रादुर्भूत हुए-हुए इस वेदकाव्य से मैं **जातवेदाः**=प्रादुर्भूत ज्ञानवाला **अस्मि**=हुआ हूँ। २. अब गम्भीर बनकर व ज्ञान प्राप्त करके **यत् व्रतं अहं धरिष्ये**=जिस व्रत को मैं धारण करूँगा वह **महित्वा**=उस प्रभुपूजन के दृष्टिकोण से ही होगा। मैं वेदानुकूल कार्य करता हुआ प्रभु का उपासन करूँगा। **मे**=मेरे उस व्रत को **न दासः**=न कोई उपक्षय की वृत्तिवाला पुरुष और न **अर्यः**=न कोई धनी वैश्य **मीमाय**=हिंसित करनेवाला होगा, अर्थात् भयों व प्रलोभनों से मैं कर्त्तव्यमार्ग से विचलित न होऊँगा।

भावार्थ—वेदज्ञान मनुष्य को गम्भीर व समझदार बनाता है। इस ज्ञान से गम्भीर व समझदार बनकर जिस व्रत को यह धारण करता है, उस व्रत से इसे किसी प्रकार के भय व प्रलोभन विचलित नहीं कर पाते।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कवितरः, धीरतरः

न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन्।
त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय॥ ४॥

१. गतमन्त्र का उपासक प्रभु की उपासना करता हुआ कहता है कि हे प्रभो! **त्वत् अन्यः कवितरः न**=आपसे भिन्न कोई अधिक ज्ञानी नहीं है। हे **स्वधावन्**=आत्मधारण-शक्तिवाले **वरुण**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाले प्रभो! **न मेधया धीरतरः**=न ही कोई और बुद्धि के दृष्टिकोण से आपसे अधिक धीर है। आप ही सर्वाधिक बुद्धि-सम्पन्न हैं। आप ही उपासकों को बुद्धि प्राप्त कराते हैं। २. **त्वम्**=आप तो **विश्वा भुवनानि**=सब लोकों को **वेत्थ**=जानते हैं—आप सर्वज्ञ हैं। **सः**=वह **मायी जनः**=मायावी—छल-छिद्र-पटु पुरुष **नु चित्**=निश्चय से **त्वत्**=आपसे **बिभाय**=भयभीत होता है।

भावार्थ—प्रभु कवितर है, धीरतर है। उस सर्वज्ञ प्रभु से मायावी अपनी माया को छिपा नहीं पाता और अन्ततः भयभीत होता है।

सूचना—माया का अर्थ प्रज्ञा भी है। प्रज्ञावान् पुरुष प्रभु को सर्वज्ञरूप में देखता है, अतः हृदय में उसको भय मानता है। यह भय ही उसे पाप से बचाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'पर प्रकृति व अवर ब्रह्माण्ड' का ज्ञाता प्रभु

त्वं ह्य१ङ्ग वरुण स्वधावन्विश्वा वेत्थ जनिमा सुप्रणीते।
किं रजस एना परो अन्यदस्त्येना किं परेणावरममुर॥ ५॥

१. हे **अङ्ग**=गतिशील—सब गतियों के स्रोत! **वरुण**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाले, **स्वधावन्**=आत्मधारण-शक्तिवाले, **सुप्रणीते**=उत्तम प्रणयन करनेवाले प्रभो! **त्वम् हि**=आप ही **विश्वा जनिमा**=सब उत्पन्न लोकों को **वेत्थ**=जानते हैं। २. आप यह भी जानते हैं कि **एना रजसः परः अन्यत् किम् अस्ति**=इस लोकसमूह (रजांसि लोका उच्यन्ते) के परे और क्या है? हे **अमुर**=(अम गतौ) गतिशील प्रभो! अथवा अविनाशी प्रभो! (अ-मुर) आप ही ठीक-ठीक यह भी जानते हो कि **एना परेण अवरम् किम्**=इस पर-(सूक्ष्म) प्रकृति से अवर—स्थूल—पीछे उत्पन्न हुआ-हुआ यह ब्रह्माण्ड क्या है?

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही सर्वज्ञ हैं। इस ब्रह्माण्ड से पर-(सूक्ष्म) प्रकृति से अवर (स्थूल) इस ब्रह्माण्ड को आप ही ठीक-ठीक जानते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**पञ्चदाऽतिशक्वरी** ॥

प्रकृति से परे प्रभु

एकं रजस एना परो अन्यदस्त्येना पर एकेन दुर्णशं चिदर्वाक्।
तत्ते विद्वान्वरुण प्र ब्रवीम्यधोवचसः पणयो भवन्तु नीचैर्दासा
उप सर्पन्तु भूमिम् ॥ ६ ॥

१. **एना रजसः परः एकम् अन्यत् अस्ति**=इस लोकसमूह से परे (सूक्ष्म) एक अन्य (विलक्षण) सूक्ष्म प्रकृतितत्त्व है। **एना एकेन परः**=इस एक प्रकृतितत्त्व से भी परे (सूक्ष्म) **दुर्णशम्**=कठिनता से अदृष्ट होने योग्य, अर्थात् जिसकी महिमा इस ब्रह्माण्ड के एक-एक कण में सर्वत्र दीखती है, वह **चित्**=सर्वज्ञ, चेतनस्वरूप प्रभु है, जोकि **अर्वाक्**=हमारे अन्दर ही स्थित है। २. हे **वरुण**=सब पापों के निवारक प्रभो! **ते**=आपके विषय में **तत् विद्वान्**=इस बात को जानता हुआ मैं **प्रब्रवीमि**=यह प्रार्थना करता हूँ कि **पणयः**=हमारे समाज में पणि लोग—केवल व्यवहारी लोग—रुपया कमाने में ही लगे हुए लोग **अधोवचसः भवन्तु**=निम्न वचनवाले हों—इनकी बातें प्रमुखता को धारण किये न हों, अर्थात् हमारा राष्ट्र बनियों के हाथों में न हो तथा **दासः**=उपक्षय करनेवाले लोग तो **नीचैः भूमिम् उपसर्पन्तु**=भूमि के नीचे बनी जेलों में गतिवाले हों। अथवा उन्हें इसप्रकार दण्ड दिया जाए कि उन्हें इधर-उधर जाते हुए लज्जा अनुभव हो।

भावार्थ—प्रकृति से भी पर उस सूक्ष्म प्रभु को हम अपने अन्दर देखने के लिए यत्नशील हों, उस प्रभु को जिसकी महिमा कण-कण में दिखाई देती है। उस प्रभु को देखते हुए हम वणिक्वृत्ति से ऊपर उठें, केवल धन कामने में न लगे रहें और विनाश की वृत्तिवाले तो कभी भी न हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

केवल धन नहीं, निर्धनता भी नहीं

त्वं ह्य१ङ्ग वरुण ब्रवीषि पुनर्मघेष्ववद्यानि भूरि।
मो षु पणीँरभ्ये३तावतो भून्मा त्वा वोचन्नराधसं जनासः ॥ ७ ॥

१. हे **अङ्ग**=गतिशील **वरुण**=सब पापों का निवारण करनेवाले प्रभो! **त्वं हि ब्रवीषि**=आप ही हमें वेद में यह बतलाते हैं कि **पुनः मघेषु**=फिर-फिर धन ही कमाने में लगे हुए लोगों में **भूरि**=बहुत **अवद्यानि**=पाप आ जाते हैं। वे टेढ़े-मेढ़े, कुटिल साधनों से धन कमाने में प्रवृत्त हो जाते हैं। आप **एतावतः पणीन् अभि**=इतने बनियों के प्रति **मा उ सुभूत्**=मत ही हों, अर्थात् न्याय-अन्याय सब मार्गों से धन कमाना ही जिनका उद्देश्य हो गया है, उन बनियों को प्राप्त

न हों। **जनासः**=लोग **त्वा**=आपको **अराधसम्**=ऐश्वर्यहीन **मा वोचत्**=न कहें, अर्थात् आपका स्तोता कार्यसाधक धन भी न प्राप्त करे—ऐसी स्थिति न हो। हम आपका स्तवन करते हुए पुरुषार्थ करके न्याय-मार्ग से कार्यसाधक धन को प्राप्त करें ही।

भावार्थ—धन-ही-धन जब जीवन का उद्देश्य हो जाता है तब हम पाप की ओर झुक जाते हैं। इन पणियों को प्रभु प्राप्त नहीं होते, परन्तु स्तोता न्याय्य मार्ग से पुरुषार्थ करता हुआ कार्यसाधक धन प्राप्त करता ही है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु-महिमा का दर्शन व ऐश्वर्य-प्राप्ति

मा मा वोचन्नराधसं जनासः पुनस्ते पृश्निं जरितर्ददामि।
स्तोत्रं मे विश्वमा याहि शचीभिरन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु॥ ८॥

१. प्रभु स्तोता को विश्वास दिलाते हुए कहते हैं कि **जनासः**=लोग **मा**=मुझे **अराधसम्**=ऐश्वर्यरहित **मा वाचत्**=न कहें। हे **जरितः**=स्तोता! मैं **पुनः**=पुनः **ते**=तेरे लिए **पृश्निम् ददामि**=इस प्राकृतिक धन तथा वेदज्ञान को देता हूँ। २. तू **विश्वासु मानुषीषु दिक्षु अन्तः**=मानवों की निवास-स्थानभूत सब दिशाओं में **शचीभिः**=प्रज्ञानों के द्वारा **मे**=मेरे **विश्वं स्तोत्रम्**=सर्वत्र प्रविष्ट स्तोत्र को **आयाहि**=प्राप्त हो। समझदार मनुष्य को सर्वत्र प्रभु की महिमा दीखती है। वह जहाँ भी जाता है, उस प्रभु की महिमा को देखता है। प्रभु-स्मरण के कारण अन्याय्य मार्गों से धन नहीं कमाने लगता।

भावार्थ—प्रभु स्तोता के लिए सब ज्ञानों व ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं। एक स्तोता सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सप्तपदः सखा

आ ते स्तोत्राण्युद्यतानि यन्त्वन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु।
देहि नु मे यन्मे अदत्तो असि युज्यो मे सप्तपदः सखासि॥ ९॥

१. हे प्रभो! **विश्वासु मानुषीषु दिक्षु अन्तः**=मानवों की निवासभूत सब दिशाओं में **आ**=समन्तात् **ते स्तोत्राणि**=आपके स्तोत्र **उद्यतानि यन्तु**=उद्यत हुए-हुए गतिवाले हों। सब मनुष्य आपका स्तवन करनेवाले बनें। २. **यत् मे अदत्तः**=जो आवश्यक पदार्थ मुझे नहीं दिया गया **नु मे देहि**=निश्चय से वह मुझे दीजिए। **मे युज्यः असि**=आप सदा मेरे साथ रहनेवाले हैं, **सप्तपदः सखा असि**=आप तो मेरे वे सखा हैं, जिनके साथ मैं सात पग रखता हूँ। 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्—'स्वास्थ, ज्ञान, जितेन्द्रियता, हृदय की विशालता, शक्तियों का विकास, तप और सत्य'—ये वे सात पग हैं, जो मुझे आपका मित्र बनाते हैं। आपकी सहायता से ही मैं इन पगों को चल पाता हूँ।

भावार्थ—सर्वत्र प्रभु का स्तवन दृष्टिगोचर होता है। सब विचारशील लोग प्रभु का ही स्मरण करते हैं। ये प्रभु हमारे लिए सब आवश्यक पदार्थों को देते हैं। वे हमारे 'युज्य सप्तपद' सखा हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

युज्यः सखा

समा नौ बन्धुर्वरुण समा जा वेदाहं तद्यन्नावेषा समा जा।
ददामि तद्यत्ते अदत्तो अस्मि युज्यस्ते सप्तपदः सखास्मि॥ १०॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **वरुण**=अपने से सब दोषों को दूर करनेवाले पुरुष! **समा नौ बन्धुः**=हमारी बन्धुता समान है, **समा जा**=हमारा प्रादुर्भाव भी समान है—हमारा दर्शन इकट्ठा ही होता है। **अहं तत् वेद**=मैं इस बात को जानता हूँ **यत्**=कि **नौ**=हम दोनों का **एषा जा**=यह प्रादुर्भाव **समा**=समान है, अर्थात् आत्मदर्शन के साथ ही परमात्मदर्शन होता है। २. **ते**=तुझे **तत् ददामि**=वह देता हूँ **यत्**=जो **अदत्तः**=आवश्यक पदार्थ तुझे दिया नहीं गया। मैं **ते**=तेरा सदा **युज्यः अस्मि**=साथ रहनेवाला मित्र हूँ। **ते**=तेरा **सप्तपदः सखा अस्मि**=सात पगों से जानने योग्य मित्र हूँ। योग-मार्ग में सात मंजिले चल चुकने पर आठवीं मञ्जिल समाधि में जानने योग्य हूँ।

भावार्थ—प्रभु हमारे बन्धु हैं। आत्मा और परमात्मा का ज्ञान साथ-साथ ही होता है। प्रभु हमें सब आवश्यक पदार्थ देते हैं। वे हमारे 'युज्य सप्तपद' सखा हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**षट्पदाऽत्यष्टिः** ॥

वयोधाः सुमेधाः

देवो देवाय गृणते वयोधा विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः।
अजीजनो हि वरुण स्वधावन्नथर्वाणं पितरं देवबन्धुम्।
तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्तं सखा नो असि परमं च बन्धुः ॥ ११ ॥

१. **देवः**=वे प्रकाशमय, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु **देवाय**=देववृत्तिवाले **गृणते**=स्तोता के लिए **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन धारण करानेवाले हैं। **विप्रः**=विशेषरूप से हमारा पूरण करनेवाले वे प्रभु **स्तुवते विप्राय**=स्तुति करते हुए विप्र के लिए **सुमेधाः**=उत्तम मेधा देनेवाले हैं। प्रभु हमें उत्कृष्ट जीवन व उत्तम बुद्धि प्रदान करते हैं। २. हे **स्वधावन्**=आत्मधारण शक्तिवाले **वरुण**=सब पापों का विनाश करनेवाले प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **अथर्वाणम्**=डाँवाडोल न होनेवाले—स्थिर वृत्तिवाले **पितरम्**=सबका पालन करनेवाले **देवबन्धुम्**=देवों के बन्धु को **अजीजनः**=प्रादुर्भूत करते हैं। जो आपका स्तोता बनता है, उसे आप 'अथर्वा, पिता व देवबन्धु' बनाते हो। ३. **तस्मै**=उस 'अथर्वा, पिता व देवबन्धु' के लिए **उ**=निश्चय से **सुप्रशस्तम्**=अति प्रशस्त **राधः**=कार्यसाधक धन **कृणुहि**=दीजिए। हे प्रभो! आप ही **नः**=हमारे सखा **असि**=मित्र हैं **च**=और **परमं बन्धुः**=परम बन्धु हैं।

भावार्थ—हम देव बनें। प्रभु हमें उत्कृष्ट जीवन प्रदान करेंगे। प्रभु हमें सुमेधा बनाएँगे। प्रभु-स्तवन से हम 'अथर्वा, पिता व देवबन्धु' बनेंगे—विषयों में भटकेंगे नहीं, रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होंगे और देवों के बन्धु होंगे। प्रभु ही हमें उत्तम मार्गों से अर्जित आवश्यक धन प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही वस्तुतः हमारे सखा और परम बन्धु हैं।

विशेष—यह अथर्वा-विषयों में न भटकने से, एक-एक अङ्ग में रस के सञ्चारवाला होता है, अतः 'अङ्गिराः' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु का दूत

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥ १ ॥

१. **अद्य**=आज **मनुषः**=विचारपूर्वक कर्म करनेवाला व्यक्ति मनुष्य के **दुरोणे**=इस शरीररूप

गृह में **समिद्धः**=ज्ञान की अत्यन्त दीप्तिवाला बना है। जहाँ इसने शरीर को सब बुराइयों से अपनीत किया है (दुर् ओण्) वहाँ यह ज्ञान से दीप्त बना है। **जातवेदः**=उत्पन्न प्रज्ञानवाला अर्थात् ज्ञानी बना हुआ, **देवः**=दिव्य वृत्तिवाला होता हुआ **देवान् यजसि**=देवों का यजन करता है—मान्य व्यक्तियों को आदर देता है, विद्वानों का संग करता है, उनके लिए सदा दानशील होता है। २. **मित्रमहः**=हे स्नेहयुक्त तेजस्वितावाले! तू **चिकित्वान्**=चेतनावाला होकर **आवह**=इस ज्ञान को औरों को प्राप्त करानेवाला बन। **त्वं दूतः**=तू प्रभु का सन्देशवाहक है, **कविः असि**=तू क्रान्तदर्शी है—ठीक ही ज्ञान देनेवाला है। **प्रचेताः**=तू प्रकृष्ट संज्ञानवाला है—लोगों को एक-दूसरे के समीप लानेवाला है। तू लोगों को वह ज्ञान देता है जो उन्हें परस्पर मिलानेवाला होता है। इसप्रकार लोकहित करता हुआ तू अपनी सच्ची ब्रह्मनिष्ठता को प्रकट करता है।

भावार्थ—ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति 'शरीर-गृह' को पवित्र बनाकर ज्ञान-संचय करता है, देवों के सङ्ग में रहता है, स्नेहशील व तेजस्वी बनकर लोगों को ज्ञान प्राप्त कराता है। यह बड़ा समझदार होकर प्रभु का दूत बनता है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तनूनपात्

तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः॥ २॥

१. हे ब्रह्मनिष्ठ! तू **तनूनपात्**=अपने शरीर को गिरने नहीं देता—शरीर के स्वास्थ्य को कभी नष्ट नहीं करता। **ऋतस्य पथः यानान्**=ऋत के मार्ग पर गमनों को **मध्वा**=माधुर्य से **समञ्जन्**=अलंकृत करनेवाला होता है। तू सदा ऋत के मार्ग पर चलता है और तेरे आने-जाने के सब कर्म माधुर्य से युक्त होते हैं। तू अपनी गतियों से किसी को पीड़ित नहीं करता। हे **सुजिह्व**=उत्तम जिह्वावाले! **स्वदया**=तू सभी के जीवन को स्वादयुक्त बनानेवाला होता है। २. तू **मन्मानि**=अपने ज्ञानों को **धीभिः**=बुद्धियों के द्वारा अथवा बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा **ऋन्धन्**=बढ़ानेवाला होता है, **उत**=और **यज्ञम्**=यज्ञ को भी बढ़ानेवाला होता है **च**=और **नः**=हमसे **उपदिष्ट अध्वरम्**=यज्ञ को **देवत्रा**=देवों के विषय में **कृणुहि**=कर। ब्रह्मयज्ञ आदि पाँचों यज्ञों को करनेवाला बन।

भावार्थ—हम शरीर के स्वास्थ्य को स्थिर रक्खें, ऋत के मार्ग का मधुरता से आक्रमण करें, मधुर शब्दों से सबके मनों को आनन्दित करें, बुद्धिपूर्वक कर्म करते हुए ज्ञान को बढाएँ। यज्ञ को सिद्ध करें, देवों के विषय में यज्ञों को करनेवाले हों—उनकी हिंसा से दूर रहें।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ईड्यः, वन्द्यः

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान्॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **आयाहि**=आइए, जो आप **आजुह्वानः**=समन्तात् सब आवश्यक पदार्थों को दे रहे हैं, **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हैं, **वन्द्यः**=अभिवन्दनीय हैं, **वसुभिः सजोषाः**=आपने निवास को उत्तम बनानेवालों के साथ समानरूप से प्रीतिवाले हैं। २. हे प्रभो! **त्वम्**=आप देवानां **यह्वः**=देवों में महान् **असि**=हैं, सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले हैं, **होता**=आप ही सब-कुछ देनेवाले हैं। **सः**=वे आप **इषितः**=हमारे द्वारा सत्कृत हुए-हुए **एनान्**=इन्हें—हम सबको **यक्षि**=अपने साथ संगत कीजिए। **यजीयान्**=आप अतिशयेन यष्टा हैं—अत्यन्त पूज्य हैं और

हमारे लिए सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप स्तुति के योग्य, वन्दनीय हैं, आप ही सर्वमहान् देव हैं, सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले हैं। आप हमें प्राप्त होओ।

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्राचीनं बर्हिः

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम्।
व्यु ऽ प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम्॥ ४॥

१. **अस्याः पृथिव्याः**=इस शरीर के **वस्तोः**=उत्तम निवास के लिए **प्राचीनं बर्हिः**=(प्र अञ्च) अग्रगति की भावनावाला वासनाशून्य हृदय **अह्नाम् अग्रे**=दिनों के अग्रभाग में ही, अर्थात् प्रातः ही **प्रदिशा**=वेदोपदिष्ट मार्ग से **वृज्यते**=दोष-वर्जित किया जाता है। २. दोषशून्य किये जाने पर यह हृदय **वितरम्**=खूब **वरीयः**=विशाल **उ**=और निश्चय से **विप्रथते**=विशेषरूप से विस्तीर्ण बनता है। यह विस्तीर्ण हृदय **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के लिए **स्योनम्**=सुखकर होता है, अर्थात् इस विस्तीर्ण हृदय में दिव्य गुणों का विकास सरलता से होता है और यह हृदय **अदितये**=अखण्डन के लिए—स्वास्थ्य के लिए होता है। पवित्र हृदय का स्वास्थ्य पर उत्तम प्रभाव पड़ता ही है।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय बनने के लिए हम हृदय को विशाल बनाएँ और शरीर को भी पूर्ण स्वस्थ रखने का प्रयत्न करें। 'वसु' बनकर ही हम प्रभु के प्रिय बन पाएँगें।

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दिव्य इन्द्रिय द्वार

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः॥ ५॥

१. वसुओं की—उत्तम निवासवालों की इन्द्रियाँ **व्यचस्वतीः**=उत्तम गमनों व क्रियाओंवाली होकर **उर्विया**=विशाल हों और **विश्रयन्ताम्**=विशिष्ट कर्मों का सेवन करनेवाली हों। **न**=जिस प्रकार **जनयः**=पत्नियाँ **पतिभ्यः**=पतियों के लिए **शुम्भमानाः**=अपने को शोभित करनेवाली होती हैं, इसीप्रकार ये इन्द्रियाँ आत्मा के लिए अपने को शोभित करनेवीली हों। २. **देवीः द्वारः**=सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली ये इन्द्रियाँ **बृहतीः**=वृद्धि का करण बनें, **विश्वमिन्वाः**=सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करानेवाली हों। हे इन्द्रियो! तुम **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की व्याप्ति के लिए **सुप्रायणाः**=उत्तम, प्रकृष्ट गमनवाली **भवत**=होओ।

भावार्थ—हमारे इन्द्रिय-द्वार प्रकृष्ट गमनवाले—विशाल हों। ये उत्तम शक्तियों, उत्तम ज्ञान व कर्मों से अपने को सुभूषित करें। इनके द्वारा हममें दिव्य गुणों का विकास होता चले।

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्मयमान दिन

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार इन्द्रियों के उत्तम होने पर हमारे **उषासानक्ता**=दिन व रात **आ सुष्वयन्ती**=सब प्रकार से स्मयमान होते हुए (स्मयतेः निरुपसर्गात् मकारस्य वकारः)—खिलते हुए, अर्थात् शरीर, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से विकास को प्राप्त होते हुए, **यजते**=यज्ञशील होते

हुए **उपाके**=(उप अक् गतौ) प्रभु के समीप उपस्थित होनेवाले **योनौ निसदताम्**=ब्रह्माण्ड के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में नम्रता से स्थित हों। हम दिन के प्रारम्भ और रात्रि के प्रारम्भ में प्रभु की उपासना करनेवाले बनें। यह उपासना ही हमारे सर्वतोमुखी विकास का कारण बनेगी। २. ये दिन-रात हमें **दिव्ये**=प्रकाश में स्थापित करनेवाले हों। ध्यान के बाद हम स्वाध्याय अवश्य करें। **योषणे**=स्वाध्याय के द्वारा ये दिन-रात हमें बुराइयों के अमिश्रण तथा अच्छाइयों से मिश्रित करनेवाले हों। इसप्रकार ये **बृहती**=हमारा वर्धन करनेवाले हों और **सुरुक्मे**=उत्तम सुवर्ण व कान्ति को प्राप्त करानेवाले हों। ये दिन-रात हममें **शुक्रपिशम्**=(पिश to shape) वीर्य के द्वारा जिसका निर्माण होता है, उस **श्रियम्**=शोभा को **अधिदधाने**=आधिक्येन धारण करनेवाले हों। वीर्य-रक्षा से ज्ञान-अग्नि की दीप्ति के द्वारा हमारा जीवन शक्ति-सम्पन्न बनता है।

भावार्थ—हमारे दिन-रात स्मयमान हों। ये दिन-रात यज्ञों में व्यापृत तथा प्रभु की उपासना में लगे हुए हमारी बुराइयों को दूर करते हुए तथा अच्छाइयों को प्राप्त कराते हुए हमें श्रीसम्पन्न करें।

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दैव्या होतारा (प्राणापान)

दैव्या॒ होता॑रा प्रथ॒मा सु॒वाचा॒ मिमा॑ना य॒ज्ञं मनु॑षो॒ यज॑ध्यै।
प्र॒चो॒दय॑न्ता वि॒दथे॑षु का॒रू प्रा॒चीनं॒ ज्योतिः॑ प्र॒दिशा॑ दि॒शन्ता॑ ॥ ७ ॥

१. हमारे प्राणापान **दैव्या होतारा**=उस देव को प्राप्त करानेवाले होते हैं। **प्रथमा**=ये इस शरीर में रहनेवाले देवों में प्रथम हैं। **सुवाचा**=उत्तम वाणीवाले हैं। प्राणापान की क्षीणता से वाणी भी क्षीण होने लगती है। **मनुषः**=इस मननशील मनुष्य के **यजध्यै**=प्रभु से मेल करने के लिए **यज्ञं मिमाना**=ये प्राणापान यज्ञों का निर्माण करते हैं। २. साधक के ये प्राणापान **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **प्रचोदयन्ता**=प्रकृष्ट प्रेरणा प्राप्त कराते हैं, **कारू**=ये प्राणापान प्रत्येक कार्य को कलापूर्ण ढंग से करानेवाले होते हैं। प्राणसाधक के कार्यों में अनाड़ीपन नहीं टपकता। ये प्राणापान **प्रदिशा**=वेदोपदिष्ट मार्ग से **प्राचीनं ज्योतिः**=(प्रअञ्च्) उन्नति की साधनभूत ज्योति को अथवा सनातन ज्ञान को **दिशन्ता**=उपदिष्ट करते हैं।

भावार्थ—प्राणापान की साधना हमें प्रभु से मिलाती है, ज्ञान को बढ़ाती है, हमारे कार्यों में सौन्दर्य लाती है और सनातन ज्योति का आभास कराती है।

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

भारती, इडा, सरस्वती

आ नो॑ य॒ज्ञं भार॑ती॒ तूय॑मे॒त्विडा॒ मनु॒ष्वदि॒ह चे॒तय॑न्ती।
ति॒स्रो दे॒वीर्ब॒र्हिरे॒दं स्यो॒नं सर॑स्वतीः॒ स्वप॑सः सदन्ताम् ॥ ८ ॥

१. **नः यज्ञम्**=हमारे जीवन-यज्ञ में **भारती**=(भरतस्य सूर्यस्य इयम्) सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञानज्योति **तूयम्**=शीघ्र **आ एतु**=सर्वथा प्राप्त हो। **मनुष्यवत्**=एक ज्ञानी पुरुष की भाँति **इह**=इस जीवन-यज्ञ में **चेतयन्ती**=चेतना को प्राप्त कराती हुई **इडा**=यह श्रद्धा नामक देवता भी हमारे जीवन यज्ञ में शीघ्रता से प्राप्त हो। इस श्रद्धा से हमारा जीवन सत्य बातों का ही धारण करनेवाला बने। २. **भारती** व **इडा** के साथ **सरस्वतीः**=यह वाग्देवता भी आये, इसप्रकार **तिस्रः देवीः**=तीनों देवियाँ **स्वपसः**=उत्तम कर्मशील पुरुष के **इदं स्योनम्**=इस सुखमय **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **आसदन्ताम्**=आसीन हों। हम इन तीनों देवियों को अपनाने का यत्न करें।

भावार्थ—हमारे जीवनों में 'भारती, इडा व सरस्वती' तीनों देवियों का समुचित स्थान हो।

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

त्वष्टा का सम्पर्क व सौन्दर्य-प्राप्ति

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्॥ ९॥

१. **यः**=जो त्वष्टा **इमे**=इस **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को और सब भूतों को **जनित्री**=जन्म देनेवाला है, इन्हें **रूपैः अपिंशत्**=रूपों से अलंकृत करता है तथा **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों को रूपों से सजाता है, अर्थात् जिस त्वष्टा के कारण उस-उस पिण्ड व लोक में अमुक-अमुक सौन्दर्य है, **तम्**=उस **देवम् त्वष्टारम्**=दिव्य गुणोंवाले—सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले त्वष्टादेव को, हे **होतः**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाले! **इषितः**=प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त हुआ-हुआ **यज्ञीयान्**=अतिशयेन यज्ञशील **विद्वान्**=ज्ञानी तू **इह**=इस मानव-जीवन में **यक्षि**=संगत कर—प्रभु से अपना सम्बन्ध बना। २. वे प्रभु जैसे सूर्य आदि देवों को रूपों से अलंकृत करते हैं, तुझे भी रूपों से अलंकृत करेंगे। तू 'इषित' बन—प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला बन। तू यजीयान् हो—अतिशयेन यज्ञशील हो। तू विद्वान् व ज्ञानी बन। इसप्रकार का बनने का यत्न करने पर ही तू प्रभु-सम्पर्क को प्राप्त करेगा। उस समय तेरा जीवन भी द्युलोक व पृथिवीलोक की भाँति रूपों से अलंकृत होगा।

भावार्थ—त्वष्टा ब्रह्माण्ड का निर्माता होकर उसे सौन्दर्य प्रदान करता है। हम उसके सम्पर्क में आएँगे तो वह हमें भी सौन्दर्य प्रदान करेगा।

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वनस्पतिः, शमिता, देवः, अग्निः,

उपावसृज त्मन्या समञ्जन्देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन॥ १०॥

१. हे जमदग्ने! तू **त्मन्या**=स्वयं **देवानां पाथे**=देवताओं के मार्ग में, अर्थात् देवयान पर चलते हुए **समञ्जन्**=अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करने के हेतु से **ऋतुथा**=ऋतु के अनुसार **हवींषि**=हव्य पदार्थों को **उपावसृज**=उपासना के साथ—प्रभु स्मरणपूर्वक अपने में डाल, अर्थात् प्रभु-स्मरणपूर्वक हव्य पदार्थों का भोजन कर। तू देवयानमार्ग से चलनेवाला बन और सात्त्विक भोजन का सेवन कर, तभी तुझमें दिव्य गुणों का विकास होगा। २. **वनस्पतिः**=तू ज्ञान की किरणों का पति बन, **शमिता**=शान्त स्वभाववाला हो। **देवः**=दिव्य गुणों का अपने में विस्तार कर, **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़नेवाला हो। इसप्रकार 'वनस्पति, शमिता, देव व अग्नि' **हव्यम्**=हव्य पदार्थों को, पवित्र भोजनों को **मधुना घृतने**=शहद व घृत के साथ **स्वदन्तु**=खानेवाले हों। वस्तुतः ये 'हव्य, मधु व घृत' रूप मधुर पदार्थ ही हमें 'वनस्पति, सविता, देव व अग्नि' बनाते हैं।

भावार्थ—हम देवयानमार्ग से चलते हुए जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करने के लिए सात्त्विक भोजन का ही सेवन करें—'हव्य, मधु व घृत' का ही प्रयोग करें।

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यज्ञशील गृहस्थ

सद्यो जातो व्य मिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः।
अस्य होतुः प्रशिष्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः॥ ११॥

१. **जातः**=आचार्य-गर्भ से उत्पन्न हुआ-हुआ—आर्चायकुल से लौटा हुआ **सद्यः**=शीघ्र ही **यज्ञं व्यमिमीत**=यज्ञों को करनेवाला बनता है। एक सद्गृहस्थ को पाँचों महायज्ञ करने ही चाहिएँ, तभी यह **अग्निः**=आगे बढ़नेवाला होता है, **देवानां पुरोगाः अभवत्**=आगे बढ़ते-बढ़ते यह देवों का भी अग्रगामी बनता है—देवों में भी इसका स्थान प्रथम होता है। २. **अस्य होतुः**=इस सृष्टियज्ञ के होता परमात्मा के **प्रशिषि**=प्रकृष्ट निर्देश में **ऋतस्य**=सत्य वेदवाणी के, अर्थात् प्रभु के वेद में प्रतिपादित मार्ग के अनुसार **स्वाहाकृतम्**=अग्नि में 'स्वाहा' शब्दोच्चारणपूर्वक डाली हुई **हविः**=हवि को—हव्य पदार्थ को **देवाः**=माता, पिता आचार्य व अतिथि आदि देव **अदन्तु**=खाएँ, अर्थात् मनुष्य वेदोपदिष्ट मार्ग से अग्निहोत्र करके माता, पिता, आचार्य व अतिथि आदि को श्रद्धापूर्वक खिलाये। इन्हें खिलाकर यज्ञशेष का खाना ही हमारी अमरता का साधन है।

भावार्थ—आचार्यकुल से समावृत्त होकर हम गृहस्थ बनें और यज्ञशील हों। वेद के आदेश के अनुसार अग्निहोत्र करें। माता-पिता आदि को खिलाकर उनके पश्चात् भोजन करें, अतिथियों से पूर्व न खाने लग जाएँ। यज्ञशेष का सेवन करनेवाले ही देव व अमर बनते हैं।

विशेष—अगले सूक्त में विष-निवारण का प्रकरण है। जीवन के लिए विष की बाधा एक प्रबल विघ्न है। इसका दूर करना आवश्यक ही है, सर्पों को समाप्त करनेवाला 'गरुत्मान्=गरुड़' अगले सूक्त का ऋषि है। गरुत्मान् सर्पों को समाप्त करता है। विष-चिकित्सक को भी 'गरुत्मान्' कह दिया गया है—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः=**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

विष-निवारण

द॒दिर्हि मह्यं॒ वरु॑णो दि॒वः क॒विर्वचो॑भिरु॒ग्रैर्नि रि॑णामि ते वि॒षम्।
खा॒तमखा॑तमु॒त स॒क्तम॑ग्रभमि॒रेव॒ धन्व॒न्नि ज॑जास ते वि॒षम्॥ १॥

१. **दिवः कविः**=ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाले, **वरुणः**=सब कष्टों के निवारक प्रभु ने **हि**=निश्चय से **मह्यम्**=मुझे **ददिः**=यह ज्ञान दिया है, **उग्रैः वचोभिः**=इन तेजस्वी वचनों से **ते विषम्**=तेरे विष को **निरिणामि**=दूर किये देता हूँ। सर्पविष से मूर्च्छा आने लगती है। उग्र वचनों से जहाँ सर्पदष्ट व्यक्ति को उत्साहित करना होता है, वहाँ उसे मूर्च्छित न होने देने के लिए भी ये वचन उपयोगी होते हैं। २. **खातम्**=घाव अधिक खुदा हुआ हो, **अखताम्**=न खुदा हुआ हो **उत**=अथवा, **सक्तम्**=विष केवल ऊपर ही चिपका हुआ हो, उस सब विष को **अग्रभम्**=मैं लिये लेता हूँ—बाहर कर देता हूँ। **धन्वन् इरा इव**=रेतीले स्थानों में जैसे जलधारा नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार **ते विषं निजजास**=तेरा विष भी निःशेष—नष्ट होता है।

भावार्थ—प्रभु ने वेद में विष-निवारण के उपायों का प्रतिपादन किया है। एक विष-चिकित्सक तेजस्वी वचनों से सर्पदष्ट पुरुष को मूर्च्छित न होने देता हुआ उसके विष को दूर करने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः**॥

विष की रुधिरशोषकता

यत्ते॑ अपो॒दकं॑ वि॒षं तत्त॑ ए॒तास्व॑ग्रभम्।
गृ॒ह्णामि॑ ते मध्य॒मम॑त्त॒मं रस॑मु॒ताव॒मं भि॒यसा॑ नेश॒दादु॑ ते॥ २॥

१. हे सर्प! **यत्** ते **अपोदकम्**=(जल से रहित) रुधिर को सुखा देनेवाला

विषम्=विष है, **ते**=तेरे **तत्**=उस विष को **एतासु अग्रभम्**=इन नाड़ियों में पकड़ लेता हूँ। इसे इसप्रकार बाँध-सा देता हूँ कि यह सारे शरीर में फैल न जाए। २. मैं **ते**=तेरे **उत्तमं मध्यमम् उत अवमं रसम्**=प्रबल, मध्यम व निचली कोटि के, अर्थात् सामान्य विष को भी **गृह्णामि**=वश में करने का प्रयत्न करता हूँ। **आत् उ**=अब निश्चय से **ते**=तेरे **भियसा**=भय से भी **नेशत्**=मनुष्य नष्ट हो जाता है, अतः मैं तेरे नाममात्र अंश को भी दूर करने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—सर्पविष रुधिर का शोषण कर देता है। इसे नाड़ियों में जहाँ-का तहाँ रोकने का प्रयत्न किया जाए। यह सारे शरीर में फैल न जाए। अब इसे शरीर से बाहर निकालने का यत्न किया जाए। इसके थोड़े-से अंश के भी शरीर में रह जाने से विनाश का भय होता है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

विष-चिकित्सा में उच्च शब्द का स्थान

वृषा मे रवो नभसा न तन्यतुरुग्रेण ते वचसा बाध आदु ते।
अहं तमस्य नृभिरग्रभं रसं तमसइव ज्योतिरुदेतु सूर्यः॥ ३॥

१. **मे रवः**=मेरा शब्द **नभसा तन्यतुः न**=मेघ से उत्पन्न होनेवाली गर्जना के समान **वृषा**=शक्तिशाली है। मैं इस **उग्रेण वचसा**=शक्तिशाली शब्द से **ते**=तेरे इस विष को **बाधे**=बाधित करता हूँ, **आत् उ**=और अब निश्चय से **ते**=तेरा भी बाधन करता हूँ। २. **अहम्**=मैं **नृभिः**=मनुष्यों के साथ **अस्य**=इस सर्प के **तं रसम्**=उस विषरस को **अग्रभम्**=वश में कर लेता हूँ। **तमसः ज्योतिः इव**=अन्धकार के विनाश से जैसे ज्योति का उदय होता है, उसी प्रकार इस सर्पदष्ट पुरुष के जीवन में भी विषान्धकार के विनाश के साथ **सूर्यः उदेतु**=जीवन के सूर्य का उदय हो।

भावार्थ—सर्पविष चिकित्सा में ऊँचे शब्द का भी महत्त्व है। यह सर्पदष्ट को मूर्च्छा में चले जाने से बचाता है। चिकित्सक अन्य मनुष्यों के साथ सर्पविष के भय को दूर करने का प्रयत्न करता है तथा सर्पदष्ट मनुष्य के जीवन से मूर्च्छान्धकार को दूर करके जीवन के सूर्य को उदित करता है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सर्पविष से सर्प को ही समाप्त करना

चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम्।
अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्येतु त्वा विषम्॥ ४॥

१. हे सर्प! **चक्षुषा**=मैं अपनी दृष्टिशक्ति से **ते चक्षुः हन्मि**=तेरी आँख की शक्ति को नष्ट करता हूँ तथा **विषेण**=विष से **ते विषं हन्मि**=तेरे विष को समाप्त करता हूँ। २. हे **अहे**=हननशील सर्प! तू **म्रियस्व**=मृत्यु को प्राप्त हो, **मा जीवीः**=जी मत, **विषम्**=विष **त्वा**=तुझे **प्रत्यग् अभ्येतु**=लौटकर पुनः प्राप्त हो।

भावार्थ—साँप की आँखों में आँख गड़ाकर उसे देखा जाए तो वह डसता नहीं। सर्प के डसने पर सर्पदष्ट पुरुष उसे डसे तो वह विष लौटकर साँप को ही मारनेवाला होता है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

स्वच्छता द्वारा सर्पादि को दूर रखना

कैरात पृश्न उपतृण्य बभ्र आ मे शृणुतासिता अलीकाः।
मा मे सख्युः स्तामानमपि ष्ठाताश्रावयन्तो नि विषे रमध्वम्॥ ५॥

१. हे **कैरात**=जंगल में रहनेवाले सर्प! **पृश्ने**=चितकबरे साँप! **उपतृण्य**=घास में रहनेवाले साँप! **बभ्रो**=भूरे रंग के साँप! **असिताः**=काले फनियर साँपों! **अलीकाः**=मलिन स्थानों पर रहनेवाले सर्पो! **मे आशृणुत**=मेरी इस बात को सुनो। २. **मे सख्युः**=मेरे मित्र के **स्तामनम् अपि मा स्थात**=आहते में भी मत ठहरो। **आश्रावयन्तः**=चारों ओर-दूर-दूर अपनी ध्वनि को सुनाते हुए **विषे निरमध्वम्**=अपने विष में ही रमण करनेवाले बनो।

भावार्थ—हम घर को तथा चारों ओर के प्रदेशों को इसप्रकार स्वच्छ रक्खें कि वहाँ सर्प आदि का भय न हो। ये सर्प हमारे घरों से दूर ही रहें।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

समुचित प्रयोग द्वारा विष-बाधा को दूर करना

असितस्य तैमातस्य बभ्रोरपोदकस्य च।
सात्रासाहस्याहं मन्योरव ज्यामिव धन्वनो वि मुञ्चामि रथाँइव॥ ६॥

१. **असितस्य**=काले फनियार साँप के **तैमातस्य**=गीले स्थान पर रहनेवाले (तिम आर्द्रीभावे) साँप के **बभ्रोः**=भूरे रंगवाले **च**=और **अपोदकस्य**=जल से दूर रहनेवाले साँप के विष को **अहम्**=मै इसप्रकार **विमुञ्चामि**=छुड़ाता हूँ **इव**=जैसेकि **सात्रासाहस्य**=सबको पराजित करनेवाले **मन्योः**=क्रोधी राजा के **रथान्**=रथों को समझदार मन्त्री घोड़ों से मुक्त करता है तथा **इव**=जैसे वह इस क्रोधी राजा के **धन्वनः**=धनुष से **ज्याम्**=डोरी को **अव**=दूर करता है। २. यहाँ प्रसङ्गवश यह संकेत स्पष्ट है कि कभी-कभी एक शक्तिशाली क्रोधी राजा जोश में आक्रमण की तैयारी करता है, समझदार मन्त्री को उसे शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसीप्रकार वैद्य सर्प-विष की बाधा को समुचित प्रयोगों से दूर करने का प्रयत्न करे।

भावार्थ—एक वैद्य तैमात, बभ्रु व अपोदक सर्पों की विष-बाधा को समुचित प्रयोगों द्वारा दूर करने के लिए यत्नशील हो।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आलिगी व विलिगी की बन्धनशक्ति

आलिगी च विलिगी च पिता च माता च।
विद्म वः सर्वतो बन्ध्वरसाः किं करिष्यथ॥ ७॥

१. **आलिगी**=चारों ओर घूमनेवाली **च**=और **विलिगी च**=टेढ़ी चालवाली सर्पिणी **पिता च माता च**=चाहे वह नर है, चाहे मादा हम **वः**=तुम्हारे **बन्धुः**=बन्धन को **सर्वतः**=सब प्रकार से **विद्म**=जानते हैं। किस प्रकार तुम लिपट जाती हो, वह हम समझते हैं। २. अतः **अरसाः**=हमारे लिए निःसार होती हुई तुम **किं करिष्यथ**=क्या करोगी? तू हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती।

भावार्थ—हम सर्पों की बन्धन-शक्ति को समझें और अपने लिए उन्हें निःसार करनेवाले हों। उनके बन्धन को हम सरलता से पृथक् कर सकें।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उरुगूला की दुहिता

उरुगूलाया दुहिता जाता दास्यसिक्न्या। प्रतङ्कं दद्रुषीणां सर्वासामरसं विषम्॥ ८॥

१. **उरुगूलायाः**=बहुत ही हिंसा करनेवाली (गूरी हिंसागत्योः), **असिक्न्या**=कृष्णसर्पिणी की **दुहिता**=पुत्री यह सर्पिणी **दासी जाता**=बहुत ही उपक्षय करनेवाली हो गई। २. इन **सर्वासाम्**=सब **दद्रुषीणाम्**=दाद पैदा करनेवाली सर्पिणियों का **प्रतङ्कम्** **विषम्**=कष्टप्रद विष

अरसम्=नीरस हो जाए।

भावार्थ—कृष्ण सर्पिणी की सन्तान हमें डसकर हमारी सारी त्वचा को दादों से भरा हुआ कर देनेवाली है। यह हमारे उपक्षय का कारण न बने।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**भुरिग्जगती**॥

कर्णा श्वावित्

कर्णा श्वावित्तदब्रवीद्गिरेरवचरन्तिका।
याः काश्चेमाः खनित्रिमास्तासामरसतमं विषम्॥ ९॥

१. **कर्णा श्वावित्**=बड़े-बड़े कानोंवाली साही **गिरेः अवचरन्तिका**=पर्वत से नीचे उतरती हुई **तत् अब्रवीत्**=मानो यह कहती है कि **याः काः च इमाः खनित्रिमाः**=जो कोई ये भूमि खोदकर, बिल बनाकर रहनेवाले कृमि-कीट हैं **तासाम्**=उनका **विषम्**=विष **अरसतमम्**=अतिशयेन निःसार है।

भावार्थ—सम्भवतः बिल बनाकर रहनेवाले इन कृमियों का विष उसी बिल से निकली मिट्टी के प्रयोग से दूर हो जाते हैं।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥

ताबुब=तस्तुव

ताबुवं न ताबुवं न घेत्त्वमसि ताबुवम्। ताबुवेनारसं विषम्॥ १०॥
तस्तुवं न तस्तुवं न घेत्त्वमसि तस्तुवम्। तस्तुवेनारसं विषम्॥ ११॥

१. ताबुव शब्द (तु+इण्, वा +क) तु तथा वा धातु से बना है। तु के अर्थ वृद्धि, गति व हिंसा है। 'वा' के गति तथा गन्धन (हिंसन)। इसप्रकार ताबुव का अर्थ है वृद्धि तथा हिंसा को प्राप्त करानेवाली। ताबुव एक ओषधि है। सर्प भी ताबुव है। वृद्धि को प्राप्त कराने से ओषधि 'ताबुव' है, हिंसा को प्राप्त कराने से सर्प 'ताबुव' है। **ताबुवम्**=यह ताबुव ओषधि **न ताबुवम्**=हिंसा को प्राप्त करानेवाली नहीं। हे सर्प! इस ओषधि के प्रयोग से **त्वम् घ इत्**=तू भी निश्चय से **न ताबुवम् असि**=हिंसा को प्राप्त करानेवाला नहीं रहता। **ताबुवेन**=इस ताबुव ओषधि से **विषम् अरसम्**=विष निःसार हो जाता है। २. तस्तुव शब्द भी 'तस उपक्षये' तथा 'वा गतिगन्धनयोः' से बनता है। तस्तुव ओषधि उपक्षय का नाश करती है। सर्प भी तस्तुव है—यह उपक्षय को प्राप्त कराता है। **तस्तुवम्**=उपक्षय का विनाश करनेवाली यह तस्तुव ओषधि **न तस्तुवम्**=विनाश को प्राप्त करानेवाली नहीं। ३. हे सर्प! इस **तस्तुवे**=तस्तुव ओषधि का प्रयोग होने पर **घ इत्**=निश्चय से **त्वम्**=तू **तस्तुवं न असि**=उपक्षय को प्राप्त करानेवाला नहीं है। **तस्तुवेन**=इस तस्तुव ओषधि के प्रयोग से **विषम् अरसम्**=सर्प विष निःसार हो जाता है।

भावार्थ—ताबुव व तस्तुव ओषधि के प्रयोग से सर्प-विष निःसार हो जाता है।

विशेष—अपने को सर्प-विष आदि के भय से सुरक्षित करके अपने जीवन को शक्तिशाली बनानेवाला शुक्र अगले सूक्त का ऋषि है—

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वनस्पति

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत्सूकरस्त्वाखनन्नसा। दिप्सौषधे त्वं दिप्सन्तमव कृत्याकृतं जहि॥ १॥

१. हे **ओषधे**=शरीरस्थ दोष का दहन करनेवाली ओषधे! **सुपर्णः**=गरुड़ **त्वा**=तुझे **अनु अविन्दत्**=खोजकर पानेवाला होता है। **सूकरः**=सूअर **त्वा**=तुझे **नसा अखनत्**=अपनी नासिका से खोदनेवाला होता है। २. हे **ओषधे**=ओषधे! **त्वम्**=तू **दिप्सन्तम्**=हमें नष्ट करने की इच्छावाले को **दिप्स**=नष्ट करनेवाली हो। **कृत्याकृतं अवजहि**=हमारा छेदन करनेवाली व्याधि को सुदूर विनष्ट कर।

भावार्थ—भूमि से खोदकर प्राप्त की जानेवाली यह ओषधि हमारे रोग का विनाश करती है। यह शक्तियों का छेदन करनेवाली व्याधि को दूर करती है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यातुधान व कृत्याकृत् का अवहनन

अव॑ जहि यातु॒धाना॒नव॑ कृत्या॒कृतं॑ जहि।
अथो॒ यो अ॒स्मान्दिप्स॑ति॒ तमु॒ त्वं ज॑ह्योषधे॥ २॥

१. हे **ओषधे**=दोषों का दहन करनेवाली ओषधे! **यातुधानान् अवजहि**=पीड़ा का आधान करनेवाले रोगों को तू सुदूर विनष्ट कर। **कृत्याकृतम् अवजहि**=हमारी शक्तियों का छेदन करनेवाले रोग को दूर भगा दे। २. **अथ उ**=अब निश्चय से **यः**=जो भी रोग **अस्मान् दिप्सति**=हमें विनष्ट करना चाहता है, हे ओषधे! **तम्**=उसे **उ**=निश्चय से **त्वम् जहि**=तू विनष्ट कर दे।

भावार्थ—यह ओषधि पीड़ा के जनक, शक्तियों के छेदक, विनाशक रोग को नष्ट करती है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

वन्य पशु के समान ध्वंसक का वशीकरण

रिश्य॑स्येव परीशा॒सं प॑रि॒कृत्य॒ परि॒ त्वचः॑।
कृ॒त्यां कृ॑त्या॒कृते॑ देवा नि॒ष्कमि॑व॒ प्रति॑ मुञ्चत॥ ३॥

१. हे **देवाः**=विद्वानो! **त्वचः परि**=त्वचा को चारों ओर से **परिकृत्य**=छिन्न करके **रिश्यस्य**=एक वन्य पशु के (मृगविशेष के) **परीशासं इव**=पूर्ण वशीकरण के समान **कृत्याम्**=एक दुष्ट पुरुष से किये गये छेदन-प्रयोग को **कृत्याकृते**=इस छेदन करनेवाले के लिए ही **निष्कम् इव**=स्वर्णहार के समान **प्रतिमुञ्चत**=धारण कराओ। २. एक दुष्ट पुरुष हमारा विनाश करने के लिए कुछ प्रयोग करता है। उसके प्रति हमारा व्यवहार ऐसा हो कि वह विनाश-क्रिया उस विनाशक के ही गले का स्वर्णहार बने। हम उस कृत्या से प्रभावित न हों। बुद्धिपूर्वक व्यवहार करते हुए इन छेदन-भेदन के प्रयोगों से हम अपने को सुरक्षित रक्खें।

भावार्थ—जैसे एक मृग को वश मे किया जाता है, उसी प्रकार ध्वंसक पुरुष को वश में करके हम उससे की जानेवाली कृत्या को उसी के लिए लौटानेवाले बनें।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कृत्याकृत् को उचित दण्ड

पुनः॑ कृ॒त्यां कृ॑त्या॒कृते॑ हस्त॒गृह्य॒ परा॑ णय।
स॒म॒क्षम॑स्मा॒ आ धे॑हि॒ यथा॑ कृत्या॒कृतं॒ हन॑त्॥ ४॥

१. **कृत्याम्**=कृत्या को छेदन-भेदन के प्रयोग को **हस्तगृह्य**=हाथ में ग्रहण करके, अर्थात्

कृत्या का प्रयोग करनेवाले को प्रयोग के समय ही पकड़कर (having caught him red-handed) **कृत्याकृते**=इस कृत्या को करनेवाले के लिए **पुनः परा नय**=फिर वापस करा। २. इस कृत्या को **अस्मै समक्षम् आधेहि**=इसके सामने स्थापित करनेवाला हो, **यथा**=जिससे यह कृत्या **कृत्याकृतं हनत्**=उस कृत्या करनेवाले को ही विनष्ट करे। ऐसा किया जाए कि कृत्या के दुष्परिणामों को देखकर वह कृत्याकारी आगे से उस पाप को न करने का निश्चय करे।

भावार्थ—छेदन-भेदन करनेवाने को अपराध करते समय ही पकड़कर इसप्रकार व्यवहृत किया जाए कि वे इन प्रयोगों के दुष्परिणामों को देखकर इन्हें फिर से न करने का निश्चय करे।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

सुखो रथः

कृत्याः सन्तु कृत्याकृते शपथः शपथीयते।
सुखो रथइव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ ५ ॥

१. **कृत्याः**=मारक साधन **कृत्याकृते सन्तु**=हिंसक के लिए ही हों—ये कृत्याएँ उन हिंसकों पर ही लौट जाएँ। **शपथः शपथीयते**=गलियाँ गाली देनेवाले के पास लौट जाएँ। २. हम न इन कृत्याओं से प्रभावित हों और न ही इन शपथों से अपने मानस-सन्तुलन को खोएँ। **सुखः रथः इव**=(सु+ख) उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला यह शरीर-रथ की भाँति **वर्तताम्**=हो। यह मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़े। **कृत्या**=हिंसन की क्रिया **पुनः**=फिर **कृत्याकृतम्**=इस छेदन क्रिया के करनेवाले को प्राप्त हो।

भावार्थ—हम दुर्जनों की कृत्याओं व शपथों से प्रभावित न होते हुए उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले शरीर-रथ से निरन्तर आगे बढ़ें।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अश्वम् इव अश्वाभिधान्या

यदि स्त्री यदि वा पुमान्कृत्यां चकार पाप्मने।
तामु तस्मै नयामस्यश्वमिवाश्वाभिधान्या ॥ ६ ॥

१. **यदि**=यदि **स्त्री**=कोई स्त्री **यदि वा**=अथवा **पुमान्**=पुरुष **पाप्मने**=पाप के लिए—अशुभ के लिए **कृत्यां चकार**=हिंसक प्रयोग करता है तो **ताम्**=उस हिंसक प्रयोग को **उ**=निश्चय से **तस्मै नयामसि**=उस कृत्याकृत् के लिए ही प्राप्त कराते है, उसी प्रकार **इव**=जैसेकि **अश्वाभिधान्या**=घोड़े को बाँधनेवाली रज्जु से **अश्वम्**=अश्व को पुनः उसके स्थान पर पहुँचाया जाता है। २. हम कृत्याकृत् से किसी प्रकार का बदला लेने की भावना से कोई कार्य न करें। कृत्या को कृत्याकृत् के सामने इसलिए उपस्थित करें, जिससे कि वह उसकी अकरणीयता को समझ ले।

भावार्थ—कृत्या करनेवाला चाहे स्त्री हो या पुरुष, इस कृत्या को पुनः उसी के पास पहुँचाया जाए।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्रेण सयुजा वयम्

यदि वासि देवकृता यदि वा पुरुषैः कृता।
तां त्वा पुनर्णयामसीन्द्रेण सयुजा वयम् ॥ ७ ॥

१. **यदि वा देवकृता असि**=यदि कोई विपत्ति देवकृत है, अर्थात् अतिवृष्टि व अनावृष्टि

आदि के कारण कृषि आदि न होने का कष्ट आया है, **यदि वा**=अथवा यदि कोई कष्ट **पुरुषैः कृता**=पुरुषों से किया गया है, **तां त्वा**=उस तुझ आधिदैविक व आधिभौतिक कष्ट को **इन्द्रेण सयुजा वयम्**=प्रभु के साथ मिलकर अथवा राजा के साथ मिलकर हम **पुनः नयामसि**=फिर दूर ले-जाते हैं। २. प्रभु की उपासना करते हुए हम अपने को आधिदैविक व आधिभौतिक कष्टों से बचाने में समर्थ हों। इसीप्रकार राजा की सहायता से—राजा को पूर्ण सहयोग देते हुए हम इन कष्टों को दूर करने के लिए यत्नशील हों।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण के साथ राष्ट्र में राजा को पूर्ण सहयोग देते हुए हम आधिदैविक व आधिभौतिक कष्टों को दूर करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराडनुष्टुप्** ॥

प्रतिहरणेन

अग्ने पृतनाषाट् पृतनाः सहस्व।
पुनः कृत्यां कृत्याकृते प्रतिहरणेन हरामसि ॥ ८ ॥

१. हे **अग्ने**=राष्ट्र को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले राजन्! आप **पृतनाषाट्**=शत्रु-सैन्यों का पराभव करनेवाले हैं, **पृतनाः सहस्व**=इन शत्रु-सैन्यों का पराभव कीजिए। २. **कृत्याम्**=छेदन-भेदन की क्रिया को **कृत्याकृते**=इस छेदन क्रिया करनेवाले के लिए **पुनः**=फिर **प्रतिहरणेन**=वापस लौटाने के द्वारा **हरामसि**=विनष्ट करते हैं। कृत्या जब इस कृत्याकृत् को प्राप्त होती है तब उसे इसकी हानि का प्रत्यक्ष अनुभव होता है और वह इसे न करने का निश्चय करता है। इसप्रकार कृत्या का विनाश हो जाता है।

भावार्थ—राजा सैन्यों के द्वारा आक्रान्ता शत्रु-सैन्यों का पराभव करता हुआ उन्हें पुनः छेदन-भेदन करने की क्रिया से रोकता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रक्षणात्मक न कि आक्रमणात्मक

कृतव्यधनि विध्य तं यश्चकार तमिज्जहि।
न त्वामचक्रुषे वयं वधाय सं शिशीमहि ॥ ९ ॥

१. **कृतव्यधनि**=(कृतानि व्यधनानि यया) जिसने शत्रु-विनाश के लिए आयुध तैयार किये हुए हैं, ऐसी सेने! **यः चकार**=जो राष्ट्र पर आक्रमण करता है, **तम्**=उसे तू **विध्य**=अपने अस्त्रों से विद्ध कर। **इत्**=उसे ही **जहि**=विनष्ट कर। २. **अचक्रुषे**=आक्रमण न करनेवाले के लिए **वयम्**=हम **त्वाम्**=तुझे **वधाय**=वध के लिए **न संशिशीमहि**=नहीं उत्तेजित करते—तीक्ष्ण नहीं बनाते।

भावार्थ—हम सेनाओं द्वारा आक्रान्ता के आक्रमणो को रोकने के लिए ही यत्नशील हों, अनाक्रमकों पर स्वयं आक्रमण न करने लगें।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥

अभिष्ठितः स्वजः इव

पुत्रइव पितरं गच्छ स्वजइवाभिष्ठितो दश।
बन्धमिवावक्रामी गच्छ कृत्ये कृत्याकृतं पुनः ॥ १० ॥

१. हे **कृत्ये**=छेदन-भेदन की क्रिये! तू **कृत्याकृतं पुनः गच्छ**=कृत्या करनेवाले को पुनः

इसप्रकार प्राप्त हो **इव**=जैसेकि **पुत्रः पितरम्**=पुत्र पिता की ओर जाता है। हे कृत्ये! तू कृत्याकृत् की ओर **गच्छ**=जा। तू इस कृत्याकृत् को इसप्रकार **दश**=डसनेवाली हो, **इव**=जैसेकि **अभिष्ठितः**=पाँव से आक्रान्त **स्वजः**=लिपट जानेवाला सर्प डसता है (ष्वञ्ज)। २. हे कृत्ये! तू इसप्रकार कृत्याकृत् के पास पुनः **गच्छ**=जा, **इव**=जैसे **बन्धम् अवक्रामी**=बन्धन को (उल्लंघ्य प्रतिगामी) तोड़कर जानेवाला इष्ट स्थान पर जाता है।

भावार्थ—पुत्र पिता को प्राप्त होता ही है, पादाक्रान्त सर्प काटता ही है, बन्धन को तुड़ाकर प्राणी इष्ट स्थान की ओर जाता ही है, इसीप्रकार कृत्या कृत्याकृत् को प्राप्त होती ही है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदासाम्नीत्रिष्टुप्** ॥

एणी इव, वारणी इव, मृगी इव

उदेणीव वारण्य भिस्कन्दं मृगीव। कृत्या कर्तारमृच्छतु॥ ११॥

१. **कृत्या**=छेदन-भेदन की क्रिया **कर्तारम् उदऋच्छतु**=इस कृत्याकृत् को इसप्रकार प्राप्त हो **इव**=जैसेकि **एणी**=एक मृगी आक्रान्ता पर झपटती है, **वारणी**=हथिनी जैसे **अभिस्कन्दम्**=आक्रान्ता पर आक्रमण करती है, अथवा **इव**=जैसे **मृगी**=एक वन्य व्याघ्री (हिंस्र जन्तु) शिकारी पर झपट्टा मारती है।

भावार्थ—कृत्या कृत्याकृत् पर ही आक्रमण करे। उसे ही यह विनष्ट करनेवाली हो।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

इष्वा ऋजीयः (पततु)

इष्वा ऋजीयः पततु द्यावापृथिवी तं प्रति।
सा तं मृगमिव गृह्णातु कृत्या कृत्याकृतं पुनः॥ १२॥

१. हे **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक! आपके अन्दर रहनेवाले **तं प्रति**=उस व्यक्ति के प्रति **कृत्या**=यह छेदन-भेदन की क्रिया **इष्वाः**=बाण से भी **ऋजीयः**=अधिक सरल रेखा में, अर्थात् अतिशीघ्र **पततु**=जानेवाली हो, जो इस कृत्या को करनेवाला है। २. **सा**=वह **कृत्या तम्**=उस **कृत्याकृतम्**=कृत्याकृत् को **पुनः**=फिर इसप्रकार **गृह्णातु**=पकड़ ले **इव**=जैसेकि कोई शिकारी **मृगम्**=हिरन को पकड़ लेता है।

भावार्थ—कृत्या कृत्या करनेवाले का ही विनाश करती है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥

अग्निः इव, उदकम् इव

अग्निरिवैतु प्रतिकूलमनुकूलमिवोदकम्।
सुखो रथइव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः॥ १३॥

१. यह **कृत्या**=छेदन-भेदन की क्रिया **प्रतिकूलम्**=हमारे विरोधी को **अग्निः इव एतु**=अग्नि के समान प्राप्त हो—यह उसे जलानेवाली हो, परन्तु यही **कृत्या अनुकूलम्**=हमारे अनुकूल को **उदकम् इव**=पानी की भाँति प्राप्त हो—उसे यह विनष्ट न कर सके। २. **सुखः**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला यह शरीर **रथः इव**=जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए रथ के समान हो। **कृत्या**=विनाश की क्रिया **कृत्याकृतम्**=विनाशक को ही **पुनः**=फिर **वर्तताम्**=प्राप्त हो। यह उसी का विनाश करनेवाली बने।

भावार्थ—कृत्या प्रतिकूल व्यक्ति को अग्नि की भाँति प्राप्त हो, अनुकूल व्यक्तियों के लिए

यह जल के समान हो जाए। इन कृत्याओं से बचे रहकर हम अपने शरीर-रथ को उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला बनाएँ।

विशेष—सब प्रकार की हिंसा की भावनाओं को दूर करनेवाला पुरुष विश्वामित्र है। यही अगले दो सूक्तों का ऋषि है।

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मधुला ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ग्यारह

एका च मे दश च मेऽपवक्तार ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ १ ॥

१. इस सूक्त का देवता वनस्पति (वन=A ray of light) प्रकाश की किरणों की रक्षक वेदवाणी है। इसमें प्रभु हमारे लिए प्रकाश की किरणों को प्राप्त कराते है! यह दोषों का दहन करने के कारण ओषधि है। हे **ओषधे**=दोषदाहक शक्ति को धारण करनेवाली वेदवाणि! तू **ऋतजाते**=उस पूर्ण ऋतस्वरूप प्रभु से उत्पन्न हुई है, **ऋतावरि**=सत्यज्ञानवाली है, **मे मधुला**=मेरे लिए मधु को लानेवाली तू **मधु करः**=माधुर्य को करनेवाली है। २. हे वेदवाणि! **एका च मे दश च मे**=मेरी एक आत्मिक शक्ति तथा मेरी दसों इन्द्रियाँ **अपवक्तारः**=मुझसे सब बुराइयों को दूर करनेवाली हों। (Speaking away, warning off, preventing, averting)।

भावार्थ—वेदवाणी मेरे जीवन मे माधुर्य को उत्पन्न करे । मेरी आत्मशक्ति व दसों इन्द्रियाँ बुराई को मुझसे पृथक् करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मधुला ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

बाईस

द्वे च मे विंशतिश्च मेऽपवक्तार ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ २ ॥

१. **द्वे च मे विंशतिः च मे**=भौतिक जीवन में 'ऋत' (Regularity) तथा आध्यात्म-जीवन में सत्य और दसों प्राण व दसों इन्द्रियाँ मुझसे **अपवक्तारः**=सब दोषों को दूर करें, मेरे जीवन में दोषों को न आने दे। २. हे **ओषधे**=दोषदाहक शक्ति को धारण करनेवाली! **ऋतजातः**=पूर्ण सत्य प्रभु से उत्पन्न! **ऋतावरि**=सत्यज्ञानवाली वेदवाणि! तू **मधुला**=माधुर्य को लानेवाली है, **मे मधु करः**=मेरे जीवन को मधुर बना।

भावार्थ—वेदवाणी से मेरा जीवन मधुर बने। ऋत और सत्य तथा दसों इन्द्रियाँ व दसों प्राण मुझसे बुराई को दूर रक्खें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मधुला ओषधिः** ॥ छन्दः—**३ अनुष्टुप्; ४ पुरस्ताद्बृहती; ५, ७-९ भुरिगनुष्टुप्; ६, १० अनुष्टुप्** ॥

तेतीस से एकसौ दस तक

तिस्रश्च मे त्रिंशच्च मेऽपवक्तार ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ३ ॥

मे=मेरे **तिस्रः च**=तीन तथा **मे त्रिंशत् च**=मेरे तीस अर्थात् शरीरस्थ मेरे तेतीस देव **अपवक्तारः**=सब दोषों को रोकनेवाले हों—सब दोषों को मुझसे दूर करनेवाले हों। शेष पूर्ववत्।

चतस्रश्च मे चत्वारिंशच्च मेऽ पवक्तार ओषधे।
ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ ४॥
मेरे जीवन के चवालीस वर्ष मुझसे दोषों को पृथक् रखनेवाले हों। शेष पूर्ववत्।
पञ्च च मे पञ्चाशच्च मेऽ पवक्तार ओषधे।
ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ ५॥
मेरे जीनव के पचपन वर्ष मुझसे दोषों को पृथक् रखनेवाले हों। शेष पूर्ववत्।
षट् च मे षष्टिश्च मेऽ पवक्तार ओषधे।
ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ ६॥
मेरे जीवन के छियासठ वर्ष मुझसे दोषों को पृथक् रखनेवाले हों। शेष पूर्ववत्।
सप्त च मे सप्ततिश्च मेऽ पवक्तार ओषधे।
ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ ७॥
मेरे जीवन के सतत्तर वर्ष मुझसे दोषों को पृथक् रखनेवाले हों। शेष पूर्ववत्।
अष्ट च मेऽ शीतिश्च मेऽ पवक्तार ओषधे।
ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ ८॥
मेरे जीवन के अट्ठासी वर्ष मुझसे दोषों को पृथक् रखनेवाले हों। शेष पूर्ववत्।
नव च मे नवतिश्च मेऽ पवक्तार ओषधे।
ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ ९॥
मेरे जीवन के निन्यानवे वर्ष मुझसे दोषों को पृथक् रखनेवाले हों। शेष पूर्ववत्।
दश च मे शतं च मेऽ पवक्तार ओषधे।
ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ १०॥
मेरे जीवन के एक सौ दस वर्ष मुझसे दोषों को पृथक् रखनेवाले हों। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—जीवन में सदा ही दोषों के आजाने की सम्भावना बनी रहती है। मैं सदा वेदवाणी को अपनाते हुए दोषों को दूर रखने के लिए यत्नशील रहूँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**मधुला ओषधिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अपक्षय से दूर

शतं च मे सहस्रं चापवक्तार ओषधे।
ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ ११॥

१. **मे शतम् च**=मेरे जीवन के सौ वर्ष **च**=तथा **सहस्रम्**=हज़ारों वर्ष भी **अपवक्तारः**=बुराइयों व अपयश को मुझसे दूर रखनेवाले हों। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—यहाँ सहस्र के साथ 'मे' जोड़ना बहुत महत्त्वपूर्ण है। हज़ारों वर्ष तक जीना सामान्यतया सम्भव नहीं, परन्तु हज़ारों वर्ष तक भी मैं अपयश से बचा रहूँ। मेरी अपकीर्ति न हो।

विशेष—जीवन को मधुर बनाता हुआ यह सबके प्रति मधुर वाणी बोलता हुआ सबका मित्र बनता है, अतः विश्वामित्र कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**एकवृषः** ॥ छन्दः—**१,४-५ द्विपदासाम्न्युष्णिक्; २-३ द्विपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्**॥

एक से पाँच तक

यद्येकवृषोऽ सि सृजारसो ऽ सि॥ १॥
यदि द्विवृषोऽ सि सृजारसो ऽ सि॥ २॥
यदि त्रिवृषोऽ सि सृजारसो ऽ सि॥ ३॥
यदि चतुर्वृषोऽ सि सृजारसो ऽ सि॥ ४॥
यदि पञ्चवृषोऽ सि सृजारसो ऽ सि॥ ५॥

१. **यदि**=यदि तू **एकवृषः**=एक इन्द्रिय को शक्तिशाली बनानेवाला **असि**=है, तो **सृज**=अभी और शक्ति उत्पन्न कर। केवल एक इन्द्रिय को शक्तिशाली बना लेने पर **अरसः असि**=तू नीरस जीवनवाला ही है। एक इन्द्रिय के सशक्त हो जाने से जीवन रसमय नहीं बन जाता। २. इसीप्रकार **यदि द्विवृषः असि**=यदि तू दो इन्द्रियों को सशक्त बनानेवाला है, तो भी नीरस जीवनवाला ही है, अतः और अधिक शक्ति उत्पन्न कर। ३. **यदि त्रिवृषः असि**=यदि तू तीन इन्द्रियों को भी शक्तिशाली बना पाया है, तो भी और अधिक शक्ति उत्पन्न कर, क्योंकि अभी तेरा जीवन ठीक से सरस नहीं हो पाया है। ४. **यदि चतुर्वृषः असि**=जिह्वा, घ्राणेन्द्रिय, आँख व श्रोत्र—इन चारों को भी तूने शक्तिशाली बनाया है, तो भी और अधिक शक्ति उत्पन्न कर, क्योंकि अभी तू अ-रस ही है। ५. अब **यदि पञ्चवृषः असि**=यदि तू पाँच ज्ञानेन्द्रियों को भी शक्तिशाली बनानेवाला है, तो भी अभी और शक्ति उत्पन्न कर, क्योंकि अभी तू अ-रस ही है।

भावार्थ—पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के सशक्त होने पर भी कर्मेन्द्रियों की शक्ति के अभाव में जीवन सरस नहीं बन पाता।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**एकवृषः** ॥ छन्दः—**६ द्विपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्; ७-१० द्विपदासाम्न्युष्णिक्**॥

छह से दस तक

यदि षड्वृषोऽ सि सृजारसो ऽ सि॥ ६॥
यदि सप्तवृषोऽ सि सृजारसो ऽ सि॥ ७॥
यद्यष्टवृषोऽ सि सृजारसो ऽ सि॥ ८॥
यदि नववृषोऽ सि सृजारसो ऽ सि॥ ९॥
यदि दशवृषोऽ सि सृजारसो ऽ सि॥ १०॥

१. **यदि षड्वृषः असि**=यदि तूने पाँचों ज्ञानन्द्रियों के साथ एक छठी कर्मेन्दिय को भी सशक्त बनाया है, तो **सृज**=अभी और अधिक शक्ति उत्पन्न कर। इन छह के सशक्त हो जाने पर भी तू **अरसः असि**=अरस ही है, तेरा जीवन रसमय नहीं बन पाया है। २. यदि **सप्तवृषः असि**=यदि तू एक और कर्मेन्दिय को सशक्त बनाकर सात को सशक्त बना पाया है, तो भी तू और अधिक शक्ति उत्पन्न कर, क्योंकि अभी जीवन अरस ही है। ३. **यदि अष्टवृषः असि**=यदि तूने आठ इन्द्रियों को सशक्त बनाया है तो अभी और शक्ति उत्पन्न कर, क्योंकि

अभी तू सरस नहीं बना। ४. यदि **नववृषः असि**=यदि नौ इन्द्रियों को भी शक्तिशाली बनाया है तो भी तू अरस ही है, अभी और शक्ति उत्पन्न कर। ५. **यदि दशवृषः असि**=दसों इन्द्रियों को भी तूने शक्तिशाली बनाया है, तो भी और अधिक शक्ति उत्पन्न कर, क्योंकि अभी तू जीवन को सरस नहीं बना पाया है।

भावार्थ—पाँचों ज्ञानेन्द्रियों व पाँचों कर्मेन्द्रियों के सशक्त हो जाने पर भी जीवन में सरसता नहीं आती। अभी मन को भी सशक्त बनाना है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**एकवृष ओषधिः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽसुरीगायत्री** ॥

अपोदकः

यद्यैकादृशोऽ सि सोऽपोदको ऽसि॥ ११ ॥

१. **यदि एकदशः असि**=यदि तू ग्यारहवें मनवाला है, अर्थात् मन को तूने वश में किया है तो तू **अपोदकः असि**=(अपनद्धम् उदकं येन) अपोदक है—रेतःकणरूप जलों का शरीर में ही बाँधनेवाला है और वस्तुतः इन रेतःकणरूप जलों (आपः रेतो भूत्वा०) को शरीर में बाँधने पर ही जीवन रसमय बनता है। मन को वशीभूत कर लेने पर सब इन्द्रियाँ तो वशीभूत हो ही जाती हैं, ये इन्द्रियाँ विषयों की ओर न जाकर शक्तिशाली बनती हैं।

भावार्थ—मन को वशीभूत करने पर सब इन्द्रियाँ भी सशक्त बनती हैं। वैषयिक वृत्ति न होने पर शरीर में शक्ति की ऊर्ध्व गति होती है और जीवन आनन्दमय बनता है।

विशेष—यह अपोदक ही जीवन को नीरोग व निर्मल बनाकर 'मयोभू' बनता है—कल्याण को उत्पन्न करनेवाला। यही अगले तीन सूक्तों का ऋषि है।

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अकूपारः सलिलः मातरिश्वा

ते ऽवदन्प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽ कूपारः सलिलो मातरिश्वा।
वीडुहरास्तप उग्रं मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतस्य॥ १ ॥

१. जिस समय विषयों में क्रीड़ा करता हुआ पुरुष ब्रह्म को भूल जाता है, तब यह भूल जाना ब्रह्मविषयक किल्बिष या 'ब्रह्मकिल्बिष' कहलाता है। इस **ब्रह्मकिल्बिषे**=ब्रह्मविषयक पाप के होने पर **ते**=वे **प्रथमाः**=देवताओं में प्रथम स्थान रखनेवाले **अकूपारः**=(अकुत्सितपारः, दूरपारः, महागतिः) आदित्य **सलिलः**=जल तथा **मातरिश्वा**=वायु **अवदन्**=उस ब्रह्म का उपदेश करते हैं। इन्हें देखकर उस विषय-प्रवण मनुष्य को भी प्रभु का स्मरण हो आता है। सूर्य, जल और वायु उसे प्रभु की महिमा को कहते प्रतीत होते हैं। २. प्रभु के तीव्र तप से ऋत और सत्य भी उत्पन्न हुए। **ऋतस्य प्रथमजाः**=इस ऋत के मुख्य प्रादुर्भावरूप **उग्रं तपः**=अत्यन्त तेजस्वी, दीप्त, सूर्य **मयोभूः**=कल्याण देनेवाली वायु तथा **देवीः आपः**=दिव्य गुणवाले जल—ये सब **वीडुहराः**=बड़े तीव्र तेजवाले होते हैं। इनमें उस-उस तेज को स्थापित करनेवाले वे प्रभु ही तो हैं। इन सबमें उस प्रभु की ही तो महिमा दीखती है।

भावार्थ—सूर्य, जल व वायु प्रभु से उत्पादित ऋत के प्रथम प्रादुर्भाव हैं। इन सबमें प्रभु की महिमा दिखती है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हस्तगृह्या निनाय

सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय॥ २॥

१. जीव यद्यपि प्रभु को भूल जाता है तो भी प्रभु उसपर **अहृणीयमानः**=क्रोध नहीं करते (हृणीयते—to be Angry)। प्रभु **राजा**=शासक हैं, परन्तु **सोमः**=अत्यन्त सौम्य हैं, शान्त हैं। **प्रथमः**=वे अधिक-से-अधिक विस्तारवाले (सर्वव्यापक) हैं। प्रभु इस व्यक्ति के लिए **ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छत्**=वेदवाणीरूप पत्नी को फिर से प्राप्त कराते हैं। २. वे प्रभु **वरुणः**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाले, **मित्रः**=मृत्यु व पाप से बचानेवाले हैं। वे प्रभु रक्षा के लिए **अन्वर्तिता आसीत्**=हमारे पीछे-पीछे आनेवाले हैं। माता छोटे बच्चे के साथ-साथ चलती है, ताकि गिरने लगे तो वह उसे बचा ले। इसीप्रकार ये वरुण व मित्र प्रभु हमारे साथ-साथ चल रहे हैं। वे **होता**=सब साधनों के देनेवाले **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **हस्तगृह्य**=हाथ से पकड़कर **निनाय**=मार्ग पर ले-चलते हैं। माता जिस प्रकार बालक की अंगुली पकड़कर चलाती है, उसी प्रकार प्रभु इसे आश्रय देकर आगे ले-चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु शासक होते हुए भी क्रोध नहीं करते। वे प्रेरणा व आश्रय देकर हमें आगे ले-चलते हैं।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वाध्याय से कष्ट-निवारण

हस्तेनैव ग्राह्य ऽआधिरस्या ब्रह्मजायेति चेदवोचत्।
न दूताय प्रहेया तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य॥ ३॥

१. जिस समय एक आराधक इस वेदवाणी को यह **ब्रह्मजाया**=ब्रह्म का प्रकाश (प्रादुर्भाव) करनेवाली है, **इति चेत् अवोचत्**=इसप्रकार कहता है तब **अस्याः हस्तेन एव**=इस ब्रह्मजाया के हाथ से ही—आश्रय से ही **आधिः**=सब दुःख **ग्राह्य**=वश में करने योग्य होते हैं। ब्रह्मजाया का हाथ पकड़ते ही सब कष्ट दूर हो जाते हैं। २. **एषा**=यह वेदवाणी **दूताया प्रहेया**=दूत के लिए भेजने योग्य होती हुई **न तस्थे**=स्थित नहीं होती, अर्थात् इसे स्वयं न पढ़कर किसी और से इसका पाठ कराते रहने से पुण्य प्राप्त नहीं होता। **क्षत्रियस्य राष्ट्रं तथा गुपितम्**=एक क्षत्रिय राष्ट्र भी तो इसीप्रकार रक्षित होता है। दूसरों को शासन सौंपकर, स्वयं भोग-विलास में पड़े रहनेवाला राजा कभी राष्ट्र को सुरक्षित नहीं कर पाता।

भावार्थ—स्वाध्याय मनुष्य को स्वयं करना है। यह स्वाध्याय उसके सब कष्टों को दूर करेगा।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तारका-विकेशी

यामाहुस्तारकैषा विकेशीति दुच्छुनां ग्राममवपद्यमानाम्।
सा ब्रह्मजाया वि दुनोति राष्ट्रं यत्र प्रापादि शश उल्कुषीमान्॥ ४॥

याम्=जिस वेदवाणी को **आहुः**=कहते है कि **एषा तारका**=(तारका ज्योतिषि इति इत्वाभाव) यह तारनेवाली है, **विकेशी इति**=यह निश्चत से विशिष्ट प्रकाश की किरणोंवाली है, **दुच्छुनाम्**=दुःखों व दुर्गति के **ग्रामम्**=समूह को **अवपद्यमानाम्**=हमसे दूर करनेवाली है। **सा ब्रह्मजाया**=वह प्रभु

से प्रादुर्भूत हुई वेदवाणी **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **विदुनोति**=सन्ताप-शून्य करती है। २. यह उस राष्ट्र को सन्ताप-शून्य करती है **यत्र**=जहाँ कि **उल्कुषीमान्**=(उल्कुषी=fire) मशाल को हाथ में लिये हुए **शशः**=प्लुतगतिवाला—खूब क्रियाशील पुरुष **प्रापादि**=प्रकृष्ट गतिवाला होता है। यह ज्ञान के प्रकाश को सर्वत्र फैलाता हुआ लोगों को उत्साहित करता है और इसप्रकार राष्ट्र को जागरित करनेवाला होता है।

भावार्थ—वेदवाणी हमें तारनेवाली है, विशिष्ट प्रकार की रश्मियों को प्राप्त करानेवाली है। दुःखों को दूर करनेवाली है। यह देववाणी उस राष्ट्र को सन्ताप-शून्य करती है, जहाँ उत्साही पुरुष इसके सन्देश को राष्ट्र में सर्वत्र सुनाते हैं।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्मचर्य व गृहस्थ

ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः ॥ ५ ॥

१. **ब्रह्मचारी**=ज्ञान में विचरण करनेवाला यह ब्रह्मचारी **विषः**=(विष् व्याप्तौ) व्यापक विज्ञानों को **वेविषत्**=व्याप्त करता हुआ **चरति**=गति करता है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए **सः**=वह **देवानाम्**=देवों का **एकं अङ्गं भवति**=एक अङ्ग हो जाता है। देवों का अङ्ग बन जाना, अर्थात् उनके प्रति अपने को गौण कर देता है। यह माता, पिता व आचार्य आदि देवों के कहने के अनुसार चलता है। उनकी आज्ञा में चलता हुआ उत्कृष्ट ज्ञानी बनता हैं। २. **तेन**=उस—देवों का अङ्ग बनने से यह **जायाम्**=ब्रह्मजाया को—वेदवाणी को **अन्वविन्दत्**=प्राप्त करता है। वेदवाणी को प्राप्त करने के कारण ही यह **बृहस्पतिः**=(बृहत्याः पतिः) बृहती वेदवाणी का पति बनता है। यह उस ब्रह्मजाया को प्राप्त करता है, जो **सोमेन नीताम्**=(स उमा) ब्रह्मविद्या से युक्त सौम्य स्वभाववाले आचार्य से प्राप्त कराई गई है। उसी प्रकार प्राप्त कराई गई है **न**=जैसेकि **देवाः**=देव **जुह्वम्**=यज्ञ चमस् को प्राप्त कराते हैं। देव जैसे यज्ञों की प्रेरणा देते हुए हाथों में चम्मच का ग्रहण कराते हैं उसी प्रकार सोम ब्रह्मजाया को प्राप्त कराके ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-प्रवण करते हैं। ३. प्रस्तुत मन्त्र में प्रसंगवश ब्रह्मचर्य व गृहस्थाश्रम का सुन्दर संकेत हुआ है। ब्रह्मचारी माता आदि देवों की अधीनता में चलता हुआ ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त करके, बृहस्पति बनकर यह गृहस्थ बनता है। यहाँ यह वेद के स्वाध्याय के साथ यज्ञशील बनता है।

भावार्थ—हम ब्रह्मचर्याश्रम में खूब ज्ञान प्राप्त करें और गृहस्थ में यज्ञशील हों।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वेदवाणी के निरादर का परिणाम

देवा वा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसा ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्यो [मन्॥ ६ ॥

१. **एतस्याम्**=गतमन्त्र में वर्णित इस ब्रह्मजाया के विषय में **पूर्वे देवाः**=पालन व पूरण करनेवाले देववृत्ति के व्यक्ति **वा**=निश्चय से **अवदन्त**=ज्ञान देनेवाले होते हैं। शरीर में स्थित **सप्तऋषयः**=कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्—दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुखरूप सात ऋषि **ये**=जोकि **तपसा निषेदुः**=तपस्या के साथ निषण्ण होते हैं, अर्थात् जो विषय-प्रवण नहीं होते, वे इस वेदवाणी के विषय में बात करते हैं। माता-पिता व ज्ञानी आचार्य देव हैं, हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ सप्तऋषि हैं। ये मिलकर ब्रह्मजाया—वेदवाणी के विषय में चर्चा करते हैं, अर्थात्

ब्रह्मचर्य में तो यह ज्ञानचर्चा होती ही है, गृहस्थ में भी यह वेदवाणी की चर्चा समाप्त नहीं हो जाती। २. **ब्राह्मणस्य**=उस ज्ञानी प्रभु की **अपनीता**=दूर की हुई यह **जाया**=पत्नीरूप वेदवाणी **भीमा**=भयंकर होती है। जिस घर में से इसका अपनयन (दूरीकरण) हो जाता है, तो वहाँ **परमे व्योमन्**=उस घर के व्यक्तियों के हृदय-आकाश में यह (परमव्योम=हृदय) **दुर्धां दधाति**=बुराइयों को स्थापित करती है। स्वाध्याय के अभाव में हृदय में अशुभ विचार ही उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—माता-पिता व आचार्य आदि देव तथा हमारे शरीरस्थ आँख, कान, मुख आदि सप्तर्षि वेदवाणी का ही चर्वण करें। यह देववाणी ब्रह्मजाया है, जिस घर में इसका निरादर होता है, वहाँ लोगों के हृदयाकाश अशुभ व मलिन विचारों के धूम से आकुल हो जाते हैं।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तीन दुष्परिणाम

ये गर्भा॑ अवप॒द्यन्ते॒ जग॒द्यच्चा॑पलु॒प्यते॑।
वी॒रा ये तृ॒ह्यन्ते॒ मि॒थो ब्र॑ह्मजा॒या हि॑नस्ति॒ तान्॥ ७॥

१. **ये गर्भाः अवपद्यन्ते**=जो गर्भ गिराये जाते हैं, **यत् च**=और जो **जगत् अपलुप्यते**=संसार लूटा जाता है अथवा **ये वीराः**=जो वीर **मिथः**=आपस में **तृह्यन्ते**=हिंसित किये जाते हैं, युद्धों में एक-दूसरे से काटे जाते हैं, **तान्**=उन्हें **ब्रह्मजाया**=वेदवाणी ही निरादृत होने पर **हिनस्ति**=नष्ट करती है। २. जब वेदवाणी का स्वाध्याय नहीं रहता तब लोगों के जीवन संयमी नहीं रहते। भोगविलास में पड़े ये गृहस्थी अधिक सन्तानों के पालन के भय से भीत हुए-हुए गर्भ गिरने को ही श्रेयस्कर समझते हैं, चोरियाँ और डाके बढ़ जाते है तथा वीर लोग भी युद्धों में परस्पर लड़कर मारे जाते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी के स्वाध्याय के अभाव में लोगों की प्रवृत्ति गर्भों को गिराने, लूटमार करने व परस्पर लड़ने की हो जाती है। यही तो अधःपतन है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदवाणी का रक्षक 'ब्रह्मा'

उ॒त यत्पत॑यो॒ दश॑ स्त्रि॒याः पूर्वे॒ अब्रा॑ह्मणाः।
ब्र॒ह्मा चेद्धस्त॒मग्र॑हीत्स ए॒व पति॑रेक॒धा॥ ८॥

१. **उत**=चाहे **स्त्रियाः**=(स्त्यै शब्दे) इस शब्दात्मक वेदवाणीरूप ब्रह्मजाया के **यत्**=जो **पूर्वे**=पहले **दश**=दस भी **अब्राह्मणाः**=अज्ञानी **पतयः**=रक्षक हों, **चेत्**=यदि **ब्रह्मा**=ज्ञानी **हस्तम् अग्रहीत्**=इस वेदवाणी के हाथ को ग्रहण करता है तो **सः एव**=वही **एकधा**=मुख्यरूप से **पतिः**=इसका रक्षक है। २. वेदवाणी के दस भी रक्षक यदि वे ज्ञानी नहीं है, तो इसका रक्षण इसप्रकार से नहीं कर सकते, जैसेकि एक ज्ञानी इसकी रक्षा करता है। वे अज्ञानी प्रथम तो इसका अध्ययन न करके इसपर पत्र-पुष्प ही चढ़ाते रहेंगे। पढेंगे भी तो ऊटपटाँग अर्थ कर बैठेंगे, अतः वेदवाणी का रक्षक तो वस्तुतः ज्ञानी ही है। अल्पश्रुत (अब्राह्मण)से तो यह वेदवाणी डरती ही है। '**बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।**'

भावार्थ—वेदवाणी का रक्षण यही है कि हम ज्ञानी बनकर समझदारी से इसका अध्ययन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मण का सर्वमहान् कर्त्तव्य

ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो३ न वैश्यः।
तत्सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः॥ ९॥

१. वेदवाणी का **पतिः**=रक्षक **ब्राह्मणः एव**=ब्राह्मण ही है—वही व्यक्ति जिसका मुख्य कार्य वेदाध्ययन ही है, **न राजन्यः**=न तो प्रजा के रञ्जन में प्रवृत्त क्षत्रिय, **न वैश्यः**=न धन-धान्य की प्राप्ति के लिए देश-देशान्तर में प्रवेश करनेवाला वैश्य। क्षत्रिय या वैश्य के पास कार्यान्तर व्यापृति के कारण उतना अवकाश नहीं कि वेद का ही रक्षण करते रहें। ब्राह्मण को और कोई कार्य नहीं, अतः वह इस रक्षण-कार्य को ही करे। ब्रह्म—वेद को अपनाकर ही तो वह ब्राह्मण बनेगा। २. **सूर्यः**=सूर्यसम ज्योति ब्रह्म (प्रभु) **तत्**=ऊपर कही गई बात को **पञ्चभ्यः मानवेभ्यः**=पाँच भागों में बटे हुए (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अतिशूद्र—'निषाद') मनुष्यों के लिए **प्रब्रुवन् एति**=कहते हुए गति करते हैं—सर्वत्र व्याप्त हैं। ३. यहाँ सूर्य का अर्थ सूर्य ही लें तो अर्थ इसप्रकार होगा कि सूर्य पाँचों मनुष्यों के लिए उस बात को कहता हुआ गति करता है, अर्थात् यह बात अत्यन्त स्पष्ट है 'As clear as day light.'

भावार्थ—क्षत्रिय राजकार्य में व्यापृत होने से, वैश्य व्यापार में लगे होने से वेदवाणी का रक्षण उस प्रकार नहीं कर सकता जैसाकि एक ब्राह्मण। ब्राह्मण को तो इस ब्रह्म (वेद) को ही जीवन में सुरक्षित करने के लिए यत्नशील होना चाहिए।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देव, मनुष्य, राजा

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या [अददुः]।
राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः॥ १०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार **देवाः**=देववृत्ति के वे ब्राह्मण, जो ब्रह्मजाया के रक्षक थे, वे **पुनः**=फिर गृहस्थ की समाप्ति पर **वै**=निश्चय से **अददुः**=औरों के लिए इसका ज्ञान देनेवाले होते हैं। **उत मनुष्याः**=और ये विचारशील लोग **पुनः अददुः**=फिर इस वेदवाणी को देते हैं। वानप्रस्थ बनकर औरों के लिए इसे प्राप्त कराते हैं। २. **राजानः**=अपने जीवन को बड़ा व्यवस्थित (Well- regulated) करते हुए **सत्यं गृह्णानाः**=सत्य का स्वीकार करते हुए **पुनः**=फिर गृहस्थ की समाप्ति पर **ब्रह्मजायां ददुः**=इस ब्रह्मजाया को—प्रभु से प्रादुर्भूत की गई वेदवाणी को लोगों के लिए देते हैं।

भावार्थ—देव, मनुष्य व राजा बनकर—देववृत्ति के बनकर, विचारशील व व्यवस्थित जीवनवाले बनकर हम वानप्रस्थ बनें और इस वेदज्ञान को औरों के लिए देनेवाले हों।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आदर्श संन्यासी

पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम्।
ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वोरुगायमुपासते॥ ११॥

१. वानप्रस्थ में **ब्रह्मजायाम्**=प्रभु से प्रादुर्भूत की गई वेदवाणी को **पुनः दाय**=फिर से औरों के लिए देकर तथा **देवैः**=दिव्यगुणों के धारण से **निकिल्बिषं कृत्वा**=अपने जीवन को पाप-रहित करके **पृथिव्याः**=इस पृथिवीरूपी शरीर के **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति का **भक्त्वा**=सेवन

करके **उरुगायम्**=खूब ही गायन के योग्य प्रभु का **उपासते**=उपासन करते हैं। २. आदर्श संन्यासी का कर्त्तव्य है कि वह (क) अपने जीवन को दिव्य, पापशून्य बनाये, (ख) शरीर को स्वस्थ व सबल रक्खे (ग) शक्ति की स्थिरता के लिए प्रभु का उपासन करे।

भावार्थ—हम देव बनें, पापों से दूर रहें, शरीर को स्वस्थ व सबल बनाएँ, प्रभु का उपासन करें। यही सच्चा संन्यास है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदत्याग व पाप-प्रसार

नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमा शये।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १२॥
न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन्वेश्मनि जायते।
यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १३॥

१. **यस्मिन् राष्ट्रे**=जिस राष्ट्र में **अचित्या**=नासमझी के कारण **ब्रह्मजाया**=प्रभु से प्रादुर्भूत की गई (ब्रह्मणः जायते) यह वेदवाणी **निरुध्यते**=रोकी जाती है, अर्थात् जहाँ वेदज्ञान का प्रचार नहीं होता, वहाँ **अस्य**=इस ब्रह्मजाया का निरोध करनेवाले पुरुष की **जाया**=पत्नी जो **शतवाही**=घर के सैकड़ों कार्यों को करनेवाली व **कल्याणी**=मङ्गल-साधिका होनी चाहिए थी, वह **न तल्पम् आश्ये**=अपने बिछौने पर नहीं सोती, अर्थात् वह सती न रहकर स्वैरिणी बन जाती है, तब शतवाहीत्व और कल्याणीत्व का तो प्रसङ्ग ही नहीं रहता। २. इसीप्रकार जिस घर में वेदाध्ययन की परिपाटी नहीं रहती **तस्मिन् वेश्मनि**=उस घर में **विकर्णः**=विशिष्ट श्रोत्रशक्तिवाला—शास्त्रों का खूब ही श्रवण करनेवाला **पृथुशिराः**=विशाल मस्तिष्कवाला सन्तान **न जायते**=उत्पन्न नहीं होता। माता-पिता जब अध्ययन ही नहीं करेंगे तब सन्तान ज्ञान की रुचिवाले कैसे होंगे?

भावार्थ—जिन घरों में वेदाध्ययन की परिपाटी नहीं रहती, वहाँ स्त्रियों का आचरण ठीक नहीं रहता और सन्तान पठन की रुचिवाले नहीं होते, निर्बल-मस्तिष्क सन्तान उत्पन्न होते हैं।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदत्याग व मूर्ख अनादृत राजा

नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः।
यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १४॥
नास्य श्वेतः कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते।
यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १५॥

१. **यस्मिन् राष्ट्रे**=जिस राष्ट्र में **अचित्या**=नासमझी से **ब्रह्मजाया**=प्रभु से प्रादुर्भूत की गई यह वेदवाणी **निरुध्यते**=निरुद्ध की जाती है, अर्थात् जहाँ ज्ञान के प्रसार पर बल नहीं दिया जाता, वहाँ **अस्य**=इस राष्ट्र-रथ का **क्षत्ता**=सारथि **निष्कग्रीवः**=सुवर्णवत् दीप्त ज्ञान के कण्ठहारवाला **सूनानाम्**=ज्ञान-रश्मियों के (सूना=A ray of light) **अग्रतः न ऐति**=आगे नहीं चलता, अर्थात् ज्ञान का प्रसार न होने पर राष्ट्र का सारथि भी ज्ञानी नहीं रहता और मूर्ख राजा राष्ट्र-रथ को लक्ष्य से दूर ले-जाता है। २. इसीप्रकार जिस राष्ट्र में नासमझी से वेदवाणी के प्रसार का निरोध होता है, **अस्य**=इस राष्ट्र का **श्वेतः**=श्वेत, अर्थात् शुद्ध आचरणवाला **कृष्णकर्णः**=आकृष्ट किये हैं कर्ण जिसने, अर्थात् जिसकी आज्ञा को प्रजा सुनती है, **धुरियुक्तः**=राष्ट्र-शकट के

जुए में जुता हुआ राजा **न महीयते**=उत्तम महिमा को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् इस राष्ट्र में राजा भी मलिन कर्मोंवाला तथा प्रजा से उपेक्षित व अनादृत होता है।

भावार्थ—ज्ञान के प्रचार के अभाव में राष्ट्र में राजा भी ज्ञानी नहीं रहता और अन्ततः मलिन कर्मोंवाला व प्रजा से उपेक्षित व अनादृत हो जाता है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मद्यशाला नकि पुष्करिणी

नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिसम्।
यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १६॥
नास्मै पृश्निं वि दुहन्ति येऽस्या दोहमुपासते।
यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १७॥

१. **यस्मिन् राष्ट्रे**=जिस राष्ट्र में **अचित्या**=नासमझी के कारण **ब्रह्मजाया निरुध्यते**=प्रभु से प्रादुर्भूत की गई यह वेदवाणी रोकी जाती है, **अस्य क्षेत्रे**=इस राष्ट्र के खेतों में **पुष्करिणी**=कमलोंवाले तलाब **न जायते**=नहीं होते तथा **आण्डीकं बिसम्**=बीजों से युक्त भिस व कमलकन्द नहीं होते, अर्थात् इस राष्ट्र में कमल आदि का उत्पादन न होकर तम्बाकू आदि की खेती होने लगती है। २. इसीप्रकार जिस राष्ट्र में वेदज्ञान के प्रसार की व्यवस्था नहीं होती, उस राष्ट्र के राजा के लिए **पृश्निं न विदुहन्ति**=इस वेदवाणी का—ज्ञान-रश्मियों के सम्पर्कवाले ग्रन्थों का दोहन वे लोग नहीं करते **ये**=जोकि **अस्याः**=इसके **दोहम्**=दुग्ध का **उपासते**=उपासन करते हैं, अर्थात् ज्ञानी पुरुष इस राजा को ज्ञान देने के लिए यत्नशील नहीं होते। राजा ज्ञान की रुचिवाला न होने से ज्ञान का पात्र ही नहीं रहता।

भावार्थ—जिस राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार नहीं होगा, वहाँ लोग पुष्करिणियों के निर्माण के स्थान में मद्यशालाओं का निर्माण करेंगे, कमलों का स्थान तम्बाकू ले-लेगा। राजा ज्ञानियों से घिरा हुआ होने के स्थान में खुशमदियों में घिरा हुआ होगा।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कुत्ता न कि धेनु

नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम्।
विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया॥ १८॥

१. **यत्र**=जिस राष्ट्र में **ब्राह्मणः**=ब्राह्मण भी **विजानिः**=(विगता जाया—ब्रह्मजाया यस्य) वेदवाणिरूपी ब्रह्मजाया से रहित होकर **रात्रिं पापया वसति**=रात्रि में कुकर्म से निवास करता है, अर्थात् असंयत जीवनवाला होकर पाप में चलता जाता है। **अस्य**=इस राष्ट्र की **धेनुः**=गाय **कल्याणी न**=लोककल्याण करनेवाली नहीं होती और **न**=नहीं **अनड्वान्**=बैल **धुरं सहते**=गाड़ी में जुए को धारण करनेवाला होता है, अर्थात् इस राष्ट्र में गोपालन ठीक से न होने के कारण गौ और बैल की नस्ल क्षीण हो जाती है। घरों में गौओं का स्थान कुत्तों को मिल जाता है। लोग भी कुत्तों की भाँति ही लड़ने की प्रवृतिवाले बन जाते हैं।

भावार्थ—जिस राष्ट्र में ब्राह्मण ज्ञानरुचि न रहकर असंयत आचरणवाले हो जाते हैं, वहाँ लोगों में गोपालन की रुचि न रहकर कुत्तों के पालन की प्रवृत्ति पनप उठती है।

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मण की अनाद्या गौ

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम्॥ १॥

१. प्रभुकृपा से राष्ट्र में ज्ञानी ब्राह्मणों की उत्पति होती है। इनके द्वारा राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार होता है। यदि कोई राजा शक्ति के गर्व में इनकी वाणी पर प्रतिबन्ध लगा देता है, तो वह राजा राष्ट्र का अकल्याण ही करता है। **ते देवाः**=वे सब देव—सब प्राकृतिक शक्तियाँ, हे **नृपते**=राजन्! **एताम्**=इस ब्राह्मणवाणी को **तुभ्यम्**=तेरे लिए **अददुः**=देते हैं, **न अत्तवे**=खा जाने के लिए नहीं। राष्ट्र में उत्पन्न हुए-हुए इन ब्राह्मणों की वाणी पर तुम प्रतिबन्ध लगा दो, यह ठीक नहीं। २. हे **राजन्य**=प्रकृति का रञ्जन करनेवाले राजन्! **ब्राह्मणस्य**=ब्राह्मण की **गाम्**=वाणी को तू **मा जिघत्सः**=खा जाने की कामना मत कर, यह **अनाद्याम्**=खा जाने योग्य नहीं है। तुझे इन ज्ञान की वाणी को सुनना चाहिए और उसके अनुसार ही राष्ट्र के पालन की व्यवस्था करनी चाहिए।

भावार्थ—प्रभु व सब देव राष्ट्र में ज्ञानी ब्राह्मणों को जन्म देने का अनुग्रह करते हैं। एक अत्याचारी राजा इन ब्राह्मणों की वाणी पर प्रतिबन्ध लगाने की सोचता है। उसे इस वाणी को अनाद्या समझना चाहिए और उसपर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अक्षद्रुग्ध राजन्य

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः।
स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा श्वः॥ २॥

१. **अक्षद्रुग्धः**=अपनी इन्द्रियों से ही जिघांसित—विषयासक्ति के कारण पाप की ओर ले-जाया गया **राजन्यः**=क्षत्रिय राजा **पापः**=पापमय जीवनवाला होता है। **आत्मपराजित**=वह अपने से ही पराजित हुआ-हुआ होता है, उसकी इन्द्रियाँ तथा मन ही उसे हरा देते हैं, वह इनका दास बन जाता है। २. नासमझी के कारण यह राष्ट्र के ज्ञानी ब्राह्मणों की वाणी पर प्रतिबन्ध लगाने की सोचता है, जिससे वे उसके उच्छृङ्खल जीवन पर कोई टीका-टिप्पणी न कर दें, परन्तु **सः**=वह पापी राजा **ब्राह्मणस्य गाम्**=इस ज्ञानी ब्राह्मण की वाणी को यदि **अद्यात्**=खाये तो वह निश्चय से यह समझ ले कि **अद्य जीवानि**=आज बेशक जी ले **न श्वः**=कल न जी पाएगा, अर्थात् इसका शीघ्र ही विनाश हो जाएगा।

भावार्थ—जो विलासी राजा ज्ञानी ब्राह्मणों की वाणी पर प्रतिबन्ध लगाता है, इस वाणी का ध्वंस करके वह देर तक जीवित नहीं रहता।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अघविषा पृदाकूः इव

आविष्टिताघविषा पृदाकूरिव चर्मणा। सा ब्राह्मणस्य राजन्य तृष्टैषा गौरनाद्या॥ ३॥

१. हे **राजन्य**=क्षत्रिय! **सा ब्राह्मणस्य गौः**=वह ब्राह्मण की वाणी **अनाद्या**=खाने योग्य नहीं है, इसपर प्रतिबन्ध लगाना ठीक नहीं है। **एषा**=यह ब्राह्मण की वाणी **चर्मणा आविष्टिता**=चमड़े से ढकी हुई **तृष्टा**=प्यास से व्याकुल **पृदाकूः इव**=सर्पिणी के समान **अघविषा**=भयंकर (कष्टप्रद)

विष से भरी होती है, इसे खानेवाला तो मरेगा ही।

भावार्थ—ब्राह्मण की वाणी पर प्रतिबन्ध लगाना विषैली सर्पिणी का विष खने के समान है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'क्षत्र व वर्चस्' का विनाश

निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोऽग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम्।
यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य॥ ४॥

१. **यः**=जो घमण्डी राजा **ब्राह्मणम्**=ब्रह्मज्ञानी को **अन्नं मन्यते**=(अद्यते) खा जाने योग्य मानता है और उसके ज्ञान-प्रसार-कार्य पर प्रतिबन्ध लगा देता है, **सः**=वह राजा इस कार्य को करता हुआ मानो **तैमातस्य विषस्य पिबति**=फनियर नाग के विष को ही पीता है। २. यह ब्रह्मप्रतिबन्धक राजा **वै**=निश्चय से **क्षत्रम्**=बल को **निः नयति**=बाहर फेंक देता है, अर्थात् इसका बल नष्ट हो जाता है। यह **वर्चः हन्ति**=अपनी प्राणशक्ति को नष्ट कर लेता है, परिणामतः रुग्ण शरीरवाला हो जाता है और **आरब्धः**=चारों (आ+रभ्) ओर से लगी हुई **अग्निः इव**=अग्नि के समान **सर्वं विदुनोति**=अपना सब-कुछ जला बैठता है, राष्ट्र को ही विनष्ट कर लेता है।

भावार्थ—ज्ञानप्रसार पर प्रतिबन्ध लगाना भयंकर विष को पीने के समान है। इससे राष्ट्र की शत्रुप्रतिरोधक शक्ति नष्ट हो जाती है, राष्ट्र के व्यक्तियों की प्राणशक्ति क्षीण हो जाती है, सारा राष्ट्र भस्म-सा हो जाता है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'धनकामः देवपीयुः' राजा

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात्।
सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम्॥ ५॥

१. **यः**=जो राजा **धनकामः**=केवल धन की कामनावाला हो जाता है और **देवपीयुः**=देवों को भी हिंसित करनेवाला होता है, वह **एनम्**=इस ब्राह्मण को **मृदुं मन्यमानः**=कोमल (निर्बल) मानता हुआ **हन्ति**=इसे विनष्ट करता है। यदि यह राजा **न चित्तात्**=नहीं समझता और अपने अत्याचार में लगा रहता है तो **इन्द्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **तस्य हृदये**=उसके हृदय में **अग्निं समिन्धे**=अग्नि को समिद्ध करते हैं—यह शोकाग्नि से सन्तप्त होता रहता है। २. **उभे नभसी**=दोनों द्यावापृथिवी **चरन्तं एनम्**=(अत्याचरन्तम्) अत्याचार करते हुए इस राजा को **द्विष्टः**=प्रीति नहीं करते, अर्थात् इसके राष्ट्र में आधिदैविक आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं—सूर्य अधिक तपने लगता है, पृथिवी प्रभूत अन्न उत्पन्न नहीं करती। ज्ञान के अभाव में लोगों की वृत्तियों के वैषयिक हो जाने से इन विपत्तियों का आना स्वाभाविक ही है। ऐसे राष्ट्रों में अतिवृष्टि आदि हुआ ही करती हैं।

भावार्थ—यदि राजा ब्राह्मण को मृदु मानकर उसपर अत्याचार करता है और उसके ज्ञान-प्रसार के कार्य पर प्रतिबन्ध लगता है तो अन्त में उसे शोकाग्नि में जलना पड़ता है। उसके राष्ट्र में आधिदैविक आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्नि, सोम, इन्द्र (पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक)

न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव।
सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः॥ ६॥

१. राजा को राष्ट्र में **ब्राह्मणः न हिंसितव्यः**=ज्ञानी का हिंसन नहीं करना चाहिए। यह ज्ञानी तो **प्रियतनोः अग्निः इव**=प्रिय शरीर की अग्नि के समान है, अर्थात् शरीर में अग्नि न रहे तो जैसे वह मृत हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी के न रहने पर तो राष्ट्र-शरीर मृत हो हो जाएगा। २. **सोमः**=शान्त प्रभु **ही**=निश्चय से **अस्य दायादः**=इसका बन्धु है और **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **अस्य अभिशस्तिपाः**=इसका हिंसा व निन्दा से रक्षक है। यह ब्राह्मण तो सोम व इन्द्र ही होता है—शान्त व शक्तिमान्। अथवा 'सोम' चन्द्रमा तथा 'इन्द्र' सूर्य के समान व्यवस्थित जीवनवाला होने से यह राष्ट्र में शन्ति और शक्ति का विस्तार करनेवाला होता है।

भावार्थ—राजा को ज्ञानी ब्राह्मण पर ज्ञान-प्रसार के कार्यों में प्रतिबन्धरूप अत्याचार नहीं करना चाहिए। यह ज्ञानी तो राष्ट्र शरीर में अग्नि के समान जीवन का संरक्षक होता है। यह राष्ट्र में सोम और इन्द्र (चन्द्र-सूर्य) के समान शान्ति व शक्ति का विस्तारक होता है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ज्ञान-प्रसार-केन्द्रों की समाप्ति से दुर्व्यवस्थाओं का बोलबाला

शतापाष्ठां नि गिरति तां न शक्नोति निःखिदन्।
अन्नं यो ब्रह्मणां मल्वः स्वाद्व१द्मीति मन्यते॥ ७॥

१. **यः मल्वः**=जो मलिन इच्छाओंवाला राजा **ब्रह्मणां अन्नम्**=ज्ञानी ब्राह्मणों के अन्न को **स्वादु अद्मि इति मन्यते**=यह कितना स्वादिष्ट है 'इसे मैं खा जाऊँ' ऐसा सोचता है, अर्थात् जो ज्ञानी ब्राह्मणों के ज्ञान-प्रसार के साधनभूत स्थानों को छीनना चाहता है, वह **शत+अपाष्ठाम्**=सैकड़ों अपाष्ठाओंवाली—बहुत दुर्भाग्यों से युक्त विपत्ति को ही **निगिरति**=खाता है—प्राप्त होता है और **तां निःखिदन्**=उस अपाष्ठा को नष्ट करने का यत्न करता हुआ भी **न शक्नोति**=उसे दूर करने में समर्थ नहीं होता।

भावार्थ—जो राजा ज्ञानी ब्राह्मणों के ज्ञान-प्रसार-केन्द्रों को ही खा जाना चाहता है, अर्थात् समाप्त कर देता है, वह राष्ट्र में बहुत दुर्गतियों व अव्यवस्थाओं का कारण बनता है और अन्य कितने भी यत्नों से वह इन दुर्गतियों को दूर नहीं कर पाता।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्मा द्वारा देवपीयुओं का वेधन

जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ् नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः।
तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून्हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः॥ ८॥

१. ब्राह्मण की **जिह्वा**=जीभ **ज्या भवति**=धनुष की डोरी होती है, **वाक्**=वाणी **कुल्मलम्**=धनुष् का दण्ड हो जाती है और **तपसा अभिदिग्धाः**=तप व तेज से लिप्त **दन्ताः**=दाँत **नाडीकाः**='नालीक' नामक बाण हो जाते हैं (न अलीक=न झूठे, अर्थात् शत्रु को अवश्य नष्ट करनेवाले)। २. **तेभिः**=उनके द्वारा **ब्रह्मा**=यह ज्ञानी **देवपीयून्**=देवहिंसक राजाओं को **विध्यति**=बींधता है—नष्ट करता है, उन **धनुर्भिः**=धनुषों से बींधता है, जोकि **हृद्बलैः**=हृदय की शक्ति से युक्त हैं तथा **दैवजूतैः**=दिव्य शक्तियों से प्रेरित हैं।

भावार्थ—तपस्वी, ज्ञानी ब्राह्मण की वाणी शत्रुवेधक शर के समान होती है। हृदय की शक्ति से सम्पन्न, दिव्यभाव से प्रेरित यह शर देवहिंसक राजा को विद्ध करता है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्राह्मण-वाणी+बाण

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां३ न सा मृषा।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम्॥ ९॥

१. **ब्राह्मणाः**=ज्ञान का प्रसार करनेवाले ब्राह्मण **तीक्ष्णेषवः**=बड़े तीक्ष्ण बाणोंवाले होते हैं, वे **हेतिमन्तः**=घातक अस्त्रोंवाले—वज्रवाले होते हैं। ये लोग **यां शरव्याम्**=जिस बाणसमूह को—ज्ञान की वाणीरूप बाण को **अस्यन्ति**=छोड़ते हैं, **सा न मृषा**=वे झूठे नहीं होते। यह वाणीरूप बाण अवश्य शत्रु का विनाश करता है। २. ये ब्राह्मण **तपसा**=तप के द्वारा **मन्युना च**=और ज्ञानदीप्ति (मन अवबोधे) के द्वारा **अनुहाय**=पीछा करके **दूरात् उत**=दूर से ही **एनम्**=इस अत्याचारी राजा को **अवभिन्दन्ति**=विदीर्ण कर देते हैं।

भावार्थ—ब्राह्मणों का वणीरूप बाण शत्रुओं को शीर्ण कर डालता है। तप व ज्ञान से सम्पन्न ये ब्राह्मण प्रजाओं के शत्रुभूत राजा को दूर से ही विनष्ट कर देते हैं।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वैतहव्यों का पराभव

ये सहस्रमराजन्नासन्दशशता उत।
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन्॥ १०॥

१. **ये**=जो **वैतहव्याः**=दान-योग्य हव्यपदार्थों को स्वयं खा जानेवाले—प्रजा से प्राप्त 'कर' को प्रजाहित में विनियुक्त न करके अपनी मौज में व्यय करनेवाले राजा **सहस्रम्**=(सहस्=बल) बल-सम्पन्न सेना का **अराजन्**=शासन करते थे, **उत**=और स्वयं भी **दशशताः आसन्**=हज़ारों की संख्या में थे, अर्थात् बड़े परिवार या बन्धुवाले थे, **ते**=वे **ब्राह्मणस्य**=ब्राह्मण की **गां जग्ध्वा**=ज्ञान की वाणी को खाकर **पराभवन्**=पराभूत हो गये। २. ये वैतहव्य राजा कितने भी प्रबल हों यदि ये अपने बल के अभिमान में ज्ञानी ब्राह्मणों की वाणी पर प्रतिबन्ध लगाना चाहेंगे तो इनका पराभव ही होगा।

भावार्थ—बल के अभिमान में विलासी राजा ब्राह्मणों की वाणी पर प्रतिबन्ध लगाते हैं और परिणामतः विनष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

केसरप्राबन्धा वाणी

गौरेव तान्हन्यमाना वैतहव्याँ अवातिरत्।
ये केसरप्राबन्धायाश्चरमाजामपेचिरन्॥ ११॥

१. **गौः एव**=यह ब्राह्मण की ज्ञानरूप गौ ही **हन्यमाना**=मारी जाती हुई **तान् वैतहव्यान्**=उन कर-प्राप्त धनों को खा जानेवाले—अपने विलास में व्यय कर डालनेवाले राजाओं को **अवातिरत्**=मार डालती है। २. उन वैतहव्यों को यह वाणी नष्ट कर देती है, **ये**=जो **केसरप्रा-बन्धायाः**=(के+सर+प्र+अबन्धा) सुख-प्रसार के लिए बन्धनरहित, अर्थात् निश्चितरूप से सुख प्राप्त करानेवाली ज्ञानी ब्रह्मण की वाणी की **चरमाजाम्**=(चरमा अजा=गतिक्षेपणयोः) अन्तिम चेतावनी को भी **अपेचिरन्**=पचा डालते हैं—हज़म कर जाते हैं, अर्थात् उसे भी नहीं सुनते।

भावार्थ—जो प्रजा से दिये गये कर को विलास में व्यय करनेवाले राजा हैं और ज्ञानियों से दी गई चेतावनी की परवाह नहीं करते, वे अन्ततः विनिष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मणी प्रजा के हिंसन का परिणाम

एकशतं ता जनता या भूमिर्व्यधूनुत।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन्॥ १२॥

१. **ताः जनताः**=वे लोग **एकशतम्**=एक सौ एक थे—सैकड़ों थे **याः भूमिः व्यधूनुत**=जिन्हें भूमि ने कम्पित कर दिया। **ब्राह्मणीम्**=ज्ञानी पुरुष के पीछे चलनेवाली **प्रजां हिंसित्वा**=प्रजा को नष्ट करके ये प्रजापीड़क राजा **असंभव्यं पराभवम्**=बिना सम्भावना के ही परास्त हो गये। २. जब राजा प्रजा पर अत्याचार करने लगता है तब प्रजा किसी ज्ञानी की शरण में जाती है और वस्तुतः उस ज्ञानी की ही हो जाती है। इस प्रजा पर राजा खूब अत्याचार करता है, परन्तु अन्त में न जाने कैसे, उस प्रभु की व्यवस्था से वह नष्ट हो जाता है। कल्पना भी नहीं होती कि यह विनष्ट हो जाएगा, परन्तु वह ऐसे नष्ट हो जाता है, जैसे भूकम्प से एक महल नष्ट हो जाता है। कितने ही ऐसे अत्याचारियों को पृथिवी ने अन्ततः कम्पित कर दिया।

भावार्थ—ब्राह्मणी प्रजा पर अत्याचार करके राजा कल्पनातीत ढंग से विनष्ट हो जाता है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गरगीर्णः अस्थिभूयान्

देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान्।
यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम्॥ १३॥

१. **देवपीयुः**=देवों—ज्ञानियों का हिंसन करनेवाला राजा **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **गरगीर्णः चरति**=मानो विष पिये हुए घूमता है, अर्थात् उसकी अवस्था वही हो जाती है, जो उस पुरुष की, जिसने कि ग़लती से विष पी लिया हो। यह **अस्थिभूयान् भवति**=हड्डी-हड्डीवाला हो जाता है—अस्थि-पंजर-सा रह जाता है। २. **यः**=जो **देवबन्धुम्**=प्रभु के मित्र **ब्राह्मणम्**=ज्ञानी पुरुष का **हिनस्ति**=हिंसन करता है, **सः**=वह राजा देवयानलोक को प्राप्त करने की बात तो दूर रही **पितृयाणं लोकं अपि न एति**=पितृयाणलोक को भी प्राप्त नहीं करता। यदि यह प्रजा का रक्षण करता तभी तो पितृयाणलोक को प्राप्त करता। ब्राह्मणी प्रजा का हिंसन करने से इसके लिए इस लोक की प्राप्ति सम्भव कहाँ? यह तो विनष्ट ही होता है।

भावार्थ—जो राजा देवों का हिंसन करता है, वह विष पिये हुए के समान अस्थि-पंजर-सा रह जाता है, इसे उत्तम लोक की प्राप्ति नहीं होती।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अग्नि, सोम, इन्द्र'

अग्निर्वै नः पदवायः सोमो दायाद उच्यते।
हन्ताभिशस्तेन्द्रस्तथा तद्वेधसो विदुः॥ १४॥

१. **वेधसः**=ज्ञानी पुरुष **तथा**=उस प्रकार से **तत्**=उस बात को **विदुः**=जानते हैं कि **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **वै**=निश्चय से **नः**=हमारा **पदवायः**=पथ-प्रदर्शक है (पदं आप्तव्यस्थानं वाययति गमयति) हमें लक्ष्य-स्थान की ओर ले-जानेवाला है। २. **सोमः**=सोमरूप प्रभु हमारा **दायादः**=बन्धु **उच्यते**=कहा जाता है। यह **इन्द्रः**=शत्रु-विद्रावक प्रभु ही **अभिशस्ता**=अत्याचारियों पर शस्त्र-प्रहार करनेवाला व **हन्ता**=उन्हें विनष्ट करनेवाला है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष अग्निरूप प्रभु को अपना पथ-प्रदर्शक जानते हैं, वे सोम प्रभु को अपना बन्धु समझते हैं और उन्हें यह विश्वास होता है कि 'इन्द्र' प्रभु अत्याचारियों का विनाश करते ही हैं।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नृपते-गोपते

इषुरिव दिग्धा नृपते पृदाकूरिव गोपते।
सा ब्राह्मणस्येषुर्घोरा तया विध्यति पीयतः॥ १५॥

१. हे **नृपते**=मनुष्यों के पालक राजन्! **दिग्धा इषुः इव**=उपर्युक्त ब्राह्मण-वाणी विषबुझे तीर का काम करती है, अत्याचारी को विषबुझे तीर के समान समाप्त कर देती है। हे **गोपते**=ज्ञान की वाणियों के रक्षक राजन्! **पृदाकूः इव**=ब्राह्मण-वाणी सर्पिणी की भाँति है। यह अत्याचारी को डसकर समाप्त कर देती है। २. **सा**=वह **ब्राह्मणस्य घोरा इषुः**=ब्राह्मण की वाणी ही घोर इषु (बाण) है, **तया पीयतः विध्यति**=उसके द्वारा यह देवहिंसकों का विनाश कर देती है।

भावार्थ—राजा को 'नृपति व गोपति' बनना चाहिए। वह प्रजा का रक्षण करे, ब्राह्मणों के द्वारा प्रसृत ज्ञानवाणी का भी रक्षण करे, अन्यथा यह वाणी उसे इसप्रकार समाप्त कर देती है, जैसकि विषबुझा तीर या विषैली सर्पिणी।

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सृञ्जयों का वैतहव्य होने पर पतन

अतिमात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन्।
भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवन्॥ १॥

१. **सृञ्जयाः**=आक्रान्ता (सृ) शत्रुओं को जीतनेवाले ये सृञ्जय **अतिमात्रम् अवर्धन्त**=खूब ही वृद्धि को प्राप्त हुए **न उत् इव**=केवल इतना ही नहीं कि वे वृद्धि को प्राप्त हुए, अपितु **दिवं अस्पृशन्**=उन्नत होते हुए उन्होंने तो द्युलोक को जा छुआ। '**अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति। ततः सपत्नान् जयति**'। ये सृञ्जय जब **वैतहव्याः**=कर-प्राप्त धन को खानेवाले बने तब **भृगुम्**=ज्ञान-परिपक्व ब्राह्मण को **हिंसित्वा**=नष्ट करके, उसे ज्ञान-प्रसार आदि कार्यों से रोककर **पराभवन्**=पराभूत हो गये।

भावार्थ—जब राजा सृञ्जय—आक्रान्ता शत्रुओं पर विजय पानेवाले होते हैं तब ये खूब ही बढ़ते है, उन्नति के शिखर पर पँहुचते है, परन्तु भोग-विलास में फँसते ही यह ज्ञानियों पर प्रतिबन्ध लगाना आरम्भ करते हैं। उन्हे हिंसित करके से स्वयं पराभूत हो जाते हैं—**समूलस्तु विनश्यति।**

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**विराट्पुरस्ताद्बृहती** ॥

'बृहत्सामा आङ्गिरस ब्राह्मण' के निरादर का परिणाम

ये बृहत्सामानमाङ्गिरसमार्पयन्ब्राह्मणं जनाः।
पेत्वस्तेषामुभयादमविस्तोकान्यावयत्॥ २॥

१. **ये जनाः**=जो लोग **बृहत् सामानम्**=महान् प्रभु के उपासक **आङ्गिरसम्**=अंगारों के समान ज्ञानदीप्त **ब्राह्मणम्**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष को **आर्पयन्**=(ऋ हिंसायाम्) हिंसित करते हैं, **तेषां**

तोकानि=उनके सन्तानों को **पेत्वः**=सबका पालक **अविः**=रक्षक प्रभु **उभयादम् आवयत्**=अपने दोनों जबड़ों के बीच में चबा डालता है (वी खादने)। २. द्युलोक व पृथिवीलोक ही प्रभु के जबड़े हैं। ज्ञानी का हिंसन करनेवाले राजा लोग द्युलोक व पृथिवीलोक के कष्टों में पिस जाते हैं।

भावार्थ—राजा को प्रभु-भक्त व ज्ञान-दीप्त ब्राह्मणों का आदर करना चाहिए। उन्हें हिंसित करनेवाला राजा आधिदैविक आपत्तियों का शिकार हो जाता है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मणों के निरादर से युद्धों में विनाश

ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन्ये वास्मिन्छुल्कमीषिरे।
अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान्खादन्त आसते॥ ३॥

१. **ये**=जो राजा लोग राज्यशक्ति के गर्व में **ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन्**=ब्राह्मण के प्रति थूकते हैं, अर्थात् उसका निरादर करते हैं, **ये वा**=अथवा जो **अस्मिन्**=इसपर **शुल्कम्**=कर को **ईषिरे**=(ईष glean, collect) उगाहते हैं, **ते**=वे **अस्नः**=रुधिर की **कुल्यायाः मध्ये**=नदी के बीच में 'कुल्याऽल्पा कृत्रिमा सरित्'—अपने-अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए बनाई हुई कृत्रिम छोटी-छोटी नदियों के बीच में **केशान् खादन्तः**=एक-दूसरे के बालों को खाते हुए—एक-दूसरे को नोचते हुए **आसते**=स्थित होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानियों का निरादर करनेवाले राजा परस्पर युद्धों में फँस जाते हैं और एक-दूसरे का नाश करने में लगे रहते हैं।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'वृषा वीरः' न जायते

ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत्साभि विजङ्गहे।
तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा॥ ४॥

१. **यावत्**=जब तक **सा ब्रह्मगवी**=वह ब्राह्मण की गौ **पच्यमाना**=कष्टों की अग्नि में तपाई जाती हुई **अभिविजङ्गहे**=तड़पती रहती है, अर्थात् जब तक ब्राह्मण की वाणी का आदर नहीं होता तब तक यह निरादृत ब्रह्मगवी **राष्ट्रस्य तेजः निर्हन्ति**=राष्ट्र के तेज को नष्ट कर देती है। इस राष्ट्र में **वीरः वृषा न जायते**=वीर धार्मिक पुरुषों का प्रादुर्भाव (विकास) नहीं होता।

भावार्थ—ब्राह्मण की वाणी पर प्रतिबन्ध लगे रहने पर ज्ञान के प्रसार के अभाव में अधर्म फैलता है, राष्ट्र में तेजस्विता नहीं रहती और धार्मिक वीर पुरुषों का प्रादुर्भाव नहीं होता।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एक महान् पाप

क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते।
क्षीरं यदस्याः पीयते तद्वै पितृषु किल्बिषम्॥ ५॥

१. **अस्याः**=इस ब्रह्मगवी का—ब्राह्मण की ज्ञान-प्रसार की साधनभूत वाणी का **आशसनम्**=हिंसन **क्रूरम्**=एक अत्यन्त क्रूर कर्म है, अर्थात् यह एक बड़ा अत्याचार है, जो **पिशितम् अस्यते**=चमड़े की भाँति इसकी उधेड़बुन की जाती है, वह **तृष्टम्**=तृष्णा—प्रबल प्यास की भाँति दुःख देनेवाली है। २. **यत्**=जो **अस्याः**=इस ब्रह्मगवी का **क्षीरम्**=उपदेशामृतरूप दुग्ध

पीयते=नष्ट किया जाता है, **तत्**=वह **वै**=निश्चय से **पितृषु किल्बिषम्**=इन राष्ट्ररक्षक पुरुषों में बड़ा भारी पाप होता है।

भावार्थ—ब्राह्मण की वाणी का हिंसन एक क्रूर कर्म है। इसकी उधेड़बुन करते रहना प्रबल प्यास के समान पीड़ित करनेवाला है। इस वाणी के उपदेशामृत का हिंसन तो इन शासकों को बड़ा भारी दोष है—पाप है ।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मण-निरादर व राष्ट्रीय दरिद्रता

उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति।
परा तत्सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते॥ ६॥

१. **यः राजा**=जो राजा **मन्यमानः**=अपने बल का अभिमान करता हुआ **उग्रः**=क्रूर-स्वभाव का बनता है और **ब्राह्मणम्**=ज्ञान का प्रसार करनेवाले ज्ञानी पुरुष को **जिघत्सति**=खा जाना चाहता है और परिणामतः **यत्र**=जिस राष्ट्र में **ब्राह्मणः जीयते**=यह ब्राह्मण तंग किया जाता है (to be oppressed), अत्याचारित होता है **तत् राष्ट्रम्**=वह राष्ट्र **परासिच्यते**=शत्रु द्वारा निर्धन कर दिया जाता है—रिक्त कोशवाला हो जाता है।

भावार्थ—जिस राष्ट्र में राजा शक्ति के अभिमान में ब्राह्मणों पर क्रूरवृतिवाला होता है, वह राष्ट्र शीघ्र दरिद्र हो जाता है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**विराडुपरिष्टाद्बृहती** ॥

अद्भुत गौ

अष्टापदी चतुरक्षी चतुःश्रोत्रा चतुर्हनुः।
द्व्या॑स्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमव धूनुते ब्रह्मज्यस्य॥ ७॥

१. यह ब्रह्मगवी कोई सामान्य गौ नहीं है। यह एक असाधारण गौ है, **अष्टापदी**=आठ इसके पाँव है, **चतुः अक्षी**=चार आँखोंवाली है, **चतुः श्रोत्राः**=चार कानोंवाली है, **चतुर्हनुः**=चार हनुओंवाली है, **द्व्यास्या**=दो मुखोंवाली है और **द्विजिह्वा**=दो जिह्वाओंवाली है, ऐसी **भूत्वा**=बनकर **सा**=वह **ब्रह्मज्यस्य**=ब्राह्मणों को पीड़ित करनेवाले राजा के **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **अवधूनुते**=कम्पित कर देती है। २. ब्रह्मगवी **अष्टापदी** है—आठों योगाङ्गों का प्रतिपादन करनेवाली है और उनके द्वारा आठों सिद्धियों को प्राप्त करानेवाली है। अथवा यह राष्ट्र के आठों सचिवों के कार्यों को ठीक से प्रतिपादन करनेवाली है। **चतुरक्षी**=चार वेदरूपी चार आँखोंवाली है। चार वेद ही इसकी चार आँखें हैं। **चतुः श्रोत्रा**=यह चारों आश्रमों व चारों वर्णों से सुनने योग्य है। **चतुर्हनुः**='साम, दान, दण्ड, भेद' रूप चारों उपायों में गतिवाली है (हन् गतौ) **द्व्यास्या**=यह दो मुखोंवाली है। एक मुख से राजकार्यों का प्रतिपादन करती है, तो दूसरे मुख से प्रजा के कार्यों को। एक से पति आचार्य के कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करती है तो दूसरे से शिष्य के कर्त्तव्यों का। एक से पति के कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करती है तो दूसरे से पत्नी के। यह ब्रह्मगवी एक पक्ष का ही प्रतिपादन नहीं करती। यह **द्विजिह्वा**=दो जिह्वाओंवाली है। एक से यह अभ्युदय का स्वाद लेती है, तो दूसरे से निःश्रेयस का—इहलोक और परलोक का। यह दोनों के स्वाद को मिलाकर लेती है। ब्रह्मगवी ब्रह्मज्य राजा के राष्ट्र को विनष्ट कर देती है।

भावार्थ—राजा को ब्रह्मगवी के महत्त्व को समझना चाहिए। गोहत्या भी पाप है, परन्तु ब्रह्मगवी की हत्या तो महापाप है। यह हत्या ब्रह्मज्य राजा के राष्ट्र को नष्ट कर डालती है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दुच्छुना

तद्वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम्।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद्राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥ ८ ॥

१. **यत्र**=जिस राष्ट्र में **ब्रह्माणं हिंसन्ति**=ज्ञानी ब्राह्मण को हिंसित करते हैं, **तत् राष्ट्रम्**=उस राष्ट्र को **दुच्छुना**=दुष्ट विपत्ति (आधि-व्याधि) **हन्ति**=नष्ट कर डालती है। २. **वै**=निश्चय से **तत् राष्ट्रम्**=वह राष्ट्र **आस्रवति**=शत्रुओं के प्रवेश के द्वारा आस्रुत हो जाता है—खाली होकर नष्ट हो जाता है, **इव**=जैसेकि **भिन्नां नावम्**=फूटी नाव को **उदकम्**=पानी अन्दर प्रविष्ट होकर नष्ट कर देता है।

भावार्थ—ज्ञानी ब्राह्मण का हिंसन होने पर राष्ट्र पर दुष्ट विपत्तियाँ आपड़ती हैं। इस राष्ट्र में शत्रुओं का प्रवेश होकर दारिद्र्य घर कर लेता है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वृक्ष-छाया का अभाव

तं वृक्षा अप सेधन्ति च्छायां नो मोपगा इति।
यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभि नारद मन्यते ॥ ९ ॥

१. हे **नारद**=(नरसमूहं द्यति) अभिमानवश नर-समूह को खण्डित व पीड़ित करनेवाले राजन्! **यः**=जो भी **ब्राह्मणस्य**=ज्ञानी ब्रह्मवेत्ता के **सत् धनम्**=उत्कृष्ट (सत्य) ज्ञानरूपी धन को **अभिमन्यते**=(अभिमन्=Injure, threaten) हानि पहुचाना चाहता है, अथवा उसे भयभीत करना चाहता है, अर्थात् जो राजा ज्ञान-प्रसार के कार्य पर प्रतिबन्ध लगाना चाहता है, **तम्**=उसे **वृक्षाः अपसेधन्ति**=वृक्ष अपने से दूर करते हैं और मानो कहते हैं कि **नः छायां मा उपगाः इति**=हमारी छाया में मत आओ, अर्थात् इस अत्याचारी राजा को वृक्ष-छाया का सुख भी प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—ब्राह्मण के ज्ञान-धन पर प्रतिबन्ध लगानेवाले अत्याचारी राजा के राज्य में वृष्टि न होने से छायावाले वृक्षों का भी अभाव हो जाता है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवकृत विष

विषमेतद्देवकृतं राजा वरुणोऽब्रवीत्।
न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन ॥ १० ॥

१. **एतत्**=यह वेदज्ञान **विषम्**=(विशेषेण स्यति, छोऽन्तकर्मणि) विशेषरूप से बुराइयों का अन्त करनेवाला है। यह प्रभु से **देवकृतम्**=देवों के लिए दिया गया है। इसे **राजा**=संसार के शासक **वरुणः**=पापों के निवारक प्रभु ने **अब्रवीत्**=कहा है। सृष्टि के प्रारम्भ में इसका उच्चारण प्रभु द्वारा होता है। यह वेदज्ञान ही ब्राह्मण की वाणी का विषय बनता है। २. **ब्राह्मणस्य**=इस ज्ञानी ब्रह्मवेत्ता की **गाम्**=वाणी को **जग्ध्वा**=खाकर, हड़पकर, अर्थात् समाप्त करके, उसपर प्रतिबन्ध लगाकर **राष्ट्रे**=राष्ट्र में **कश्चन न जागार**=कोई जागरित व जीवित नहीं रहता। धर्मज्ञान का लोप हो जाने से सब लोग आलस्य आदि दोषों के शिकार हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने वेदज्ञान इसलिए दिया है, क्योंकि यह बुराइयों को समाप्त करनेवाला है। ब्रह्मणों द्वारा राष्ट्र में इसका प्रचार होता है। ब्राह्मण की वाणी पर प्रतिबन्ध लगाने से राष्ट्र में धर्म का लोप हो जाता है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मणी प्रजा पर अत्याचार का परिणाम

नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्य१धूनुत।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन्॥ ११॥

१. **ताः**=वे **नव नवतयः**=निन्यानवे लोग **याः भूमिः व्यधूनुत**=जिन्हें इस पृथिवी ने कम्पित कर दिया **ब्राह्मणीम्**=ज्ञानी ब्राह्मण से उपदिष्ट मार्ग पर चलनेवाली **प्रजाम्**=प्रजा को **हिंसित्वा**=हिंसित करके **असंभव्यम् एव पराभवन्**=अत्याचारी राजा इसप्रकार नष्ट हो गये जिसकी कोई कल्पना भी नहीं थी। २. राजा कई बार शक्ति के घमण्ड में धार्मिक प्रजा पर अत्याचार करने लगता है, परन्तु अन्ततः इसका असम्भव-से प्रतीत होनेवाले ढंग से विनाश हो जाता है।

भावार्थ—सैकड़ों राजा धार्मिक प्रजाओं पर अत्याचार करके अन्ततः विनष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पदयोपनी कूदी

यां मृतायानुबध्नन्ति कूद्यं१ पदयोपनीम्। तद्वै ब्रह्मज्य ते देवा उपस्तरणमब्रुवन्॥ १२॥

१. **याम्**=जिस **कूद्यम्**=(कूङ् आर्तस्वरे, कुवं ददाति) आर्तस्वर को देनेवाली—दुःखितों के शब्द को पैदा करनेवाली **पदयोपनीम्**=(युप विमोहने) पाँवों को विमोहित (मूढ़) करनेवाली बेड़ी को **मृताय**=मरण-दण्ड के लिए (मृतं मरणम्, भावे क्तः) **अनुबध्नन्ति**=बाँधते हैं, हे **ब्रह्मज्य**=राष्ट्र में ज्ञान को नष्ट करनेवाले राजन्! **देवाः**=सब विद्वान् **वै**=निश्चय से **तत्**=उस बेड़ी को **ते उपस्तरणम्**=तेरे लिए सेज (शय्या) के रूप में **अब्रुवन्**=कहते हैं।

भावार्थ—'ब्रह्मज्य' राजा को कष्ट-स्वर-जनक, पाँवो को मूढबना देनेवाली बेड़ी में जकड़कर मृत्युदण्ड देना चाहिए। अत्याचारी राजा को दिया गया यह दण्ड अन्यों के लिए प्रत्यादर्श का काम करेगा।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'कृपमाणा जीता' प्रजा के अश्रु

अश्रूणि कृपमाणस्य यानि जीतस्य वावृतुः।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन्॥ १३॥

१. **कृपमाणस्य**=(कृप दौर्बल्ये) दुर्बलीक्रियमाण—भूखा रखकर पीड़ित किये जाते हुए **जीतस्य**=पराभूत व्यक्ति के **यानि अश्रूणि**=जो आँसू **वावृतुः**=प्रवृत्त होते हैं, हे **ब्रह्मज्य**=राष्ट्र में ज्ञान को क्षीण करनेवाले राजन्! **देवाः**=देवों ने **तम् अपां भागम्**=उस जल के भाग को (अश्रुजलों को) **वै**=निश्चय से **ते अधारयन्**=तेरे लिए धारण किया है, तेरे लिए सुरक्षित रक्खा है।

भावार्थ—राष्ट्र में ज्ञानक्षय के द्वारा प्रजापीड़क राजा को उन पीड़ित, पराभूत प्रजाओं के अश्रुजलों को स्वयं पीना पड़ता है। वह सब अत्याचार अन्ततः राजा को स्वयं सहन करना पड़ता है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अत्याचारी राजा को मृत्यु-दण्ड

येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते। तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन्॥ १४॥

१. **येन**=जिस जल से **मृतं स्नपयन्ति**=मृतपुरुष को स्नान कराते हैं, **येन**=जिस जल से **श्मश्रूणि**=मुखस्थ बालों को **उन्दते**=गीला करते हैं, हे **ब्रह्मज्य**=ज्ञानक्षय के द्वारा प्रजापीड़क

राजन्! **देवाः**=देवों ने **तम्**=उस **अपां भागम्**=जलों के भाग को **ते अधारयन्**=तेरे लिए धारित किया है।

भावार्थ—ब्रह्मज्य राजा को मृत्युदण्ड देकर मलिन जल से उसके स्नान कराये जाने का दृश्य लोग देखें, ताकि वह सबके लिए प्रत्यादर्श बने ।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनावृष्टि का कष्ट

न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति।
नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम्॥ १५॥

१. **ब्रह्मज्यम्**=ज्ञानक्षय करनेवाले राजा के राष्ट्र में **मैत्रावरुणम् वर्षम्**=मित्र व वरुण-सम्बन्धी वृष्टि **न अभिवर्षति**=नहीं बरसती (मित्र-वरुण=अम्लजन व उद्रजन=वे वायुएँ जिनसे जल बनता है)। इस राष्ट्र में अनावृष्टि का दुःखदायी कष्ट होता है। २. **अस्मै**=इस ब्रह्मज्य राजा के लिए **समितिः**=राष्ट्रसभा **न कल्पते**=सामर्थ्य को बढ़ानेवाली नहीं होती और यह राजा **मित्रम्**=मित्र-राष्ट्र से भी **वशं न नयते**=इच्छानुकूल कार्य नहीं कर पाता।

भावार्थ—ब्रह्मज्य राजा के राष्ट्र में अनावृष्टि आदि आधिदैविक कष्ट आते हैं, राष्ट्र ब्रह्मसभा इसके सामर्थ्य को बढानेवाली नहीं होती, मित्रराष्ट्र भी इसके अनुकूल नहीं रहते।

विशेष—ब्रह्मज्य राजा के राष्ट्र की दुर्दशा का चित्रण करके संकेत दिया है कि हमें ज्ञान का आदर करते हुए ज्ञानवृद्धि द्वारा ब्रह्मा बनने का प्रयत्न करना है। यह ब्रह्मा ही अगले दो सूक्तों का ऋषि है। ब्रह्मज्य न होकर राजा ब्रह्मा होगा तो इसके राष्ट्र में सदा विजय-दुन्दुभि का नाद उठेगा—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

उच्चैर्घोषः दुन्दुभिः

उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः सत्वनायन्वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिः।
वाचं क्षुणुवानो दमयन्त्सपत्नान्त्सिंहइव जेष्यन्नभि तंस्तनीहि॥ १॥

१. **सत्वनायन्**=सैनिकों में बल प्राप्त कराता हुआ **उच्चैः घोषः**=ऊँचे शब्दवाला **दुन्दुभिः**=युद्धवाद्य **वानस्पत्यः**=वनस्पति (काष्ठ) का बना हुआ है, यह **उस्रियाभिः संभृतः**=चमड़े से मढ़ा हुआ है। २. **वाचं क्षुणुवानः**=शब्द करता हुआ **सपत्नान् दमयन्**=शत्रुओं को दबाता हुआ समीप भविष्य में **सिंहः इव जेष्यन्**=सिंह की भाँति शत्रुओं को विजित करता हुआ **अभितंस्तनीहि**=गर्जना कर।

भावार्थ—शत्रुओं का आक्रमण होने पर राष्ट्र में युद्धवाद्य बज उठे। यह अपने ऊँचे शब्द से सैनिकों में बल व उत्साह का सञ्चार करे तथा शत्रुओं के दिलों को दहला दे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ऐन्द्रः, शुष्मः अभिमातिषाहः

सिंहइवास्तानीद् द्रुवयो विबद्धोऽभिक्रन्दन्नृषभो वासितामिव।
वृषा त्वं वध्रयस्ते सपत्ना ऐन्द्रस्ते शुष्मो अभिमातिषाहः॥ २॥

१. यह **द्रुवयः**=काष्ठ का बना हुआ **विबद्धः**=विशेषरूप से चमड़ों से बद्ध हुआ-हुआ

युद्धवाद्य **सिंहः इव अस्तानीत्**=सिंह की भाँति गर्जना करता है। यह युद्धवाद्य इसप्रकार गर्जता है **इव**=जैसेकि **वासिताम् अभि**=गौ का लक्ष्य करके **ऋषभः क्रन्दन्**=बैल गर्जता है। २. **त्वम्**=तू **वृषा**=शक्तिशाली है। **ते सपत्नाः वध्रयः**=तेरे शत्रु निर्बल हुए हैं। तेरे शत्रु बधिया बैल के समान निर्वीर्य हों। **ते**=तेरा **ऐन्द्रः**=राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला **शुष्मः**=बल **अभिमातिषाहः**=अभिमानयुक्त शत्रुओं का पराभव करनेवाला हो।

भावार्थ—राष्ट्र के युद्धवाद्य की ध्वनि सिंह की गर्जना के समान शत्रुओं के हृदय को भयभीत करनेवाली हो, सैनिकों में बल का सञ्चार करती हुई, शत्रुओं का पराजय करके यह राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाली हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सन्धनाजित्

वृषेव यूथे सहसा विदानो गव्यन्नभि रुव सन्धनाजित्।
शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान्प्रच्युता यन्तु शत्रवः ॥ ३ ॥

१. **यूथे**=गौओं के झुण्ड में **वृषा इव**=शक्तिशाली साँड के समान **सहसा विदानः**=बल से जाना गया—बल के कारण प्रसिद्ध—अपने सैनिकों में बल का सञ्चार करनेवाला यह युद्धवाद्य **गव्यन् इव**=(गो=भूमि) राष्ट्र-भूमि की कामना करनेवाला-सा है—राष्ट्रभूमि की यह रक्षा करनेवाला है, **सन्धनाजित्**=शत्रु-धनों का विजय करनेवाला है। २. हे युद्धवाद्य! तू **अभिरुव**=चारों ओर शब्द करनेवाला हो, **परेषाम्**=शत्रुओं के **हृदयम्**=हृदय को **शुचा विध्य**=शोक के द्वारा विद्ध करनेवाला हो। **शत्रवः**=शत्रु **ग्रामान् हित्वा**=अपने ग्रामों को छोड़कर **प्रच्युताः यन्तु**=पराजित हुए-हुए—स्थान-भ्रष्ट हुए-हुए भाग जाएँ।

भावार्थ—युद्धवाद्य का शब्द शत्रु-पराजय द्वारा राष्ट्र-भूमि की रक्षा करनेवाला हो। यह धनों का विजय करे और शत्रु स्थान-भ्रष्ट हुए-हुए भाग खड़े हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ऊर्ध्वमायुः

संजयन्पृतना ऊर्ध्वमायुर्गृह्या गृह्णानो बहुधा वि चक्ष्व।
दैवीं वाचं दुन्दुभ आ गुरस्व वेधाः शत्रूणामुप भरस्व वेदः ॥ ४ ॥

१. हे दुन्दुभे! तू **पृतनाः संजयन्**=शत्रुओं को पराजित करता हुआ **ऊर्ध्वमायुः**=ऊँचे शब्दवाला **गृह्या गृह्णानः**=ग्रहण के योग्य सब पदार्थों का ग्रहण करनेवाला **बहुधा विचक्ष्व**=बहुत प्रकार से राष्ट्र को देखनेवाला हो—राष्ट्र का रक्षण करनेवाला हो। २. हे **दुन्दुभे**=युद्धवाद्य! तू **दैवीम्**=(दिव् विजिगीषा) शत्रु-विजय की कामनावाली **वाचम्**=वाणी को **आ गुरस्व**=चारों ओर घोषित कर। **वेधाः**=राष्ट्र का निर्माण करनेवाला बनकर **शत्रूणां वेदः**=शत्रुओं के धन का **उपभरस्व**=हरण करनेवाला हो।

भावार्थ—यह युद्धवाद्य शत्रुसैन्यों का पराजय करे और शत्रुओं के धनों का अपहरण करके राष्ट्रकोश को भरनेवाला हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शत्रु-स्त्रियों का भाग खड़ा होना

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम् ॥ ५ ॥

१. **दुन्दुभेः**=युद्धवाद्य की **प्रयतां वदन्तीम्**=(प्र-यता) एकदम नियमितरूप से उच्चरित होती हुई **वाचम्**=वाणी को **आशृण्वती**=समन्तात् श्रवण करती हुई **नाथिता**=उपतप्त हुई-हुई (नाथ उपतापे) **घोषबुद्धा**=युद्धवाद्य के घोष से प्रबुद्ध हुई-हुई **अमित्री नारी**=शत्रु स्त्री **समरे वधानां भीता**=युद्ध में वधों से भयभीत हुई-हुई **पुत्रम्**=अपनी सन्तान को **हस्तगृह्य**=हाथ से पकड़कर **धावतु**=भाग खड़ी हो।

भावार्थ—युद्धवाद्य का शब्द शत्रुओं में भय का सञ्चार कर दे। शत्रु-स्त्रियाँ अपने पुत्रों को लेकर भाग खड़ी हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अमित्रसेनाम् अभिभञ्जमानः

पूर्वो दुन्दुभे प्र वदासि वाचं भूम्याः पृष्ठे वद रोचमानः।
अमित्रसेनामभिजञ्जभानो द्युमद्वद दुन्दुभे सूनृतावत्॥ ६॥

१. हे **दुन्दुभे**=युद्धवाद्य! तू **पूर्वः**=सबसे प्रथम स्थान में होता हुआ **वाचं प्रवदासि**=युद्ध के लिए आह्वान की वाणी बोलता है। **भूम्याः पृष्ठे**=इस भू-पृष्ठ पर **रोचमानः**=दीप्त होता हुआ तू **वद**=बोल, शब्द कर। २. **अमित्रसेनाम्**=शत्रु सेना को **अभिजञ्जभानः**=रण से भगाता हुआ तू **द्युमत् वद**=दीप्त होकर बोल। हे **दुन्दुभे**=युद्धवाद्य! तू **सूनृतावत्**=राष्ट्र में शुभ (सु), दुःखों का परिहाण करनेवाली (ऊन्), सत्य (ऋत) वाणीवाला हो। तेरे शब्द से राष्ट्र के सैनिकों व प्रजाओं में उत्साह का सञ्चार हो।

भावार्थ—युद्धवाद्य का शब्द भू-पृष्ठ पर दीप्तिवाला हो। यह अमित्र-सेना को रण से भगानेवाला हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उत्पिपानः श्लोककृत्

अन्तरेमे नभसी घोषो अस्तु पृथक्ते ध्वनयो यन्तु शीभम्।
अभि क्रन्द स्तनयोत्पिपानः श्लोककृन्मित्रतूर्याय स्वर्धी॥ ७॥

१. हे युद्धवाद्य! **इमे नभसी अन्तरा**=इन द्युलोक व पृथिवीलोक के बीच में **घोषः अस्तु**=तेरा घोष गूँज उठे (नभश्च पृथिवी चैव तुमुलो व्यनुनादयन्)। **ते ध्वनयः पृथक् शीभं यन्तु**=तेरी ध्वनियाँ चारों दिशाओं में शीघ्र फैलें। २. **उत्पिपानः**=खूब ऊँचा उठता हुआ—बढ़ता हुआ तू **श्लोककृत्**=हमारे सैनिकों का यश बढ़ानेवाला हो, **मित्रतूर्याय**=मित्र-सैन्यों की त्वरा से युक्त गति के लिए होता हुआ (तुरी गतौ) **स्वर्धी**=उत्तम ऋद्धिवाला तू **अभिक्रन्द**=चारों ओर आह्वान कर, **स्तनय**=खूब गर्जना करनेवाला हो।

भावार्थ—युद्धवाद्य का शब्द आकाश व पृथिवी को अनुनादित कर दे। बढ़ता हुआ यह शब्द राष्ट्र-सैन्यों की यशोवृद्धि का कारण बने।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इन्द्रमेदी

धीभिः कृतः प्र वदाति वाचमुद्धर्षय सत्वनामायुधानि।
इन्द्रमेदी सत्वनो नि ह्वयस्व मित्रैरमित्राँ अव जङ्घनीहि॥ ८॥

१. **धीभिः कृतः**=बुद्धिपूर्वक बनाया हुआ—बुद्धिमान् शिल्पियों द्वारा निर्मित यह युद्धवाद्य

वाचं प्रवदाति=ऊँचा शब्द करता है। हे युद्धवाद्य! तू **सत्वनाम्**=वीरों के **आयुधानि**=आयुधों को **उद्धर्षय**=ऊँचा उठा। तेरे शब्द से उत्साहित होकर वे अपने-अपने शस्त्रों को उठाएँ। २. **इन्द्रमेदी**=वीरों के साथ स्नेह करनेवाला तू **सत्वनः निह्वयस्व**=वीर सैनिकों को युद्ध के लिए पुकार। **मित्रैः अमित्रान् अवजंघनीहि**=मित्रों के द्वारा अमित्रों को तू सुदूर भगानेवाला व उन्हें नष्ट करनेवाला हो।

भावार्थ—कुशल शिल्पियों से बनाया हुआ यह युद्धवाद्य ऊँचा शब्द करता है। इसके शब्द को सुनकर वीर सैनिक अस्त्रों को उठाते हैं और शत्रुओं को दूर भगाने व नष्ट करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

संक्रन्दनः प्रवदः

संक्रन्दनः प्रवदो धृष्णुषेणः प्रवेदकृद्बहुधा ग्रामघोषी।
श्रेयो वन्वानो वयुनानि विद्वान्कीर्तिं बहुभ्यो वि हर द्विराजे॥ ९॥

१. यह युद्धवाद्य **संक्रन्दनः**=युद्ध के लिए आह्वान करनेवाला है, **प्रवदः**=प्रकर्षेण हमारे कर्त्तव्यों की घोषणा करनेवाला है, **धृष्णुषेणः**=सेना को शत्रुओं का धर्षण करनेवाली बनाता है, **प्रवेदकृत्**=राष्ट्र के व्यक्तियों में चेतना भरनेवाला है, **बहुधा ग्रामघोषी**=सैन्यसमूह में अनेक प्रकार से घोषणा करनेवाला है। २. यह युद्धवाद्य चेतना उत्पन्न करने के कारण **श्रेयः वन्वानः**=कल्याण प्राप्त करानेवाला व **वयुनानि विद्वान्**=हमारे कर्मों का—कर्त्तव्यों का ज्ञान देनेवाला है। हे युद्धवाद्य! **द्विराजे**=दो राज़ाओं में चलनेवाले युद्ध में तू **बहुभ्यः कीर्तिं विहर**=बहुत को यशस्वी बनानेवाला हो—राष्ट्र-रक्षा के लिए प्राणार्पण करने की प्रेरणा करता हुआ तू उन्हें कीर्ति प्राप्त करा।

भावार्थ—युद्धवाद्य हमारे सैन्य को शत्रुओं का धर्षण करनेवाला बनाता है। यह हममें भी कर्त्तव्यकर्मों की चेतना जगाता हुआ हमारे लिए कल्याणकर होता है, कितने ही वीरों को यह कीर्ति प्राप्त करानेवाला होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सहीयान्-संग्रामजित्

श्रेयःकेतो वसुजित्सहीयान्त्संग्रामजित्संशितो ब्रह्मणासि।
अंशूनिव ग्रावाधिषवणे अद्रिर्गव्यन्दुन्दुभेऽधि नृत्य वेदः॥ १०॥

१. ये युद्धवाद्य! तू **श्रेयः केतः**=कल्याण में निवास करनेवाला (कित निवासे), **वसुजित्**=धनों का विजय करनेवाला, **सहीयान्**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाल **संग्रामजित्**=संग्राम को जीतनेवाला **ब्रह्मणा संशितः असि**=सत्य द्वारा तीव्र किया गया है (ब्रह्म=truth)। युद्ध में जिसका पक्ष सत्य का होता है, वह मन में उत्साहवाला होने से इस युद्धवाद्य को भी उत्साहपूर्वक बजा पाता है। **इव**=जैसे **अधिषवणे**=ज्ञानोत्पादन की क्रिया में **अद्रिः ग्रावा**=आदरणीय (आद्रियते), विषयों से विदीर्ण न किया जानेवाला (न दीर्यते), ज्ञानोपदेष्टा (गृणाति) **अंशून्**=ज्ञान की रश्मियों पर नृत्य करनेवाला होता है, उसी प्रकार हे **दुन्दुभे**=युद्धवाद्य! तू **गव्यन्**=राष्ट्रभूमि की रक्षा की कामनावाला होता हुआ **वेदः अधिनृत्य**=धनों पर नृत्य करनेवाला हो, शत्रु को पराजित करके राष्ट्र के धन को बढ़ानेवाला हो।

भावार्थ—युद्धवाद्य सत्य के पक्ष में उत्साह से बज उठता है और शत्रु-मर्षण करता हुआ राष्ट्रकोश का अभिवर्धक होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शत्रूषाट् नीषाट्

श॒त्रू॒षाण्नी॒षाड॑भिमातिषा॒हो ग॒वेष॑णः सह॑मान उ॒द्भित्।
वा॒ग्वी॑व॒ मन्त्रं॒ प्र भ॑रस्व॒ वाचं॒ सांग्रा॑मजित्या॒येष॒मुद्व॑दे॒ह ॥ ११ ॥

१. हे युद्धवाद्य! तू **शत्रूषाट्**=शत्रुओं को कुचल देनेवाला **नीषाट्**=निश्चय से कुचल देनेवाला, **अभिमातिषाहः**=अभिमानी शत्रुओं का पराभव करनेवाला है। **गवेषणः**=राष्ट्रभूमि की रक्षा की कामनावाला (गो+इष्), अतएव **सहमानः**=शत्रुओं का पराभविता व **उद्भित्**=उखाड़ फेंकनेवाला है। **वाग्वी मन्त्रं इव**=जैसे वाणी के द्वारा स्तुति करनेवाला मन्त्र को उच्चारित करता है, इसीप्रकार हे युद्धवाद्य! तू भी **वाचं प्रभरस्व**=वाणी का—शब्द का प्रकर्षेण भरण कर—खूब उच्च शब्द कर और **इह**=यहाँ—रणभूमि में **सांग्रामजित्याय**=संग्राम में विजय के लिए **इषम् उत् वद**=प्रकर्षेण प्रेरणा प्राप्त करा, तेरा शब्द योद्धाओं को उत्कृष्ट प्रेरणा दे और वे युद्धों में विजयी बनें।

भावार्थ—युद्धवाद्य शत्रुओं को कुचल डालता है और योद्धाओं को उत्कृष्ट प्रेरणा देकर युद्ध में विजयी बनाता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अच्युतच्युत्

अ॒च्यु॒त॒च्युत्स॒मदो॒ गमि॑ष्ठो मृ॒धो जेता॑ पुरए॒तायो॒ध्यः।
इन्द्रे॑ण गु॒प्तो वि॒दथा॑ नि॒चिक्य॑द्धृ॒द्द्योत॑नो द्वि॒ष॒तां या॑हि॒ शीभ॑म् ॥ १२ ॥

१. हे युद्धवाद्य! तू **अच्युतच्युत्**=दृढ़ शत्रुओं के भी पैर उखाड़ देनेवाला है, **समदः गमिष्ठाः**=हर्षयुक्त हुआ तू शत्रुओं के प्रति जानेवाला—उनपर आक्रमण करनेवाला है, **मृधः जेता**=संग्रामों का विजय करनेवाला **पुरः एता**=आगे बढ़नेवाला व **अयोध्यः**=युद्ध न करने योग्य है—तुझे जीतना किसी के लिए भी सम्भव नहीं। २. **इन्द्रेण**=शत्रुओं के विद्रावक सेनानी से तू **गुप्तः**=सुरक्षित हुआ है, **विदथा निचिक्यत्**=ज्ञातव्य कर्मों को जानता हुआ, अर्थात् योद्धाओं को उनके कर्त्तव्यकर्मों में प्रेरित करता हुआ तू **द्विषताम्**=शत्रुओं के **हृद्द्योतनः**=(द्योतते ज्वलतिकर्मा—१.१६) हृदयों को सन्तप्त करनेवाला है, **शीभं याहि**=तू शीघ्रता से शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला हो। तू बज उठ और योद्धा शत्रु पर आक्रमण करनेवाले हों।

भावार्थ—यह युद्धवाद्य दृढ़ शत्रुओं को भी परास्त करनेवाला है—शत्रुओं के हृदय को सन्तप्त करनेवाला है। यह योद्धाओं को शत्रुसैन्य पर आक्रमण के लिए प्रेरित करता है।

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

विहृदय वैमनस्यम्

वि॒हृ॒दयं॑ वैमन॒स्यं व॒दामि॒त्रेषु॑ दुन्दुभे।
वि॒द्वे॒षं कश्म॒शं भ॒यम॒मित्रे॑षु॒ नि द॑ध्म॒स्यवै॑नान्दुन्दुभे जहि ॥ १ ॥

१. हे **दुन्दुभे**=युद्धवाद्य! तू **अमित्रेषु**=शत्रुओं में **विहृदयं वैमनस्यं वद**=हृदय की व्याकुलता व मन की उदासीनता को कह दे—अपनी ऊँची ध्वनि से उन्हें व्याकुल व उदासीन कर दे। २. तेरे द्वारा हम **अमित्रेषु**=शत्रुओं में **विद्वेषं कश्मशं भयम्**=द्वेष, कश्मकश—मनमुटाव व भय

को **निदध्मसि**=स्थापित करते हैं। हे **दुन्दुभे**=युद्धवाद्य! तू **एनान्**=इन शत्रुओं को **अवजहि**=सुदूर नष्ट करनेवाला हो।

भावार्थ—हमारा युद्धवाद्य शत्रुओं में द्वेष, वैमनस्य व भय उत्पन्न करके उन्हें नष्ट करनेवाला हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आज्ये हुते

उद्वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च।
धावन्तु बिभ्यतोऽ मित्राः प्रत्रासेनाज्ये हुते॥ २॥

१. **आज्ये हुते**=युद्ध में परस्पर की द्वेषाग्नि में एक बार शस्त्र उठ जाने पर (तेजो वा आज्यम्, वज्रो वा आज्यम्—तै० ३.९.४.६; ३.६.४.१५) युद्ध की अग्नि में अस्त्रों की आहुति पड़ जाने पर **अमित्राः**=हमारे शत्रु **मनसा चक्षुषा हृदयेन च**=मन, नेत्र व हृदय से **उद्वेपमानाः**=काँपते हुए **प्रत्रासेन**=प्रकृष्ट भय से **बिभ्यतः**=भयभीत होते हुए **धावन्तु**=भाग खड़े हों।

भावार्थ—युद्धवाद्य के बज उठने पर—शस्त्रों के प्रहार के आरम्भ में ही हमारे शत्रु कम्पित व भयभीत होकर भाग खड़े हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आज्येन अभिघारितः

वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिर्विश्वगोत्र्यः। प्रत्रासममित्रेभ्यो वदाज्येनाभिघारितः॥ ३॥

१. **वानस्पत्यः**=वनस्पति (काष्ठ) से बना हुआ **उस्रियाभिः**=चर्म-रज्जुओं से **संभृतः**=सम्यक् मढ़ा हुआ यह युद्धवाद्य **विश्वगोत्र्यः**=सब भूमि का उत्तम रक्षक है। २. **आज्येन**=तेजस्विता व शस्त्रों (वज्रों) के द्वारा **अभिघारितः**=दीप्त किया हुआ तू **अमित्रेभ्यः**=शत्रुओं के लिए **प्रत्रासं वद**=भय को कहनेवाला हो, तेरा उग्र घोष शत्रु-हृदयों को भयभीत कर दे।

भावार्थ—युद्धवाद्य राष्ट्रभूमि का रक्षक है, तेजस्विता व शस्त्रों से युक्त हुआ-हुआ यह शत्रुओं को भयभीत करनेवाला है। युद्धवाद्य के साथ योद्धाओं की तेजस्विता व शस्त्र-प्रहार शत्रुओं को परास्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

शत्रुओं की किंकर्त्तव्यविमूढ़ता

यथा मृगाः संविजन्त आरण्याः पुरुषादधि।
एवा त्वं दुन्दुभेऽ मित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय॥ ४॥

१. **यथा**=जैसे **आरण्याः मृगाः**=जंगल के मृग **पुरुषात्**=पुरुष से—शिकारी से **अधि-संविजन्ते**=भयभीत होकर भाग खड़े होते हैं, हे **दुन्दुभे**=युद्धवाद्य! **एव**=इसीप्रकार तू **अमित्रान् अभिक्रन्द**=शत्रुओं पर गर्जना करनेवाला हो, **प्रत्रासय**=उन्हें भयभीत कर दे, **अथ उ चित्तानि मोहय**=और उनके चित्तों को मोहित कर डाल, उन्हें मूढ़ बना डाल—उन्हें कर्त्तव्याकर्त्तव्य सूझे ही नहीं, वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाएँ।

भावार्थ—युद्धवाद्य का शब्द सुनकर हमारे शत्रु ऐसे भाग खड़े हों जैसे शिकारी से वन-मृग भाग खड़े होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—५ **पथ्यापङ्क्तिः**, ६ **जगती** ॥

वृकात् अजावयः, श्येनात् पतत्रिणः

यथा वृकादजावयो धावन्ति बहु बिभ्यतीः।
एवा त्वं दुन्दुभेऽ मित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय॥ ५॥
यथा श्येनात्पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा।
एवा त्वं दुन्दुभेऽ मित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय॥ ६॥

१. **यथा**=जैसे **अजा-अवयः**=भेड़-बकरियाँ **वृकात्**=भेड़िये से **बहु बिभ्यतीः**=बहुत डरती हुई **धावन्ति**=भाग खड़ी होती है, **एव**=इसीप्रकार हे **दुन्दुभे**=युद्धवाद्य! **त्वम्**=तू **अमित्रान् अभिक्रन्द**=शत्रुओं पर गर्जना कर **प्रत्रासय**=उन्हें भयभीत कर दे, **अथ उ चित्तानि मोहय**=और उनके चित्तों को मूढ़ बना डाल। २. **यथा**=जैसे **श्येनात्**=बाज़पक्षी से **पतत्रिणः**=पक्षी **संविजन्ते**=भयभीत होकर उड़ जाते हैं और **यथा**=जैसे **अहर्दिवि**=दिन प्रतिदिन **सिंहस्य स्तनयोः**=सिंह की गर्जना से पशु भय-सञ्चलित हो जाते हैं, **एव**=उसी प्रकार हे **दुन्दुभे**=युद्धवाद्य! **त्वम्**=तू **अमित्रान् अभिक्रन्द**=शत्रुओं पर गरज उठ, **प्रत्रासय**=उन्हें भयभीत कर दे **अथ उ**=और निश्चय से **चित्तानि मोहय**=उनके चित्तों को मूढ बना डाल।

भावार्थ—युद्धवाद्य के बजने पर शत्रु इसप्रकार भय-सञ्चलित हो जाएँ जैसे भेड़िये से भेड़-बकरियाँ, बाज़ से पक्षी व शेर की गर्जना से पशु भाग खड़े होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दुन्दुभिः (दुन्दुशब्देन भाययति)

परामित्रान्दुन्दुभिना हरिणस्याजिनेन च।
सर्वे देवा अतित्रसन्ये संग्रामस्येशते॥ ७॥

१. **ये**=जो **संग्रामस्य ईशते**=संग्राम के स्वामी होते हैं, वे **सर्वे देवाः**=सब शत्रु-विजिगीषावाले पुरुष **हरिणस्य अजिनेन**=हरिण के चमड़े से मढ़ी हुई **दुन्दुभिना**=दुन्दुभि से **च**=ही **अमित्रान्**=शत्रुओं को **परा अतित्रसन्**=भयभीत कर सुदूर भगा देते हैं।

भावार्थ—युद्धवाद्य को कुशलता से बजानेवाले व्यक्ति इस दुन्दुभि से ही शत्रुओं को भयभीत कर डालते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

छायया सह इन्द्रः

यैरिन्द्रः प्रक्रीडते पद्घोषैश्छायया सह। तैरमित्रास्त्रसन्तु नोऽमी ये यन्त्यनीकशः॥ ८॥

१. शत्रुओं का छेदन करनेवाली सेना यहाँ 'छाया' कही गई है। **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला सेनापति **छायया सह**=शत्रुओं का छेदन करनेवाली सेना के साथ **यैः पद्घोषैः**=जिन चरणाघात-जनित शब्दों के साथ [Marching में होनेवाले शब्दों के साथ] **प्रक्रीडते**=युद्ध-क्रीड़ा करता है, **तैः**=उन पद्घोषों से **अमी**=वे **ये**=जो **अनीकशः**=एक-एक टुकड़ी करके **यन्ति**=गति करते हैं, वे **नः अमित्राः**=हमारे शत्रु **त्रसन्तु**=भयभीत हों।

भावार्थ—सेनापति के साथ सेना के पादाघात-जनित घोषों से ही शत्रु-सैन्य भयभीत होकर भाग जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ज्याघोषाः, दुन्दुभयः

ज्याघोषा दुन्दुभयोऽभि क्रोशन्तु या दिशः।
सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः॥ ९॥

१. हमारी **ज्याघोषाः**=धनुष की डोरियों की आवाज़ें और **दुन्दुभयः**=भेरियाँ **याः दिशः**=जिस भी दिशा में **अभिक्रोशन्तु**=शत्रुओं का आह्वान करें—उन्हें ललकारें, उन्हीं दिशाओं में **अमित्राणाम्**=शत्रुओं की **अनीकशः**=टुकड़ियों-की-टुकडियाँ **सेनाः**=सेनाएँ **यतीः**=जाती हुई **पराजिताः**=पराजित हो जाएँ।

भावार्थ—हमारे ज्याघोष व दुन्दुभि के शब्द शत्रुओं को भग्न व पराजित करनेवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आदित्य-मरीचयः

आदित्य चक्षुरा दत्स्व मरीचयोऽनु धावत।
पत्सङ्गिनीरा संजन्तु विगते बाहुवीर्ये॥ १०॥

१. हे **आदित्य**=सूर्य! **चक्षुः आदत्स्व**=तू शत्रु की आँखों को छीन ले, उन्हें चुँधिया दे। **मरीचयः अनुधावत**=हे किरणो! तुम शत्रुओं का पीछा करो। 'आदित्य' सेनापति है—शत्रुओं के बल का आदान करनेवाला। 'मरीचयः' सैनिक हैं (म्रियते शत्रुतमः अस्मिन्) जिसके होने पर शत्रुओं का अन्धकार समाप्त हो जाता है। २. **विगते बाहुवीर्ये**=जब शत्रुओं का बाहुबल टूट जाए तब **पत्संगिनीः आसजन्तु**=पैरों में पड़नेवाली रस्सियाँ शत्रुओं के पैरों में लग जाएँ।

भावार्थ—सेना के साथ सेनापति शत्रु का पीछा करे, शत्रु को थकाकर उन्हें बेड़ियाँ पहनाकर कारागृह में डाल दे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यादयः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भात्रिष्टुप्** ॥

राजा=सोमः, वरुणः, इन्द्रः=महादेवः मृत्युः

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून्।
सोमो राजा वरुणो राजा महादेव उत मृत्युरिन्द्रः॥ ११॥

१. हे **मरुतः**=सैनिको! **यूयम्**=तुम **उग्राः**=तेजस्वी हो, **पृश्निमातरः**=भूमि (पृश्नि) को अपनी माता समझनेवाले हो। **इन्द्रेण युजा**=शत्रुविद्रावक सेनापति के साथ मिलकर **शत्रून् प्रमृणीत**=शत्रुओं को कुचल दो। २. तुम्हारे राष्ट्र का **राजा**=शासक **सोमः**=बड़े सौम्य स्वभाव का व सोम (शक्ति) का पुञ्ज है। वह **राजा**=शासक **वरुणः**=प्रजा के कष्टों का निवारण करनेवाला है **उत**=और **इन्द्रः**=यह शत्रुविद्रावक सेनापति **महादेवः**=महान् विजिगीषु है (दिव् विजिगीषायाम्), शत्रुओं को जीतने की कामनावाला है। यह तो शत्रुओं के लिए साक्षात् **मृत्युः**=मौत ही है।

भावार्थ—राष्ट्र के सैनिक मातृभूमि की रक्षा के लिए विजिगीषु व शत्रुओं के लिए मृत्युभूत सेनापति के साथ मिलकर शत्रुओं को कुचलनेवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिपदायवमध्यागायत्री** ॥

देवसेना सूर्य केतवः

एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः। अमित्रान्नो जयन्तु स्वाहा॥ १२॥

१. **एताः**=ये **नः**=हमारी **देवसेनाः**=शत्रुओं को जीतने की कामनावाली सेनाएँ **सूर्यकेतवः**=सूर्य के झण्डेवाली हों। सूर्य से ये निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करें कि "जैसे सूर्य अन्धकार को नष्ट करता है, हमें शत्रुओं के अन्धकार को नष्ट करना है", ये **सचेतसः**=सदा चेतना से युक्त हों—इनके होश सदा स्थिर रहें—ये घबरा न जाएँ। २. ये सेनाएँ **अमित्रान् जयन्तु**=शत्रुओं को जीतनेवाली हों। **स्वाहा**=हम भी अपना त्याग करनेवाले बनें (स्व+हा), राष्ट्र-रक्षा के लिए कुछ-न-कुछ बलिदान करनेवाले बनें।

भावार्थ—हमारी सेनाएँ विजिगीषावाली हों। इनके झण्डे पर सूर्य का चिह्न हो। उससे ये शत्रुरूप अन्धकार को समाप्त करने की प्रेरणा लें। ये शत्रुओं को जीतें। हम भी स्वार्थ-त्याग की वृत्ति से राष्ट्र-रक्षा में सहयोगी बनें।

विशेष—सुरक्षित राष्ट्र में उन्नति-पथ पर चलता हुआ व्यक्ति अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करके 'भृगु' बनता है। शरीर को स्वस्थ बनानेवाला यह अङ्गिरा होता है। अगला सूक्त इसी 'भृगु अङ्गिरा' का है।

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

नीरोगता, पवित्र बल, निर्द्वेषता

अग्निस्तक्मानमप बाधतामितः सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः।
वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना अप द्वेषांस्यमुया भवन्तु॥ १॥

१. **अग्निः**=शरीर की उचित ऊष्मा **इतः**=यहाँ से—शरीर से **तक्मानम्**=जीवन को कष्टमय बनानेवाले रोग को **अपबाधताम्**=दूर रोकनेवाली हो। **सोमः**=शरीरस्थ वीर्य धातु **ग्रावा**=(अश्मा भवतु नस्तूनः) पत्थर के समान दृढ़ शरीर, **वरुणः**=द्वेष का निवारण—निर्द्वेषता—ये सब **पूतदक्षाः**=शरीर के बल को पवित्र करनेवाले हों। २. **वेदिः**=यज्ञ की वेदि, **बर्हिः**=वेदि को आस्तीर्ण करनेवाली कुशा घास, **समिधः**=समिधाएँ—ये सब **शोशुचानाः**=हमारे घरों में दीप्त होती हुई हों। यज्ञों के द्वारा ही रोगरूप शत्रुओं का प्रणोदन होगा। **अमुया**=इस सारी प्रक्रिया से **द्वेषांसि अपभवन्तु**=द्वेष हमारे घरों से दूर हो जाएँ। वस्तुतः स्वस्थ शरीर व यज्ञादि कर्म निर्द्वेषता को उत्पन्न करते हैं।

भावार्थ—शरीर की उचित ऊष्मा हमें नीरोग बनाए। वीर्य-दृढ़ शरीर व निर्द्वेषता हमारे बलों को पवित्र करें। वेदि, कुशा व समिधाएँ आदि सब यज्ञ-सामग्री हमारे घरों में दीप्त हों, जिससे हमारे जीवन एकदम द्वेषशून्य बनें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'न्यङ् अधराङ् परा' ऐहि

अयं यो विश्वान्हरितान्कृणोष्युच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्वन्।
अधा हि तक्मन्नरसो हि भूया अधा न्यङ्ङधराङ् वा परेहि॥ २॥

१. हे **तक्मन्**=ज्वर! **यः अयम्**=जो यह तू **विश्वान्**=सबको **हरितान् कृणोषि**=निस्तेजता के कारण पीला-पीला-सा कर देता है, **उच्छोचयन्**=जो सन्तप्त करता हुआ **अग्निः इव अभिदुन्वन्**=अग्नि के समान उपतप्त करता हुआ होता है। २. हे ज्वर! वह तू **अध**=अब **हि**=निश्चय से **अरसाः हि भूयाः**=निःसार—निस्तेज ही हो जाए। **अध**=अब **न्यङ्**=तेरी गति नीचे की ओर हो **वा अधराङ्**=निश्चय से उतर जा, **परा इहि**=तू हमसे सुदूर चला जा।

भावार्थ—ज्वर हमें निस्तेज करता है। यह सन्तप्त करके कष्ट देता है। इसे हम उचित औषधोपचार के द्वारा नष्ट करें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्वधा वीर्य

यः परुषः पारुषेयो ऽवध्वंसइवारुणः।
तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुव॥ ३॥

१. हे **विश्वधावीर्य**=सब ओर वीर्य को धारण करनेवाली ओषधे! तू **तक्मानम्**=ज्वर को **अधराञ्चं परासुव**=नीचे करके दूर भगा दे, विरेचन के द्वारा नीचे की ओर ले-जाकर नष्ट कर दे। २. उस ज्वर को दूर कर दे **यः**=जो **पारुषेयः**=शरीर के पर्व-पर्व में बसा हुआ है, **परुषः**= भयंकर है, **अरुणः इव**=अग्नि की भाँति **अवध्वंसः**=देह को (जलाकर) नष्ट करनेवाला है।

भावार्थ—विश्वधावीर्य ओषधि हमारे पर्व-पर्व में बसे भयंकर रोग को विरेचित करके नष्ट कर देती है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शकम्भरस्य मुष्टिहा

अधराञ्चं प्र हिणोमि नमः कृत्वा तक्मने।
शकम्भरस्य मुष्टिहा पुनरेतु महावृषान्॥ ४॥

१. इस **तक्मने**=ज्वर के लिए **नमः कृत्वा**=नमस्कार करके **अधराञ्चं प्रहिणोमि**=इसे नीचे की ओर गतिवाला करके दूर भेज देता हूँ। २. **शकम्भरस्य**=अपने में शक्ति का भरण करनेवाले का भी—शक्तिशाली का भी **मुष्टिहा**=(मुष स्तेये) शक्तिशोषण के द्वारा विनाश करनेवाला यह ज्वर **पुनः**=फिर **महावृषान् एतु**=बहुत अधिक वृष्टिवाले देशों में जाए।

भावार्थ—ज्वर को दूर से ही नमस्कार करना ठीक है। इसे विरेचक ओषधि द्वारा निम्नगतिवाला करना चाहिए। यह शक्तिशाली को भी निस्तेज करके नष्ट कर देता है। अतिवृष्टिवाले देशों में यह फिर-फिर उत्पन्न हो जाता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती** ॥

ज्वर कहाँ?

ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषाः।
यावज्जातस्तक्मंस्तावानसि बल्हिकेषु न्योचरः॥ ५॥

१. **अस्य**=इस ज्वर का **ओकः**=घर **मूजवन्तः**=मूँज-घासवाले प्रदेश हैं—इन्हीं स्थानों में मच्छर आदि की सम्भावनाएँ अधिक होती है। ये मच्छर ही ज्वर को फैलाते हैं। **अस्य**=इसका **ओकः**=घर **महावृषाः**=अधिक वृष्टिवाले प्रदेश हैं। इनमें ज्वर की सम्भावना अधिक होती है। वृष्टि में अग्निमान्द्य होकर ज्वर की आंशका हो ही जाती है। २. हे **तक्मन्**=ज्वर! **यावत् जातः**=जब से तू हुआ है, **तावान्**=उतना तू **बल्हिकेषु**=(बल्ह परिभाषणहिंसाच्छादनेषु) बहुत बोलनेवालों में, हिंसा की वृत्तिवालों में, हर समय अपने को घरों में ढके रहनेवालों में—खुले में न रहनेवालों में **न्योचरः असि**=(नि+उच् +अर) निश्चय से समवेत होनेवाला है। बोलने में शक्तिक्षीण होती है, हिंसक की मानस स्थिति ठीक नहीं होती, हर समय घर में पड़े रहनेवाले को शुद्ध वायु के सेवन का अवसर नहीं होता, अतः ये सब बातें ज्वरोत्पत्ति का कारण बनती हैं।

भावार्थ—बहुत घासवाले व अतिवृष्टिवाले प्रदेश ज्वर का अधिष्ठान बनते हैं। परिभाषण, हिंसा व आच्छादन के दोषवाले लोग ज्वर से ग्रस्त होते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

असंयम व ज्वर

तक्मन्व्याल वि गद व्यङ्ग भूरि यावय।
दासीं निष्टक्वरीमिच्छ तां वज्रेण समर्पय॥ ६॥

१. हे **तक्मन्**=जीवन को कष्टमय बनानेवाले, **व्याल**=सर्प के समान विषैले, **व्यंग**=(वि अङ्ग) अङ्गों को विकृत कर देनेवाले, **वि-गद**=विशिष्ट ज्वर! तू **भूरि यावय**=हमें तो बहुत दूर छोड़ा जा—हमसे दूर चला जा। २. तू **निष्टक्वरीम्**=(निः तक हसने) निकृष्ट परिहास करनेवाली **दासीम्**=शक्तियों का क्षय करनेवाली दासी की **इच्छ**=कामना कर—उसी को प्राप्त हो, **तां वज्रेण समर्पय**=उसी को अपने वज्र से पीड़ित कर (ऋ हिंसायाम्)। तेरा वज्र इस ठठोल, असंयमी स्त्री को ही आहत करे।

भावार्थ—ज्वर शरीर में विषों को उत्पन्न कर देता है, अङ्गों को विकृत कर देता है, जीवन को कष्टमय बना देता है। असंयमी और शक्ति का क्षय कर लेनेवाले व्यक्तियों को यह प्राप्त होता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मूजवतः, बल्हिकान्, प्रफर्व्यम्

तक्मन्मूजवतो गच्छ बल्हिकान्वा परस्तराम्।
शूद्रामिच्छ प्रफर्व्यं तां तक्मन्वीव धूनुहि॥ ७॥

१. हे **तक्मन्**=ज्वर! तू **मूजवतः गच्छ**=मूँज-घासवाले प्रदेशों में जा, **वा**=अथवा **परस्तराम्**=हमसे दूर तू **बल्हिकान्**=बहुत बोलनेवाले, हिंसा की वृत्तिवाले, सदा घर में घुसे रहनेवाले को प्राप्त हो। २. तू उस **शूद्राम्**=अनपढ़, असंस्कृत स्त्री की इच्छा कर जोकि **प्रफर्व्यम्**=(फर्व गतौ) हर समय इधर-उधर भटकनेवाली हो (निष्टक्वरीं दासीम्—मन्त्र ६)। हे **तक्मन्**=ज्वर! तू **ताम्**=उस स्त्री को ही **वि इव**=खुब ही **धूनुहि**=कम्पित कर।

भावार्थ—ज्वर के प्रदेश में अतिशयेन घासवाले प्रदेश हैं। यह बहुत बोलनेवाले, हिंसक, घर में घुसे रहनेवाले लोगों को प्राप्त होता है। यह असंयमी व असंस्कृत स्त्रियों को कम्पित करता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

महावृषान् मूजवतः

महावृषान्मूजवतो बन्ध्वद्धि परेत्य।
प्रैतानि तक्मने ब्रूमो अन्यक्षेत्राणि वा इमा॥ ८॥

१. हे ज्वर! तू **महावृषान्**=अति वृष्टिवाले प्रदेशों को तथा **मूजवतः**=घासवाले प्रदेशों को **परेत्य**=सुदूर प्राप्त होकर **बन्धु अद्धि**=उन्हें बाँधनेवाला होकर खानेवाला बन। तेरा बन्धन इन प्रदेशों को ही प्राप्त हो—इन्हें ही तू खा। २. **एतानि**=इन अतिवृष्टिवाले व घासवाले प्रदेशों को ही **तक्मने ब्रूमः**=ज्वर के लिए प्रकर्षेण कहते हैं। **इमा**=ये हमारे शरीर तो **वा**=निश्चत से **अन्यक्षेत्राणि**=अन्य ही क्षेत्र हैं—ये वे क्षेत्र नहीं जहाँ ज्वर आया करता है।

भावार्थ—ज्वर अतिवृष्टिवाले, घास-फूँस से भरे प्रदेशों में ही लोगों को जकड़कर पीड़ित करनेवाला हो। हमारे शरीर ज्वर के अधिष्ठान नहीं हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रार्थः तक्मा

अन्यक्षेत्रे न रमसे वशी सन्मृडयासि नः।
अभूदु प्रार्थस्तक्मा स गमिष्यति बल्हिकान्॥ ९॥

१. हे तक्मन्! तू **अन्यक्षेत्रे**=इस असाधारण मानव शरीर में (Extra-ordinary) **न रमसे**=क्रीड़ा नहीं करता। **वशी सन्**=वश में हुआ-हुआ—काबू किया हुआ तू **नः मृडयासि**=हमें सुखी करता है। २. **तक्मा**=यह ज्वर **उ**=निश्चय से **प्रार्थः अभूत्**=प्रकृष्ट याचनावाला हुआ, अर्थात् जब इस ज्वर को मानव-शरीर में स्थान न मिला तो यह मानो दीनता से पूछता है कि मैं कहाँ जाऊँ? तो इसे यही उत्तर मिलता है कि तू बल्हिकों के प्रति जा, अतः **सः**=वह ज्वर **बल्हिकान् गमिष्याति**=बहुत बोलनेवाले, हिंसक वृत्तिवाले (मांसाहारी), घरों में घुसे रहनेवाले लोगों को प्राप्त होगा।

भावार्थ—ज्वर अद्भुत मानव-शरीर में क्रीडा न करता हुआ, हमें सुखी करता है, यह बल्हिकों को ही प्राप्त होता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शीतः ज्वरः

यत्त्वं शीतोऽथो रूरः सह कासावेपयः।
भीमास्ते तक्मन्हेतयस्ताभिः स्म परि वृङ्ग्धि नः॥ १०॥

१. हे **तक्मन्**=ज्वर! **यत् त्वम्**=जो तू **शीतः**=सर्दी लगकर आनेवाला है, **अथो**=अथवा **रूरः**=(अग्निर्वै रूरः—ता० ५.७.१०) सन्ताप करता हुआ आता है अथवा **कासा सह अवेपयः**=खाँसी के साथ हमें कम्पित कर देता है। २. हे ज्वर! **ते हेतयः**=तेरे अस्त्र **भीमाः**=भंयकर हैं। **ताभिः**=उन सब अस्त्रों से **नः**=हमें **परि वृङ्ग्धिः स्म**=छोड़ देनेवाला हो। तेरे अस्त्र हमपर प्रहार करनेवाले न हों।

भावार्थ—ज्वर हमें अपने सर्दी, गर्मी, खाँसी आदि भयंकर अस्त्रों से आहत करनेवाला न हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

बलासं, कासं, उद्युगम्

मा स्मैतान्त्सखीन्कुरुथा बलासं कासमुद्युगम्।
मा स्मातोऽर्वाङैः पुनस्तत्त्वा तक्मन्नुप ब्रुवे॥ ११॥

१. हे **तक्मन्**=ज्वर! तू **बलासम्**=कफ़ को, **कासम्**=खाँसी को **उद्युगम्**=क्षय को (युगि वर्जने) **एतान्**=इन सबको **सखीन् मा स्म कुरुथाः**=मित्र मत बना। ज्वर के साथ कफ़ (बलगम), खाँसी व क्षय का उपद्रव न खड़ा हो जाए। २. **अतः अर्वाङ् मा स्म ऐः**=इसलिए तू हमारे समीप मत आ। ज्वर के साथ कितने ही उपद्रव आ खड़े होते है, अतः यह हमारे समीप नहीं आये तभी ठीक है। **पुनः**=फिर मैं **त्वा**=तुझे **तत् उपब्रुवे**=वह बात कहता हूँ कि तू हमारे समीप मत आ।

भावार्थ—ज्वर के साथ कफ़, खाँसी, क्षय आदि कितने ही उपद्रव उठ खड़े होते है, अत: ज्वर हमारे समीप न ही आये।

ऋषि:—**भृग्वङ्गिरा:** ॥ देवता—**तक्मनाशन:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

अरणं जनम्

तक्मन्भ्रात्रा बलासेन स्वस्रा कासिकया सह।
पाप्मा भ्रातृव्येण सह गच्छामुमरणं जनम्॥ १२॥

१. हे **तक्मन्**=ज्वर! तू **भ्रात्रा बलासेन**=अपने भाई कफ़ के साथ, **स्वस्रा कासिकया सह**=बहिन के तुल्य खाँसी के साथ, **पाप्मा भ्रातृव्येण सह**=(पाप्मना) क्षय नामक पापरोग भतीजे के साथ **अमुम्**=उस **अरणम्**=अवद्य (रण शब्दे), निन्दनीय **जनम्**=मनुष्य के पास **गच्छ**=जा

भावार्थ —कफ़, खाँसी व क्षय के साथ यह ज्वर पापी को ही प्राप्त हो।

ऋषि:—**भृग्वङ्गिरा:** ॥ देवता—**तक्मनाशन:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

शारदं, ग्रैष्मं, वार्षिकम्

तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम्।
तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम्॥ १३॥

१. **तृतीयकम्**=तीसरे दिन आनेवाले, **वि-तृतीयम्**=तीन दिन छोड़कर आनेवाले (चौथैया) **सदन्दिम्**=(सदं, दो अवखण्डने) सदा पीड़ित करनेवाले **उत**=और **शारदम्**=शरद् ऋतु में आनेवाले **तक्मानम्**=ज्वर को **नाशय**=नष्ट कर। २. **शीतम्**=सर्दी से लगकर आनेवाले, **रूरम्**=गर्मी लगकर आनेवाले, **ग्रैष्मम्**=ग्रीष्म ऋतु में हो जानेवाले तथा **वार्षिकम्**=वर्षाऋतु में होनेवाले ज्वर को (नाशय) नष्ट कर।

भावार्थ—एक सद्वैद्य सब प्रकार के रोगों को उचित औषधोपचार से दूर कर दे।

ऋषि:—**भृग्वङ्गिरा:** ॥ देवता—**तक्मनाशन:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

गन्धारिभ्य:, अङ्गेभ्य:, मगधेभ्य:

गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्य:।
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि॥ १४॥

१. **इव**=जैसे **जनम्**=किसी मनुष्य को **शेवधिं प्रैष्यन्**=कोश (धन) भेजा जाता है, उसी प्रकार हम **तक्मानम्**=इस ज्वर को **गन्धारिभ्य:**=(गन्ध् हिंसने) हिंसन की वृत्तिवाले पुरुषों के लिए **परि दद्मसि**=दे डालते हैं। इस ज्वर का धन इन हिंसकों के लिए ही ठीक है। २. इसप्रकार हम इस ज्वर-धन को **मूजवद्भ्य:**=घास की अधिकतावाले स्थानों के लिए भेज देते हैं—इन स्थानों में रहनेवालों को ही यह धन प्राप्त हो। **अङ्गेभ्य:**='जिन्हें बहुत अधिक गति करनी पड़ती है (अगि गतौ) और परिणामत: श्रम की अति के कारण क्षीण हो जाते हैं' उनके लिए हम इस ज्वर-धन को भेजते हैं, अन्तत: **मगधेभ्य:**=(मगं दोषं दधाति) दोषों को धारण करनेवाले मलिन-चरित्र पुरुषों के लिए हम इसे धारण करते हैं।

भावार्थ—ज्वर हिंसकों को, घास-प्रचुर स्थान में रहनेवालों को, अतिश्रम से थक जानेवालों को तथा दूषित जीवनवालों को प्राप्त होता है।

विशेष—ज्वर को समाप्त करने के लिए रोग-कृमियों का विनाश आवश्यक है। रोग-कृमियों

के विनाश से ज्वर का विनाश स्वतः ही हो जाएगा, अतः अगले सूक्त का विषय कृमियों का विनाश है। इन कृमिरूप राक्षसों का विनाशक 'इन्द्र' है। बुद्धिमत्ता से काम करने के कारण यह 'कण्व' है—मेधावी। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

क्रिमि-विनाश

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती।
ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्च क्रिमिं जम्भयतामिति॥ १॥

१. **मे**=मेरे जीवन में **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्करूप द्युलोक तथा शरीररूप पृथिवीलोक **ओते**=ओत-प्रोत हो गये हैं—बुने-से गये हैं। मस्तिष्क दीप्त है तो शरीर दृढ़ (येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा)। इसीप्रकार **देवी**=जीवन को प्रकाशमय बनानेवाली **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता मेरे जीवन में **ओता**=व्याप्त हो गई है। २. इसीप्रकार **मे**=मेरे **इन्द्रः च अग्निः च**=बल व प्रकाश के देवता **ओतौ**=परस्पर बुने हुए-से हो गये हैं, **इति**=यह सब इसलिए कि ये **क्रिमिं जम्भयताम्**=रोग-कृमियों को नष्ट कर दें।

भावार्थ—जीवन में हम यदि मतिष्क और शरीर दोनों का ध्यान रक्खेंगे, सरस्वती की अराधना से जीवन को प्रकाशमय बनाएँगे और बल व प्रकाश दोनों का सम्पादन करेंगे तो रोग-कृमियों से आक्रान्त नहीं होंगे।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

धनपति इन्द्र

अस्येन्द्र कुमारस्य क्रिमीन्धनपते जहि।
हता विश्वा अरातय उग्रेण वचसा मम॥ २॥

१. 'इन्द्र' सूर्य का भी नाम है और यह सूर्य सब प्राणदायी धनों का स्वामी है—'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'। हे **धनपते**=सब प्राणधनों के स्वामीन्! **इन्द्र**=सूर्य! **अस्य कुमारस्य**=इस कुमार के **क्रिमीन्**=शरीरस्थ रोग-कृमियों को **जहि**=विनष्ट कर—'उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्ति निम्रोचन हन्तु रश्मिभिः'। २. **मम**=मेरे **उग्रेण वचसा**=तेजस्वी वचनों से **विश्वाः अरातयः**=सब शत्रु **हताः**=विनष्ट हो जाते हैं अथवा मुझसे प्रयुक्त की जानेवाली इस उग्र—रोग-कृमियों के लिए भयंकर—वचा औषधि से सब रोग-कृमियों का विनाश हो जाता है।

भावार्थ—सूर्य-किरणों का सेवन कृमि-विनाश के लिए सर्वोत्तम उपचार है। वचा ओषधि का प्रयोग भी कृमि-विनाश के लिए उपयोगी है।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अक्ष्यौ, नासे, दतां मध्ये

यो अक्ष्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति।
दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमिं जम्भयामसि॥ ३॥

१. **यः**=जो कृमि **अक्ष्यौ**=आँखों की ओर **परिसर्पति**=गतिवाला होता है—आँखों में विचरण करता है, **यः**=जो कृमि **नासे परिसर्पति**=नासा-छिद्रों में गति करता है और **यः**=जो **दतां मध्यं गच्छति**=दाँतों के बीच में गति करता है, **तं क्रिमिं जम्भयामसि**=उस कृमि का विनाश करते हैं।

भावार्थ—हम आँखों, नासिका-छिद्रों व दाँतों को रुग्ण करनेवाले कृमियों का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विविध कृमि

सरूपौ द्वौ विरूपौ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहितौ द्वौ।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च गृध्रः कोकश्च ते हताः ॥ ४ ॥

१. **सरूपौ द्वौ**=दो कृमि एकदम समान रूपवाले हैं—भिन्न-भिन्न रोगों का कारण बनते हैं, परन्तु उनका रूप एकदम मिलता-सा है। **विरूपौ द्वौ**=दो कृमि भिन्न-भिन्न रूपोंवाले हैं—एक ही रोग का कारण बनते हैं, परन्तु हैं रूप में अलग-अलग। **द्वौ कृष्णौ**=दो कृष्णवर्ण कृमि हैं, **द्वौ रोहितौ**=दो लाल रंग के हैं—ये विविध रोगों को उत्पन्न करते हैं, २. **बभ्रुः च बभ्रुकर्णः च**=एक भूरे रंग का है और एक भूरे कानवाला है, **गृध्रः च**=एक मांस खा जाने का लोभी-सा है तो **कोकः च**=एक दूसरा खून को पी जानेवाला है (कुक आदाने) **ते हताः**=(सूर्य-किरणों के सेवन व वचा के प्रयोग से) वे सब मारे गये हैं।

भावार्थ—संसार में विविध प्रकार के कृमि हैं, नीरोगता के लिए उन सबका विनाश आवश्यक है।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शितिकक्षाः, शितिबाहवः

ये क्रिमयः शितिकक्षा ये कृष्णाः शितिबाहवः।
ये के च विश्वरूपास्तान्क्रिमीन् जम्भयामसि ॥ ५ ॥

१. **ये**=जो **क्रिमयः**=कृमि **शितिकक्षाः**=श्वेत कोखवाले हैं, **ये**=जो **कृष्णाः शितिबाहवः**=काले व श्वेत भुजाओंवाले हैं **च**=और **ये के**=जो कोई **विश्वरूपाः**=विविध रूपोंवाले हैं, **तान्**=उन **क्रिमीन्**=क्रिमियों को **जम्भयामसि**=हम विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—'शितिकक्ष, शितिबाहु व विश्वरूप' सब कृमियों को विनष्ट किया जाए।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूर्य-किरणों में

उत्पुरस्तात्सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा।
दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन् ॥ ६ ॥

१. यह **सूर्यः**=सूर्य **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा से **उत् एति**=उदित होता है, यह **विश्वदृष्टः**=सबसे देखा गया है, अथवा यह सबको देखनेवाला है—'विश्वं दृष्टं येन'। यह **अदृष्टहा**=अदृष्ट कृमियों का भी नाश करता है। २. **दृष्टान् च अदृष्टान् च**=यह दृष्ट व अदृष्ट **सर्वान् च**=सभी **क्रिमीन्**=कृमियों को **घ्नन्**=नष्ट करता है, **प्रमृणन्**=अपनी किरणों से उन्हें कुचल देता है।

भावार्थ—सूर्योदय होता है और यह उदित होता हुआ सूर्य विश्वदृष्ट होता हुआ दृष्ट व अदृष्ट सब कृमियों को नष्ट कर देता है।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कष्कषासः शिपवित्नुकाः

येवाषासः कष्कषास एजत्काः शिपवित्नुकाः।
दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिरुतादृष्टश्च हन्यताम् ॥ ७ ॥

१. **येवाषासः**=(इण् गतौ, अज गतौ) गतिवाले व खूब ही गतिवाले कई कृमि हैं, **कष्कषासः**=(कष्=हिंसायाम्) अतिशयेन पीड़ा देनेवाले ये दूसरे कृमि हैं। **एजत्काः**=(एजृ दीप्तौ कम्पने च) कई कृमि दीप्यमान व कम्पनशील हैं, **शिपवित्नुकाः**=(शिपि=Skin, वितन्=to cover, to stretch) सारी त्वचा में फैल जानेवाले कई कृमि हैं। २. ये सब **दृष्टः च**=जो देखे गये हैं वे **क्रिमिः**=कृमि **हन्यताम्**=मारे जाएँ **उत**=और **अदृष्टः च**=न दिखा हुआ कृमि भी मारा जाए।

भावार्थ—'तीव्र गतिवाले, बड़ी पीड़ा प्राप्त करनेवाले, चमकते हुए कम्पायमान, सारी त्वचा पर फैल जानेवाले'—ये सब दृष्ट व अदृष्ट कृमि मारे जाएँ।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'येवाष व नदनिमा' को मसल देना

हतो येवाषः क्रिमीणां हतो नदनिमोत।
सर्वान्नि मष्मषाकरं दृषदा खल्वाँइव ॥ ८ ॥

१. **क्रिमीणाम्**=कृमियों में यह **येवाषः**=बड़ी तीव्र गतिवाला कृमि **हतः**=मारा गया है, **उत**=और **नदनिमा**=यह शब्द करनेवाला, चिर-चिर-सी ध्वनि करनेवाला कृमि **हतः**=मारा गया है। २. मैं **सर्वान्**=सब कृमियों को **मष्मषा**=मसल-मसलकर **नि अकरम्**=नष्ट कर देता हूँ, **इव**=जैसे **खल्वान्**=चणों को **दृषदा**=एक पत्थर से दल देते हैं।

भावार्थ—कृमियों को उचित औषधोपचार से ऐसे मसलकर रख दिया जाए जैसेकि पत्थर से चनों को मसल दिया जाता है।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कृमि-शिरः कर्तन

त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम्।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ ९ ॥

१. मैं **त्रिशीर्षाणम्**=तीन सिरोंवाले, **त्रिककुदम्**=तीन ककुदों-(कुदानों)-वाले, **सारंगम्**=चित्र-विचित्र वर्णवाले, **अर्जुनम्**=श्वेत कृमि को **शृणामि**=नष्ट करता हूँ। २. **अस्य**=इस रोग-कृमि की **पृष्टिः अपि**=पसलियों को भी नष्ट करता हूँ, **च**=और **यत् शिरः**=इनका जो शिर है, उसे भी **वृश्चामि**=काट डालता हूँ।

भावार्थ—कई तीन सिरोंवाले व तीनों कुदानोंवाले कृमि हैं। इनका सिर काटडालने से इनका नाश कर देता हूँ।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अत्रि, कण्व, जमदग्नि व अगस्त्य' की भाँति

अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत्।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ १० ॥

१. हे **क्रिमयः**=कृमयो! **वः**=तुम्हें मैं इसप्रकार **हन्मि**=नष्ट करता हूँ **अत्रिवत्**=जैसेकि एक अत्रि—काम, क्रोध व लोभ से ऊपर उठा हुआ पुरुष नष्ट करता है (अ-त्रि), **कण्ववत्**=एक मेधावी की भाँति तुम्हें नष्ट करता हूँ और **जमदग्निवत्**=दीप्त जाठर अग्निवाले (जमत् अग्नि) पुरुष की भाँति तुम्हारा विनाश करता हूँ। काम-क्रोध व लोभ में फँसने से, नासमझी से, आहार-

विहार की गलतियों से व जाठर अग्नि के मन्द हो जाने से विविध रोग-कृमियों की उत्पत्ति हो जाती है। २. **अगस्त्यस्य**=(अगं स्त्यायति, संघाते) पाप का संहनन करनेवाले पुरुष के **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **अहम्**=मैं क्रिमीन् **संपिनष्मि**=कृमियों को पीस डालता हूँ—विनष्ट कर डालता हूँ।

भावार्थ—हम 'अत्रि, कण्व, जमदग्नि व अगस्त्य' बनें और इन रोगकृमियों के शिकार न हों।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'कृमि-परिवार' विनाश

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा॥ ११॥

१. **कृमीणां राजा हतः**=कृमियों का राजा मारा गया है, **उत**=और **एषां स्थपतिः हतः**=इनका स्थानपति (स्थान के बनानेवाला) कृमि भी मारा गया है। २. **हतमाता**=जिसकी माता मारी गई है, **हतभ्राता**=जिसका भाई मारा गया है, **हतस्वसा**=जिसकी बहिन मारी गई है, वह **क्रिमिः हतः**=कृमि भी मार दिया गया है।

भावार्थ—कृमियों के परिवार-के-परिवार का ही विनाश अभीष्ट है।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वेशसः परिवेशसः

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः।
अथो ये क्षुल्लकाइव सर्वे ते क्रिमयो हताः॥ १२॥

१. **अस्य वेशसः हतासः**=इस कृमि के घरवाले मारे गये हैं, **परिवेशसः हतासः**=इसके पड़ौसी भी मारे गये हैं। २. **अथो**=और अब **ये**=जो **क्षुल्लकाः इव**=छोटे-मोटे पीस देने योग्य-से कृमि थे **ते**=वे **सर्वे कृमयः हताः**=सब कृमि मारे गये हैं।

भावार्थ—कृमियों का समूलोन्मूलन ही अभीष्ट है।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥

सर्वेषां सर्वासाम्

सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम्।
भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम्॥ १३॥

१. **सर्वेषां च क्रिमीणाम्**=सब नर कृमियों का **च**=और **सर्वासां कृमीणाम्**=सब मादा कृमियों के **शिरः**=शिर को **अश्मना भिनद्मि**=पत्थर से विदीर्ण कर देता हूँ। २. **अग्निना**=अग्नि के द्वारा (तेज़ाब के प्रयोग से) इनके **मुखम् दहामि**=मुख को दग्ध कर देता हूँ।

भावार्थ—नीरोगता के लिए नर-मादा सब कृमियों का विनाश आवश्यक है।

विशेष—रोगकृमियों के विनाश से, शरीर से नीरोग, उन्नति-पथ पर चलता हुआ यह व्यक्ति 'अथर्वा' बनता है—उन्नति के शिखर पर पहुँचता है। यह 'ब्रह्म=ज्ञान व कर्म=यज्ञादि उत्तम कर्मों' को ही अपनी आत्मा समझता है, उन्हीं में तत्पर रहता है, कभी मार्गभ्रष्ट नहीं होता और प्रार्थना करता है—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'प्रसवानाम् अधिपतिः' सविता

सविता प्रसवानामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १॥

१. **सविता**=सबको प्रेरणा देनेवाला प्रभु **प्रसवानाम् अधिपतिः**=सब प्रेरणाओं का स्वामी है—वही सबको प्रेरणा देता है—चेताता है। **सः मा अवतु**=वह मेरा रक्षण करे। **अस्मिन्**=इस **ब्रह्मणि**=ज्ञान-प्राप्ति के कर्म में, **अस्मिन् कर्मणि**=इस यज्ञादि कर्म में, **अस्यां पुरोधायाम्**=इस पौरोहित्य में—पुरोहित-कर्म के सम्पादन में, **अस्यां प्रतिष्ठायाम्**=इस प्रतिष्ठा में—शान्तस्थिति में (tranquility, repose), **अस्यां चित्त्याम्**=इस आत्मस्वरूप की स्मृति में, **अस्यां आकूत्याम्**=इस संकल्प में **अस्याम् आशिषि**=इस आशीः—शुभेच्छा में, **अस्यां देव-हूत्याम्**=इस देवों की प्रार्थना में (हूति आह्वान) **स्वाहा**=(स्वा आ हा) मैं अपना अर्पण करता हूँ। इसप्रकार जीवन-यापन करता हुआ मैं प्रभु रक्षणीय होऊँ।

भावार्थ—वह प्रेरक प्रभु सब प्रेरणाओं का स्वामी है। मैं उसकी प्रेरणाओं को सुनूँ और उन्हें कार्यान्वित करूँ। प्रभु से रक्षित हुआ-हुआ मैं 'ज्ञान-प्राप्ति, यज्ञादिकर्म, पौरोहित्य, शान्तस्थिति, आत्मस्वरूप की स्मृति, उत्तम संकल्प, उत्तमेच्छा व देवों की प्रार्थना' में अपना अर्पण करता हूँ, इन कर्मों में प्रवृत्त हुआ-हुआ जीवन-यज्ञ में आगे बढ़ता हूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'वनस्पतीनाम् अधिपतिः' अग्नि

अग्निर्वनस्पतीनामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ २॥

१. **अग्निः**=पृथिवी का मुख्य देवता अग्नि **वनस्पतीनाम्**=सब वनस्पतियों का **अधिपतिः**=स्वामी है। भूमि में इस अग्नि की उष्णता न होने पर किसी भी वनस्पति का प्ररोहण सम्भव नहीं है। **सः**=वह अग्नि **मा अवतु**=मेरा रक्षण करे। शरीर के स्वास्थ्य के लिए उचित मात्रा में अग्नितत्त्व का होना आवश्यक है। इसके अभाव में शरीर शान्त ही हो जाता है। २. इसके रक्षित होने पर मैं ज्ञान-प्राप्ति आदि कर्मों में अपना अर्पण करूँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—वनस्पतियों का अधिपति अग्नि मेरा रक्षण करे। मैं इन वनस्पतियों का ही सेवन करनेवाला बनूँ। उस अग्नि से रक्षित होकर मैं ज्ञानादि कर्मों में अपना अर्पण करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'दातृणाम् अधिपत्नी' द्यावापृथिवी

द्यावापृथिवी दातृणामधिपत्नी ते मावताम्।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ ३॥

१. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **दातृणाम् अधिपत्नी**=दाताओं के अधिपति हैं।

सबसे मुख्य दाता ये द्यावापृथिवी ही हैं। द्युलोक पिता है तो पृथिवीलोक माता। ये हम सब पुत्रों के लिए आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। ये ही हमें खान-पान आदि के लिए सब वस्तुओं को सुलभ कराते हैं। २. **ते**=वे द्यावापृथिवी **मा**=मेरा **अवताम्**=रक्षण करें। ये तो हमारे पिता-माता हैं, रक्षण क्यों न करेंगे? इनसे रक्षित होकर मैं ज्ञान-प्राप्ति आदि उत्तम कर्मों में लगा रहूँ। शेष पूर्ववत्।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'अपाम् अधिपतिः' वरुणः

वरुणोऽपामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ ४॥

१. **वरुणः**=सब कष्टों का निवारण करनेवाला प्रभु **अपाम्**=जलों का **अधिपतिः**=स्वामी है। उसने इन जलों का निर्माण करके हमारे कष्टों व रोगों के निवारण की व्यवस्था की है। ये जल 'वारि' हैं—रोगों का निवारण करनेवाले, 'भेषजम्'=औषध हैं, 'अमृतम्' नीरोगता देनेवाले हैं। इनमें उस वरुण ने सब रोगों के औषधों को स्थापित किया है। २. **सः मा अवतु**=वे वरुण मेरा रक्षण करें। जलों का समुचित प्रयोग करता हुआ मैं नीरोग बनकर ज्ञानादि कर्मों में प्रवृत्त रहूँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—वरुण प्रभु ने रोग-निवारण के लिए इन जलों को हमें प्राप्त कराया है। इनका ठीक प्रयोग हमें स्वस्थ बनाये। स्वस्थ रहकर हम ज्ञानादि प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'वृष्ट्यधिपती' मित्रावरुणौ

मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावताम्।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ ५॥

१. **मित्रावरुणौ**=मित्र और वरुण (उद्रजन और अम्लजन नामक वायुएँ) **वृष्ट्या**=(वृष्ट्याः) वृष्टि के **अधिपती**=स्वामी हैं। ये वृष्टिजल के रूप में हमें 'अमृत' प्राप्त कराते हैं। यह वृष्टि अन्नोत्पादन में मुख्य साधन बनकर हमारा रक्षण करती है। २. **तौ**=मित्र और वरुण इस वृष्टि-जल को समय पर प्राप्त कराने के द्वारा **मा अवताम्**=मेरा रक्षण करें, 'अतिवृष्टि व अनावृष्टि' रूप आधिदैविक आपत्तियों से हमें बचाएँ। इनसे सुरक्षित हुए-हुए हम ज्ञानादि कार्यों में प्रवृत्त हों। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—मित्र और वरुण द्वारा प्राप्त कराई गई वृष्टि अन्नों को उत्पन्न करती हुई दुर्भिक्ष के कष्ट से हमें बचाये। इसप्रकार से रक्षित हुए-हुए हम उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'पर्वतानाम् अधिपतयः' मरुतः

मरुतः पर्वतानामधिपतयस्ते मावन्तु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ ६॥

१. **मरुतः**=शरीरस्थ प्राण **पर्वतानाम्**=(पर्व पूरणे) सब न्यूनताओं को दूर करके सब पूरणों के **अधिपतयः**=स्वामी हैं। इन प्राणों की साधना (प्राणायाम) के द्वारा मैं अपनी सब न्यूनताओं को दूर करूँ। २. **ते**=वे प्राण **मा अवन्तु**=मेरा रक्षण करें। प्राणसाधना से 'शरीर में स्वस्थ, मन में निर्मल व बुद्धि में दीप्त' बनकर मैं ज्ञान-प्राप्ति आदि उत्तम कर्मों में लगा रहूँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्राणसाधना सब न्यूनताओं को दूर करती हुई व हमारा पूरण करती हुई हमें रक्षित करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'वीरुधामधिपतिः' सोमः

सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ ७॥

१. गतमन्त्र में वर्णित प्राणसाधना से शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ **सोमः**=वीर्य **वीरुधाम्**=सब विरोहणों—उन्नतियों का **अधिपतिः**=स्वामी है। सोम-रक्षण से ही 'शरीर के रोग, मन के राग-द्वेष व बुद्धि की कुण्ठता' दूर होती हैं। २. शरीर में सुरक्षित **सः**=वह सोम **मा अवतु**=मेरा रक्षण करे। हम सोम का रक्षण करते हैं, सोम हमारा रक्षण करता है। सोम से सुरक्षित मैं ज्ञान आदि की प्राप्ति में प्रवृत्त होऊँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा मैं सोम का शरीर में रक्षण करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'अन्तरिक्षस्याधिपतिः' वायुः

वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ ८॥

१. **वायुः**=वायु **अन्तरिक्षस्य**=अन्तरिक्ष का **अधिपतिः**=स्वामी है। अन्तरिक्ष का मुख्य देवता वायु ही है। मैं खुले में रहता हुआ सदा इसका सेवन करूँ। **सः**=वह वायु **मा अवतु**=मेरा रक्षण करे। वायु के घट में अमृत का कोश है। हम शुद्ध वायु का सेवन करेंगे तो इस अमृत को क्यों न प्राप्त करेंगे? २. शरीर में वह वायु हृदय-अन्तरिक्ष में रहता है। हृदयान्तरिक्ष में वायु के रहने का भाव यह है कि हम सदा वायु की भाँति क्रियाशील बनें। यह क्रियाशीलता ही सब बुराइयों का गन्धन(हिंसन) करेगी। उत्तम वृत्तिवाले बनकर हम ज्ञानादि कर्मों में ही प्रवृत्त रहेंगे। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—हम शुद्ध वायु का सेवन करें और वायु से क्रियाशीलता का पाठ पढ़ें। यह क्रियाशीलता हमें सब बुराइयों से बचाएगी।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'चक्षुषाम् अधिपतिः' सूर्यः

सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ ९॥

१. **सूर्यः**=सूर्य **चक्षुषाम् अधिपतिः**=नेत्रों का अधिपति है। वस्तुतः सूर्य ही चक्षु का रूप धारण करके आँखों में निवास करता है—'सूर्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्'—ऐत० उप०। प्रातः-सायं सूर्याभिमुख होकर ध्यान का विधान इसीलिए है कि हम ध्यान करेंगे और सूर्य हमारी आँखों की शक्ति का वर्धन करेगा। २. **सः**=वह सूर्य **मा अवतु**=मेरा रक्षण करे। सूर्य-किरणों का सेवन सब रोगकृमियों का संहारक है—'**उद्यन्नादित्य क्रिमीन् हन्ति निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः**'। सूर्य-किरणों द्वारा हमारे शरीर में सब प्राणदायी तत्त्वों की स्थापना होती है। '**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**' इसप्रकार सूर्य-सम्पर्क में स्वस्थ बनकर मैं ज्ञानादि कर्मों में अपना अर्पण करूँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—सूर्य-किरणों का सेवन हमें स्वस्थ व चक्षुशक्ति-सम्पन्न बनाए। ऐसे बनकर हम ज्ञान-प्राप्ति आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'नक्षत्राणाम् अधिपतिः' चन्द्रमा

चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १०॥

१. **चन्द्रमाः**=चन्द्र **नक्षत्राणाम् अधिपतिः**=(नक्ष गतौ) आकाशस्थ गतिशील तारकाओं का स्वामी है। यह चन्द्र मन बनकर हमारे हृदयों में प्रवेश करता है। 'चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्' (ऐत०) और हमें उपदेश करता है कि 'तुम सदा गतिशील होते हुए प्रसन्न मनवाले बनो (चदि आह्लादे)। संसार में वृद्धि-क्षय तो आते ही रहते हैं, उदासीन नहीं होना। २. **सः**=वह चन्द्रमा **मा**=गतिशीलता का उपदेश करता हुआ मुझे **अवतु**=रक्षित करे। गतिशीलता व प्रसन्न-मनस्कता को अपनाकर मैं यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहूँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—मैं चन्द्र से गतिशीलता व प्रसन्न-मनस्कता का पाठ पढ़कर उत्तम कार्यों में लगा रहूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'दिवः अधिपतिः' इन्द्रः

इन्द्रो दिवोऽ धिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ ११॥

१. **इन्द्रः**=विद्युत् **दिवः**=(दिवु व्यवहारे) सब व्यवहारों की **अधिपतिः**=स्वामिनी है। विद्युत् से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं। सम्पूर्ण यन्त्रसमूह का इसके द्वारा परिचालन होता है। हम भी विद्युत् की भाँति शीघ्रता से—अनालस्य से कार्यों को करनेवाले बनें। २. **सः**=वह विद्युत् शीघ्रता से कार्य करने का उपदेश करती हुई **मा अवतु**=मेरा रक्षण करे। इससे रक्षित हुआ-हुआ मैं ज्ञान आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहूँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—विद्युत् से हम शीघ्र कार्यकारित्व का पाठ पढ़ें। हममें आलस्य व दीर्घसूत्रता न हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतां पिता** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'पशूनाम् अधिपतिः' मरुतां पिता

म॒रुतां॑ पि॒ता प॑शू॒नामधि॑पतिः॒ स मा॑वतु।
अ॒स्मिन्ब्रह्म॑ण्य॒स्मिन्कर्म॑ण्य॒स्यां पु॑रो॒धाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां
चि॒त्त्या॑म॒स्यामाकू॑त्याम॒स्यामा॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑॥ १२ ॥

१. **मरुताम्**=(हिरण्यनाम—नि० १.२) हिरण्यादि धनों का **पिता**=रक्षक, लक्ष्मीपति प्रभु **पशूनाम्**=सब जीवों का **अधिपतिः**=स्वामी है। प्रभु हिरण्यादि धनों को देकर हमारा रक्षण करते हैं। २. **सः**=वह हिरण्य का स्वामी प्रभु **मा**=हिरण्य को प्राप्त कराता हुआ मुझे **अवतु**=रक्षित करे। निर्धनता के कष्ट से ऊपर उठता हुआ मैं ज्ञान-प्राप्ति आदि कर्मों में प्रवृत्त रहूँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु ही सब हिरण्यों के रक्षक हैं। इन हिरण्यों को देकर वे हमारा पालन करते हैं। हम धनों को प्रभु से दिया हुआ जानें और उनका सद् व्यय करते हुए उत्तम कार्यों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'प्रजानाम् अधिपतिः' मृत्युः

मृ॒त्युः प्र॒जाना॒मधि॑पतिः॒ स मा॑वतु।
अ॒स्मिन्ब्रह्म॑ण्य॒स्मिन्कर्म॑ण्य॒स्यां पु॑रो॒धाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां
चि॒त्त्या॑म॒स्यामाकू॑त्याम॒स्यामा॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑॥ १३ ॥

१. **मृत्युः**=मृत्यु **प्रजानाम् अधिपतिः**=सब प्रजाओं का स्वामी है। कोई भी व्यक्ति इस मृत्यु से बच नहीं सकता। २. मैं सदा इस मृत्यु का स्मरण करूँ। यह मृत्यु-स्मरण मुझे विषयासक्ति से बचाता है व मार्ग-भ्रष्ट नहीं होने देता। इसप्रकार **सः**=वह मृत्यु **मा**=मुझे **अवतु**=रक्षित करे—मार्ग-भ्रष्ट होने से बचाए। मैं सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहूँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—मृत्यु-स्मरण से मार्ग-भ्रष्ट न होता हुआ मैं सदा सत्पथ का आक्रमण करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'पितॄणाम् अधिपतिः' यमः

य॒मः पि॑तॄ॒णामधि॑पतिः॒ स मा॑वतु।
अ॒स्मिन्ब्रह्म॑ण्य॒स्मिन्कर्म॑ण्य॒स्यां पु॑रो॒धाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां
चि॒त्त्या॑म॒स्यामाकू॑त्याम॒स्यामा॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑॥ १४ ॥

१. **यमः**=नियन्त्रण में चलानेवाला आचार्य **पितॄणाम् अधिपतिः**=पितरों का स्वामी है। सर्वोत्तम पिता आचार्य है जो हमें धर्म-मार्ग के व्यतिक्रम से बचाता है। **सः**=वह नियन्ता आचार्य **मा अवतु**=मेरा रक्षण करे। आचार्य के गर्भ में सुरक्षित हुआ-हुआ मैं विषयों के आक्रमण से बचा रहूँ और ज्ञानादि कर्मों में प्रवृत्त रहूँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—आचार्य के नियन्त्रण में मेरे जीवन का उपक्रम हो। आचार्य द्वारा परिपक्व बुद्धि बनाया जाकर मैं संसार में पदार्पण करूँ और सदा उत्तम कार्यों में ही प्रवृत्त रहूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पितरः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'पिता, पितामह व प्रपितामह' का श्राद्ध

पितरः परे ते मावन्तु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १५॥

१. इस संसार-यात्रा में **ते**=वे **परे पितरः**=उत्कृष्ट जीवनवाले—मुझसे पहले संसार में आनेवाले 'पिता, पितामह व प्रपितामह' **मा अवन्तु**=सदा उत्तम प्रेरणाओं द्वारा मेरा रक्षण करें। २. इन पितरों से उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त करके हम सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—हमें सदा अपने बड़ों—'पिता, पितामह व प्रपितामह' से उत्तम प्रेरणा प्राप्त होती रहे। यह प्रेरणा हमें सत्पथ पर ले-जानेवाली हो। इनकी प्रेरणाओं को सुनना ही इनका सच्चा श्राद्ध है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**तताः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

ते अवरे तताः

तता अवरे ते मावन्तु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १६॥

१. **ते**=वे **अवरे**=हमसे पिछले काल में आनेवाले **तताः**=सन्तान (तन्यते, अथवा तनोति कुलम्) भी **मा अवन्तु**=मेरी रक्षा करें। 'मेरे पथभ्रंश का सन्तानों पर दुष्प्रभाव पड़ेगा तब वे मेरा क्या आदर करेंगी?' यह विचार ही हमें पथभ्रष्ट होने से रक्षित करता है। २. एवं, इन सूनुओं (Sons) से भी उत्तम प्रेरणा प्राप्त करके (षू प्रेरणे) हम उत्तम मार्ग पर ही आगे बढ़ें। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—पुत्र भी हमें जीवन की उत्तमता के लिए प्रेरणा देनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ततामहाः** ॥ छन्दः—**विराट्शक्वरी** ॥

ततामहाः

ततस्ततामहास्ते मावन्तु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १७॥

१. **ततः**=तब—उसके पश्चात् **ते**=वे **ततामहाः**=मेरे पौत्र भी **मा अवन्तु**=मेरा रक्षण करें। 'मेरे सच्चरित्र से उन्हें अपने कुल के गौरव का अनुभव होगा' यह सोचकर मैं कभी पथ-भ्रष्ट नहीं होऊँगा। २. पौत्रों व प्रपौत्रों में यश का विचार मुझे उज्ज्वल चरित्रवाला बनाएगा। इसप्रकार मैं उत्तम कर्मों में ही अपना अर्पण करूँगा। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—पौत्रों व प्रपौत्रों में कुल के गौरव को अनुभव कराने की भावना मुझे सत्कर्म में प्रवृत्त करती है।

विशेष—इसप्रकार उत्तम कर्म से डाँवाडोल न होता हुआ यह अथर्वा (न थर्वति) 'ब्रह्मा' बनता है—सर्वोन्नत। अगले सूक्त का द्रष्टा यह ब्रह्मा ही है।

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पर्वतात् दिवः, अङ्गात् अङ्गात्

पर्वताद्दिवो योनेरङ्गादङ्गात्समाभृतम्।
शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत्॥ १ ॥

१. **पर्वतात्**=मेरु-पर्वत—मेरुदण्ड—रीढ़ की हड्डी से **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक से **योनेः**=शरीर के **अङ्गात् अङ्गात्**=एक-एक अङ्ग से **समाभृतम्**=सम्यक् आभृत किये हुए **शेपः**=वीर्य-सामर्थ्य को, शरीर को शेप (आकार) देनेवाले वीर्य को **गर्भस्य रेतोधाः**=गर्भ के मूलभूत बीज का स्थापन करनेवाला पुरुष **आदधत्**=गर्भाशय में इसप्रकार आहित करता है, **इव**=जैसेकि **सरौ पर्णम्**=तीर में पङ्ख को स्थापित करते हैं। पङ्ख के आधान से तीर की गति तीव्र हो जाती है। इसीप्रकार वीर्य के आधान से गर्भाश्य में शरीर-निर्माण की गति आरम्भ हो जाती है।

भावार्थ—पुरुष के अङ्ग-प्रत्यङ्ग से समाभृत वीर्य सन्तान के शरीर का निर्माण करता है। इसी से सन्तान माता-पिता के अनुरूप आकृति व स्वभाववाली बनती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गर्भधारिका पत्नी का रक्षक पति

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।
एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे॥ २ ॥

१. पत्नी पति से कहती है—**यथा**=जैसे **इयम्**=यह **मही पृथिवी**=महनीय भूमि **भूतानाम्**=सब प्राणियों के **गर्भम्**=गर्भ को **आदधे**=धारण करती है, **एव**=इसीप्रकार मैं **ते**=तेरे **गर्भम्**=गर्भ को **दधामि**=धारण कर रही हूँ। २. **तस्मै अवसे**=उस गर्भ के रक्षण के लिए **त्वाम् हुवे**=तुझे पुकारती हूँ। गर्भरक्षण व पोषण के लिए जो भी आवश्यक साधन हैं, उन्हें जुटाने के लिए मैं आपसे कहती हूँ।

भावार्थ—पत्नी जब गर्भधारण करती है तब पति को उसके रक्षण के सब साधनों को जुटाना ही चाहिए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सिनीवाली सरस्वती

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति। गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा॥ ३ ॥

१. पति उत्तर देता है—हे **सिनीवालि**=प्रशस्त अन्नोंवाली (सिनम्=अन्नम्—नि० ११.३१)! तू **गर्भं धेहि**=गर्भ धारण कर। यदि तेरा भोजन प्रशस्त होगा तभी गर्भस्थ बालक का धारण हो सकेगा। तेरे द्वारा खाया गया अन्न ही गर्भस्थ बालक के शरीर व मन के स्वास्थ्य का साधन बनेगा। २. हे **सरस्वति**=ज्ञान की आराधिके! तू **गर्भं धेहि**=गर्भ को धारण कर। तेरी ज्ञान की आराधना गर्भस्थ बालक को भी ज्ञान-रुचिवाला बनाएगी। ३. **उभा**=दोनों **पुष्करस्रजा**=पोषण का निर्माण करनेवाले अथवा हृदय-कमल का निर्माण करनेवाले **अश्विना**=प्राणापान ते **गर्भं धत्ताम्**=तेरे गर्भ का धारण करें, अर्थात् तेरे द्वारा किया गया प्राणायाम गर्भस्थ बालक का ठीक से पोषण करेगा और उसके हृदय को विषय-जलों से कमलवत् अलिप्त बनाएगा।

भावार्थ—बालक के गर्भस्थ होने पर माता द्वारा प्रशस्त अन्न का सेवन बालक को स्वस्थ

शरीर व स्वस्थ मनवाला बनाएगा। माता से की गई ज्ञान की अराधना उसे ज्ञान-रुचिवाला बनाएगी और माता द्वारा किया गया प्राणायाम उसे प्रशस्त हृदय-कमलवाला बनाएगा तथा उसका उचित पोषण करेगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मित्रावरुणौ, इन्द्राग्नी

गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः।
गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते॥ ४॥

१. **ते गर्भम्**=तेरे गर्भ को **मित्रावरुणौ**=मित्र और वरुण धारण करें, अर्थात् तू इस समय स्नेह व निर्द्वेषता की वृत्तिवाली बन। तब बालक भी इन्हीं वृत्तियोंवाला होगा। **देवः**=प्रकाशमय जीवनवाला **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति **गर्भम्**=तेरे गर्भ को धारण करे। तू देववृत्ति की तथा ज्ञान-रुचितावाली बन तब बालक भी देववृत्ति व ज्ञान-रुचिता को लिये हुए होगा। २. **इन्द्रः च अग्निः च**=बल व प्रकाश के देव **ते**=तेरे **गर्भम्**=गर्भ को धारण करें। तू बल व प्रकाश का सम्पादन करने की इच्छा व यत्न कर, तब सन्तान भी ऐसी ही होगी। **धाता**=वह सबका धारक प्रभु **ते गर्भं दधातु**=तेरे गर्भ को धारण करे। पति कहता है कि मुझे क्या रक्षण करना, प्रभु ही रक्षा करेंगे। तू भी धारणात्मक वृत्तिवाली बनना। गर्भस्थ बालक भी इसी वृत्ति को लेकर जन्म लेगा।

भावार्थ—गर्भधारण करनेवाली माता 'स्नेह, निर्द्वेषता, दिव्यता, ज्ञान, बल, प्रकाश व धारणात्मक वृत्ति' को धारण करे तब बालक भी इन्हीं वृत्तियों को लेकर उत्पन्न होगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विष्णु, त्वष्टा, प्रजापति, धाता

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते॥ ५॥

१. **विष्णुः**=वह सर्वव्यापक परमात्मा **योनिम्**=इस गर्भ के आश्रयभूत शरीर को **कल्पयतु**=शक्तिशाली बनाए। गर्भिणी माता अपनी मनोवृत्तियों को संकुचित न होने दे। विशाल-हृदयता गर्भ को भी शक्तिशाली बनाएगी। **त्वष्टा**=वह सर्वनिर्माता प्रभु **रूपाणि**=रूपों को **पिंशतु**=अलंकृत करे, एक-एक अवयव को जोड़कर इस शरीर को सुन्दर बनाए। गर्भिणी निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त रहेगी तो गर्भस्थ बालक का रूप बड़ा सुन्दर होगा। २. **प्रजातिः आसिञ्चतु**=प्रजाओं का रक्षक प्रभु इस गर्भ को शक्ति से सिक्त करे। गर्भिणी माता में रक्षण की प्रवृत्ति गर्भस्थ बालक को शक्ति देगी और अन्ततः **धाता**=वह धारक प्रभु **ते गर्भं दधातु**=तेरे गर्भ का धारण करे। गर्भिणी की धारणात्मक प्रवृत्ति गर्भ का भी धारण करेगी।

भावार्थ—गर्भस्थ बालक का ठीक निर्माण 'विष्णु, त्वष्टा, प्रजापति व धाता' नामवाले प्रभु ही करते हैं। गर्भिणी को भी 'विशालहृदयता, निर्माण, रक्षण व धारण' की वृत्तियों को अपनाना है, तभी सुन्दर सन्तान का निर्माण होगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वरणीय पति, दिव्य गुणोंवाली समझदार पत्नी, चतुर वैद्य

यद्वेद राजा वरुणो यद्वा देवी सरस्वती। यदिन्द्रो वृत्रहा वेद तद्गर्भकरणं पिब॥ ६॥

१. **यत्**=जिसे **राजा**=नियमित (regulated) जीवनवाला **वरुणः**=वरणीय पति **वेद**=जानता है **वा**=और **यत्**=जिसे **देवी**=उत्तम व्यवहारवाली **सरस्वती**=समझदार पत्नी (वेद) जानती है।

यत्=जिसे **वृत्रहा**=रोगकृमियों का नाशक **इन्द्रः**=रोगरूप शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला वैद्य **वेद**=जानता है, **तत्**=उस **गर्भकरणम्**=गर्भ की स्थापक औषध को **पिब**=तू पी।

भावार्थ—पति का मुख्य गुण 'व्यवस्थित, पाप-निवृत्त (वरुण) जीवन' है। पत्नी को उत्तम व्यवहारोंवाली व समझदार बनना है। वैद्य औषधविज्ञान में चतुर होकर गर्भ के नाशक कृमियों को विनष्ट करता हुआ 'गर्भकरण' औषध पिलाये।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गर्भस्थिति में अग्नितत्त्व का महत्त्व

गर्भो॑ अस्योष॑धीनां गर्भो॒ वन॒स्पती॑नाम्।
गर्भो॒ विश्व॑स्य भू॒तस्य॒ सो अ॑ग्ने॒ गर्भ॑मे॒ह धाः॥ ७॥

१. हे **अग्ने**=तेजस्विन् प्रभो! आप **ओषधीनां गर्भः असि**=फलपाकान्त सब ओषधियों के गर्भ हैं। सब ओषधियों में अग्नितत्त्व के रूप में प्रभु का निवास है। **वनस्पतीनाम्**=वनस्पतियों के आप **गर्भः**=गर्भ हैं। वनस्पतियों में भी अग्निरूप से प्रभु विद्यमान हैं। **विश्वस्य भूतस्य**=सब भूतों के **गर्भः**=आप गर्भ हैं—सब प्राणियों में अग्नितत्त्व की स्थिति है। यही उनके जीवन का कारण है। २. हे अग्ने! तू **सः**=वह **इह**=इस 'देवी सरस्वती' में **गर्भं आधाः**=गर्भ का धारण कर। माता में उचित अग्नितत्त्व होने पर ही गर्भ की स्थिति होती है, निर्बला स्त्री में गर्भ की स्थिति नहीं हो पाती।

भावार्थ—ओषधियों, वनस्पतियों व सब भूतों में अग्नितत्त्व की स्थिति है। माता में भी यह अग्नितत्त्व ही गर्भ का धारण करता है, निर्बला स्त्री के शरीर में गर्भ स्थिर नहीं हो पाता।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

केवल प्रजा के लिए

अधि॑ स्कन्द वी॒रय॑स्व॒ गर्भ॒मा धे॑हि॒ योन्या॑म्।
वृषा॑सि वृष्ण्याव॒न्प्रजा॑यै॒ त्वा॒ न॑यामसि॥ ८॥

१. हे **वृष्ण्यावन्**=शक्तिशाली पुरुष! तू **अधिस्कन्द**=अपने क्षेत्र (पत्नी) की ओर गतिवाला हो। **वीरयस्व**=वीरतापूर्ण कर्म करनेवाला हो। **योन्याम्**=योनी में **गर्भम् आधेहि**=गर्भ की स्थापना कर। २. **वृषा असि**=तू सेचन में समर्थ है। हे शक्तिशाली! **त्वा**=तुझे **प्रजायै**=सन्तानोत्पादन के लिए ही **नयामसि**=पत्नी के समीप प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—पति के द्वारा पत्नी के शरीर में वीर्यसेचन केवल सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से ही हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

बार्हत् सामे

वि जि॑हीष्व बार्हत्सामे॒ गर्भ॑स्ते॒ योनि॒मा श॑याम्।
अदु॑ष्टे दे॒वाः पु॒त्रं सो॑म॒पा उ॑भया॒विन॑म्॥ ९॥

१. स्त्री का ज्ञानवृत्तिवाला होना आवश्यक है, अतः उसे 'बार्हत्सामे' इस रूप में सम्बोधित करते हैं। हे **बार्हत्सामे**=खूब ही ज्ञानवृत्तिवाली स्त्रि! तू **विजिहीष्व**=विशेषरूप से प्रयत्न कर। **गर्भः**=गर्भ **ते**=तेरी **योनिम् आशयाम्**=योनि में शयन कर रहा है। बालक के गर्भस्थ होने पर माता को ज्ञानवृत्तिवाला व क्रियाशील जीवनवाला बनना चाहिए, तभी गर्भस्थ बालक मन में शान्त, शरीर में पूर्ण स्वस्थ व क्रियाशील बन पायगा। २. **सोमपाः**=सोम (वीर्य) का रक्षण

करनेवाले **देवाः**=सब दिव्यभाव **ते**=तुझे **उभयाविनम्**=शरीर में शक्ति व मस्तिष्क में ज्ञानवाले 'उभयावी' **पुत्रम्**=सन्तान को **अदुः**=देते हैं। बालक के गर्भस्थ होने पर संयमी जीवन सन्तान को 'उभयावी' बनाता है।

भावार्थ—गर्भ-धारण करनेवाली माता शान्तवृत्ति की हो। वह संयत जीवनवाली होकर सोम का रक्षण करे। इससे सन्तान 'शक्ति व ज्ञान' दोनों से परिपूर्ण होगी।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**१०-१२ अनुष्टुप्, १३ विराट्पुरस्ताद्बृहती** ॥

पुमांसं पुत्रम्

धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः। पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे॥ १०॥
त्वष्टः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः। पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे॥ ११॥
सवितः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः। पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे॥ १२॥
प्रजापते श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः। पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे॥ १३॥

१. हे **धातः**=सबका धारण करनेवाले! **त्वष्टः**=सबके निर्मातः—विश्वकर्मन् प्रभो! हे **सवितः**=सबको जन्म देनेवाले! **प्रजापते**=प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **श्रेष्ठेन रूपेण**=सर्वोत्तम रूप के साथ **अस्याः नार्याः**=इस नारी की **गवीन्योः**=गर्भधारक दोनों पार्श्वस्थ नाड़ियों में **पुमांसम्**=अपने जीवन को पवित्र बनानेवाले वीर (नकि नामर्द) **पुत्रम्**=सन्तान को **दशमे मासि सूतवे**=दसवें महीने में उत्पन्न होने के लिए **आधेहि**=सम्यक् स्थापित कीजिए। २. प्रभु ही सबका धारण करते हैं। वे ही सबके निर्माता हैं, वे जन्म देनेवाले (व प्रेरित करनेवाले) प्रभु प्रजाओं के रक्षक हैं।

भावार्थ—बालक के गर्भस्थ होने पर उस 'धाता, त्वष्टा, सविता, प्रजापति' प्रभु का स्मरण करनेवाली नारी ठीक समय पर पवित्र, वीर सन्तान को जन्म देती है।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि भी 'ब्रह्मा' ही है। यह उत्तम सन्तान यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होती है।

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्युष्णिक् [एकावसाना]**॥

यजूंषि समिधः (यज्ञ+ज्ञान)

यजूंषि यज्ञे समिधः स्वाहाग्निः प्रविद्वानिह वो युनक्तु॥ १॥

१. **यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **यजूंषि**='देवपूजा-संगतिकरण-दान' रूप यज्ञ तथा **समिधः**=ज्ञानदीप्तियाँ **स्वाहा**=सम्यक् आहुत हों, अर्थात् जीवन को हम यज्ञ समझें और यहाँ यज्ञों तथा ज्ञान-दीप्तियों को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। २. वह **अग्निः**=अग्रणी **प्रविद्वान्**=प्रकृष्ट ज्ञानी प्रभु हमें **इह**=इसी 'यज्ञ तथा ज्ञान-दीप्ति' में **युनक्तु**=लगाये। प्रभुकृपा से हमारे हाथों से यज्ञों का प्रवर्तन हो और मस्तिष्क को हम ज्ञान-दीप्त बनाएँ।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो और स्वाध्याय के द्वारा हम ज्ञानदीप्त बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**द्विपदाप्राजापत्याबृहती [एकावसाना]**॥

ध्यान+प्रभुपूजन

युनक्तु देवः सविता प्रजानन्नस्मिन्यज्ञे महिषः स्वाहा॥ २॥

१. वह **सविता देवः**=सबका प्रेरक, दिव्य गुणों का पुञ्ज प्रभु **प्रजानन्**=हमारी स्थिति को ठीक-ठीक जानता हुआ **युनक्तु**=हमें योगयुक्त करे—समाहित करे। २. **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **महिषः**=वह पूजनीय प्रभु ही **स्वाहा**=अर्पणीय है। हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके जीवन-यज्ञ को सुन्दर बनाएँ।

भावार्थ—हमारा जीवन ध्यान तथा प्रभुपूजनवाला हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री [एकावसाना]**॥

उक्थामदानि [स्तोत्रों का आनन्द]

इन्द्र उक्थामदान्यस्मिन्यज्ञे प्रविद्वान्युनक्तु सुयुजः स्वाहा॥ ३॥

१. **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में वह **इन्द्रः**=कामादि शत्रुओं का विद्रावक **प्रविद्वान्**=प्रकृष्ट ज्ञानी **सुयुजः**=उत्तम कर्मों में लगानेवाला प्रभु **उक्थामदानि**=स्तोत्रों के आनन्दों को **युनक्तु**=हमारे साथ जोड़े। **स्वाहा**=हम उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोत्रों में आनन्द लेते हुए प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**निविदः** ॥ छन्दः—**द्विपदाप्राजापत्याबृहती [एकावसाना]**॥

प्रैषाः निविदः

प्रैषा यज्ञे निविदः स्वाहा शिष्टाः पत्नीभिर्वहतेह युक्ताः॥ ४॥

१. **यज्ञे**=जीवन-यज्ञ में **प्रैषाः**=प्रभु-प्रेरणाएँ तथा **निविदः**=निश्चयात्मक ज्ञान (Instructions) **स्वाहा**=(सु+आह) सम्यक् उच्चरित होती हैं। हम प्रभु-प्रेरणाओं के अनुसार जीवन बनाने का यत्न करते हैं और प्रभु से दिये गये ज्ञानों को प्राप्त करते हैं। २. **शिष्टाः**=प्रभु के अनुशासन में चलते हुए तुम **इह**=जीवन-यज्ञ में **युक्ताः**=ध्यानावस्थित हुए-हुए अथवा अप्रमत्त हुए-हुए **पत्नीभिः**=पत्नियों के साथ **वहत**=कर्त्तव्यकर्मों का वहन करो।

भावार्थ—प्रभु की प्रेरणाओं व ज्ञानों को ध्यान से सुनते हुए प्रभु के अनुशासन में हम पत्नियों के साथ कर्त्तव्यकर्मों का वहन करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्युष्णिक् [एकावसाना]**॥

ज्ञान, प्राणायाम [छन्दांसि, मरुतः]

छन्दांसि यज्ञे मरुतः स्वाहा मातेव पुत्रं पिपृतेह युक्ताः॥ ५॥

१. **यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **छन्दांसि**=वेदमन्त्र—ज्ञान की वाणियाँ तथा **मरुतः**=प्राण **स्वाहा**=सुहुत हों। मैं ज्ञान व प्राणसाधना के प्रति अपने को अर्पण करनेवाला बनूँ। **इह**=इस जीवन-यज्ञ में **युक्ताः**=अप्रमत्त हुए-हुए तुम **पिपृत**=अपना इसीप्रकार पूरण करो **इव**=जैसेकि **माता पुत्रम्**=माता पुत्र का पालन व पूरण करती है।

भावार्थ—इस जीवन-यज्ञ में हम अपने को ज्ञान-प्राप्ति व प्राणसाधना में लगाएँ, अप्रमत्त होकर अपना पालन व पूरण करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अदितिः** ॥ छन्दः—**द्विपदाप्राजापत्याबृहती [एकावसाना]**॥

अदिति

एयमगन्बर्हिषा प्रोक्षणीभिर्यज्ञं तन्वानादितिः स्वाहा॥ ६॥

१. **इयम् अदितिः**=यह (अ+दिति) स्वास्थ्य की देवता **आ अगन्**=हमें प्राप्त हुई है। **बर्हिषा**=वासनाओं को जिसमें से उखाड़ दिया गया है, उस हृदय के साथ तथा **प्रोक्षणीभिः**=(उक्ष

सेचने) शरीर में शक्तियों के सेचन के साथ **यज्ञं तन्वाना**=यज्ञों का यह विस्तार कर रही है, **स्वाहा**=मैं इस अदिति के प्रति अपना अर्पण करूँ।

भावार्थ—हम स्वस्थ बनकर पवित्र हृदय व शक्ति के रक्षण के साथ यज्ञों का विस्तार करें, इन्हीं के प्रति अपना अर्पण करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**द्विपदाप्राजापत्याबृहती [एकावसाना]** ॥

तपांसि

विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ७ ॥

१. **सुयुजः**=हमें उत्तम कर्मों में लगानेवाला **विष्णुः**=वह सर्वव्यापक प्रभु **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **बहुधा**=बहुत प्रकार से **तपांसि युनक्तु**=तपों को हमारे साथ जोड़े। **स्वाहा**=हम उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारा जीवन तपोमय हो। 'ऋतं तपः, सत्यं तपः, शान्तं तपः, शमस्तपः, दमस्तपः' के अनुसार हम 'ऋत, सत्य, शान्त, शम, दम' आदि तपों में लगे रहें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**त्वष्टा** ॥ छन्दः—**द्विपदाप्राजापत्याबृहती [एकावसाना]** ॥

विचारपूर्वक कर्म

त्वष्टा युनक्तु बहुधा नु रूपा अस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ८ ॥

१. **सुयुजः**=हमें उत्तम कर्मों में लगानेवाला **त्वष्टा**=वह निर्माता व ज्ञानदीप्त प्रभु (त्विषेर्वा) **नु**=अब **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **बहुधा**=अनेक प्रकार से **रूपाः**=पदार्थों के निरूपणों को अथवा उत्तम रूपों को **युनक्तु**=युक्त करे। **स्वाहा**=उस त्वष्टा के प्रति हम अपना अर्पण करें।

भावार्थ—हम सब बातों का ठीक से निरूपण करके कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**त्रिपदापिपीलिकामध्यापुरउष्णिक् [एकावसाना]** ॥

ऐश्वर्य व उत्तम इच्छाएँ

भगो युनक्त्वाशिषो न्व१स्मा अस्मिन्यज्ञे
प्रविद्वान्युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥ ९ ॥

१. **प्रविद्वान्**=प्रकृष्ट ज्ञानी, **सुयुजः**=हमें उत्तम कर्मों में लगानेवाला **भगः**=ऐश्वर्यशाली प्रभु **नु**=अब **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **अस्मै**=इस संसार के हित के लिए **आशिषः**=उत्तम इच्छाओं को **युनक्तु**=हमारे साथ जोड़े। **स्वाहा**=हम उस 'भग' के प्रति अपना अर्पण करते हैं। वह हमें **युनक्तु**=सदा उत्तम कर्मों में लगाए।

भावार्थ—हम ऐश्वर्य को प्राप्त करके उत्तम इच्छाओं से युक्त हों—संसार का हित करनेवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**द्विपदाप्राजापत्याबृहती [एकावसाना]** ॥

पयांसि

सोमो युनक्तु बहुधा पयांस्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ १० ॥

१. **सुयुजः**=उत्तम कर्मों में व्यापृत करनेवाला **सोमः**=शान्त प्रभु **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **बहुधा**=बहुत प्रकार से **पयांसि**=(अन्नानि—नि० २.७) आप्यायन के साधनभूत अन्नों को **युनक्तु**=हमारे साथ जोड़े। **स्वाहा**=उस प्रभु के प्रति मैं अपना अर्पण करता हूँ।

भावार्थ—उत्तम अन्नों का प्रयोग करते हुए हम इस जीवन-यज्ञ में अपना आप्यायन करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**द्विपदाप्राजापत्याबृहती [एकावसाना]** ॥

वीर्याणि

इन्द्रो युनक्तु बहुधा वीर्या॒ण्यस्मिन्य॒ज्ञे सु॒युजः॒ स्वाहा॑ ॥ ११ ॥

१. **सुयुजः**=उत्तम कर्मों में प्रेरित करनेवाला **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक प्रभु **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **बहुधा**=बहुत प्रकार से **वीर्याणि**=वीर्यों को **युनक्तु**=हमारे साथ जोड़े। **स्वाहा**=हम उस इन्द्र के प्रति अपना समर्पण करते हैं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनते हुए वीर्य को अपने में सुरक्षित रक्खें।

सूचना—गतमन्त्र में 'सोमः, पयांसि' शब्दों का प्रयोग संकेत करता है कि हम सौम्य भोजन ही करें। इस मन्त्र का 'इन्द्रः' जितेन्द्रियता का द्योतक है। एवं, वीर्य-रक्षा के लिए 'सौम्य जीवन व जितेन्द्रियता' प्रमुख साधन हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**परातिशक्वरीचतुष्पदाजगती** ॥

ब्रह्मणा, वषट्कारेण

अश्वि॑ना॒ ब्रह्म॑णा॒ या॑तम॒र्वाञ्चौ॑ वषट्का॒रेण॑ य॒ज्ञं व॒र्धय॑न्तौ।
बृह॑स्पते॒ ब्रह्म॒णा या॒ह्य॒र्वाङ् य॒ज्ञो अ॒यं स्वऽरि॒दं यज॑माना॒य॒ स्वाहा॑ ॥ १२ ॥

१. **अश्विना**=प्राणापानो! आप **ब्रह्मणा**=ज्ञान से तथा **वषट्कारेण**=दान से, त्याग से **यज्ञं वर्धयन्तौ**=यज्ञ को, श्रेष्ठतम कर्म को बढ़ाते हुए **अर्वाञ्चौ यातम्**=हमें आभिमुख्येन प्राप्त होओ। प्राणसाधना करते हुए हम ज्ञान व त्याग के साथ अपने जीवन में यज्ञों का वर्धन करें। २. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामी प्रभो! आप **ब्रह्मणा**=ज्ञान के साथ **अर्वाङ् याहि**=हमें हृदयदेश में प्राप्त होओ। इस **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष को **अयम्**=यह **यज्ञः**=यज्ञ प्राप्त हो तथा **इदं स्वः**=यह सुख व प्रकाश प्राप्त हो। **स्वाहा**=हम यज्ञ के प्रति अपना अर्पण करें।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हम ज्ञान व दान के साथ अपने अन्दर यज्ञों का वर्धन करें। ज्ञान के द्वारा हृदय में प्रभु का दर्शन करें। हमारा जीवन यज्ञमय व सुखी हो।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'ब्रह्मा' ही है।

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भात्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्मा का लक्षण

ऊ॒र्ध्वा अ॑स्य स॒मिधो॑ भवन्त्यू॒र्ध्वा शु॒क्रा शो॒चींष्य॒ग्नेः।
द्यु॒मत्त॑मा सु॒प्रती॑कः॒ ससू॑नु॒स्तनू॒नपा॒दसु॑रो भू॒रिपा॑णिः ॥ १ ॥

१. **अस्य अग्नेः**=(अग्निः अग्रणीः) इस आगे-और-आगे बढ़नेवाले की **समिधः**=दीप्तियाँ **ऊर्ध्वाः**=उत्कृष्ट **भवन्ति**=होती हैं। इसकी सब इन्द्रियाँ शक्तियों से दीप्त होती हैं। इस अग्नि की **शुक्रा**=अत्यन्त शुद्ध **शोचींषि**=मानस पवित्रताएँ **ऊर्ध्वा भवन्ति**=उत्कृष्ट होती हैं। इसका शरीर नीरोग व शक्ति-सम्पन्न होता है तो मन भी पूर्ण निर्मल। इसकी ज्ञान-दीप्तियाँ भी **द्युमत्तमा**=अतिशयेन दीप्तिवाली होती हैं। २. इसप्रकार यह अग्नि **सुप्रतीकः**=तेजस्वी, शोभन मुखवाला **स-सूनुः**=उत्तम सन्तानों से युक्त **तनूनपात्**=शरीर के स्वास्थ्य को न गिरने देनेवाला, **असुरः**=अपने में प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला, **भूरिपाणिः**=पालक व पोषक हाथोंवाला होता है।

भावार्थ—ब्रह्मा वह है जिसकी तेजस्विता, मानस पवित्रता व ज्ञानदीप्ति उत्कृष्ट है, जो उत्तम मुखवाला, उत्तम सन्तानवाला, स्वस्थ, प्राणशक्ति-सम्पन्न व रक्षक हाथोंवाला है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीभुरिगनुष्टुप्** ॥

मध्वा घृतेन

दे॒वो दे॒वेषु॑ दे॒वः प॒थो अ॑नक्ति॒ मध्वा॑ घृ॒तेन॑ ॥ २ ॥

१. गतमन्त्र का ब्रह्मा **देवः**=देववृत्ति का बनता है, **देवेषु देवः**=देवों में देव, अर्थात् अतिशयेन उत्कृष्ट देव बनता है। यह **पथः**=अपने जीवन-मार्गों को **मध्वा**=माधुर्य से—वाणी की मिठास से तथा **घृतेन**=ज्ञानदीप्ति व नैर्मल्य (मल-क्षरण) से **अनक्ति**=अलंकृत करता है।

भावार्थ—ब्रह्मा वह है जो देव बनता है, मधुर होता है तथा ज्ञानदीप्त व निर्मल बनता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्चीबृहती** ॥

सुकृत, देवः सविता

मध्वा॑ य॒ज्ञं न॑क्षति प्रैणा॒नो न॒राशंसो॑ अ॒ग्निः सु॒कृद्दे॒वः स॑वि॒ता वि॒श्ववा॑रः ॥ ३ ॥

१. **मध्वा**=माधुर्य के साथ **यज्ञं प्रैणानः**=यज्ञ को अपने में प्रेरित करता हुआ **नक्षति**=गति करता है, **नराशंसः**=नरों का शंसनीय बनता है, **अग्निः**=अग्रणी होता है। २. **सुकृत्**=उत्तम कर्मों को करनेवाला **देवः**=दिव्य गुणों का पुञ्ज, **सविता**=उत्पादक, निर्माण के कार्य करनेवाला, **विश्ववारः**=सब वरणीय धनोंवाला होता है।

भावार्थ—ब्रह्मा के जीवन में माधुर्य के साथ यज्ञ, लोकप्रियता, आगे बढ़ना, पुण्य, दिव्यता, उत्पादकता तथा सब वरणीय धनों की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीभुरिग्बृहती** ॥

शवसा, घृता, नमसा

अच्छा॒यमे॑ति॒ शव॑सा घृ॒ता चि॒दीडा॑नो॒ वह्नि॒र्नम॑सा ॥ ४ ॥

१. **अयम्**=यह ब्रह्मा **शवसा**=बल से तथा **घृता**=ज्ञान-दीप्ति से **चित्**=निश्चयपूर्वक **ईडानः**=स्तुति करता हुआ तथा **नमसा वह्निः**=नमन के साथ सब कर्त्तव्यकर्मों का वहन करता हुआ **अच्छ एति**=प्रभु की ओर गति करता है।

भावार्थ—ब्रह्मा वह है, जिसके शरीर में बल है (शवस्), मस्तिष्क में ज्ञानदीप्ति है (घृत) तथा मन में निरभिमानता है (नमस्)। इनसे ही यह प्रभु का पूजन करता है और उसे प्राप्त करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीत्रिष्टुप्** ॥

मधुरवाणी, प्रभु-महिमा-स्मरण

अ॒ग्निः स्रुचो॑ अध्व॒रेषु॑ प्र॒यक्षु॒ स य॑क्षदस्य महि॒मान॑म॒ग्नेः ॥ ५ ॥

१. **अग्निः**=यह अग्रणी ब्रह्मा **अध्वरेषु**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों में **स्रुचः प्रयक्षु**=स्रुचों का—उत्तम वाणियों का प्रयोग करनेवाला है (वाग्वै स्रुचः)। २. **सः**=वह अग्नि—अग्रणी व्यक्ति **अस्य अग्नेः**=इस सर्वमहान् अग्नि प्रभु की **महिमानं यक्षत्**=महिमा को पूजित करनेवाला हो।

भावार्थ—ब्रह्मा वह है जो यज्ञात्मक कर्मों को करता हुआ मधुरवाणी का प्रयोग करता है और प्रभु की महिमा का स्मरण करता हुआ निरभिमान बना रहता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदाविराड्गायत्री** ॥

वसुधा-तरः, वसवः च

तरी मन्द्रासु प्रयक्षु वसवश्चातिष्ठन्वसुधातरश्च ॥ ६ ॥

१. **तरी**=संसार-सागर को तैरनेवाला वह होता है जोकि **मन्द्रासु**=आनन्द की साधनभूत क्रियाओं में—किन्हीं भी आनन्द के अवसरों पर **प्रयक्षु**=उस प्रभु के पूजन की कामनावाला होता है—प्रभु का यजन करता है। २. यह **वसुधा-तरः च**=वसुओं को धारण करनेवाली पृथिवी को तैर जानेवाले—पार्थिव भोगों से ऊपर उठ जानेवाले और **वसवः च**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले लोग **अतिष्ठन्**=प्रभु में स्थित होते हैं।

भावार्थ—संसार-सागर को तैर जानेवाला व्यक्ति वह है जोकि आनन्द के अवसरों पर प्रभु का पूजन करता है। पार्थिव भोगों से ऊपर उठनेवाले व अपने निवास को उत्तम बनानेवाले ये लोग ही प्रभु में स्थित होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

दिव्यता व व्रतरक्षण

द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रतं रक्षन्ति विश्वहा ॥ ७ ॥

१. **अस्य**=गतमन्त्र के 'तरी' के **द्वारः**=इन्द्रिय-द्वार **देवीः**=दिव्य गुणयुक्त व प्रकाशमय होते हैं। २. इसके **विश्वे**=सब इन्द्रिय-द्वार **विश्वहा**=सदा **व्रतम् अनुरक्षन्ति**=व्रतों का अनुकूलता के साथ रक्षण करते हैं। जिस इन्द्रिय का जो व्रत है, उसका वह पालन करती ही है। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति में लगती हैं और कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहती हैं।

भावार्थ—भवसागर को तैरनेवाले के इन्द्रिय-द्वार प्रकाशमय होते हैं और अपने-अपने व्रत का पालन करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**संस्तारपङ्क्तिः** ॥

यज्ञ-तत्परता

उरुव्यचसाग्नेर्धाम्ना पत्यमाने।
आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्तेमं यज्ञमवतामध्वरं नः ॥ ८ ॥

१. **अग्नेः**=उस महान् अग्नि प्रभु के **उरुव्यचसा धाम्ना**=अतिशयेन विस्तारवाले तेज से **पत्यमाने**=(पत ऐश्वर्य) ऐश्वर्यवाले होते हुए **आसु सु अयन्ती**=समन्तात् सुन्दरता से गति करते हुए **यजते**=परस्पर सङ्गत **उपाके**=एक-दूसरे के समीप प्राप्त होते हुए **उषासानक्ता**=दिन-रात **नः**=हमारे **इमम्**=इस **अध्वरम्**=हिंसारहित **यज्ञम् अवतम्**=यज्ञ का रक्षण करें, अर्थात् हम सदा यज्ञों को करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु के तेज से तेजस्वी होते हुए हम दिन-रात यज्ञों में व्यापृत रहें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**षट्पदाऽनुष्टुब्गर्भापरातिजगती** ॥

प्रभु-नामोच्चारण

दैवा होतार ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वयाभि गृणत गृणता नः स्विष्टये।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तामिडा सरस्वती मही भारती गृणाना ॥ ९ ॥

१. **दैवाः**=उस देव (प्रभु) से शरीर में स्थापित किये गये **होतारः**=जीवन-यज्ञ को चलानेवाले हे प्राणो! **नः**=हमारे **अध्वरम् ऊर्ध्वम्**=जीवन-यज्ञ को उत्कृष्ट बनाओ। उस **अग्नेः**=अग्रणी

प्रभु की—प्रभु से दी गई **जिह्वया**=जिह्वा से **अभिगृणत**=प्रातः-सायं प्रभु के नामों का उच्चरण करो। **नः स्विष्टये**=हमारी स्विष्टि के लिए—उत्तम अभीष्टों की प्राप्ति के लिए **गृणत**=प्रभु का स्तवन करो। यह प्रभु-स्तवन हमें उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराता हुआ अधिक-और-अधिक उन्नत करता है। २. **इडा**=प्रशस्त अन्न (इडा इति अन्ननाम निघण्टौ), **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता तथा **भारती**=हमारा समुचित भरण करनेवाली **मही**=पूजा की वृत्ति (मह पूजायाम्)—ये **तिस्रः**=तीनों **देवीः**=दिव्यताएँ **इदं बर्हिः**=इस वासनाशून्य हृदय में **आसदन्ताम्**=आसीन हों। ये सब दिव्य वस्तुएँ व गुण एक-एक करके **गृणाना**=प्रभु का ही नामोच्चरण करनेवाली हों। प्रशस्त अन्न हमें सात्त्विक वृत्तिवाला बनाकर प्रभु नामोच्चारण कराये, ज्ञान हमें प्रभु नामोच्चरण में प्रवृत्त करे, स्तुति में हम प्रभु-नामोच्चारण करें।

भावार्थ—प्रभु से शरीर में स्थापित किये गये प्राण हमें यज्ञों में प्रवृत्त करें और जिह्व से हम प्रभु के नामों का उच्चारण करें। 'प्रशस्त अन्न का सेवन, विद्या का आराधन व प्रभुस्तवन'—ये सब हमें प्रभु नामोच्चारण में प्रवृत्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्** ॥

हम धन में हों, पर उससे बँध न जाएँ

तन्न॑स्तुरीप॒मद्भु॑तं पुरु॒क्षु। देव॑ त्वष्टा रा॒यस्पोषं॒ वि ष्य॒ नाभि॑म॒स्य॥ १० ॥

१. **त्वष्टः देव**=सर्वनिर्मातः, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **तत्**=उस **तुरीपम्**=(तुरी=great strength) महती शक्ति के रक्षक, **अद्भुतम्**=आश्चर्यकारक गुणों को उत्पन्न करनेवाले, **पुरुक्षु**=पालन व पूराण करनेवाले तथा उत्तम निवासवाले (पुरुक्षु, पृ पालनपूरणयोः, क्षि निवासगत्योः), **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को **विष्य**=छोड़िए—बरसाइए, अर्थात् खूब प्राप्त कराइए। २. धन तो हमें प्राप्त कराइए, परन्तु हे प्रभो! **नाभिः**=इस धन के बन्धन को (णह बन्धने) **अस्य**=(असु क्षेपणे) परे फेंक दीजिए। यह धन हमें बाँधनेवाला न हो।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें वह धन प्राप्त कराइए जो शक्ति का रक्षक व अद्भुत उन्नति का साधक हो, जो पालक-पूरक व निवास को उत्तम बनानेवाला हो। साथ ही यह भी अनुग्रह कीजिए कि हम धन में फँस न जाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्** ॥

देवों के लिए दान व यज्ञ

वन॑स्पतेऽव॑ सृजा॒ ररा॑णः। त्मना॑ दे॒वेभ्यो॑ अ॒ग्निर्ह॒व्यं श॑मि॒ता स्व॑दयतु॥ ११ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु धन प्राप्त कराते हैं। धन प्राप्त कराके स्तोता को प्रेरणा देते हैं कि हे **वनस्पते**=सम्भजनीय धन के रक्षक (Trustee)! (धन तो प्रभु का है, तू तो उसका रक्षक है), स्तोतः! तू **देवेभ्यः त्मना रराणः**=देवों के लिए स्वयं इस धन को देता हुआ **अवसृज**=इस धन के बन्धन को छोड़। दान ही तुझे इस धन के बन्धन से मुक्त करेगा। २. साथ ही **शमिता अग्निः**=सब रोगों को शान्त करनेवाला यह यज्ञ का अग्नि **हव्यं स्वदयतु**=हव्य पदार्थों का स्वाद ले, अर्थात् तू धन का विनियोग यज्ञों में कर। ये यज्ञ तुझे नीरोग भी बनाएँगे और धन का बन्धन भी छूटेगा।

भावार्थ—यदि हम धनार्जन करके इस धन को देवों के लिए स्वयं देते रहेंगे और इस धन द्वारा यज्ञों को करते रहेंगे तो धन के बन्धन में न फँसेंगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्** ॥

यज्ञशेष का सेवन

अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेदः।
इन्द्राय यज्ञं विश्वेदेवा हविरिदं जुषन्ताम्॥ १२॥

१. **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! **जातवेदः**=(वेदस्=wealth) उत्तम धनवाले जीव! तू **स्वाहा कृणुहि**=इस धन को अग्नि में आहुत करनेवाला बन। इस धन द्वारा अग्निहोत्र करनेवाला बन। यह तेरी नीरोगता का साधक होगा। **इन्द्राय**=शत्रु-विद्रावक राजा के लिए (कृणुहि) इस धन को प्रदान कर। कर-प्राप्त धन से ही तो वह इन्द्र राष्ट्र-रक्षण करेगा। २. **विश्वेदेवाः**=सब देव **यज्ञम्**=तेरे इस दान को **जुषन्ताम्**=प्राप्त हों, सेवन करें। इस धन से ही वे प्रजाहित के कार्यों को करनेवाले बनेंगे। सब लोगों को यही चाहिए कि **इदं हविः**=इस दानपूर्वक अदन का **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें। दान दें, बचे हुए को ही खाएँ।

भावार्थ—एक प्रगतिशील धन-प्राप्त व्यक्ति धन का विनियोग अग्निहोत्र में करे। राजा के लिए धन दे, विद्वानों के लिए धन दे तथा सदा बचे हुए को ही खाए। यह यज्ञशेष ही अमृत है, इसी का सेवन ठीक है।

विशेष—गतमन्त्र के अनुसार धनाकर्षण से डाँवाडोल न होनेवाला 'अथर्वा' अगले सूक्त का ऋषि है।

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'हरित, रजत, अयस्'

नव प्राणान्नवभिः सं मिमीते दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।
हरिते त्रीणि रजते त्रीण्ययसि त्रीणि तपसा विष्ठितानि॥ १॥

१. **नव प्राणन्**=नौ प्राणों को **नवभिः**=नौ इन्द्रियों के साथ **संमिमीते**=सम्यक् मापवाला करता है—सम्यक् मिलाकर रखता है, जिससे **शतशारदाय दीर्घायुत्वाय**=सौ वर्ष का दीर्घजीवन प्राप्त हो। सब इन्द्रियाँ प्राणशक्ति-सम्पन्न बनी रहें तभी दीर्घजीवन की प्राप्ति सम्भव है। २. इन नौ इन्द्रियों में **त्रीणि**=तीन—'कान, नाक व आँख' नामक इन्द्रियाँ **तपसा**=तप के द्वारा **हरिते**=अज्ञान का अपहरण करनेवाले सात्त्विक भाव में **विष्ठितानि**=स्थित हैं। इन तीनों इन्द्रियों के द्वारा अज्ञान का अपहरण होकर मनुष्य की प्रवृत्ति शान्ति, भक्ति व करुणा की ओर बहती है। ३. **त्रीणि**='मुख, त्वचा व हाथ'—ये तीन इन्द्रियाँ तप के द्वारा **रजते**=रञ्जन का साधन बनती हुई राजसभाओं में स्थित होती हैं। राजसभाव होने पर 'शृंगार, वीर व अद्भुत' रसों की उत्पत्ति होती है। शेष **त्रीणि**='पायु, उपस्थ तथा पाद्' नामक तीन इन्द्रियाँ तप के द्वारा **अयसि**=शरीर को लोहे के समान दृढ़ बनाने में लगी हुई तामसभाव में स्थित होती हैं। इन्हीं के कार्यों में कुछ विकृति आने पर 'रौद्र, बीभत्स व भयानक' रसों की उत्पत्ति हुआ करती है, इनके ठीक कार्य करने पर शरीर लोहे की भाँति दृढ़ बना रहता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा सब इन्द्रियों को प्राणशक्ति-सम्पन्न करें। सौ वर्ष के दीर्घजीवन को प्राप्त करें। 'कान, नाक आँख' के ठीक व्यापार से अज्ञान को दूर करें। 'मुख, त्वचा व हाथ' के ठीक व्यापार से अपना ठीक रञ्जन करते हुए रजत (चाँदी=धन) को प्राप्त करें। 'पायु, उपस्थ व पाद्' से शरीर को लोहवत् दृढ़ बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवलोक—काल का आनुकूल्य

अ॒ग्निः सूर्य॑श्च॒न्द्रमा॒ भूमि॒रापो॒ द्यौर॒न्तरि॑क्षं प्र॒दिशो॒ दिश॑श्च।
आ॒र्त॒वा ऋ॒तुभिः॑ संविदा॒ना अ॒नेन॑ मा त्रि॒वृता॑ पारयन्तु॥ २॥

१. **अग्निः, सूर्यः, चन्द्रमाः**=अग्नि, सूर्य और चन्द्र, **भूमिः आपः द्यौः**=पृथिवी, जल और द्युलोक **अन्तरिक्षम् प्रदिशः दिशः च आर्तवाः ऋतुभिः संविदानाः**=अन्तरिक्ष, दिशाएँ, उपदिशाएँ तथा ऋतुओं के साथ मेल खाते हुए सब कालविभाग **मा**=मुझे **अनेन त्रिवृता पारयन्तु**=इस त्रिवृत् के द्वारा पार करें। २. गतमन्त्र में 'हरित, रजत और अयस्' में विष्ठित जिस त्रिवृत् का वर्णन हुआ है, उसके द्वारा मैं भवसागर से पार हो जाऊँ। अग्नि आदि सब देव, पृथिवी आदि सब लोक तथा सब कालविभाग इस कार्य में मेरे लिए अनुकूलतावाले हों।

भावार्थ—सब देवों, सब लोकों व सब कालों की अनुकूलता से मैं नव प्राण-सम्पन्न नव इन्द्रियों के द्वारा इस भव-सागर को पार करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अन्नस्य, पुरुषस्य पशूनां' भूमा

त्रयः॒ पोषा॑स्त्रि॒वृति॑ श्रयन्ता॒मन॑क्तु पू॒षा पय॑सा घृ॒तेन॑।
अन्न॑स्य भू॒मा पुरु॑षस्य भू॒मा भू॒मा प॒शूनां॒ त इ॒ह श्र॑यन्ताम्॥ ३॥

१. **त्रिवृति**=तीन-तीन इन्द्रियों के 'हरित, रजत व अयस्' में विष्ठित होने पर **त्रयः पोषाः**=तीन पोषण—'ज्ञान, धन व शक्ति' के पोषण **श्रयन्ताम्**=मेरा आश्रय करें। **पूषा**=सर्वपोषक प्रभु **पयसा**=आप्यायन के साधनभूत **घृतेन**=नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति से (घृ क्षरणदीप्त्योः) **अनक्तु**=मुझे अलंकृत करें। २. **अन्नस्य भूमा**=अन्न का बाहुल्य, **पुरुषस्य भूमा**=पुरुषों का बाहुल्य तथा **पशूनां भूमा**=गवादि पशुओं का बाहुल्य **ते**=ये तीनों ही बाहुल्य **इह**=यहाँ-मेरे जीवन में **श्रयन्ताम्**=आश्रय करें।

भावार्थ—मेरे त्रिवृत् में 'ज्ञान, धन व शक्ति' का पोषण हो। हमें नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति प्राप्त हो। अन्न, पुरुष व पशुओं का हमारे यहाँ प्राचुर्य हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आदित्य, अग्नि, इन्द्र

इ॒ममा॑दित्या॒ वसु॑ना॒ समु॑क्षते॒मम॑ग्ने वर्धय वावृधा॒नः।
इ॒ममि॑न्द्र॒ सं सृ॑ज वी॒र्ये॒ ॑णा॒स्मिन्त्रि॒वृच्छ्र॑यतां पोषयि॒ष्णु॥ ४॥

१. हे **आदित्याः**=आदित्य विद्वानो! प्रकृति, जीव, परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करनेवाले विद्वानो! **इमम्**=इसे **वसुना**=निवास के लिए साधनभूत ज्ञान-धन से **समुक्षत**=सिक्त कर दो—इसे जीवन को उत्तम बनानेवाले ज्ञान से परिपूर्ण का दो। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **वावृधानः**=स्तुतियों के द्वारा बढ़ाये जाते हुए आप **इमम्**=इस स्तोता को **वर्धय**=बढ़ाइए। प्रभु-स्तवन से प्रभु की भावना हममें बढ़े और हम वृद्धि को प्राप्त हों। २. हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **इमम्**=इस उपासक को **वीर्येण संसृज**=वीर्य से संसृष्ट करो। **अस्मिन्**=इस उपासक में **पोषयिष्णु**=पोषण को प्राप्त कराता हुआ **त्रिवृत्**=प्रथम मन्त्र में वर्णित 'हरित, रजत व अयस्' में विष्ठित इन्द्रिय-त्रिक **श्रयताम्**=आश्रय करें।

भावार्थ—आदित्यों की कृपा से हमें ज्ञान-धन प्राप्त हो। अग्निरूप प्रभु हमारा वर्धन करें।

शत्रु-विद्रावक प्रभु हमें वीर्य-संसृष्ट करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

हरित, अयस्, अर्जुन

भूमिष्ट्वा पातु हरितेन विश्वभृदग्निः पिपर्त्वयसा सजोषाः।
वीरुद्भिष्टे अर्जुनं संविदानं दक्षं दधातु सुमनस्यमानम्॥ ५॥

१. **भूमिः**=निवास का साधनभूत (भवन्ति यस्मिन्) यह शरीर **त्वा**=तुझे **हरितेन**=अज्ञान के अपहरण के द्वारा **पातु**=सब प्रकार से रक्षित करे। इस मानव-शरीर को हम ज्ञान-प्राप्ति का मुख्य साधन समझें। २. **विश्वभृत्**=सबका भरण करनेवाला **अग्निः**=अग्नितत्त्व **सजोषाः**=तेरे साथ प्रीतिपूर्वक कर्त्तव्यकर्मों का सेवन करता हुआ **अयसा**=लोहवत् दृढ़ शरीर से **पिपर्तु**=तेरा पालन करे। अग्नितत्त्व के ठीक होने से हमारे शरीर दृढ़ हों और हम सब कर्त्तव्यकर्मों को करनेवाले बनें। ३. **वीरुद्भिः**=लता-वनस्पतियों से—वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करता हुआ **संविदानम्**=मेलवाला होता हुआ **ते**=तेरा यह **अर्जुनम्**=(रजतम्) चँदीला राजतत्त्व **सुमनस्य-मानम्**=उत्तम सौमनस्य से युक्त **दक्षम्**=बल को **दधातु**=धारण करे।

भावार्थ—इस मानव-शरीर में ज्ञान-प्राप्ति को हम अपना मुख्य कर्त्तव्य समझें। अग्नितत्त्व से सब कर्मों में प्रेरित होते हुए हम सुदृढ़ शरीर हों तथा उचित राजतत्त्व हमें प्रसन्नतायुक्त बलवाला बनाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः**॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिशक्वरी**॥

त्रिवृत् हिरण्य

त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत्। अपामेकं वेधसां रेत आहुस्तत्ते हिरण्यं त्रिवृदस्त्वायुषे॥ ६॥

१. **इदं हिरण्यम्**=यह हिरण्य **जन्मना**=जन्म से **त्रेधा जातम्**=तीन प्रकार का हो गया है। **एकम्**=इनमें से एक **अग्नेः प्रियतमं बभूव**=अग्नि का बड़ा प्यारा है। अग्नि में पड़कर यह हिरण्य (सुवर्ण) खूब ही चमक उठता है। २. **एकम्**=एक **हिंसितस्य सोमस्य**=पीड़ित की हुई (निचोड़ी हुई) सोमलता में से **परापतत्**=निकल आता है। सोमलता का रस भी रोगों का औषध होने से हिरण्य है—हितरमणीय है। ३. **एकम्**=एक को **वेधसा**=सृष्टि का निर्माण करनेवाले **अपाम्**=जीवनों का—सन्तानों को जन्म देनेवाले जीवों का **रेतः**=वीर्य **आहुः**=कहते हैं। **तत्**=वह **त्रिवृत्**=तीनों रूपों में होनेवाला **हिरण्यम्**=हिरण्य **ते**=तेरे **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए **अस्तु**=हो।

भावार्थ—सुवर्ण धातु 'स्वर्ण भस्म' के रूप में राजयक्ष्मा की निवृत्ति के लिए उपयुक्त होता है। सोमला का रस महान् औषध है और वीर्य तो जीवन का आधार है ही। यह त्रिविध हिरण्य हमें दीर्घायु प्रदान करे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

जमदग्नि व कश्यप का आयुष्य

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
त्रेधामृतस्य चक्षणं त्रीण्यायूंषि तेऽकरम्॥ ७॥

१. **जमदग्नेः त्र्यायुषम्**=प्रज्वलित जाठराग्निवाले नीरोग जमदग्नि की त्रिगुणा (३०० वर्ष की) आयु होती है। **कश्य-पस्य**=(कश्य=ज्ञान, वीर्य) ज्ञान व वीर्य का रक्षण करनेवाले की भी **त्र्यायुषम्**=त्रिगुण आयु होती है। २. **त्रेधा**=तीन प्रकार से **अमृतस्य**=नीरोगता के साधन शरीरस्थ

वीर्य का (मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्), **चक्षणम्**=दर्शन होता है। यह शरीर को नीरोग, मन को निर्मल व बुद्धि को दीप्त बनाता है। इसके द्वारा मैं (प्रभु) **ते**=तुझ जीव के लिए **त्रीणि आयूंषि**=सौ वर्ष के तीन जीवनों को—तीन सौ वर्ष के जीवन को **अकरम्**=करता हूँ।

भावार्थ—दीर्घजीवन के लिए आवश्यक है कि जाठराग्नि को मन्द न होने दिया जाए तथा वीर्य का रक्षण किया जाए। इस वीर्य-रक्षण का शरीर में त्रिविध परिणाम है—नीरोगता, निर्मलता और दीप्ति।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शक्राः

त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसंभूय शक्राः।
प्रत्यौहन्मृत्युममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा॥ ८॥

१. **त्रयः सुपर्णाः**=मन्त्र छह में वर्णित उत्तमता से पालन करनेवाले तीनों हिरण्य 'स्वर्णभस्म, सोमरस व वीर्य' **त्रिवृता**='हरित, रजत व अयस्' में विहित त्रिकों के साथ **यदा आयन्**=जब प्राप्त होते हैं तब ये उपासक **एकाक्षरम् अभिसंभूय**=उस अद्वितीय, अविनाशी प्रभु की ओर गतिवाले होकर—प्रभु-प्रवण होकर **शक्राः**=वस्तुतः शक्तिशाली बनते हैं। २. ये **अमृतेन साकम्**=अमृतत्व के साधनभूत वीर्य से रक्षण के साथ **मृत्युम्**=मृत्यु को **प्रत्यौहन्**=(अहिर् अर्दन) अपने से दूर पीड़ित करते हैं तथा **विश्वा दुरितानि**=सब दुरितों को—दुर्गमनों को **अन्तर्दधानाः**=अन्तर्हित करते हैं।

भावार्थ—'स्वर्ण, सोमरस व वीर्य' की प्राप्ति करके प्रभु-प्रवण होते हुए हम शक्तिशाली बनें, मृत्यु को अपने से दूर करें, वीर्यरक्षण से सब पापों को अपने से तिरोहित कर दें—दूर भगा दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

देव-पुराः (देवों के अग्रगमन)

दिवस्त्वा पातु हरितं मध्यात्त्वा पात्वर्जुनम्।
भूम्या अयस्मयं पातु प्रागाद्देवपुरा अयम्॥ ९॥

१. **हरितम्**=अज्ञान को हरनेवाला 'कान, नाक, मुख' का त्रिक **त्वा**=तुझे **दिवः**=ज्ञान के हेतु से **पातु**=रक्षित करे। **अर्जुनम्**=यह चँदीला रजत—आनन्द का साधन 'मुख, त्वचा, हाथ' का त्रिक **त्वा**=तुझे **मध्यात्**=हृदय व उदर से **पातु**=रक्षित करे। तेरा यह त्रिक रञ्जन को मर्यादा में रखता हुआ तेरे हृदय व उदर को विकृत न होने दे। **अयस्मयम्**='पायु, उपस्थ व पाद' का त्रिक शरीर को दृढ़ बनाता हुआ **भूम्या**=इस शरीर के हेतु से **पातु**=तेरा रक्षण करे। इस त्रिक का समुचित कार्य शरीर को दृढ़ बनाना होता है। **अयम्**=द्युलोक, मध्य व भूमि (मस्तिष्क, हृदय व उदर तथा शरीर) से रक्षित होनेवाला यह पुरुष **देवपुराः प्रागात्**=देवों की अग्रगतिवाला होता है, देवलोकों को प्राप्त करता है (पुर अग्रगमने, टाप्)। देव जैसे आगे गतिवाले होते हैं—उन्नति-पथ पर आगे बढ़ते हैं, उसी प्रकार यह उन देवपुरों को—देवों की अग्रगतियों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—'हरित' द्युलोक से, 'अर्जुन' मध्य से तथा 'अयस्' भूमि से हमारा रक्षण करे। यह रक्षित पुरुष देवों की अग्रगतियोंवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

वर्चस्वी, द्विषताम् उत्तरः

इमास्तिस्रो देवपुरास्तास्त्वा रक्षन्तु सर्वतः।
तास्त्वं बिभ्रद्वर्चस्व्युत्तरो द्विषतां भव॥ १०॥

१. **इमाः**=ये **तिस्रः**=तीन **देवपुराः**=देवों की अग्रगतियाँ हैं। देव 'आँख, नाक, कान' के यथोचित व्यापार से ज्ञानवृद्धि करते हैं, 'मुख, त्वचा व हाथ' के यथोचित व्यवहार से उचित आनन्द का अर्जन करते हुए 'हृदय व उदर' को ठीक रखते हैं, 'पायु, उपस्थ व पाद' की संयत गति से शरीर को सुदृढ़ बनाते हैं। **ताः**=उन तीन देवों की अग्रगतियाँ **त्वा**=तुझे **सर्वतः रक्षन्तु**=सब ओर से रक्षित करनेवाली हों। इनके द्वारा तू अपना पूर्ण रक्षण कर। २. **त्वम्**=तू **ताः**=उन्हें **बिभ्रत्**=धारण करता हुआ **वर्चस्वी**=प्रशस्त वर्चस्-(Vitality)-वाला व **द्विषताम् उत्तरः**=शत्रुओं का विजेता **भव**=हो।

भावार्थ—देवों के अग्रगमनों को अपनाकर हम वर्चस्वी व शत्रु-विजेता बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इन्द्रिय-संयम

पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आबेधे प्रथमो देवो अग्रे।
तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यतां त्रिवृदाबधे मे॥ ११॥

१. **देवानाम्**=देववृत्तिवाले व्यक्तियों का **पुरम्**=यह अग्र-गमन **हिरण्यम्**=हितरमणीय है—ज्योतिर्मय है। यह **अमृतम्**=हमें नीरोग बनानेवाला है। **यः**=जो भी इस अग्र-गमन को **आबेधे**=अपने में बाँधता है, वह **प्रथमः**=प्रथम होता है—ब्रह्मा बनता है (ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव), **देवः**=देव होता है, **अग्रे**=आगे-और-आगे बढ़ता है। २. **तस्मै**=उस 'उग्र गतिवाले प्रथम देव' के लिए **नमः**=नमस्कार हो। मैं भी **दश**=दसों इन्द्रियों को **प्राची**=(प्र अञ्च) अग्रगतिवाला **कृणोमि**=करता हूँ। **त्रिवृत्**='हरित, अर्जुन (रजत) व अयस्' में विष्ठित इन्द्रिय-त्रिक के **आबधे**=समन्तात् बन्धन में, वशीकरण में **मे** **अनुमन्यताम्**=मुझे अनुमति देनेवाला हो—मैं इन सब इन्द्रियों को वश में कर सकूँ।

भावार्थ—इन्द्रियों को वश में करके हम देवों की भाँति अग्रगतिवाले हों। उन देवों का हम आदर करें और स्वयं भी इन्द्रियों को संयत करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

अर्यमा, पूषा, बृहस्पति

आ त्वा चृतत्वर्यमा पूषा बृहस्पतिः। अहर्जातस्य यन्नाम तेन त्वाति चृतामसि॥ १२॥

१. **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) शत्रुओं का नियमन करनेवाला साधक **त्वा**=तुझे—'मुख, त्वचा व हाथ' के त्रिक को **आचृततु**=सब ओर से बाँधे (चती हिंसासंग्रन्थनयोः) अथवा सब ओर से मार ले—वश में कर ले। **पूषा**=पोषण करनेवाला यह साधक 'पायु, उपस्थ व पाद' के त्रिक को वशीभूत करे। **बृहस्पतिः**=ज्ञान का रक्षक व स्वामी बननेवाला यह साधक 'आँख, नाक व कान' के त्रिक को ज्ञान-प्राप्ति में संग्रथित करे। २. **अहः**=सम्पूर्ण दिन **जातस्य**=सदा से प्रादुर्भूत उस स्वयम्भू प्रभु का **यत् नाम**=जो नाम-स्मरण है—नाम का जप है, **तेन**=उसके द्वारा **त्वा**=तुझ इन्द्रिय-त्रिक को **अतिचृतामसि**=अतिशयेन बन्धन में—संयमन में—करते हैं। प्रभु-नामस्मरण इन्द्रिय-संयम में हमारा सहायक होता है।

भावार्थ—इन्द्रिय-संयम के लिए प्रभु नाम-स्मरण को अपनाते हुए हम 'अर्यमा, पूषा व बृहस्पति' बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्** ॥

आयुषे वर्चसे

ऋतुभिष्ट्वार्तवैरायुषे वर्चसे त्वा।
संवत्सरस्य तेजसा तेन संहनु कृण्मसि॥ १३ ॥

१. **ऋतुभिः आर्तवैः**=ऋतुओं व ऋतुओं में होनेवाली वनस्पतियों द्वारा **त्वा**=तुझ—'अर्यमा, पूषा, बृहस्पति' (मन्त्र १२) को **आयुषे**=आयु के लिए तथा **वर्चसे**=वर्चस् (भास्वर शक्ति) के लिए **कृण्मसि**=करते हैं। २. **संवत्सरस्य**=सम्पूर्ण वर्ष के **तेन तेजसा**=उस तेज से—सम्पूर्ण वर्ष नीरोगता व तेजस्विता से **त्वा**=तुझे **संहनु**=संगत (हन् गतौ) करते हैं।

भावार्थ—समयानुसार उस-उस ऋतु में उत्पन्न होनेवाली वनस्पतियों के प्रयोग से हम दीर्घायु व वर्चस्वी हों, सम्पूर्ण वर्ष तेजस्वी व नीरोग बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

घृतादुल्लुप्तं मधुना समक्तम्

घृतादुल्लुप्तं मधुना समक्तं भूमिदृंहमच्युतं पारयिष्णु।
भिन्दन्त्सपत्नानधरांश्च कृण्वदा मा रोह महते सौभगाय॥ १४ ॥

१. गतमन्त्र में वर्णित 'तेजस्' को सम्बोधित करते हुए साधक कहता है कि यह तेजस् **घृतात्**=दीप्ति—ज्ञानदीप्ति के हेतु से **उत् लुप्तम्**=ऊर्ध्वगतिवाला किया जाकर अदृष्ट किया जाता है। वीर्य की ऊर्ध्व गति करनेवाला 'ऊर्ध्वरेतस्' पुरुष अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला होता है। यह वीर्य **मधुना**=माधुर्य के हेतु से **समक्तम्**=शरीर में संगत किया गया है। सुरक्षित हुआ-हुआ वीर्य जीवन को मधुर बनाता है। **भूमिदृंहम्**=यह शरीररूप भूमि को दृढ़ बनाता है, **अच्युतम्**=हमें शरीर से च्युत नहीं होने देता, अर्थात् दीर्घजीवन का कारण बनता है। **पारयिष्णु**=हमें सब रोगों से पार ले-जानेवाला है। २. **सपत्नान्**=रोगरूप शत्रुओं को **भिन्दन्**=विदीर्ण करता हुआ **च**=तथा **अधरान् कृण्वत्**=उन्हें पाँव तले रौंदता हुआ हे वीर्य! तू **महते सौभगाय**=मेरे महान् सौभाग्य के लिए **मा आरोह**=मेरे शरीर में आरोहण कर—ऊर्ध्वगतिवाला हो। शरीर में सुरक्षित हुआ यह वीर्य हमारे सब प्रकार के उत्थान का कारण बनता है।

भावार्थ—'ज्ञानदीप्ति तथा माधुर्य' के हेतु से वीर्य को शरीर में सुरक्षित व ऊर्ध्वगतिवाला किया जाता है। यह शरीर को दृढ़ बनाता है, हमें सब रोगों से पार ले-जाता है, रोगरूप शत्रुओं को कुचलता हुआ यह हमारे महान् सौभाग्य के लिए हो।

विशेष—वीर्यरक्षा द्वारा रोगरूप शत्रुओं का विनाश करनेवाला व्यक्ति 'चातन' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

भिषक् (भेषजस्यासि कर्ता)

पुरस्ताद्युक्तो वह जातवेदोऽग्ने विद्धि क्रियमाणं यथेदम्।
त्वं भिषग्भेषजस्यासि कर्ता त्वया गामश्वं पुरुषं सनेम॥ १ ॥

१. हे **जातवेदः अग्ने**=सर्वज्ञ अग्रणी प्रभो! **पुरस्तात्**=हमारे जीवन-शकट के आगे **युक्तः**=युक्त हुए-हुए आप **वह**=हमारे जीवन की गाड़ी को ले-चलिए (भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया)। **यथा**=जैसे **इदम्**=यह **क्रियमाणम्**=किया जाना है, उसे **विद्धि**=आप ही जानिए। हमारे जीवन-शकट को लक्ष्य पर कैसे पहुँचाना है—यह तो आपको ही पता है। २. **त्वम् भिषक्**=आप ही वैद्य हैं **भेषजस्य कर्ता असि**=औषध करनेवाले हैं। जीवन-यात्रा में अयुक्त आहार-विहार से उत्पन्न हो जानेवाले रोगों को आपको दूर करना है। हे प्रभो! **त्वया**=आपसे हम **गाम्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को, **अश्वम्**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को तथा **पुरुषम्**=उत्तम वीर सन्तानों को **सनेम**=प्राप्त करें (यथेह पुरुषोऽसत्)।

भावार्थ—हमारे जीवन-रथ के सारथि प्रभु हैं। वे ही जानते हैं कि यह यात्रा कैसे पूर्ण होनी है। सब रोगों के चिकित्सक वे ही हैं। वे ही उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व वीर सन्तानों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दिदेव, जघास

तथा तदग्ने कृणु जातवेदो विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः।
यो नो दिदेव यतमो जघास यथा सो अस्य परिधिष्पताति॥ २॥

१. हे **जातवेदः अग्ने**=सर्वज्ञ, अग्रणी प्रभो! **विश्वेभिः देवैः सह संविदानः**='माता-पिता, आचार्य व अतिथि' आदि सब देवों के साथ ऐकमत्यवाले हुए-हुए आप **तत् तथा कृणु**=उस बात को वैसा कीजिए कि **यथा**=जिससे **यः**=जो रोग **नः**=हमें **दिदेव**=पराजित करना चाहता है (दिव् विजिगीषायाम्), **यतमः**=जो रोग **जघास**=हमें खा ही जाता है, **अस्य**=इस रोग की **सः परिधिः**=वह परिधि—घेरा **पताति**=गिर जाता है, नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—'रोग हमें घेरे न रहें', यही व्यवस्था प्रभु को 'माता-पिता व आचार्य द्वारा करानी है।'

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

रोग-परिधि-पतन

यथा सो अस्य परिधिष्पताति तथा तदग्ने कृणु जातवेदः।
विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः॥ ३॥

१. हे **जातवेदः अग्ने**=सर्वज्ञ अग्रणी प्रभो! **विश्वेभिः देवैः सह संविदानः**=माता-पिता, आचार्य व अतिथि आदि सब देवों के साथ ऐकमत्य (मेलवाले) होकर **तत् तथा कृणु**=उसे वैसा कीजिए, **यथा**=जिससे कि **अस्य**=इस रोग का **सः परिधिः**=वह घेरा **पताति**=गिर जाता है, गिर जाए।

भावार्थ—प्रभु सब देवों के साथ ऐसी व्यवस्था करें कि हमें घेरनेवाले रोगों का घेरा टूट जाए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पिशाच-हिंसन

अक्ष्यौ३ नि विध्य हृदयं नि विध्य जिह्वां नि तृन्द्धि प्र दतो मृणीहि।
पिशाचो अस्य यतमो जघासाग्ने यविष्ठ प्रति तं शृणीहि॥ ४॥

१. **अस्य यतमः पिशाचः जघास**=जो भी पिशाच (रक्तभक्षक कृमि व शत्रु) इसका भक्षण

करता है, **अक्ष्यौ निविध्य**=इसकी आँखों को बींध डाल, **हृदयं निविध्य**=हृदय को बींध डाल, **जिह्वां नितृन्द्धि**=जिह्वा को काट डाल, **दतः प्रमृणीहि**=दाँतों को मसल डाल। २. हे **यविष्ठ**=बुराइयों का अमिश्रण करनेवाले! **अग्ने**=परमात्मन्! **तं प्रतिशृणीहि**=उस पिशाच को हिंसित कर दे।

भावार्थ—हे प्रभो! जो भी पिशाच हमारा भक्षण करता है, उसकी 'आँखों, हृदय, जिह्वा व दाँतों' को विद्ध करके उसे समाप्त कर दीजिए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरोऽतिजगतीविराड्जगती** ॥

हृतं, विहृतं, पराभृतम्

यदस्य हृतं विहृतं यत्पराभृतमात्मनो जग्धं यतमत्पिशाचैः।
तदग्ने विद्वान्पुनरा भर त्वं शरीरे मांसमसुमेरयामः॥ ५॥

१. **अग्ने**=हमें नीरोग बनाकर उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले ज्ञानी वैद्य! **अस्य आत्मनः**=इस देह का **पिशाचैः**=मांसभक्षी रोगजन्तुओं ने **यत्**=जो **हृतम्**=मांस और बल आदि हर लिया है, **यत् विहृतम्**=जो छीन लिया है, **पराभृतम्**=जो लूट लिया है और **यतमत् जग्धम्**=जो खा लिया है, **तत्**=उस सबको **विद्वान्**=सम्यक् जानता हुआ **त्वम्**=तू **पुनः आभर**=औषध प्रयोग के द्वारा पुनः प्राप्त करा दे। हम **शरीरे मांसं असुम्**=शरीर में मांस और प्राणशक्ति को **ऐरयामः**=सब अङ्गों में प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य द्वारा उचित औषध-प्रयोग से रोग-कृमियों से जनित कमी दूर की जाती है, शरीर फिर से मांस व रुधिर-सम्पन्न बनाया जाता है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आमे सुपक्वे शबले विपक्वे

आमे सुपक्वे शबले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने ददम्भ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३यमस्तु॥ ६॥

१. **यः**=जो **पिशाचः**=मांसभोजी रोग-जन्तु **आमे**=कच्चे, **सुपक्वे**=पक्के **शबले**=अधपके, **विपक्वे**=खूब पके **अशने**=भोजन में प्रविष्ट होकर **मा ददम्भ**=मुझे हिंसित करता है, **तत्**=वह पिशाच **आत्मना प्रजया**=स्वयं और अपनी सन्ततिसहित नष्ट हो जाए। २. **पिशाचाः**=सब रोगजन्तु **वियातयन्ताम्**=नाना प्रकार से पीड़ा को प्राप्त हों और शरीर को छोड़ जाएँ। **अयं अगदः अस्तु**=यह पुरुष नीरोग हो जाए।

भावार्थ—जो रोगकृमि कच्चे-पक्के भोजनों में प्रविष्ट होकर हमारा हिंसन करते हैं, वे अपनी सन्तानोंसहित नष्ट हो जाएँ। इस रुग्ण पुरुष को वे पीड़ित न करें। यह नीरोग हो जाए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

क्षीरे, मन्थे अपां पाने, शयने

क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्ये३यः।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३यमस्तु॥ ७॥
अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम्।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३यमस्तु॥ ८॥
दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम्।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३यमस्तु॥ ९॥

१. **यतमः**=जो भी कोई रोगजन्तु **क्षीरे**=दूध में, **मन्थे**=मठे में, **अकृष्टपच्ये धान्ये**=बिना खेती किये उत्पन्न हुए अन्न में, तथा **यः**=जो **अशने**=भोजन में प्रविष्ट होकर **मा ददम्भ**=मुझे हिंसित करता है। २. **यातूनाम्**=यातना देनेवालों में **यतमः क्रव्यात्**=जो मांसभक्षक कृमि **अपां पाने**=जलों का पान करने में अथवा **शयने शयानं मा**=बिस्तर पर सोते हुए मुझे **ददम्भ**=हिंसित करता है, ३. **यातूनां यतमः**=पीड़ा देनेवालों में जो भी **क्रव्यात्**=मांसाहारी कृमि **दिवा नक्तम्**=दिन-रात के समय में **शयने शयानम्**=बिस्तर पर सोये हुए **मा ददम्भ**=मुझे हिंसित करता है, **तत्**=वह पिशाच **आत्मना प्रजया**=स्वयं और अपनी सन्ततिसहित विनष्ट हो जाए। **पिशाचाः**=सब रोगजन्तु **वियातयन्ताम्**=नाना प्रकार से पीड़ा को प्राप्त होकर शरीर को छोड़ जाएँ। **अयं अगदः अस्तु**=यह पुरुष नीरोग हो जाए।

भावार्थ—भोजन में, जलों में या दिन व रात में सोने के समय जो भी रोगकृमि हमारी हिंसा का कारण बनता है, वह कृमि नष्ट हो जाए और हमारे शरीर नीरोग बनें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

क्रव्यादं, रुधिरं, मनोहनम्

क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः।
तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु च्छिनत्तु सोमः शिरो अस्य धृष्णुः॥ १०॥

१. हे **जातवेदः अग्ने**=ज्ञानी अग्रणी वैद्य! **क्रव्यादम्**=मांस को खा जानेवाले, **रुधिरम्**=रक्त-संचारण में रुकावट पैदा करनेवाले, **मनोहनम्**=मन को बिगाड़ देनेवाले **पिशाचम्**=रोगकृमि को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **वाजी**=शक्तिशाली होता हुआ **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूपी वज्र से **हन्तु**=नष्ट कर दे। 'जितेन्द्रियता, शक्ति व क्रियाशीलता' रोगकृमियों के विनाश के साधन हैं। शरीर में सुरक्षित **सोमः**=वीर्य **अस्य**=इस रोगकृमि के **शिरः च्छिनत्तु**=सिर को काट डाले। यह सोम **धृष्णुः**=रोगरूप शत्रुओं को धर्षण करनेवाला हो।

भावार्थ—वैद्य औषध-प्रयोग से उन कृमियों का विनाश करे जो मांस खा जानेवाले, रुधिराभिसरण में रुकावट पैदा करनेवाले व मन पर उदासी लानेवाले हैं। हम जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनकर सोम-रक्षण करते हुए इन रोगों का विनाश कर दें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दैव्या हेति

सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।
सहमूराननु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः॥ ११॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी—हमें नीरोग बनाकर आगे ले-चलनेवाले वैद्य! तू **यातुधानान्**=पीड़ा देनेवाले कृमियों को **सनात् मृणसि**=सदा नष्ट करता है। ये **रक्षांसि**=रोगकृमिरूप राक्षस **त्वा**=तुझे **पृतनासु न जिग्युः**=संग्रामों में पराभूत नहीं कर पाते। तू उचित औषध द्वारा इनका विनाश कर देता है। २. इन **क्रव्यादः**=मांस खा जानेवाले कृमियों को **सहमूरान्**=मूलसहित **अनुदह**=जला दे। **ते**=तेरी **दैव्यायाः**=रोगों को जीतने की कामना में उत्तम **हेत्याः**=औषधरूप वज्र से **मा मुक्षत**=यह रोग छूट न जाए।

भावार्थ—वैद्य रोगकृमियों को विनष्ट करे। रोगकृमियों के साथ संग्राम में वैद्य पराजित न हो। यह उन मांसभक्षक कृमियों को जड़ से उखाड़ दे। उसकी औषधरूप दैव्या हेति से कोई रोगकृमि छूट न जाए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

अंशुः इव आप्यायताम्

समाहर जातवेदो यद्धृतं यत्पराभृतम्। गात्राण्यस्य वर्धन्तामंशुरिवा प्यायतामयम्॥ १२॥

१. हे **जातवेदः**=ज्ञानी वैद्य **अस्य यत् हृतम्**=इस रोगी का जो भाग हर लिया गया है, **यत् पराभृतम्**=जो धातु व बल नष्ट कर दिया गया है, उसे **समाहर**=पुनः भली प्रकार प्राप्त करा। २. **अस्य**=इसके **गात्राणि**=अङ्ग **वर्धन्ताम्**=बढ़ें। **अयम्**=यह **अंशुः इव**=चन्द्र के समान **आप्यायताम्**=दिनों-दिन बढ़ता चले।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य औषध-प्रयोग द्वारा रोगी की क्षीणता को दूर कर दे। इस रोगी के अङ्ग फिर से बढ़ जाएँ। चन्द्रमा के समान इसका शरीर आप्यायित होता चले।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विरप्शी, मेध्य, अयक्ष्म

सोमस्येव जातवेदो अंशुरा प्यायतामयम्।
अग्ने विरप्शिनं मेध्यमयक्ष्मं कृणु जीवतु॥ १३॥

१. हे **जातवेदः**=ज्ञानी वैद्य! **अयम्**=यह पुरुष **सोमस्य अंशुः इव**=चन्द्रमा की किरण के समान **आप्यायताम्**=आप्यायित होता चले। जैसे चन्द्रमा की एक-एक किरण बढ़ती जाती है, इसीप्रकार यह बढ़ता चले। २. हे **अग्ने**=अग्रणी वैद्य! तू इस पुरुष को **विरप्शिनम्**=निर्दोष अथवा शुद्ध शब्दों का उच्चारण करनेवाला **मेध्यम्**=पवित्र **अयक्ष्मम्**=नीरोग **कृणु**=कर दे, **जीवतु**=यह पूर्ण जीवन को जीनेवाला हो।

भावार्थ—उचित औषध-प्रयोग से चन्द्रमा की भाँति वृद्धि को प्राप्त होता हुआ यह पुरुष 'निर्दोष, पवित्र व नीरोग' बने।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदापराबृहतीककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

ज्ञानदीप्ति व पिशाचजम्भन

एतास्ते अग्ने समिधः पिशाचजम्भनीः।
तास्त्वं जुषस्व प्रति चैना गृहाण जातवेदः॥ १४॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी विद्वन्! **एताः**=ये **ते**=तेरी **समिधः**=ज्ञानदीप्तियाँ **पिशाचजम्भनीः**=पिशाचों का विनाश करनेवाली हैं, ज्ञानदीप्तियाँ राक्षसी वृत्तियों का विनाश करती हैं। २. हे **जातवेदः**=उत्पन्न ज्ञानवाले पुरुष **ताः**=उन ज्ञानदीप्तियों को **त्वम्**=तू **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर **च**=और **एनाः**=इन ज्ञानदीप्तियों को तू **प्रतिगृहाण**=प्रतिदिन ग्रहण करनेवाला हो।

भावार्थ—हम अपने ज्ञान को दीप्त करके पैशाचिकी वृत्तियों को विनष्ट करें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तार्ष्टाघीः समिधः

तार्ष्टाघीरग्ने समिधः प्रति गृह्णाह्यर्चिषा। जहातु क्रव्याद्रूपं यो अस्य मांसं जिहीर्षति॥ १५॥

१. **तार्ष्टाघीः**=(तार्ष्ट अघि गत्याक्षेपणयोः) तृष्णा को विनष्ट करनेवाली **समिधः**=ज्ञानदीप्तियों को **अर्चिषा**=(अर्च पूजायाम्) प्रभु-पूजन के द्वारा **प्रतिगृह्णाहि**=ग्रहण करनेवाला बन। २. इसप्रकार प्रभुपूजन व ज्ञान-दीप्तियों में प्रवृत्त, लोभनिवृत्त पुरुष को **यः**=जो भी रोगकृमि सताता है और **अस्य**=इसके **मांसम्**=मांस को **जिहीर्षति**=हरना चाहता है, वह **क्रव्यात्**=मांसभक्षक

कृमि **रूपं जहातु**=अपने रूप को छोड़ दे, अर्थात् वह कृमि नष्ट हो जाए।

भावार्थ—ज्ञानदीप्ति तृष्णा को नष्ट करती है। यह ज्ञानदीप्ति प्रभुपूजन से प्राप्त होती है। इस ज्ञानदीप्त पुरुष को रोग नहीं सताते।

विशेष—सब रोगों को अपने से पृथक् करनेवाला—रोगों से अपना पीछा छुड़ानेवाला यह ऋषि 'उन्मोचन' है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

असुं बध्नामि ते दृढम्

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः।
इहैव भव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः पितृनसुं बध्नामि ते दृढम्॥ १॥

१. **ते आवतः आवतः**=हे पुरुष! तेरे समीप-से-समीप, **ते परावतः आवतः**=तुझसे दूर-से-दूर देश से भी **ते असुं दृढं बध्नामि**=तेरे प्राण को बलपूर्वक बाँधता हूँ। **इह एव भव**=तू यहाँ ही हो, **पूर्वान् मा नु गाः**=अपने मृत पुरुषों के पीछे मत ही जा। **पितृन् मा अनु गाः**=तुझे जन्म देनेवाले अपने पितरों के पीछे मत चला जा।

भावार्थ—मैं तुझमें प्राणशक्ति का धारण करता हूँ। तू अपने पूर्वजों के पीछे शीघ्र जानेवाला मत हो। तू पूर्ण जीवन को प्राप्त कर।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उन्मोचन-प्रमोचने

यत्त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते॥ २॥
यद् दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचित्त्या।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते॥ ३॥
यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत्।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते॥ ४॥

१. **यत्**=यदि **स्वः पुरुषः**=अपना कोई सम्बन्धी पुरुष, **यत्**=यदि कोई **अरणः जनः**=(रण शब्दे) असम्भाष्य—हीन पुरुष **त्वा अभि चेरुः**=तुझपर अभिचार वा बुरा आक्रमण करता है तो मैं (आचार्य) **वाचा**=वाणी के द्वारा **उन्मोचनप्रमोचने**=जाल से छूटना व जाल से बचे ही रहना—**उभे**=दोनों का **ते वदामि**=तुझे उपदेश करता हूँ। तू समझदार बनकर उन दुष्टों के जाल से छूट आ, उनके जाल में मत फँस। २. हे शिष्य! **यत्**=जो **अचित्त्या**=नासमझी से अथवा असावधानी से तूने **स्त्रियै**=किसी स्त्रि के लिए **पुंसे**=या पुरुष के लिए **दुद्रोहिथ**=द्रोह किया है अथवा **शेपिषे**=बुरा वचन कहा है, तो मैं वाणी द्वारा तेरे लिए उन्मोचन व प्रमोचन को कहता हूँ। ३. **यत्**=यदि तू **मातृकृतात् एनसः**=माता से किये गये पाप से **च**=और **यत्**=यदि **पितृकृतात् एनसः**=पिता से किये गये पाप से **शेषे**=अज्ञान-निद्रा में सो रहा है तो मैं वाणी द्वारा तेरे लिए उन्मोचन और प्रमोचन दोनों को ही करता हूँ।

भावार्थ—आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करके हम अपने और पराये मनुष्यों के षड्यन्त्रों का शिकार न बनें। किसी भी स्त्री व पुरुष के लिए अपशब्द न कहें। अज्ञाननिद्रा में ही न सोये रह जाएँ।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जरदष्टिं कृणोमि त्वा

यत्ते माता यत्ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः।
प्रत्यक्सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा॥ ५॥

१. **यत्**=जिस औषध को **ते माता**=तेरी माता, **यत् ते पिता**=जिस औषध को तेरे पिता, **जामिः**=बहिन, **च भ्राता**=और भाई **सर्जतः**=उत्पन्न करते हैं, **भेषजम्**=उस औषध का तू **प्रत्यक्**=अपने अन्दर **सेवस्व**=सेवन कर। इस औषध में किसी प्रकार का संशय नहीं रहता। इसप्रकार इस औषध के सेवन से **त्वा**=तुझे **जरदष्टिम्**=जरा अवस्था को व्याप्त करनेवाला **कृणोमि**=करता हूँ, तुझे दीर्घजीवी बनाता हूँ।

भावार्थ—औषध का सेवन विश्वस्त पुरुष के हाथों से ही करना चाहिए। इसप्रकार मैं (वैद्य) तुझे नीरोग बनाकर दीर्घजीवी बनाता हूँ।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोगों व चिन्ताओं से ऊपर

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह। दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि॥ ६॥

१. हे **पुरुष**=इस शरीर-पुरी में निवास करनेवाले जीव! **सर्वेण मनसा सह**=पूर्ण मन के साथ तू **इह एधि**=यहाँ—जीवन-यात्रा में चलनेवाला हो। तू सदा उत्साह-सम्पन्न होकर जीवन में आगे बढ़। **यमस्य दूतौ मा अनुगाः**=यम के दूतों के पीछे जानेवाला न हो। 'शरीर के रोग तथा मानस चिन्ताएँ' ही यम के दूत हैं। तू इन रोगों व चिन्ताओं से ऊपर उठ। २. **जीवपुराः अधि इहि**=(अधि+इ स्मरणे) जीवित पुरुषों की अग्रगतियों का तू स्मरण कर। सदा आगे बढ़नेवाला बन।

भावार्थ—जीवन-यात्रा में हम सदा उत्साह बनाये रक्खें। जो कार्य करें पूरे दिल से करें। रोग व चिन्ताएँ तो यम के दूत हैं। इन्हें परे छोड़कर हम अग्रगतियों का स्मरण करें और आगे बढ़ें।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आरोहणम् आक्रमणम्

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः। आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोऽयनम्॥ ७॥

१. **अनुहूतः**=माता-पिता व आचार्यों से अनुहूत हुआ-हुआ—'तुझे इधर आना है', इसप्रकार निर्देश किया हुआ तू **पुनः एहि**=फिर गतिवाला हो। **उदयनं विद्वान्**=उत्कृष्ट गति को जानता हुआ तू **पथः**=(एहि) मार्ग से गतिवाला हो—सदा उत्तम मार्ग से चलनेवाला हो। तू इस बात का ध्यान रख कि **आरोहण**=ऊपर चढ़ना व **आक्रमणम्**=विघ्नों को आक्रान्त करके आगे बढ़ना ही **जीवतः जीवतः**=प्रत्येक प्राणधारी का **अयनम्**=मार्ग है। तुझे भी आरोहण व आक्रमण को अपनाना है।

भावार्थ—हम अपने बड़ों से निर्दिष्ट मार्ग पर आगे बढ़ें। 'ऊपर उठना और आगे बढ़ना' ही जीवन का मार्ग है—इस बात को समझें।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मत डर, तू जाता नहीं

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव॥ ८॥

१. वैद्य रोगी से कहता है कि **मा बिभेः**=डर मत, **न मरिष्यसि**=तू मरेगा नहीं। मैं **त्वा**=तुझे **जरदष्टिं कृणोमि**=पूर्ण जरावस्था तक जीवन को व्याप्त करनेवाला बनाता हूँ। २. **अहम्**=मैं **तव**=तेरे **अङ्गेभ्यः**=अङ्गों से **अङ्गज्वरम्**=अङ्गज्वर को तथा **यक्ष्मम्**=यक्ष्मारोग को **निरवोचम्**=बाहर निकाल देता हूँ।

भावार्थ—वैद्य रोगी को उत्साहित करता हुआ कहता है कि मैं तुझे अभी नीरोग किये देता हूँ। तू मरेगा नहीं। डर मत, तू पूर्ण आयुष्य को प्राप्त करेगा।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

अङ्गभेदः, अङ्गज्वरः

अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः।
यक्ष्मः श्येनइव प्रापप्तद्वाचा साढः परस्तराम्॥ ९॥

१. **अङ्गभेदः**=अवयवों का टूटना—अवयवों की पीड़ा, **अङ्गज्वरः**=अङ्गों का ज्वर **यः च ते हृदयामयः**=और जो तेरे हृदय का रोग है, वह **यक्ष्मः**=रोग **वाचा साढः**=मेरी वाणी से पराजित हुआ-हुआ **परस्तराम्**=बहुत दूर **प्रापप्तत्**=भाग जाए। इसप्रकार वेग से भाग जाए **इव**=जैसेकि **श्येनः**=बाज़पक्षी वेग से उड़ जाता है।

भावार्थ—वैद्य रोगी से कहता है कि तेरा सब विकार अभी इसप्रकार दूर चला जाता है, जैसेकि बाज़पक्षी शीघ्रता से उड़ जाता है।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

बोधप्रतीबोधौ

ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम्॥ १०॥

१. **बोधप्रतीबोधौ**=बोध और प्रतिबोध—बुद्धि व मन—विवेक व चैतन्य—ये दो **ऋषी**=ऋषि हैं—तेरे जीवन को ध्यान से देखनेवाले हैं। इनमें एक **अस्वप्नः**=न सोनेवाला है **च**=और **यः**=जो दूसरा है वह **जागृविः**=सदा जागता है। विवेक हमें कर्त्तव्य के विषयों में सावधान रखता है और चैतन्य सदा जागरित रखता है। २. **तौ**=वे दोनों ते **प्राणस्य**=तेरे प्राण के **गोप्तारौ**=रक्षक हैं, ये **दिवा नक्तं च**=दिन और रात **जागृताम्**=जागते रहें।

भावार्थ—हमारा विवेक व चैतन्य लुप्त न हो। इनका जागरित रहना ही जीवन का रक्षक बनना है।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्निः उपसद्यः

अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते। उदेहि मृत्योर्गम्भीरात्कृष्णाच्चित्तमसस्परि॥ ११॥

१. **अयम् अग्निः**=यह अग्रणी प्रभु **उपसद्यः**=उपासना के योग्य है। **इह**=यहाँ—उपासना में ही **सूर्यः ते उदेतु**=सूर्य तेरे लिए उदित हो, अर्थात् सूर्योदय से पूर्व ही उठकर तू उपासना में प्रवृत्त होनेवाला बन। २. तू **गम्भीरात् मृत्योः उत् एहि**=भयावह मृत्यु से ऊपर उठ तथा **कृष्णात् तमसः चित् परि**=(उदेहि) काले अन्धकार से भी तू ऊपर उठनेवाला बन—अविद्यान्धकार को छोड़कर ऊपर उठ।

भावार्थ—हम सूर्योदय से पूर्व ही उपासना में प्रवृत्त हों। भयावह मृत्यु से तथा अविद्या-अन्धकार से हम ऊपर उठें।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**चतुष्पदाविराड्जगती**॥

उत्पारण

नमो॑ य॒माय॒ नमो॑ अस्तु मृ॒त्यवे॒ नमः॑ पि॒तृभ्य॑ उ॒त ये नय॑न्ति।
उ॒त्पार॑णस्य॒ यो वेद॒ तम॒ग्निं पु॒रो द॑धे॒ऽस्मा अ॑रि॒ष्टता॑तये॥ १२॥

१. **यमाय**=उस सर्वनियन्ता प्रभु के लिए **नमः**=नमस्कार हो। **मृत्यवे**=पुराने शरीर को छुड़ाकर नया शरीर देनेवाले प्रभु के लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो। **उत पितृभ्यः**=और उन पितरों के लिए **नमः**=नमस्कार हो **ये**=जो **नयन्ति**=हमें उन्नति-पथ पर ले-चलते हैं। २. **अस्मै अरिष्टतातये**=इस कल्याण-वृद्धि के लिए **तम् अग्रिम्**=उस अग्रणी प्रभु को **पुरः दधे**=सदा अपने सामने रखता हूँ, **यः**=जो प्रभु **उत्पारणस्य वेद**=भव-सागर से पार लगाना जानते हैं।

भावार्थ—प्रभु 'यम' हैं, 'मृत्यु' हैं, 'अग्नि' हैं। ये प्रभु हमें भव-सागर से पार ले-जाते हैं और हमारा कल्याण करते हैं, अतः हम उन्हें नमस्कार करते हैं। हम उन पितरों को भी नमस्कार करते हैं, जो हमें उन्नति-पथ पर ले-चलते हैं।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्राण, मन, चक्षु, बल-बुद्धि

ऐतु॑ प्रा॒ण ऐतु॒ मन॒ ऐतु॒ चक्षु॒रथो॒ बल॑म्।
शरी॑रमस्य॒ सं वि॒दां तत्प॒द्भ्यां प्रति॑ तिष्ठतु॥ १३॥

१. इस शरीर में **प्राणः आ एतु**=प्रथम प्राण आये, फिर **मनः आ एतु**=मन का आगमन हो, **चक्षुः आ एतु**=तब आँख आदि इन्द्रियाँ प्राप्त हों, **अथो बलम्**=तत्पश्चात् शरीर में बल का सञ्चार हो। २. तब **अस्य**=इसका **शरीरम्**=शरीर **विदाम्**=बुद्धि को **सम्** (एतु)=सम्यक् प्राप्त हो। **तत्**=तब **पद्भ्याम् प्रतितिष्ठतु**=पाँवों से प्रतिष्ठित हो—पाँवों पर खड़ा होकर कार्य करनेवाला हो।

भावार्थ—शरीर में क्रमशः 'प्राण, मन, चक्षु, बल व बुद्धि' का प्रवेश होता है और तब वह पाँवों पर प्रतिष्ठित होकर कार्यों को करने लगता है।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

मा नु भूमिगृहः भुवत्

प्रा॒णेना॑ग्ने॒ चक्षु॑षा॒ सं सृ॑जे॒मं समी॑रय॒ त॒न्वा॒३ सं बले॑न।
वेत्था॒मृत॑स्य॒ मा नु गा॒न्मा नु भूमि॑गृहो भुवत्॥ १४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **इमम्**=इस व्यक्ति को **प्राणेन चक्षुषा संसृज**=प्राण व दर्शनशक्ति से संसृष्ट कीजिए। इसे **तन्वा**=शरीर की शक्तियों के विस्तार से तथा **बलेन**=बल से **सं सं ईरय**=सम्यक् प्रेरित कीजिए। शरीरशक्ति-विस्तार तथा बल से युक्त हुआ-हुआ यह अपने कार्यों को सम्यक् करनेवाला हो। २. हे प्रभो! आप **अमृतस्य वेत्थ**=अमृत को जानते हैं—नीरोगता प्राप्त कराते हैं। **मा नु गात्**=यह व्यक्ति शरीर को छोड़कर चला न जाए **मा नु भूमिगृहः भुवत्**=मत ही भूमिरूप गृहवाला हो जाए—मिट्टी में न मिल जाए।

भावार्थ—प्राणशक्ति, दर्शनशक्ति, शक्तियुक्त शरीर व बल से युक्त यह व्यक्ति नीरोग हो, यह मिट्टी में न मिल जाए।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सूर्य-किरणों का सम्पर्क

मा ते प्राण उप दसन्मो अपानोऽपि धायि ते।
सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः॥ १५॥

१. **ते प्राणः**=तेरा प्राण **मा उपदसत्**=क्षीण न हो। **मा उ**=और न ही **ते अपानः**=तेरा अपान **अपिधायि**=अपिहित हो जाए—कार्य करने में असमर्थ हो जाए। २. यह **अधिपतिः**=सब देवों का मुखिया **सूर्यः**=सूर्य **रश्मिभिः**=अपनी किरणों के द्वारा **त्वा**=तुझे **मृत्योः**=मृत्यु से **उदायच्छतु**=ऊपर उठाये।

भावार्थ—हमारी प्राण व अपनाशक्ति ठीक बनी रहे। इनका कार्य समुचित रूप से होता रहे। सूर्य-किरणों का सम्पर्क हमें मृत्यु से ऊपर उठाये।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यक्ष्मं शतं रोपीश्च तक्मनः

इयमन्तर्वदति जिह्वा बद्धा पनिष्पदा।
त्वया यक्ष्मं निरवोचं शतं रोपीश्च तक्मनः॥ १६॥

१. **इयम्**=यह **जिह्वा**=जीभ **अन्तः बद्धा**=मुख में बद्ध हुई-हुई **पनिः पदा**=स्तुति करने में चतुर व व्यवहार में गतिवाली होकर **वदति**=व्यक्त वाणी का उच्चारण करती है। इस वाणी द्वारा ही स्तुति होती है और सब व्यापार चलते हैं। २. हे वाणि! **त्वया**=तेरे द्वार—तेरे बल से **यक्ष्मम्**=रोग को **च**=और **तक्मनः**=कष्टदायी ज्वर की **शतं रोपीः**=सैकड़ों पीड़ाओं को भी **निरवोचम्**=दूर कर देता हूँ—बाहर निकाल फेंकता हूँ।

भावार्थ—वाणी ही स्तवन आदि सब व्यवहारों को सिद्ध करती है। इसके द्वारा हम रोगों व रोगजनित पीड़ाओं को दूर करते हैं।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती**॥

अपराजित प्रियतम लोक

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः।
यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे।
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः॥ १७॥

१. **अयं लोकः**=यह शरीर **प्रियतमः**=अत्यन्त प्रिय है। यह **देवानाम्**=प्रकाशक इन्द्रियों का **अपराजितः**=अपराजित लोक है। २. हे **पुरुष**=पुरुष! **यस्मै**=जिस कारण से **त्वम्**=तू **इह**=यहाँ—इस संसार में **मृत्यवे दिष्टः**=मृत्यु के भाग्य में पड़ा हुआ ही **जज्ञिषे**=उत्पन्न होता है **सः च**=वह जो तू है, उस **त्वा**=तुझे **अनु ह्वयामसि**=फिर से चेताते हैं—पुकारते हैं कि **जरसः पुरः**=जरावस्था से पूर्व **मा मृथाः**=प्राणों को मत छोड़।

भावार्थ—यह शरीर इन्द्रियों का प्रियतम अपराजित लोक है। इसमें जीव मृत्यु के लिए दिष्ट हुआ-हुआ ही जन्म लेता है। उसे हम चेताते हैं कि 'पूर्ण वृद्धावस्था से पहले मरे नहीं'।

विशेष—प्राणापान की शक्ति से सम्पन्न यह पुरुष 'शुक्रः' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आमे पात्रे, मिश्रधान्ये, आमे मांसे

यां ते॑ च॒क्रुरा॒मे पात्रे॒ यां च॒क्रुर्मि॒श्रधा॑न्ये।
आ॒मे मां॒से कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒: प्रति॑ हरामि॒ ताम्॥ १॥

१. **यां कृत्याम्**=जिस हिंसा के कार्य को **ते**=वे हमारे शत्रु **आमे पात्रे**=कच्चे पात्र में (विलेप लगाकार अपने शत्रुओं के घर दूध आदि बेच आने के द्वारा) **चक्रुः**=करते हैं। **याम्**=जिस हिंसा-कार्य को **मिश्रधान्ये**=मिले-जुले अन्नों में विषैली बूटी के दाने मिलाकर **चक्रुः**=करते हैं। २. **आमे मांसे**=कच्चे फल के गूदे में (विषधारा छोड़ देने के द्वारा) **यां कृत्याम्**=जिस हिंसन-कार्य को **चक्रुः**=करते हैं, **ताम्**=उस कृत्या को **पुनः**=फिर **प्रतिहरामि**=उन्हीं के प्रति प्राप्त कराता हूँ।

भावार्थ—घातक प्रयोग करनेवालों को उन्हीं घातक प्रयोगों द्वारा समाप्त कर दिया जाए। वे घातक प्रयोग ही उनके लिए दण्ड हों।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

न मारने योग्य प्राणी

यां ते॑ च॒क्रुः कृ॑क॒वाका॑व॒जे वा॒ यां कु॑री॒रिणि॑।
अव्यां॑ ते कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒: प्रति॑ हरामि॒ ताम्॥ २॥
यां ते॑ च॒क्रुरेक॑शफे पशू॒नामु॑भ॒याद॑ति।
ग॒र्द॒भे कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒: प्रति॑ हरामि॒ ताम्॥ ३॥

१. **याम्**=जिस **कृत्याम्**=घातक प्रयोग को **ते**=वे **कृकवाकौ**=मोर आदि सुन्दर पक्षियों पर **अजे**=बकरे व बकरियों के समूह पर **वा कुरीरिणि**=वा अन्य सींगवाले पशुओं पर **चक्रुः**=करते हैं, **यां कृत्याम्**=जिस घातक प्रयोग को **ते**=वे **अव्याम्**=हमारी भेड़ों पर **चक्रुः**=करते हैं, **ताम्**=उस घातक प्रयोग को **पुनः प्रतिहरामि**=फिर उन्हें ही वापस प्राप्त कराता हूँ, उस घातक प्रयोग से उन्हें ही दण्डित करता हूँ। २. **याम्**=जिस हिंसा-कार्य को **ते**=वे **एकशफे**=एक खुरवाले पशु पर **वा पशूनाम् उभयादति**=अथवा दोनों जबड़ों में दाँतवाले पशुओं पर **चक्रुः**=करते हैं। **यां कृत्याम्**=जिस हिंसा-कार्य को **गर्दभे**=गधे पर **चक्रुः**=करते हैं, **ताम्**=उस हिंसा को मैं पुनः **प्रतिहरामि**=फिर वापस उन्हें ही प्राप्त कराता हूँ।

भावार्थ—राष्ट्र में 'मोर, अज, कुरीरी (सींगवाले) पशु, भेड़, घोड़े, गाय व गर्दभ आदि का मारना दण्ड योग्य कार्य समझा जाए।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अमूला, नराची, क्षेत्र

यां ते॑ च॒क्रुर॒मूला॑यां वल॒गं वा॑ न॒राच्या॑म्।
क्षेत्रे॑ ते कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒: प्रति॑ हरामि॒ ताम्॥ ४॥

१. **याम्**=जिस कृत्या को **ते**=वे **अमूलायाम्**=अग्नि-शिखा नामक ओषधि में **चक्रुः**=करते हैं **वा**=या **वलगम्**=(वल संवरणे) संवृतरूप में—छिपे रूप में **नराच्याम्**=नराची नामक ओषधि में करते हैं, **यां कृत्याम्**=जिस हिंसन-कार्य को **ते**=वे **क्षेत्रे चक्रुः**=खेत के विषय में करते हैं, अर्थात् खेत को नष्ट करने के लिए यत्नशील होते हैं, **ताम्**=उस हिंसन-कार्य को पुनः

प्रतिहरामि=फिर वापस उन्हें ही प्राप्त कराता हूँ।

भावार्थ—राष्ट्र में ओषधि-विशेषों व अन्नोत्पत्ति स्थानभूत क्षेत्रों की रक्षा की व्यवस्था नितान्त आवश्यक है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गार्हपत्ये, पूर्वाग्नौ, शालायाम्

यां ते चक्रुर्गार्हपत्ये पूर्वाग्नावुत दुश्चितः।
शालायां कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्॥ ५॥

१. **ते**=वे **दुश्चितः**=दुष्ट चित्तवाले लोग **याम्**=जिस हिंसन-कार्य को **गार्हपत्ये**=गार्हपत्य अग्नि में—रसोई की अग्नि में **उत**=और **पूर्वाग्नौ**=हमारे शरीरों का पालन और पूरण करनेवाली—पूर्व दिशा में स्थापित—आह्वनीय अग्नि में **चक्रुः**=करते हैं। २. **यां कृत्याम्**=जिस हिंसन-कार्य को **शालायाम्**=गृह के विषय में (आग लगा देने आदि के द्वारा) **चक्रुः**=करते हैं, **ताम्**=उस कृत्या को **पुनः**=फिर **प्रतिहरामि**=उन दुश्चित्तों को ही प्राप्त कराता हूँ।

भावार्थ—राजा ऐसी व्यवस्था करे कि घरों का तथा उनमें गार्हपत्य व आह्वनीय अग्नियों का रक्षण हो।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सभा, अधिदेवन्, अक्ष, सेना, इष्वायुध, दुन्दुभि

यां ते चक्रुः सभायां यां चक्रुरधिदेवने।
अक्षेषु कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्॥ ६॥
यां ते चक्रुः सेनायां यां चक्रुरिष्वायुधे।
दुन्दुभौ कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्॥ ७॥

१. **याम्**=जिस हिंसा के कार्य को **ते**=वे शत्रु **सभायां चक्रुः**=सभा में करते हैं, संसद् के विषय में जिस घातपात की क्रिया को करते हैं (संसद् भवन को ही बारूद आदि से उड़ाने की सोचते हैं), **याम्**=जिस कृत्या को **अधिदेवने**=तेरी क्रीड़ा के स्थल उपवन आदि में **चक्रुः**=करते हैं, **यां कृत्याम्**=जिस छेदन-भेदन के कार्य को **अक्षेषु**=व्यवहारों में करते हैं, **ताम्**=उस सब हिंसन-क्रिया को **पुनः**=फिर **प्रतिहरामि**=वापस उन्हीं को प्राप्त कराता हूँ। २. **याम्**=जिस हिंसन-क्रिया को **ते**=वे शत्रु **सेनायां चक्रुः**=सेना के विषय में करते हैं—सेना में असन्तोष आदि फैलाने का प्रयत्न करते हैं, **याम्**=जिस कृत्या को **इषु आयुधे**=बाण आदि अस्त्रों के विषय में **चक्रुः**=करते हैं, **याम्**=जिस कृत्या को **दुन्दुभौ**=युद्धवाद्यों के विषय में **चक्रुः**=करते हैं, **ताम्**=उस सब कृत्या को **पुनः**=फिर **प्रतिहरामि**=वापस उन शत्रुओं को ही प्राप्त कराता हूँ।

भावार्थ—'सभा को, क्रीड़ास्थल को तथा सब व्यवहारों को' शत्रुओं के हिंसा-प्रयोगों से बचाया जाए। इसीप्रकार सेना को, शस्त्रास्त्रों को, युद्धवाद्यों को शत्रुकृत कृत्याओं से सुरक्षित करना चाहिए।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कूपे, श्मशाने, सद्मनि

यां ते कृत्यां कूपेऽवदधुः श्मशाने वा निचख्नुः।
सद्मनि कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्॥ ८॥

१. **याम्**=जिस **कृत्याम्**=हिंसन-कार्य को **कूपे**=कूप में (विष डालने आदि के द्वारा) **अवदधुः**=स्थापित करते हैं **वा**=या निज विस्फोटक पदार्थों को **श्मशाने**=श्मशान में भय आदि उत्पन्न करने के लिए **निचख्नु**=गाड़ आते हैं। २. **यां कृत्याम्**=जिस हिंसन-कार्य को **सद्मनि**=घर में आग लगाने व बालकों की हत्या आदि द्वारा **चक्रुः**=करते हैं, **ताम्**=उस कृत्या को **पुनः**=फिर **प्रतिहरामि**=उन शत्रुओं को ही वापस प्राप्त कराता हूँ।

भावार्थ—कुओं, श्मशानों व घरों के रक्षण का सुप्रबन्ध आवश्यक है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

म्रोकं, निर्दाहं, क्रव्यादम्

यां ते चक्रुः पुरुषास्थे अग्नौ संकसुके च याम्।
म्रोकं निर्दाहं क्रव्यादं पुनः प्रति हरामि ताम्॥ ९॥

१. **याम्**=जिस हिंसन-क्रिया को **पुरुषास्थे**=पुरुष की हड्डी में **ते**=वे शत्रु **चक्रुः**=करते हैं, **च**=और **याम्**=जिस कृत्या को **संकसुके**=(सं कस् गतौ) सम्यक् गतिवाली जाज्वल्यमान अग्नि में करते हैं, **ताम्**=उस कृत्या को **म्रोकम्**=चोर के प्रति, **निर्दाहम्**=आग लगानेवाले के प्रति तथा **क्रव्यादम्**=मांसभक्षक के प्रति **पुनः**=फिर **प्रतिहरामि**=वापस प्राप्त कराता हूँ।

भावार्थ—पुरुष-अस्थियों को तोड़नेवाले व आग लगानेवाले दण्डित हों। चोरों व मांसभक्षियों को भी दण्डित किया जाए।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अधीरः धीरेभ्यः

अपथेना जभारैणां तां पथेतः प्र हिण्मसि।
अधीरो मर्याधीरेभ्यः सं जभाराचित्त्या॥ १०॥

१. **अपथेन**=बुरे मार्ग से **एनाम्**=इस हिंसक को एक **अधीरः**=नासमझ पुरुष **आजभार**=यहाँ—राष्ट्र में ले-आया **ताम्**=उस हिंसा को **पथा**=मार्ग पर चलने के द्वारा **इतः**=यहाँ से—राष्ट्र से **प्र हिण्मसि**=दूर भगाते हैं। अनीति के कारण उपस्थित हिंसा को नीति के द्वारा दूर करते हैं। २. **अधीरः**=मूर्ख मनुष्य **अचित्त्या**=नासमझी से **मर्याधीरेभ्यः**=मर्यादा धारण करनेवाले पुरुषों के लिए **सं जभार**=उस हिंसा को ला-पटकता है।

भावार्थ—अधीर पुरुषों से नासमझी के कारण राष्ट्र में अनीति से हिंसा की स्थिति प्राप्त कराई जाती है, उसे नीति के द्वारा दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्** ॥

हिंसा का सहन

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम्।
चकार भद्रमस्मभ्यमभगो भगवद्भ्यः॥ ११॥

१. **यः**=जो **चकार**=हिंसा करता है वह **कर्तुं न शशाक**=हिंसा कर नहीं सका, अपने ही **पादम् अंगुरिम्**=पाँव व अंगुली को **शश्रे**=उसने शीर्ण कर लिया। २. वह **अभगः**=अभागा **भगवद्भ्यः अस्मभ्यम्**=सौभाग्यशाली हम लोगों के लिए तो **भद्रं चकार**=कल्याण करनेवाला ही हुआ। वस्तुतः उसने हमें हिंसा में न घबराने व प्रसन्न रह सकने के अभ्यास का अवसर ही दिया।

भावार्थ—न 'पापे प्रति पापः स्यात्' के अनुसार हम हिंसक की हिंसा करनेवाले न हों।

हिंसकों को राजदण्ड ही हिंसा से रोकनेवाला हो।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

कृत्याकृतं, बलगिनं, मूलिनं, शपथेय्यम्

कृत्याकृतं वलगिनं मूलिनं शपथेय्य[म्।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेनाग्निर्विध्यत्वस्तया॥ १२॥

१. **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावक राजा **कृत्याकृतम्**=हिंसा करनेवाले **वलगिनम्**=नीच पुरुष को, छुपकर कुटिल कर्म करनेवाले को, **मूलिनम्**=जड़ उखाड़नेवाले को **शपथेय्यम्**=व्यर्थ निन्दक पुरुष को **महता वधेन**=महान् कठोर दण्ड से **हन्तु**=नष्ट कर दे। २. **अग्निः**=राष्ट्र को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाला राजा **अस्तया**=फेंके जानेवाले अस्त्रों से (बाण या गोली से) **तम्**=उसे **विध्यतु**=विद्ध कर दे।

भावार्थ—राजा प्रजापीड़कों को उचित दण्ड दे और इसप्रकार उपद्रवों को शान्त करे।

॥ **इति पञ्चमं काण्डम्** ॥

अथ षष्ठं काण्डम्

१. [प्रथमं सूक्तम्]

प्रथम सात सूक्तों का ऋषि अथर्वा है—स्थिर वृत्तिवाला (न थर्वति)। यह प्रार्थना करता है—

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**त्रिपदापिपीलिकामध्यागायत्री** ॥

स्तुहि देवं सवितारम्

दोषो गाय बृहद्गाय द्युमद्धेह्याथर्वण। स्तुहि देवं सवितारम्॥ १॥

१. हे **आथर्वण**=स्थिरवृत्ति के साधक! **दोषो गाय**=रात्रि के समय उस प्रभु का गुणगान कर, **बृहद् गाय**=खूब ही गायन कर। **द्युमद् धेहि**=उस ज्योतिर्मय प्रभु को धारण कर। २. उस **देवम्**=प्रकाशमय, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु का, **सवितारम्**=उत्पादक व प्रेरक प्रभु का **स्तुहि**=स्तवन कर।

भावार्थ—हम सविता देव का स्तवन करते हुए 'सविता व देव' बनने का प्रयत्न करें, उत्पादक व निर्माण-कार्यों में प्रवृत्त व प्रकाशमय दिव्य गुणयुक्त जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यापुरउष्णिक्** ॥

सत्यस्य सूनुः

तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः सत्यस्य युवानम्। अद्रोघवाचं सुशेवम्॥ २॥

१. **तम् उ स्तुहि**=तू उस प्रभु का ही स्तवन कर **यः**=जो **अन्तः सिन्धौ**=गम्भीर हृदयदेश में या इस भवसागर में **सूनुः सत्यस्य**=सत्य की प्रेरणा देनेवाले हैं (षू प्रेरणे), **युवानम्**=बुराइयों को हमसे पृथक् करनेवाले व अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले हैं। २. उस प्रभु का स्तवन कर जो **अद्रोघवाचम्**=द्रोहशून्य वाणीवाले हैं, **सुशेवम्**=उत्तम कल्याण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हे मनुष्य! तू हृदयदेश में सत्य की प्रेरणा देते हुए, बुराइयों से पृथक् करके कल्याण करनेवाले प्रभु का स्तवन कर।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यापुरउष्णिक्** ॥

उभे सुष्टुती सुगातवे

स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि। उभे सुष्टुती सुगातवे॥ ३॥

१. **सः**=वह **देवः**=प्रकाशमय **सविता**=प्रेरक प्रभु **घ**=निश्चय से **नः**=हमारे लिए **भूरि**=खूब ही **अमृतानि साविषत्**=अमृतत्वों को प्राप्त कराता है—हमें नीरोग जीवनवाला बनाता है। २. **उभे**=दोनों **सुष्टुती**=उत्तम स्तुतियों के—प्रातः व सायंकालीन स्तुतियों के **सुगातवे**=उत्तम गायन के लिए प्रभु हमें नीरोगता प्रदान करते हैं। '**उभे सुष्टुती सुगातवे**' का यह अर्थ भी सुन्दर है कि दोनों उत्तम स्तुत्य मार्गों से चलने के लिए। हम 'अभ्युदय व निःश्रेयस', 'इहलोक व परलोक', 'शरीर व आत्मा', 'शक्ति व ज्ञान' दोनों का ध्यान करते हुए जीवन में आगे बढ़ें।

भावार्थ—प्रभु हमें खूब ही नीरोग बनाते हैं, जिससे हम प्रातःसायं सम्यक् प्रभुस्तवन कर पाएँ। वस्तुतः प्रभुस्तवन ही नीरोगता का साधन हो जाता है।

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

सोमं सुनोता च धावत

इन्द्राय सोममृत्विजः सुनोता च धावत।
स्तोतुर्यो वचः शृणवद्धवं च मे॥ १॥

१. हे **ऋत्विजः**=(ऋतौ ऋतौ यजति) समय-समय पर—सदा प्रभु-पूजन करनेवाले उपासको! **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **सोमम्**=सोमशक्ति (वीर्य) को **सुनोत**=अपने में उत्पन्न करो **च**=और **धावत**=अपने जीवन को गतिमय व शुद्ध बनाओ। २. उस प्रभु की प्राप्ति के लिए सोम का सवन करो **यः**=जो **स्तोतुः**=स्तुतिकर्ता के **वचः**=स्तुतिवचनों को **शृणवत्**=सुनता है, **च**=और **मे**=मुझ स्तोता की **हवम्**=पुकार व प्रार्थना को सुनता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए शरीर में सोम का सम्पादन और गतिमयता द्वारा जीवन को शुद्ध बनाना आवश्यक है। प्रभु स्तोता के स्तुति-वचनों व पुकार को सुनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

रक्षस्विनीः मृधः विजहि

आ यं विशन्तीन्दवो वयो न वृक्षमन्धसः।
विरप्शिन्वि मृधो जहि रक्षस्विनीः॥ २॥

१. **वयः वृक्षं न**=जैसे पक्षी वृक्ष में (स्थित अपने घोंसलों में) प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार **यम्**=जिस व्यक्ति में **अन्धसः**=(अन्धः=अन्नं, आध्यायनीयं भवति—नि० ४/२) अन्न के—अन्न-भक्षण से उत्पन्न **इन्दवः**=सोमकण **आविशन्ति**=प्रविष्ट होते हैं, अर्थात् जो सोमकणों को शरीर में ही सुरक्षित करने का यत्न करते हैं, हे **विरप्शिन्**=महान् प्रभो! आप **रक्षस्विनीः मृधः**=उसके राक्षसी वृत्तिरूप शत्रुओं को **विजहि**=नष्ट कर दीजिए।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्न के सेवन से उत्पन्न सोमकणों को शरीर में सुरक्षित करें, प्रभु हमारे राक्षसी भावों को नष्ट करेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

युवा, जेता, ईशान, पुरुष्टुत

सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे। युवा जेतेशानः स पुरुष्टुतः॥ ३॥

१. **सोमपाव्ने**=सोम का रक्षण करनेवाले **वज्रिणे**=वज्रहस्त—क्रियाशील (वज गतौ) **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **सोमं सुनोत**=सोम का अपने में सम्पादन करो। यह सोमरक्षण ही तुम्हें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाएगा। २. वे प्रभु **युवा**=बुराइयों से अमिश्रण करनेवाले तथा अच्छाइयों से मिलानेवाले हैं, **जेता**=हमारे शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं, **ईशानः**=वे स्वामी हैं, **सः पुरुष्टुतः**=वे खूब ही स्तुति किये जाते हैं। उनका स्तवन हमारा पालन व पूरण करनेवाला है (पॄ पालनपूरणयोः)।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए हम सोम का रक्षण करें। वे प्रभु 'युवा, जेता, ईशान व पुरुष्टुत' हैं।

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**इन्द्रापूषादयः** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

इन्द्रापूषणा, विष्णुः उत द्यौः

पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः।
अपां नपात्सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः॥ १॥

१. **नः**=हमें **इन्द्रापूषणा पातम्**=इन्द्र और पूषा रक्षित करें। 'इन्द्र' जितेन्द्रियता का प्रतीक है और 'पूषा' का भाव है—अङ्ग-प्रत्यङ्ग का पोषण। हम जितेन्द्रिय बनकर सर्वाङ्ग सम्पुष्ट हों। **अदितिः मरुतः पान्तु**=अदिति और मरुत् हमारा रक्षण करें। 'अदिति' (अ-दिति) स्वास्थ्य की देवता है और 'मरुत्' प्राण हैं। हम प्राणसाधना करते हुए पूर्ण स्वस्थ होने का प्रयत्न करें। २. **अपां न पात्**=रेतःकणरूप जलों का न गिरने देनेवाला देव तथा **सप्त सिन्धवः**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन सात ऋषियों से प्रवाहित होनेवाले सात ज्ञान-जलों के प्रवाह **पातन**=हमारा रक्षण करें। वीर्य-रक्षण द्वारा ज्ञानग्नि को दीप्त करके हम उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करें। **नः**=हमें **विष्णुः**=व्यापकता का देव **उत**=और **द्यौः**=प्रकाश **पातु**=रक्षित करें। हमारा हृदय विशाल हो और मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञानसूर्य से दीप्त बने।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर सब अङ्गों की पुष्टि प्राप्त करें। हमारा हृदय विशाल हो और मस्तिष्क दीप्त।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**इन्द्रापूषादयः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

द्यावापृथिवी अग्निः

पातां नो द्यावापृथिवी अभिष्टये पातु ग्रावा पातु सोमो नो अंहसः।
पातु नो देवी सुभगा सरस्वती पात्वग्निः शिवा ये अस्य पायवः॥ २॥

१. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक तथा पृथिवीलोक **नः**=हमें **अभिष्टये**=इष्ट-प्राप्ति के लिए **पाताम्**=रक्षित करें। अध्यात्म में ज्ञानसूर्य से दीप्त मस्तिष्क 'द्यौ' है तथा पाषाण-तुल्य दृढ़ शरीर 'पृथिवी' है। ये दोनों हमारे लिए इष्ट-साधक हों। **ग्रावा पातु**=उपदेष्टा आचार्य हमारा रक्षण करे। आचार्य से दिये गये निर्देश हमारा कल्याण करें। **सोमः**=शरीर में सुरक्षित सोम **नः**=हमें **अंहसः पातु**=(Trouble, anxiety, care) कष्ट व चिन्ता से रक्षित करें। २. **सुभगा**=उत्तम ज्ञानैश्वर्यवाली देवी **सरस्वती**=प्रकाशमयी, सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली—विद्या की अधिष्ठात्री देवता **नः पातु**=हमें रक्षित करे। हम सरस्वती की आराधना करते हुए पाप आदि में प्रवृत्त न हों। अन्ततः वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **पातु**=हमें रक्षित करे। ये **अस्य पायवः**=जो प्रभु के रक्षण हैं, वे **शिवा**=हमारा कल्याण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हमारा मस्तिष्क ज्ञान-दीप्त और शरीर दृढ़ हो। उत्तम आचार्यों के निर्देश हमें प्राप्त हों। हम शरीर में सोम का रक्षण करें, सरस्वती की अराधना करें और प्रभु की उपासना में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**इन्द्रापूषादयः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

शुभस्पती अश्विना

पातां नो देवाश्विना शुभस्पती उषासानक्तोत न उरुष्यताम्।
अपां नपादभिह्रुती गयस्य चिद्देव त्वष्टर्वर्धय सर्वतातये॥ ३॥

१. **देवा**=काम-क्रोध आदि को जीतने पाने की कामनावाले (दिव् विजिगीषायाम्)

शुभस्पती=(water, आपः रेतो भूत्वा०) शरीर में रेतःकणों का रक्षण करनेवाले **अश्विना**=प्राणापान **नः पाताम्**=हमारा रक्षण करें। **उत**=और **उषासानक्ता**=दिन-रात **नः**=हमारा **उरुष्यताम्**=रक्षण करें। हम प्रातः-सायं प्राणसाधना करते हुए शरीर में शक्तियों का रक्षण करें और इसप्रकार अपना रक्षण करनेवाले बनें। २. हे **अपां नपात्**=(अप्=कर्म) कर्मों को नष्ट न होने देनेवाले **त्वष्टः देव**=निर्माता प्रकाशमय प्रभो! **गयस्य**=घर की **अभिह्रुतीचित्**=दुरवस्था से—कुटिल स्थिति से दूर करके हमें **सर्वतातये वर्धय**=सब प्रकार के विस्तार के लिए बढ़ाइए। हम शक्तियों व धन-धान्य का वर्धन करते हुए घर को उत्तम स्थिति में ले-आएँ।

भावार्थ—प्रातः-सायं प्राणापान की साधना द्वारा हम शरीर में रेतःकणों का रक्षण करें। घर को दुरवस्था से दूर करके फूला-फला, समृद्ध बनाने के लिए यत्नशील हों।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**त्वष्ट्रादयः** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

दैव्यं वचः दुष्टरं सहः

त्वष्टा मे दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः।
पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रायमाणं सहः॥ १॥

१. **त्वष्टा**=(त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः) वह ज्ञानदीप्त, **पर्जन्यः**=परातृप्ति का जनयिता **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **मे**=मेरे लिए **दैव्यं वचः**=ज्योति देनेवाले ज्ञान-वचनों का **पातु**=रक्षण करें। प्रभुकृपा से मुझे ज्ञान प्राप्त हो। २. **अदितिः**=(अ-दिति) स्वास्थ्य की देवता **नु**=अब **पुत्रैः भ्रातृभिः**=हमारे सन्तानों व भाइयों के साथ **नः**=हमारे लिए **दुष्टरम्**=शत्रुओं से न तैरने योग्य **त्रायमाणम्**=रक्षा करनेवाले **सहः**=बल को (पातु) रक्षित करें।

भावार्थ—ज्ञानदीप्त प्रभु हमें ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराएँ और यह अदिति हमें शत्रुओं से असह्य तेज प्राप्त कराए।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**त्वष्ट्रादयः** ॥ छन्दः—**संस्तारपङ्क्तिः** ॥

अंशः मरुतः

अंशो भगो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तु मरुतः।
अप तस्य द्वेषो गमेदभिह्रुतो यावयच्छत्रुमन्तितम्॥ २॥

१. **अंशः**=विभाग की देवता (विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः), **भगः**=ऐश्वर्य, **वरुणः**=निर्द्वेषता, **मित्रः**=सबके प्रति स्नेह, **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) संयम, **अदितिः**=स्वास्थ्य की देवता, **मरुतः**=प्राण—ये सब **पान्तु**=मेरा रक्षण करें। मैं बाँटकर खानेवाला बनूँ, ऐश्वर्य का अर्जन करूँ, निर्द्वेषता, स्नेह, संयम व स्वास्थ्य को प्राप्त करूँ। प्राणसाधना को महत्त्व दूँ। २. **तस्य**=उस **अभिह्रुतः**=कुटिल पुरुष का **द्वेषः**=द्वेष **अपगमेत्**=हमसे दूर हो। इस **अन्तितम्**=(अति बन्धने) बुरी भाँति जकड़ लेनेवाले **शत्रुम्**=शत्रु को **यावय**=हम दूर भगा दें।

भावार्थ—हम बाँटकर खाने की वृत्तिवाले बनें, प्राणसाधना में चलें, कुटिल पुरुष के द्वेष से बचें और बन्धनकारी शत्रु को दूर भगा दें।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**त्वष्ट्रादयः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

द्यौष्पिता

धिये समश्विना प्रावतं न उरुष्या ण उरुज्मन्नप्रयुच्छन्। द्यौ३ष्पितर्यावय दुच्छुना या॥ ३॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **धिये**=बुद्धि के लिए **नः**=हमें **संप्रावतम्**=सम्यक् रक्षित कीजिए। हे **उरुज्मन्**=विशाल गतिवाले प्रभो! आप **अप्रयुच्छन्**=किसी प्रकार का प्रमाद न करते हुए **नः उरुष्य**=हमारा रक्षण कीजिए। हे **द्यौष्पितः**=प्रकाशमय स्वरूप में निवास करनेवाले (द्यौः) रक्षक (पितः) प्रभो! **या**=जो भी **दुच्छुना**=दुर्गति है, उसे **यावय**=हमसे पृथक् कीजिए।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हम बुद्धि प्राप्त करें, गतिशील बनकर अपना रक्षण करनेवाले हों और ज्ञानी बनकर दुर्गति से दूर हों।

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्निहोत्र

उदेनमुत्तरं नयाग्ने घृतेनाहुत। समेनं वर्चसा सृज प्रजया च बहुं कृधि॥ १॥

१. हे **अग्ने**=अग्निहोत्र की अग्ने! **घृतने आहुत**=घृत से आहुत हुआ-हुआ तू **उत्**=ऊपर उठ—खूब प्रज्वलित हो। **एनम्**=इस यज्ञशील पुरुष को **उत्तरं नय**=उत्कृष्ट स्थिति में प्राप्त करा—नीरोग बना। **एनम्**=इसे **वर्चसा**=वर्चस् (Vitality) से **संसृज**=संसृष्ट कर **च**=और **प्रजया बहुं कृधि**=प्रजा से बहुत कर—फूले-फले परिवारवाला बना।

भावार्थ—मनुष्य अग्निहोत्र से 'नीरोगता, वर्चस् व उत्तम सन्तानों को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

जीवातवे जरसे (नय)

इन्द्रेमं प्रतरं कृधि सजातानामसद्वशी। रायस्पोषेण सं सृज जीवातवे जरसे नय॥ २॥

१. हे **इन्द्रः**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **इमम्**=इस यज्ञशील पुरुष को **प्रतरं कृधि**=अधिक उत्कृष्ट बनाइए—इसे भवसागर से तर जानेवाला बनाइए। यह **सजातानाम्**=समान जन्मवालों का **वशी असत्**=वश में करनेवाला हो अथवा 'सजात' काम-क्रोध आदि भाव हैं—**'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ'**। यह इनका वशीभूत करनेवाला होता है। हे इन्द्र! आप इस पुरुष को **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से **संसृज**=संसृष्ट कीजिए तथा **जीवातवे**=दीर्घजीवन के लिए और **जरसे**=पूर्ण वृद्धावस्था के लिए अथवा स्तुति के लिए **नय**=ले-चलिए।

भावार्थ—इन्द्र के अनुग्रह से हम उत्कृष्ट जीवनवाले, सजातों को वश में करनेवाले और धन से युक्त जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यज्ञ और समृद्धि

यस्य कृण्मो हविर्गृहे तमग्ने वर्धया त्वम्।
तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः॥ ३॥

१. **यस्य गृहे**=जिसके घर में **हविः कृण्मः**=यज्ञ करते हैं, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तम्**=उसे **त्वम्**=आप **वर्धय**=बढ़ाइए। यज्ञ से सब ऐश्वर्यों का वर्धन होता ही है। २. **तस्मै**=उस यज्ञशील पुरुष के लिए **सोमः**=यह शान्तस्वभाव का आचार्य **अधिब्रवत्**=आधिक्येन ज्ञान देनेवाला हो, **च**=और **अयम्**=यह **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु उसे ज्ञान दे।

भावार्थ—यज्ञ समृद्धि का साधन है। इस यज्ञशील को शान्तस्वभाव के आचार्य ज्ञान देते हैं, प्रभु भी इसके ज्ञान को बढ़ाते हैं।

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यजमानाय सुन्वते

यो ३ऽस्मान्ब्रह्मणस्पतेऽ देवो अभिमन्यते। सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते॥ १॥

१. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **यः**=जो **अदेवः**=अदेववृत्ति का पुरुष—अयज्ञ-शील पुरुष **अस्मान् अभिमन्यते**=हमें नीचे करने की इच्छा करता है, **तं सर्वम्**=उन सब शत्रुओं को **यजमानाय**=यज्ञशील **सुन्वते**=सोम का सम्पादन करनेवाले **मे**=मेरे लिए **रन्धयासि**=वशीभूत कीजिए।

भावार्थ—हे ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! हम यज्ञशील व सोम का रक्षण करनेवाले हों। हम अदेवृत्ति के व्यक्तियों के वशीभूत न हो जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दुःसंश के शासन से बाहर

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति। वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति॥ २॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! **यः दुःशंसः**=जो दुष्ट शासनवाला पुरुष **सुशंसिनः**=उत्तम **शंसन**=(स्तवन) करनेवाले **नः**=हमें **आदिदेशति**=अपने आदेश में चलाता है—हमपर शासन करना चाहता है, **अस्य मुखे**=इसके मुख पर **वज्रेण जहि**=वज्र से प्रहार कीजिए। **सः**=वह **संपिष्टः**=वज्रप्रहार से चूर्णित हुआ-हुआ **अपायति**=यहाँ से दूर हो जाए।

भावार्थ—हे प्रभो! हमपर दुःशंस पुरुष का शासन न हो जाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

बाहर

यो नः सोमाभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः। अप तस्य बलं तिर महीव द्यौर्वध त्मना॥ ३॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! **यः**=जो **सनाभिः**=सजातीय **च**=और **यः निष्ट्यः**=नीचे बैठने योग्य नीच मनुष्य **नः**=हमें **अभिदासति**=उपक्षीण करना चाहता है, **तस्य**=उसके **बलम्**=बल को **वध त्मना अपतिर**=अपने वध-साधन वज्र से नष्ट कर। २. उसी प्रकार इसके बल को नष्ट कर **इव**=जैसे **मही: द्यौः**=महान् प्रकाशमान सूर्य अन्धकार को दूर करता है।

भावार्थ—अपना वा पराया जो भी हमें उपक्षीण करना चाहता है, प्रभु वज्र द्वारा उसके बल को ऐसे समाप्त कर दें, जैसेकि महान् सूर्य अन्धकार को समाप्त कर देता है।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥

अदितिः, अद्रुहः, मित्राः

येन सोमादितिः पथा मित्रा वा यन्त्यद्रुहः। तेना नोऽवसा गहि॥ १॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! **येन पथा**=जिस मार्ग से **अदितिः**=अदीना देवमाता **वा**=अथवा **अद्रुहः**=द्रोह न करनेवाले **मित्राः**=आदित्य देव **यन्ति**=गति करते हैं, **तेन**=उसी मार्ग से **नः**=हमें **अवसा**=रक्षण के साथ **आगहि**=प्राप्त होओ। २. **अदितिः**—अदीना देवमाता=स्वास्थ्य की देवता है। स्वस्थ होने पर ही दिव्य गुणों का विकास होता है। '**मित्राः**'—आदित्यों का नाम है—ये जीवन देते हैं, किसी का जीवन छीनते नहीं। हमारे जीवन का मार्ग भी यही होना चाहिए।

भावार्थ—हम स्वस्थ व स्नेही बनकर प्रभु-रक्षा के पात्र बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

साहन्त्य सोम

येन सोम साहन्त्यासुरान्रन्धयासि नः। तेना नो अधि वोचत॥ २॥

१. हे **साहन्त्य सोम**=विजयी शक्ति से युक्त सोम—शत्रुओं का पराभव करनेवाले शान्त प्रभो! **येन**=जिस शक्ति से आप **नः असुरान् रन्धयासि**=हमारे आसुरभावों को नष्ट करते हैं, **तेन**=उस शक्ति के साथ **नः**=हमारे लिए **अधिवोचत**=आधिक्येन ज्ञान का उपदेश कीजिए।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति और ज्ञान दें, जिससे हम शत्रुओं का पराभव कर सकें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

असुर ओज-निवारण

येन देवा असुराणामोजांस्यवृणीध्वम्। तेना नः शर्म यच्छत॥ ३॥

१. हे **देवाः**=शत्रु-विजय की कामनावाले साधको! **येन**=जिस मार्ग से तुमने **असुराणां ओजांसि**=असुरों के बलों को—आसुरभावों की प्रचण्ड शक्ति को **अवृणीध्वम्**=रोका है—निवारण किया है **तेन**=उसी मार्ग से **नः**=हमारे लिए **शर्म यच्छत**=कल्याण व सुख प्राप्त कराइए।

भावार्थ—हम देवों के मार्ग पर चलते हुए आसुरभावों की शक्ति को रोकें और सुख प्राप्त करें।

विशेष—अगले दो सूक्तों का ऋषि जमदग्नि है। '**चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः, यदनेन जगत् पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः** (श० ८.१.३.३) चक्षु ही जमदग्नि है। चक्षु से संसार को ठीक रूप में देखकर उसका मनन करता है। ऐसा ही व्यक्ति सद्गृहस्थ बनता है। वह पत्नी से कहता है—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

पति-पत्नी का प्रेम

यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिषस्वजे।
एवा परि ष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥ १॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **लिबुजा**=बेल **वृक्षम्**=आश्रयभूतवृक्ष को **समन्तं परिषस्वजे**=चारों ओर से लिपट जाती है, **एव**=इसीप्रकार तू **मां परिष्वजस्व**=मेरा आलिङ्गन कर। २. तेरी सारी वृत्ति इसप्रकार की हो **यथा**=जिससे तू **माम्**=मुझे **कामिनी असः**=चाहनेवाली हो, **यथा**=जिससे तू **मत्**=मुझसे **अप-गाः**=दूर जानेवाली **न असः**=न हो।

भावार्थ—पत्नी लता के समान हो तो पुरुष उसके आश्रयभूतवृक्ष के समान। पत्नी पति को ही चाहे, उससे दूर होने का विचार भी न करे।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

पक्षी भूमि पर, पत्नी पति पर

यथा सुपर्णः प्रपतन्पक्षौ निहन्ति भूम्याम्।
एवा नि हन्मि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥ २॥

१. **यथा**=जैसे **सुपर्णः**=पक्षी **प्रपतन्**=उड़ता हुआ **भूम्यां पक्षौ निहन्ति**=भूमि पर पङ्खों को

जमा देता है, **एव**=उसी प्रकार **ते मनः**=तेरे मन को **निहन्मि**=मैं जमा देता हूँ। २. मैं तेरे मन को अपने में ऐसे निश्चल करता हूँ, **यथा**=जिससे **मां कामिनी असः**=तू मुझे चाहनेवाली हो, **यथा**=जिससे **मत्**=मुझसे **अप-गाः**=दूर जानेवाली **न असः**=न हो।

भावार्थ—उड़ता हुआ पक्षी अन्ततः अपने पाँवों को भूमि पर जमा देता है, इसीप्रकार सब व्यवहारों को करती हुई पत्नी पति को ही अपना आधार बनाए।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

पति प्रेम से पत्नी को व्याप्त कर ले

यथेमे द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति सूर्यः।
एवा पर्येमि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥ ३॥

१. **यथा**=जैसे **सूर्यः**=सूर्य **इमे द्यावापृथिवी**=इन द्युलोक व पृथिवीलोक को **सद्यः**=शीघ्र ही **पर्येति**=अपने प्रकाश से व्याप लेता है, **एव**=इसीप्रकार **ते मनः**=तेरे मन को मैं **पर्येमि**=प्रेम आदि से व्याप्त कर लेता हूँ। २. मैं ऐसा प्रयत्न करता हूँ **यथा**=जिससे **मां कामिनी असः**=तू मुझे ही चाहनेवाली हो, **यथा**=जिससे **मत्**=मुझसे **न अप-गाः असः**=दूर जानेवाली न हो।

भावार्थ—पति प्रेम से पत्नी के मन को व्याप्त करने का प्रयत्न करे। पत्नी अपने मन में पति से दूर होने का विचार भी न आने दे।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रेम व सौन्दर्य

वाञ्छ मे तन्वं पादौ वाञ्छाक्ष्यौ वाञ्छ सक्थ्यौ।
अक्ष्यौ वृषण्यन्त्याः केशा मां ते कामेन शुष्यन्तु॥ १॥

१. **मे**=मेरे **तन्वम्**=शरीर को तू **वाञ्छ**=चाह—तुझे मेरा शरीर प्रिय लगे। **पादौ अक्ष्यौ वाञ्छ**=मेरे पाँव व नेत्र तुझे अच्छे लगें। **सक्थ्यौ वाञ्छ**=मेरी जंघाओं की तू इच्छा कर—वे तुझे प्रिय हों। पत्नी का पति के प्रति प्रेम होने से उसे पति के सब अङ्ग सुन्दर प्रतीत होते हैं। प्रेम सौन्दर्य पैदा कर देता है। २. पति कहता कि **माम्**=मुझे भी **वृषण्यन्त्याः**=मेरी कामना करनेवाली तेरी **अक्ष्यौ**=आँखें तथा **केशाः**=बाल **ते कामेन**=तेरे प्रति कामना से **शुष्यन्तु**=सुखाया करें, अर्थात् मैं भी तेरे बिना प्रीति का अनुभव न करूँ।

भावार्थ—पति-प्रेम के कारण पत्नी को पति के सब अङ्ग प्रिय लगें और पति भी पत्नी के वियोग में प्रीति का अनुभव न करे।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दोषणिश्रिषं हृदयश्रिषम्

मम त्वा दोषणिश्रिषं कृणोमि हृदयश्रिषम्।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥ २॥

१. हे पत्नि! मैं **त्वा**=तुझे **मम दोषणिश्रिषम्**=मेरी भुजा पर आलिङ्गन करनेवाली **कृणोमि**=करता हूँ और **हृदयश्रिषम्**=हृदय में आश्रय करनेवाली करता हूँ। मेरी भुजाएँ तेरा आश्रय हों, मेरे हृदय में तू बसी हो। २. मैं इसप्रकार प्रेम से तुझे आकृष्ट करता हूँ **यथा**=जिससे तू **मम क्रतौ असः**=मेरे कर्मों व संकल्पों में होती है। तू मेरे लिए ही कर्मों को कर मैं भी

तेरे संकल्पों का विषय बनूँ। मम **चित्तम् उपायसि**=तू मेरे चित्त के अनुकूल चलनेवाली हो।

भावार्थ—पति अपने प्रेम से पत्नी को जीतने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नाभिः आरेहणं हृदि संवननम्

यासां नाभिरारेहणं हृदि संवननं कृतम्।
गावो घृतस्य मातरोऽमूं सं वानयन्तु मे॥ ३॥

१. **यासाम्**=जिनका **नाभिः**=(णह बन्धने) बन्धन भी **आरेहणम्**=आनन्द देनेवाला है, जिसके **हृदि**=हृदय में **संवननम्**=प्रेम की सेवा—संभजन **कृतम्**=उत्पन्न की गई है, **अमूम्**=उसे ये **घृतस्य मातरः**=ज्ञानदीप्ति का निर्माण करनेवाली **गावः**=वेदवाणियाँ **मे सं वानयन्तु**=मेरे लिए संभक्त करनेवाली हों अथवा घृत का निर्माण करनेवाली ये गौएँ इसे मेरे प्रति प्रीतिवाला बनाएँ। 'ज्ञान की वाणियों में व गौओं की सेवा में लगे रहना' पत्नी को पति के प्रति प्रेमवाला बनाता है।

भावार्थ—पत्नी का सम्बन्ध आनन्द का जनक है। इनके हृदय में सेवा का भाव होता है। यदि ये ज्ञान की वाणियों व गौओं की सेवा में लगी रहें तो पति-प्रेम में न्यूनता नहीं आती।

विशेष—पति-पत्नी का पारस्परिक प्रेम घर में शान्ति का विस्तार करता है, अतः अगले सूक्त का ऋषि 'शन्ताति' है।

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्निः** छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्** ॥

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक

पृथिव्यै श्रोत्राय वनस्पतिभ्योऽग्नयेऽधिपतये स्वाहा॥ १॥
प्राणायान्तरिक्षाय वयोभ्यो वायवेऽधिपतये स्वाहा॥ २॥
दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यायाधिपतये स्वाहा॥ ३॥

१. मैं **पृथिव्यै**=इस पृथिवी के लिए **स्वाहा**=अपना अर्पण करता हूँ। भूमि को माता मानता हुआ उसकी गोद में बैठता हूँ। यहाँ **श्रोत्राय**=वाणी द्वारा उच्चरित ज्ञान के श्रवण के लिए अपने को अर्पित करता हूँ। ज्ञान की बातों को सुनना ही मेरा मुख्य कार्य होता है। यहाँ **वनस्पतिभ्यः**=वनस्पतियों के लिए मैं अपना अर्पण करता हूँ—वानस्पतिक पदार्थों को ही खाता हूँ और उनके द्वारा शरीर में उत्पन्न **अग्नये**=अग्नितत्त्व के लिए अपना अर्पण करता हूँ। यह अग्नितत्त्व ही तो **अधिपतये**=इस पृथिवी का अधिपति है। शरीर का मुख्य रक्षक यह अग्नितत्त्व ही है।

२. **अन्तरिक्षाय**=मैं हृदयान्तरिक्ष के लिए **स्वाहा**=अपना अर्पण करता हूँ। इस हृदयान्तरिक्ष में मुख्यरूप से अपना कार्य करनेवाले **प्राणाय**=प्राण के लिए अपना अर्पण करता हूँ—प्राणसाधना में प्रवृत्त होता हूँ। **वयोभ्यः**=इन प्राणों को पक्षी-तुल्य जानता हुआ इन पक्षियों के लिए अपना अर्पण करता हूँ। मैं यह भूलता नहीं कि 'पक्षियों की भाँति ये प्राण न जाने कब उड़ जाएँ'। इस हृदयान्तरिक्ष के **वायवे अधिपतये**=अधिपति वायु के लिए मैं अपना अर्पण करता हूँ। जहाँ तक सम्भव होता है शुद्ध वायु में ही सञ्चार करता हूँ।

३. **दिवे**=द्युलोक के लिए **स्वाहा**=मैं अपना अर्पण करता हूँ। मस्तिष्क ही द्युलोक है। इस

मस्तिष्करूप द्युलोक में चक्षु ही सूर्य है, उस **चक्षुषे**=चक्षु के लिए मैं अपना अर्पण करता हूँ। चक्षु से देखकर ही मार्ग में चलता हूँ—'**दृष्टिपूतं न्यसेत्पादम्।**' **नक्षत्रेभ्यः**=नक्षत्रों के लिए मैं अपना अर्पण करता हूँ, **सूर्याय अधिपतये**=अधिपति सूर्य के लिए मैं अपना अर्पण करता हूँ। मैं अपने द्युलोकरूप मस्तिष्क में विज्ञान के नक्षत्रों व ज्ञान के सूर्य को उदित करने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—हम अपने इस पृथिवीरूप शरीर में निवास को उत्तम बनाएँ, ज्ञान का श्रवण करें, वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करें, शरीर में उचित अग्नितत्त्व को उत्पन्न करें। हृदयान्तरिक्ष में प्राणों की आराधना करें—इन्हें 'पक्षियों की भाँति उड़ जानेवाला' जानें, शुद्ध वायु में प्राण-साधना करें। मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान-विज्ञान के सूर्य व नक्षत्रों को उदित करने के लिए यत्नशील हों।

विशेष—अपने जीवन को उत्तम बनाता हुआ उत्तम सन्तान का निर्माता 'प्रजापति' अगले सूक्त का ऋषि है।

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**रेतः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शमी+अश्वत्थ

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम्। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि॥ १॥

१. **शमीम्**=शान्त, उद्वेगरहित, धीर स्त्री पर **अश्वत्थः**=अश्व के समान शीघ्रगामी तथा दृढ़ाङ्गरूप से स्थिर (स्थ) पुरुष **आरूढः**=आरूढ होता है, अर्थात् शमी स्त्री में यह अश्वत्थ पुरुष गर्भाधान करता है, **तत्र**=वहाँ **पुंसुवनम्**=वीर सन्तान का उत्पादन **कृतम्**=किया जाता है, **तत्**=उस पुत्रजनक वीर्य को **स्त्रीषु**=स्त्रियों में **आभरामसि**=स्थापित करते हैं।

भावार्थ—स्त्री 'शमी' हो—शान्त स्वभाव की, पुरुष 'अश्वत्थ' हो—क्रियाशील व दृढ़ाङ्ग। ऐसा होने पर वीर सन्तान उत्पन्न होती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**रेतः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रेतः सेचन

पुंसि वै रेतो भवति तत्स्त्रियामनु षिच्यते। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्प्रजापतिरब्रवीत्॥ २॥

१. **पुंसि वै**=पुमान् में निश्चय से **रेतः भवति**=रेतस् (वीर्य) होता है, **तत्**=वह वीर्य **स्त्रियाम्**=स्त्री में **अनुसिच्यते**=सींचा जाता है। २. **तत् वै**=वह वीर्य-सचेन ही निश्चय से **पुत्रस्य वेदनम्**=पुत्र-प्राप्ति का साधन है। **तत् प्रजापतिः अब्रवीत्**=यह बात प्रजापति ने कही है।

भावार्थ—पुमान् का स्त्री में वीर्य-सेचन होने पर वीर सन्तान की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रजापतिः, अनुमतिः, सिनीवाली

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्य[चीक्लृपत्। स्त्रैषूयमन्यत्र दधत्पुमांसमु दधदिह॥ ३॥

१. **प्रजापतिः**=प्रजा का रक्षण करनेवाली, **अनुमतिः**=पति के अनुकूल मति-(विचार)-वाली, **सिनीवाली**=प्रशस्त अन्नों का सेवन करनेवाली स्त्री **अचीक्लृपत्**=समर्थ होती है—उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली होती है। २. यह **स्त्रैषूयम्**=स्त्री-सन्तान को जन्म देने को **अन्यत्र**=और स्थानों पर रखती हुई **उ**=निश्चय से **इह**=यहाँ **पुमांसं दधत्**=वीर नर-सन्तान को ही जन्म देती है। इस 'प्रजापति, अनुमति, सिनीवाली' की गोद में वीर सन्तान जन्म लेते हैं।

भावार्थ—स्त्री में प्रजा-रक्षण की प्रबल भावना हो, वह पति के साथ अनुकूल बुद्धिवाली हो तथा प्रशस्त अन्नों का सेवन करती हो तो वह प्राय: नर-सन्तान को जन्म देती है।

विशेष—अगले सूक्त में सर्प-विष-निवारण का प्रकरण है। गरुड़ सर्प का विनाश करता है। इस सर्प-विनाशक व्यक्ति का नाम श्री 'गरुत्मान्' (गरुड़) रक्खा गया है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषि:—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषनिवारणम्**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

अहीनां जनिं पर्यागमन्

परि द्यामिव सूर्यो३ऽहीनां जनिमागमम्।
रात्री जगदिवान्यद्धंसात्तेना ते वारये विषम्॥ १॥

१. **इव**=जैसे **सूर्य:**=सूर्य **द्याम्**=द्युलोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार मैं **अहीनाम्**=सर्पों के **जनिम्**=जन्मवृत्त को **परिआगमम्**=सम्यक् जानता हूँ। २. **इव**=जैसे **रात्री**=प्रलयकाल की रात्रि **जगत्**=सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर लेती है, परन्तु **हंसात् अन्यत्**=उस परब्रह्म से भिन्न जगत् को ही व्याप्त करती है, इसीप्रकार यह विष भी सारे शरीर को व्याप्त कर ले तो कर ले, परन्तु आत्मतत्त्व पर उसका प्रभाव नहीं होता, अर्थात् चेतना को यह समाप्त नहीं कर सकता। **तेन**=उस चेतना को स्थिर रखने के द्वारा ही मैं **ते विषं वारये**=तेरे विष को दूर करता हूँ, अर्थात् इस सर्पदष्ट पुरुष को मैं निद्राभिभूत न होने देकर इस विषप्रभाव को समाप्त करने के लिए यत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—वैद्य को सर्पों के प्रादुर्भाव का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। वह सर्पदष्ट की चेतना को स्थिर रखता हुआ सर्पविष को दूर करने के लिए यत्नशील हो।

ऋषि:—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषनिवारणम्**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

ब्रह्मभि: ऋषिभि: देवै:

यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद्देवैर्विदितं पुरा। यद्भूतं भव्यमासन्वत्तेना ते वारये विषम्॥ २॥

१. **यत्**=जो **ब्रह्मभि:**=वेदज्ञों ने, (वृहि वृद्धौ) शरीर की वृद्धि करनेवालों ने, **यत् ऋषिभि:**=जो तत्त्वद्रष्टा पुरुषों ने, (ऋष=to kill) विष के प्रभाव को नष्ट करनेवालों ने और **यत्**=जो ज्ञान **देवै:**=रोगों को जीतने की कामनावाले (विजिगीषा) पुरुषों ने **पुरा विदितम्**=पहले जाना है, **तेन**=उस ज्ञान के द्वारा हे **आसन्वत्**=मुख से काटनेवाले सर्प! **यत्**=जो **ते**=तेरा **भूतम्**=शरीर में व्याप्त हो चुका है और जो **भव्यम्**=शरीर में व्याप्त होनेवाला है, उस सब **विषम्**=विष को **वारये**=दूर करता हूँ।

भावार्थ—विष-प्रभाव को दूर करके शरीर का वर्धन करनेवाले 'वृहि वृद्धौ'। विष प्रभाव को नष्ट करनेवाले व सर्प को ही नष्ट कर देनेवाले 'ऋषि' हैं (ऋष=to kill)। विष-प्रभाव आदि विकारों को जीतने की कामनावाले 'देव' हैं (दिव् विजिगीषायाम्)। इन सबसे प्राप्त ज्ञान के द्वारा मैं (वैद्य) तेरे विष को दूर करता हूँ।

ऋषि:—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषनिवारणम्**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

परुष्णी, शीपाला

मध्वा पृञ्चे नद्य१: पर्वता गिरयो मधु। मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे॥ ३॥

१. वैद्य सर्प-दष्ट पुरुष से कहता है कि, मैं तुझे **मध्वा पृञ्चे**=मधु से—ओषधियों के सार

से संपृक्त करता हूँ। **नद्यः पर्वताः गिरयः**=नदियाँ, पर्वत व मेघ (गिरयः=मेघ—नि० १.१०) ये सब **मधु**=मधु हैं। इनमें सर्पविषों को दूर करने की ओषधियाँ हैं। २. **परुष्णी**=यह पालन और पूरण करनेवाली **शीपाला**=नींद से बचानेवाली ओषधि **मधु**=तेरे लिए मधु हो। तेरे **आस्ने**=मुख के लिए **शम् अस्तु**=शान्ति हो, **शम् हृदे**=हृदय के लिए शान्ति हो।

भावार्थ—सर्पविष-निवारण के लिए नदियों के किनारे, पर्वतों व मेघवृष्टिवाले स्थलों पर ओषधियाँ उपलभ्य हैं। इन ओषधियों का सार सर्पविषों को दूर करता है। विशेषतः 'परुष्णी' नामक ओषधि निद्रा में न जाने देती हुई सर्पदष्ट को विष-प्रभाव से मुक्त करती है।

विशेष—जैसे सर्पविष से मृत्यु की आशंका है, इसीप्रकार अन्य भी जितनी मृत्युएँ हैं, उनसे बचने की कामनावाला (स्वस्त्ययनकामः) 'अथर्वा' आत्म-निरीक्षण करता हुआ (अथ अर्वाङ्) दोषों को दूर करके मृत्यु को दूर करता हुआ व्यक्ति अगले सूक्त का ऋषि है।

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**मृत्युः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

देववध, राजवध, विश्यवध

नमो॑ देवव॒धेभ्यो॒ नमो॑ राजव॒धेभ्यः॑।
अथो॒ ये विश्या॑नां व॒धास्तेभ्यो॑ मृत्यो॒ नमो॑ऽस्तु ते॥ १॥

१. **देववधेभ्यः**=देवों (ब्राह्मणों) के शस्त्रों को **नमः**=नमस्कार हो, **राजवधेभ्यः**=क्षत्रियों के शस्त्रों को **नमः**=नमस्कार हो **अथ+उ**=और **ये**=जो **विश्यानाम्**=प्रजाओं के **वधाः**=शस्त्र हैं **तेभ्यः नमः**=उनके लिए भी नमस्कार हो। हे **मृत्यो**=मृत्यो! ते **नमः अस्तु**=हम तेरे लिए भी नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—हम 'ब्राह्मणों, क्षत्रियों व वैश्यों के वधों' से अपने को बचा पाएँ। हम अकाल मृत्यु के शिकार न हो जाएँ। जिन कारणों से हम 'देवों, राजाओं अथवा प्रजाओं' के वध्य हो जाते हैं, उन सब कारणों को दूर करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**मृत्युः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अधिवाक, परावाक, सुमति, दुर्मति

नम॑स्ते अधिवा॒काय॑ परावा॒काय॑ ते॒ नमः॑।
सु॒म॒त्यै मृ॑त्यो ते॒ नमो॑ दु॒र्म॒त्यै त॑ इ॒दं नमः॑॥ २॥

१. हे **मृत्यो**=मृत्यो! **ते**=तेरे कारणभूत **अधिवाकाय**=अनुकूल वचन के लिए हम **नमः**=नमन करते हैं। अनुकूल वचनों का अतिरेक होने से अविवेक उत्पन्न होकर मृत्यु होती है, अतः इनसे बचना ही ठीक है, **ते**=तेरे कारणभूत **परावाकाय**=प्रतिकूल वचनों के लिए **नमः**=नमस्कार हो। प्रतिकूल वचनों से निराशा होकर मृत्यु होती है। २. हे मृत्यो! **ते**=तेरी कारणभूत **सुमत्यै**=सुमति के लिए भी **नमः**=नमस्कार हो। केवल सुमति हमें शरीर के प्रति उदासीन करके मृत्यु की ओर ले-जाती है और **ते**=तेरी कारणभूत **दुर्मत्यै**=दुर्मति के लिए **इदं नमः**=यह नमस्कार हो। दुर्मति तो सदा मृत्यु का कारण बनती ही है।

भावार्थ—हर समय अनुकूल वचनों को ही सुननेवाला अविवेकवश मृत्यु का शिकार हो जाता है। प्रतिक्षण प्रतिकूल वचनों का श्रवण हमें निराश करके मार डालता है। सुमति में हम बौद्धिक कार्यों की ओर ही झुककर शरीर का ध्यान नहीं करते और दुर्मति तो सतत विनाश का कारण है ही।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यातुधानों का भेषज

नम॑स्ते यातु॒धाने॑भ्यो॒ नम॑स्ते भेष॒जेभ्यः॑।
नम॑स्ते मृत्यो॒ मूले॑भ्यो ब्राह्म॒णेभ्य॑ इ॒दं नमः॑ ॥ ३ ॥

१. हे **मृत्यो**=मृत्यो! **ते**=तेरे **यातुधानेभ्यः**=पीड़ा देनेवाले रोगों के लिए **नमः**=नमस्कार हो—ये हमें दूर से ही छोड़ जाएँ। इसी उद्देश्य से **ते**=तेरे दूर करने के लिए साधनभूत **भेषजेभ्यः**=औषधों के लिए हम **नमः**=नमस्कार करते हैं—इन औषधों का उचित प्रयोग करते हुए हम तुझसे अपनी रक्षा करते हैं। २. हे मृत्यो! **ते मूलेभ्यः**=तेरे मूलकारणों के लिए हम **नमः**=नमस्कार करते हैं—इन्हें दूर से ही छोड़ते हैं और इन मूलकारणों के ज्ञान के लिए ही **ब्राह्मणेभ्यः इदं नमः**=ब्राह्मणों के लिए हम यह नमस्कार करते हैं। उनका आदर करते हुए तेरे कारणों को जानकर उन्हें दूर करने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—मृत्यु के कारणभूत रोगों का औषध करके हम मृत्यु को दूर करें। ज्ञानियों से मृत्यु के मूलकारणों का ज्ञान प्राप्त करके उन्हें दूर करते हुए हम दीर्घजीवी बनें।

विशेष—रोगों को दूर करके अपना धारण करनेवाला बभ्रु=तेजस्वी वर्णवाला पिङ्गल पुरुष 'बभ्रुपिङ्गल' अगले सूक्त का ऋषि है।

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**बभ्रुपिङ्गलः** ॥ देवता—**बलासः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हृदयामयम्, बलासम्

अ॒स्थि॒स्रं॒सं प॑रुस्रं॒समास्थि॑तं हृदया॒मय॑म्।
ब॒लासं॒ सर्वं॑ नाशयाङ्गे॒ष्ठा यश्च॒ पर्व॑सु ॥ १ ॥

१. **अस्थिस्रंसम्**=हड्डियों को गला देनेवाले **परुस्रंसम्**=जोड़ों को ढीला कर देनेवाले **आस्थितम्**=स्थिर हो जाने—जम जानेवाले **हृदयामयम्**=हृदय-रोग को **नाशय**=नष्ट कर दो। २. **सर्वं बलासम्**=सब बल को गिरा देनेवाले क्षय रोग को, **अङ्गेष्ठाः**=जो अङ्गों में बैठ गया **याः च**=जो **पर्वसु**=जोड़ों में बैठ गया है—उस सबको नष्ट कर दीजिए।

भावार्थ—वैद्य औषध-प्रयोग द्वारा हृदय तथा क्षय-रोग को नष्ट करे।

ऋषिः—**बभ्रुपिङ्गलः** ॥ देवता—**बलासः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मुष्करं यथा, उर्वावा मूलम् इव

निर्ब॒लासं॑ ब॒ला॒सिनः॑ क्षि॒णोमि॑ मुष्क॒रं यथा॑।
छि॒नद्म्य॑स्य॒ बन्ध॑नं॒ मूल॑मुर्वा॒र्वाइ॑व ॥ २ ॥

१. **बलासिनः**=क्षयरोगी से **बलासम्**=क्षयरोग को इसप्रकार **निःक्षिणोमि**=दूर करता हूँ **यथा**=जैसेकि **मुष्करम्**=चोरी करनेवाले को दूर किया जाता है। २. **अस्य**=इसके **बन्धनं छिनद्मि**=बन्धन को ऐसे काट डालता हूँ **इव**=जैसेकि **उर्वार्वाः मूलम्**=ककड़ी की जड़ को काट देते हैं।

भावार्थ—क्षय-रोग चोर के समान हमारी शक्ति को चुरा लेता है। इसका तो नाश करना ही ठीक है। ककड़ी की जड़ की भाँति इसे काट डालना आवश्यक है।

ऋषिः—बभ्रुपिङ्गलः ॥ देवता—बलासः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

आशुङ्गः शिशुको यथा, हायनः इटः इव

निर्बलासेतः प्र पताशुङ्गः शिशुको यथा।
अथो इटइव हायनोऽप द्राह्यवीरहा॥ ३॥

१. हे **बलासः**=क्षयरोग! तू **इतः निः प्रपत**=यहाँ से ऐसे हट जा **यथा**=जैसे कोई **आशुङ्गः**=शीघ्र गतिवाला **शिशुकः**=हिरनौटा (हिरन-शिशु) भाग खड़ा होता है। २. **अथो**=और **हायनः इटः इव**=वार्षिक घास की भाँति—जैसे प्रतिवर्ष उग आनेवाली घास चली जाती है, उसी प्रकार तू **अपद्राहि**=दूर भाग जा। **अवीरहा**=तू हमारे वीरों को नष्ट करनेवाला न हो।

भावार्थ—क्षयरोग इसप्रकार दूर भाग जाए, जैसे एक शीघ्रगामी हिरनौटा भाग जाता है। वार्षिक घास की भाँति यह हमसे दूर हो जाए। यह हमारे वीरों को मारनेवाला न हो।

विशेष—रोगों का उत्कर्षण विदारण करनेवाला यह 'उद्दालक' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—उद्दालकः ॥ देवता—वनस्पतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अभिदास का उपस्ति बन जाना

उत्तमो अस्योषधीनां तव वृक्षा उपस्तयः।
उपस्तिरस्तु सोऽ३स्माकं यो अस्माँ अभिदासति॥ १॥

१. हे प्रभो! आप **ओषधीनाम्**=दोषदाहक ओषधियों में **उत्तमः असि**=सर्वोत्तम हैं। **वृक्षाः**=दोष-छेदन की कामनावाले (वृश्चनात्) सब जीव **तव उपस्तयः**=तेरे उपासक हैं। २. **यः**=जो **अस्मान् अभिदासति**=हमारा उपक्षय करता है, **सः**=वह **अस्माकम् उपस्तिः अस्तु**=हमारा अनुगामी बन जाए। आपकी कृपा से मेरे जीवन में 'काम' प्रेम बन जाए, 'क्रोध' करुणा के रूप में हो जाए और 'लोभ' का स्थान त्याग ले-ले।

भावार्थ—प्रभु सब भवरोगों की सर्वोत्तम ओषधि हैं। दोष-छेदन की कामनावाले पुरुष प्रभु का ही उपासन करते हैं। इस उपासना से काम, क्रोध व लोभ का स्थान, प्रेम, करुणा व त्याग को मिल जाता है।

ऋषिः—उद्दालकः ॥ देवता—वनस्पतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सबन्धुश्च, असबन्धुश्च

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति।
तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः॥ २॥

१. **सबन्धुः च**=समान बन्धुत्ववाला **च असबन्धुः**=अथवा बन्धुत्वरहित **यः**=जो कोई भी **अस्मान्**=हमें **अभिदासति**=उपक्षीण करना चाहता है, **वृक्षाणाम्**=दोष-छेदक उपासकों में **सा इव**=जैसे ब्रह्मौषधि सर्वोत्तम है, उसी प्रकार **तेषाम्**=उनमें **अहम्**=मैं **उत्तमः भूयासम्**=उत्तम होऊँ। किसी भी बन्धु व अबन्धु का मैं शिकार न हो जाऊँ।

भावार्थ—ब्रह्मौषधि का सेवन करता हुआ मैं किसी भी शत्रु का शिकार न बनूँ और उत्तम बना रहूँ।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सोमः, तलाशः

यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां कृतः। तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः॥ ३॥

१. **यथा**=जैसे **ओषधीनाम्**=ओषधियों में **सोमः उत्तमः**=सोम उत्तम है और जैसे यह सोम **हविषाम्**=हव्य पदार्थों में **उत्तमः कृतः**=किया गया है, **इव**=जैसे **वृक्षाणां तलाशा**=वृक्षों में तलाश (पलाश=ढाक) वृक्ष उत्तम है (तलं अश्नुते), इसीप्रकार **अहम्**=मैं उत्तमः **भूयासम्**=अपने कुल में उत्तम बनूँ।

भावार्थ—मैं अपने कुल में ऐसे उत्तम बनूँ जैसेकि ओषधियों में सोम और वृक्षों में पलाश।

विशेष—ओषधिरस का पान करनेवाला (ब्रह्मौषधि का उपासक) अपने जीवन को सुखी बनानेवाला 'शौनक' कहलाता है (शुनं सुखम्)। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदानिचृद्गायत्री** ॥

करम्भ

आबयो अनाबयो रसस्त उग्र आबयो। आ ते करम्भमद्मसि॥ १॥

१. **आबयो**=(वी गतौ) हे समन्तात् गतिवाले—सर्वत्र गये हुए, **अनाबयो**=गतिशून्य, सर्वव्यापक होने के कारण सदा, सर्वत्र स्थिर (तदेजति तन्नैजति), **आबयो**=हे समन्तात् कान्तिवाले (वी कान्तौ) प्रभो! **ते रसः उग्रः**=आप का आनन्द अत्यन्त तेजस्वी व प्रबल है। यही वस्तुतः सब रोगों का विनाशक है। २. **ते**=आपके **क-रम्भम्**=आनन्द के (रम्भ-लम्भ-ज्ञान) ज्ञानरस का हम **आ अद्मसि**=अदन—ग्रहण करते हैं। आपकी उपासना करते हुए आपके आनन्दरस का उपभोग करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वत्र गतिवाले होते हुए भी स्थाणु व अचल हैं—उसकी कान्ति का प्रसार सर्वत्र है। उसकी उपासना करते हुए हम उसके आनन्दरस का पान करते हैं।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विहल्ह, मदावती (पिता, माता)

विहल्हो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता।
स हिन त्वमसि यस्त्वमात्मानमावयः॥ २॥

१. हे प्रभो! **ते पिता**=आपका रक्षणात्मक रूप (पा रक्षणे)—आपका पितृत्व **विहल्हः नाम**=निश्चय से सर्वत्र गतिवाला—सर्वव्यापक है। **ते माता**=आपकी प्रकृतिरूप निर्माणशक्ति **मदावती**=मदावती है—आनन्द देनेवाली है। २. हे **हिन**=प्रेरक प्रभो! (हिनोति) **त्वम्**=आप **सः असि**=वे हैं **यः**=जो **त्वम्**=आप **आत्मानम्**=अपने को **आबयः**=सर्वत्र ओत-प्रोत किये हुए हैं—'**स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु**'।

भावार्थ—प्रभु का रक्षक गुण सर्वत्र व्याप्त है। प्रभु की यह प्रकृति मद=आनन्द देनेवाली है। वे प्रेरक प्रभु इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ओत-प्रोत हैं।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च

तौविलिकेऽ वलयावायमैलब ऐलयीत्। बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापेहि निराल॥ ३॥

१. हे **तौविलिके**=(तु वृद्धौ+इल गतौ) सदा वृद्ध प्रभु से गति करनेवाली प्रकृते। तू **अव ईलय**=अपने को हमसे दूर प्रेरित कर—हमें बाँधनेवाली न हो। **अयम्**=यह **ऐलबः**=समस्त प्रकृति का सञ्चालक प्रभु (इला, वा गतौ) अब **ऐलयीत्**=तुझे हमसे दूर करे। प्रभु के अनुग्रह से हम तुझमें फँसे नहीं। २. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **निराल**=(अल वारणे) कर्त्तव्य के निवारण से निर्गत—निश्चय से कर्त्तव्य का पालन करनेवाले जीव! **बभ्रुः च**=सब शक्तियों का भरण करनेवाला, **बभ्रुकर्णः च**=और धारक शक्तियों को सर्वत्र विकीर्ण करनेवाला तू—सबका धारण करनेवाला तू **अप इहि**=प्रकृति-बन्धन से दूर हो। कर्त्तव्य का पालन करता हुआ, शक्तियों को धारण करनेवाला तथा सबको धारण करनेवाला बनता हुआ तू प्रकृति-बन्धन से ऊपर उठेगा।

भावार्थ—हम प्रकृति बन्धन से ऊपर उठें। इसी उद्देश्य से (क) कर्त्तव्य कर्मों में लगे रहें, (ख) शक्तियों का धारण करें, (ग) धारक शक्तियों को सर्वत्र फैलाएँ—सबका धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाप्रतिष्ठागायत्री** ॥

अलसाला, सिलाञ्जाला, नीलागलसाला

अ॒ल॒सालासि॒ पूर्वा॑ सि॒लाञ्जाला॒स्युत्त॑रा। नी॒ला॒ग॒ल॒साला॑ ॥ ४ ॥

१. हे प्रकृते! तू **पूर्वा**=सर्वप्रथम **अ-लसाला असि**=न चमकती हुई—अव्यक्त-सी है। प्रलयकाल में प्रकृति चमक नहीं रही होती। यह उसकी अव्यक्त अवस्था होती है। **उत्तरा**=इसके पश्चात् सृष्टिकाल में तू **सिलाञ्जाला असि**=(सिला अन्न आला) कण-कण में व्यापक जगत् को प्रकट करने में समर्थ होती है—अव्यक्त से तू व्यक्त हो जाती है। २. अब अन्त में **नीलागलसाला**=(नील-आगल, साला षल गतौ) सब शरीर-गृहरूप नीड़ों को निगल जाने में गतिवाली होती है। सब शरीर इस अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और अन्त में इस अव्यक्त प्रकृति में ही लीन हो जाते हैं '**अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।**'

भावार्थ—हम प्रकृति के स्वरूप को समझें। उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय के स्वरूप को समझते हुए इस प्रकृति में फँसे नहीं और अपने जीवन को सुन्दर बनाएँ।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि 'अथर्वा' है—अर्थ अर्वाङ्=आत्म-निरीक्षण करनेवाला। यह व्यक्ति अपने जीवन को उत्तम बनाता हुआ उत्तम सन्तान का निर्माण करता है। यह अपनी पत्नी से कहता है—

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**गर्भदृंहणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनुसूतं सवितवे

यथे॒यं पृ॑थि॒वी म॒ही भू॒तानां॒ गर्भ॑माद॒धे।
ए॒वा ते॑ ध्रियतां॒ गर्भो॒ अनु॒ सूतुं॒ सवि॑तवे ॥ १ ॥
यथे॒यं पृ॑थि॒वी म॒ही दा॒धारे॒मान्व॒नस्पती॑न्।
ए॒वा ते॑ ध्रियतां॒ गर्भो॒ अनु॒ सूतुं॒ सवि॑तवे ॥ २ ॥
यथे॒यं पृ॑थि॒वी म॒ही दा॒धार॒ पर्व॑ता॒न्गिरी॑न्।
ए॒वा ते॑ ध्रियतां॒ गर्भो॒ अनु॒ सूतुं॒ सवि॑तवे ॥ ३ ॥

यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत्।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे॥ ४॥

१. **यथा**=जैसे **इयम्**=यह **मही पृथिवी**=विशाल पृथिवी **भूतानाम्**=सब प्राणियों के **गर्भम्**=मूलभूत बीज को **आदधे**=धारण करती है **एव**=इसीप्रकार हे प्रियतमे! **ते**=तेरा **गर्भः**=गर्भ **ध्रियताम्**=धारण किया जाए। यह गर्भ **अनु सूतुं सवितवे**=पुत्र को अनुकूल समय पर जन्म देने के लिए हो। २. **यथा इयं मही पृथिवी**=जिस प्रकार यह विशाल **पृथिवी इमान् वनस्पतीन् दाधार**=इन वनस्पतियों को धारण करती है, **एव**=इसीप्रकार ते **गर्भं ध्रियताम्**=तेरा यह गर्भ धारण किया जाए और **अनु सूतुं सवितवे**=पुत्र को अनुकूल समय पर जन्म देनेवाला हो। ३. **यथा इयं मही पृथिवी**=जैसे यह विशाल पृथिवी **पर्वतान् गिरीन्**=इन बड़े पर्वतों और छोटी पहाड़ियों को **दाधार**=धारण करती है। इसीप्रकार तेरा गर्भ धारण किया जाए और वह अनुकूल समय पर सन्तान को जन्म देनेवाला हो। ४. **यथा इयं मही पृथिवी**=जैसे यह विशाल पृथिवी **विष्ठितं जगत् दाधार**=नाना प्रकार से विभक्त—व्यवस्थित चराचर जगत् को धारण करती है उसी प्रकार तेरा यह गर्भ धारण किया जाए और वह अनुकूल समय पर सन्तान को जन्म देनेवाला हो।

भावार्थ—माता पृथिवी के समान है। पृथिवी की भाँति ही सब भूतों के गर्भ को धारण करती है और अनुकूल समय पर सन्तान को जन्म देती है।

विशेष—अथर्वा ही अगले सूक्त का ऋषि है। इसमें यह 'ईर्ष्या' को एक महान् दोष के रूप में देखता है। माता में ईर्ष्या की वृत्ति गर्भस्थ बालक की मृत्यु का भी कारण बन जाती है, अतः ईर्ष्या के त्याग का उपदेश करते हैं—

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ईर्ष्याविनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ईर्ष्या=हृदय्य अग्नि

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम्।
अग्निं हृदय्यं१ शोकं तं ते निर्वापयामसि॥ १॥

१. **ते**=तेरी **ईर्ष्यायाः**=ईर्ष्या की—डाह की **प्रथमां ध्राजिम्**=पहली गति को—वेग को **निर्वापयामसि**=बुझा देते हैं, **उत**=और **प्रथमस्याः**=उस ईर्ष्या की प्रथम ध्राजि के पश्चात् होनेवाली **अपराम्**=ईर्ष्या की दूसरी जलन को बुझाते हैं। २. इस ईर्ष्या को जोकि **अग्निम्**=आग के समान है, **हृदय्यं शोकम्**=हृदय में होनेवाला शोक (विषाद) है, **तम्**=उसे (निर्वायपयामसि) बुझा देते हैं।

भावार्थ—ईर्ष्या अग्नि के समान है। यह हृदय के आनन्द को समाप्त करके उसे सन्तप्त करनेवाली है। इसके वेग को शान्त करना ही ठीक है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ईर्ष्याविनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ईर्ष्यालु-मृतमनाः

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा। यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः॥ २॥

१. **यथा**=जैसे **भूमिः**=यह भूमि **मृतमनाः**=मृत मनवाली है—अचेतन है, **मृतात् मृतमनस्तरा**=मरे हुए से भी अधिक मृत मनवाली है, **उत**=और **यथा**=जैसे **मम्रुषः**=मरणासन्न पुरुष का **मनः**=मन होता है, **एव**=इसीप्रकार **ईर्ष्योः**=ईर्ष्यालु का **मनः मृतम्**=मन मृत होता है।

भावार्थ—ईर्ष्या मनुष्य के मन को मार डालती है, उसे अचेतन-सा कर देती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ईर्ष्याविनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मनस्कं पतयिष्णुकम्

अदो यत्ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम्।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव॥ ३॥

१. **अदः**=वह **यत्**=जो **मनस्कम्**=छोटा मन (अल्पे ह्रस्वे कन्)—तंग दिल **ते हृदि श्रितम्**=तेरे हृदय में रक्खा है, वह **पतयिष्णुकम्**=तुझे गिरानेवाला है। २. **ततः**=वहाँ से—उस मन से **ते**=तेरी **ईर्ष्याम्**=इस ईर्ष्या को **मुञ्चामि**=छुड़ाता हूँ। उसी प्रकार **इव**=जैसे **दृतेः**=चर्म की बनी धौंकनी से **ऊष्माणं निः**=गर्म वायु को फूँककर बाहर कर देते हैं।

भावार्थ—जब मनुष्य तंग दिल होता है तब ईर्ष्या का शिकार हो जाता है। यह उसके पतन का कारण बनती है, अतः ईर्ष्या को समाप्त करना ही ठीक है।

विशेष—ईर्ष्या-विनाश से अपने मन में शान्ति का विस्तार करनेवाला यह 'शन्ताति' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पवित्रता का सम्पादन

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा॥ १॥

१. जीवन-यात्रा के प्रारम्भ में **देवजनाः**='**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव**' इन वाक्यों के अनुसार उत्तम माता-पिता व आचार्य **मा पुनन्तु**=मुझे पवित्र करनेवाले हों। माता मेरे चरित्र को उत्तम बनाये। पिता मुझे शिष्टाचार-सम्पन्न करे तथा आचार्य मुझे ज्ञान से परिपूर्ण करे। अब जीवन-यात्रा की दूसरी मंज़िल में—दूसरे प्रयाण (गृहस्थ) में समय-समय पर आनेवाले **मनवः**=विचारशील अतिथि (अतिथिदेवो भव) **धिया**=उत्तम बुद्धि व कर्मों से **पुनन्तु**=पवित्र करें। इनकी प्रेरणा मुझे सत्पथ पर चलानेवाली हो। २. फिर वानप्रस्थ बनने पर **विश्वा भूतानि**=सब प्राणी **पुनन्तु**=मुझे पवित्र करें। वानप्रस्थ की तपोमयी साधना में मैं सब प्राणियों से किसी-न-किसी उत्तम गुण को सीखने का प्रयत्न करूँ। अन्त में संन्यासावस्था में **पवमानः**=सबको पवित्र करनेवाला वह प्रभु **मा पुनातु**=मुझे पवित्र करे—प्रभु स्मरण मेरी सब मलिनताओं के विनाश का कारण बने। 'माता, पिता, आचार्य, अतिथि व प्रभु' इनका मैं पूजन करूँ। ये मुझे पवित्र बनाएँ। यह 'पञ्चायतनपूजा' मेरे पाँचों भूतों को, पाँचों कर्मेन्द्रियों को, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को, पाँचों प्राणों को व मन, बुद्धि, चित, अहंकार व हृदय को पवित्र करे।

भावार्थ—'माता, पिता, आचार्य, अतिथि व प्रभु' का सान्निध्य मेरे जीवन को पवित्र बनानेवाला हो।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

क्रत्वे, दक्षाय, जीवसे, अरिष्टतातये

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे। अथो अरिष्टतातये॥ २॥

१. **पवमानः**=पवित्र करनेवाले प्रभु **मा पुनातु**=मुझे पवित्र करें, जिससे मेरा जीवन **क्रत्वे**=उत्तम ज्ञान व कर्मसंकल्पों के लिए हो। मेरा यह जीवन **दक्षाय**=बल के लिए हो। **जीवसे**=मैं पूर्ण

जीवन को जीनेवाला होऊँ **अथ उ**=और निश्चय से **अरिष्टतातये**=मैं कल्याण के विस्तार के लिए होऊँ।

भावार्थ—प्रभु-सम्पर्क मुझे 'क्रतुमान्, दक्ष, पूर्ण, जीवनवाला व कल्याणमय कार्यों को करनेवाला' बनाए।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

पवित्रेण सवेन च

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च। अस्मान्पुनीहि चक्षसे॥ ३॥

१. हे **सवितः देव**=सबके प्रेरक, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप **अस्मान्**=हमें **पवित्रेण**=ज्ञान के द्वारा (नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते) **च**=और **सवेन**=यज्ञ के द्वारा **पुनीहि**=पवित्र कीजिए। ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों की पवित्रता का सम्पादन करता है तो यज्ञ कर्मेन्द्रियों को पवित्र रखता है। २. **उभाभ्याम्**=आप इन दोनों से ही हमें पवित्र कीजिए, जिससे **चक्षसे**=हम आपको देखने के लिए हों। अपवित्रता का आवरण प्रभु-दर्शन में प्रतिबन्धक है। मल का आवरण हटते ही हृदय में प्रभु का दर्शन होता है।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञानों व कर्मों द्वारा पवित्र करें, जिससे हम उसका दर्शन कर सकें।

विशेष—जीवन को पवित्र बनानेवाला प्रभु हमें ज्ञान व कर्मों द्वारा पवित्र करता है। पवित्रता हमें प्रभु-दर्शन का पात्र बनाती है। अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करनेवाला यह 'भृगु+अङ्गिराः' सदा गतिशील होता है। यही अलगे सूक्त का ऋषि है।

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**अतिजगती** ॥

अव्रतता तथा ज्वर

अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिण उतेव मत्तो विलपन्नपायति।
अन्यमस्मदिच्छतु कं चिदव्रतस्तपुर्वधाय नमो अस्तु तक्मने॥ १॥

१. **शुष्मिणः अग्नेः इव**=प्रबल (सुखा देनेवाले) अग्नि के समान **दहतः**=सन्तप्त करते हुए **अस्य**=इस ज्वर का वेग **एति**=आता है। उस समय यह ज्वरक्रान्त पुरुष **मत्तः इव**=विचारहीन, उन्मत्त-सा **उत**=और **विलपन्**=बड़बड़ाता हुआ (delirium में) **अप अयति**=दूर भागता है। २. यह **अव्रतः**=व्रतशून्य पुरुष को—अनियमित जीवनवाले पुरुष को होनेवाला ज्वर **अस्मत् अन्यम्**=हमसे भिन्न **किञ्चित्**=किसी अन्य पुरुष की **इच्छतु**=इच्छा करे, **तपुर्वधाय**=सन्तापक शस्त्र को धारण करनेवाले इस **तक्मने**=जीवन को कष्टमय बनानेवाले ज्वर के लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो—हमसे यह दूर ही रहे।

भावार्थ—शरीर को सन्तप्त करनेवाला, मन को उन्मत्त और वाणी में बड़बड़ाहट उत्पन्न करनेवाला ज्वर अनियमित जीवनवाले पुरुषों को ही होता है, अतः हम व्रतमय जीवनवाले बनकर अपने को इस ज्वर से बचाएँ।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**ककुम्मतीप्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

'नमः रुद्राय नमः अस्तु तक्मने'

नमो रुद्राय नमो अस्तु तक्मने नमो राज्ञे वरुणाय त्विषीमते।
नमो दिवे नमः पृथिव्यै नम ओषधीभ्यः॥ २॥

१. **रुद्राय**=रोगों का द्रावण करनेवाले वैद्य को **नमः**=नमस्कार हो और इस **तक्मने नमः अस्तु**=जीवन को कष्टमय बनानेवाले ज्वर के लिए भी नमस्कार हो—यह हमें दूर से ही छोड़ जाए। हम उस **त्विषीमते**=दीप्तिवाले **वरुणाय**=सब कष्टों का निवारण करनेवाले **राज्ञे**=शासक प्रभु के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं। यह प्रभु-स्मरण हमें व्रतमय जीवनवाला बनाकर नीरोग करता है। **दिवे नमः पृथिव्यै नमः**=हम पितृरूप द्युलोक के लिए तथा मातृरूपा इस पृथिवी के लिए नमस्कार करते हैं। इनका उचित सम्पर्क अपने साथ बनाते हैं और इनके द्वारा प्रदत्त **ओषधीभ्यः**=ओषधियों के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं। इनके उचित सेवन से रोगों को दूर करते हैं।

भावार्थ—रोग को दूर करने के लिए 'प्रभु-स्मरण, योग्य वैद्य की प्राप्ति तथा द्युलोक व पृथिवीलोक से प्रदत्त ओषधियों का प्रयोग' आवश्यक है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**सतःपङ्क्तिः** ॥

अभिशोचयिष्णुः

अयं यो अभिशोचयिष्णुर्विश्वा रूपाणि हरिता कृणोषि।
तस्मै तेऽरुणाय बभ्रवे नमः कृणोमि वन्याय तक्मने॥ ३॥

१. **अयं यः**=यह जो **अभिशोचयिष्णुः**=शोक को बढ़ानेवाला रोग है, वह तू **विश्वा रूपाणि**=सब रूपों को **हरिता कृणोषि**=पीला-सा—निस्तेज-सा कर देता है। इस पीलिया के रोगी को सब वस्तुएँ पीली-पीली-सी दिखने लगती हैं। २. **तस्मै**=उस **ते**=तेरे लिए जो तू **अरुणाय बभ्रवे**=लाल व भूरे रङ्ग का है—जो तू रोगी को ज्वर-वेग में लाल-सा व भूरा-सा कर देता है, उस तुझ **वन्याय तक्मने**=वन में (मच्छरों की अधिकता से) उत्पन्न हो जानेवाले ज्वर के लिए **नमः कृणोमि**=हम दूर से ही नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—ज्वर हमें शोक-सन्तप्त करता है, दृष्टि को विकृत कर हमारे लिए सब रूपों को पीला-सा कर देता है। वन्यभूमि में उत्पन्न होनेवाले इस ज्वर से हम बचने का उपाय करते हैं।

विशेष—उचित औषध-प्रयोग से ज्वर को शान्त करके शान्ति का विस्तार करनेवाला 'शन्ताति' अगले चार सूक्तों का ऋषि है।

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भूमि उत्तमा

इमा यास्तिस्त्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम्॥ १॥

१. **इमाः**-ये **याः**=जो **तिस्त्रः**=तीन **पृथिवीः**=(पथ विस्तारे) विस्तृत लोक हैं, **तासाम्**=उनमें **ह**=निश्चय से **भूमिः उत्तमा**=(भवन्ति भूतानि यस्याम्) जिसपर प्राणियों का निवास है, ऐसी यह भूमि उत्तम है। द्युलोकस्थ सूर्य अपनी किरणों के द्वारा जलों को वाष्पीभूत करके अन्तरिक्ष में मेघों का निर्माण करता है। इनसे वृष्टि होकर भूमि पर विविध ओषधियों की उत्पत्ति होती है। २. **तासाम्**=उन लोगों के **अधित्वचः**=आवरणभाग—उनकी पीठ पर उत्पन्न होनेवाले **भेषजम्**=औषध को **उ**=निश्चय से **अहम्**=मैं **सम् अजग्रभम्**=ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—इस पृथिवी की पीठ पर अन्तरिक्ष की वृष्टि व सूर्य-किरणों द्वारा उत्पन्न होनेवाली ओषधियों को मैं ग्रहण करता हूँ। इनके द्वारा रोगों को दूर करके मैं शान्ति प्राप्त करता हूँ।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भेषजानां श्रेष्ठम्, वीरुधानां वसिष्ठम्

श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम्।
सोमो भगइव यामेषु देवेषु वरुणो यथा॥ २॥

१. हे ओषधे! तू **भेषजानां श्रेष्ठं असि**=औषधों में श्रेष्ठ है, **वीरुधानाम्**=बेलों व लताओं में **वसिष्ठम्**=सर्वोत्तम निवास का साधन है। २. **इव**=जैसे **यामेषु**=जीवन के सब कालों में **सोमः**=सोम (वीर्य) **भगः**=सर्वोत्तम ऐश्वर्य है और **यथा**=जैसे **देवेषु**=सब देवों में **वरुणः**=कष्टों का निवारक प्रभु श्रेष्ठ है, वैसे ही यह औषध भी श्रेष्ठ है।

भावार्थ—औषध की क्षमता में विश्वास रखते हुए हम औषध-प्रयोग करेंगे तो वह अवश्य रोग को दूर करेगी।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनाधृषः सिषासवः

रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ।
उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनीः॥ ३॥

१. हे ओषधियो! तुम **रेवती**=आरोग्यरूप ऐश्वर्यशाली हो, **अनाधृषः**=रोगरूप शत्रुओं से धर्षित न होनेवाली हो, **सिषासवः**=हमारे लिए आरोग्य का सम्भजन करने की कामनावाली हो, **सिषासथ**=अतः हमारे लिए आरोग्य देने की इच्छा करो। २. इसप्रकार हमें स्वस्थ करके **उत**=निश्चय से **केशदृंहणीः स्थ**=केशों को दृढ़ करनेवाली हो **अथो**=और **ह**=निश्चय से **केशवर्धनीः**=केशों को बढ़ानेवाली हो। निर्बलता में केश झड़ने लगते हैं। ये औषध हमें नीरोग बनाकर दृढ़ केशोंवाला बनाते हैं।

भावार्थ—औषधों में अरोग्यरूप ऐश्वर्य का निवास है। इन्हें रोग पराजित नहीं कर पाते। यह रोगों को जीतने की कामनावाली है। ये हमें नीरोग बनाकर दृढ़ केशोंवाला व बढ़े हुए केशोंवाला बनाती है (गुडाकेश)।

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आदित्यरश्मिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हरयः सुपर्णाः

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यू ∫ दुः॥ १॥

१. **हरयः**=जल का हरण करनेवाली **सुपर्णाः**=उत्तमता से हमारा पालन व पूरण करनेवाली वायुएँ **अपः वसानः**=जल को धारण करती हुई **कृष्णम्**=सबका आकर्षण करनेवाले **नियानम्**=निश्चित गतिवाले **दिवम्**=सूर्य की ओर **उत्पतन्ति**=ऊपर उठती हैं। सूर्य-किरणों द्वारा वाष्पीभूत जल को लेकर वायुएँ ऊपर आकाश में उठती हैं। २. **ते**=वे वायुएँ **ऋतस्य**=जल के (rain water) **सदनात्**=सदन—अन्तरिक्ष से **आववृत्रन्**=पुनः वापस आती हैं, **आत् इत्**=और तब शीघ्र ही **घृतेन**=जल से **पृथिवीम् व्यूदुः**=पृथिवी को गीला कर देती हैं।

भावार्थ—सूर्य-किरणों से वाष्पीभूत जल को लेकर वायुएँ सूर्य की ओर ऊपर उठती हैं। वे ही वायुएँ अन्तरिक्ष से लौटती हुई जल बरसाती हैं और सारी पृथिवी को गीला कर डालती हैं।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाभुरिग्जगती** ॥

ऊर्जं च सुमतिं च

पयस्वतीः कृणुथाप ओषधीः शिवा यदेजथा मरुतो रुक्मवक्षसः।
ऊर्जं च तत्र सुमतिं च पिन्वत यत्रा नरो मरुतः सिञ्चथा मधु॥ २॥

१. हे **रुक्मवक्षसः मरुतः**=चमकती विद्युत् को वक्षस्थल पर धारण करनेवाले वायुओ! **यत्**=जब **एजथ**=तुम गति करते हो तब **अपः**=जलों को **पयस्वतीः**=वर्धनवाला **कृणुथ**=करते हो और **ओषधीः**=ओषधियों को **शिवः**=कल्याणकर करते हो। २. हे **नरः**=वृष्टि के प्रणेता **मरुतः**=वायुओ! आप **यत्र**=जहाँ **मधु सिञ्चथ**=मधु-तुल्य जलों का सेचन करते हो तत्र वहाँ **ऊर्जं च**=बल और प्राणशक्ति को **च**=तथा **सुमतिम्**=शोभन बुद्धि को ही **पिन्वत**=बरसाते हो। (पिवि सेचने)। आपके मधुर जलों से उत्पन्न ओषधियाँ बल व सुमति का वर्धन करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—वृष्टिजल से उत्पन्न ओषधियाँ हमारा आप्यायन करती हैं और कल्याणकर होती हैं। वृष्टिजलोत्पन्न अन्न से बल व बुद्धि का वर्धन होता है।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उदप्रुतः मरुतः

उदप्रुतो मरुतस्ताँ इयर्त वृष्टिर्या विश्वा निवतस्पृणाति।
एजाति ग्लहा कन्ये͡व तुन्नैरुं तुन्दाना पत्ये͡व जाया॥ ३॥

१. **उदप्रुतः मरुतः**=जल के भेजनेवाले वायुओ! **तान् इयर्त**=उन वृष्टिजलों को तुम भेजो **यः वृष्टिः विश्वा निवतस्पृणाति**=जो वृष्टि सब निम्न स्थलों को भर डालती है। **ग्लहा**=(माध्यमिका वाक्) विद्युत् **एरुं एजाति**=गतिशील मेघ को इसप्रकार कम्पित करती है **इव**=जैसे **पत्या तुन्ना कन्या**=पति से व्यथित कन्या माता-पिता को अथवा **इव**=जैसे **तुन्दाना जाया**=भय से व्यथित पत्नी पति को।

भावार्थ—मरुत् उस वृष्टि को प्राप्त कराएँ जिससे कि सब निम्नस्थल भर जाएँ। विद्युत् गर्जना से मेघ कम्पित-से हो उठें।

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वरेण्य क्रतु द्वारा अपों का आह्वान

सस्रुषीस्तदपसो दिवा नक्तं च सस्रुषीः। वरेण्यक्रतुरहमपो देवीरुप ह्वये॥ १॥

१. **वरेण्यक्रतुः अहम्**=प्रशंसित श्रेष्ठ कर्म व प्रज्ञानवाला मैं **तत् सस्रुषीः**=उन प्रवाहयुक्त जलधाराओं को **च**=और **दिवा नक्तम्**=दिन-रात **सस्रुषीः अपसः**=धाराओं में बहनेवाले जलों को **उपह्वये**=पुकारता हूँ। जल बह रहे हैं और बह ही रहे हैं। मैं भी निरन्तर कार्यक्रम में बहनेवाला—शान्तभाव से कर्त्तव्यकर्मों को करनेवाला बनूँ। २. मैं **देवीः अपः**=इन दिव्य गुणयुक्त जलों को पुकारता हूँ। इनके प्रयोग से मैं रोगों को जीतनेवाला बनूँ। नीरोग बनकर जलों की भाँति शान्तभाव से कर्त्तव्यधारा में बहनेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम जलों का स्मरण करें। जलों की भाँति शान्तभाव से कर्त्तव्यधारा में बहें। यही 'वरेण्यक्रतु' बनने का मार्ग है।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—त्रिपदागायत्री ॥

कर्मण्या आपः

ओता आपः कर्मण्या मुञ्चन्त्वितः प्रणीतये। सद्यः कृण्वन्त्वेतवे ॥ २ ॥

१. शरीरस्थ रेतः कण 'आपः' हैं। ये **आपः**=रेतःकण **कर्मण्याः**=हमें सब कर्मों में कुशल बनाते हैं जबकि ये **ओताः**=मेरे शरीर में व्याप्त हों। ये मुझे **प्रणीतये**=प्रकृष्ट मार्ग पर चलने के लिए **इतः मुञ्चन्तु**=इधर से मुक्त करें। मेरे शरीर में किसी प्रकार का रोग न हो। नीरोगता में ही आगे बढ़ना सम्भव है। २. ये रेतःकण **सद्यः**=शीघ्र ही **एतवे कृण्वन्तु**=मुझे गति के लिए करें। इनके रक्षण के द्वारा मैं शक्तिशाली बनूँ और क्रियाशील होऊँ।

भावार्थ—शरीर में रेतःकणों के रूप में व्याप्त ये जल मुझे नीरोग बनाकर उन्नति-पथ पर ले-चलें और मुझे क्रियामय जीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—परोष्णिक् ॥

क्रियाशीलता व कल्याण

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः।
शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥ ३ ॥

१. **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक प्रकाशमय प्रभु की **सवे**=प्रेरणा में **मानुषाः**=विचारशील पुरुष **कर्म कृण्वन्तु**=अपने कर्त्तव्यकर्मों को करनेवाले हों। २. इस क्रियाशीलता के होने पर **नः**=हमारे लिए **अपः**=जल व **ओषधीः**=ओषधियाँ **शम्**=शान्ति देनेवाली व **शिवाः**=कल्याण करनेवाली **भवन्तु**=हों।

भावार्थ—प्रभु की अनुज्ञा में कर्म करने पर जल हमें शान्ति देनेवाले होते हैं और ओषधियाँ कल्याणकारिणी होती हैं।

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

समुद्रजल हृद्द्योतभेषज

हिमवतः प्र स्रवन्ति सिन्धौ समह सङ्गमः।
आपो ह मह्यं तद्देवीर्ददन्हृद्द्योतभेषजम् ॥ १ ॥

१. **आपः**=जल **हिमवतः प्रस्रवन्ति**=हिमाच्छादित पर्वतों से बहते हैं और **अह**=निश्चय से **सिन्धौ**=समुद्र में **सङ्गमः**=इनका एकत्र मेल होता है। ये विविध पर्वतों से बहनेवाले जल जब समुद्र में एकत्र होते हैं तब उनमें कितनी ही औषधों के गुण आ जाते हैं। २. अतः **तत्**=ये **देवीः आपः**=दिव्य गुणयुक्त जल **ह**=निश्चय से **मह्यम्**=मेरे लिए **हृद्द्योतभेषजम् ददन्**=हृदय के जलन की औषध दें। इन जलों के प्रयोग से हृदय की जलन शान्त हो।

भावार्थ=हिमाच्छादित पर्वतों से बहकर समुद्र में एकत्र होनेवाले जल हृदय की जलन को शान्त करने के सर्वोत्तम औषध हैं।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

जल से जलन का निराकरण

यन्मे अक्ष्योरादिद्योत पार्ष्ण्योः प्रपदोश्च यत्।
आपस्तत्सर्वं निष्करन्भिषजां सुभिषक्तमाः ॥ २ ॥

१. **यत्**=जो रोग **मे**=मेरी **अक्ष्योः**=आँखों में **पार्ष्णयोः**=एड़ियों में **च**=और **यत्**=जो **प्रपदोः**=पाँव के अग्रभाग में **आदिद्योत**=जलन-सी पैदा करता है, **तत् सर्वम्**=उस सब रोग को **आपः**=जल **निष्करन्**=दूर करते हैं। २. ये जल वस्तुतः **भिषजां सुभिषक्तमाः**=वैद्यों में सर्वोत्तम वैद्य हैं।

भावार्थ—किन्हीं रोगों में आँखें, एड़ियों व पाँवों के अग्रभाग में जलन उत्पन्न होती है। जलों के प्रयोग से यह जलन दूर की जाती है। जल इसके सर्वोत्तम औषध हैं।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सिन्धुपत्नीः, सिन्धुराज्ञीः

सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः सर्वा या नद्य१ स्थन।
दत्त नस्तस्य भेषजं तेना वो भुनजामहै॥ ३॥

१. **सिन्धुपत्नीः**=समुद्र की पत्नीरूप **सिन्धुराज्ञीः**=विशाल जल प्रवाहों से दीप्त **याः**=जो **सर्वाः नद्यः**=सब नदियाँ **स्थन**=हैं, वे **नः**=हमारे लिए **तस्य**=उस रोग के—जलन उत्पन्न करनेवाले रोग के **भेषजं दत्त**=औषध को प्राप्त कराएँ। २. **तेन**=उस औषध के हेतु से ही हम **वः भुनजामहै**=आपका सेवन (उपयोग) करते हैं। नदी-जल में स्नान कितने ही रोगों का निवारण करनेवाला होता है। बड़ी-बड़ी नदियों में कितने ही जल-प्रवाहों का सङ्गम होता है। पर्वतों से बहते हुए ये प्रवाह अपने जलों में विविध औषधों के गुणों से युक्त होते हैं। बड़ी नदियों में जलों में सब गुण उपलब्ध हैं। ये नदियाँ समुद्र की मानो पत्नियाँ हैं, अपने प्रवाह से शोभायमान हैं।

भावार्थ—बड़ी-बड़ी नदियों का जल विविध औषध-गुणों को लिये हुए होता है। उसका सेवन हमें नीरोग बनाता है।

विशेष—नदी-जलों के प्रयोग से अपने शरीर को नीरोग बनाकर जीवन को सुखी बनानेवाला 'शुनःशेप' (शुनं सुखम्) अगले सूक्त का ऋषि है।

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**मन्याविनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'मन्या, ग्रैव्य व स्कन्ध्य' नाड़ियों के विकार का निराकरण

पञ्च च याः पञ्चाशच्च संयन्ति मन्या अभि।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव॥ १॥
सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव॥ २॥
नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव॥ ३॥

१. **याः**=जो **पञ्च च पञ्चाशत् च**=पाँच और पचास पीड़ाएँ **मन्याः अभि**=गले के पृष्ठ भाग की नाड़ियों में **संयन्ति**=व्याप्त होती हैं, **ताः सर्वाः**=वे सब **इतः**=यहाँ से इसप्रकार **नश्यन्तु**=नष्ट हो जाएँ, **इव**=जैसे विद्वानों के सामने **अपचितां वाकाः**=मूर्खों के वचन। २. **याः**=जो **सप्त च सप्ततिः च**=सात और सत्तर पीड़ाएँ **ग्रैव्याः अभि**=गले की नाड़ियों में **संयन्ति**=व्याप्त हो जाती हैं, वे सब यहाँ से उसी प्रकार नष्ट हो जाएँ **इव**=जैसेकि ज्ञानियों के सामने **अपचिताम् वाकाः**=मूर्खों के वचन नष्ट हो जाते हैं। **याः**=जो **नव च नवतिश्च**=नौ और

नव्वे पीड़ाएँ **स्कन्ध्याः अभि**=कन्धों की नाड़ियों में **संयन्ति**=व्याप्त हो जाती हैं, वे सब यहाँ से इसप्रकार नष्ट हो जाएँ जैसेकि ज्ञानियों के सामने मूर्खों के वचन नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—'मन्या, ग्रैव्य व स्कन्ध्य' नाड़ियाँ में विकार के कारण गण्डमाला का रोग प्रकट होता है। नाना प्रकार की फुंसियों या गिलटियों से बना यह रोग जल के ठीक प्रयोग से दूर किया जाए, तभी जीवन सुखी होगा।

विशेष—शरीर के रोगों की भाँति मानस रोगों को दूर करनेवाला यह व्यक्ति 'ब्रह्मा' बनता है—बड़ा—एकदम निष्पाप। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**पाप्मा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पाप का अभिभव

अव मा पाप्मन्त्सृज वशी सन्मृडयासि नः।
आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन्धेह्यविहुतम्॥ १॥

१. हे **पाप्मन्**=पाप के भाव! **मा**=मुझे **अवसृज**=दूर से ही छोड़ दे। **वशी सन्**=पूर्णरूप से वश में आया हुआ तू **नः मृडयासि**=हमें सुखी कर। पाप के भाव को पूर्णरूप से वशीभूत करने पर ही सुख होना सम्भव है। २. हे **पाप्मन्**=पाप के भाव! **मा**=मुझे **अविहुतम्**=सरल, निष्कपटरूप में **भद्रस्य लोके**=सुख व कल्याण के लोक में **आधेहि**=स्थापित कर।

भावार्थ—पापभाव को पूर्णरूप से वश में करके निष्कपट जीवन बिताते हुए हम सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**पाप्मा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पाप के छोड़ने का दृढ़ निश्चय

यो नः पाप्मन्न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम्।
पथामनु व्यावर्तनेऽन्यं पाप्मानु पद्यताम्॥ २॥

१. हे **पाप्मन्**=पापभाव! **यः**=जो तू **नः**=हमें **न जहासि**=नहीं छोड़ता है, **तं त्वा**=उस तुझे **वयम्**=हम ही **उ**=निश्चय से **जहिमः**=छोड़ देते हैं। पाप को छोड़ने का दृढ़ निश्चय ही सर्वोत्तम व्रत है। २. **पथाम् अनु व्यावर्तने**=(पथ गतौ) गतिशील इन्द्रियों को अनुकूल कर्मों में लौटा लेने पर—उचित कर्मों में लगाने के द्वारा—इन्द्रियों को निरुद्ध कर लेने पर **पाप्मा**=यह पापभाव **अन्यं अनुपद्यताम्**=इन्द्रिय-निरोध न करनेवाले दूसरे ही किसी व्यक्ति को प्राप्त हो।

भावार्थ—पाप हमें नहीं छोड़ जाएगा, इसे तो हमें ही छोड़ना होगा। इन्द्रियों को अनुकूल कार्यों में व्यापृत रखना ही पाप से बचने का उपाय है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**पाप्मा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सहस्राक्षः अमर्त्य

अन्यत्रास्मन्न्यु ∫ च्यतु सहस्राक्षो अमर्त्यः।
यं द्वेषाम तमृच्छतु यमु द्विष्मस्तमिज्जहि॥ ३॥

१. यह **सहस्राक्षः**=(सहस्रं=सहस्वत्—निरु० ३.२.४) इन्द्रियों पर प्रबल होनेवाले **अमर्त्यः**=नष्ट न होनेवाला—जिसका विनाश बड़ा कठिन है—वह पाप **अस्मत्**=हमसे **अन्यत्र**=अन्य स्थान में ही **न्युच्यतु**=निवासवाला हो। २. यह पाप तो **तम् ऋच्छतु**=उसे प्राप्त हो **यम्**=जिससे **द्वेषाम**=हम

प्रीति नहीं करते। **उ**=निश्चय से **यं द्विष्मः**=जिससे हम प्रीति नहीं करते, हे पाप्मन्! **तम् इत्**=उसे ही तू **जहि**=नष्ट करनेवाला हो—'**हिंस्त्रः स्वपापेन विहिंसितः खलु साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यते।**'

भावार्थ—यह प्रबल पाप हमसे दूर ही निवास करे। जो सबका अप्रिय है, वही इस पाप से नष्ट किया जाए।

विशेष—अपने से पाप को दूर करनेवाला, अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करनेवाला यह 'भृगु' अगले तीन सूक्तों का ऋषि है। यह सर्वनियन्ता प्रभु को 'यम' के रूप में स्मरण करता है।

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

कपोतः, निर्ऋत्या: दूतः

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥ १॥

१. हे **देवाः**=ज्ञानियो! वह **क-पोतः**=आनन्द का पोत (जलयान=जहाज़) **इषितः**=(इषितं अस्य अस्तीति) प्रेरणा देनेवाला, **निर्ऋत्याः दूतः**=दुर्गति को उपतप्त करके दूर करनेवाला प्रभु **यत्**=जब **इच्छन्**=हमारा हित चाहता हुआ **इदम् आजगाम्**=इस हमारे हृदयदेश में प्राप्त होता है तब **तस्मै**=उस प्रभु के लिए हम **अर्चाम**=पूजन करते हैं और इसप्रकार **निष्कृतिं कृणवाम**=सब पापों का बहिष्कार करते हैं। २. प्रभुपूजन के द्वारा हम पापों को अपने से दूर करते हैं और इसप्रकार यही चाहते हैं कि **नः**=हमारे **द्विपदे**=दो पाँववाले मनुष्यों के लिए **शम् अस्तु**=शान्ति हो और **चतुष्पदे शम्**=चार पाँवोंवाले पशुओं के लिए भी शान्ति हो।

भावार्थ—प्रभु आनन्द के समुद्र हैं, हमें कर्तव्यकर्म की प्रेरणा देनेवाले हैं, कष्टों को दूर करनेवाले हैं। हम हृदय में उनका अर्चन करें और इसप्रकार अपने कष्टों को दूर करते हुए शान्ति प्राप्त करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

शिवः शकुनः

शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहं नः।
अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु॥ २॥

१. हे **देवाः**=ज्ञानियो! यह **इषितः**=प्रेरणा प्राप्त करानेवाला **क-पोतः**=आनन्द का पोत प्रभु **नः**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण करानेवाला **अनागाः**=हमें निष्पाप बनानेवाला **अस्तु**=हो। **नः**=हमारे **गृहम्**=घर को **शकुनः**=यह शक्ति-सम्पन्न करे। प्रभु का उपासन करते हुए हमारे घर के सब व्यक्ति शक्ति-सम्पन्न हों। २. वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **हि**=निश्चय से **विप्रः**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाला है, वह **नः**=हमारी **हविः जुषताम्**=हवि का प्रीतिपूर्वक सेवन करे। हम यज्ञशील हों और प्रभु हमारे यज्ञों को स्वीकार करें। यज्ञशील होने पर **पक्षिणी**=(पक्ष परिग्रहे) परिग्रह-सम्बन्धी **हेतिः**=लोभरूप वज्र **नः**=हमें **परिवृणक्तु**=छोड़नेवाला हो। हमपर लोभरूप वज्र का प्रहार न हो।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरण करें, प्रभु हमारा कल्याण करते हैं। हमें शक्तिशाली व निष्पाप बनाते हैं। यह प्रभु-स्मरण ही हमें यज्ञशील बनाकर लोभ-वज्र के प्रहार से बचाता है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—यमः; निर्ऋतिः ॥ छन्दः—जगती ॥

प्रभु स्मरण व यज्ञशीलता

हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्री पदं कृणुते अग्निधाने।
शिवो गोभ्य उत पुरुषेभ्यो नो अस्तु मा नो देवा इह हिंसीत्कपोतः॥ ३॥

१. प्रभु-स्मरण होने पर **पक्षिणी हेतिः**=परिग्रह-सम्बन्धी लोभ-वज्र—लोभवृत्तिरूप वज्र **अस्मान्**=हमें **न दभाति**=हिंसित नहीं करता। **आष्ट्री**=(अश् व्याप्तौ) कर्मों में व्याप्त रहनेवाला यह प्रभुभक्त **अग्निधाने**=(हविर्धाने) अग्निहोत्र करने के स्थानभूत कमरे में **पदं कृणुते**=पग रखता है, अर्थात् सदा यज्ञशील बनता है। ऐसा होने पर **नः गोभ्यः**=हमारी गौओं के लिए **उत**=और **पुरुषेभ्यः**=घर के सब व्यक्तियों के लिए **शिवः अस्तु**=वे प्रभु कल्याण करनेवाले हों। २. हे **देवाः**=ज्ञानी पुरुषो! **नः**=हमें **क-पोतः**=वे आनन्द के समुद्र प्रभु **इह**=इस जीवन में **मा हिंसीत्**=हिंसित न करें। हम प्रभु से दण्डनीय न होकर प्रभु से अनुग्रहणीय हों।

भावार्थ—लोभ से ऊपर उठकर हम यज्ञशील बनें। यह यज्ञशीलता हमारा कल्याण करेगी और हमें प्रभु से अनुग्रहणीय बनाएगी।

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—यमः; निर्ऋतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

कपोतम्, प्रणोदम्

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयामः।
संलोभयन्तो दुरिता पदानि हित्वा न ऊर्जं प्र पदात्पथिष्ठः॥ १॥

१. **ऋचा**=स्तुति के द्वारा **प्रणोदम्**=प्रकृष्ट प्रेरणा प्राप्त करानेवाले **क-पोतम्**=आनन्द-पोत के समान प्रभु को **नुदत**=अपने हृदय में प्रेरित करो। प्रभु के सम्पर्क में **मदन्तः**=आनन्द का अनुभव करते हुए **इषम्**=प्रभु-प्रेरणा को तथा **गाम्**=इस वेदवाणी को **परिनयामः**=अपने साथ परिणत करते हैं। प्रभु-प्रेरणा व प्रभुवाणी को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होते हैं। २. इसप्रकार हम दुरिता **पदानि**=अशुभ गतियों को **संलोभयन्तः**=विनष्ट करनेवाले होते हैं। **नः**=हमारे लिए **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **हित्वा**=धारण करके **पथिष्ठः प्रपदात्**=मार्ग पर चलानेवालों में सर्वश्रेष्ठ प्रभु हमारे आगे चलें। प्रभु हमारे नेता हों। उस अग्नि के नेतृत्व में हम भी अग्नि बन पाएँ।

भावार्थ—वे प्रभु आनन्द के पोत हैं। हमें प्रेरणा देनेवाले हैं। हम प्रभु-प्रेरणा व प्रभु वाणी को प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों। अशुभ गतियों को छोड़कर बल व प्राण को धारण करके प्रभु के अनुयायी बनें। प्रभु ही हमारे नेता हों।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—यमः; निर्ऋतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

गो परिणय

परीमे३ ग्निमर्षत परीमे गामनेषत। देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ आ दधर्षति॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु का अनुसरण करनेवाले **इमे**=ये व्यक्ति **अग्निं परि अर्षत**=प्रभु की ओर गतिवाले होते हैं। **इमे**=ये **गाम्**=वेदवाणी को **परि अनेषत**=परिणीत करते हैं। वेदवाणी को अपनानेवाले होते हैं। २. इसप्रकार ये **देवेषु**=दिव्य गुणों में **श्रवः**=यश को **अक्रत**=करनेवाले होते हैं, दिव्य गुणों को धारण करके यशस्वी बनते हैं। **कः**=अब कौन **इमान्**=इन्हें **आ दधर्षति**=धर्षित कर सकता है? काम-क्रोध, लोभ आदि कोई भी शत्रु इन्हें आक्रान्त करनेवाला

नहीं होता।

भावार्थ—हम प्रभु की ओर चलें, वेदवाणी को परिणीत करें, दिव्य गुणों से यशस्वी बनें और काम आदि से अजय्य हों।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्रथमः मृत्युः (आचार्यः)

यः प्रथमः प्रवतमाससाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः।
यो ३स्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥ ३॥

१. **यः**=जो **प्रथमः**=(मृत्युः=आचार्यः) सर्वप्रथम आचार्य है—'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्', **प्रवतम् आससाद**=जिसने सर्वोच्च स्थान को प्राप्त किया है, **बहुभ्यः पन्थाम् अनुपस्पशानः**=जो अनेक मनुष्यों के लिए मार्ग-प्रदर्शन कर रहे हैं। वे एक प्रभु अनेक जीवों का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं। २. **यः**=जो **अस्य**=इन **द्विपदः**=दो पैरवालों व **यः चतुष्पदः**=जो चार पैरवालों का—मनुष्यों व पशुओं का **ईशे**=शासन करनेवाले हैं—ऐश्वर्य देनेवाले हैं, **तस्मै**=उस **यमाय**=सर्वनियन्ता (प्रथमाय) **मृत्यवे**=सर्वप्रथम आचार्य प्रभु के लिए **नमः अस्तु**=प्रणाम हो।

भावार्थ—प्रभु प्रथम आचार्य हैं, सर्वोच्च स्थान पर स्थित हैं, हम सबके लिए मार्ग-दर्शन करते हैं। सब पशु-पक्षियों के ईश हैं। उस सर्वनियन्ता प्रभु के लिए हम प्रणाम करते हैं।

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराट्** ॥

उलूकः

अमून्हेतिः पतत्रिणी न्ये ∫ तु यदुलूको वदति मोघमेतत्।
यद्वा कपोतः पदमग्नौ कृणोति॥ १॥

१. **पतत्रिणी**=पतन की कारणभूत **हेतिः**=हनन (विनाश) करनेवाली यह लोभवृति **अमून्**=हमसे दूरस्थ हमारे शत्रुओं को **नि एतु**=निश्चय से प्राप्त हो। लोभवृति के शिकार हमारे शत्रु ही हों। हम इस लोभवृत्ति से बचे ही रहें। २. **यत्**=जब **उलूकः**=(उच समवाये) प्रभु से समवायवाला—स्तवन द्वारा प्रभु से मेलवाला यह स्तोता **वदति**=प्रभु के नामों का उच्चारण करता है तब **एतत् मोघम्**=सब शत्रुओं का आक्रमण व्यर्थ होता है, **यत् वा**=अथवा जब **कपोतः**=आनन्द का पोत प्रभु **अग्नौ**=प्रगतिशील जीवन में **पदम् कृणोति**=पग रखता है, अर्थात् जब कपोत इस अग्नि को प्राप्त होता है। प्रभु की उपस्थिति में उपासक 'काम, क्रोध, लोभ' आदि से आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—हम प्रभु से मेलवाले बनकर प्रभु के नामों का उच्चारण करें, तब वे आनन्द के पोत प्रभु हमारे हृदयों में आसीन होंगे और तब लोभ आदि शत्रुओं का हमपर आक्रमण न हो सकेगा।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

निर्ऋति के दो दूत

यौ ते दूतौ निर्ऋत इदमेतोऽप्रहितौ प्रहितौ वा गृहं नः।
कपोतोलूकाभ्यामपदं तदस्तु॥ २॥

१. शरीर में 'रोग' तथा मन में 'काम-क्रोध' निर्ऋति (दुर्गति) के दो दूत हैं। हे **निर्ऋते**=

दुर्गते! **यौ**=जो **ते**=तेरे **दूतौ**=रोग व वासनारूप दूत **अप्रहितौ**=अत्यन्त (प्र) अहितकर हैं **वा**=और **प्रहितौ**=किन्हीं कर्मफलों के रूप में भेजे हुए ये दूत **इदं नः गृहम्**=इस हमारे घर को **एतः**=प्राप्त होते हैं। **कपोत+उलूकाभ्याम्**=आनन्द के पोत प्रभु के द्वारा तथा प्रभु के साथ मेल करनेवाले स्तोता के द्वारा **तत्**=वह **अपदम् अस्तु**=पैर जमालेनेवाला न हो—हमारे शरीररूप गृह में रोग व वासनाएँ दृढ़मूल न हो जाएँ। २. इसका उपाय यही है कि हम उस आनन्द के पोत प्रभु से अपना मेल बनाएँ। प्रभु कपोत हैं तो मैं उलूक बनूँ। बस, फिर यहाँ निर्ऋति के दूतों की जड़ न जम पाएगी।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण करते हुए हम रोगों व वासनाओं से अपने को बचा पाएँ।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाविराडष्टिः** ॥

अवैरहत्याय, सुवीरतायै

अवैरहत्यायेदमा पपत्यात्सुवीरताया इदमा ससद्यात्।
पराङेव परा वद पराचीमनु संवतम्।
यथा यमस्य त्वा गृहेऽरसं प्रतिचाकशानाभूकं प्रतिचाकशान्॥ ३॥

१. ये कपोत (आनन्द का पोत) प्रभु **इदम्**=इस हमारे हृदय में **आपपत्यात्**=प्राप्त हों, जिससे **अवैरहत्याय**=वैर-विरोध के कारण हमारी हत्या व विनाश न हो। हृदय में प्रभु की स्थिति होने पर हमारे हृदय वैर-भाव से रहित होंगे। ये वैर-भाव ही हमारा विनाश का कारण बनते हैं। वे प्रभु **सुवीरतायै**=उत्तम वीरता के लिए **इदम् आससद्यात्**=हमारे हृदय में आसीन हों। हृदय में प्रभु की स्थिति हमें शक्ति-सम्पन्न बनाती है। २. हे वैर-भाव! तू **पराङ् एव**=दूर ही जानेवाला हो। **पराचीं संवतम् अनु**=(परा+अञ्च्, सं+वन्) उस परागतिरूप प्रभु (सा काष्ठा सा परा गतिः) को प्राप्त करानेवाली संभक्ति (सम्भजन) का लक्ष्य करके **परावद**=हमसे दूर रहकर ही बात कर। वैर हमारे समीप आनेवाला न हो। ३. **यथा**=जिससे **यमस्य गृहे**=सर्वनियन्ता प्रभु के गृह में—जिस गृह में उस 'यम' का पूजन होता है, उसमें **त्वा**=हे वैर! तुझे **अरसम्**=निर्बल व निःसार **प्रतिचाकशान्**=देखें, **आभूकम्**=(empty, powerless) थोथा, जर्जर-सामर्थ्यशून्य **प्रतिचाकशान्**=देखें।

भावार्थ—प्रभु हमें हृदय में प्राप्त हों, हमारे हृदय में आसीन हों, जिससे हम वैर-भावों से विनष्ट न हो जाएँ, अपितु उत्तम वीर बनें। वैर हमसे दूर रहे। वैर रहते प्रभुपूजन थोड़े ही होता है? प्रभुपूजन होने पर वैर जर्जरीभूत हो जाता है।

विशेष—वैर-भाव से ऊपर उठकर अपना भरण करनेवाले ये लोग 'उपरिबभ्रवः' कहलाते हैं। ये ही अगले दो सूक्तों के ऋषि हैं।

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**शमी** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

मधुना संयुतं यवम्

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः।
इन्द्र आसीत्सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन्मरुतः सुदानवः॥ १॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषों ने **इमम्**=इस मधुना **संयुतम्**=माधुर्य से युक्त **यवम्**=जौ को **सरस्वत्याम्**=ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता के निमित्त तथा **मणौ अधि**=शरीरस्थ वीर्यमणि के निमित्त—वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित रखने के हेतु से **अचर्कृषुः**=कृषि द्वारा उत्पन्न किया

है। जौ ही देवों का भोजन है। '**यु मिश्रणामिश्रणयो:**' से बना 'यव' शब्द यह संकेत कर रहा है कि यह 'बुराइयों को दूर करनेवाला व अच्छाइयों को मिलानेवाला है।' २. इस यव की उत्पन्न करनेवालों में **सीरपति:**=हल का स्वामी **इन्द्र:**=इन्द्र **आसीत्**=था। इस यव का उत्पादक जितेन्द्रिय पुरुष होता है। **शतक्रतु:**=यह शत वर्षपर्यन्त यज्ञमय जीवनवाला हुआ। यव सात्त्विक भोजन है। इस सात्त्विक आहार से बुद्धि की सात्त्विकता के कारण जीवन को यज्ञमय बनाना स्वाभाविक ही है। **कीनाश:**=श्रमपूर्वक हल चलानेवाले किसान, **मरुत:**=मितरावी—कम बोलनेवाले—क्रियाशील पुरुष **आसन्**=थे। ये **सुदानव:**=अच्छी प्रकार बुराइयों को काटनेवाले हुए (दाप लवने)। आहार के शुद्ध होने पर अन्त:करण की पवित्रता से सब वासना-ग्रन्थियों का प्रणाश हो ही जाता है।

भावार्थ—जौ ही सर्वोत्तम अन्न है। यह उत्तम मस्तिष्क का निर्माण करता हुआ ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है। वीर्य-रक्षण में यह सहायक है। इसका सेवन करनेवाला 'जितेन्द्रिय, यज्ञशील, मितरावी व अशुभों को काटनेवाला' बनता है।

ऋषि:—**उपरिबभ्रव:** ॥ देवता—**शमी** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

शमी

यस्ते मदो॑ऽवके॒शो विके॒शो येना॑भि॒हस्यं॒ पुरु॑षं कृ॒णोषि॑।
आ॒रात्त्वद॒न्या वना॑नि वृक्षि॒ त्वं श॑मि श॒तव॑ल्शा॒ वि रो॑ह॥ २॥

१. हे **शमि**=शमीवृक्ष! **य:**=जो **ते**=तेरा **मद:**=आनन्ददायक रस है, वह **अवकेश:**=बालों को बढ़ानेवाला है, प्रयोक्ता को लम्बे लटकते हुए बालोंवाला बनाता है, **विकेश:**=यह उसे विशिष्ट केशोंवाला बनाता है। **येन**=क्योंकि तू अपने रस से **पुरुषम्**=पुरुष को **अभिहस्यम्**=शरीर व बुद्धि दोनों दृष्टिकोणों से (अभि) विकासवाला (हस्) **कृणोषि**=करता है, अत: **त्वत् अन्य:**=तुझसे भिन्न **वनानि**=वृक्षों को **आरात् वृक्षि**=दूर-दूर तक काट डालता हूँ। २. हे शमि! **त्वम्**=तू अब **शतवल्शा विरोह**=सैकड़ों शाखाओंवाली होती हुई विशिष्टरूप से प्रादुर्भूत हो।

भावार्थ—शमीवृक्ष का रस मानव शक्तियों के विकास के लिए उपयोगी है, अत: शमीवृक्ष के आसपास के अन्य वृक्षों को काटकर इसके विकास के लिए यत्नशील होना चाहिए।

ऋषि:—**उपरिबभ्रव:** ॥ देवता—**शमी** ॥ छन्द:—**चतुष्पदाशङ्कुमत्यनुष्टुप्** ॥

'केशवर्धनकारी' शमीरस

बृह॑त्पलाशे॒ सुभ॑गे॒ वर्ष॑वृद्ध॒ ऋता॑वरि।
मा॒तेव॑ पु॒त्रेभ्यो॑ मृड॒ केशे॑भ्यः शमि॥ ३॥

१. हे **शमि**=शमीवृक्ष! तू **केशेभ्य:**=बालों के लिए उसी प्रकार **मृड**=सुख करनेवाली हो, **इव**=जैसे **माता पुत्रेभ्य:**=माता पुत्रों को सुखी करती है। माता पुत्रों की वृद्धि का कारण बनती है, तू बालों को बढ़ानेवाली हो। २. तू **बृहत् पलाशे**=बढ़े हुए पत्तोंवाली है, **सुभगे**=उत्तम ऐश्वर्यशाली—शरीर को सुन्दर बनानेवाली **वर्षवृद्धे**=वृष्टिजल से वृद्धि को प्राप्त हुई-हुई व **ऋतावरि**=जलवाली है—रसवाली है।

भावार्थ—शमीवृक्ष का रस बालों का इसप्रकार वर्धन करता है, जैसे माता पुत्रों का वर्धन करती है।

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

गौ-पृश्निः

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥ १॥

१. **अयम्**=यह—गतसूक्त के अनुसार यवादि सात्त्विक अन्नों का सेवन करनेवाला व्यक्ति **गौः**=(गच्छति) क्रियाशील होता है, **पृश्निः**=(संस्प्रष्टा भासाम्—नि० २.१४) ज्ञान-ज्योति का स्पर्श करनेवाला होता है। यह **आ अक्रमीत्**=समन्तात् अपने कर्त्तव्यकर्मों में गतिवाला होता है। यह **मातरम्**=वेदमाता को **पुरः**=सदा अपने सामने स्थापित करके उसकी प्रेरणा के अनुसार **असदत्**=गतिवाला होता है। आगमदीप-दृष्ट मार्ग से ही गति करता है। २. इसप्रकार शास्त्र प्रमाणक बनकर—शास्त्र विधान के अनुसार कार्यों को करता हुआ यह **स्वः पितरम्**=उस प्रकाशमय पिता प्रभु की ओर **प्रयन्**=जानेवाला होता है।

भावार्थ—हम गतिशील बनें, ज्ञानी बनें। वेद के अनुसार कर्म करते हुए प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

महिषः

अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः। व्यख्यन्महिषः स्वः॥ २॥

१. **प्राणात्**=प्राण से और **अपानतः**=अपान से, अर्थात् प्राणापान की साधना के द्वारा **अस्य**=इस साधक के **अन्तः**=अन्दर-हृदयदेश में **रोचना**=दीप्ति **चरति**=विचरती है। प्राणायाम द्वारा इसका अन्तःकरण दीप्त हो उठता है। २. यह **महिषः**=प्रभुपूजन करनेवाला साधक **स्वः**=स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को **व्यख्यत्**=देखता है। यह ज्ञानदीप्त हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा दीप्त हृदयदेश में प्रभु की ज्योति को देखनेवाले बनें।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वाक् पतङ्ग

त्रिंशद्धामा वि राजति वाक्पतङ्गो अशिश्रियत्। प्रति वस्तोरहर्द्युभिः॥ ३॥

१. यह **वाक्**=प्रभु के नामों व स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाला **पतङ्ग**=(पतन गच्छति) स्फूर्ति से क्रियाओं को करनेवाला साधक **अशिश्रियत्**=(श्री सेवायाम्) प्रभु का उपासन करता है और **प्रतिवस्तोः**=प्रतिदिन **अहः द्युभिः**=दिन की दीप्तियों से, न कि रात्रि के अन्धकारों से **त्रिंशद्धाम**=तीसों धाम—आठों प्रहर **विराजति**=देदीप्यमान होता है।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें, क्रियाशील बनें। यही चमकने का मार्ग है। प्रकाशमय जीवन में पाप नहीं होते।

विशेष—यह यज्ञमय जीवनवाला पुरुष अग्निहोत्र आदि यज्ञों में प्रवृत्त हुआ-हुआ रोगकृमियों का संहार करनेवाला 'चातन' कहलाता है। स्वस्थ एवं शान्त वृत्तिवाला बनकर यह 'अथर्वा' न डाँवाडोल होता है। अगले सूक्त के प्रथम दो मन्त्रों का ऋषि 'चातन' है, तीसरे का 'अथर्वा'।

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अग्निहोत्र द्वारा रक्षोदहन

अन्तर्दावे जुहुता स्वे३तद्यातुधानक्षयणं घृतेन।
आराद्रक्षांसि प्रति दह त्वमग्ने न नो गृहाणामुप तीतपासि॥ १॥

१. **अन्तः दावे**=अग्नि में **एतत्**=इस **यातुधानक्षयणम्**=पीड़ाकर रोग-कृमियों को नष्ट करनेवाली हवि को **घृतेन**=घृत के साथ **सुजुहुत**=सम्यक् आहुत करो। २. हे **अग्ने**=यज्ञाग्ने! **त्वम्**=तू **रक्षांसि**=रोगकृमियों को **आरात् प्रतिदह**=सुदूर दग्ध कर दे और इसप्रकार **नः गृहाणाम्**=हमारे घरों का **न उपतीतपासि**=सन्तापक नहीं होता है। अग्नि रोगकृमियों के विनाश के द्वारा हमारे घरों को स्वस्थ वातावरणवाला बनाता है।

भावार्थ—हम अग्नि में घृत के साथ कृमिनाशक हविर्द्रव्यों की आहुत करें। यह अग्नि रोगकृमियों के विनाश के द्वारा हमें सुखी करेगा।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

रोगकृमि-विनाश

रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत्पिशाचाः पृष्टीर्वोऽपि शृणातु यातुधानाः।
वीरुद्वो विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत्॥ २॥

१. हे **पिशाचाः**=हमारे मांस को खा जानेवाले रोगकृमियो! **रुद्रः**=इस रोगद्रावक यज्ञाग्नि ने **वः ग्रीवाः**=तुम्हारी गर्दनों को **अशरैत्**=हिंसित किया है। हे **यातुधानाः**=यातना देनेवाले कृमियो! यह यज्ञाग्नि **वः**=तुम्हारी **पृष्टीः अपि शृणातु**=पसलियों को भी तोड़ दे। २. **विश्वतो वीर्या वीरुत्**=यह अनन्तवीर्य—रोगों को कम्पित करने की शक्तिवाली—लतारूप ओषधि **वः**=तुम रोगकृमियों को **यमेन सम् अजीगमत्**=मृत्यु के साथ सङ्गत करे—तुम्हें समाप्त करनेवाली हो।

भावार्थ—यज्ञाग्नि रोगकृमियों को ध्वंस करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'ज्ञान, ऐक्य, अजय्यता', मिथो विघ्नाना उपयन्तु मृत्युम्

अभयं मित्रावरुणाविहास्तु नोऽर्चिषात्रिणो नुदतं प्रतीचः।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम्॥ ३॥

१. हे **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता के दिव्य भावो! **इह**=यहाँ **नः**=हमारे राष्ट्र में **अभयम् अस्तु**=निर्भयता हो, किसी प्रकार के शत्रु के आक्रमण का भय न हो। ये मित्र और वरुण—सब प्रजाओं का परस्पर ऐक्य और अविद्वेष **अर्चिषा**=तेजस्विता की ज्वाला से **अत्रिणः**=हमें खा जानेवाले शत्रुओं को **प्रतीचः नुदतम्**=पराङ्मुख करके भगा दें। प्रजाओं का परस्पर ऐक्य राष्ट्र को प्रबल व तेजस्वी बनाता है। उस तेज की ज्वाला में शत्रु भस्म हो जाते हैं। राष्ट्र में ऐक्य होने पर शत्रु आक्रमण का साहस ही नहीं करते। २. हमारे शत्रु **ज्ञातारं मा विदन्त**=ज्ञानी को मत प्राप्त करें—इन्हें कोई ज्ञानी नेता ही उपलब्ध न हो, **मा प्रतिष्ठाम्**=ये प्रतिष्ठा को प्राप्त न करें, इन्हें विजय का सम्मान प्राप्त न हो। ये **मिथः विघ्नानाः**=परस्पर एक-दूसरे को विहत करते हुए **मृत्युम् उपयन्तु**=मृत्यु को प्राप्त करें।

भावार्थ—हम में ऐक्य हो। यह ऐक्य हमें शत्रुओं के लिए अजय्य बना दे। हमारे शत्रु

परस्पर लड़ते-झगड़ते स्वयं समाप्त हो जाएँ। इन्हें कोई ज्ञानी, एकता का बल प्राप्त करानेवाला नेता न मिले।

विशेष—शत्रुओं का संघात करनेवाला यह व्यक्ति 'जाटिकायन' बनता है (जट संघाते)। यह प्रभु-स्तवन करता हुआ कहता है—

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**जाटिकायनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वनं 'स्व'

यस्येदमा रजो युजस्तुजे जना वनं स्वः। इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत्॥ १॥

१. **यस्य इन्द्रस्य**=जिस सर्वशक्तिमान् शत्रुविद्राक प्रभु की **रजः**=रञ्जक ज्योति **तुजे**=शत्रुओं के हिंसन के लिए **आयुजः**=(आयोजयति) हमें सन्नद्ध करती है—जिसके तेज से हम शत्रु-संहार करने में समर्थ होते हैं, उस इन्द्र का **इदं स्वः**=यह निरतिशय सुख-साधक तेज, हे **जनाः**=लोगो! **रन्त्यम्**=रमणीय है, **बृहत्**=परिवृढ—बढ़ा हुआ है, **वनम्**=वननीय (सेवनीय) है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हम प्रभु के रमणीय तेज को धारण करें। प्रभु के तेज से तेजस्वी होकर हम शत्रु-संहार में समर्थ हों।

ऋषिः—**जाटिकायनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शत्रुधर्षक बल

नाधृष आ दधृषते धृषाणो धृषितः शवः।
पुरा यथा व्यथिः श्रव इन्द्रस्य नाधृषे शवः॥ २॥

१. वह इन्द्र **न आधृषे**=औरों से अभिभूत नहीं होता, **आदधृषते**=यह शत्रुओं को समन्तात् धर्षण करनेवाला होता है, **धृषाणः**=यह शत्रुओं का धर्षण करनेवाला है ही। **धृषितः**=(धृषितं) **शवः**=इसका बल शत्रुओं का धर्षक है (धृषितं अस्य अस्ति)। २. **इन्द्रस्य**=इस शत्रु-संहारक प्रभु का **श्रवः**=ज्ञान **पुरा यथा**=पहले की भाँति, अर्थात् सदा से **व्यथिः**=शत्रुओं को पीड़ित करनेवाला है। प्रभु का ज्ञान हमारे सब शत्रुओं का संहारक है। वस्तुतः उस प्रभु का **शवः**=बल **न आधृषे**=कभी भी शत्रुओं से धर्षणीय नहीं होता।

भावार्थ—हम प्रभु का ज्ञान प्राप्त करते हुए प्रभु के बल को धारण करते हैं और इसप्रकार शत्रुओं से धर्षणीय नहीं होते।

ऋषिः—**जाटिकायनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'उरुं पिशंगसन्दृशं' रयिम्

स नो ददातु तां रयिमुरुं पिशङ्गसन्दृशम्। इन्द्रः पतिस्तुविष्टमो जनेष्वा॥ ३॥

१. **सः**=वह इन्द्र **नः**=हमारे लिए **तां रयिम्**=उस ज्ञानरूप धन को **ददातु**=दे जोकि **उरुम्**=विशाल है, **पिशङ्ग-सन्दृशम्**=तेजःस्वरूप, प्रभापटल के रूप में प्रकट होनेवाला है। २. **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **पतिः**=हमारे रक्षक हैं—ज्ञानैश्वर्य प्राप्त कराके हमें शत्रुओं के आक्रमण से बचाते हैं। **तुविःतमः**=सब प्रकार के उत्कर्षवाले हैं—महान् व प्रवृद्ध हैं। **जनेषु आ**=सब मनुष्यों में समन्तात् सत्तावाले हैं।

भावार्थ—वे 'तुविःतमः' प्रभु 'विशाल, तेजःस्वरूप, प्रभापटल के रूप में प्रकट होनेवाले' हमारे लिए ज्ञानधन प्राप्त कराके हमारा रक्षण करते हैं।

विशेष—ज्ञान-धन प्राप्त करके सब शत्रुओं का विनाश करनेवाला यह व्यक्ति 'चातन' नामवाला होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

स नः पर्षद् अति द्विष

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम्। स नः पर्षदति द्विषः ॥ १ ॥

१. हे स्तोतः! **अग्नये**=राक्षसीवृत्तियों को भस्म करनेवाले अग्रणी प्रभु के लिए **वाचम् ईरयः**=स्तुतिलक्षण वाणी को प्रकर्षेण प्रेरित कर। उस प्रभु के लिए जो **क्षितीनाम्**=मनुष्यों के लिए **वृषभाय**=सब शुभ काम्य पदार्थों का वर्षण करनेवाले हैं। २. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **द्विषः**=द्वेष की सब भावनाओं से **अतिपर्षत्**=पार ले-जाएँ।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें। वे प्रभु ही हमें आगे ले-चलनेवाले तथा सब शुभ पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। यह प्रभु-स्मरण हमें द्वेष की भावनाओं से पार करेगा।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु की तीव्र ज्ञान-ज्योति में द्वेषान्धकार का विलय

यो रक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा। स नः पर्षदति द्विषः ॥ २ ॥
यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते। स नः पर्षदति द्विषः ॥ ३ ॥
यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति। स नः पर्षदति द्विषः ॥ ४ ॥
यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत। स नः पर्षदति द्विषः ॥ ५ ॥

१. **यः**=जो **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **तिग्मेन शोचिषा**=बड़ी तीव्र ज्ञानदीप्ति से रक्षांसि **निजूर्वति**=राक्षसीवृत्तियों को नष्ट करते हैं, २. **यः**=जो प्रभु **परस्याः परावतः**=अत्यन्त दूर देश से **धन्व तिरः**=(धन्व=अन्तरिक्ष—नि० १.३) अन्तरिक्ष को भी पार करके **अतिरोचते**=अतिशयेन देदीप्यमान हैं, ३. **यः**=जो प्रभु **विश्वा भुवना**=सब प्राणियों व लोकों को **अभि-विपश्यति**=आभिमुख्येन अलग-अलग देखता है **च**=तथा **संपश्यति**=मिलकर देखता है, अर्थात् वे प्रभु एक-एक प्राणी का अलग-अलग भी रक्षण करते हैं और समूहरूप में भी रक्षण करते हैं। ४. **यः**=जो **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **अस्य रजसः पारे**=इस लोकसमूह से परे **शुक्रः अजायत**=देदीप्यमान शुद्धस्वरूप में प्रादुर्भूत हो रहे हैं '**पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**', **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **द्विषः अतिपर्षत्**=द्वेष की सब भावनाओं से पार करें।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, सर्वत्र प्रभु की ज्योति को देखें, उसे ही सबका पालक जानें, उसे ही इस ब्रह्माण्ड से परे शुद्ध ज्योति के रूप में सोचें। यह स्मरण हमें द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठाएगा।

विशेष—द्वेष से ऊपर उठकर प्रभु का आलिङ्गन करनेवाला यह 'कौशिक' बनता है (कुश संश्लेषे)। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वैश्वानर-स्तवन

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः। अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥ १ ॥

१. **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला प्रभु **नः**=हमारे **ऊतये**=रक्षण के लिए **परावतः**=सुदूर देश से **आ प्रयातु**=आभिमुख्येन प्राप्त हो। हम प्रभु के सान्निध्य में अपने को पूर्ण सुरक्षित समझें। २. **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **नः**=हमारी **सुस्तुतीः उप**=शोभन स्तुतियों को समीपता से स्वीकार करें।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करते हुए, प्रभु के सान्निध्य में अपने को पूर्णतया सुरक्षित जानें।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

यज्ञ+स्तवन

वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सजूरुप। अग्निरुक्थेष्वंहसु ॥ २ ॥

१. **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हितकारी वह प्रभु **नः आगमत्**=हमें प्राप्त हो। वह प्रभु **इमं यज्ञम् उप**=हमारे इस जीवन-यज्ञ में प्राप्त होकर **सजूः**=हमारे प्रति प्रीतिवाला हो। हम प्रभु के प्रीतिपात्र बन पाएँ। २. **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **अंहसु**=(अहि गतौ) अभिगन्तव्य **उक्थेषु**=स्तोत्रों के होने पर हमें समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—हम जीवन को यज्ञमय बनाएँ, प्रभु का स्तवन करें। हमें अवश्य उस वैश्वानर प्रभु का प्रेम प्राप्त होगा।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

द्युम्नं स्वः

वैश्वानरोऽङ्गिरसां स्तोममुक्थं च चाक्लृपत्। ऐषु द्युम्नं स्व१र्यमत् ॥ ३ ॥

१. **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले वे प्रभु **अङ्गिरसाम्**=क्रियामय जीवनवाले ज्ञानी पुरुषों के **स्तोमम्**=स्तुतिसमूह को **च**=तथा **उक्थम्**=उच्चै गीयमान ज्ञानवाणियों को **चाक्लृपत्**=खूब ही सामर्थ्ययुक्त करते हैं। २. **एषु**=इन ज्ञानियों में वे प्रभु ही **द्युम्नम्**=ज्ञान-ज्योति को तथा **स्वः**=स्वर्ग-सुख को **आयमत्**=सर्वथा प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे स्तोत्रों व ज्ञानवाणियों को शक्तिशाली बनाते हैं। वे हमें ज्ञान व सुख प्राप्त कराते हैं।

विशेष—प्रभु-स्तवन द्वारा ज्ञान प्राप्त करके यह ज्ञानी 'अथर्वा' बनता है—न डाँवाडोल वृत्तिवाला। यही अगले पाँच सूक्तों का ऋषि है।

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अजस्त्र घर्मम्

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम्। अजस्रं घर्ममीमहे ॥ १ ॥

१. **ऋतावानम्**=प्रशस्त यज्ञोंवाले (ऋत=यज्ञ), **वैश्वानरम्**=सब मनुष्यों के हितकारी, **ऋतस्य**=(Right) नियमितता के व **ज्योतिषः**=ज्ञानज्योति के **पतिम्**=रक्षक प्रभु से **अजस्रं घर्मम्**=हमें न छोड़ जानेवाले—सदा हमारे साथ रहनेवाले तेज को **ईमहे**=माँगते हैं। वस्तुतः इस 'अजस्त्र घर्म' की प्राप्ति का उपाय यही है कि हम भी 'यज्ञशील, सब मनुष्यों के हित में प्रवृत्त तथा भौतिक क्रियाओं में सूर्य-चन्द्र की भाँति नियमिततावाले तथा ज्ञान की रुचिवाले' बनें। ऐसा बनने पर ही शरीर में शक्ति का रक्षण होता है और हमें 'अजस्त्र घर्म' की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—हम उस प्रभु का स्मरण करें जो यज्ञरूप हैं, सबका हित करनेवाले हैं, लोक-लोकान्तरों को नियमितता से चला रहे हैं, ज्ञान के पति हैं। इसप्रकार प्रभु-स्मरण करते हुए

हम 'अक्षीण शक्ति' को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

लोक, ऋतु व यज्ञ

स विश्वा प्रति चाक्लृप ऋतूंरुत्सृजते वशी। यज्ञस्य वय उत्तिरन्॥ २॥

१. **सः**=वे प्रभु **विश्वा**=सब लोक-लोकान्तरों को **प्रतिचाक्लृपे**=बनाते हैं, **वशी**=सबको वश में करनेवाले वे प्रभु **ऋतून् उत्सृजते**=ऋतुओं का उत्कृष्ट सर्जन करते हैं, अर्थात् वे प्रभु ही सब स्थानों (लोकों) व समयों (ऋतून्) का निर्माण करते हैं। २. **यज्ञस्य वयः उत्तिरन्**=यज्ञ के आयुष्य का वर्धन करते हैं, यज्ञशील पुरुषों को दीर्घजीवन देते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु सब लोकों व ऋतुओं का निर्माण करते हैं। इस ब्रह्माण्ड में यज्ञशील पुरुष के आयुष्य का वर्धन करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

एकः सम्राट्

अग्निः परेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको वि राजति॥ ३॥

१. **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु ही **परेषु धामसु**=उत्कृष्ट तेजों में स्थित हैं अथवा दूर-से-दूर स्थानों में व्याप्त हैं। वे ही **भूतस्य**=उत्पन्न जगतों के और **भव्यस्य**=उत्पस्यमान (उत्पन्न होनेवाले) लोगों के **कामः**=कामयिता हैं—'काम संकल्प' द्वारा जन्म देनेवाले हैं। २. वे **सम्राट्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक हैं, **एकः**=अद्वितीय हैं और **विराजति**=विशेषण दीप्यमान हैं।

भावार्थ—वे प्रभु दूर-से-दूर स्थानों में भी व्याप्त हैं। उत्पन्न और उत्पत्स्यमान जगतों को काम-संकल्प द्वारा जन्म देनेवाले हैं। वे अद्वितीय सम्राट् हैं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का शासन कर रहे हैं।

३७. [सप्तत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सहस्राक्षः शपथः

उप प्रागात्सहस्राक्षो युक्त्वा शपथो रथम्।
शप्तारमन्विच्छन्मम वृकइवाविमतो गृहम्॥ १॥

१. जिस समय अपशब्द कहनेवाला पुरुष किसी के लिए अपशब्द का प्रयोग करता है तब वह उसके सहस्रों दोषों को देखनेवाला बनता है—मानो सहस्रों आँखों से उसके दोषों को ढूँढने के लिए यत्नशील होता है, अतः आक्रोश को 'सहस्राक्ष' कहा गया है। यह **सहस्राक्षः शपथः**=सहस्रों आँखोंवाला आक्रोश (अपशब्द) **रथं युक्त्वा**=अपने रथ को जोतकर **उपप्रागात्**=शाप देनेवाले के समीप ही पहुँचता है। जैसे एक योद्धा रथ-स्थित होकर शत्रु पर आक्रमण करता है, उसी प्रकार यह शपथ रथ-स्थित होकर शाप देनेवाले की ओर जाता है। २. यह शपथ **मम**=मुझे **शप्तारम्**=शाप देनेवाले को **अन्विच्छन्**=ढूँढता हुआ उस शप्ता के घर में ऐसे ही पहुँचे, **इव**=जैसेकि **वृकः**=भेड़िया भेड़ को ढूँढता हुआ **अविमतः गृहम्**=भेड़वाले के घर में पहुँचता है।

भावार्थ—जैसे भेड़िया भेड़ को समाप्त कर देता है, उसीप्रकार शाप शाप देनेवाले को ही समाप्त करनेवाला हो।

ऋषिः—अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)॥ देवता—चन्द्रमाः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

शाप से उत्तेजित न होना

परि णो वृङ्ग्धि शपथ ह्रदमग्निरिवा दहन्।
शप्तारमत्र नो जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः ॥ २ ॥

१. हे **शपथ**=आक्रोश! तू **नः**=हमें इसप्रकार **परिवृङ्ग्धि**=छोड़ दे, **इव**=जैसेकि **आदहन्**=समन्तात् जलाने की क्रिया करता हुआ **अग्निः**=अग्नि **ह्रदम्**=जलपूर्ण तालाब को छोड़ देता है। हम भी शापरूप अग्नि के लिए शान्तिजल से पूर्ण ह्रद के समान हों। दूसरे के शब्दों से उत्तेजित न हो उठें। २. हे शाप! तू **नः शप्तारम्**=हमें शाप देनेवाले को ही **अत्र**=यहाँ **जहि**=नष्ट करनेवाला बन। उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **दिवः अशनिः**=आकाश की बिजली **वृक्षम्**=वृक्ष को नष्ट कर देती है। शाप से शाप देनेवाला ही दग्ध हो जाए।

भावार्थ—हम शाप से उत्तेजित न हो उठें। शाप शाप देनेवाले को ही दग्ध कर देगा।

ऋषिः—अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)॥ देवता—चन्द्रमाः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

शुने पेष्ट्रम् इव अवक्षामम्

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात्।
शुने पेष्ट्रमिवावक्षामं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे॥ ३ ॥

१. समाज में कोई ऐसा व्यक्ति उपस्थित हो जाता है जो समाज के लिए हानिकर होता है। कई बार विवशता में समाज उसके लिए निन्दा का प्रस्ताव उपस्थित करता है। उस समय के लिए कहते हैं कि **यः**=जो **अशपतः**=किसी प्रकार के शाप का प्रयोग न करते हुए **नः**=हमें **शपात्**=हमें शाप देता है **च**=अथवा **यः**=जो **शपतः**=विवशता में निन्दा का प्रस्ताव करनेवाले **नः**=हमें **शपात्**=बुरा-भला कहता है, तो **शुने**=कुत्ते के लिए **अवक्षामम्**=सूखे **पेष्ट्रम्**=(piece) टुकड़ों की **इव**=भाँति **तम्**=उसे **मृत्यवे प्रत्यस्यामि**=मृत्यु के लिए फेंकता हूँ, अर्थात् यह गाली देनेवाला व्यक्ति सारे समाज से दूषित किये जाने पर क्षीण होकर मृत्यु का शिकार हो जाता है।

भावार्थ—जो सारे समाज के लिए विद्वेष का कारण बनता है, यह समाज से निन्दित किया जाकर उदासीनता के कारण क्षीण होकर मृत्यु का ग्रास बन जाता है।

३८. [अष्टात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा (वर्चस्कामः)॥ देवता—त्विषिः, बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

सिंहे, सूर्ये

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥ १ ॥

१. **सिंहे**=शेर में **व्याघ्रे**=चीता में **उत**=और **या त्विषिः**=जो तेजस्विता की दीप्ति **पृदाकौ**=फुँकार मारते हुए सर्प में है। **या**=जो दीप्ति **अग्नौ**=अग्नि में है, **ब्राह्मणे**=ज्ञानदीप्त ब्राह्मण में है तथा **सूर्ये**=सूर्य में है। २. **या**=जो **देवी**=दिव्य, अलौकिक **सुभगा**=उस-उस पिण्ड व प्राणी को सौभाग्ययुक्त बनानेवाली दीप्ति **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **जजान**=प्रादुर्भूत करती है, **सा**=वह दीप्ति **नः वर्चसा संविदानः**=हमें वर्चस् (प्राणशक्ति) से युक्त करती हुई **आ एतु**=सर्वथा प्राप्त हो। '**मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहम्**' इस गीता-वाक्य में सिंह को पशुओं में प्रभु की विभूति कहा गया है। वस्तुतः जहाँ-जहाँ कुछ असाधारण दीप्ति दिखती है, वह प्रभु का स्मरण कराती ही

है, 'यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥' यह दीप्ति हमें भी प्राप्त हो। हम भी प्रभु की विभूति बनें।

भावार्थ—सिंह, व्याघ्र, पृदाकु, अग्नि, ब्राह्मण व सूर्य में जो प्रभु की दीप्ति है, वह हमें वर्चस् से युक्त करती हुई प्राप्त हो।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)**॥ देवता—**त्विषिः, बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

हस्तिनि—पुरुषस्य मायौ

या हुस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्विषिरुप्सु गोषु या पुरुषेषु।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥ २॥
रथे अक्षेष्वृषभस्य वाजे वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥ ३॥
राजन्ये दुन्दुभावायतायामश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥ ४॥

१. **या त्विषिः**=जो दीप्ति **हस्तिनि**=गजेन्द्र में, **द्वीपिनि**=तरक्षु (चीते) में है, **या**=जो दीप्ति **हिरण्ये**=स्वर्ण में है, जो **अप्सु**=जलों में, **गोषु**=गौओं में **या**=जो **पुरुषेषु**=पुरुषों में दीप्ति है। २. जो दीप्ति **रथे**=रथ में है, **अक्षेषु**=रथ के अक्षों (Axles) में है तथा **ऋषभस्य वाजे**=ऋषभ (साँड) के वेगयुक्त गमन में है, जो दीप्ति **वाते**=वायु में है, **पर्जन्ये**=मेघ में है, **वरुणस्य शुष्मे**=जो दीप्ति सूर्य के प्रखर ताप में है—सूर्य के सुखानेवाले ताप में है। ३. जो दीप्ति **राजन्ये**=अभिषिक्त राजा के पुत्र (राजन्य) में है, जो दीप्ति **दुन्दुभौ आयतायाम्**=आयम्यमान—आताड्यमान दुन्दुभि में है जो दीप्ति **अश्वस्य वाजे**=घोड़े के वेगयुक्त गमन में है और जो **पुरुषस्य मायौ**=पुरुष की उच्चैर्घोषलक्षण शब्द में है—४. यह सब दीप्ति वह है **या**=जोकि **देवी**=दिव्य है, **सुभगा**=हमें उत्तम सौभाग्यशाली बनाती है और यह दीप्ति अपने निर्माता **इन्द्रम्**=इन्द्र देवता की महिमा को **जजान**=प्रादुर्भूत करती है। **सा**=वह दीप्ति **वर्चसा संविदाना**=रोगनिवारक शक्ति (Vitality) के साथ ऐकमत्यवाली होती हुई **नः ऐतु**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—हमारा जीवन प्रभु-दीप्ति से उज्ज्वल हो। यह दीप्ति हमें वर्चस् प्राप्त कराती हुई प्रभु के समीप प्राप्त कराए।

३९. [एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)**॥ देवता—**बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**जगती**॥

दीर्घजीवन व सर्वश्रेष्ठता

यशो हुविर्वर्धतामिन्द्रजूतं सुहस्रवीर्यं सुभृतं सहस्कृतम्।
प्रसर्स्राणमनु दीर्घाय चक्षसे हुविष्मन्तं मा वर्धय ज्येष्ठतातये॥ १॥

१. **यशः**=यश की कारणभूत **हविः**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति **वर्धताम्**=हमारे जीवनों में वृद्धि प्राप्त करे। हम त्यागपूर्वक अदन-(खाने)-वाले बनें और इसप्रकार यशस्वी जीवनवाले हों। यह हवि **इन्द्रजूतम्**=प्रभु द्वारा प्रेरित की गई है—प्रभु ने त्यागपूर्वक अदन की प्रेरणा दी है। यह हवि **सहस्रवीर्यम्**=हमें अनन्त शक्ति प्राप्त कराती है, **सुभृतम्**=(शोभनं भृतं येन) यह हमारा उत्तम भरण करती है, **सहस्कृतम्**=बल के उद्देश्य से यह दी गई है—यह शत्रुओं का पराभव करानेवाला बल देती है। २. हे प्रभो! **अनु**=इस हवि के वर्धन के बाद **हविष्मन्तं मा**=प्रशस्त

हविवाले मुझ **प्रसर्त्राणम्**=खूब गतिशील को **दीर्घाय चक्षसे**=चिरकालभावी दर्शन के लिए—दीर्घजीवन के लिए तथा **ज्येष्ठतातये**=सर्वश्रैष्ठ्य के लिए **वर्धय**=बढ़ाइए। हवि को अपनाता हुआ मैं दीर्घजीवन और सर्वश्रेष्ठता को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—प्रभु ने हमें त्यागपूर्वक अदन की प्रेरणा दी है। यह हवि ही हमारे दीर्घजीवन का कारण बनती है और हमें सर्वश्रेष्ठ बनाती है।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यशस्वी जीवन

अच्छा न इन्द्रं यशसं यशोभिर्यशस्विनं नमसाना विधेम।
स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजूतं तस्य ते रातौ यशसः स्याम॥ २॥

१. **नः अच्छ**=हमारे आभिमुख्येन वर्तमान **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली, **यशसम्**=यशस्वी, **यशोभिः यशस्विनम्**=यशों के द्वारा हमारे जीवनों को यशस्वी बनानेवाले प्रभु को **नमसानाः**=नमन करते हुए **विधेम**=पूजित करते हैं। २. हे प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमें **इन्द्रजूतम्**=परमैश्वर्यशाली आपके द्वारा प्रेरित **राष्ट्रं रास्व**=राष्ट्र दीजिए, अर्थात् हमारा राष्ट्र वेदोपदिष्ट आपकी आज्ञाओं के अनुसार सञ्चालित हो। **तस्य ते**=उन आपके **रातौ**=दान में हम **यशसः स्याम**=यशस्वी जीवनवाले हों।

भावार्थ—हम यशस्वी प्रभु का स्मरण करें। हमारा राष्ट्र प्रभु से दिये गये निर्देशों के अनुसार सञ्चालित हो। प्रभु-प्रदत्त इस राष्ट्र में हम यशस्वी जीवनवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यशस्तमः

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=सूर्य **यशाः**=यशस्वी है, **अग्निः यशाः**=अग्नि यशस्वी है, **सोमः यशाः**=चन्द्रमा यशस्वी **अजायत**=हुआ है। सूर्य अपने तेज से तेजस्वी हुआ है (ज्योतिषां रविरंशुमान्), अग्नि सदा अपनी ज्वाला की ऊर्ध्वगति के कारण प्रसिद्ध है (वसूनां पावकश्चास्मि)। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना उसे यशस्वी बना रही है (नक्षत्राणामहं शशी)। २. इसीप्रकार **अहम्**=मैं **यशाः**=यश की कामनावाला होता हुआ **विश्वस्य भूतस्य**=सब प्राणियों में **यशस्तमः अस्मि**=सर्वाधिक यशस्वी बनूँ। सूर्य से तेज को, अग्नि से ऊर्ध्वगति को, चन्द्र से प्रकाशमयी शीतलता को ग्रहण करता हुआ मैं यशस्वीतम बन पाऊँ।

भावार्थ—हम सूर्य के समान तेजोदीप्त बनें। अग्नि के समान ऊर्ध्व गतिवाले हों, चन्द्र के समान आह्लादक ज्योति को धारण करें। इसप्रकार यशस्वी जीवनवाले हों।

४०. [चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (अभयकामः)** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अभय

अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः कृणोतु।
अभयं नोऽस्तूर्व१न्तरिक्षं सप्तऋषीणां च हविषाभयं नो अस्तु॥ १॥

१. हे **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्करूप द्युलोक तथा शरीररूप पृथिवीलोक! तुम दोनों के अनुग्रह से **इह**=यहाँ **नः**=हमारे लिए **अभयम् अस्तु**=अभय हो। मस्तिष्क की उज्ज्वलता व शरीर की

दृढ़ता हमारे जीवन को निर्भय बनाती है। **सोमः सविता**=चन्द्र और सूर्य **नः अभयं कृणोतु**=हमारे लिए अभयता करें। चन्द्रमा के समान हमारा मन मंगलदायक हो (चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्) तथा सूर्य के समान हमारी आँख ज्योतिर्मय हो (सूर्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्)। २. **नः**=हमारे लिए **उरु अन्तरिक्षम्**=यह विशाल हृदयाकाश **अभयम्**=निर्भयता देनेवाला हो। हमारे हृदय संकुचित न हों, **च**=और **सप्तऋषीणाम्**=सप्तर्षियों (दो कान, दो आँख, दो नासिका-छिद्र व मुख) की **हविषा**=हवि के द्वारा—देकर बचे हुए को खाने के द्वारा **नः**=हमारे लिए **अभयं अस्तु**=निर्भयता हो। सदा यज्ञशेष का सेवन इन सप्तर्षियों को सदा नीरोग रखता है। इनका स्वास्थ्य ही हमें मृत्यु-भय से बचाता है।

भावार्थ—हमारा मस्तिष्क ज्ञानसूर्य से उज्ज्वल हो, शरीर पृथिवी के समान दृढ़ हो, मन चन्द्रमा के समान शीतल, बुद्धि सूर्य के समान तेजोदीप्त तथा हृदय अन्तरिक्ष के समान विशाल हो। हमारी इन्द्रियाँ हवि का ग्रहण करनेवाली बनें—यज्ञशेष का सेवन करती हुई ये इन्द्रियाँ नीरोग हों। इसप्रकार हमें 'अभय' प्राप्त हो।

ऋषिः—**अथर्वा (अभयकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

सवितः इन्द्रः

अस्मै ग्रामाय प्रदिशश्चतस्र ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति सविता नः कृणोतु।
अशत्रिवन्द्रो अभयं नः कृणोत्वन्यत्र राज्ञामभि यातु मन्युः॥ २॥

१. **नः अस्मै ग्रामाय**=हमारे निवासस्थानभूत इस ग्राम के लिए **सविता**=सबका उत्पादक वह प्रभु **प्रदिशः चतस्रः**=चारों दिशाओं में **सुभूतम्**=सुष्ठु उत्पन्न—उत्तमता से उत्पन्न हुए-हुए **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति देनेवाले अन्न को और उसके द्वारा **स्वस्ति**=कल्याण को **कृणोत**=करे। हमारे राष्ट्र में पौष्टिक अन्न की कमी न हो। २. **इन्द्रः**=शत्रु-विद्रावक प्रभु **नः**=हमारे लिए **अशत्रुः**=शत्रुओं के आक्रमण-भय से शून्य **अभयम्**=निर्भयता को कृणोतु करे। **राज्ञाम्**=शत्रुभूत राजाओं का **मन्युः**=क्रोध अन्यत्र **यातु**=हमसे भिन्न स्थान में ही प्राप्त हो। कोई भी राजा हमारे राष्ट्र पर आक्रमण न कर पाए।

भावार्थ—सवितादेव के अनुग्रह से हमारे राष्ट्र में पौष्टिक अन्न की कमी न हो तथा इन्द्र की कृपा से हमारा राष्ट्र शत्रुओं के आक्रमण के भय से रहित हो।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अनमित्रम्

अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात्। इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **नः**=हमारे लिए **अधरात्**=दक्षिण दिशा में **अनमित्रम्**=शत्रुराहित्य **कृधि**=कीजिए, **नः**=हमारे लिए **उत्तरात्**=उत्तर दिशा से **अनमित्रम्**=शत्रुराहित्य करने का अनुग्रह कीजिए। २. हे इन्द्र! **नः**=हमारे लिए **पश्चात्**=पश्चिम दिशा से **अनमित्रम्**=शत्रुराहित्य करनेवाले होओ तथा **पुरः**=सामने से—पूर्व दिशा से भी **अनमित्रम्**=अशत्रुता करने का अनुग्रह **कृधि**=कीजिए।

भावार्थ—इन्द्र के अनुग्रह से हमें सब दिशाओं से निर्भयता व अशत्रुता प्राप्त हो। किसी भी दिशा में हमारा कोई शत्रु न हो।

विशेष—सब दिशाओं में अशत्रु बना हुआ यह व्यक्ति 'ब्रह्मा' बनता है और प्रार्थना करता है कि—

४१. [एकचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मन आदयो दैव्या ऋषयः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

मनसे-चक्षसे

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्॥ १॥

१. **मनसे**=मनन के उत्तम साधनभूत मन के लिए, **चेतसे**=ज्ञान के साधनभूत चेतस् के लिए, **धिये**=ध्यान-साधन एकाग्र बुद्धि के लिए, **आकूतये**=संकल्प के लिए **उत**=और **चित्तये**=अतीत आदि विषय-स्मृति हेतु चिति के लिए **वयम्**=हम **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **विधेम**=प्रभु का पूजन करते हैं। २. **मत्यै**=आगामी विषयों के ज्ञान की जननीभूत मति के लिए, **श्रुताय**=श्रवणजनित ज्ञान के लिए तथा **चक्षसे**=चाक्षुष ज्ञान के लिए हम हवि के द्वारा प्रभुपूजन करते हैं।

भावार्थ—दानपूर्वक अदन, अर्थात् यज्ञशेष का सेवन तथा प्रभु-पूजन हमें 'मन, चेतस्, धी, आकूति, चिति, मति, श्रुत व चक्षस्' प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मन आदयो दैव्या ऋषयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सरस्वत्या-उरुव्यचे

अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरिधायसे।
सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम्॥ २॥

१. **अपानाय**=मुख-नासिका से बहिर् विनिर्गत वायु का फिर अन्तःप्रवेश अपानन व्यापार कहलाता है, इस अपान के लिए, **व्यानाय**=ऊर्ध्व व अधोवृत्ति के त्याग से उस वायु का शरीर में ठहरना 'व्यान' कहलाता है, उस व्यान के लिए तथा शरीरस्थ वायु का मुख-नासिका से बहिर् निर्गमन प्राण कहलाता है, उस **भूरिधायसे**=बहुत प्रकार से—खूब ही धारण करनेवाले **प्राणाय**=प्राण के लिए **वयम्**=हम **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **विधेम**=प्रभु का पूजन करते हैं। **सरस्वत्यै**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता के लिए तथा **उरुव्यचे**=हृदय की खूब व्यापकता के लिए भी हम हवि के द्वारा प्रभुपूजन करते हैं।

भावार्थ—यज्ञशेष के सेवन तथा प्रभुपूजन से हमारे 'प्राण, अपान, व्यान' ठीक कार्य करेंगे, हमारा ज्ञान बढ़ेगा और हृदय विशाल होगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मन आदयो दैव्या ऋषयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सप्त ऋषयः

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्व स्तनूजाः।
अमर्त्या मर्त्याँ अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः॥ ३॥

१. **ये**=जो **दैव्याः**=देवों में होनेवाले अथवा देव (प्रभु) की प्राप्ति के साधनभूत **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा सात शरीरस्थ ऋषि हैं, वे **नः**=हमें **मा**=मत **हासिषुः**=छोड़नेवाले हों। वे 'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें, एक मुख'—सात ऋषि **ये**=जो **तनूपाः**=शरीर का रक्षण करनेवाले हैं, वे **नः** **तन्वः**=हमारे शरीर से ही **तनूजाः**=शरीर-सम्बन्धी इन्द्रियों के रूप में उत्पन्न होनेवाले हैं। २. हे **अमर्त्याः**=अमर्त्य ऋषियो! **मर्त्यान् नः**=मरणधर्मा हम लोगों को **अभिसचध्वम्**=अभितः प्राप्त होओ और **नः** **जीवसे**=हमारे प्रकृष्ट जीवन के लिए **प्रतरं आयुः**=दीर्घजीवन को **धत्त**=धारण

कराओ।

भावार्थ—शरीरस्थ सात इन्द्रियाँ ही सप्तर्षि हैं। ये हममें स्थित हों और हमें दीर्घजीवन प्रदान करें।

४२. [द्वाचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

अवज्याम् इव धन्वनः

अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः।
यथा संमनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै॥ १॥

१. पति-पत्नी परस्पर कहते हैं कि **धन्वनः**=धनुर्दण्ड से **ज्याम् इव**=जैसे आरोपित ज्या (डोरी) को धानुष्क अवरोपित करता—उतारता है, उसीप्रकार **ते हृदः**=तेरे हृदय से **मन्युम्**=क्रोध को **अवतोनिम**=अपनीत करता—दूर करता हूँ। २. **यथा**=जिससे हम दोनों **संमनसौ**=समान मनवाले **भूत्वा**=होकर—परस्पर अनुरागयुक्त हुए-हुए **सखायौ इव**=समान ख्यानवाले मित्रों की भाँति **सचावहै**=समवेत—संगत होकर एक कार्यकारी बनें।

भावार्थ—पति-पत्नी परस्पर क्रोधशून्य व अनुरागयुक्त होकर समान कार्य को करनेवाले हों—मिलकर कार्य की पूर्ति करनेवाले हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

अधः ते अश्मनः मन्युम्

सखायाविव सचावहा अव मन्युं तनोमि ते।
अधस्ते अश्मनो मन्युमुपास्यामसि यो गुरुः॥ २॥

१. हम दोनों **सखायौ इव**=समान ख्यानवाले मित्रों की भाँति **सचावहै**=मिलकर समानरूप से कार्य करनेवाले बनें। मैं **ते मन्युम् अवतनोमि**=तेरे क्रोध को उसी प्रकार अवतत (उतारा हुआ) करता हूँ, जैसे धनुष से डोरी को उतारते हैं। २. हे क्रुद्ध मनुष्य! **ते**=तेरे **मन्युम्**=क्रोध को उस **अश्मनः अधः**=पत्थर के नीचे **उपास्यामसि**=फेंकते हैं **यः गुरुः**=जो पत्थर भारी होने के कारण हिलाया भी नहीं जा सकता।

भावार्थ—हम क्रोध को एक भारी पत्थर के नीचे दबा दें। यह क्रोध हम तक फिर न आ सके। हम परस्पर प्रेमयुक्त होते हुए एक-दूसरे के कार्य की पूर्ति करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा अवशाः न वादिषः

अभि तिष्ठामि ते मन्युं पार्ष्ण्या प्रपदेन च।
यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि॥ ३॥

१. मैं **ते मन्युम्**=तेरे क्रोध को **पार्ष्ण्या**=पैर के अपरभग से—एड़ी से **च**=तथा **प्रपदेन**=पादाग्र से **अभितिष्ठामि**=ऊपर स्थित होकर निष्पीड़ित कर डालता हूँ। २. **यथा**=जिससे **अवशः**=क्रोध के परवश हुआ-हुआ तू **न वादिषः**=ऊटपटाँग बोलनेवाला न हो और **मम चित्तम् उपायसि**=मेरे मन को तू समीपता से प्राप्त होता है—मेरे मन के अनुकूल मनवाला होता है।

भावार्थ—हम क्रोध को पैर की ठोकर से ठुकरा दें। क्रोध के परवश होकर कटुवचन न बोलें। हम एक-दूसरे से मिले हुए चित्तवाले हों।

४३. [त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युशमनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विमन्युकः 'दर्भः'

अयं दर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च।
मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते॥ १॥

१. **अयं दर्भः**=यह कुशा (घास) **स्वाय च**=अपनों के लिए भी **च अरणाय**=और शत्रुओं के लिए भी **विमन्युकः**=क्रोधापनयन का हेतु है—इष्टजनविषयक व अनिष्टजनविषयक क्रोध को शान्त करता है, अथवा इष्टजनों व अनिष्टजनों से किये गये क्रोध को शान्त करता है। २. **मन्योः**=मन्युमान् शत्रुभूत पुरुष का तथा **विमन्युकस्य**=मन्युरहित—आपाततः क्रोधाविष्ट आत्मीय पुरुष का **अयम्**=यह दर्भ **मन्युशमनः**=क्रोध को शान्त करनेवाला **उच्यते**=कहा जाता है। सम्भवतः इसीलिए यज्ञवेदि पर कुश के प्रयोग को महत्त्व दिया गया है।

भावार्थ—दर्भ का प्रयोग क्रोध को शान्त करनेवाला है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युशमनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

भूरिमूलः दर्भः

अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति।
दर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते॥ २॥

१. **अयं यः**=यह जो सामने **भूरिमूलः**=अनेक मूलों से युक्त—भूमि पर फैल जानेवाला **दर्भः**=दर्भ **समुद्रम् अवतिष्ठति**=(समुद्रवन्त्यस्मादापः) उदकभूयिष्ट देश को आक्रान्त करके स्थिर होता है। यह **पृथिव्याः उत्थितः**=पृथिवी से उत्पन्न हुआ-हुआ दर्भ **मन्युशमनः उच्यते**=क्रोधविनाश का हेतु कहा जाता है।

भावार्थ—समुद्र के किनारे उत्पन्न हुआ-हुआ यह कुश मन्युशमन कहा गया है। इसका प्रयोग शान्ति देनेवाला है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युशमनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

हनव्यां मुख्यां शरणिं विनयामसि

वि ते हनव्यां शरणिं वि ते मुख्यां नयामसि।
यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि॥ ३॥

१. हे क्रोधाविष्ट पुरुष! **ते हनव्याम्**=तेरी हनु सम्बन्धी **शरणिम्**=हिंसा-हेतुभूत क्रोधाभिव्यञ्जक धमनि को **विनयामसि**=विनीत करते हैं—दूर करते हैं, तथा **ते**=तेरी **मुख्याम्**=मुख पर उत्पन्न होनेवाली, क्रोधवश उत्पन्न नाड़ी को भी **वि**=विनीत करते हैं, २. **यथा**=जिससे **अवशः**=क्रोध के परवश हुआ-हुआ तू **न वादिषः**=व्यर्थ नहीं बोलता और **मम चित्तम् उपायसि**=मेरे मन को समीपता से प्राप्त होता है।

भावार्थ—दर्भ के प्रयोग से हम क्रोधाविष्ट के क्रोध को शान्त करें, जिससे यह व्यर्थ न बोलता हुआ अनुकूल मनवाला हो।

विशेष—क्रोधशून्य जीवनवाला यह व्यक्ति सबका मित्र 'विश्वामित्र' बनता है। इसका शरीर भी नीरोग है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

४४. [चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तिष्ठाद्रोगः अयं तव

अस्थाद् द्यौरस्थात्पृथिव्यस्थाद्विश्वमिदं जगत्।
अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नास्तिष्ठाद्रोगो अयं तव॥ १ ॥

१. **द्यौः अस्थात्**=ग्रह-नक्षत्रमण्डलोपेत यह द्युलोक स्थित है, नीचे गिरता नहीं। **पृथिवी अस्थात्**=यह सर्वाधारभूत पृथिवी स्थित है। **इदं विश्वं जगत् अस्थात्**=यह परिदृश्यमान जङ्गम प्राणिसमूह स्थित है। २. ये **ऊर्ध्वस्वप्नः**=खड़े-खड़े ही सोते हुए **वृक्षाः अस्थुः**=वृक्ष भी स्थित हैं। **अयं तव रोगः**=यह तेरा रोग भी **तिष्ठात्**=निवृत्त गतिवाला होता जाए (ष्ठा गतिनिवृत्तौ) न बहे, न बढ़े अपितु निवृत्त हो जाए।

भावार्थ—वैद्य रोगी को प्रेरणा देता है कि द्युलोक, पृथिवीलोक, सब जगत् और ये वृक्ष भी स्थित हैं, तेरा रोग भी अभी स्थित हो जाता है, निवृत्त गतिवाला हो जाता है। यह आगे बढ़ता नहीं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

श्रेष्ठम् आस्त्रावभेषजम्

शतं या भेषजानि ते सहस्त्रं संगतानि च।
श्रेष्ठमास्त्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम्॥ २ ॥

१. हे व्याधित! **ते**=तेरी **या**=जो **शतम्**=सैकड़ों **च**=और **सहस्त्रम्**=हज़ारों **भेषजानि**=रोगशामक ओषधियाँ **संगतानि**=प्राप्त हुई हैं, उनमें 'विषाणका' [अगले मन्त्र में वर्णित] ओषधि **श्रेष्ठम्**=श्रेष्ठ है, प्रशस्ततम है। यह **आस्त्रावभेषजम्**=रक्तस्त्राव की निवर्तक है **वसिष्ठम्**=वासयितृतम है—रुधिर के आस्त्राव को रोककर तुझे उत्तमता से बसानेवाली है, और **रोगनाशनम्**=रोग को नष्ट करनेवाली है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदामहाबृहती** ॥

विषाणका वातीकृतनाशनी

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः।
विषाणका नाम वा असि पितॄणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी॥ ३ ॥

१. हे विषाणके! तू **रुद्रस्य**=(रोदयति) इस रुलानेवाले भीषण रोग की **मूत्रम् असि**=(मुच् ष्ट्रन्) छुड़ानेवाली है; **अमृतस्य नाभिः**=हमारे जीवनों में नीरोगता को बाँधनेवाली है (णह बन्धने)। **विषाणका नाम वा असि**='विषाणका' यह निश्चय से तेरा नाम है। तू विशेषेण सम्भजनीया है (षण सम्भक्तौ)। २. **पितॄणां मूलात् उत्थिता**=पालक ओषधियों के मूल से तू उत्पन्न हुई है, **वातीकृतनाशनी**=वातविकार से होनेवाले सब कष्टों का निवारण करनेवाली है।

भावार्थ—विषाणका नामक ओषधि भीषण रोगों से छुड़ानेवाली, नीरोगता देनेवाली व वात-विकारों को नष्ट करनेवाली है।

विशेष—नीरोग बनकर यह 'अङ्गिराः' बनता है। इसका मस्तिष्क भी ज्ञानोज्ज्वल होता है, अर्थात् यह 'प्रचेताः' कहलाता है, मन में यह 'यमः'=संयमवाला होता है। अगले चार सूक्तों का यही ऋषि है। यह निष्पाप जीवनवाला बनता हुआ कहता है—

४५. [पञ्चचत्वरिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

गृहेषु गोषु मे मनः

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥ १॥

१. हे **मनस्पाप**=मन के पाप! मन में उत्पन्न होनेवाले पाप-विचार! तू **परः अप इहि**=यहाँ से परे—दूर चला जा, **किम्**=क्यों तू **अशस्तानि**=अशुभ बातों को **शंससि**=प्रशंसित करता है। २. **परा इहि**=तू दूर ही चला जा। **त्वा न कामये**=मैं तुझे नहीं चाहता। **वृक्षान् वनानि संचर**=तू वृक्षों व वनों में भटकनेवाला हो, **मे मनः**=मेरा मन तो **गृहेषु**=घरों में—घर के कार्यों में और **गोषु**=गौओं में अथवा ज्ञान की वाणियों में लगा हुआ है। मुझे तेरे लिए अवकाश नहीं है।

भावार्थ—हे अशुभ का शंसन करनेवाले मनस्पाप! तू मुझसे दूर चला जा। मेरा मन तो घर के कार्यों व गौओं में लगा है। मुझे तेरे लिए अवकाश नहीं। खाली व्यक्ति के मन में ही अशुभ भावों का उदय होता है।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

अवशसा, निःशसा, पराशसा

अवशसा निःशसा यत्पराशसोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद्दधातु॥ २॥

१. **अवशसा**=(शसु हिंसायाम्) अवस्तात् हिंसन से—चुपके-चुपके हिंसन से, **निःशसा**=नितरां हिंसन से, **पराशसा**=पराङ्मुख हिंसन से—सुदूर असाक्षात् रूप से हिंसन से **यत् उपारिम्**=हम जो पाप कर बैठते हैं, **जाग्रतः**=जागते हुए और **स्वपन्तः यत्**=सोते हुए जो पाप कर बैठते हैं, **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु उन **विश्वानि**=सब **अजुष्टानि**=अशोभन, प्रीतिपूर्वक न सेवन किये गये **दुष्कृतानि**=पापों को **अस्मत्**=हमसे **आरे**=दूर **अपदधातु**=पृथक् करके स्थापित करे।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हम हिंसाकृत सब पापों से बचे रहें। जागते व सोते हम प्रभुस्मरण करते हुए पापों से बचे रहें।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रचेताः आङ्गिरसः

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरामसि। प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात्पात्वंहसः॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्! **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! हम **यत् अपि**=जो कुछ भी **मृषा**=असत्य **चरामसि**=आचरण कर बैठते हैं, **प्रचेताः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले, **आङ्गिरसः**=शक्तिसम्पन्न आप **नः**=हमें उस **दुरितात्**=दुःख-प्रापक **अंहसः**=पाप से **पातु**=बचाएँ।

भावार्थ—ज्ञान व शक्ति का सम्पादन करते हुए हम पापों से ऊपर उठें।

४६. [षट्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**ककुम्मतीविष्टारपङ्क्तिः**॥

स्वप्न का स्वरूप

यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न।
वरुणानी ते माता यमः पितारुर्नामासि॥ १॥

१. हे **स्वप्न**=स्वप्न! **यः**=जो तू **न जीवः असि**=न तो जीवित है, **न मृतः**=न ही मृत है—प्राणधारक भी नहीं है, त्यक्तप्राण भी नहीं है। तू **देवानाम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठातृभूत अग्नि आदि देवों का **अमृतगर्भः असिः**=अमृतमय गर्भ है। यह स्वप्न जाग्रदवस्था के इन्द्रिजन्य अनुभवों से जनित वासनाओं से उत्पन्न होता है और वासनाएँ स्थयी हैं, अतः यह स्वप्न भी सदा से चला ही आता है। २. **वरुणानि**=(रात्रिर्वरुणः—ऐ० ४.१०, वारुणी रात्रिः—तै० १.७.१०.१) रात्रि **ते माता**=तेरी माता है। प्रायः रात्रि में सोने पर ही स्वप्नों का क्रम आरम्भ होता है। **यमः पिता**=शरीर का नियन्ता आत्मा ही तेरा पिता है। आत्मा के शरीर में होने पर ही ये स्वप्न होते हैं, अतः आत्मा को इनका पिता कहा गया है। **अररुः नाम असि**='अररु' तेरा नाम है। तू (ऋ गतौ) तीव्र गतिवाला—क्षणस्थायी है।

भावार्थ—शरीरस्थ आत्मा रात्रि के समय स्वप्नों का अनुभव करता है। ये स्वप्न न वास्तविक हैं, न ही एकदम काल्पनिक। इन्द्रियों के व्यापारों से उत्पन्न संस्कार इसे सदा जन्म देनेवाले होते हैं। यह बड़ी तीव्र गतिवाला है। क्षण में ही कहीं-का-कहीं जा पहुँचता है।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**शक्वरीगर्भापञ्चपदाजगती**॥

अन्तकः असि, मृत्युः असि

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रो ऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि।
तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात्पाहि॥ २॥

१. **स्वप्न**=स्वप्न! हम **ते जनित्रं विद्म**=तेरे जन्म को जानते हैं। तू **देवजामीनां पुत्रः असि**=इन्द्रियों से उत्पन्न अनुभवजन्य वासनाओं का पुत्र है। तू **यमस्य करणः**=यम का सबसे महान् साधन है। [ऐतरेय आरण्यक ३.२.४ में कहा है—अथ स्वप्नः। **'पुरुषं कृष्णं कृष्णादन्तं पश्यति, स एनं हन्ति'**—कई स्वप्न मृत्यु का कारण हो जाते हैं]। **अन्तकः असि**=तू अन्तः करनेवाला है, **मृत्युः असि**=मृत्यु ही है। २. हे **स्वप्न**=स्वप्न! **तं त्वा**=उस तुझे **सं विद्म**=पहले कहे हुए प्रकार से सम्यक् जानते हैं। हे **स्वप्न**=स्वप्न! **सः**=वह तू **नः**=हमें **दुःष्वप्न्यात्**=दुःस्वप्नजनित भय से **पाहि**=रक्षित कर।

भावार्थ—स्वप्न इन्द्रियजनित अनुभवों से होनेवाली वासनाओं से उत्पन्न होते हैं। ये शरीर में विकृति लाकर मृत्यु का कारण भी बन जाते हैं। हम दुःस्वप्नों से बचे ही रहें।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा कलां तथा शफम्

यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति।
एवा दुःष्वप्न्यं सर्वं द्विषते सं नयामसि॥ ३॥

१. **यथा**=जैसे **कलाम्**=एक-एक कला करके—सोलहवाँ भाग करके **यथा शफम्**=जैसे आठवाँ भाग करके **यथा ऋणम्**=जैसे सारे ऋण को **संनयन्ति**=चुका देते हैं, **एव**=इसीप्रकार **सर्वं दुःष्वप्न्यम्**=दुःस्वप्नजनित सब भय को **द्विषते**=द्वेष करनेवाले मनुष्य के लिए **सं नयामसि**=प्राप्त कराते हैं। हमारे शत्रु ही दुःष्वप्नों को प्राप्त करें।

भावार्थ—जैसे थोड़ा-थोड़ा करके सारा ऋण उतर जाता है, उसी प्रकार हम गाढ़निद्रा का अभ्यास करके स्वप्नों को शत्रुओं के पास भेज देते हैं।

४७. [सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गायत्रं प्रातःसवनम्

अग्निः प्रातःसवने पात्वस्मान्वैश्वानरो विश्वकृद्विश्वशंभूः।
स नः पावको द्रविणे दधात्वायुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम॥ १॥

१. **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **प्रातःसवने**=जीवन के प्रातःसवन में—गायत्र-सवन में **अस्मान् पातु**=हमारा रक्षण करे। **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले, **विश्वकृत्**=सम्पूर्ण संसार का निर्माण करनेवाले, **विश्वशंभूः**=दुःख-शमन द्वारा सम्पूर्ण जगत् में शान्ति स्थापित करनेवाले **सः**=वे **पावकः**=पवित्र करनेवाले प्रभु **नः**=हमें **द्रविणे दधातु**=धन में धारण करें। २. इन धनों के द्वारा हम **आयुष्मन्तः**=दीर्घजीवनवाले व **सहभक्षाः स्याम**=मिलकर खानेवाले—मिलकर भोजन करनेवाले—अकेले न खानेवाले बनें।

भावार्थ—जीवन के प्रातःसवन में हम प्रभु को 'अग्नि व पावक', आगे ले-चलनेवाले व पवित्र करनेवाले के रूप में देखें। हम आगे बढ़ें, जीवन को पवित्र बनाएँ। हम सबका हित करनेवाले, निर्माणात्मक कर्मों में प्रवृत्त व शान्त बनें। धनों का सद्विनियोग करते हुए दीर्घजीवी व मिलकर भोजन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम्

विश्वेदेवा मरुत इन्द्रो अस्मानस्मिन्द्वितीये सवने न जह्युः।
आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्तो वयं देवानां सुमतौ स्याम॥ २॥

१. **अस्मिन् द्वितीये सवने**=इस दूसरे माध्यन्दिन सवन में **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुण, **मरुतः**=प्राण, **इन्द्रः**=जितेन्द्रियता **अस्मान् न जह्युः**=हमें न छोड़ें। इस गृहस्थ जीवनरूप माध्यन्दिन सवन में हम दिव्य गुणों को धारण करें, प्राणसाधना में प्रवृत्त हों और इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनने का प्रयत्न करें। २. ऐसा करते हुए **वयम्**=हम **आयुष्मन्तः**=प्रशस्त दीर्घजीवनवाले **एषाम्**=इन देवों—मरुत् व इन्द्र के विषय में **प्रियं वदन्तः**=प्रीतिकर बातों को कहते हुए **देवानाम्**=माता-पिता, आचार्य व अतिथि आदि देवों की **सुमतौ स्याम**=कल्याणी मति में हों—इनकी प्रेरणा के अनुसार कार्य करनेवाले हों।

भावार्थ—गृहस्थ जीवन में हम दिव्य गुणों के धारण का सङ्कल्प लें, प्राणायाम करनेवाले हों, जितेन्द्रिय बनने का यत्न करें। प्रशस्त दीर्घजीवनवाले देवों, मरुतों व इन्द्र के विषय में प्रिय बातों को बोलते हुए 'माता-पिता, आचार्य व अतिथियों' की प्रेरणा के अनुसार चलें।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च** ॥ देवता—**सुधन्वा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

जागतं तृतीयसवनम्

इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त।
ते सौधन्वनाः स्व॑रानशानाः स्वि॑ष्टिं नो अभि वस्यो नयन्तु॥ ३॥

१. **इदम्**=यह **तृतीयं सवनम्**=तृतीय जागत सवन **कवीनाम्**=क्रान्तदर्शी पुरुषों का है, **ये**=जो **चमसम्**=इस शरीररूप पात्र को **ऋतेन**=सत्य से ही—यज्ञ से ही **ऐरयन्त**=प्रेरित करते हैं। जीवन के तृतीय सवन में ये वानप्रस्थ व संन्यस्त पुरुष सत्य का आचरण व यज्ञ करने-

वाले होते हैं। २. **ते सौधन्वनाः**=वे उत्तम ओंकाररूप धनुष को अपनानेवाले—प्रणव का जाप करनेवाले **स्वः आनशानाः**=प्रकाश को व्याप्त करते हुए ज्ञानी पुरुष **नः**=हमें **स्विष्टिम्**=उत्तम यज्ञ की **अभि**=ओर **नयन्तु**=ले-चलें तथा इन यज्ञों के द्वारा **वस्यः**=प्रशस्त वसु की ओर ले-चलें।

भावार्थ—जीवन के तृतीय सवन में ज्ञानी पुरुष ऋत को अपनाकर, प्रणव का जाप करते हुए, प्रकाश को प्राप्त कराके हमें यज्ञों व वसुओं की ओर ले-चलनेवाले हों।

४८. [अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

श्येन, ऋभु, वृषा

श्येनोऽसि गायत्रच्छन्दा अनु त्वारभे।
स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा॥ १॥
ऋभुरसि जगच्छन्दा अनु त्वारभे।
स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा॥ २॥
वृषासि त्रिष्टुप्छन्दा अनु त्वारभे।
स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा॥ ३॥

१. जीवन के प्रातःसवन में तू **श्येनः असि**=(श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः) खूब ही ज्ञान प्राप्त करनेवाला है। **गायत्रच्छन्दाः**=तू गायत्र छन्दवाला है (गयाः प्राणाः, तान् तत्रे) प्राणशक्ति के रक्षण की प्रबल कामनावाला है। **त्वा अनु आरभे**=तेरा लक्ष्य करके मैं जीवन की क्रियाओं को आरम्भ करता हूँ। मेरी सब क्रियाएँ उस गायत्र सवन को सम्यक् पूर्ण करने की दृष्टि से होती हैं। (क) हे प्रभो! आप **मा**=मुझे **अस्य यज्ञस्य उदृचि**=इस प्रातःसवन नामक यज्ञ की अन्तिम ऋचा तक, अर्थात् समाप्ति तक **स्वस्ति संवह**=सम्यक् कल्याण प्राप्त कराइए। इसके लिए मैं **स्वाहा**=आपके प्रति अपना अर्पण करता हूँ।

२. **ऋभुः असि**=(ऋतेन भाति) तू सत्य वेदज्ञान से दीप्त जीवनवाला है। इस तृतीय सवन में तू **जगच्छन्दः**=सम्पूर्ण जगती के हित की कामनावाला हुआ है। **त्वा अनु आरभे**=मैं तेरा लक्ष्य करके ही जीवन की क्रियाओं को आरम्भ करता हूँ। (ख) आप मुझे इस सवन की अन्तिम ऋचा तक कल्याणपूर्वक ले-चलिए। मैं आपके प्रति अपना अर्पण करता हूँ।

३. **वृषा असि**=तू शक्ति व सुखों का सेचन करनेवाला है, **त्रिष्टुप्छन्दाः**=जीवन के इस माध्यन्दिन (त्रैष्टुभ छन्दवाले)-सवन में तू 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों को रोकने की कामनावाला है। **त्वा अनु आरभे**=तेरा लक्ष्य करके मैं जीवन की सब क्रियाओं को करता हूँ। (ग) हे प्रभो! आप मुझे इस यज्ञ की समाप्ति तक कल्याणपूर्वक ले-चलिए। मैं आपके प्रति अपना अर्पण करता हूँ।

भावार्थ—जीवन के प्रातःसवन में हम श्येन—खूब ही ज्ञान की रुचिवाले व प्राणरक्षण की इच्छावाले हों। माध्यन्दिन सवन में 'काम-क्रोध-लोभ' को रोकने की इच्छावाले तथा अपने में शक्ति का सेचन करनेवाले हों। तृतीय सवन में ज्ञानी बनकर ज्ञान-प्रसार द्वारा जगती के हित में प्रवृत्त हों। प्रभुकृपा से हमारे तीनों सवन पूर्ण हों।

विशेष—जो मनुष्य ज्ञान के निगरण से जीवन का प्रारम्भ करता है (ब्रह्मचारी=ज्ञान को चरनेवाला) और ज्ञानोपदेश में ही जीवन के अन्तिम भाग को लगाता है (गिरति=उपदिशति) वह गर्ग व गर्ग-पुत्र 'गार्ग्य' कहलाता है। यह गार्ग्य ही अगले सूक्त का ऋषि है—

४९. [एकोनपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कपिः बभस्ति तेजनम्

नहि ते अग्ने तन्व१ः क्रूरमानंश मर्त्यः।
कपिर्बभस्ति तेजनं स्वं जरायु गौरिव॥ १॥

१. **अग्ने**=हे तेजस्विन् प्रभो! **मर्त्यः**=वह मनुष्य **ते**=आपके दिये हुए **तन्वः**=इस शरीर के **क्रूरम्**=(कृत्) कर्तन व छेदन को **नहि आनंश**=नहीं प्राप्त करता, जो **कपिः**=(कं पिबति) शरीरस्थ रेतःकणरूप जल को पीनेवाला—शरीर में ही खपानेवाला तथा **तेजनम्**=(तेज=to protect) रक्षा के महान् साधन इस वीर्य को **बभस्ति**=(बभस्तिरत्तिकर्मा—नि० ५.१२) शरीर में उसी प्रकार निगीर्ण करनेवाला होता है **इव**=जैसे **गौः**=एक गौ **स्वं जरायु**=अपने जेर को निगीर्ण कर लेती है। निगरण के कारण ही यह 'गार्ग्य' कहलाता है।

भावार्थ—हम उत्पन्न वीर्य को शरीर में ही खपानेवाले बनें। इससे शरीर का कर्तन व छेदन नहीं होगा। यह वीर्य 'तेजन' है, हमारा रक्षण करनेवाला है।

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सात्त्विक जीवन

मेषइव वै सं च वि चोर्व१च्यसे यदुत्तरद्रावुपरश्च खादतः।
शीर्ष्णा शिरोऽप्ससाप्सो अर्दयन्नंशून्बभस्ति हरितेभिरासभिः॥ २॥

१. **मेषः इव**=स्पर्धावाले की भाँति—उन्नति-पथ पर औरों से आगे बढ़ जाने की स्पर्धावाला वीर्य-रक्षक तू **सम् अच्यसे**=औरों के साथ मिलकर चलता है **च**=और **वै उरु च**=खूब ही विशाल **वि अच्यसे**=विविध गतियोंवाला होता है। इस वीर्यरक्षक पुरुष के जीवन में उन्नति-पथ पर आगे बढ़ने की स्पर्धा होती है। यह औरों के साथ मिलकर गतिवाला होता है। इसके विविध कार्य विशालता से युक्त होते हैं। **यत्**=क्योंकि **उत्तर-द्रौ**=(उत्तर=जीव, द्रु=शरीर-वृक्ष) इसके इस जीव-शरीर में यह **स्वयं च**=तथा **उपरः**=मेघ भी **खादतः**=खाते हैं। यह अकेला नहीं खाता, यह यज्ञ करता हुआ मेघों को भी जन्म देनेवाला होता है—'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः'। २. **शीर्ष्णा**=सिर के दृष्टिकोण से यह **शिरः**=शिखर पर पहुँचता है और **अप्ससा अप्सः**=आकृति से तो यह सौन्दर्य ही होता है (अप्सस=from, beauty) **अंशून्**=ज्ञान की रश्मियों की **अर्दयन्**=याचना करता हुआ यह **हरितेभिः आसभिः**=रोग-हरण की भावनाओं के साथ तथा वासनाओं को परे फेंकने की भावनाओं के साथ **बभस्ति**=खाता है। भोजन खाते हुए इसका दृष्टिकोण यही होता है कि यह उसे नीरोगता व निष्पापता देनेवाला हो।

भावार्थ—संसार में हम उन्नति-पथ पर आगे बढ़ने की स्पर्धावाले बनें। सदा यज्ञ करके यज्ञशेष का सेवन करें। ज्ञान के दृष्टिकोण से शिखर पर तथा तेजस्वी, सुन्दर आकृतिवाले हों। ज्ञान की याचना करें। भोजन इस दृष्टिकोण से करें कि यह हमें नीरोगता देनेवाला हो तथा सात्त्विकता को उत्पन्न करके यह वासनाओं को हमसे दूर रक्खे।

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥

सुपर्णा

सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः।
नि यन्नियन्त्युपरस्य निष्कृतिं पुरू रेतो दधिरे सूर्यश्रितः॥ ३॥

१. **सुपर्णाः**=गतमन्त्र में वर्णित उत्तमता से अपना पालन व पूरण करनेवाले लोग **उप द्यवि वाचम् अक्रत**=उस ज्योतिर्मय प्रभु के समीप आसीन हुए-हुए स्तुति-वाणियाँ बोलते हैं। **आखरे**=अपने निवास-स्थान में **कृष्णाः**=अच्छाइयों को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाले **इषिराः**=ये गतिशील व्यक्ति **अनिर्तिषुः**=अपने कर्त्तव्यकर्मों में नृत्य करते हैं—प्रभु की उपासना के द्वारा अपने जीवन को उत्तम बनाते हुए ये सदा गतिशील होते हैं। २. **यत्**=जब ये **नि**=निश्चय से यज्ञों के द्वारा **उपरस्य**=मेघ की **निष्कृतिम्**=उत्पत्ति (सम्पादन) को **नियन्ति**=प्राप्त होते हैं, तब ये **सूर्यश्रितः**=ज्ञान के सूर्य का सेवन करनेवाले उपासक **पुरु**=पालन व पूरण करनेवाले **रेतः**=शक्तिकणों को **दधिरे**=धारण करते हैं। यज्ञों द्वारा ये मेघों की उत्पत्ति का कारण बनते हैं और ज्ञान-प्रधान जीवन बिताते हुए शक्ति-कणों को अपने अन्दर धारण करते हैं।

भावार्थ—हम उत्तमता से अपना पालन व पूरण करें—प्रभु की उपासना करें—कर्त्तव्यकर्मों में लगे रहें। यज्ञों के द्वारा मेघों के निर्माण में भागी बनें। ज्ञान-साधना में प्रवृत्त हुए-हुए शक्ति का रक्षण करें।

विशेष—इस सूक्त का 'गार्ग्यः' चूहों आदि से यव-क्षेत्रों का रक्षण करता हुआ तथा यवादि सात्त्विक अन्नों का भोजन करता हुआ 'अथर्वा' बनता है और प्रार्थना करता है कि—

५०. [पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (अभयकामः)**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥

चूहों का विनाश

हृतं तर्दं समङ्कमाखुमश्विना छिन्तं शिरो अपि पृष्टीः शृणीतम्।
यवान्नेददानपि नह्यतं मुखमथाभयं कृणुतं धान्या ̍य॥ १॥

१. हे **अश्विना**=कृषि-कर्म में व्याप्त स्त्री-पुरुषो! (अश व्याप्तौ) **तर्दम्**=हिंसक **समंकम्**=(समञ्चनं बिलं संप्रविश्य गच्छन्तम्) बिल में प्रवेश करके रहनेवाले **आखुम्**=चूहे को **हतम्**=विनष्ट करो, **शिरः छिन्तम्**=इसके सिर को काट डालो, **पृष्टीः अपि शृणितम्**=पार्श्व-अस्थियों को भी चूर्णीभूत कर दो। २. यह चूहा **यवान्**=क्षेत्र उत्पन्न यवों को **न इत् अदान्**=न खा जाए, अतः हे अश्विनौ! आप **मुखम्**=इसके मुख को **अपिनह्यतम्**=बाँध दो और **अथ**=ऐसा करके अब **धान्याय**=व्रीहि-यवादिरूप धान्य के लिए **अभयं कृणुतम्**=निर्भयता कीजिए।

भावार्थ—खेती के विनाशक चूहों को नष्ट करना ठीक ही है। धान्य-रक्षण के लिए इनका विनाश आवश्यक है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

इमान् यवान् अहिंसन्तः

तर्द है पतङ्ग है जभ्य हा उपक्वस।
ब्रह्मेवासंस्थितं हविरनदन्त इमान्यवानहिंसन्तो अपोदित॥ २॥

१. **है तर्द**=हे हिंसक जन्तो! **है पतङ्ग**=हे टिड्डीदल! **है जभ्य**=हे हिंसा के योग्य **उपक्वस**=रेंगनेवाले कीट! **इव**=जैसे **ब्रह्मा**=ब्रह्मा **असंस्थितं हविः**=असंस्कृत हवि नहीं लेता, उसी प्रकार तुम **इमान् यवान्**=इन यवों को **अनदन्तः**=न खाते हुए **अहिंसन्तः**=इन्हें किसी प्रकार हिंसित न करते हुए **अप उद् इत**=इस स्थान से दूर चले जाओ।

भावार्थ—धान्यरक्षक लोग कृषिनाशक जन्तुओं से कृषि को बचाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा (अभयकामः)** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

तर्दापते, वघापते

तर्दापते वघापते तृष्टजम्भा आ शृणोत मे।
य आरण्या व्य᳡द्वरा ये के च स्थ व्य᳡द्वरास्तान्त्सर्वाञ्जम्भयामसि॥ ३॥

१. **तर्दापते**=हे चूहे आदि हिंसकों के स्वामिन्! हे **वघापते**=(अवघ्नन्तीति वघाः) कृषिनाशक पतङ्ग आदि के स्वामिन्! **तृष्टजम्भाः**=तीक्ष्ण दाँतोंवाले तुम **मे आशृणोत**=मेरी इस बात को सुनो। **ये**=जो तुम **आरण्याः**=जङ्गल में होनेवाले **व्यद्वराः**=विविधरूप से यवादि को खा जानेवाले हो **च**=और **ये के**=जो कोई ग्राम्य भी **व्यद्वराः**=विविध अदनशील प्राणी हो, **तान् सर्वान्**=उन सबको **जम्भयामसि**=हम नष्ट करते हैं।

भावार्थ—कृषिनाशक चूहों व टिड्डीदलों को समाप्त करना ही ठीक है।

विशेष—यवादि सात्त्विक भोजनों को करता हुआ यह रोगों व वासनाओं को शान्त करता हुआ 'शन्ताति' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

५१. [एकपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सोम

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ १॥

१. **वायोः**=(वातः प्राणो भूत्वा०) प्राणसाधना द्वारा **पूतः**=पवित्र हुआ-हुआ तथा **पवित्रेण**=(नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते) ज्ञान के द्वारा—ज्ञान साधना—निरन्तर स्वाध्याय द्वारा **प्रत्यङ्**=(प्रतिमुखम् अञ्चन्) वापस शरीर में गतिवाला होता हुआ **सोमः**=शरीर में उत्पन्न रेतःकण **अतिद्रुतः**=नाभिदेश को लाँघकर ऊर्ध्व गतिवाला होता है। सोम-रक्षण के प्रमुख साधन हैं—प्राणायाम और स्वाध्याय। २. यह सुरक्षित सोम **इन्द्रस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष का **युज्यः सखा**=परमात्म-प्राप्ति का साधनभूत मित्र है। सोम-रक्षण द्वारा बुद्धि की तीव्रता होकर प्रभु का दर्शन होता है।

भावार्थ—सोम के रक्षण व ऊर्ध्वगमन के लिए हम प्राणसाधना व स्वाध्याय में प्रवृत्त हों। जितेन्द्रिय बनकर हम सोम का रक्षण करेंगे तो यह हमारी बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाएगा।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आपः

आपो अस्मान्मातरः सूदयन्तु घृतेन नो घृतप्व᳡ः पुनन्तु।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि॥ २॥

१. **आपः**=शरीरस्थ रेतःकण (आपः रेतो भूत्वा०) **मातरः**=हमारे जीवन का निर्माण करनेवाले हैं। ये **अस्मान्**=हमें **सूदयन्तु**=(क्षालयन्तु पापरहितान् शुद्धान् कुर्वन्तु-सा०) पापरहित व शुद्ध जीवनवाला बनाएँ, **घृतेन**=ज्ञान-दीप्ति के द्वारा **घृतप्वः**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीपन द्वारा पवित्र करनेवाले ये रेतःकण **नः पुनन्तु**=हमें पवित्र करें। २. **देवीः**=ये दिव्य गुणोंवाले व रोगों को पराजित करने की कामनावाले रेतःकण **हि**=निश्चय से **विश्वम्**=सब **रिप्रम्**=दोषों को **प्रवहन्ति**=बहा ले जाते हैं, धो डालते हैं। **आभ्यः**=इन रेतःकणरूप जलों से **शुचिः**=पवित्र बना

हुआ **आ पूतः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में पवित्र हुआ-हुआ **इत्**=निश्चय से **उत् एमि**=ऊपर उठता हूँ।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित रेतःकण हमें शुद्ध व पवित्र बनाते हैं। सब दोषों से शून्य होकर मैं ऊपर उठता हूँ।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

वरुण

यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्या३श्चरन्ति।
अचित्त्या चेत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥ ३ ॥

१. हे **वरुण**=सब पापों का निवारण करनेवाले प्रभो! हम **मनुष्याः**=मनुष्य **यत् किंच**=जो कुछ **इदं अभिद्रोहम्**=यह द्रोह-जनित पाप **दैव्ये जने**=देव-सम्बन्धी प्राणियों के विषय में **चरन्ति**=कर बैठते हैं अथवा **चेत्**=यदि **अचित्त्या**=नासमझी से **तव धर्मा**=आपके नियमों का **युयोपिम**=व्यामोह—विपर्यास करते हैं तो हे **देव**=हमारे पापों को जीतने की कामनावाले प्रभो! **नः**=हमें **तस्मात् एनसः**=उस पाप से **मा रीरिषः**=मत हिंसित कीजिए।

भावार्थ—अज्ञानवश हमसे त्रुटियाँ हो जाती हैं। प्रभु हमें प्रेरणा प्राप्त कराके उन पापों से बचाएँ। हम उन पापों के शिकार न हो जाएँ।

विशेष—प्रभु-प्रेरणा से ज्ञान-दीप्ति (भा) प्राप्त करके पापों को परे फेंकनेवाला (be removed गल्) पापों से दूर रहनेवाला यह व्यक्ति 'भागलि' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

अथ चतुर्दशः प्रपाठकः

५२. [द्विपञ्चाशः सूक्तम्]

ऋषिः—**भागलिः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूर्यः

उत्सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन्। आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ॥ १ ॥

१. **सूर्यः**=सबको कर्मों में प्रेरक यह सूर्य **पुरः**=सामने—पूर्व दिशा में **रक्षांसि**=हमारे शरीर में उपद्रव करनेवाले रोगकृमियों को **निजूर्वन्**=नितरां हिंसित करता हुआ **दिवः उत् एति**=अन्तरिक्ष-प्रदेश से उदित होता है। २. वह **आदित्यः**=भूपृष्ठ से जलों का आदान करनेवाला सूर्य **पर्वतेभ्यः**=मेघों के लिए उदित होता है। जलों को वाष्पीभूत करके ऊपर ले-जाता हुआ यह सूर्य मेघों की उत्पत्ति का कारण बनता है। यह **विश्वदृष्टः**=सब प्राणियों से देखा जाता है, और **अदृष्टहा**=अदृष्ट रोगकृमियों का भी विनाशक है।

भावार्थ—उदय होता हुआ सूर्य रोगकृमियों का संहार करता है। यह मेघों के निर्माण में कारण बनता है।

ऋषिः—**भागलिः** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अन्तर्मुख-यात्रा

नि गावो गोष्ठे असदन्नि मृगासो अविक्षत। न्यू३र्मयो नदीनां न्य१दृष्टा अलिप्सत ॥ २ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सूर्य-सम्पर्क से स्वस्थ शरीरवाले व्यक्ति के जीवन में **गावः**=इन्द्रियाँ **गोष्ठे**=शरीररूप गोष्ठ में **नि असदन्**=निश्चय से स्थित होती हैं। ये विषयों में भटकती नहीं रहतीं। अब **मृगासः**=ये आत्मान्वेषण की वृत्तिवाले व्यक्ति **नि अविक्षत**=हृदयान्तरिक्ष में ही प्रवेश

करनेवाले होते हैं। २. इन **नदीनाम्**=प्रभु का स्तवन करनेवालों की **ऊर्मयः**='शोकमोहौ क्षुत्पिपासे जरामृत्यू षडूर्मयः'—छह ऊर्मियाँ, अर्थात् जीवन-समुद्र में उठनेवाली शोक-मोह, भूख-प्यास, जरा व मृत्युरूप छह तरङ्गें **नि अदृष्टाः**=निश्चय से अदृष्ट हो जाती हैं। इनके जीवन में ये छह तरङ्गें नहीं उठतीं। ये तो **नि अलिप्सत**=निश्चय से उस आत्मतत्त्व को ही पाने की कामनावाले होते हैं।

भावार्थ—स्वस्थ पुरुष की इन्द्रियाँ विषयों में नहीं भटकतीं। ये आत्मान्वेषक हृदयान्तरिक्ष में प्रवेश करते हैं। इनके जीवन समुद्र में शोक-मोह आदि की तरङ्गें नहीं उठतीं। ये निश्चय ही प्रभु-प्राप्ति की कामनावाले होते हैं।

ऋषिः—**भागलिः** ॥ देवता—**भेषजम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्वभेषजी वीरुध

आयुर्ददं विपश्चितं श्रुतां कण्वस्य वीरुधम्।
आभारिषं विश्वभेषजीमस्यादृष्टान्नि शमयत्॥ ३॥

१. **कण्वस्य**=मेधावी पुरुष की इस **आयुर्ददम्**=दीर्घजीवन को प्राप्त करनेवाली **विपश्चितम्**=रोग-शमनोपाय को जाननेवाली **श्रुताम्**=प्रसिद्ध **विश्वभेषजीम्**=सब रोगसमूहों को शान्त करनेवाली **वीरुधम्**=विविध उन्नतियों की कारणभूत इस वेदज्ञानरूप वल्ली को मैं **आभारिषम्**=प्राप्त करता हूँ। २. लाकर प्रयुज्मान यह वीरुत् **अस्य**=इस रोग के **अदृष्टान्**=शरीर-मध्यवर्ती द्रष्टुमशक्य रोगों को भी **निशमयत्**=शान्त करे।

भावार्थ—हम वेदज्ञान को प्राप्त करें और सब रोगों को अपने से दूर करें। इस वेदविद्या को विश्वभेषजी जानें।

विशेष—विश्वभेषजी वेदविद्या द्वारा पूर्ण नीरोग बना हुआ यह व्यक्ति 'बृहच्छुक्रः' अतिशयित वीर्यवाला—शक्तिशाली होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

५३. [त्रिपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**बृहच्छुक्रः** ॥ देवता—**पृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

जीवन को उत्तम बनानेवाली दस बातें

द्यौश्च म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुक्रो बृहन्दक्षिणया पिपर्तु।
अनु स्वधा चिकितां सोमो अग्निर्वायुर्नः पातु सविता भगश्च॥ १॥

१. **द्यौः च पृथिवी च**=द्युलोक व पृथिवीलोक **मे**=मेरे लिए **इदम्**=इस अभिलषित फल को दें। मेरा मस्तिष्करूप द्युलोक व शरीररूप पृथिवीलोक दोनों ही क्रमशः दीप्त व दृढ़ हों। इसप्रकार ये मुझे इष्ट जीवन प्राप्त कराएँ। ये मेरे लिए **प्रचेतसौ**=प्रकृष्टज्ञान का साधन बनें। २. **बृहत्**=वृद्धि का कारणभूत **शुक्रः**=वीर्य **दक्षिणया**=दान की वृत्ति के साथ **पिपर्तु**=मेरा पालन व पूरण करे। ब्रह्मचर्याश्रम में मैं मस्तिष्क व शरीर का उत्तम विकास करता हुआ ज्ञानी बनूँ तो गृहस्थ में वीर्य को नष्ट न करता हुआ दान की वृत्तिवाला बनूँ। ३. अब वानप्रस्थ में **अनु स्वधा**=आत्मतत्त्व का धारण **सोमः**=सौम्यता व **अग्निः**=आगे बढ़ने की भावना **चिकिताम्**=अनुकूल ज्ञान को देनेवाली हों। ४. अन्त में **वायुः**=(वा गतौ) निरन्तर क्रियाशीलता **सविता**=सूर्य की भाँति प्रकाश व प्रेरणा प्राप्त करना **च**=और **भगः**=(भज सेवयाम्) प्रभु-उपासन **नः पातु**=हमारा रक्षण करे।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में हम मस्तिष्क व शरीर का विकास करें। गृहस्थ में वीर्य का रक्षण

करते हुए दान की वृत्तिवाले बनें। वानप्रस्थ में आत्मतत्त्व की धारणा, सौम्यता व आगे बढ़ने की भावनावाले हों। अन्त में निरन्तर क्रियाशील, प्रकाशदायी, उपासनामय जीवनवाले हों।

ऋषिः—**बृहच्छुक्रः** ॥ देवता—**पृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पुनः

पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु।
वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा॥ २॥

१. प्रतिदिन **पुनः**=फिर से **प्राणः**=प्राण **नः**=हमें **आ एतु**=प्राप्त हो। पुनः फिर से **आत्मा**=मन हमें प्राप्त हो। **पुनः**=फिर से **चक्षुः**=दृष्टिशक्ति **नः आ एतु**=हमें प्राप्त हो और **पुनः**=फिर **असुः**=शरीर से मलों को परे फेंकने की शक्ति प्राप्त हो (असु क्षेपणे)। २. **वैश्वानरः**=(अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥) जाठराग्नि **नः**=हमारे **अन्तः**=अन्दर **विश्वा दुरितानि**=रोगनिदानभूत सब विकारों को **तिष्ठाति**=निवृत्त गतिवाला करता है। जाठराग्नि के ठीक होने पर रोग उत्पन्न नहीं होते। यह अग्नि **अदब्धः**=रोगादियों से हिंसित नहीं होता, यह **तनूपाः**=शरीर का रक्षक है।

भावार्थ—हमें प्रतिदिन प्राणशक्ति, मन, चक्षु, अपानशक्ति तथा रोगों को उत्पन्न न होने देती हुई जाठराग्नि प्राप्त हो।

ऋषिः—**बृहच्छुक्रः** ॥ देवता—**पृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वर्चस् व शिव-मन

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन।
त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो मार्ष्टु तन्वो३ यद्विरिष्टम्॥ ३॥

१. हम **वर्चसा**=शरीरगत दीप्ति से **पयसा**=देहव्यवस्थिति-निमित्त पयोवत् सारभूत रस से **सम्**=सङ्गत हों। **तनूभिः**=शरीर के सब हस्त-पाद आदि अवयवों से **सम् अगन्महि**=सङ्गत हों तथा **शिवेन मनसा सम्**=शोभन अन्तःकरण से सङ्गत हों। २. **त्वष्टा**=वह ज्ञानदीप्त निर्माता प्रभु **नः**=हमारे लिए **अत्र**=इस जीवन में **वरीयः**=उत्तम 'सत्य, यश, श्री' को **कृणोतु**=करे। **नः**=हमारे **तन्वः**=शरीर का **यत् विरिष्टम्**=जो रोगार्त अङ्ग हो, उसे **अनुमार्ष्टु**=शुद्ध कर दे।

भावार्थ—हम वर्चस्, पयस्, स्वस्थ अङ्गों व शिव मन से सङ्गत हों। प्रभु हमें उत्कृष्ट 'सत्य, यश व श्री' को प्राप्त कराए और सब रोगों को दूर कर दे।

विशेष—ऊँची-से-ऊँची स्थिति में पहुँचकर हम 'ब्रह्मा' बनें। यही अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

५४. [चतुष्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्नीषोमौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्षत्रं, श्रियं, महीम्

इदं तद्युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये।
अस्य क्षत्रं श्रियं महीं वृष्टिरिव वर्धया तृणम्॥ १॥

१. **इदम्**=इस **तत् उत्तरम्**=उस उत्कृष्ट कर्म को **युजे**=अपने साथ जोड़ता हूँ, श्रेष्ठ कर्मों को ही करनेवाला बनता हूँ। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'—यज्ञादि उत्तम कर्मों को ही अपनाता हूँ। उस **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अष्टये**=अभिमत फल की प्राप्ति के लिए **शुम्भामि**=

अपने में अलङ्कृत करता हूँ। २. हे प्रभो! आप **अस्य**=इस अपने उपासक के **क्षत्रम्**=बल को, **श्रियम्**=श्री को तथा **महीम्**=पूजा की वृत्ति को (मह पूजायाम्) इसप्रकार **वर्धय**=बढ़ाइए, **इव**=जैसेकि **वृष्टिः**=वर्षा **तृणम्**=तृण को बढ़ाती है।

भावार्थ—हम उत्तम कर्मों में व्यापृत हों और प्रभु का स्मरण करें। प्रभु हमारे बल, धन व उपासन के भाव को बढ़ाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्नीषोमौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्नीषोमौ

अस्मै क्षत्रमग्नीषोमावस्मै धारयतं रयिम्। इमं राष्ट्रस्याभीवर्गे कृणुतं युज उत्तरम्॥ २॥

१. जीवन में 'अग्नि और सोम', 'ज्योति व आपः' का समन्वय आवश्यक है। अग्नि 'अग्रता, प्रचण्डता, उत्साह, वीरता' आदि का प्रतीक है और सोम 'शान्ति व नम्रता' का। दोनों का मेल जीवन को सुन्दर बनाता है। केवल 'अग्नि' जला देगा और केवल 'सोम' ठण्डा ही कर देगा, अतः मन्त्र में कहा है कि हे **अग्नीषोमौ**=अग्नि व सोमतत्त्वो! **अस्मै**=इस साधक के लिए **क्षत्रम्**=बल को **धारयतम्**=धारण करो। **अस्मै**=इसके लिए **रयिम्**=धन को धारण करो। २. **इमम्**=इसे **राष्ट्रस्य**=राष्ट्र के **अभिवर्गे**=मण्डल (circuit, compass) में **उत्तरं कृणुतम्**=उत्कृष्ट स्थिति में करो। प्रभु कहते हैं कि मैं इसे **युजे**=उत्कृष्ट कर्मों में लगाता हूँ। अग्नि और सोम का समन्वय हमें मार्ग-भ्रष्ट नहीं होने देता।

भावार्थ—अग्नि और सोम (तीव्रता व नम्रता) का समन्वय होने पर हमें बल व ऐश्वर्य प्राप्त होता है। 'अग्नीषोमौ' का उपासक राष्ट्र में उन्नत स्थिति में होता है। प्रभु इसे उत्कृष्ट कर्मों में लगाये रखते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्नीषोमौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुन्वते यजमानाय

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति।
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते॥ ३॥

१. **सबन्धुः**=(समानजन्मगोत्रजः) समान गोत्रवाला **च**=या **असबन्धुः च**=असमान गोत्रवाला भी **यः**=जो कोई भी शत्रु **अस्मान् अभिदासति**=हमें उपक्षीण करता चाहता है, **तं सर्वम्**=उन सबको **सुन्वते**=शरीर में सोम (वीर्य) का अभिषव करनेवाले **यजमानाय**=यज्ञशील **मे**=मेरे लिए **रन्धयासि**=वशीभूत कीजिए।

भावार्थ—हम शरीर में सोमशक्ति का सम्पादन करें और यज्ञशील बनें। प्रभु के अनुग्रह से हम सब शत्रुओं को वशीभूत कर पाएँगे।

५५. [पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सर्वोत्तम देवयान मार्ग

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
तेषामज्यानिं यतमो वहाति तस्मै मा देवाः परि धत्तेह सर्वे॥ १॥

१. **ये**=जो **बहवः**=बहुत-से **देवयानः पन्थानः**=देवों के जाने योग्य (देवा यैर्यान्ति) मार्ग **द्यावापृथिवी अन्तरा**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक के बीच में **संचरन्ति**=(वर्तन्ते) हैं, अर्थात्

संसार में जितने भी उत्तम मार्ग हैं, **तेषाम्**=उनमें से **यतमः**=जौन-सा सबसे अधिक **अज्यानिम्**=समृद्धि को—लाभ को **वहाति**=प्राप्त कराए, **तस्मै**=उस मार्ग के लिए **सर्वे देवाः**=हे सब देवो! आप **इह**=यहाँ—इस जीवन में **मा परिधत्त**=मुझे धारण करो।

भावार्थ—हम देवयान मार्गों में भी सर्वोत्तम देवयान मार्ग से गतिवाले हों। 'द्यावापृथिवी के मध्य में' इन शब्दों में इस भाव को समझकर कि 'मध्यमार्ग' ही श्रेष्ठ है, उसी से चलने का यत्न करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गौ, प्रजा, निवात-शरण

ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद्वर्षाः स्विते नो दधात।
आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद्वः शरणे स्याम॥ २॥

१. **ग्रीष्मः हेमन्तः शिशिरः वसन्तः शरद् वर्षाः**=गर्मी, हेमन्त, शिशिर, वसन्त, शरद और वर्षा—ये छह-की-छह ऋतुएँ **नः**=हमें **स्विते**=सुष्टु प्राप्तव्य धन में व उत्तम आचरण में **दधात**=धारण करें। हम ऋतुचर्या का ध्यान करते हुए उस-उस ऋतु के अनुसार ही अपनी दैनिक चर्चा को बनाएँ। २. हे ग्रीष्म आदि ऋतुओ! **नः**=हमें **गोषु प्रजायाम् आभजत**=उत्तम गौ आदि पशुओं में तथा सन्तानों में भागी बनाओ। हमारे घरों में उत्तम गौएँ हों और हम उत्तम प्रजावाले हों। हे ऋतुओ! हम **वः**=आपके **निवाते**=वातादि के उपद्रवों से रहित **शरणे इत्**=गृह में ही **स्याम**=हों—निवास करनेवाले हों।

भावार्थ—ऋतुओं के अनुकूल आचरण करते हुए हम उत्तम 'गौओं, प्रजाओं व वात आदि के उपद्रवों से शून्य' गृहोंवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

इदावत्सर, परिवत्सर, संवत्सर

इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ३॥

१. **चान्द्राणां प्रभवादीनां पञ्चके पञ्चके युगे। सम्परीदान्विदित्येतच्छब्दपूर्वस्तु वत्सराः।** उत्पत्ति के पश्चात प्रथम वर्ष 'संवत्सर' कहलाता है, दूसरा 'परिवत्सर', तीसरा 'इदावत्सर', चौथा 'अनुवत्सर' और पाँचवां 'इद्वत्सर'। तै० ब्रा० १.४.१०.१ के अनुसार—'**अग्निर्वाव संवत्सरः, आदित्यः परिवत्सरः, चन्द्रमा इदावत्सरः, वायुरनुवत्सरः**'। इन **इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय**=चन्द्रमा, आदित्य व अग्नि के लिए **बृहत् नमः कृणुत**=खूब ही नमस्कार करो। चन्द्रमा के समान सदा 'शान्त व प्रसन्नचित्त' बनता। आदित्य के समान सदा 'गुणों का आदान करनेवाले व ज्योतिर्मय' बनना तथा अग्नि के समान सदा 'अग्रगतिवाले' बनना ही इनको नमस्कार करना है। २. **वयम्**=हम **तेषाम्**=उन चन्द्रमा, आदित्य व अग्नि की जोकि **यज्ञियानाम्**=पूजा के योग्य व संगतिकरण योग्य हैं, **सुमतौ**=कल्याणी मति में तथा **भद्रे सौमनसे अपि**=शोभन सौमनस्य में **स्याम**=सदा हों। चन्द्र, आदित्य, अग्नि से 'आह्लाद, ज्योति व अग्रगति' का पाठ पढ़ते हुए हम 'शुभ बुद्धि, भद्र मन व स्वस्थ शरीर' को प्राप्त करें।

भावार्थ—हम अपने जीवन में सर्वप्रथम अग्रगति का पाठ पढ़ें—हमारे जीवन का ध्येय 'आरोहणम्', 'आक्रमणम्' हो। फिर हम सूर्य की भाँति ज्ञान से दीप्त बनने के लिए यत्नशील हों और अपने मनों को चन्द्र की भाँति सौम्य बनाएं। हमारे जीवन का लक्ष्य 'सुमति व भद्र

सौमनस' को प्राप्त करना हो।

विशेष—इसप्रकार जीवन का विकास करते हुए हम 'शन्ताति' बनें—शान्ति का विस्तार करनेवाले। यह शन्ताति ही अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

५६. [षट्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भापथ्यापङ्क्तिः** ॥

सर्पदंश कष्ट-निवारण

मा नो देवा अहिर्वधीत्सतोकान्त्सहपूरुषान्।
संयतं न वि ष्परद्व्यात्तं न सं यमन्नमो देवजनेभ्यः ॥ १ ॥

१. हे **देवाः**=विष प्रतीकार में कुशल वैद्यो! **अहिः**=साँप **सतोकान्**=पुत्र-पौत्र आदि सन्तानोंवाले **सहपुरुषान्**=भृत्य आदि पुरुषोंसहित **नः** हमें **मा वधीत्**=हिंसित करनेवाले न हों। २. इन **देवजनेभ्यः नः नमः**=सर्पादि के विष-निवारण में समर्थ देवजनों के लिए हम नमस्कार करते हैं, जिनके अनुग्रह व कौशल से **संयतम्**=संश्लिष्ट (बन्द) हुआ-हुआ सर्प का मुख न **विष्परत्**=खुलता नहीं और **व्यात्तम्**=विवृत (खुला हुआ) मुख **न संयमत्**=बन्द नहीं होता। इसप्रकार ये वैद्य साँप को डसने में असमर्थ कर देते हैं।

भावार्थ—कुशल वैद्यों के कौशल से हमें सर्पदंश से होनेवाले कष्टों से मुक्ति प्राप्त हो।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सर्पों के लिए नमस्कार

नमोऽस्त्वसिताय नमस्तिरश्चिराजये। स्वजाय बभ्रवे नमो नमो देवजनेभ्यः ॥ २ ॥

१. **असिताय**=कृष्णवर्ण सर्पराज के लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो—इससे हम दूर ही रहते हैं, दूर से ही इसे प्रणाम करते हैं। **तिरश्चिराजये नमः**=तिर्यग् अवस्थित वलियोंवाले—तिरछी धारियोंवाले सर्प के लिए भी नमस्कार हो—इससे हम दूर से ही बचें। **स्वजाय**=शरीर में चिपट जानेवाले सर्प के लिए तथा **बभ्रवे**=भूरे रङ्गवाले सर्प के लिए **नमः**=नमस्कार हो—इनसे हम बचें और वज्रप्रहार से इन्हें समाप्त करें। २. **देवजनेभ्यः नमः**=सर्प-विष-चिकित्सा करनेवाले वैद्यों के लिए हम उचित सत्कार प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—'असित, तिरश्चिराजि, स्वज व बभ्रु' नामक सभी सर्पों से हम बचें, सर्पविष-चिकित्सकों का उचित आदर करें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥

सर्पमुख-संहनन

सं ते हन्मि दता दतः समु ते हन्वा हनू।
सं ते जिह्वया जिह्वां सम्वास्नाह आस्य॑म् ॥ ३ ॥

१. हे **अहे**=सर्प! **ते**=तेरे **दता**=उपरि पङ्क्ति दन्त से **दतः**=अधः पङ्क्ति में स्थित दाँतों को **संहन्मि**=संहत—संश्लिष्ट करता हूँ **उ**=और **ते**=तेरे **हन्वा**=हनु से **हनू**=हनु को **सम्**=संहत कर देता हूँ—तेरे दोनों जबड़ों को परस्पर सटा देता हूँ। **ते**=तेरी **जिह्वया**=जिह्वा से **जिह्वाम्**=जिह्वा को **सम्**=संहत करता हूँ **उ**=और **आस्ना**=तेरे मुख से **आस्यम्**=मुख को **सम्**=संहत करता हूँ—मुख के उत्तर और अधर भागों को संश्लिष्ट कर डालता हूँ।

भावार्थ—सर्प के मुख को सम्यक् भींचकर उसे वशीभूत कर लेना चाहिए।

५७. [सप्तपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भावरोग की एकमात्र औषध

इदमिद्वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम्।
येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत्॥ १ ॥

१. **इदम् इत् वा**=यह ब्रह्मज्ञान ही **उ**=निश्चय से **भेषजम्**=औषध है। **इदम्**=यह **रुद्रस्य**=परमात्मा का उपदिष्ट वेदज्ञान इस भवरोग का **भेषजम्**=औषध है, **येन**=जिस ब्रह्मज्ञान-(वेदज्ञान)-रूप औषध से **इषुम्**=इस जीवनरूप बाण को **अपब्रवत्**=अपने से दूर करनेवाला होता है। यह जीवनरूप बाण **एकतेजनाम्**=देहरूप एक काण्डवाला है और **शतशल्याम्**=सैकड़ों व्याधियाँ ही इसमें शल्यरूप हैं अथवा जीवन के सौ वर्ष ही इसमें शत शल्य हैं।

भावार्थ—प्रभु से उपदिष्ट वेदज्ञान को क्रिया में अनूदित करने पर हम मुक्त हो जाते हैं। भवरोग का औषध यह वेदज्ञान ही है।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गोमूत्र-फेन से व्रणचिकित्सा

जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत।
जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे॥ २ ॥

१. (जालाषमिति उदकनामसु पठितम्। अत्र च विनियोगानुसारेण गोमूत्रफेनलक्षणम्—सा०) हे परिचारको! **जालाषेण अभिषिञ्चत**=गोमूत्र-फेन से व्रण को सब ओर से धोओ (प्रक्षालयत), **जालाषेण उपसिञ्चत**=गोमूत्र-फेन से इसे उपसिक्त करो—रुई को उसमें भिगोकर व्रण पर रखो। यह **जालाषम्**=गोमूत्रफेन **उग्रं भेषजम्**=बड़ा तीक्ष्ण रोग-निवर्तक औषध है। हे इन्द्र! **तेन**=उस जालाष से **नः**=हमें **जीवसे**=दीर्घजीवन की प्राप्ति के लिए **मृड**=सुखी कीजिए।

भावार्थ—गोमूत्रफेन तीव्र कृमिनाशक औषध है। इसके प्रयोग से कैंसर आदि का दूर होना भी सम्भव है।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**रुद्रः** [**भेषजम्**] ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

सर्वरोग शमन

शं च नो मयश्च नो मा च नः किं चनाममत्।
क्षमा रपो विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम्॥ ३ ॥

१. हे देव! **नः**=हमारे **शं च**=रोग का शमन भी हो **च**=और **नः मयः**=हमें रोगजनित दुःख की शान्ति से सुख प्राप्त हो **च**=और **नः** हमारा **किंचन**=कोई भी अङ्ग-प्रत्यङ्ग **मा आममत्**=रोगग्रस्त न हो। २. **रपः**=(रपसः) रोग के कारणभूत पाप का **क्षमा**=शमन—शान्ति हो। **नः** हमारे लिए **विश्वम्**=सारे पदार्थ **भेषजम् अस्तु**=औषधरूप हों—हम भोज्यपदार्थों को भी क्षुधारूप रोग के औषध के रूप में ही सेवन करें। **सर्वम्**=(सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः) वे सर्वव्यापक प्रभु **नः**=हमारे लिए **भेषजम् अस्तु** औषध हों। प्रभु-स्मरण हमें सब व्याधियों से बचाए।

भावार्थ—हमारे रोग शान्त हो गये, सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग स्वस्थ हों। भोज्यद्रव्यों को हम औषधरूप से सेवन करें। प्रभु स्मरण हमारे पाप-रोगों का सर्वमहान् औषध हो।

विशेष—अपने जीवन को रोग न सापवृत्ति बनाकर यह विश्वकर्मीया बनता है। इसका

नाम 'अथर्वा' हो जाता है। यही अगले पाँच सूक्तों का ऋषि है—

५८. [अष्टपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (यशस्कामः)** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

यशस्वी जीवन

यशसं मेन्द्रो मघवान्कृणोतु यशसं द्यावापृथिवी उभे इमे।
यशसं मा देवः सविता कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम्॥ १॥

१. **मा**=मुझे **मघवान् इन्द्रः**=ऐश्वर्यशाली सर्वशक्तिमान् प्रभु **यशसं कृणोतु**=यशस्वी बनाए। मैं भी ऐश्वर्य व शक्ति से सम्पन्न बनकर यश प्राप्त करूँ। **इमे उभे**=ये दोनों **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **यशसम्**=मुझे यशस्वी बनाएँ। मेरा मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञानसूर्य से दीप्त हो और शरीररूप पृथिवीलोक दृढ़ हो। ये ज्ञानीदीप्ति व शक्ति मुझे यशस्वी बनाएँ। २. **मा**=मुझे **सविता देवः**=प्रेरक व दिव्य गुणों का पुञ्ज प्रभु **यशसं कृणोतु**=यशस्वी करे। मैं प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला बनूँ और दिव्य गुणों का अपने में वर्धन करूँ। इसप्रकार ही तो मेरा जीवन यशस्वी बनेगा। मैं **इह**=इस जीवन में **दक्षिणायाः दातु**=सब दक्षिणाओं के देनेवाले उस प्रभु का **प्रियः स्याम्**=प्रिय बनूँ।

भावार्थ—हम 'धन, शक्ति, ज्ञान व शरीर की दृढ़ता' को धारण करते हुए यशस्वी बनें। प्रभु-प्रेरणा को सुनते हुए दिव्य गुणों को धारण करें और उस सर्वप्रद प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—**अथर्वा (यशस्कामः)** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

इन्द्रः, आपः

यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान्यथाप ओषधीषु यशस्वतीः।
एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम॥ २॥

१. **यथा**=जैसे इन्द्रः सूर्य **द्यावापृथिव्योः**=द्युलोक व पृथिवीलोक में **यशस्वान्**=वृष्टिप्रदान आदि कर्मों के कारण यशस्वी है, **यथा**=जैसे **आपः**=जल **ओषधिषु**=व्रीही-यव आदि ओषधियों में **यशस्वतीः**=उनकी वृद्धि का हेतु होने से यशवाले हैं, **एव**=उसी प्रकार **विश्वेषु देवेषु**=सब देवों में **वयम्**=हम **सर्वेषु**=सब गुणों के दृष्टिकोण से **यशसः स्याम**=यशस्वी हों।

भावार्थ—सूर्य की भाँति हम गुणों का आदान करके उन गुणें को सर्वत्र फैलानेवाले बनें। जलों की भाँति रस का सञ्चार करनेवाले हों। सब दिव्य गुणों के कारण यशस्वी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा (यशस्कामः)** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्रः, अग्नि, सोम

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः॥ ३॥

इस मन्त्र की व्याख्या ६.३९.३ पर द्रष्टव्य है।

५९. [एकोनषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अरुन्धत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अरुन्धती ओषधि

अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति। अधेनवे वयसे शर्म यच्छ चतुष्पदे॥ १॥

१. हे **अरुन्धति**=ओषधे! **त्वम्**=तू **प्रथमम्**=पहले **अनडुद्भ्यः**=शकट का वहन

करनेवाले बैलों के लिए **शर्म**=सुख—व्रण आदि को पूरा करने के द्वारा सुख-चैन **यच्छ**=दे, तथा **त्वम्**=तू **धेनुभ्यः**=दूध देनेवाली गौओं के लिए सुख प्रदान कर। २. इसप्रकार **अधेनवे**=धेनु व्यतिरिक्त **वयसे**=पाँच वर्ष से छोटे गवाश्वादि जातीय **चतुष्पदे**=चतुष्पदमात्र के लिए सुख दे।

भावार्थ—अरुन्धती ओषधि के प्रयोग से हमारे बैल, गौ व अन्य पशु व्रणादिरहित होकर सुखी हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अरुन्धत्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पयस्वान् गोष्ठ

शर्म यच्छत्वोषधिः सह देवीररुन्धती। करत्पयस्वन्तं गोष्ठमयक्ष्माँ उत पूरुषान्॥ २॥

१. **देवीः सह अरुन्धती**=दिव्य गुणों से सम्पन्न यह अरुन्धती **ओषधिः**=ओषधि **शर्म यच्छतु**=हमारे सब पशुओं के लिए सुख दे। २. यह अरुन्धती ओषधि सब पशुओं की नीरोगता के द्वारा **गोष्ठम्**=हमारे गो-निवास देश को **पयस्वन्तम् करत्**=प्रभूत दुग्ध से युक्त करे, **उत**=और इस गोदुग्ध के द्वारा **पूरुषान्**=घर के सब व्यक्तियों को **अयक्ष्मान्**=नीरोग करे।

भावार्थ—अरुन्धती ओषधि हमारे पशुओं को नीरोग बनाकर हमारे घरों को दूध से भर दे। इस गोदुग्ध द्वारा यह हमारे सब मनुष्यों को स्वस्थ बनाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अरुन्धत्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'विश्वरूपा सुभगा जीवला' अरुन्धती

विश्वरूपां सुभगामच्छावदामि जीवलाम्।
सा नो रुद्रस्यास्तां हेतिं दूरं नयतु गोभ्यः॥ ३॥

१. **विश्वरूपाम्**=नीरोगता द्वारा सबको उत्तम रूप देनेवाली, **सुभगाम्**=उत्तम ऐश्वर्यशाली, **जीवलाम्**=जीवनीशक्ति को देनेवाली इस अरुन्धती को **अच्छ वदामि**=लक्ष्य करके कहता हूँ कि **सा**=वह अरुन्धती **रुद्रस्य अस्तां हेतिम्**=हमारी त्रुटियों के परिणामस्वरूप रुद्र (प्रभु) से फेंके गये अस्त्र को **नः गोभ्यः**=हमारी गौओं से **दूरं नयतु**=दूर देश में प्राप्त कराए, अर्थात् अरुन्धती के प्रयोग से हमारे गवादि पशु नीरोग हों—यह उन्हें उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त कराए, उन्हें सौभाग्यवाला करे—उनके दूध में यह जीवनशक्ति को स्थापित करनेवाली हो।

भावार्थ—अरुन्धती 'विश्वरूपा, सुभगा व जीवला' है। यह हमारे पशुओं को नीरोग बनाए।

६०. [षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अर्यमा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विषितस्तुप 'अर्यमा'

अयमा यात्यर्यमा पुरस्ताद्विषितस्तुपः। अस्या इच्छन्नग्रुवै पतिमुत जायामजानये॥ १॥

१. **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा में **वि-षित-स्तुपः**=विशेषरूप से बँधा हुआ है रश्मियों का समुच्छ्रय जिसमें, ऐसा **अयम्**=यह **अर्यमा**=सूर्य **आयाति**=आता है। रश्मि-समूह से युक्त सूर्य पूर्व दिशा में उदित होता है। यह सूर्य इस कन्या को भी एक-एक दिन करके यौवन प्राप्त करता है और आज **अस्यै अग्रुवै**=इस अविवाहित युवति के लिए **पतिम्**=पति को चाहता है, **उत**=और **अजानये**=जायारहित युवक के लिए **जायाम्**=पत्नी को चाहता हुआ यह सूर्य आता है। २. सूर्य अपनी प्रकाशमयी किरणों से युवक व युवतियों को यौवन प्राप्त कराता है और उनमें एक-दूसरे को प्राप्त करने की कामना जगाता है, मानो सूर्य ही इस कार्य को करनेवाला हो। वस्तुतः कन्या का पिता भी 'अर्यमा' है—'**अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति**' जो कन्या के हाथ को पति के हाथ

में देते हैं तथा 'अरीन् यच्छति' काम-क्रोध-लोभ आदि का नियमन करते हैं, साथ ही सूर्य की भाँति **'विषितस्तुप'**=अपने अन्दर ज्ञानरश्मियों के समुच्छ्रय को बाँधनेवाले होते हैं।

भावार्थ—आदर्श पिता सूर्य के समान है। वह अपनी युवति कन्या के लिए पति की कामना करता हुआ एक उत्तम युवक के लिए कन्या का हाथ ग्रहण कराता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अर्यमा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

समनं यती

अश्रमदियमर्यमन्नन्यासां समनं यती। अङ्गो न्व१र्यमन्नस्या अन्याः समनमायति॥ २॥

१. हे **अर्यमन्**=सूर्यवत् दीप्तज्ञानवाले कन्या-पितः! **इयम्**=यह आपकी कन्या **अन्यासाम्**=अपनी अन्य सहेलियों के **समनं यती**=(समनं संमननात् संमानाद्वा—निरु० ७.४.३) सम्मानवाले प्रसङ्गों में—पति-मिलाप के अवसरों पर—विवाहोत्सवों में जाती हुई **अश्रमत्**=थक गई है। २. हे **अर्यमन्**=काम-क्रोध के नियन्ता कन्या-पितः! **नु**=अब **अङ्ग उ**=शीघ्र ही ऐसी व्यवस्था करो कि **अन्याः**=इसकी अन्य सहेलियाँ **अस्याः समनम् आयति**=(आयन्ति) इसके विवाहोत्सव में—पति-मिलन प्रसङ्गों में उपस्थित हों।

भावार्थ—युवति कन्या जब अपनी सहेलियों के विवाहोत्सव में सम्मिलित होती है तो उसकी भी 'पति-प्राप्ति' की कामना होना स्वाभाविक है, अतः पिता को अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अर्यमा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रतिकाम्य पति

धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम्।
धातास्या अग्रुवै पतिं दधातु प्रतिकाम्य१म्॥ ३॥

१. कन्या-पिता प्रभु से प्रार्थना करता है कि **धाता**=सर्वाधार प्रभो! आप **पृथिवीं दाधार**=पृथिवी का धारण करते हैं, **धाता**=सर्वाधार आप ही **द्याम्**=द्युलोक का **उत**=और **सूर्यम्**=सूर्य का धारण करते हैं। **धाता**=धाता आप ही **अस्यै अग्रुवै**=इस पतिकामा कन्या के लिए **प्रतिकाम्यम्**=आभिमुख्येन कामयितव्य **पतिं दधातु**=पति प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—कन्या का पिता प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आप ही सबके आधार हो। इस कन्या को भी आपने ही आधार देना है। इसके लिए आप ही योग्य वर प्राप्त कराएँगे।

६१. [एकषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

माधुर्य, ज्योति, व्यचस् (व्यापकता, उदारता)

मह्यमापो मधुमदेरयन्तां मह्यं सूरो अभरज्ज्योतिषे कम्।
मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः सविता व्यचो धात्॥ १॥

१. **आपः**=जल **मह्यम्**=मेरे लिए **मधुमत् एरयन्ताम्**=अपने माधुर्योपेत रस को प्राप्त कराएँ तथा **सूरः**=सूर्य **मह्यम्**=मेरे लिए **कम्**=सुखकर आत्मीय तेज को **ज्योतिषे**=प्रकाश के लिए **अभरत्**=प्राप्त कराता है। जल व सूर्य मुझमें क्रमशः माधुर्य व ज्योति स्थापित करते हैं, २. **उत**=और **तपोजाः**=तप से शक्तियों का प्रादुर्भाव करनेवाले **विश्वेदेवाः**=सब देव (विद्वान्) **मह्यम्**=मेरे लिए **व्यचः**=व्यापकता—विस्तार को **धात्**=धारण करें। वह **सविता देवः**=

सबका प्रेरक, दिव्य गुणों का पुञ्ज प्रभु भी **मह्यम्**=मेरे लिए उदारता को धारण करानेवाला हो।

भावार्थ—स्वाभाविक सरल जीवन बिताते हुए हम जलों से माधुर्य तथा सूर्य से ज्योति प्राप्त करें। 'माता-पिता, आचार्य व प्रभु' मुझे उदार—विशाल हृदय बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

सत्यम् अनृतम्

अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूंरजनयं सप्त साकम्।
अहं सत्यमनृतं यद्वदाम्यहं दैवीं परि वाचं विशश्च॥ २॥

१. प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **पृथिवीं उत द्याम्**=पृथिवी और द्युलोक को **विवेच**=पृथक्-पृथक् थामे रखता हूँ। **अहम्**=मैं **साकम्**=साथ-साथ ही **सप्त ऋतून्**=सात गतिशील प्राणों को—'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँख व मुख' **अजनयम्**=उत्पन्न करता हूँ। २. **अहम्**=मैं **यत् सत्यम् अनृतम्**=जो सत्य और झूठ है, उसका **वदामि**=प्रतिपादन करता हूँ। 'यह सत्य है, यह अनृत है'—इसका बतानेवाला मैं ही हूँ, **च**=और **अहम्**=मैं ही **दैवीं वाचम्**=दिव्य वेदवाणी को **परिविशः**=प्रजाओं का लक्ष्य करके प्रतिपादित करता हूँ।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवीलोक का धारण करनेवाले वे प्रभु ही हैं। प्रभु ही हमें मुखादि सात प्राणों को—इन्द्रियों को प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही हमारे लिए सत्य व असत्य का विविक्तरूप से उपदेश करते हैं। प्रभु ही सृष्टि के आरम्भ में वेदवाणी का प्रकाश करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

अग्नीषोमौ

अहं जजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूंरजनयं सप्त सिन्धून्।
अहं सत्यमनृतं यद्वदामि यो अग्नीषोमावजुषे सखाया॥ ३॥

१. **अहम्**=मैं **पृथिवीम्**=पृथिवी को **उत द्याम्**=और द्युलोक को **जजान**=प्रादुर्भूत करता हूँ। **अहम्**=मैं ही प्राणिशरीर में **ऋतून्**=गतिशील **सप्त सिन्धून्**=सात प्राण-प्रवाहों को **अजनयम्**=उत्पन्न करता हूँ। २. **अहम्**=मैं ही **यत्**=जो **सत्यम्**=सत्य है और **अनृतम्**=जो अनृत है उसका **वदामि**=उपदेश करता हूँ, हृदयस्थ रूपेण सत्यासत्य का विवेक प्राप्त कराता हूँ। मैं वह हूँ **यः**=जोकि **सखाया**=परस्पर मित्रभूत—एक-दूसरे के पूरक होने से परस्पर सम्बद्ध **अग्नीषोमौ**=अग्नि और सोमतत्त्वों को **अजुषे**=प्रीतिपूर्वक सेवन कराता हूँ, अर्थात् मेरा उपासक अपने जीवन में अग्नि और सोम इन दोनों तत्त्वों का समन्वय करनेवाला बनता है। इसी कारण उसका जीवन समत्ववाला बना रहता है।

भावार्थ—ब्रह्माण्ड व पिण्ड के जनक प्रभु हमारे जीवनों में सत्यासत्य का प्रकाश करते हैं। वे अपने उपासकों में अग्नि व सोमतत्त्व को स्थापित करके उनके जीवनों को समत्वयुक्त करते हैं।

६२. [द्विषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वैश्वानरादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सूर्य, वायु, मेघ, द्यावापृथिवी' द्वारा पवित्रता

वैश्वानरो रश्मिभिर्नः पुनातु वातः प्राणेनेषिरो नभोभिः।
द्यावापृथिवी पयसा पयस्वती ऋतावरी यज्ञिये नः पुनीताम्॥ १॥

१. **वैश्वानरः**=सब प्राणियों का हित करनेवाला सूर्य **रश्मिभिः**=अपनी किरणों से **नः पुनातु**=हमें पवित्र करे। **वातः**=देहमध्य में विचरण करता हुआ वायु **प्राणेन**=श्वासोच्छ्वासादिरूप से हमें पवित्र करें। **इषिरः**=यह गमनशील—अन्तरिक्ष में विचरण करनेवाला वायु **नभोभिः**=अन्तरिक्ष-प्रदेशस्थ मेघों से हमें पवित्र करे। २. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **नः**=हमें **पुनीताम्**=पवित्र करें। जो द्यावापृथिवी **पयसा पयस्वती**=सारभूत रस से सारवाले हैं, **ऋतावरी**=उदकवाले हैं और **यज्ञिये**=यज्ञों के निष्पादन में समर्थ हैं, अथवा संगतिकरण योग्य हैं। हमें इन द्यावापृथिवी को मिलाकर ही चलना चाहिए। अपने जीवन में शरीर (पृथिवी) व मस्तिष्क (द्युलोक) दोनों का ही ध्यान रखना चाहिए।

भावार्थ—सूर्य, वायु, मेघ व द्यावापृथिवी—सभी हमें पवित्र करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वैश्वानरादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वैश्वानरी वाणी का अध्ययन

वैश्वानरीं सूनृतामा रभध्वं यस्या आशास्तन्वो वीतपृष्ठाः।
तया गृणन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ २॥

१. **वैश्वानरीम्**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभु से दी गई **सूनृताम्**=उत्तम, दुःखों का परिहाण करनेवाली व सत्य (सु+ऊन+ऋत) वेदवाणी को **आरभध्वम्**=आरम्भ करो, इसका अध्ययन आरम्भ करो, **यस्याः**=जिस वेदवाणी की **आशाः**=दिशाएँ **तन्वः**=विस्तारवाली हैं तथा **वीतपृष्ठाः**=दीप्त व विस्तीर्ण पृष्ठवाली हैं—इस वेदवाणी का ज्ञान अनन्त व दीप्त है। २. **तया**=उस वेदवाणी से **सधमादेषु**=आनन्दपूर्वक मिलकर बैठने के अवसरों पर **गृणन्तः**=प्रभुस्तवन करते हुए **वयम्**=हम **रयीणाम्**=धनों के **पतयः स्याम**=पति हों—दास न बन जाएँ।

भावार्थ—हम वेदवाणी का अध्ययन करें। यह वेदवाणी अनन्त ज्ञानवाली है। मिलकर बैठने के अवसरों पर इस वाणी द्वारा हम प्रभुस्तवन करें और इस संसार में धनों के दास न बनकर उनके स्वामी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वैश्वानरादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शुचयः, पावकाः

वैश्वानरीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
इहेडया सधमादं मदन्तो ज्योक्पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम्॥ ३॥

१. **वैश्वानरीम्**=प्राणिमात्र का हित करनेवाले प्रभु की वेदवाणी को **आरभध्वम्**=पढ़ना आरम्भ करो। यह **वर्चसे**=तुम्हारे वर्चस् के लिए होगी। इससे **शुद्धाः भवन्तः**=पापशून्य होते हुए **शुचयः**=ब्रह्मवर्चस् से दीप्त बनकर **पावकाः**=औरों को भी पवित्र करनेवाले बनो। २. **इह**=यहाँ—घरों में **इडया**=इस वेदवाणी से **सधमादं मदन्तः**=आनन्दपूर्वक मिलकर बैठने के स्थानों में आनन्दित होते हुए हम **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **उच्चरन्तं सूर्यम्**=उदय होते हुए सूर्य को **पश्येम**=देखें, अर्थात् बड़े दीर्घजीवी बनें।

भावार्थ—हम वेदवाणी के अध्ययन से पापरहित बनकर औरों को भी पवित्र करनेवाले हों। घरों में मिलकर, आनन्दपूर्वक इसका पाठ करें और दीर्घजीवी बनें।

विशेष—वेदवाणी के अध्ययन के द्वारा काम-क्रोध-लोभ आदि की जिघांसावाला यह पुरुष 'द्रुह्वणः' कहलता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

६३. [त्रिषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—द्रुह्वणः (आयुर्वर्चोबलकामः)॥ देवता—निर्ऋतिः ॥ छन्दः—अतिजगती॥

'अदो-मदं' अन्नम्

यत्ते॑ दे॒वी निर्ऋ॑तिराब॒बन्ध॒ दाम॑ ग्री॒वास्व॑विमो॒क्यं यत्।
तत्ते॒ वि ष्या॒म्यायु॑षे॒ वर्च॑से॒ बला॑यादोम॒दमन्न॑मद्धि॒ प्रसू॑तः॥ १॥

१. हे पुरुष! **देवी**=तुझे पराजित करने की कामनावाली (दिव् विजिगीषा) अथवा तुझे मद की अवस्था में ले-जानेवाली **निर्ऋतिः**=इस अनिष्टकारिणी पापदेवता ने **ते**=तेरी **ग्रीवासु**=कण्ठगत धमनियों में—तेरी गर्दन में **यत्**=जिस **अविमोक्यम्**=कठिनता से छुड़ाये जाने योग्य **दाम**=रज्जु को—पाश को **आबबन्ध**=बाँधा है, **ते**=तेरे **तत्**=उस पाश को **विष्यामि**=मैं छुड़ाता हूँ। गतमन्त्र के अनुसार वेदाध्ययन की प्रवृत्ति हमें इस निर्ऋति के पाश से छुड़ानेवाली होगी। २. इस निर्ऋति के पाश से मुक्त होकर तू **प्रसूतः**=इस वेदवाणी से प्रेरित हुआ-हुआ **अदोमदम्**=अनन्तकाल तक व्याप्त होनेवाले—आनन्द प्राप्त करानेवाले **अन्नम् अद्धि**=ज्ञान का ओदन खा। 'ब्रह्मचारी'—ज्ञान को चरनेवाला बन, 'आ-चार्य' तुझे इस ज्ञान को चराएँ। यह तेरे **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए हो, **वर्चसे**=प्राणशक्ति के लिए हो तथा **बलाय**=तुझे बल सम्पन्न करे।

भावार्थ—हम वेदाध्यन द्वारा अपने को निर्ऋति के पाश से मुक्त करें। अनन्त आनन्द प्राप्त करानेवाले ज्ञान को प्राप्त करें। ब्रह्मौदन के खानेवाले बनें। यह हमें 'दीर्घजीवन, प्राणशक्ति व बल' प्राप्त कराए।

ऋषिः—द्रुह्वणः (आयुर्वर्चोबलकामः)॥ देवता—यमः॥ छन्दः—जगतीगर्भाजगती॥

'निर्ऋतिपाश विमोक्ता' यम (मृत्यु)

नमो॑ऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽ य॒स्मया॒न्वि चृ॑ता बन्धपा॒शान्।
य॒मो मह्यं॒ पुन॒रित्त्वां दद॑ाति॒ तस्मै॑ य॒माय॒ नमो॑ अस्तु मृ॒त्यवे॑॥ २॥

१. साधक निर्ऋति=पापदेवता से कहता है कि हे **तिग्मतेजः**=तीक्ष्णतेजवाली **निर्ऋते**=पापदेवते! **नमः अस्तु**=हमारा तुझे दूर से ही नमस्कार हो। तूने इन **अयस्मयान्**=लोहे के बने हुए—बड़े दृढ़ **बन्धपाशान्**=बन्धनरज्जुओं को **विचृता**=छिन्न कर दिया है—हमसे पृथक् कर दिया है। हे पापदेवते! तेरी बड़ी कृपा है कि तूने हमें बन्धनमुक्त कर दिया है। २. इस बन्धनमुक्त साधक से प्रभु कहते हैं कि पाप-बन्धनों से मुक्त करनेवाला **यमः**=तुम्हारे जीवन को नियमित बनानेवाला आचार्य **त्वाम्**=तुझे **पुनः इत्**=फिर—पाप-बन्धन से मुक्त करके **मह्यं ददाति**=मुझे देता है। **तस्मै**=उस **यमाय**=जीवन को नियमित करनेवाले **मृत्यवे**=द्वितीय नव-जीवन प्राप्त करानेवाले आचार्य के लिए **नमः अस्तु**=तुम्हारा नमस्कार हो—तुम उन्हें आदरपूर्वक प्रणाम करो।

भावार्थ—हम पाप-देवता को दूर से ही नमस्कार करें। नियन्ता, नव-जीवन देनेवाले आचार्यों का हम आदर करें। वे हमें पाप-बन्धन से मुक्त करके प्रभु के लिए प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—द्रुह्वणः (आयुर्वर्चोबलकामः)॥ देवता—मृत्युः॥ छन्दः—जगतीगर्भाजगती॥

यमेन पितृभिः संविदानः

अ॒य॒स्मये॑ द्रुप॒दे बे॑धिष इ॒हाभिहि॑तो मृ॒त्युभि॒र्ये स॒हस्र॑म्।
य॒मेन॒ त्वं पि॒तृभि॑: संविदा॒न उ॑त्त॒मं नाक॒मधि॑ रोहये॒मम्॥ ३॥

१. हे **निर्ऋते**=पापदेवते! तू इस मनुष्य को **अयस्मये**=लोह-निर्मित बड़े दृढ़ **द्रुपदे**=दारु

निर्मित पादबन्धन में—बेड़ियों में **बेधिषे**=बाँध देती है। **इह**=इस लोक में यह पुरुष इन **मृत्युभिः**=मृत्यु के कारणभूत पाशों से **अभिहितः**=बद्ध हो जाता है। उन मृत्युपाशों से बद्ध हो जाता है **ये**=जोकि **सहस्रम्**=हज़ारों की संख्या में हैं। कितने ही पाश-बन्धनों से यह पुरुष जकड़ा जाता है। हे साधक! **त्वम्**=तू **यमेन**=जीवन को नियमित बनानेवाले आचार्य से तथा **पितृभिः**=रक्षा करनेवाले माता-पिता आदि से **संविदानः**=सम्यक् ज्ञान प्राप्त करता हुआ अपने को **इमम्**=इस **उत्तमं नाकम्**=उत्कृष्ट मोक्षलोक में **अधिरोहय**=आरूढ़ कर—तू मोक्षलोक को प्राप्त करनेवाला बन।

भावार्थ—पापदेवता हमें दृढ़ पाशों में जकड़ देती है। हम आचार्यों व पितरों से ज्ञान प्राप्त करके पाप-बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करें।

ऋषिः—**द्रुह्वणः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'वृषा, अग्नि, अर्य' आचार्य

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ। इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥ ४॥

१. विद्यार्थी आचार्य से कहता है कि हे **वृषन्**=मुझे ज्ञान-जल से सिक्त करनेवाले, **अग्ने**=मुझे आगे-और-आगे ले-चलनेवाले आचार्य! **अर्यः**=आप जितेन्द्रिय हो और सब ज्ञानों के स्वामी हो। **इत्**=निश्चय से **सम्**=सम्यक् और **सं आ युवसे**=अच्छी प्रकार ही मुझे बुराइयों से पृथक् करते हो और अच्छाई के साथ जोड़ते हो। २. आप **इडःपदे**=इस ज्ञान की वाणी के मार्ग में **समिध्यसे**=खूब ही चमकते हो। **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **वसूनि**=इन ज्ञान-साधनों को **आभर**=समन्तात् भृत कीजिए। हमें ज्ञानदीप्त करके उस ज्ञानाग्नि में सब निर्ऋति-बन्धनों को भस्म कर दीजिए।

भावार्थ—ज्ञानदीप्त आचार्य हमें ज्ञानसिक्त करके सब बुराइयों से पृथक् करें।

विशेष—यह ज्ञानदीप्त व्यक्ति स्थितप्रज्ञ बनता है। इसकी मति विषयों से आन्दोलित नहीं होती। इसी से यह 'अथर्वा' कहलाता है। यह अथर्वा ही अगले छह सूक्तों का ऋषि है।

६४. [चतुःषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

संज्ञान

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ १॥

१. आचार्य का विद्यार्थी को प्रथम उपदेश यह है कि तुम **संजानीध्वम्**=समान ज्ञानयुक्त होओ। ज्ञान ही सब व्यवहारों का मूल है। समान ज्ञानवाले होकर **संपृच्यध्वम्**=मिलकर कार्यों को करनेवाले होओ। **वः**=तुम्हारे **मनांसि**=मन **संजानताम्**=परस्पर विरुद्ध ज्ञानजनक न हों। अन्तःकरण समान ज्ञान को पैदा करेगा तो संज्ञानवाले बनकर मिलकर कर्मों को करनेवाले होंगे। २. **यथा**=जिस प्रकार **संज्ञानानाः**=संज्ञानवाले **पूर्वे**=पालन व पूरण करनेवाले **देवाः**=देव **भागम्** **उपासते**=अपने-अपने कर्त्तव्य का उपासन करते हैं, उसी प्रकार हम भी 'सांमनस्य, संज्ञान व सम्पर्क' वाले हों।

भावार्थ—देव संज्ञानवाले होते हुए अपने कर्त्तव्यकर्मों को करते हैं, उसी प्रकार हम भी संज्ञानवाले होकर अपने-अपने कर्त्तव्यों को करें।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**सांमनस्यम्**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

मन्त्र व चित्त की समानता

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम्।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम्॥ २॥

१. **मन्त्रः**=तुम्हारा कार्य-अकार्य का पर्यालोचन **समानः**=एकरूप हो। उस मन्त्र के अनुसार **समितिः**=संगति—कार्यों में प्रवृति **समानी**=एकरूप हो, तुम्हारे **व्रतं समानम्**=कर्म एकरूप हों। **एषाम्**=इन सबका **चित्तम्**=अन्तःकरण भी **सह**=एकविध हो—मिला हुआ हो। २. **समानेन**=साधारण—ऐक्य के जनक **हविषा**=दानपूर्वक अदन की वृति से **वः**=तुम्हें **जुहोमि (हावयामि)**=यज्ञशील बनाता हूँ। वस्तुत यह यज्ञशीलता—स्वार्थ से ऊपर उठने की वृत्ति ही हमें परस्पर मेलवाला करती है। इस हवि के द्वारा **समानं चेतः**=एकरूप चित्त को **अभिसंविशध्वम्**=आभिमुख्येन प्राप्त होओ।

भावार्थ—हमारा मन्त्र, समिति, व्रत व चित्त समान हो। हम यज्ञशील होते हुए समान चित्त को प्राप्त हों। हम सब अभिन्न हृदय बन पाएँ।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**सांमनस्यम्**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

'आकूति, हृदय व मन' की समानता

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ३॥

१. हे सांमनस्य की कामनावाले पुरुषो! **वः**=तुम्हारा **आकूतिः**=संकल्प **समानी**=समान हो। **वः**=तुम्हारे **हृदयानि**=संकल्पजनक अन्तःकरण **समाना**=एकरूप हों। २. **वः**=तुम्हारा **मनः**=सुख आदि का अनुभव करनेवाला मन **समानम् अस्तु**=एकरूप हो, **यथा**=जिससे **वः**=तुम्हारा **सुसह**=उत्तमता से मिलकर कार्यों का करना **असति**=हो।

भावार्थ—तुम्हारे संकल्प, हृदय और मन एक हों, जिससे तुम मिलकर कार्यों को कर सको।

६५. [पञ्चषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषि:— **अथर्वा**॥ देवता—**पराशरः, इन्द्र**॥ छन्द:—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

शत्रुबाधा-निवारण

अव मन्युरवायताव बाहू मनोयुजा।
पराशर त्वं तेषां पराञ्चं शुष्ममर्दयाधा नो रयिमा कृधि॥ १॥

१. शत्रु-सम्बन्धी **मन्युः**=क्रोध **अव**=हमसे दूर हो। **आयता**=आयम्यमान धनुष् आदि आयुध **अव**=हमसे दूर हों। **मनोयुजा बाहू**=मनसहित इन शत्रुओं की भुजाएँ **अव**=अवाचीन हों—आयुधों के उठाने में अशक्त हों। २. हे **पराशर**=(पराशृणाति शत्रून्) शत्रुओं को सुदूर नष्ट करनेवाले इन्द्र! **त्वम्**=आप **तेषाम्**=उन शत्रुओं के **शुष्मम्**=शत्रुशोषक बल को **पराञ्चम्**=पराङ्मुख **अर्दय**=बाधित कीजिए—हमपर इस बल का आक्रमण न हो, ऐसी व्यवस्था कीजिए। **अध**=अब—शत्रुओं को पराङ्मुख करने के पश्चात् **नः**=हमारे लिए **रयिम्**=ऐश्वर्य को **आकृधि**=समन्तात् प्राप्त कराइए।

भावार्थ—शत्रुओं के क्रोध व आयुधों को हमसे दूर कीजिए। उनके मन में आक्रमण का उत्साह न हो और भुजाओं में आक्रमण की शक्ति न हो। शत्रुओं के बल को हमसे दूर बाधित

कीजिए और हमें ऐश्वर्यशाली बनाइए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पराशरः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सैनिकों व प्रजाओं का कर्त्तव्य

निर्हस्तेभ्यो नैर्हस्तं यं देवाः शरुमस्यथ। वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम्॥ २॥

१. हे **देवाः**=शत्रुओं के पराजय की कमानवाले सैनिको! (दिव् विजिगीषा) **निर्हस्तेभ्यः**=हम निहत्थे प्रजाजनों के रक्षण के लिए **यम्**=जिस **नैर्हस्तम्**=शत्रुओं को निहत्था करनेवाले **शरुम्**=हिंसक बाण आदि आयुध को **अस्यथ**=तुम फेंकते हो, तो **अहम्**=मैं प्रजाजन भी **अनेन हविषा**=इस हवि के द्वारा—राष्ट्र रक्षा के लिए दिये जानेवाले धन के द्वारा **शत्रूणां बाहून्**=शत्रुओं की भुजाओं को **वृश्चामि**=काटता हूँ।

भावार्थ—शस्त्रास्त्रशून्य हाथोंवाले प्रजाजनों के रक्षण के लिए सैनिक शक्तिप्रयोग के द्वारा शत्रुओं को निहत्था करनेवाले हों। प्रजाजन धन-प्रदान द्वारा इस युद्ध में सफलता प्राप्त करानेवाली हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पराशरः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्रः+सत्वानः

इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्यः। जयन्तु सत्वानो मम स्थिरेणेन्द्रेण मेदिना॥ ३॥

१. **प्रथमम्**=पहले **इन्द्रः**=राष्ट्र का रक्षक राजा—देववृत्ति की प्रजाओं का रक्षण करानेवाला राजा **असुरेभ्यः**=आसुरवृति के पुरुषों के लिए—राष्ट्र में डाके आदि उपद्रव करानेवाले पुरुषों के लिए **नैर्हस्तं चकार**=निहत्थेपन की व्यवस्था करता है—उन्हें निगृहीत करके निहत्था करता है, इसप्रकार यह राजा आन्तर शत्रुओं का विनाश करता है। २. इस राजा की यह कामना होती है कि **स्थिरेण**=युद्धकर्म में दृढ़ **मेदिना**=सैनिकों के साथ स्नेह करनेवाले **इन्द्रेण**=शत्रुविद्रावक सेनापति के साथ **मम**=मेरे **सत्वानः**=(सादयन्ति शत्रून् इति) शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले सैनिक **जयन्तु**=शत्रुओं को पराजित करें।

भावार्थ—राजा राष्ट्र के आन्तर व बाह्य शत्रुओं का विनाश करे। सेनापति वीर और सैनिकों के प्रति स्नेहवाला हो।

६६. [षट्षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अघहार-वेधन

निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान्।
समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषामघहारो विविद्धः॥ १॥

१. **अभिदासन्**=हमारा उपक्षय करनेवाला शत्रु **निर्हस्तः अस्तु**=निहत्था हो जाए—उसके हाथ सामर्थ्यशून्य हो जाएँ। **ये**=जो शत्रु **सेनाभिः**=अपनी सेनाओं के साथ **अस्मान् युधम् आयन्ति**=हमारे साथ युद्ध के लिए आते हैं, २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक सेनापते! तू उन शत्रुओं को **महता वेधन**=महान् हनन-साधन आयुध से—वज्र से **समर्पय**=संयुक्त कर—वज्र के द्वारा इनका विनाश कर। **एषाम्**=इनका **अघहारः**=मरण-लक्षण, दुःख प्राप्त करानेवाला प्रधान पुरुष **विविद्धः**=विशेषरूप से विद्ध हुआ-हुआ **द्रातु**=भाग खड़ा हो।

भावार्थ—सेनाओं द्वारा आक्रमण करनेवाले शत्रु को हम निहत्था करें। इन्हें वज्र के प्रति अर्पित करें। इनके प्रधान को विविद्ध करके भगा दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रुओं का निर्हस्तीकरण

आतन्वाना आयच्छन्तोऽस्यन्तो ये च धावथ।
निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वोऽद्य पराशरीत्॥ २॥

१. **आतन्वानाः**=धनुषों पर चिल्ला चढ़ाये हुए **आयच्छन्तः**=शरसन्धान द्वारा धनुषों को तानते हुए **च**=तथा **अस्यन्तः**=तीरों को फेंकते हुए **ये**=जो तुम **धावथ**=हमारे अभिमुख शीघ्रता से आते हो, वे तुम सब **शत्रवः**=शत्रु **निर्हस्ताः**=निर्वीर्य हाथोंवाले **स्थन**=होओ। **इन्द्रः**=यह शत्रुविद्रावक सेनापति **वः**=तुम्हें **अद्य**=आज **पराशरीत्**=सुदूर विशीर्ण करता है।

भावार्थ—आक्रमण के लिए उद्यत शत्रुओं को सेनापति निर्हस्त करके सुदूर विनष्ट कर देता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रुधन-विभाजन

निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽङ्गैषां म्लापयामसि।
अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि भजामहै॥ ३॥

१. **शत्रवः**=हमारे शत्रु **निर्हस्ताः सन्तु**=निहत्थे हो जाएँ। हम **एषाम्**=इनके **अङ्गा**=हस्त-पादादि अवयवों को **म्लापयामसि**=म्लान—क्षीणहर्ष करते हैं। २. **अथ**=अब—इन्हें नष्ट करने के पश्चात् हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! आपके अनुग्रह से **एषां शत्रूणाम्**=इन शत्रुओं के **वेदांसि**=धनों को—अन्यायार्जित धनों को **वि भजामहै**=इनसे विभक्त कर देते हैं—इनके धनों को इनसे छीनकर यथोचितरूप में बाँट देते हैं।

भावार्थ—शत्रुओं को नष्ट करके उनके अन्यायोपार्जित धनों को उनसे विभक्त कर दिया जाए।

६७. [सप्तषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्रः+पूषा

परि वर्त्मानि सर्वत इन्द्रः पूषा च सस्रतुः।
मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां परस्तराम्॥ १॥

१. राष्ट्र में शत्रुओं से मोर्चा लेनेवाला 'इन्द्र' है। सैनिकों की भोजन-व्यवस्था को ठीक रखनेवाला 'पूषा' है। **इन्द्रः पूषा च**=ये इन्द्र और पूषा **सर्वतः**=सब दिशाओं में **वर्त्मानि**=सञ्चरण मार्गों को **परिसस्रतुः**=चारों ओर से निरुद्ध करके गति करते हैं। शत्रुओं को प्रवेश के लिए द्वार उपलब्ध नहीं होता। २. **अद्य**=अब **अमूः**=वे दूर पर दिखाई देती हुई **अमित्राणां सेनाः**=शत्रुओं की सेनाएँ—रथ, तुरग, पदाति आदि **परस्तराम्**=अशियेन—बहुत ही **मुह्यन्तु**=व्यामूढचित्त—कार्याकार्य-ज्ञान-शून्य हो जाएँ।

भावार्थ—सेनापति व अन्नाध्यक्ष सब ओर से मार्गों पर गति करते हुए शत्रु-सैन्यों के लिए मार्गों को निरुद्ध कर दें। शत्रु-सैन्य मूढ बनकर आक्रमण करने का साहस छोड़ बैठे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रधान-विनाश

मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहयः। तेषां वो अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम्॥ २॥

१. हे **अमित्राः**=हे शत्रुओ! **मूढाः चरत**=जय-उपाय-ज्ञानशून्य होकर तुम युद्धभूमि में इसप्रकार विचरो **इव**=जैसे **अशीर्षाणः अहयः**=अशिरस्क—छिन्नशिरस-सर्प केवल चेष्टा करते हैं, परन्तु कार्य कुछ भी नहीं कर सकते, ऐसे ही तुम भी हो जाओ। २. **अग्निमूढानाम्**=आग्नेय-अस्त्रों से मूढ बने हुए—घबराये हुए **तेषां वः**=उन तुममें से **वरं वरम्**=श्रेष्ठ-श्रेष्ठ को—मुख्य व्यक्तियों को **इन्द्रः**=यह शत्रुविद्रावक सेनापति **हन्तु**=मार डाले। मुख्यों के मारे जाने पर युद्ध समाप्त हो जाने से दूसरों को मारने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

भावार्थ—सब मार्गों के रुके होने पर शत्रु घबरा जाएँ। आग्नेय-अस्त्रों के प्रक्षेप से मूढ बने हुए इन शत्रुओं में से राजा चुन-चुनकर मुखियों को मारडाले, जिससे व्यर्थ का नर-संहार न करना पड़े।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्वभूमि-प्रत्यावर्तन

ऐषु नह्य वृषाजिनं हरिणस्या भियं कृधि। पराङमित्र एषत्वर्वाची गौरुपेषतु ॥ ३ ॥

१. हे इन्द्र! तू **एषु**=इन हमारे सैनिकों में **वृषा**=शक्ति का सेचन करता हुआ **अजिनं आनह्य**=चर्मनिर्मित कवच को पहना दे और तब शत्रुओं में **हरिणस्य**=हिरन-सम्बन्धी **भयं कृधि**=भय को उत्पन्न कर दे। जैसे भयभीत हिरन भाग खड़ा होता है, उसी प्रकार हमारे ये शत्रु भाग खड़े हों। २. **अमित्रः**=शत्रु **पराङ् एषतु**=सुदूर भाग जाए। यह **गौः**=शत्रु से अधिकृत कर ली गई भूमि पुनः—**अर्वाची उप एषतु**=हमारे अभिमुख समीपता से प्राप्त हो। हमारी भूमि हमें पुनः प्राप्त हो जाए।

भावार्थ—सेनापति अपने सैनिकों को कवच धारण कराता हुआ उन्हें शक्तिशाली बनाए। शत्रु-सैन्य को भयभीत हिरन की भाँति दूर भगा दे। हमारी भूमि पुनः हमें प्राप्त हो जाए।

६८. [अष्टषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरोविराडतिशक्वरगर्भाचतुष्पदा-जगती** ॥

अज्ञानान्धकाररूप केशों का वपन

आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि।
आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः ॥ १ ॥

१. **अयं सविता**=यह जन्म देनेवाला पिता **क्षुरेण आगमत्**=अज्ञानान्धकाररूप केशों के वपन के साधनभूत शस्त्र के साथ आ गया है। **वायो**=गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले आचार्य! तू **उष्णेन उदकेन**=(उष दाहे) सब बुराइयों को दग्ध कर देनेवाले ज्ञान-जल को लेकर **इहि**=हमें प्राप्त हो। २. **आदित्याः**=सब गुणों का आदान करनेवाले, **रुद्राः**=(रुत् द्र) सब रोगों को दूर भगानेवाले, **वसवः**=निवास को उत्तम बनानेवाले **सचेतसः**=ज्ञानी पुरुष **उन्दन्तु**=ज्ञान-जलों से हमारे मस्तिष्कों को क्लिन्न करें। हे **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले आचार्यो! आप **सोमस्य राज्ञः**=इस सोमशक्ति (वीर्य) का रक्षण करनेवाले, इन्द्रियों के शासक जितेन्द्रिय शिष्य के **वपत**=अज्ञान को वपन करने की कृपा करें।

भावार्थ—जन्मदाता पिता बालक के अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न करे। बुराइयों को दूर करनेवाले आचार्य बुराइयों को दग्ध करनेवाले ज्ञान-जल के साथ प्राप्त हों। ये हमें गुणों का आदान करनेवाला, नीरोग व उत्तम निवासवाला बनाएँ और सोम का रक्षण करनेवाले जितेन्द्रिय

शिष्यों के अज्ञान को दूर करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्वास्थ्य, वीर्य, उत्तम राजप्रबन्ध

अदि॑तिः श्मश्रु॑ वप॒त्वाप॑ उन्दन्तु॒ वर्च॑सा।
चिकि॑त्सतु प्र॒जाप॑तिर्दीर्घायु॒त्वाय॒ चक्ष॑से॥ २॥

१. **अदितिः**=स्वास्थ्य का अखण्डन **श्मश्रु**=(श्मनि श्रितम्) शरीरस्थ प्रत्येक रोग को **वपतु**=उच्छिन्न कर दे। **आपः**=शरीरस्थ रेतःकण **वर्चसा उन्दन्तु**=हमें प्राणशक्ति से क्लिन्न करें। हमारा शरीर वीर्यकणों के रक्षण से प्राणशक्ति से पूर्ण हो ताकि यह रोगों का शिकार न होकर स्वस्थ बना रहे। २. **प्रजापतिः**=प्रजाओं का रक्षक राजा **चिकित्सतु**=राष्ट्र में होनेवाले सब उपद्रवों का अपनय (इलाज) करे, जिससे सब प्रजावर्ग **दीर्घायुत्वाय**=दीर्घजीवी हो तथा **चक्षसे**=ज्ञान-चक्षुओं से युक्त हो सके।

भावार्थ—स्वास्थ्य की देवता हमारे सब रोगों को उच्छिन्न करे। सुरक्षित रेतःकण हममें प्राणशक्ति का सञ्चार करें। राजा सब उपद्रवों को दूर करे, जिससे सुरक्षित राष्ट्र में सब प्रजाजन दीर्घजीवी व ज्ञानी हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अतिजगतीगर्भात्रिष्टुप्** ॥

गोमान्, अश्ववान्, प्रजावान्

येनाव॑पत्सवि॒ता क्षु॒रेण॒ सोम॑स्य॒ राज्ञो॒ वरु॑णस्य वि॒द्वान्।
तेन॑ ब्रह्माणो वप॒तेद॒म॒स्य गोमा॒नश्व॑वान॒यम॑स्तु प्र॒जावा॑न्॥ ३॥

१. **विद्वान्**=ज्ञानी **सविता**=जन्मदाता पिता—समझदार पिता **येन क्षुरेण**=जिस अज्ञानान्धकार-रूप केशों के वपन के साधनभूत शस्त्र से इस **सोमस्य**=सौम्य स्वभाववाले—सोम (वीर्य) के रक्षक **राज्ञः**=इन्द्रियों पर शासन करनेवाले **वरुणस्य**=द्वेष आदि का निवारण करनेवाले सन्तान के **अवपत्**=अन्धकाररूप केशों का छेदन करता है, **तेन**=उस शस्त्र से हे **ब्रह्माणः**=ज्ञानी आचार्यो! आप भी **अस्य**=इस सोम राजा के—इस जीव के **इदम्**=इस अज्ञानान्धकार को **वपत्**=उच्छिन्न करने की कृपा कीजिए। २. इस अज्ञानान्धकार के छेदन से **अयम्**=यह **गोमान्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला, **अश्ववान्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला तथा **प्रजावान्**=गृहस्थ होने पर उत्तम सन्तानोंवाला **अस्तु**=हो।

भावार्थ—विद्यार्थी सौम्य, जितेन्द्रिय व निर्देष हो। ज्ञानी आचार्य तथा समझदार पिता इनके अज्ञानान्धकारों को दूर करें। ये उत्तम इन्द्रियोंवाले व सद्गृहस्थ बनकर उत्तम सन्तानोंवाले हों।

६९. [एकोनसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामो यशस्कामश्च)** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यशः+मधु

गि॒राव॑र॒गरा॑टेषु॒ हिर॑ण्ये॒ गोषु॒ यद्यशः॑। सुरा॑यां सि॒च्यमा॑नायां की॒लाले॒ मधु॒ तन्मयि॑॥ १॥

१. **गिरौ**=ज्ञान का उपदेश करनेवाले ब्राह्मणों में **अर-ग-राटेषु**=(अराः, अरय तान् गच्छन्ति इति अरगाः, तेषां राटाः जयघोषा) वीर क्षत्रियों के जयघोषों में, **हिरण्ये**=स्वर्ण में—कृषि-गोरक्षा व वाणिज्य द्वारा स्वर्ण का संग्रह करनेवाले वैश्यों में तथा **गोषु**=गौओं में—गो-सेवक शूरों में **यत् यशः**=जो यशस्वी जीवन है **तत् मयि**=वह यशस्वी जीवन मुझे भी प्राप्त हो। २.

सिच्यमानायाम्=पर्जन्य द्वारा सिक्त किये जाते हुए **सुरायाम्**=जल में (सुरा=water) तथा **कीलाले**=इन जलों से उत्पन्न अन्न में जो **मधु**=माधुर्य है, वह मुझमें भी हो।

भावार्थ—स्वकर्त्तव्यपालक 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र' का जो यशस्वी जीवन है वह यशस्वी जीवन मेरा भी हो। मेघ-जल और उनसे उत्पन्न अन्नों में जो माधुर्य है, इनके सेवन से वह माधुर्य मुझमें भी हो।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामो यशस्कामश्च)** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मधु से माधुर्य की प्राप्ति

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती।
यथा भर्गस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु॥ २॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **शुभस्पती**=सब शुभ का मुझमें रक्षण करनेवाले हो। **मा**=मुझे **सारघेण मधुना**=मधु-मक्खियों से तैयार किये गये मधु से **अङ्क्तम्**=कान्त जीवनवाला बनाओ। हम प्राणायाम करें और सारघ मधु का सेवन करें, इससे हमारा जीवन भी शुभ ही बनेगा। २. मुझे मधु का सेवन कराओ **यथा**=जिससे **भर्गस्वतीम्**=दीप्तिमती मधुर **वाचम्**=वाणी को **जनान् अनु**=लोगों को लक्ष्य करके **आवदानि**=उच्चारित करूँ। मैं कभी भी कटु शब्दों का प्रयोग करनेवाला न बनूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना के साथ मधु का प्रयोग मुझे मधुर बनाए। इस मुध के प्रयोग से मैं भर्गस्वती वाणी का प्रयोग करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामो यशस्कामश्च)** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वर्चः, यशः, यज्ञस्य पयः—ज्ञान

मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत्पयः।
तन्मयि प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु॥ ३॥

१. **मयि**=मेरे जीवन में **वर्चः**=वर्चस् (Vitality) प्राणशक्ति हो, **अथ उ**=और निश्चय से **यशः**=यश हो—मेरे सब कार्य यशस्वी हों, **अथ उ**=और अब **यज्ञस्य**=यज्ञ की **यत्**=जो **पयः**=आप्यायनशक्ति है, वह **मयि**=मुझमें हो। २. **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक वह प्रभु इन 'वर्चस्, यशस् व यज्ञपयस्' को मेरे जीवन में इसप्रकार **दृंहतु**=दृढ़ करे **इव**=जैसेकि **दिवि द्याम्**=घुलोक में दीप्यमान ज्योतिमण्डल को वे दृढ़ करते हैं। प्रभु मेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में भी ज्ञान-विज्ञान के सूर्य व नक्षत्रों को स्थापित करें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मेरा जीवन वर्चस्, यशस्, यज्ञपयस् व ज्ञानवाला हो।

विशेष—वर्चस्, यशस्, यज्ञपयस् व ज्ञान को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति 'कांकायन'(कंक गतौ) खूब गतिशील बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

७०. [सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अघ्न्या** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अघ्न्या और वत्स

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः।
एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम्॥ १॥

यथा हस्ती हस्तिन्याः पदेन पदमुद्युजे।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः।
एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम्॥ २॥
यथा प्रधिर्यथोपधिर्यथा नभ्यं प्रधावधि।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः।
एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम्॥ ३॥

१. **यथा**=जैसे **मांसम्**=फल का गूदा **यथा**=जैसे **सुरा**=मेघजल और **यथा**=जैसे **अधिदेवने**=(अधि परि दीव्यन्ति कितवः) द्यूत-स्थान में **अक्षाः**=पासे प्रियतम होते हैं और **यथा**=जैसे **वृषण्यतः पुंसः**=सुरतार्थी पुरुष का **मनः**=मन **स्त्रियां निहन्यते**=स्त्री के प्रति झुकाववाला होता है **एव**=उसी प्रकार हे **अघ्न्ये**=कभी भी नष्ट न करने योग्य वेदवाणि! **ते**=तेरा **मनः**=मन **अधिवत्से**=(वदति) इस स्वाध्यायशील व्यक्ति पर **निहन्यताम्**=प्रह्वीभूत हो। जिस प्रकार मांस आदि प्रेमास्पद होते हैं, इसीप्रकार मैं वत्स तेरा प्रेमास्पद बन पाऊँ, अर्थात् मैं कभी तुझसे पृथक् न होऊँ। २. **यथा**=जैसे **हस्ती**=हाथी **हस्तिन्याः पदम्**=हथिनी के पैर को **पदेन**=अपने पैर से प्रेमपूर्वक **उद्युजे**=ऊपर उठाता है, जैसे सुरतार्थी पुरुष का मन स्त्री के प्रति प्रेमवाला होता है, उसी प्रकार इस वेदवाणी का मन मेरे प्रति प्रेमवाला हो। ३. **यथा**=जैसे **प्रधिः**=लोहे का हल लकड़ी के बने भीतरी चक्र पर रहता है, **यथा**=जैसे **उपधिः**=लकड़ी का चक्र अरों के द्वारा भीतरी धुरे पर रहता है, **यथा नाभ्यम्**=जैसे बीच का धुरा **अधिप्रधौ**=क्रम से अरों और लकड़ी के चक्रसहित अरों पर आ जाता है। जैसे सुरतार्थी पुरुष का मन स्त्री पर गड़ा होता है, उसी प्रकार वेदवाणी का मन मुझ (वत्स) पर गड़ा हो।

भावार्थ—वेदवाणी का अध्ययन ही हमारा मांस हो, यही हमारी शराब वा मेघजल हो। यही हमारी द्यूतक्रीड़ा हो, यही हमारा प्रेमालिङ्गन हो। वेदवाणी हथिनी हो तो मैं उसका हाथी बनूँ। प्रधि, उपधि, नभ्य आदि जैसे परस्पर जुड़े होते हैं उसी प्रकार मैं और वेदवाणी जुड़े हुए हों। मैं कभी वेदाध्ययन का परित्याग न करूँ। वेदवाणी अघ्न्या गौ हो, मैं उसका वत्स (बछड़ा) बनूँ।

विशेष—यह वेदवाणी का वत्स 'ब्रह्मा' बनता है—ज्ञानी बनता है। यही ज्ञानी अन्नदोष व प्रतिग्रहदोष से बचने के लिए यत्नशील होता है।

७१. [एकसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥

'अन्नदोष व प्रतिग्रहदोष' परिहार

यदन्नमद्मि बहुधा विरूपं हिरण्यमश्वमुत गामजामविम्।
यदेव किं च प्रतिजग्रहाहमग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु॥ १॥

१. **यत्**=जो **विरूपम्**=विविधरूपोंवाले **अन्नम्**=अन्न को **बहुधा**=बहुत प्रकार से **अहम् अद्मि**=मैं खा लेता हूँ। भूख की पीड़ा के कारण और भोज्याभोज्य विभाग के बिना जो मैंने खा लिया है, **तत्**=उस मेरे अन्नदोष को वह **होता अग्निः**=सब वस्तुओं को देनेवाला अग्रणी प्रभु **सुहुतं कृणोतु**=सुहुत करे। विवशता में मैं कुछ खा बैठूँ तो प्रभु के अनुग्रह और प्रेरणा से उसे यज्ञ का रूप देने का प्रयत्न करूँ—त्याग करके बचे को ही खाऊँ। २. इसीप्रकार मैं **हिरण्यम्**=सोना, **अश्वम्**=घोड़ा **उत**=और **गाम् अजाम् अविम्**=गौ, बकरी व भेड़ **यत् किंच**

एव=जो कुछ भी—अस्वीकरणीय को भी दरिद्र्यवश **प्रतिजग्रह**=ग्रहण कर लूँ, उसे वह सर्वप्रद अग्रणी प्रभु सुहुत करने की कृपा करें। प्रभुकृपा से मैं व्रत ग्रहण करूँ कि 'अभक्ष्य को नहीं खाऊँगा तथा अन्याय्य धन का ग्रहण नहीं करूँगा'।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे अन्नदोष व प्रतिग्रहण दोष दूर हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

यज्ञ-विनियोग द्वारा ही उपयोग

यन्मा हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः।
यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु॥ २॥

१. **यत्**=जो **हुतम्**=यज्ञिय अथवा **अहुतम्**=अयज्ञिय धन **मा**=मुझे **आजगाम**=प्राप्त हुआ है, जो **पितृभिः दत्तम्**=मुझे अपने से बड़ों—पिता आदि से दिया गया है, जो **मनुष्यैः अनुमतम्**=मनुष्यों से अनुमत हुआ है, अर्थात् जिसमें समाज दोष नहीं देखती। **यस्मात्**=जिससे मे **मनः**=मेरा मन **उत् रारजीति इव**=खूब ही दीप्त-सा होता है, **तत्**=उस सब धन को वह **होता अग्निः**=सर्वप्रद अग्रणी प्रभु **सुहुतं कृणोतु**=सुहुत करने की कृपा करें। मैं उस धन का यज्ञों में विनियोग करके ही उपयोग करूँ।

भावार्थ—हम प्राप्त धनों का यज्ञों में विनियोग करके ही उपयोग करें।

ऋषिः—**ब्रह्मः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

न अनृत से, न उधार लेकर

यदन्नमद्म्यनृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्नुत संगृणामि।
वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम्॥ ३॥

१. हे **देवाः**=देवो—विद्वान् पुरुषो! **यत् अन्नम्**=जिस अन्न को मैं **अनृतेन**=असत्य बोलकर, पराये व्यक्ति का अपहृत करके **अद्मि**=खाता हूँ, **उत**=तथा **दास्यन् अदास्यन्**=जो पदार्थ दूसरे को देना है, उसे दे नहीं रहा हूँ, यूँही **संगृणामि**='दूँगा' बस, इतनी प्रतिज्ञा ही करता हूँ, वह सब **अन्नम्**=अन्न **वैश्वानरस्य**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले महतो महान् महिमावाले देव की **महिम्ना**=महिमा से **मह्यम्**=मेरे लिए **शिवम्**=सुखकर व **मधुमत् अस्तु**=माधुर्यवाला हो, अर्थात् प्रभु ऐसा अनुग्रह करें कि बिना अनृत के, बिना औरों से उधार लिये पुरुषार्थ से अपने भोजन का अर्जन कर सकूँ।

भावार्थ—हम अनृत से प्राप्त भोजन को अशिव समझें, औरों से उधार लेकर खाने को 'कटु' जानें। पुरुषार्थ से ही अपना भोजन अर्जन करने के लिए यत्नशील हों।

विशेष—पवित्र भोजन से स्थिरवृत्तिवाला बनता हुआ 'अथर्वा' अगले सूक्तों का ऋषि है—

७२. [द्विसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**शेपोऽर्कः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

असितः, शेपः, अर्कः

यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया।
एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु॥ १॥

१. **यथा**=जैसे **असितः**=विषयों में अबद्ध राजा **वशान् अनु**=जितना-जितना अपनी इन्द्रियों को वश में करता है, उतना-उतना **प्रथयते**=अपने राज्य का विस्तृत करता है। यह राजा **अ-**

सुरस्य=(प्रज्ञा—नि० ३.९) प्रज्ञा के पुञ्ज प्रभु की **मायया**=प्रज्ञा से **वपूंषि कृण्वन्**=अपने शरीरों का निर्माण करता है। अपने स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीरों को ठीक करता हुआ यह राजा अपने राष्ट्र को भी विस्तृत करता है। २. **एव**=इसप्रकार हे राष्ट्र! **ते शेपः**=तेरा निर्माण करनेवाला **अर्कः**=प्रभु का उपासक यह राजा **सहसा**=शक्ति के द्वारा **अङ्गेन अङ्गम्**=राष्ट्र के एक अङ्ग को दूसरे अङ्ग से **सं सम् अकम्**=मिलकर गति करनेवाला **कृणोतु**=करे। राष्ट्र के सब विभागों में परस्पर समन्वय (co-ordination) होना आवश्यक ही है।

भावार्थ—राजा विषयों से अबद्ध (असित्) हो, अपनी इन्द्रियों को वश में करता हुआ राष्ट्र का निर्माण करनेवाला हो (शेपः), प्रभुपूजा की वृत्तिवाला हो (अर्कः), अपने शरीर को स्वस्थ बनाता हुआ राज्य के सब अङ्गों में समन्वय करनेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**शेपोऽर्कः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

राष्ट्र का संवर्धन

यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम्। यावत्परस्वतः पसस्तावत्ते वर्धतां पसः ॥ २ ॥

१. हे राजन्! तू इसप्रकार राष्ट्र के अङ्गों में समन्वय कर **यथा**=जिससे यह **पसः**=राष्ट्र **अरम् तायात्**=खूब ही विस्तारवाला व पालित हो। यह राष्ट्र **वातेन**=क्रियाशीलता के द्वारा (परस्पर समन्वय न होने पर काम ठप्प-सा हो जाता है) **स्थूलभम्**=खूब दीप्तिवाला **कृतम्**=किया जाए (स्थूला भा यस्य)। २. **यावत्**=जितना **परस्वतः**=(पृ पालनपूरणयोः) पालन करनेवाला राजा का **पसः**=राष्ट्र होता है **तावत्**=उतना **ते पसः**=तेरा राष्ट्र **वर्धताम्**=वृद्धि को प्राप्त हो।

भावार्थ—राष्ट्र के अङ्गों में परस्पर समन्वय होने पर राष्ट्र का विस्तार होता है। क्रियाशीलता द्वारा राष्ट्र चमक उठता है। जितना राजा पालन कर पाता है, उतना ही उसका राष्ट्र बढ़ता है।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**शेपोऽर्कः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

यावदङ्गीनम्

यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत्। यावदश्वस्य वाजिनस्तावत्ते वर्धतां पसः ॥ ३ ॥

१. **पारस्वतम्**=पालन करनेवाले का राष्ट्र **यावत् अङ्गीनम्**=जितना ठीक अङ्गोंवाला होता है, उतना ही **हास्तिनम्**=यह उत्तम हाथियोंवाला होता है **च**=और **यत्**=जो यह राष्ट्र है वह **गार्दभम्**=उत्तम गर्दभोंवाला—उत्तम भारवाही पशुओंवाला होता है। २. **यावत्**=जितना **अश्वस्य**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले **वाजिनः**=शक्तिशाली राजा का राष्ट्र होता है, **तावत्**=उतना **ते पसः**=तेरा राष्ट्र **वर्धताम्**=वृद्धि को प्राप्त करे।

भावार्थ—राष्ट्र के अङ्गों में परस्पर समन्वय होने पर वहाँ हाथी-घोड़े आदि पशु भी उत्तम होते हैं। राजा जितना-जितना कर्मों में व्याप्त और शक्तिशाली होता है, उतना-उतना उसका राष्ट्र बढ़ता है।

७३. [त्रिसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

उत्तम लोगों का सम्पर्क

एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु।
अस्य श्रियमुपसंयात सर्व उग्रस्य चेत्तुः संमनसः सजाताः ॥ १ ॥

१. **इह**=इस देश में **वरुणः**=द्वेषादि का निवारण करनेवाला **सोमः**=सौम्य स्वभाव—निरभिमान, **अग्निः**=आगे-और आगे बढ़नेवाला, अग्निवत् तेजस्वी (पावकवर्ण) पुरुष **आयातु**=आये,

हमें ऐसे पुरुष का सम्पर्क प्राप्त हो। **बृहस्पतिः**=महान् ज्ञानी पुरुष सब साधनों के साथ हमें प्राप्त हो। आचार्य शिष्यों से कहते हैं कि हे **सजाताः**=समान जन्मवाले बन्धुओ! तुम **सर्वे**=सब **संमनसः**=समान मनवाले होते हुए **अस्य उग्रस्य चेत्तुः**=इस तेजस्वी ज्ञानी की **श्रियम्**=श्री को **उपसंयात**=प्राप्त होओ, इसके सम्पर्क में, इससे ज्ञान प्राप्त करते हुए, उस जैसा ही बनने का प्रयत्न करो।

भावार्थ—हमें 'वरुण, सोम, अग्नि तथा बृहस्पति' का सम्पर्क प्राप्त हो। ये हमें सब वसुओं को प्राप्त करानेवाला हों। हम सब भी समान मनवाले होते हुए इस ज्ञानी की श्री को प्राप्त करें। हम भी मन में 'निर्द्वेष व निरभिमान' बनें। शरीर में अग्नि के समान तेजस्वी तथा मस्तिष्क में बृहस्पति हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शुष्म, आकूति, हवि व घृत

यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा।
तान्त्सीवयामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु॥ २॥

१. **यः**=जो **वः**=तुम्हारे **हृदयेषु**=हृदयों में **शुष्मः**=शत्रु-शोषक बल है, तथा **वः**=तुम्हारे **अन्तः मनसि**=हृदय-मध्यवर्ती मन में **या आकूतिः प्रविष्टा**=जो संकल्प प्रविष्ट है, **तान्**=उन संकल्पों व बलों को **हविषा**=त्याग की वृत्ति तथा **घृतेन**=ज्ञान-दीप्ति से **सीव्यामि**=सम्बद्ध कर देता हूँ। २. हे **सजाताः**—समान जन्मवाले व समानरूप से विकासवाले विद्यार्थियो! **मयि**=मुझमें **वः**=तुम्हारी **रमतिः**=रमण अनुकूल वृत्ति हो। **'वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्'**—[अथर्व० १.१.२] में विद्यार्थी की प्रार्थना थी कि हे वसुओं के पति आचार्य! आप मुझे रमणवाला कीजिए—आनन्दमय प्रकार से पढ़ाइए, जिससे मेरा पढ़ा हुआ मुझमें ही स्थित हो। यहाँ आचार्य भी कहते हैं कि तुम मुझमें रमण करनेवाले होओ। मैं तुम्हें त्यागशील व ज्ञान-दीप्त बनाता हूँ।

भावार्थ—आचार्य को विद्यार्थी के बल व संकल्प को त्यागवृत्ति व ज्ञान-दीप्ति से सम्बद्ध करना है। विद्यार्थियों के मन में त्यागवृत्ति हो और मस्तिष्क में ज्ञान।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भूरिक्त्रिष्टुप्** ॥

आचार्य-सान्निध्य

इहैव स्त मापं याताध्यस्मत्पूषा परस्तादपथं वः कृणोतु।
वास्तोष्पतिरनु वो जोहवीतु मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु॥ ३॥

१. हे विद्यार्थी! **इह एव स्त**=यहाँ आचार्यकुल में ही रहो। **अस्मत् अधि मा अपयात**=हमसे दूर मत होओ। 'अन्तःवासी' को तो सदा आचार्य के समीप ही रहना है। आचार्य विद्यार्थी को वस्तुतः अपने गर्भ में धारण करता है। **पूषा**=वह पोषक प्रभु **परस्तात्**=हमसे दूर **वः**=तुम्हारे लिए **अपथं कृणोतु**=मार्ग का अभाव करे, अर्थात् प्रभु के अनुग्रह से हमसे दूर जाने के लिए तुम्हें मार्ग ही न मिले। २. **वास्तोष्पतिः**=गृहपालक देव **वः**=तुम्हें **अनुजोहवीतु**=अनुकूलता से पुकारे (आह्वयतु), अर्थात् जब तुम भिक्षा के लिए जाओ तो गृहपतियों को अच्छा ही प्रतीत हो। तुम्हारा शान्त स्वभाव उन्हें प्रिय लगे और वे प्रेम से तुम्हें भिक्षा दें। गृहस्थों को तुम असभ्य प्रतीत न होओ, और यहाँ **मयि**=मुझमें हे **सजातः**=समान विकासवाले विद्यार्थियो! **वः**=तुम्हारा **रमतिः**=रमण **अस्तु**=हो। तुम मिलकर प्रेम से आचार्य में रमनेवाले बनो।

भावार्थ—विद्यार्थी आचार्य के समीप ही रहें—कभी उससे दूर न हों। गृहपति उन्हें प्रेम से भिक्षा दें। आचार्यकुल में विद्यार्थी प्रेमपूर्वक रहते हुए समानरूप से विकासवाले बनें।

७४. [चतुःसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मेल (परस्पर प्रेम)

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्॥ १॥

१. उत्तम शिक्षा को प्राप्त लोग राष्ट्र में प्रेम से रहें। प्रभु कहते हैं कि **वः तन्वः**=तुम्हारे शरीर **संपृच्यन्ताम्**=एक-दूसरे से प्रेम से मिला करें—आप परस्पर प्रेम से आलिङ्गन किया करो—राष्ट्र में कन्धे-से-कन्धे मिलाकर चलो। **मनांसि सम्**=आप लोगों के मन भी मिले हुए हों—हृदयों में प्रेम हो नकि द्वेष। **उ**=और **व्रता सम्**=आप लोगों के कर्म भी मिलकर हों—एक-दूसरे के लिए सहायक हों। २. **अयम्**=यह **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **वः**=तुम्हें **सम् अजीगमत्**=सदा संगत रक्खे तथा **वः**=तुम्हें **भगः**=यह ऐश्वर्यवान् प्रभु **सम्**=मिलाये रक्खे। सब लोग ज्ञान-सम्पन्न बनें और उचित ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हुए परस्पर प्रेम से मिलकर रहें।

भावार्थ—राष्ट्र के उत्थान के लिए आवश्यक है कि लोग परस्पर प्रेम से मिलें, उनके मनों में द्वेष न हो। उनके कर्म अविरोधी हों। ज्ञान व ऐश्वर्य-सम्पन्न होते हुए सब मिलकर चलें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ज्ञान व ऐश्वर्य

संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः।
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः॥ २॥

१. **वः**=तुम्हारे **मनसः**=ज्ञान-साधन मनरूप इन्द्रिय का **संज्ञपनम्**=सम्यक् ज्ञान-जनन हो। तुम्हारे मन ज्ञान-प्राप्ति में सम्यक् प्रवृत्त हों, **अथ उ**=अब निश्चय से **हृदः**=तुम्हारे हृदय का भी **संज्ञपनम्**=सम्यक् ज्ञान-जनन हो, तुम्हारे हृदयों में ज्ञान-प्राप्ति के लिए श्रद्धा हो। २. **अथ उ**=अब ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् गृहस्थ बनने पर **भगस्य यत् श्रान्तम्**=ऐश्वर्य का जो श्रमजनित तप है (श्राम्यति अस्मिन्) **तेन**=ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए होनेवाले उस श्रम-जनित तप से **वः**=तुम्हें **संज्ञपयामि**=समान ज्ञानवाला करता हूँ। वस्तुतः जब तक राष्ट्र में 'श्रम से धन-प्राप्ति की भावना' बनी रहती है तब तक लोगों में परस्पर प्रेम भी बना रहता है।

भावार्थ—हमारे मन व हृदय ज्ञान-प्राप्ति के कर्म में सम्यक् प्रवृत्त हों। हम सदा श्रमपूर्वक ही धनार्जन की वृत्तिवाले बनकर परस्पर प्रेम से रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

चातुर्वर्ण्य का परस्पर मेल

यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीयमानाः।
एवा त्रिणामन्नहृणीयमान इमाञ्जनान्त्संमनसस्कृधीह॥ ३॥

१. **यथा**=जैसे **आदित्याः**=सूर्यसमान ज्ञान-दीप्त आचार्य **वसुभिः**=उत्तम निवासवाले—आचार्य के समीप प्रेम से रहनेवाले विद्यार्थियों के साथ **संबभूवुः**=मिलकर रहते हैं तथा **उग्राः**=तेजस्वी राजा—शासक **मरुद्भिः**=सैनिकों के साथ **अहृणीयमानाः**=क्रोध न करते

हुए रहते हैं, **एव**=उसी प्रकार हे **त्रिणामन्**=(नामन्=form, mode, manner) कृषि, गोरक्ष व वाणिज्यरूप तीन प्रकारों से धनार्जन करनेवाले वैश्य! तू **अहृणीयमानः**=क्रोध न करता हुआ **इमान् जनान्**=इन कार्य करनेवाले श्रमिक जनों को **इह**=यहाँ, अपने व्यापार-कर्म में **संमनसः कृधि**=समान मनवाला कर, तेरे साथ प्रेम से मिलकर वे इन कार्यों में तेरे सहायक हों।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थियों के साथ प्रेम से रहें। राजा लोग सैनिकों के साथ एक मनवाले हों। वैश्य शूद्रों के साथ प्रेम से वर्तते हुए धनार्जन करें।

विशेष—इसप्रकार प्रेम से बर्ताव होने पर मनुष्य 'कबन्ध' बनता है—अपने में सुखों को बाँधनेवाला। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

७५. [पञ्चसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कबन्धः (सपत्नक्षयकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शत्रु-विद्रावण

निरमुं नुद ओकसः सपत्नो यः पृतन्यति। नैर्बाध्ये॑न हविषेन्द्र एनं पराशरीत्॥ १॥

१. **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले राजन्! **अमुम्**=उसे **ओकसः**=इस राष्ट्र से **निर् नुद**=धकेल कर बाहर कर दे **यः सपत्नः**=जो शत्रु **पृतन्यति**=सेना के द्वारा हमारे राष्ट्र पर आक्रमण करता है। २. **इन्द्रः**=शत्रु-विद्रावक राजा **नैर्बाध्येन**=शत्रुओं के निर्बाधन में क्षम **हविषा**=हवि के द्वारा—प्रजा से राष्ट्र-यज्ञ में दिये जानेवाले कररूप धन के द्वारा **एनम्**=इस शत्रु को **पराशरीत्**=सुदूर विनष्ट करे। राजा कर-प्राप्त धन को अन्तः व बाह्य शत्रु से राष्ट्र-रक्षण में विनियुक्त करता है।

भावार्थ—राजा प्रजा से कर प्राप्त करता हुआ राष्ट्र का शत्रुओं से रक्षण करे।

ऋषिः—**कबन्धः (सपत्नक्षयकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दूर-से-दूर धकेलना

परमां तं परावतमिन्द्रो नुदतु वृत्रहा। यतो न पुनरायति शश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ २॥

१. **वृत्रहा**=राष्ट्र को घेरनेवाले शत्रुओं को नष्ट करनेवाला यह **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक राजा **तम्**=उस शत्रु को **परमां परावतम्**=अतिशयित दूर देश में **नुदतु**=धकेल दे कि **यतः**=जहाँ से वह **शश्वतीभ्यः समाभ्यः**=अनेक वर्षों तक भी **पुनः न आयति**=फिर हमारे राष्ट्र पर चढ़ने के लिए न आ पाये।

भावार्थ—शत्रु को इसप्रकार दूर देश में धकेला जाए कि वह फिर वर्षों तक हमारे राष्ट्र पर आक्रमण का स्वप्न भी न ले।

ऋषिः—**कबन्धः (सपत्नक्षयकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**षट्पदाजगती**॥

शत्रु फिर आक्रमण न कर सके

एतु तिस्रः परावत एतु पञ्च जनाँ अति।
एतु तिस्रोऽति रोचना यतो न पुनरायति
शश्वतीभ्यः समाभ्यो यावत्सूर्यो असद्दिवि॥ ३॥

१. इन्द्र से धकेला हुआ यह शत्रु **परावतः**=दूर वर्तिनी **तिस्रः**=तीनों भूमियों को **अतिएतु**=लाँघकर दूर चला जाए ('त्रयो व इमे त्रिवृतो लोकाः'—ऐत० २.१७; तिस्रो भूमीर्धारयान्—ऋ० २.२७.८)। यह **पञ्च जनान्**='ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद' रूप से पाँच भागों

में बँटे हुए लोगों को **अति**=लाँघ जाए, अर्थात् समाज से इसका मेल न हो। यह **तिस्त्रः रोचना अति एतु**=सूर्य, विद्युत्, अग्निरूप तीनों ज्योतियों से अतिक्रान्त होकर गति करे—इसे उस स्थान पर कैद में रक्खा जाए, जहाँ सूर्यादि की प्रभा प्राप्त नहीं होती। २. इसे ऐसे स्थान पर बन्धन में डालकर रखा जाए कि **यतः**=जहाँ से यह **न पुनः आयति**=फिर हमपर आक्रमण नहीं कर पाता। **शश्वतीभ्यः समाभ्यः**=बहुत वर्षों तक यह हमपर आक्रमण का स्वप्न भी न ले-सके। **यावत्**=जब तक **सूर्यः दिवि असत्**=सूर्य द्युलोक में है, तब तक यह शत्रु फिर लौटकर न आये।

भावार्थ—शत्रु को तीनों भूप्रदेशों से दूर किया जाए, मानव-समाज से इसे परे किया जाए, इसे अन्धकारमय स्थानों में बन्धन में रखा जाए, जिसे यह फिर हमारे राष्ट्र पर आक्रमण न कर सके।

७६. [षट्सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**सान्तपनाग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्नि का समिन्धन

य एनं परिषीदन्ति समादधति चक्षसे। संप्रेद्धो अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि॥ १॥

१. **ये**=जो **एनम्**=इस परमात्मरूप अग्नि के **परिषीदन्ति**=उपासन के लिए आसीन होते हैं तथा **चक्षसे**=आत्मदर्शन के लिए **समादधति**=इन्द्रियों को समाहित करते हैं, उस समय **हृदयात् अधि**=हृदयदेश **संप्रेद्धः**=दीप्त हुआ-हुआ **अग्निः जिह्वाभिः उदेतु**=यह परमात्मरूप अग्नि उपासकों की जिह्वाओं से उदित हो—उपासकों की जिह्वाओं से प्रभु के नामों का उच्चारण हो।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिए हम प्रभु की उपासना करें, इन्द्रियों को विषयों से हटाकर उन्हें समाहित करें, वाणी से प्रभु के नामों का उच्चारण करें।

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**सान्तपनाग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सान्तपन' अग्नि

अग्नेः सांतपनस्याहमायुषे पदमा रभे।
अद्धातिर्यस्य पश्यति धूममुद्यन्तमास्यतः॥ २॥

१. **अग्नेः**=उस अग्रणी **सांतपनस्य**=अतिशयेन ज्ञान-दीप्त प्रभु के **पदम्**=वाचक पद को **अहम्**=मैं **आयुषे**=उत्कृष्ट जीवन के प्राप्ति के लिए **आरभे**=उपक्रान्त करता हूँ—प्रभु के नामों का उच्चारण करता हूँ। २. **अद्धातिः**=(अद्धा प्रत्यक्षमतति, सततं ध्यानेन प्राप्नोति) ध्यान द्वारा प्रभु-दर्शन करनेवाला व्यक्ति **यस्य**=उस प्रभु के **धूमम्**=वासनाओं को कम्पित करनेवाले (धू कम्पने) ज्ञान को **आस्यतः**=अपने मुख से **उद्यन्तम्**=उद्गत होते हुए **पश्यति**=देखता है। हृदयस्थ प्रभु का ज्ञान इस अद्धाति के मुख से उच्चरित होता है। यह ज्ञान वासनाओं का संहार करनेवाला है।

भावार्थ—हम 'सान्तपन अग्नि'—ज्ञानदीप्त प्रभु के नामों का उच्चारण करें। इसप्रकार हृदयस्थ प्रभु के दर्शन करें। यदि हम प्रभु का साक्षात्कार कर पाये तो हृदयस्थ प्रभु का ज्ञान हमारे मुखों से उच्चरित होगा।

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**सान्तपनाग्निः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

सर्वं जिह्मं मृत्युपदम्

यो अस्य समिधं वेद क्षत्रियेण समाहिताम्। नाभिह्वारे पदं नि दधाति स मृत्यवे॥ ३॥

१. **क्षत्रियेण**=(क्षत्रं बलम्) बल में उत्तम पुरुष से **समाहितम्**=हृदय में स्थापित की गई

अस्य=इस 'सान्तपन अग्नि' प्रभु की **समिधम्**=दीप्ति को **यः वेद**=जो जानता है, अर्थात् एक सबल पुरुष जब हृदय में प्रभु-दर्शन करता है तब **सः**=वह **अभिह्वारे**=कुटिलता के मार्ग में **मृत्यवे**=मृत्यु के लिए **पदं न निदधाति**=पग नहीं रखता।

भावार्थ—एक क्षत्रिय—भोगवृत्ति से ऊपर उठने के द्वारा सबल पुरुष हृदय में प्रभु की दीप्ति को देखता है। यह प्रभु-दर्शन करनेवाला व्यक्ति कभी कुटिलता के मार्ग में पग नहीं रखता। कुटिलता को यह मृत्यु का मार्ग समझता है—'सर्वं जिह्मं मृत्युपदम्'।

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**सान्तपनाग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

न पर्यायिणः, न सन्नाः

नैनं घ्नन्ति पर्यायिणो न सन्नाँ अव गच्छति।
अग्नेर्यः क्षत्रियो विद्वान्नाम गृह्णात्यायुषे॥ ४॥

१. **यः**=जो **क्षत्रियः**=उत्तम बलवाला **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष **आयुषे**=उत्कृष्ट दीर्घजीवन के लिए **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु का **गृह्णाति**=नाम लेता है—नाम का उच्चारण करता है, **एनम्**=इस प्रभु के उपासक को **पर्यायिणः**=चारों ओर से आनेवाले शत्रु **न घ्नन्ति**=हिंसित नहीं करते। यह **सन्नान्**=उन शत्रुओं को समीपस्थरूप में भी न **अवगच्छति**=नहीं जानता, अर्थात् शत्रु इसके समीप स्थित होने में भी समर्थ नहीं होते।

भावार्थ—जो शक्तिशाली ज्ञानी पुरुष प्रभु के नाम का स्मरण करता है, उसपर शत्रु आक्रमण नहीं करते—उसके समीप आने का भी साहस नहीं करते।

७७. [सप्तसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**जातवेदाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मर्यादा में स्थिति

अस्थाद् द्यौरस्थात्पृथिव्यस्थाद्विश्वमिदं जगत्।
आस्थाने पर्वता अस्थु स्थाम्न्यश्वाँ अतिष्ठिपम्॥ १॥

१. **द्यौः अस्थात्**=उस नियन्ता प्रभु की आज्ञा से द्युलोक अपने स्थान में स्थित है, **पृथिवी अस्थात्**=पृथिवी भी अपने स्थान में स्थित है। इस द्यावापृथिवी के मध्य में वर्त्तमान **इदं विश्वं जगत्**=यह सारा जगत् **अस्थात्**=अपने-अपने स्थान में स्थित है। **पर्वताः**=पर्वत भी **आस्थाने**=ईश्वर के कल्पित स्थान में **अस्थुः**=स्थित हैं। २. मैं भी **अश्वान्**=इन इन्द्रियाश्वों को **स्थाम्नि**=(fixity, stability) स्थिरता में **अतिष्ठिपम्**=स्थापित करता हूँ, इन्द्रियाश्वों को भटकने से रोककर कर्त्तव्यकर्मों में स्थापित करता हूँ।

भावार्थ—सारा संसार अपनी-अपनी मर्यादा में गति कर रहा है। हम भी इन्द्रियाश्वों को भटकने से रोककर कर्त्तव्यकर्मों में स्थापित करें।

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**जातवेदाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आवर्तनं निवर्तनम्

य उदानट् परायणं य उदानण्न्यायनम्।
आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे॥ २॥

१. **यः**=जो **गोपाः**=हमारी इन्द्रियों का रक्षक प्रभु **परायणम्**=परम स्थान मोक्ष को—ऊँचे-से-ऊँचे लोकों को भी व्याप्त कर रहा है और **यः**=जो **न्यायनम् उदानट्**=निचले लोकों को भी

व्याप्त कर रहा है, वह प्रभु ही **आवर्तनम्**=विविध योनियों में हमारे आवर्तन को तथा **निवर्तनम्**=योनियों से निवृत्त होकर मोक्ष-प्राप्ति को व्याप्त करता है, **अपि तं हुवे**=क्या मैं उसे पुकारूँगा? क्या मेरे जीवन में वह शुभ दिन आएगा जबकि मैं उस प्रभु का स्मरण करनेवाला बनूँगा।

भावार्थ—वह शुभ दिन होगा जब मैं इन्द्रियों को विषयों से हटाकर उस प्रभु का स्मरण करनेवाला बनूँगा। वे प्रभु दूर-से-दूर व समीप-से-समीप हैं। वे ही हमें विविध शरीरों में जन्म व मोक्ष प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**जातवेदाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आवृतः-उपावृतः

जातवेदो नि वर्तय शतं ते सन्त्वावृतः।
सहस्रं त उपावृतस्ताभिर्नः पुनरा कृधि॥ ३॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **निवर्तय**=हमें इस योनि-भ्रमण से लौटाकर मोक्ष में स्थित कीजिए। हमारे जीवनों में **ते**=आपके **शतम् आवृतः सन्तु**=सैकड़ों आवर्तन हों—हम आपका ही बारम्बा स्मरण करें। **ते**=आपके **सहस्रम्**=हज़ारों ही **उपावृतः**=समीप आवर्तन-सान्निध्य—उपस्थान हों। हम सदा आपकी उपासना करें। २. **ताभिः**=उन आवर्तनों व उपावर्तनों से—नाम-स्मरण व उपासना से **नः**=हमें **पुनः**=फिर **आकृधि**=अपने अभिमुख कीजिए।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण व उपासन करते हुए इस जन्म-मरण के चक्र में भटकने से बचकर प्रभु की ओर जानेवाले बनें।

विशेष—प्रभु के स्मरण व उपासन से स्थिरवृत्ति का बननेवाला 'अथर्वा' अगले चार सूक्तों का ऋषि है।

७८. [अष्टसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हविषा रसेन

तेन भूतेन हविषायमा प्यायतां पुनः।
जायां यामस्मा आवाक्षुस्तां रसेनाभि वर्धताम्॥ १॥

१. **तेन**=उस **भूतेन**=(भू प्राप्तौ) भूति व समृद्धि की कारणभूत **हविषा**=हूयमान यज्ञिय पदार्थों से **अयम्**=यह **पुनः**=फिर **आप्यायताम्**=वृद्धि को प्राप्त करे। गृहपति यज्ञशील हो, यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला हो। इस यज्ञशेष का सेवन अमृत का सेवन है। इससे उसका जीवन बड़ा नीरोग बना रहेगा। २. **याम्**=जिस **जायाम्**=पत्नी को **अस्मै**=इसके लिए **आवाक्षुः**=कन्या के माता-पिता आदि प्राप्त कराते हैं, **ताम्**=उस पत्नी को **रसेन अभिवर्धताम्**=प्रेम के द्वारा यह बढ़ानेवाला हो। पत्नी को पति का उचित प्रेम प्राप्त होता है तो वह सब प्रकार से बढ़ती ही है।

भावार्थ—एक उत्तम गृहपति यज्ञ के द्वारा यज्ञशेष का सेवन करता हुआ दृढ़ाङ्ग बने। पत्नी को यह उचित प्रेम प्राप्त कराता हुआ बढ़ानेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पयसा, राष्ट्रेन, रय्या

अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्। रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ॥ २॥

१. यह गृहपति **पयसा**=आप्यायन के साधनभूत क्षीर आदि पदार्थों से **अभिवर्धताम्**=वृद्धि को प्राप्त करे। यह **राष्ट्रेण**=ग्राम आदि की समृद्धि से **अभिवर्धताम्**=वृद्धि को प्राप्त करे—राष्ट्रोन्नति में अपनी उन्नति समझे। २. **इमौ**=ये दोनों पति-पत्नी **सहस्रवर्चसा**=अपरिमित तेजवाले **रय्या**=धन से **अनुपक्षितौ स्ताम्**=अक्षीण हों।

भावार्थ—गृहस्थ में दूध आदि पुष्टिकारक पदार्थों की कमी न हो, ग्राम आदि सम्पत्ति की कमी न हो तथा तेजस्विता को बढ़ानेवाले धन की कमी न हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्वष्टा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आयुष्य-साधन व दीर्घजीवन

त्वष्टा जायामजनयुत्त्वष्टास्यै त्वां पतिम्।
त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम्॥ ३ ॥

१. **त्वष्टा**=संसार का निर्माता प्रभु **जायाम्**=पत्नी को—पुत्र को जन्म देनेवाली स्त्री को **अजनयत्**=उत्पन्न करता है। **त्वष्टा**=वह प्रभु ही **अस्यै**=इस जाया के लिए **त्वां पतिम्**=तुझ पति को उत्पन्न करता है। प्रभु ही स्त्री-पुरुष को पति-पत्नीभाव के लिए उत्पन्न करते हैं। २. **त्वष्टा**=वह निर्माता प्रभु **सहस्रम् आयूंषि**=शतशः जीवन-साधनों को और उनके द्वारा **दीर्घम् आयुः**=दीर्घजीवन को **वां कृणोतु**=आप दोनों के लिए करे।

भावार्थ—प्रभु ही पुरुष-स्त्री के पति-पत्नीभाव को करते हैं। प्रभु ही दीर्घजीवन के शतशः साधनों को प्राप्त कराके उनके दीर्घ जीवन को सिद्ध करते हैं।

७९. [एकोनाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**संस्फानम्** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

यज्ञ व अन्नोत्पत्ति

अयं नो नभसस्पतिः संस्फानो अभि रक्षतु। असमातिं गृहेषु नः॥ १ ॥

१. **अयम्**=यह **नः**=हमारा हविर्धानों (पूजागृहों) में परिदृश्यमान यज्ञाग्नि हवि द्वारा **नभसः पतिः**=द्युलोक का पालन करनेवाला है—'**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते**'। **संस्फानः**=पर्जन्यों द्वारा वृष्टि कराके धान्यराशि का वर्धयिता यह अग्नि हमारा **अभिरक्षतु**=वर्धन करनेवाला हो। यह स्वास्थ्य भी दे और सौमनस्य भी प्राप्त कराए। २. यह यज्ञाग्नि **नः**=हमारे **गृहेषु**=घरों में **असमातिम्**=(मातिः मानं तया सह समातिः, न समातिः) परिच्छेदरहित धान्य आदि को करे।

भावार्थ—सभी घरों में यज्ञाग्नि प्रज्वलित हो। यह यज्ञाग्नि मेघों को जन्म देती हुई वृष्टि के द्वारा खूब ही अन्न प्राप्त कराए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**संस्फानम्** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

ऊर्जं, पुष्टं, वसु

त्वं नो नभसस्पत ऊर्जं गृहेषु धारय। आ पुष्टमेत्वा वसु॥ २ ॥

१. हे **नभसस्पते**=हवि द्वारा द्युलोक का पालन करनेवाले यज्ञाग्ने! **त्वम्**=तू **नः**=हमारे **गृहेषु**=घरों में **ऊर्जम्**=बलकर, रसवत् अन्न को **धारय**=धारण कर। २. तेरे द्वारा हमें **पुष्टम्**=स्वस्थ, पुष्टियुक्त प्रजा, पशु **आ एतु**=सर्वथा प्राप्त हों तथा **वसु आ**=निवास के लिए आवश्यक उत्तम पदार्थ व धन प्राप्त हों।

भावार्थ—यज्ञों से अन्न-रस, पुष्ट प्रजा, पशु व वसुओं की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**संस्फानम्** ॥ छन्दः—**त्रिपदाप्राजापत्यागायत्री** ॥

देव संस्फान

देव संस्फान सहस्रापोषस्येशिषे।
तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवांसः स्याम॥ ३॥

१. हे **देव**=हमारे सब रोगों को जीतने की कामनावाले [मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्], **संस्फान**=धान्यराशि के वर्धयितः यज्ञाग्ने! तू **सहस्रपोषस्य**=हज़ारों प्रजाओं के पोषक धनों का **ईशिषे**=ईश है, **तस्य नो रास्व**=वह धन हमें प्रदान कर, **तस्य**=उस धन के भाग को **नः धेहि**=हमारे लिए धारण कर। ते आपके **तस्य**=उस धन के भाग का **भक्तिवांसः स्याम**=हम सेवन करनेवाले हों।

भावार्थ—यह यज्ञाग्नि हमारे रोगों को जीतती है, शतशः पोषणों को प्राप्त करानेवाले धनों को देती है। हम भी यज्ञाग्नि से पोषक धनों के भागों को प्राप्त करें।

८०. [अशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

दिव्या 'श्वा'

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूतावचाकशत्।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम॥ १॥

१. प्रभु दिव्य हैं, प्रकाशमय हैं, सब गुणों के पुञ्ज हैं, 'श्वा' हैं—गतिशीलता के द्वारा बढ़े हुए हैं। ये प्रभु **विश्वा भूता अवचाकशत्**=सब प्राणियों को देखते हुए **अन्तरिक्षेण पतति**=हृदयान्तरिक्ष में गति करते हैं, हृदयस्थरूपेण सबके कर्मों को देख रहे हैं और सबका ध्यान कर रहे हैं। २. उस **दिव्यस्य शुनः**=प्रकाशमय वर्धमान प्रभु का **यत् महः**=जो तेज है, **तेन**=उस तेज के हेतु से हे प्रभो! आपका **हविषा विधेम**=हवि के द्वारा पूजन करें। त्यागपूर्वक अदन ही हवि है। इसके द्वारा ही प्रभुपूजन होता है **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**। यह हवि ही हमारे जीवनों को प्रकाशमय व गति द्वारा वृद्धिवाला बनाती है।

भावार्थ—हृदयस्थरूपेण प्रभु हम सबके कर्मों को देख रहे हैं। प्रभु का हवि द्वारा पूजन करते हुए हम दिव्य व गति द्वारा वृद्धिवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

त्रयः कालकाञ्जाः

ये त्रयः कालकाञ्जा दिवि देवाइव श्रिताः। तान्त्सर्वानह्व ऊतयेऽस्मा अरिष्टतातये॥ २॥

१. **ये**=जो **त्रयः**=तीन **कालकाञ्जाः**=(कालक-अञ्जाः) उस सर्वगणक (कल संख्याने)—सबका काल करनेवाले प्रभु के प्रकाश हैं—'सूर्य, विद्युत् व अग्नि' रूप से तीन ज्योतियाँ हैं, जो **दिवि**=इस विशाल आकाश में **देवाः इव श्रिताः**=प्रकाशमय पिण्डों के समान आश्रित हैं, **तान् सर्वान्**=उन सबको **ऊतये**=रक्षण के लिए **अह्वे**=पुकारता हूँ। **अस्मै**=इस **अरिष्टतातये**=अहिंसन के विस्तार के लिए—मैं इन प्रकाशों को पुकारता हूँ। २. मेरा मस्तिष्क ज्ञानसूर्य से प्रकाशित हो, मेरा हृदयान्तरिक्ष वासनाओं पर विद्युत् के प्रहारवाला हो, मेरा शरीर उचित अग्नितत्त्ववाला हो, ऐसा होने पर ही मैं अहिंसित होऊँगा।

भावार्थ—हम 'सूर्य, विद्युत् व अग्नि' रूप प्रभु की ज्योतियों को पुकारें। इन्हें जीवन में धारण करें। हमारा मस्तिष्क ज्ञानसूर्य से दीप्त, हृदयान्तरिक्ष वासनाओं पर विद्युत्-प्रहार करनेवाला व शरीर उचित अग्नितत्त्ववाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

अप्सु, दिवि, समुद्रे, पृथिव्याम्

अप्सु ते जन्म दिवि ते सधस्थं समुद्रे अन्तर्महिमा ते पृथिव्याम्।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम॥ ३॥

१. हे प्रभो! **अप्सु**=रेतःकणों में **ते जन्म**=तेरा प्रादुर्भाव है, अर्थात् रेतःकणों का रक्षण होने पर बुद्धि का दीपन होकर आपका दर्शन होता है। **दिवि ते सधस्थम्**=ज्ञान के प्रकाश में आपका सहस्थान है। ज्ञान का प्रकाश होने पर ज्ञानी प्रकाशमय हृदय में आपके साथ निवास करता है। यह ज्ञानी **समुद्रे पृथिव्याम् अन्तः**=समुद्र में व इस पृथिवी में **ते महिमा**=आपकी महिमा को देखता है। २. आप (दिव्य श्वा) प्रकाशमय, गतिमय व सदा से वर्धमान हैं। उन **दिव्यस्य शुनः**=प्रकाशमय, वर्धमान आपका **यत् महः**=जो तेज हैं, **तेन**=उस तेज के हेतु से **ते**=आपका **हविषा विधेम**=हवि के द्वारा पूजन करें।

भावार्थ—रेतःकणों का रक्षण हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाता है। प्रकाशमय हृदय में ज्ञानी आपके चरणों में बैठता है। यह समुद्र व पृथिवी में आपकी महिमा को देखता है। आपके तेज को प्राप्त करने के लिए हवि के द्वारा आपका पूजन करता है।

८१. [एकाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यन्ता परिहस्तः

यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि।
प्रजां धनं च गृह्णानः परिहस्तो अभूदयम्॥ १॥

१. गतसूक्त के अनुसार प्रभुपूजन की वृत्तिवाले हे पुरुष! तू **यन्ता असि**=अपने जीवन को नियम में रखनेवाला है। पाणिग्रहण के समय तू **हस्तौ यच्छसे**=अपने हाथों को अपने जीवन साथी के लिए देता है, **रक्षांसि अप सेधसि**=विनाशक तत्त्वों को घर से दूर करता है—अपने मन में भी राक्षसीभावों का उदय नहीं होने देता। २. वस्तुतः **प्रजाम्**=सन्तान को **गृह्णानः**=समीप भविष्य में प्राप्त करनेवाला **अयम्**=यह पुरुष **धनं च**=धन को भी (गृह्णानः) ग्रहण करने के स्वभाववाला—धनार्जन की योग्यतावाला **परिहस्तः अभूत्**=हाथ का सहारा देनेवाला हुआ है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश का मुख्योद्देश्य उत्तम सन्तान की प्राप्ति ही है और गृहस्थ को परिवार के पालन के लिए धन अवश्य कमाना है।

भावार्थ—गृहस्थ में पति का जीवन बड़ा नियमित हो। उसका हृदय राक्षसीभावों से शून्य हो। प्रजा-प्राप्ति की कामनावाला यह धर्नाजन की योग्यता से युक्त हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

मर्यादा से युक्त जीवनवाली माता

परिहस्त वि धारय योनिं गर्भाय धातवे। मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गमयागमे॥ २॥

१. हे **परिहस्त**=हाथ का सहारा देनेवाले पुरुष! तू **योनिम्**=सन्तान को जन्म देनेवाली इस पत्नी को **विधारय**=विशेषरूप में धारण करनेवाला हो। तू इसे **गर्भाय धातवे**=गर्भाधान

करनेवाला हो। २. तू पत्नी से यही कह कि **मर्यादे**=प्रत्येक कार्य को मर्यादा में करनेवाली तू **पुत्रम् आधेहि**=गर्भस्थ सन्तान का सब प्रकार से सम्यक् धारण कर। **तम्**=उस सन्तान को **त्वम्**=तू **आगमे**=ठीक समय पर आगमय=संसार में लानेवाली हो—जन्म देनेवाली हो।

भावार्थ—पति को पत्नी-ग्रहण उत्तम सन्तान के लिए ही करना है। पत्नी को बड़ा मर्यादित जीवन बिताते हुए गर्भावस्था में सन्तान का सम्यक् पोषण करना है और समय पर जन्म देना है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुत्रकाम्या अदिति

यं परिहस्तमबिभरदितिः पुत्रकाम्या।
त्वष्टा तमस्या आ बध्नाद्यथा पुत्रं जनादिति॥ ३॥

१. **पुत्रकाम्या**=उत्तम सन्तान की कामनावाली **अदितिः**=अखण्डित व्रतवाली यह स्त्री **यम्**=जिस **परिहस्तम्**=हाथ का सहारा देनेवाले पुरुष को **अबिभः**=धारण करती है, **त्वष्टा**=संसार का निर्माता प्रभु **तम्**=उस पुरुष को **अस्यै आबध्नात्**=इसके लिए बाँधे—इसके साथ उस पुरुष के सम्बन्ध को स्थिर करे, **यथा**=जिससे यह **पुत्रं जनात्**=उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली हो। **इति**=यही तो इस सम्बन्ध का उद्देश्य है।

भावार्थ—पत्नी को पुत्र की ही कामनावाला होना चाहिए। वह व्रतमय जीवनवाली होगी तो सन्तान भी उत्तम होगी। उसे पतिव्रता होना, जिससे सन्तान भी व्रतमय जीवनवाले हों।

विशेष—धन कमाने की योग्यतावाला यह पुरुष गृहस्थ में प्रवेश करता है। घर को सौभाग्य-सम्पन्न बनानेवाला (गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्), यह पति 'भग' कहलाता है। अगले तीन सूक्तों का ऋषि यह भग ही है।

८२. [द्व्यशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'इन्द्र वृत्रहा वासव शतक्रतु'

आगच्छत आगतस्य नाम गृह्णाम्यायतः।
इन्द्रस्य वृत्रघ्नो वन्वे वासवस्य शतक्रतोः॥ १॥

१. **आयतः**=अतिशयेन यत्नवान् (यती प्रयत्ने) अथवा सब इन्द्रियों का नियमन करनेवाला (यमु उपरमे) मैं **आगच्छतः**=समन्तात् गतिवाले व **आगतस्य**=आये हुए—हृदयस्थ प्रभु के नाम का **गृह्णामि**=उच्चारण करता हूँ। प्रत्येक गृहस्थ को प्रभु का स्मरण करना ही चाहिए। प्रभु के स्मरण से ही गृहस्थ के भार को उठाने की शक्ति प्राप्त होती है तथा जीवन की पवित्रता बनी रहती है। २. **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली **वृत्रघ्नः**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करनेवाले **वासवस्य**=सब वसुओं से सम्पन्न, **शतक्रतोः**=सैकड़ों, 'शक्तियों, प्रज्ञानों व कर्मों' वाले प्रभु से **वन्वे**=याचना करता हूँ, इस प्रभु से अभिमत पदार्थों की प्रार्थना करता हूँ। वस्तुतः गृहस्थ में प्रवेश करनेवाले युवक को भी 'इन्द्र, वृत्रहा, वासव व शतक्रतु' बनने का यत्न करना चाहिए। इन्द्र, अर्थात् वह जितेन्द्रिय बने, जितेन्द्रियता ही वर का सर्वमहान् ऐश्वर्य है। यह ज्ञान के द्वारा वासनाओं को विनष्ट करनेवाला हो, सब वसुओं का सम्पादन करे तथा यज्ञमय जीवनवाला हो।

भावार्थ—गृहस्थ में प्रवेश करनेवाला युवक प्रभु का स्मरण करे। यह प्रभु स्मरण ही उसके जीवन को पवित्र व सशक्त बनता है। यह जितेन्द्रिय (इन्द्र) बने, ज्ञानी बनकर वासनाओं का विनाश करनेवाला हो (वृत्रहा) गृहस्थ के लिए आवश्यक वसुओं का सम्पादन करे (वासव)

तथा यज्ञमय जीवनवाला (शतक्रतु) बने।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अश्विना सूर्या

येन सूर्यां सावित्रीमश्विनोहतुः पथा। तेन मामब्रवीद्भगो जायामा वहतादिति॥ २॥

१. **येन पथा**=जिस मार्ग से **अश्विना**=अश्विनी देव—दिन और रात **सावित्रीं सूर्याम्**=सविता सम्बन्धी सूर्य को—ज्योति को **ऊहतुः**=धारण करते हैं, **तेन**=उसी मार्ग से तू **जायाम् आवहतात्**=पत्नी को प्राप्त करनेवाला हो, **इति**=यह बात **माम्**=मुझे **भगः**=उस ऐश्वर्यवान् प्रभु ने **अब्रवीत्**=कही है। २. दिन और रात अत्यन्त नियमित गति में चलते हुए 'सूर्या' को प्राप्त करते हैं। एक वर भी उसी प्रकार नियमित गतिवाला होता हुआ तथा प्राणसाधना को अपनाता हुआ (अश्विना—प्राणापानौ) पत्नी को प्राप्त करे।

भावार्थ—पति को 'अश्विनौ' (दिन-रात) की भाँति नियमित गतिवाला होना चाहिए। इसे प्राणसाधना की प्रवृत्तिवाला होना चाहिए (अश्विना—प्राणापानौ)। पत्नी को 'सूर्या' बनना, क्रियाशील (सरति) व प्रकाशमय जीवनवाला होना चाहिए।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु का वरद अंकुश

यस्तेऽङ्कुशो वसुदानो बृहन्निन्द्र हिरण्ययः। तेना जनीयते जायां मह्यं धेहि शचीपते॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **यः ते अंकुशः**=जो आपका अंकुश—अंकुशवत् आकर्षक हाथ **वसुदानः**=सब वसुओं को देनेवाला है, **बृहन्**=वृद्धि का कारणभूत है, **हिरण्ययः**=ज्योतिर्मय है। प्रभु का हाथ अंकुशवत् है। यह हमें बुराइयों से रोकता है, सब वसुओं को प्राप्त कराता है और हमारा वर्धन करता हुआ हमारे जीवन को ज्योतिर्मय बनाता है। २. हे **शचीपते**=सब वाणियों, शक्तियों व प्रज्ञानों के स्वामिन् प्रभो! **तेन**=उसी अपने अंकुश से **जनीयते**=सन्तान को जन्म देनेवाली पत्नी की कामनावाले **मह्यम्**=मेरे लिए **जायाम्**=पत्नी को भी **धेहि**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु के पाप-निवारक वरद हस्तों से हमें सब वसु प्राप्त होते हैं। ये हाथ हमारा वर्धन करते हैं, हमारे जीवन को ज्योतिर्मय बनाते हैं और ये हाथ ही हमें जीवन का साथी (जाया) प्राप्त कराते हैं।

८३. [त्र्यशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**सूर्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गण्डमाला की चिकित्सा

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव। सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोऽपोच्छतु॥ १॥

१. दोषवश गले से लेकर नीचे फैलनेवाली गिलटियाँ गण्डमाला व 'अपचित' कहलाती हैं (अपाक् चीयमानाः) हे **अपचितः**=गण्डमालाओ! तुम **प्र पतत**=इस शरीर से इसप्रकार निकल जाओ **इव**=जैसेकि **सुपर्णः वसतेः**=शोभनपतन श्येन अपने निवासस्थानभूत घोंसले से उड़ जाता है। २. **सूर्यः**=सूर्य **वः**=तुम्हारा **भेषजं कृणोतु**=चिकित्सा करे और **चन्द्रमाः**=चन्द्र तुम्हें **अप उच्छतु**=दूर विवासित करनेवाला हो।

भावार्थ—एक सद् वैद्य सूर्य व चन्द्र किरणों को सेवन कराके 'गण्डमाला' रोग को हमसे दूर भगा देता है।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**सूर्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एनी श्येनी कृष्णा रोहिणी

एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे। सर्वासामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन॥ २॥

१. **एका**=एक गण्डमाला **एनी**=ईषत् रक्तमिश्रित श्वेत वर्णवाली है, **एका श्येनी**=एक अत्यन्त शुभ्र वर्णवाली है। **एका कृष्णा**=एक कृष्णवर्णवाली है और **द्वे रोहिणी**=दो लोहित=रक्त वर्णवाली हैं। २. मैं **सर्वासाम्**=इन सब गण्डमालाओं के **नाम**=नमन-(दमन)-साधन-उपाय को **अग्रभम्**=ग्रहण करता हूँ। हे गण्डमालाओ! तुम **अवीरघ्नीः**=हमारी वीर सन्तानों को नष्ट न करती हुई यहाँ से **अपेतन**=दूर चली जाओ।

भावार्थ—हम विविध गण्डमालाओं को दूर करने के साधनों का ग्रहण करते हुए इन्हें अपने जीवनों से दूर करें।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**सूर्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

असूतिका रामायणी

असूतिका रामायण्य पचित्प्र पतिष्यति।
ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति॥ ३॥

१. **असूतिका**=पूयस्राव को पैदा न करती हुई—देर से पकनेवाली यह **रामायणी**=(रमते आसु प्राणवायुः इति रामाः नाड्यः, ता अयनं यस्याः) प्राणवायु के रमन स्थानाभूत नाड़ियों में मार्ग-वाली यह **अपचित्**=गण्डमाला **प्रपतिष्यति**=अवश्य चली जाएगी। २. **ग्लौ**=वज्रजनित हर्षक्षय **इतः**=यहाँ से **प्रपतिष्यति**=दूर हो जाएगा और **सः**=वह घाव **गलुन्तः**=परिपक्व होकर गलने से **नशिष्यति**=नष्ट हो जाएगा—इससे सब पूय (पस) निकलकर घाव की समाप्ति हो जाएगी।

भावार्थ—औषध-प्रयोग से यह असूतिका रामायणी 'ग्लौ व गलुन्त' के रूप में होती हुई नष्ट हो जाएगी।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**सूर्यादयः** ॥ छन्दः—**द्विपदानिचृदार्च्यनुष्टुप्** ॥

प्रेमपूर्वक यज्ञशेष का सेवन

वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा यदिदं जुहोमि॥ ४॥

१. हे रुग्णपुरुष! तू **स्वाम् आहुतिम्**=यज्ञशेष के रूप में ली गई अपनी इस भोज्य द्रव्य की आहुति को **मनसा जुषाणः**=मन से प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **वीहि**=खा। यज्ञशेष का प्रीतिपूर्वक सेवन तुझे नीरोगता प्रदान करेगा। २. **यत् इदं जुहोमि**=यह जो मैं तुझे देता हूँ, उसे तू **मनसा**=मन के साथ—पूरे ध्यान के साथ **स्वाहा**=आहुत करनेवाला बन। तू यज्ञशेष ही खाना। यज्ञ करके बचे हुए को खाना ही अमृतभोजन है।

भावार्थ—प्रीतिपूर्वक यज्ञशेष का सेवन करने से गण्डमाला आदि रोग उत्पन्न ही नहीं होते। उत्पन्न हुए-हुए भी नष्ट हो जाते हैं। एवं, औषध के साथ पथ्य-सेवन आवश्यक है।

८४. [चतुरशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥

निर्ऋति, नकि भूमि

यस्यास्त आसनि घोरे जुहोम्येषां बद्धानामवसर्जनाय कम्।
भूमिरिति त्वाभिप्रमन्वते जना निर्ऋतिरिति त्वाहं परि वेद सर्वतः॥ १॥

१. हे निर्ऋते (दुराचरण)! **यस्याः**=जिस **ते**=तेरे **घोरे आसनि**=भयंकर मुख में **जुहोमि**=मैं अपने को आहुत कर बैठता हूँ—मेरी सब इन्द्रियाँ विषयों से जकड़ी जाकर मेरे पतन का कारण बनती हैं, **एषाम्**=इन **बद्धानाम्**=विषयों से बद्ध इन्द्रियों के **अवसर्जनाय**=छुड़ाने के लिए **कम्**=उस आनन्दमय प्रभु को (जुहोमि) मैं अपना अपर्ण करता हूँ। प्रभु ही मुझे इस निर्ऋति के बन्धन से मुक्त करेंगे। २. हे निर्ऋते! **जनाः**=समान्य लोग **त्वा**=तुझे **भूमिः इति**=(भवन्ति भूतानि यस्याम्) उत्तम निवास-स्थान के रूप में **अभिप्रमन्वते**=मानते हैं—समझते हैं, परन्तु **अहम्**=मैं **त्वा**=तुझे **सर्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **निर्ऋतिः इति**=दुर्गति के कारणभूत दुराचार के रूप में **परिवेद**=जानता हूँ।

भावार्थ—इन्द्रियाँ दुराचार का शिकार होकर विषयों से बद्ध हो जाती हैं, प्रभु-स्मरण से हम इन्हें विषयों से मुक्त करें। विषयों को आनन्द का स्थान न मानकर हम इन्हें कष्ट (दुर्गति) का मूल जानें।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्चीबृहती** ॥

हविष्मती 'भूमि'

भूते हविष्मती भवैष ते भागो यो अस्मासु। मुञ्चेमानमूनेनसः स्वाहा॥ २॥

१. 'निर्ऋति' पाप-देवता है, तो 'भूति' ऐश्वर्य की देवता है। हे **भूते**=ऐश्वर्य की देवते! (विभूतिर्भूतिरैश्वर्यम्) तू **हविष्मती भव**=हविवाली हो। हम तुझे प्राप्त करके त्यागपूर्वक अदन-(खाने)-वाले बनें। **एषः**=यह ही **ते भागः**=तेरा सेवनीय व्यवहार है, **यः अस्मासु**=जो हममें हो, अर्थात् हम सदा तेरा त्यागपूर्वक ही अदन करनेवाले हैं। २. हे ऐश्वर्य! तू **इमान् अमून्**=इनको और उनको—श्रमिकों व पूंजीपतियों को **एनसः मुञ्च**=पाप से मुक्त कर। इनमें से कोई भी लोभ से तेरा ग्रहण करनेवाला न हो, सब त्यागपूर्वक ही तेरा अदन करें। इस पापवृत्ति से छूटने के लिए हम **स्वाहा**=आत्मसमर्पण करनेवाले व त्यागशील बनें।

भावार्थ—हमारा ऐश्वर्य त्याग की वृत्ति से युक्त हो। सम्पत्ति का त्यागपूर्वक अदन ही सेवनीय व्यवहार है। त्यागवृत्ति होने पर यह ऐश्वर्य हमें पाप में नहीं फँसाता। त्याग की वृत्ति होने पर 'श्रमिक और पूँजीपति' दोनों का ही व्यवहार ठीक बना रहता है।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अयस्मय बन्धपाशों का विभेदन

एवो ष्व१स्मन्निर्ऋतेऽनेहा त्वमयस्मयान्वि चृता बन्धपाशान्।
यमो मह्यं पुनरित्त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥ ३॥

१. हे **निर्ऋते**=पापदेवते! **एव उ**=इसप्रकार ही, अर्थात् गतमन्त्र के अनुसार त्यागवृत्ति के होने पर ही **त्वम् अनेहा**=तू हमारे लिए निष्पाप जीवनवाली होती है। तू **अस्मत्**=हमसे **अयस्मयान्**=लोहनिर्मित, अर्थात् अतिदृढ़ **बन्धपाशान्**=बन्धन-जालों को **सुविचृत**=सम्यक् छिन्न कर डाल। २. **यमः**=सर्वनियन्ता प्रभु **मह्यम्**=मेरे लिए **पुनः इत्**=फिर भी—त्याग के अभाव में **त्वां ददाति**=तुझे दे देता है। जब हम त्यागवृत्ति को छोड़कर भोग-वृत्ति में चलते हैं तब प्रभु हमें फिर निर्ऋति में ले-जाता है। **तस्मै**=उस **यमाय**=सर्वनियन्ता **मृत्यवे**=मृत्यु प्राप्त करानेवाले प्रभु के लिए **नमः अस्तु**=हमारा नमस्कार हो। हम प्रभु-स्मरण करते हुए भोगवृत्ति से बचे रहें।

भावार्थ—त्यागवृत्ति होने पर ऐश्वर्य हमारे लिए निर्ऋति बनकर पापमय जीवन का कारण नहीं बनता। 'यम' का स्मरण हमें पाप से बचाता है।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम्।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम्॥ ४॥

इस मन्त्र की व्याख्या ६.६३.३ पर द्रष्टव्य है।

विशेष—आचार्यों व पितरों के सम्पर्क में ज्ञानी बनकर पाप-बन्धन से मुक्त होनेवाला यह व्यक्ति 'अथर्वा' बनता है—संसार के विषयों से न डाँवाडोल होनेवाला है। यही अगले पाँच सूक्तों का ऋषि है।

८५. [पञ्चाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (यक्ष्मनाशनकामः)** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वरणः=वरुणः

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन्॥ १॥

१. **वरणः**=यह वरणवृक्ष **वारयातै**=रोग का निवारण करे। **अयम्**=यह **देवः**=रोगों को जीतने की कामनावाला है (दिव् विजिगीषायाम्) **वनस्पतिः**=(वनस् lovliness) शरीर के सौन्दर्य का रक्षक है। **यः यक्ष्मः**=जो रोग **अस्मिन् आविष्टः**=इस पुरुष में प्रवेश कर गया है, **तम् उ**=उसे निश्चय से **देवाः**=ज्ञानी वैद्य **अवीवरन्**=इस वरण (वरना) के प्रयोग से हटाते हैं।

भावार्थ—वरण को आयुर्वेद में '**वरुणः पित्तलो भेदी श्लेष्मकृच्छ्राश्ममारुतान्। निहन्ति गुल्मवातास्त्रकृमींश्चोष्णोऽग्निदीपनः॥' रक्तदोषघ्नः शिरोवातहरः स्निग्ध आग्नेयो विद्रिध-वातघ्नश्च**' कहा है। यह 'श्लेष्मा, मूत्रदोष, वातदोष, गुल्म, वातरक्त, कृमिदोष, रक्तदोष व शिरोवात' को दूर करनेवाला है। यह आग्नेय है। इसके प्रयोग से हम नीरोग शरीरवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा (यक्ष्मनाशनकामः)** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'इन्द्र, मित्र, वरुण देव'

इन्द्रस्य वचसा वयं मित्रस्य वरुणस्य च।
देवानां सर्वेषां वाचा यक्ष्मं ते वारयामहे॥ २॥

१. **इन्द्रस्य**=रोगरूप सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु के **वचसा**=वचन से—वेदप्रतिपादित वाणी से **वयम्**=हम **ते यक्ष्मम्**=तेरे रोग को **वारयामहे**=निवारित करते हैं। वरणवृक्ष के समुचित प्रयोग से हम तेरे रोग को दूर करते हैं। २. **मित्रस्य**=उस प्रमीति (मृत्यु) से बचानेवाले प्रभु के **च**=तथा **वरुणस्य**=द्वेष आदि का निवारण करनेवाले प्रभु के वचन से हम तेरे रोग को दूर करते हैं। 'इन्द्र' में जितेन्द्रियता का भाव है, 'मित्र' में स्नेह तथा 'वरुण' में निर्द्वेषता का। ये तीनों ही वृत्तियाँ दोष-निवारण के लिए आवश्यक हैं। ३. **सर्वेषां देवानां वाचा**=सब देवों की वाणियों से हम तेरे रोगों को दूर करते हैं। विद्वान् वैद्यों के कथन से वरना का ठीक प्रयोग करते हुए हम नीरोग बनते हैं।

भावार्थ—हम 'जितेन्द्रिय, स्नेहवाले व निर्द्वेष' बनकर रोगों को पराजित करते हैं। विद्वान् वैद्यों के कथन से वरना का ठीक प्रयोग करते हुए हम नीरोग बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा (यक्ष्मनाशनकामः)** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यक्ष्म-निवारण

यथा॑ वृ॒त्र इ॒मा आप॑स्त॒स्तम्भ॑ वि॒श्वधा॑ य॒तीः।
ए॒वा ते॑ अ॒ग्निना॒ यक्ष्मं॑ वैश्वान॒रेण॑ वारये॥ ३॥

१. **यथा**=जैसे **वृत्रः**=मेघ **विश्वधा यतीः**=सब ओर बहती हुई **इमाः आपः**=इन जलधाराओं को **तस्तम्भ**=रोके हुए हैं, **एव**=उसी प्रकार **ते यक्ष्मम्**=तेरे राजयोग को **वैश्वानरेण अग्निना**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले जाठराग्नि के द्वारा **वारये**=रोकता हूँ। २. जाठर अग्नि के ठीक होने पर शरीर में रोग नहीं आते। आये हुए रोग भी इस अग्नि के ठीक होने से दूर हो जाते हैं। वरणवृक्ष भी 'आग्नेय' है। इस अग्नि का प्रयोग भी रोग का निवारण करता ही है।

भावार्थ—बादल पानी को रोक लेता है। वरणवृक्ष व वैश्वानर अग्नि (जाठराग्नि) रोग को रोकनेवाला हो। वरणवृक्ष का प्रयोग रोग को फैलने नहीं देता।

८६. [षडशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (वृषकामः)** ॥ देवता—**एकवृषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एकवृष

वृषेन्द्र॑स्य॒ वृषा॑ दि॒वो वृषा॑ पृथि॒व्या अ॒यम्।
वृषा॒ विश्व॑स्य भू॒तस्य॒ त्वमे॑कवृ॒षो भ॑व॥ १॥

१. **अयम्**=यह प्रभु **इन्द्रस्य**=सूर्य का—सूर्य के अधिष्ठान द्युलोक का **वृषा**=स्वामी है (वृषु ऐश्वर्य), **दिवः**=इस जगमगाते अन्तरिक्षलोक का **वृषा**=स्वामी है तथा **पृथिव्याः**=पृथिवीलोक का स्वामी है। २. यह प्रभु **सर्वस्य भूतस्य वृषा**=सब प्राणियों का स्वामी है। हे उपासक! तू भी इस 'वृषा' प्रभु का उपासन करता हुआ **एकवृषः भव**=अद्वितीय शक्तिशाली बन। अपनी इन्द्रियों का स्वामी बनता हुआ 'एकवृष' बन।

भावार्थ—प्रभु, 'द्युलोक, अन्तरिक्षलोक व पृथ्वीलोक' के स्वामी हैं। वे सब भूतों के स्वामी हैं। इस वृषा का स्मरण करते हुए हम भी 'मस्तिष्क, हृदय व शरीर' के स्वामी बनते हुए 'एकवृष' बनें—अद्वितीय शक्तिशाली स्वामी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा (वृषकामः)** ॥ देवता—**एकवृषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'समुद्र, अग्नि व चन्द्र' की भाँति

स॒मु॒द्र ई॑शे स्र॒वता॑म॒ग्निः पृ॑थि॒व्या व॒शी।
च॒न्द्रमा॒ नक्ष॑त्राणामीशे॒ त्वमे॑कवृ॒षो भ॑व॥ २॥

१. **समुद्रः**=समुद्र **स्रवताम्**=बहते हुए जलप्रवाहों का **ईशे**=स्वामी है। यह 'सरितां पतिः' कहलाता है। **अग्निः**=अग्नि **पृथिव्याः वशी**=पृथिवी को वश में करनेवाला है। अग्नि ही पृथिवी का प्रमुख देव है। **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा **नक्षत्राणम् ईशे**=नक्षत्रों का ईश है। इसका नाम ही 'नक्षेश' है। हे उपासक **त्वम्**=तू भी 'समुद्र, अग्नि व चन्द्र' की भाँति **एकवृषः भव**=अद्वितीय स्वामी बन। समुद्र आदि का स्वामीत्व अव्याहत है, तेरा भी इन्द्रियों पर स्वामित्व अव्याहत हो।

भावार्थ—हम 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' के इसीप्रकार स्वामी बनें जैसे समुद्र नदियों का, अग्नि पृथिवी का तथा चन्द्र नक्षत्रों का ईश है।

ऋषिः—**अथर्वा (वृषकामः)** ॥ देवता—**एकवृषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उत्तम पुरुष लक्षण

सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्याणाम्। देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव॥ ३॥

१. हे उत्तम पुरुष! तू **असुराणाम्**=(असु+रम्) प्राणशक्ति-सम्पन्न बलवान् पुरुषों का **सम्राट् असि**=सम्राट् है। **मनुष्यणाम्**=मननशील पुरुषों का **ककुत्**=शिखर—शिरोमणि है। **देवानाम्**=दिव्य वृत्तिवाले सब मनुष्यों की **अर्धभाग् असि**=(अर्ध-Increase) वृद्धि का सेवन करनेवाला है। इसप्रकार **त्वम्**=तू **एकवृषः भव**=अद्वितीय श्रेष्ठतावाला हो।

भावार्थ—हम शक्तिशालियों के सम्राट्, ज्ञानियों के शिरोमणि व देवों की समृद्धिवाले बनकर—दिव्य गुणोंवाले बनकर अद्वितीय श्रेष्ठता को प्राप्त करें।

८७. [सप्ताशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रजाप्रिय राजा

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत्।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥ १॥

१. पुरोहित राज्याभिषेक करता हुआ राजा से कहता है कि हे राजन्! **त्वा आहार्षम्**=तुझे मैं इस सिंहासन पर लाया हूँ, **अन्तः अभूः**=तू सदा राष्ट्र में निवास करनेवाला हो, **अविचाचलत्**=मार्ग से विचलित न होता हुआ तू **ध्रुवः तिष्ठ**=स्थिररूप से सिंहासन पर स्थित हो। २. **सर्वाः विशः**=सब प्रजाएँ **त्वा वाञ्छन्तु**=तुझे चाहें। तू प्रजाओं का प्रिय हो। **त्वत्**=तुझसे **राष्ट्रम्**=यह राष्ट्र **मा अधिभ्रशत्**=कभी भी नष्ट न हो।

भावार्थ—राजा प्रजाओं में ही विचरनेवाला हो। वह इधर-उधर शिकार ही न खेलता रहे। स्थिरवृत्ति का बनकर राज्य करे। प्रजाओं का प्रिय हो। उसे कभी राज्य से पृथक् न होना पड़े।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मर्यादित जीवनवाला राजा

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वतइवाविचाचलत्। इन्द्रेहैव ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय॥ २॥

१. **इह एव एधि**=तू सदा इस राज्यसिंहासन पर ही हो। **मा अप च्योष्ठाः**=कभी भी इस राज्य से च्युत मत हो। **पर्वतः इव**=पर्वत की भाँति **अविचाचलत्**=दृढ हो—मार्ग से डाँवाडोल होनेवाला न हो। २. **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! तू **इह एव**=इस राष्ट्र में ही **ध्रुवः तिष्ठ**=ध्रुव होकर रह **उ**=और **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **धारय**=धारित कर। राष्ट्र की सब प्रजाओं को अपने-अपने कार्य में धारित कर—'**राजा चतुरो वर्णान् स्वधर्मे स्थापयेत्**'। यही तो राष्ट्र-धारण का सर्वोत्तम प्रकार है।

भावार्थ—राजा पर्वत की भाँति कर्त्तव्यमर्यादा में स्थित होता हुआ कभी मार्ग से विचलित न हो। वह जितेन्द्रिय बनकर सब राष्ट्र का धारण करे—'**जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः**'।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सोम ब्रह्मणस्पति' का राजा को उपदेश

इन्द्र एतमदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा।
तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय राजा **एतम्**=इस राष्ट्रजन को **ध्रुवम् अदीधरत्**=स्थिरता से धारण करनेवाला हो। स्वयं जितेन्द्रिय होता हुआ वह प्रजा को भी ध्रुवता से सन्मार्ग में चलानेवाला हो। यह राजा **ध्रुवेण हविषा**=स्थिर हवि के द्वारा—कर-रूप में प्राप्त होनेवाले धन के द्वारा प्रजा को धारण करे। प्रजा नियम से कर दे और राजा उसका विनियोग राष्ट्रधारण में करे। २. **च**=और **तस्मै**=उस राजा के लिए **अयम्**=यह **सोमः**=सौम्य स्वभाववाला **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी आचार्य **अधिब्रवत्**=अधिष्ठातृरूपेण उपदेश देनेवाला हो और राजा इसके उपदेश का कभी उल्लंघन न करे।

भावार्थ—राजा जितेन्द्रिय हो। स्थिररूप से प्राप्त होनेवाले कर के द्वारा वह राष्ट्र का धारण करे। सौम्य, ज्ञानी आचार्य राजा को राजकार्यों (स्वकर्त्तव्यों) का सदा उपदेश देनेवाला हो।

८८. [अष्टाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ध्रुव राजा

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृ॒थि॒वी ध्रु॒वं विश्व॑मि॒दं जग॑त्।
ध्रु॒वास॒: पर्व॑ता इ॒मे ध्रु॒वो राजा॑ वि॒शाम॒यम्॥ १॥

१. जैसे **द्यौः**=द्युलोक **ध्रुवा**=स्थिर है और **पृथिवी ध्रुवा**=पृथिवी स्थिर है। द्यावापृथिवी के अन्दर वर्त्तमान **इदम्**=यह **विश्वं जगत्**=सब संसार **ध्रुवम्**=स्थिर दीखता है और वहाँ के **इमे**=ये **पर्वताः ध्रुवासः**=पर्वत-जैसे ध्रुव हैं, उसी प्रकार **अयम्**=यह **विशाम्**=प्रजाओं का **राजा**=राजा भी **ध्रुवः**=स्थिर हो। राजा कभी भी सन्मार्ग से विचलित होनेवाला न हो।

भावार्थ—प्रजापालक राजा वही होता है जो कर्त्तव्य-मार्ग पर पर्वतों के समान स्थिर होकर रहता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'वरुण, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि' द्वारा राष्ट्रधारण

ध्रु॒वं ते॒ राजा॒ वरु॑णो ध्रु॒वं दे॒वो बृह॒स्पति॑:।
ध्रु॒वं त॒ इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॑ रा॒ष्ट्रं धा॑रयतां ध्रु॒वम्॥ २॥

१. हे राजन्! **ते राष्ट्रम्**=तेरे इस राष्ट्र को **राजा**=तेजस्विता से **दीप्त वरुणः**=पाप से निवारण करनेवाला आरक्षी-(पुलिस)-विभाग का यह अध्यक्ष **ध्रुवम्**=स्थिरता से धारण करे। **देवः**=यह दिव्य गुणोंवाला—देववृत्तिवाला **बृहस्पतिः**=ज्ञानी—मुख्य सचिव **ध्रुवः**=ध्रुवता से धारण करे। २. **इन्द्रः च**=शत्रुओं का विद्रावक सेनापति **ते राष्ट्रम्**=तेरे राष्ट्र को **ध्रुवम्**=ध्रुवता से धारण करे। **अग्निः च**=और राष्ट्र की उन्नति का विचार करनेवाला अध्यक्ष तेरे राष्ट्र को **ध्रुवं धारयताम्**=ध्रुवता से धारण करे।

भावार्थ—राजा के राष्ट्र को 'वरुण, बृहस्पति, इन्द्र व अग्नि' आदि ध्रुवता से धारण करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

निरुपद्रव राष्ट्र में मिलकर चलनेवाली प्रजाएँ

ध्रु॒वोऽच्यु॑तः॒ प्र मृ॑णीहि॒ शत्रू॒ञ्छत्रू॒यतोऽध॑रान्पादयस्व।
सर्वा॒ दिश॒: संम॑नसः स॒ध्रीची॑र्ध्रु॒वाय॑ ते॒ समि॑तिः कल्पतामि॒ह॥ ३॥

१. हे राजन्! **ध्रुवः**=इस राष्ट्र में स्थिर **अच्युतः**=मार्ग से विचलित न होनेवाला होता हुआ **शत्रून्**=शत्रुओं को **प्रमृणीहि**=नष्ट कर डाल। **शत्रूयतः**=शत्रु की भाँति आचरण करते हुए अन्य जनों को **अधरान् पादयस्व**=नीचे गिरा दे, पददलित कर दे। २. इसप्रकार शत्रुओं के न रहने पर **सर्वाः दिशः**=सब दिशाएँ—इनमें रहनेवाली प्रजाएँ **संमनसः**=उत्तम मनवाली होती हुई **सध्रीचीः**=मिलकर चलनेवाली हों। प्रजाओं का परस्पर विरोध न हो। **इह**=इस राष्ट्र में **ध्रुवायते**=कर्त्तव्य-पथ में स्थित तेरे लिए **समितिः कल्पताम्**=राष्ट्रसभा समर्थ हो, सामर्थ्य की जनक हो। यह सभा तुझे ध्रुवता से शासन करने में समर्थ करे।

भावार्थ—राजा राष्ट्र को शत्रुभय से रहित करे। इस निरुपद्रव राष्ट्र में सब प्रजाएँ प्रेम से मिलकर चलें। राष्ट्रसभा राजा को शासनकार्य में शक्तिसम्पन्न करे।

८९. [एकोननवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सोमेन दत्तम्

इदं यत्प्रेण्यः शिरो दत्तं सोमेन वृष्ण्यम्।
ततः परि प्रजातेन हार्दिं ते शोचयामसि॥ १॥

१. हे पुरुष! **इदम्**=यह **यत्**=जो **प्रेण्यः**=प्रीणित करनेवाली पत्नी का **शिरः**=सिर **सोमेन**=सकल जगदुत्पादक प्रभु ने **दत्तम्**=तेरे हाथ में दिया है, यह **वृष्ण्यम्**=तुझमें शक्ति का सेचन करनेवाला हो। इस पत्नी के गौरव को बचाना तू अपना धर्म समझे और यह भाव तुझे शक्तिशाली बनाए। २. **ततः**=उस तेरे हाथ में दिये गये सिर से **परिप्रजातेन**=उत्पन्न हुए-हुए स्नेहविशेष से **ते**=तेरे **हार्दिम्**=हृन्मध्यवर्ती अन्तःकरण को **शोचयामसि**=दीप्त करते हैं। तुझे पत्नी के प्रति प्रेम हो, उसके यश को रक्षित करना तू अपना कर्तव्य समझे और यह कर्त्तव्यपालन की भावना तेरे अन्तःकरण को उज्ज्वल करनेवाली हो—उत्साहयुक्त करनेवाली हो।

भावार्थ—एक पति यह समझे कि प्रभु ने इस पत्नी को मुझे प्राप्त कराया है, इसकी कीर्ति का रक्षण मेरा कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य-भावना उसके हृदय को उत्साहित करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परस्पर अनुकूलता

शोचयामसि ते हार्दिं शोचयामसि ते मनः।
वातं धूमइव सध्र्य१ङ्मामेवान्वेतु ते मनः॥ २॥

१. पति-पत्नी परस्पर कहते हैं कि **ते हार्दिम्**=तेरे हृन्मध्यवर्ति अन्तःकरण को **शोचयामसि**=अनुराग के उत्पादन से दीप्त करते हैं। **ते मनः**=तेरी संकल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरण की वृत्तिविशेष को भी **शोचयामसि**=उज्ज्वल करते हैं। पति-पत्नी का हृदय एक-दूसरे के प्रति अनुरागवाला हो, उनका मन एक-दूसरे के प्रति उत्तम संकल्पोंवाला हो। २. **इव**=जैसे **धूमः**=धुँआ **वातम्**=वायु के साथ गतिवाला होता है, इसीप्रकार **ते मनः**=तेरा मन **माम् एव सध्र्यङ्**=मेरे साथ ही गतिवाला होकर **अनु एतु**=अनुकूलता से प्राप्त हो। पति के अनुकूल पत्नी का मन हो, पति का मन पत्नी के अनुकूल हो।

भावार्थ—पति-पत्नी अपने व्यवहार से एक-दूसरे के हृदय व मन को दीप्त करनेवाले हों। इनके मन परस्पर अनुकूलता से युक्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मित्रावरुणौ सरस्वती

मह्यं त्वा मित्रावरुणौ मह्यं देवी सरस्वती।
मह्यं त्वा मध्यं भूम्या उभावन्तौ समस्याताम्॥ ३॥

१. हे पत्नि! **मह्यम्**=मेरे लिए **त्वाम्**=तुझे **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण **समस्यताम्**=संयुक्त करें। **मह्यम्**=मेरे लिए **देवी**=यह द्योतमाना **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता तुझे संयुक्त करें। स्नेह की भावना (मित्र), निर्द्वेषता (वरुण) व ज्ञानरुचिता (सरस्वती) हमें एक-दूसरे के समीप लानेवाले हों। २. **भूम्याः मध्यम्**=भूमि का मध्य तथा **उभौ अन्तौ**=दोनों सिरे **त्वा**=तुझे **मह्यम्**=मेरे लिए संयुक्त करें। यह सारा संसार तुझे मेरे लिए संयुक्त करनेवाला हो।

भावार्थ—स्नेह, निर्द्वेषता व ज्ञानप्रवणता को अपनाते हुए पति-पत्नी एक-दूसरे के प्रति प्रेमवाले हों। सारा संसार उन्हें परस्पर अनुकूलता से संयुक्त करे।

९०. [नवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इषु निष्कासन

यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गेभ्यो हृदयाय च।
इदं तामद्य त्वद्वयं विषूचीं वि वृहामसि॥ १॥

१. **रुद्रः**=(रोदयति) प्रबल आक्रमण के द्वारा रुलानेवाले शत्रु-सेनानी ने **याम् इषुम्**=जिस बाण को **ते**=तेरे **अंगेभ्यः**=अङ्गों के लिए—अंगों की पीड़ा के लिए **हृदयाय च**=और हृदय की पीड़ा के लिए **आस्यत्**=फेंका है, **अद्य**=आज **इदम्**=उसके प्रतीकार के लिए **वयम्**=हम **ताम्**=उस इषु को **त्वत् विषूचीम्**=तुझसे विरुद्ध दिशा में—तुझसे दूर **विवृहामसि**=उत्क्षिप्त करते हैं।

भावार्थ—युद्ध में अस्त्र-शस्त्रों से घायल शरीर को स्वस्थ करने के लिए शरीर में रह गये बाण आदि को निकाल फेंकने की व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विषप्रभाव दूरीकरण

यास्ते शतं धमनयोऽङ्गान्यनु विष्ठिताः।
तासां ते सर्वासां वयं निर्विषाणि ह्वयामसि॥ २॥

१. हे शूलरोगिन्! **ते अंगानि अनु**=तेरे हाथ-पैर आदि अङ्गों में **याः शतं धमनयः**=जो सैकड़ों नाड़ियाँ **विष्ठिताः**=विविधरूप में अवस्थित हैं **ते**=तेरी **तासां सर्वासाम्**=उन सब नाड़ियों की **निर्विषाणि**=पीड़ा को दूर करनेवाले—विष को बाहर कर देनेवाले औषधों को **वयं ह्वयामसि**=हम सम्पादित करते हैं। विष दूर होते ही दर्द तो दूर हो ही जाएगा।

भावार्थ—धमनियों में विषप्रभाव हो जाने से अङ्ग-प्रत्यङ्ग में पीड़ा आरम्भ हो जाती है। विष को दूर करनेवाले औषध से हम उस पीड़ा को दूर करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**आर्षीभुरिगुष्णिक्** ॥

अस्यते प्रतिहितायै, विसृज्यमानायै निपतितायै

नमस्ते रुद्रास्यते नमः प्रतिहितायै। नमो विसृज्यमानायै नमो निपतितायै॥ ३॥

१. **रुद्र**=हे शरवेध द्वारा रुलानेवाले! **अस्यते ते**=फेंकते हुए तेरे लिए **नमः**=नमस्कार हो। हम तुझे दूर से ही छोड़नेवाले बनें, जिससे हमपर बाण न गिरे। **प्रतिहितायै**=धनुष् पर जोड़े हुए—चढ़ाये हुए तेरे इषु के लिए **नमः**=नमस्कार हो। **विसृज्यमानायै**=धनुष् से प्रेरित किये जाते हुए इस इषु के लिए **नमः**=नमस्कार हो। **निपतितायै**=विसर्जन के पश्चात् लक्ष्य पर गिरे हुए इस बाण के लिए **नमः**=नमस्कार हो।

भावार्थ—सबसे प्रथम तो हम रोग के कारणों को ही दूर करें (अस्यते), जब रोग उत्पन्न होने को हों तभी उन्हें रोकें (प्रतिहितायै), उत्पन्न हो रहे रोगों को रोकें (विसृज्यमानायै) और यह आ जाए तो भी इसके दूरी-करण के लिए पूर्ण प्रयत्न करें (निपतितायै)।

विशेष—सब प्रकार के रोगों को तपस्या की अग्नि में दग्ध करके यह 'भृगु' बनता है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला, यह 'अङ्गिरा' होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

९१. [एकनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिरा**॥ देवता—**यक्षमनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अष्टायोगैः षड्योगैः

इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषुः। तेना ते तन्वो३ रपोऽपाचीनमप व्यये॥ १॥

१. **इयं यवम्**=इस जौ को **अष्टायोगैः**=आठ जोड़ीवाले बैलों से अथवा **षड्योगेभिः**=छह जोड़ीवाले बैलों से की जानेवाली कृषि से **अचर्कृषुः**=उत्पन्न करते हैं। इसप्रकार की कृषि में बैलों को कम कष्ट होता है। वे प्रसन्नता से कर्षण में सहायक होंगे तो उत्पन्न होनेवाला यव भी अधिक गुणकारी होगा। २. **तेन**=उस यव (जौ) से **ते तन्वः रपः**=तेरे शरीर के रोगबीज को **अपाचीनम् अप व्यये**=निम्न गति से दूर करते हैं। यव मलशोधन करता हुआ रोग को दूर करनेवाला होता है।

भावार्थ—जिस भूमि में बैलों को पीड़ित न करते हुए अन्न उत्पन्न किया जाता है वह जौ मलों का शोधन करता हुआ रोगों को दूर करता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिरा**॥ देवता—**यक्षमनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

न्यग् भवतु ते रपः

न्य१ग्वातो वाति न्य᳘क्तपति सूर्यः।
नीचीनमघ्न्या दुहे न्य᳘ग्भवतु ते रपः॥ २॥

१. **वातः**=वायु **न्यक् वाति**=निम्न गति से चलता है, **सूर्यः न्यक् तपति**=सूर्य अवाङ्मुख (नीचे) तपता है, **अघ्न्या**=अहन्तव्य गौ **नीचीनं दुहे**=दूध का अधोमुख दूहन करती है। २. जैसे ये वायु, सूर्य व अघ्न्या न्यक्त्व धर्म से तपते हैं, उसी प्रकार हे व्याधित! **ते रपः**=तेरा यह शरीर-दोष **न्यक् भवतु**=अधोमुख हो, अर्थात् शान्त हो जाए।

भावार्थ—जैसे वायु, सूर्य व असील गौ का कार्य निम्न गति से होता है, इसीप्रकार तेरा यह शरीर-दोष भी निम्न गतिवाला हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिरा**॥ देवता—**यक्षमनाशनम्**॥ छन्दः—**आपः**॥

रोगों से बचानेवाले 'जल'

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्॥ ३॥

१. **आपः**=जल **इत् वा उ**=निश्चय से **भेषजीः**=औषध हैं। **आपः**=जल **अमीवचातनीः**=रोगों को नष्ट करनेवाले हैं। **आपः**=जल **विश्वस्य भेषजीः**=सब रोगों की औषध हैं। **ताः**=वे **ते**=तेरे लिए **भेषजं कृण्वन्तु**=औषध को करें।

भावार्थ—जलों का समुचित प्रयोग सब रोगों का विनाशक है। ये निश्चय से रोगों को दूर करते हैं। 'जल' का अर्थ ही 'आवृत्त' करनेवाला—रोगों से बचानेवाला है।

विशेष—सब रोगों से बचकर यह 'वाजी' शक्तिशाली बनता है और संसार के विषयों में न उलझता हुआ 'अथर्वा' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

९२. [द्विनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाजी** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

वातरंहाः

वातंरंहा भव वाजिन्युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु॥ १॥

१. हे **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! **युज्यमानः**=चित्तवृत्ति को एकाग्र करता हुआ तू **वातरंहा भव**=वायु के समान वेगवाला हो—स्फूर्ति से सब कार्यों को करनेवाला हो। **मनोजवाः**=मन के वेगवाला—प्रबल मानसिक शक्तिवाला तू **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की **प्रसवे**=प्रेरणा में **याहि**=गति कर। २. **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण ज्ञानवाले **मरुतः**=मितरावी—कम बोलनेवाले—ज्ञानी पुरुष **त्वा युञ्जन्तु**=प्रेरणा देते हुए तुझे कर्त्तव्यों में नियुक्त करें। **त्वष्टा**=निर्माता प्रभु **ते पत्सु**=तेरे पैरों में **जवं दधातु**=वेग धारण करें—तुझे शक्ति दें।

भावार्थ—प्रभु से शक्ति प्राप्त करके, ज्ञानियों से मार्गदर्शन कराया जाकर तू दृढ़ मानस शक्तिवाला होकर, कार्यों में स्फूर्ति से व्याप्त होनेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाजी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

संग्राम-विजय

जवस्ते अर्वन्निहितो गुहा यः श्येने वात उत योऽचरत्परीत्तः।
तेन त्वं वाजिन्बलवान्बलेनाजिं जय समने पारयिष्णुः॥ २॥

१. हे **अर्वन्**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का हिंसन करनेवाले साधक! **यः जवः**=जो वेग **ते गुहा निहितः**=तेरे हृदयदेश में स्थापित किया गया है, **उत**=और **यः**=जो **परीत्तः**=(परिदानं रक्षणार्थं दानम्) रक्षा के लिए दिया गया (जवः) वेग **श्येने**=बाज में और **वाते**=वायु में **अचरत्**=गति करता है, **तेन**=उस वेग से हे **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! **त्वम्**=तू **बलवान्**=बलवाला होता हुआ **बलेन**=बल से **अजिं जय**=संग्राम को जीतनेवाला हो, **समने पारयिष्णुः**=तू संग्राम में पारप्रापणशील है।

भावार्थ—हम श्येनपक्षी के समान वेगवाले हों, वायुसम हमारा वेग हो। हृदयदेश में इस स्फूर्ति को धारण करते हुए हम बलवान् बनें और संसार-संग्राम में विजयी हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाजी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दिवि ज्योतिः, स्वं महः

तनूष्टे वाजिन्तन्वं नयन्ती वाममस्मभ्यं धावतु शर्म तुभ्यम्।
अह्रुतो महो धरुणाय देवो दिवीव ज्योतिः स्वमा मिमीयात्॥ ३॥

१. हे **वाजिन्**=शक्तिशाली साधक! **ते तनूः**=तेरा यह शरीर **तन्वं नयन्ती**=शक्तिविस्तार को (तन् विस्तारे) प्राप्त कराता हुआ **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **वामं धावतु**=जो भी सुन्दर—शुभ है, उसे प्राप्त कराए। लोक-कल्याण का यह कार्य अन्ततः **तुभ्यं शर्म**=तुझे सुख देनेवाला हो। २. वह **अह्रुता**=कुटिलताओं से रहित **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **धरुणाय**=हमारे धारण के लिए **दिवि ज्योतिः इव**=मस्तिष्क में प्रकाश के समान **स्वं महः**=आत्मिक तेज को **आमिमीयात्**=हममें निर्मित करे।

भावार्थ—एक साधक अपनी साधना करके लोक-कल्याण के कार्यों में प्रवृत्त हो। वह लोगों को शक्ति-विस्तार के मार्ग का उपदेश करे। प्रकाशमय प्रभु हमें ज्ञान व आत्मिक तेज प्राप्त कराएँ।

विशेष—ज्ञान व आत्मिक तेज प्राप्त करके शान्ति का विस्तार करनेवाला 'शन्ताति' अगले सूक्त का ऋषि है।

९३. [त्रिनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हम यम तथा देवजनों के कोपभाजन न हों

यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः।
देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान्॥ १॥

१. **यमः**=पापियों का नियमन करनेवाला, **मृत्युः**=(मारयति) प्राणों को छुड़ानेवाला, **अघमारः**=(अपथेन मारयति) पाप के कारण मारनेवाला, **निर्ऋथः**=(निःशेषेण ऋच्छति पीडयति) पापियों को अत्यन्त पीड़ित करनेवाला, **बभ्रुः**=भरणशील, **शर्वः**=सब अशुभों को शीर्ण करनेवाला, **अस्ता**=शत्रुओं को परे फेंकनेवाला, **नीलशिखण्डः**=सर्वोत्तम निधि-(नील=निधि, शिखण्ड crest)-रूप प्रभु तथा **सेनया उत्तस्थिवांसः**=सेना के साथ उठे हुए **देवजनाः**=शत्रु-सैन्यों को पराजित करने की कामनावाले **ते**=वे सब लोग **अस्माकं वीरान्**=हमारे वीरों को **परिवृजन्तु**=परिहृत करें—बाधित न करें।

भावार्थ—हमारे वीरों को प्रभु का दण्ड न भोगना पड़े। सेना के साथ आक्रमण करनेवाले विजिगीषु जन हमारे वीरों पर आक्रमण करने की न सोचें। पापवृत्ति से बचते हुए हम प्रभु के कोपभाजन न हों और वीर बनकर शत्रुओं से आक्रान्त न हो।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शर्वाय, अस्त्र, राज्ञे, भवाय

मनसा होमैर्हरसा घृतेन शर्वायास्त्र उत राज्ञे भवाय।
नमस्ये᳡भ्यो नम एभ्यः कृणोम्यन्यत्रास्मदघविषा नयन्तु॥ २॥

१. **मनसा**=मानस संकल्प से **होमैः**=यज्ञों से **हरसा**=तेजस्विता के सम्पादन से **घृतेन**=(घृ दीप्ति) ज्ञान-दीप्ति से क्रमशः **शर्वाय**=काम आदि शत्रुओं का संहार करनेवाले, **अस्त्रे**=रोगों को परे फेंकनेवाले **उत**=और **राज्ञे**=तेजस्विता से दीप्त **भवाय**=सर्वमहान् ऐश्वर्यशाली प्रभु के लिए तथा **नमस्येभ्यः एभ्यः**=नमस्कार के योग्य इन देवजनों के लिए **नमः कृणोमि**=नमस्कार करता हूँ। २. ये सब **अस्मत्**=हमारे लिए प्रीणित होकर **अघविषाः**=पापरूप विषवाली क्रियाओं को **अन्यत्र**=दूसरे स्थान पर—दूर **नयन्तु**=ले-जाएँ। उस प्रभु का हम 'शर्व, अस्त्रा, राजा व भव' के रूप में स्मरण करते हुए पापों से बचें।

भावार्थ—हम दृढ़ मानस संकल्प द्वारा काम-क्रोध आदि का संहार करें, यज्ञों द्वारा रोगों को दूर करें, तेजस्विता से अपने जीवन को दीप्त बनाएँ तथा ज्ञानदीप्ति द्वारा सर्वोत्तम ऐश्वर्यसम्पन्न बनें। देवजनों का आदर करते हुए पापरूप विषवाली क्रियाओं को अपने जीवन से दूर रक्खें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अग्नि, सोम, वरुण, मित्र, वात, पर्जन्य

त्राय॑ध्वं नो अ॒घवि॑षाभ्यो व॒धाद्विश्वे॑देवा मरुतो विश्ववेदसः।
अ॒ग्नीषोमा॒ वरु॑णः पू॒तद॑क्षा वातापर्ज॒न्ययोः सु॒म॒तौ स्या॑म॥ ३॥

१. **विश्वेदेवाः**=सब देववृत्तिवाले, **मरुतः**=मितरावी—परिमित बोलनेवाले, **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण ज्ञानवाले पुरुषो! **नः**=हमें **अघविषाभ्यः**=पापरूप विष से युक्त क्रियाओं से होनेवाले **बधात्**=बध से **त्राध्वम्**=रक्षित करो। हम आपके शिक्षण-दीक्षण के द्वारा पापों से दूर रहें। २. **अग्निषोमा**=अग्नि व सोम—तेजस्विता व शान्ति तथा **वरुणः पूतदक्षाः**=(मित्रं हुवे पूतदक्षम्०) वरण तथा मित्र—निर्द्वेषता व स्नेह के भाव हमें पाप से बचाएँ। हम 'तेजस्वी, शान्त, निर्द्वेष व स्नेही' बनकर पाप से दूर हों। वायु की भाँति हम सबके लिए प्राण (जीवन) देनेवाले हों, पर्जन्य की भाँति हम शान्ति का वर्षण करनेवाले हों।

भावार्थ—देववृत्ति के मितरावी, ज्ञानी पुरुष हमें पापों से बचाएँ। हम 'तेजस्वी, शान्त, निर्दोष व स्नेही' बनें। वायु की भाँति हमारी क्रियाएँ सबके लिए प्राणप्रद हों, पर्जन्य की भाँति हम शान्ति का वर्षण करनेवाले हों।

विशेष—यह 'तेजस्वी, शान्त, निर्द्वेष व स्नेही' व्यक्ति 'अथर्वाङ्गिरस्' बनता है—न डाँवाडोल व रसमय अङ्गोंवाला। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

९४. [चतुर्नवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**१ अनुष्टुप्, २ विराड्जगती** ॥

सांमनस्य

सं वो॒ मनां॑सि॒ सं व्र॒ता समाकू॑ती॒र्नमामसि।
अ॒मी ये विव्र॑ता॒ स्थन॒ तान्वः॒ सं न॑मयामसि॥ १॥
अ॒हं गृ॑भ्णामि॒ मन॑सा॒ मनां॑सि॒ मम॑ चि॒त्तमनु॑ चि॒त्तेभि॒रेत॑।
मम॒ वशे॑षु॒ हृद॑यानि वः कृणोमि॒ मम॑ या॒तमनु॑वर्त्मान॒ एत॑॥ २॥

व्याख्या द्रष्टव्य ३.८.५-६।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

समृद्ध जीवन

ओते॑ मे॒ द्यावा॑पृथि॒वी ओता॑ दे॒वी सर॑स्वती।
ओतौ॑ म॒ इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॒र्ध्यास्मे॒दं सर॑स्वति॥ ३॥

१. **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्करूप द्युलोक और शरीररूप पृथिवीलोक **मे**=मेरे जीवन के लिए **आ उते**=आभिमुख्येन सम्बद्ध हैं। मस्तिष्क ज्ञान-विज्ञान के नक्षत्रों से दीप्त है तो शरीर पृथिवी के समान दृढ़ है। **देवी**=प्रकाशमयी **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता **ओता**=मेरे जीवन में ओत-प्रोत हैं। इसीप्रकार **इन्द्रः च अग्निः च**=बल की देवता इन्द्र और प्रकाश की देवता अग्नि **मे ओतौ**=मेरे जीवन में परस्पर सम्बद्ध हैं अथवा 'इन्द्र' अर्थात् जितेन्द्रियता और 'अग्नि',

अर्थात् निरन्तर आगे बढ़ने की भावना—ये मेरे जीवन में ओत-प्रोत हैं। २. **हे सरस्वति**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवते! इन सबके अनुग्रह से **इदम्**=इस जीवन को **ऋध्यास्म**=हम समृद्ध कर पाएँ।

भावार्थ—हमारे जीवन में मस्तिष्क व शरीर दोनों की समानरूप से उन्नति हो। हम सरस्वती के उपासक हों—जितेन्द्रिय व आगे बढ़ने की वृत्तिवाले हों। इसप्रकार हम जीवन को समृद्ध बनाएँ।

विशेष—अगले दो सूक्तों का ऋषि भृग्वङ्गिरा है—ज्ञान की अग्नि में अपना परिपाक करनेवाला व गतिशील, सरस अङ्गोंवाला।

९५. [पञ्चनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः (कुष्ठः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कुष्ठ

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि। तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ १ ॥
हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि। तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ २ ॥
गर्भो असि ओषधीनां गर्भो हिमवतामुत। गर्भो विश्वस्य भूतस्येमं मे अगदं कृधि ॥ ३ ॥

व्याख्या द्रष्टव्य—५.४.३-४।

१. हे अग्ने=परमात्मन्! आप **ओषधीनाम्**=(ओषः धीयते आसु) परिपाक जिनमें धारण किया जाता है, उन सब ओषधियों के **गर्भः असि**=गर्भ हो—गर्भ की भाँति उनमें अवस्थित हो। **उत**=और **हिमवताम्**=शीत स्पर्शवाली अन्य वनस्पतियों को भी **गर्भः**=गर्भ के समान धारण करनेवाले हो। २. आप वस्तुतः **विश्वस्य**=सारे **भूतस्य**=प्राणिसमूह के व ब्राह्माण्ड के अन्दर **गर्भः**=गर्भवत् अवस्थित हो। ऐसे आप **मे**=मेरे **इमम्**=इस व्यक्ति को **अगदं कृधि**=नीरोग कीजिए। आप इसके अन्दर भी उसी प्रकार अवस्थित हुए इसे नीरोग करनेवाले होओ।

भावार्थ—प्रभु आग्नेय व सौम्य पदार्थों में गर्भवत् स्थित हैं। हमारे अन्दर भी स्थित होते हुए प्रभु हमें नीरोग करें।

९६. [षण्णवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सोमराज्ञी', ओषधयः

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १

१. **याः**=जो **सोमराज्ञीः**=सोम ओषधि जिनकी मुखिया है, ऐसी **बह्वीः**=बहुत-सी **शतविचक्षणाः**=शतवर्षपर्यन्त हमारा ध्यान करनेवाली **ओषधयः**=ओषधियाँ हैं, ऐसी **ताः**=वे ओषधियाँ **बृहस्पतिप्रसूताः**=उस सर्वज्ञ प्रभु से पैदा की गई तथा ज्ञानी वैद्य से प्रयुक्त हुई-हुई **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=कष्टों से मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु ने संसार में विविध ओषधियों को जन्म दिया है। सोमलता इनमें प्रमुख है। इन ओषधियों का ठीक प्रयोग हमें सब कष्टों से मुक्त करता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शपथ्य व वरुण्य रोगों से मुक्ति

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्या ᳚दुत।
अथो यमस्य पड्वीशाद्विश्वस्माद्देवकिल्बिषात् ॥ २ ॥

१. ये ओषधियाँ **मा**=मुझे **शपथ्यात् मुञ्चन्तु**=दुर्वचनजनित रोगों से मुक्त करें। सौम्य ओषधियाँ मन के उद्वेग आदि को दूर करके हमें कटुवचन बोलने से रोकती हैं। राजस भोजन स्वभावतः कुछ उग्रता का कारण बनते हैं। **अथो**=अब **वरुणयात् उत**=जल के कारण हो जानेवाले रोगों से भी बचाएँ। दूषित जल से कई रोग उत्पन्न हो जाते हैं। २. **अथो**=और **यमस्य पड्वीशात्**=मृत्यु के पाशरूप असाध्य रोगों से भी ये हमें बचाएँ। **विश्वस्मात्**=सब **देवकिल्बिषात्**=इन्द्रिय-सम्बन्धी दोषों (रोगों) से भी ये हमें बचानेवाली हों।

भावार्थ—ओषधियाँ हमें दुर्वचन-जनित रोगों से, जल-सम्बन्धी रोगों से, असाध्यकल्प रोगों से तथा सब इन्द्रिय-दोषों से मुक्त करें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥

चक्षुषा, मनसा, वाचा

यच्चक्षुषा मनसा यच्च वाचोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः।
सोमस्तानि स्वधया नः पुनातु॥ ३॥

१. हम **यत्**=जो **चक्षुषा**=आँख से **यत् च**=और जो **मनसा**=मन से **यत् च**=तथा जो **वाचा**=वाणी से **उपारिम**=पाप कर बैठते हैं। **यत्**=जिस पाप को हम **जाग्रतः**=जागते हुए या **स्वपन्तः**=सोते हुए कर बैठते हैं, **सोमः**=सोम **नः**=हमारे **तानि**=उन सब पापों को **स्वधया**=अपनी धारणशक्ति से **पुनातु**=शुद्ध कर डाले।

भावार्थ—सौम्य ओषधियों का प्रयोग हमें आँख, वाणी व मन से हो जानेवाले सब दोषों से मुक्त करता है। जागते-सोते कोई भी दोष इस ओषधि के प्रयोग से हमें पीड़ित नहीं कर पाता। इन ओषधियों के प्रयोग से हम मन में किसी का बुरा नहीं सोचते, किसी को दोषयुक्त दृष्टि से नहीं देखते तथा किसी के प्रति क्रोध-भरे वचन नहीं बोलते।

विशेष—आँख, वाणी व मन के दोषों से मुक्त होकर हम 'मित्रावरुणौ' के उपासक बनते हैं। सबके प्रति स्नेहवाले व प्राणिमात्र के प्रति निर्द्वेषतावाले हम 'अथर्वा' बनते हैं—राग-द्वेष से दोलायमान न होनेवाले। अगले तीन सूक्तों का ऋषि यह 'अथर्वा' ही है।

९७. [सप्तनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञ व विजय

अभिभूर्यज्ञो अभिभूरग्निरभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः।
अभ्य१हं विश्वाः पृतना यथासान्येवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः॥ १॥

१. विजय की कामनावाले हम लोगों से क्रियामण यह **यज्ञः**=यज्ञ **अभिभूः**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाला है। याग का निष्पादक यह **अग्निः**=अग्नि **अभिभूः**=शत्रुओं को अभिभूत करता है। यज्ञ का साधनभूत **सोमः**=यह सोम भी **अभिभूः**=शत्रुओं का अभिभविता है। इस सोम से तर्पित **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष भी **अभिभूः**=शत्रुओं को अभिभूत करता है। यज्ञ से पवित्रता की भावना का विकास होता है, यज्ञाग्नि हमें भी अग्नि-(उत्साह)-वाला बनाती है। यह यज्ञ हमें भोगवृत्ति से ऊपर उठकर सोम (वीर्य) का रक्षण करनेवाला बनाता है। रक्षित सोम इस जितेन्द्रिय पुरुष को सदा विजयी बनाता है। २. **अहम्**=मैं **विश्वाः पृतनाः**=सब शत्रु-सैन्यों को **यथा**=जिस प्रकार **अभ्यसानि**=अभिभूत करनेवाला बनूँ। **एव**=इसप्रकार **अग्निहोत्राः**=अग्निहोत्र करनेवाले हम **इदं हविः**=इस हवि को **विधेम**=करनेवाले बनें। यज्ञशील

बनकर ही तो हम विजयी बनेंगे।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष का जीवन उत्साह-सम्पन्न होता है। पवित्र जीवनवाला होने से यह सोम का रक्षण करता है। सोमपान करनेवाला यह इन्द्र कभी पराजित नहीं होता।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**जगती**॥

मित्रावरुणा

स्वधास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावत्क्षत्रं मधुनेह पिन्वतम्।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत्॥ २॥

१. हे **विपश्चिता**=ज्ञान से युक्त **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! आपके अनुग्रह से हममें **स्वधा अस्तु**=आत्मधारण-शक्ति हो। **प्रजावत् क्षत्रम्**=उत्तम सन्तानोंवाले बल को **इह**=यहाँ—हमारे जीवनों में **मधुना**=माधुर्य से **पिन्वतम्**=सींचो। स्नेह व निर्द्वेषता हमारे जीवनों को आत्मधारण की शक्तिवाला, उत्तम सन्तानवाला, बलसम्पन्न व माधुर्ययुक्त बनाते हैं। २. हे मित्रावरुणा! आप **निर्ऋतिम्**=दुराचार को—पराजयकारिणी पापदेवता को **पराचैः दूरं बाधेथाम्**=पराङ्मुख करके सुदूर नष्ट कीजिए। **कृतं चित्**=शत्रुओं से किये गये भी **एनः**=पराजय निमित्त पाप को **अस्मत्**=हमसे **प्रमुमुक्तम्**=मुक्त करो।

भावार्थ—हम स्नेह व निर्द्वेषता को अपनाकर 'आत्मधारणशक्तिवाले, उत्तम सन्तानोंवाले, बलसम्पन्न व मधुरभाषी बनें और दुराचार से दूर' रहें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**देवाः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

ग्रामजितं गोजितम्

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम्।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा॥ ३॥

१. **इमम्**=इस **वीरम्**=वीर्यवान् राजा को **अनुहर्षध्वम्**=अनुसृत करते हुए हे सैनिको! वीररस से हृष्ट होओ। **उग्रम्**=उद्गूर्ण बलवाले, **इन्द्रम्**=परमैश्वर्ययुक्त इस राजा को **सखाय**=हे समान ज्ञानवाले सैनिको! **अनुसंरभध्वम्**=अनुसृत करके युद्धोद्युक्त होओ। २. इस राजा का अनुसरण करो जोकि **ग्रामजितम्**=ग्रामों का विजय करनेवाला है, **गोजितम्**=गौओं का जय करनेवाला है, **वज्रबाहुम्**=उद्यत आयुधवाला है और इसी लिए **जयन्तम्**=शत्रुओं को पराजित करता है, **अज्म**=क्षेपणशील शत्रुबल को **ओजसा**=बल से **प्रमृणन्तम्**=प्रकर्षेण हिंसित कर रहा है।

भावार्थ—वीर राजा के अनुकूल सैनिक भी हर्ष का अनुभव करते हैं और शत्रुओं को पराजित करनेवाले होते हैं।

९८. [अष्टनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'चर्कृत्य, ईड्य, उपसद्य, नमस्य' राजा

इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह॥ १॥

१. **इन्द्रः**=शत्रुओं को विद्रावण करनेवाला जितेन्द्रिय राजा **जयाति**=विजयी होता है, **न पराजयाता**=कभी पराजित नहीं होता। **राजसु अधिराजः**=सब राजाओं में मुख्य होता हुआ यह **राजयातै**=दीप्त होता है। २. यह तू **चर्कृत्यः**=शत्रुओं का अतिशयेन छेदन करनेवाला, **ईड्यः**=स्तुत्य,

वन्द्यः=वन्दनीय **च**=और **उपसद्यः**=सबसे सेवनीय, समीप जाने योग्य व **नमस्यः**=नमस्कार के योग्य **इह**=यहाँ **भव**=हो।

भावार्थ—राजा जितेन्द्रिय होता हुआ शत्रुओं को जीतनेवाला हो। यह शत्रुछेदन करता हुआ आदरणीय होता है। प्रजाओं के लिए यह उपसद्य व नमस्य हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहतीगर्भास्तारपङ्क्तिः**॥

'श्रवस्युः अभिभूः' राजा

त्वमि॑न्द्राधिरा॒जः श्र॑व॒स्युस्त्वं भू॒रभिभू॑ति॒र्जना॑नाम्।
त्वं दैवी॒र्विश॑ इ॒मा वि रा॒जायु॑ष्मत्क्ष॒त्रम॒जरं॑ ते अस्तु॥ २॥

१. **इन्द्र**=हे शत्रुविद्रावक राजन्! **त्वम्**=तू **अधिराजः**=अन्य राजाओं से श्रेष्ठ हो, **श्रवस्युः**=कीर्तिमान् हो। **त्वम्**=तू **जनानाम्**=लोगों का **अभिभूतिः भूः**=वशीभूत करनेवाला हो। २. **त्वम्**=तू **इमाः**=इन **दैवीः विशः**=दिव्य गुणवाली प्रजाओं पर **विराजः**=विशेषरूप से दीप्त होनेवाला हो। **ते क्षत्रम्**=तेरा बल **आयुष्मत्**=दीर्घजीवनवाला व **अजरम्**=जरारहित—अजीर्ण **अस्तु**=हो।

भावार्थ—राजा अपने शासन के कारण दीप्तिवाला हो। प्रजाओं पर शासन करता हुआ यह अजर, आयुष्मत् व बलवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'शत्रुहः' राजा

प्राच्या॑ दि॒शस्त्वमि॑न्द्रासि॒ राजो॒तोदी॑च्या दि॒शो वृ॑त्रहञ्छत्रु॒हो ऽसि।
यत्र॒ यन्ति॑ स्रो॒त्यास्तज्जि॒तं ते॑ दक्षिण॒तो वृ॑ष॒भ ए॑षि॒ हव्यः॑॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक राजन्! **त्वम्**=तू **प्राच्याः दिशः राजा असि**=पूर्व-दक्षिण दिशा में होनेवाले देश का राजा है **उत**=और **उदीच्याः दिशः राजा**=पश्चिमोत्तर दिशा में होनेवाले देश का भी राजा है। **'देशः प्राग्दक्षिणः प्राच्य उदीच्यः पश्चिमोत्तरः'**। हे **वृत्रहन्**=शत्रुओं का हनन करनेवाले राजन्! तू **शत्रुहः असि**=राष्ट्र के शातन करनेवालों का नाशक है। २. **यत्र**=जहाँ **स्रोत्याः यन्ति**=जलप्रवाहोंवाली नदियाँ बहती हैं, **तत् ते जितम्**=उस प्रदेश को तूने जीत लिया है। सम्पूर्णभाग को तूने जीता है। ऐसा विजेता तू **वृषभः**=सब सुखों का वर्षण करनेवाला होता हुआ **हव्यः**=हमसे पुकारने योग्य होता है। हमसे पुकारे जानेवाला तू **दक्षिणतः एषि**=दक्षिणभाग में गतिवाला होता है, अर्थात् हमारे द्वारा आदरणीय होता है।

भावार्थ—शत्रुओं को नष्ट करनेवाला राजा राष्ट्र की चारों दिशाओं से रक्षा करता है और प्रजा से आदरणीय होता है।

९९. [नवनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पुरा अंहूरणात्

अ॒भि त्वे॑न्द्र॒ वरि॑मतः पु॒रा त्वा॑ंहूर॒णाद्धु॑वे। ह्वया॑म्यु॒ग्रं चे॒त्तारं॑ पु॒रुणा॑मानमेक॒जम्॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक राजन्! **वरिमतः**=तेरी शक्तियों के विस्तार के कारण **त्वा अभि हुवे**=मैं तुझे पुकारता हूँ। **अंहूरणात् पुरा त्वा (हुवे)**=पराजय का कारण होनेवाले कुटिलगमन से पूर्व ही मैं तुझे पुकारता हूँ। २. **उग्रम्**=उदगूर्ण बलवाले **चेत्तारम्**=विजय के उपायों को

समझनेवाले, **पुरुणामानम्**=अनेक शत्रुओं को झुका देनेवाले, **एकजम्**=युद्धों में अकेले ही चमकनेवाले तुझे **ह्वयामि**=मैं पुकारता हूँ।

भावार्थ—राजा शत्रुओं के आक्रमण से होनेवाली दुर्गति से पूर्व ही राष्ट्र-रक्षा की व्यवस्था करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्राकारतुल्य राजा की भुजाएँ

यो अद्य सेन्यो वधो जिघांसन्न उदीरते। इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दद्मः ॥ २ ॥

१. **यः**=जो **अद्य**=आज **सेन्यः**=शत्रु-सेना का **वधः**=वध-साधन शस्त्र **नः**=हमें **जिघांसन्**=मारना चाहता हुआ **उदीरते**=उद्गत होता है तो **तत्र**=वहाँ—वध होने के समय **इन्द्रस्य**=शत्रु-विद्रावक राजा की **बाहू**=भुजाओं को अपनी रक्षा के लिए **समन्तम्**=सब ओर से **परिदद्मः**=प्राकार की भाँति धारण करते हैं।

भावार्थ—शत्रु के आक्रमण की आशंका होते ही राजा की सैन्यरूप भुजाएँ हमारे रक्षण के लिए चारों ओर उपस्थित हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः, सोमः सविता च** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥

देव सवितः सोम राजन्

परि दद्म इन्द्रस्य बाहू समन्तं त्रातुस्त्रायतां नः।
देव सवितः सोम राजन्त्सुमनसं मा कृणु स्वस्तये ॥ ३ ॥

१. **त्रातुः**=रक्षा करनेवाले **इन्द्रस्य**=शत्रु-विद्रावक राजा की **बाहू**=भुजाओं को **समन्तम्**=चारों और **परिदद्मः**=प्राकारभूत धारण करते हैं। इसप्रकार वह इन्द्र **नः**=हमें **त्रायताम्**=रक्षित करे। २. हे **देव**=शत्रुओं को जीतने की कामनावाले! **सवितः**=सबको राष्ट्र-रक्षा की प्रेरणा देनेवाले; **सोम**=सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त अथवा शक्तिसम्पन्न (सोम के पुञ्ज) **राजन्**=दीप्त होनेवाले राजन्! **स्वस्तये**=क्षेम (अविनाश) के लिए **मा**=मुझे **सुमनसम्**=उत्साहयुक्त मनवाला **कृणु**=कीजिए। शत्रु का आक्रमण होने पर भी हम मन में उत्साह को न खो बैठें, हम स्वस्थ व उत्साहयुक्त चित्त से संग्राम करनेवाले हों।

भावार्थ—राजा शत्रुओं को जीतने की कामनावाला, सबको उत्साह की प्रेरणा देनेवाला, शक्तिसम्पन्न व दीप्त तेजवाला हो। वह सारी प्रजाओं में उत्साह का सञ्चार करे।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि 'गरुत्मान्' है—विशाल बोझ को धारण करनेवाला। राजा के सिर पर सारे राष्ट्र का बोझ होता ही है, यह शत्रुओं से राष्ट्र का रक्षण करता हुआ आन्तरिक विष को भी दूर करता है।

१००. [शततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गरुत्मान्** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विषदूषणम्

देवा अदुः सूर्यो अदाद् द्यौरदात्पृथिव्य दात्।
तिस्रः सरस्वतीरदुः सचित्ता विषदूषणम् ॥ १ ॥

१. **देवाः**=सब देव—ज्ञानी पुरुष **सचित्ताः**=समान मनवाले होते हुए **विषदूषणम्**
अदुः=विषनाशक औषध देते हैं। **सूर्यः**=सबका प्रेरक आदित्य भी विषदूषण औषध **अदात्**=देता

है। **द्यौः**=यह प्रकाशमय अन्तरिक्षलोक भी उस औषध को **अदात्**=दे। **पृथिवी अदात्**=यह भूमि देवता भी वह औषध दे। २. **तिस्रः**=तीनों **सरस्वतीः**='इडा, भारती, सरस्वती' नामक देवताएँ इस विषनाशक औषध को **अदुः**=देती हैं।

भावार्थ—सब समझदार देवपुरुष, तीनों लोक तथा 'इडा, भारती, सरस्वती' नामक तीनों देवताएँ हमारे जीवनों से ईर्ष्या-द्वेष आदि विषों को दूर करें।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उपजीकाः

यद्वो देवा उपजीका आसिञ्चन्धन्वन्युदकम्। तेन देवप्रसूतेनेदं दूषयता विषम्॥ २॥

१. हे **देवाः**=ज्ञानी पुरुषो! **यत् उदकम्**=जिस जल को **उपजीकाः**=दीमक नाम की श्वेत कीड़ियाँ **धन्वनि**=मरुस्थल में—जलरहित स्थल में **आसिञ्चन्**=अपने मुख से उत्पन्न कर देती हैं, वह जल **वः**=तुम्हारे लिए है। **तेन**=उस **देवप्रसूतेन**=ईश्वरप्रदत्त शक्ति से उत्पन्न जल से **इदं विषं दूषयत्**=इस विष को दूर करो।

भावार्थ—दीमक के मुख में एक अद्भुत शक्ति है। वह उसके द्वारा वायुमण्डल के अम्लजन व उद्रजन को मिलाकर जल उत्पन्न कर देती है। यह जल विष का औषध है। दीमकों से निकाली गई मिट्टी भी अतिमूत्र व नाड़ीव्रण में औषध का काम देती है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

असुराणां दुहिता देवानां स्वसा

असुराणां दुहितासि सा देवानामसि स्वसा।
दिवस्पृथिव्याः संभूता सा चकर्थारसं विषम्॥ ३॥

१. हे ओषधे! (वल्मीकमृत्तिके,) तू **असुराणाम्**=बलशाली, प्राणवान् पुरुषों के लिए **दुहिता असि**=बल का दोहन करनेवाली है। **सा**=वह तू **देवानां स्वसा असि**=देववृत्ति के पुरुषों की बहिन के समान है, उनका हित करनेवाली है। २. **दिवः पृथिव्याः**=अन्तरिक्ष के जल से व पृथिवी से **सम्भूता**=उत्पन्न हुई-हुई **सा**=वह तू **विषम् अरसं चकर्थ**=विष को निर्बल कर देती है।

भावार्थ—वल्मीकमृत्तिका प्राणशक्ति भरनेवाली है, मानसवृत्ति को उत्तम बनानेवाली है और विष-प्रभाव को दूर करती है।

विशेष—इस वल्मीकमृत्तिका के प्रयोग से निर्विष शरीरवाला यह प्राणशक्ति व दिव्य-वृत्ति से जीवन को परिपूर्ण करके 'अथर्वाङ्गिरस' बनता है। अगला सूक्त इसी का है।

१०१. [एकोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सामर्थ्य+नीतिः

आ वृषायस्व श्वसिहि वर्धस्व प्रथयस्व च।
यथाङ्गं वर्धतां शेपस्तेन योषितमिज्जहि॥ १॥

१. **आवृषायस्व**=तू सब प्रकार से शक्तिशाली पुरुष की भाँति आचरण कर, **श्वसिहि**=प्राणधारण करनेवाला हो, **वर्धस्व**=वृद्धि को प्राप्त हो, **च**=और **प्रथयस्व**=सब अङ्गों की शक्ति का विस्तार कर। २. **यथाङ्गम्**=अङ्ग-अङ्ग में—प्रत्येक अङ्ग में (यथा वीप्सायाम्)

शेपः=तेरा सामर्थ्य बढ़े। **तेन**=उस सामर्थ्य के साथ, **योषितम्**=(युष सेवने) सेवनीय नीति को, **इत् जहि**=निश्चय से प्राप्त हो।

भावार्थ—राजा स्वयं शक्तिशाली बने। अपने सामर्थ्य को बढ़ाता हुआ यह नीतिपूर्वक चले। यही राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने का उपाय है।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सैनिकशक्ति व राज्यविस्तार

येन॑ कृ॒शं वा॒जय॑न्ति॒ येन॑ हि॒न्वन्त्या॑तु॒रम्।
तेना॒स्य ब्र॑ह्मणस्पते॒ धनु॑रि॒वा ता॑नया॒ पसः॑॥ २॥

१. **येन**=जिस कर्म से **कृशं वाजयन्ति**=दुर्बल को बलवान् बनाते हैं, **येन**=जिस उपाय से **आतुरम्**=रोगी को **हिन्वन्ति**=प्रीणित व पुष्ट करते हैं, **तेन**=उसी कर्म से हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **अस्य**=इसके **पसः**=राष्ट्र को **धनुः इव**=धनुष् के समान—सैनिक सामर्थ्य के अनुपात में **तानय**=फैलाइए।

भावार्थ—राजा राष्ट्र को निरन्तर शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न करे। सैनिक सामर्थ्य के अनुपात में ही राष्ट्र का वर्धन होता है।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अधिज्यामिव धन्वनि

आहं त॑नोमि ते॒ पसो॒ अधि॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नि।
क्रम॒स्वर्श॑इव रो॒हित॒मन॑वग्लायता॒ सदा॑॥ ३॥

१. प्रभु कहते हैं कि हे साधक! **अहम्**=मैं **ते पसः**=तेरे राष्ट्र को **आ तनोमि**=सब प्रकार से विस्तारवाला करता हूँ। **इव**=जिस प्रकार **अधिधन्वनि**=धनुष् पर **ज्याम्**=डोरी को विस्तृत करते हैं। २. तू **सदा**=सर्वदा **अनवग्लायता**=बिना ग्लानि व थकावटवाले मन के साथ **क्रमस्व**=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला हो, **इव**=जैसेकि **ऋशः**=एक हिंसक पशु **रोहितम्**=मृगविशेष पर आक्रमण करता है। शत्रुओं को तू इसीप्रकार जीतनेवाला बन, जैसेकि एक हिंस्र पशु हिरनों को जीत लेता है।

भावार्थ—राजा सैनिकों को शस्त्रास्त्र से सुसज्जित रक्खे। शस्त्रास्त्र के अनुपात में ही राष्ट्र शक्तिशाली बनता है। सैनिक शक्ति के ठीक होने पर ही राष्ट्र की शक्तियों का विस्तार होता है।

विशेष—राष्ट्र का रक्षण करनेवाला यह व्यक्ति 'जमदग्नि' कहलाता है। प्रजापति वै जमदग्निः–श० १३.२.२.१४। जमदग्नि ही अगले सूक्त का ऋषि है—

१०२. [द्व्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**जमदग्निः (अभिसंमनस्कामः)** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु की ओर

यथा॒यं वा॒हो अ॑श्विना स॒मैति॒ सं च॒ वर्त॑ते।
ए॒वा माम॒भि ते॒ मनः॑ स॒मैतु॒ सं च॑ वर्तताम्॥ १॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापान की साधना करनेवाले पुरुषो! **यथा**=जैसे **अयं वाहः**=यह अश्व **सम् आ एति**=सर्वथा मिलकर गतिवाला होता है। दो घोड़े एक यान में जुते हों तो वे जैसे मिलकर चलते हैं, **च**=और **संवर्तते**=मिलकर वर्तमान होते हैं, एवा=इसप्रकार **ते**=तेरा **मनः**=मन

माम् अभि=मेरा (प्रभु का) लक्ष्य करके **सम आ एतु**=सम्यक् गतिवाला हो, **संवर्तताम् च**=और सम्यक् वर्तनवाला हो।

भावार्थ—हम अपने मन को प्रभु में लगाएँ और सदा उत्तम कार्यों में लगे रहकर प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**जमदग्निः (अभिसंमनस्कामः)**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मयि ते वेष्टतां मनः

आहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ट्यामिव।
रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः॥ २॥

१. **अहम्**=मैं **ते मनः**=तेरे मन को **आखिदामि**=इसप्रकार खींचता हूँ, **इव**=जैसे **राजाश्वः**=श्रेष्ठ घोड़ा **पृष्ट्याम्**=शंकुबद्ध सम्बन्धन रज्जु को। २. **यथा रेष्मंछिन्नम्**=(रेष्मा=वात्या) जैसे वात्यात्मक वायु से छिन्न तृण उसके वश में हुआ-हुआ उसी में घूमता है, उसी प्रकार **ते**=तेरा **मनः**=मन **मयि वेष्टताम्**=मेरे अधीन होकर घूमनेवाला हो। तेरा मन मुझसे कभी दूर न हो।

भावार्थ—जैसे श्रेष्ठ घोड़ा सम्बन्धन रज्जु को और वात्य तृणों को खींचता है, उसी प्रकार मैं (प्रभु) तेरे मन को अपनी ओर खींचता हूँ।

ऋषिः—**जमदग्निः (अभिसंमनस्कामः)**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आञ्जन, मधुघ, कुष्ठ, नलद

आञ्जनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च।
तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्भरे॥ ३॥

१. **आञ्जनस्य**=(अञ्ज=व्यक्ति) संसार को व्यक्त करनेवाले—प्रकृति से संसार को प्रकट करनेवाले **मधुघस्य**=(मद्+घृ सेचने) आनन्द का सेचन करनेवाले, **कुष्ठस्य**=(कुष निष्कर्षे) सब बुराइयों को बाहर कर देनेवाले, जीवन को पवित्र बना देनेवाले **च**=और इसप्रकार **नलदस्य**=बन्धनों को काट देनेवाले (नल बन्धने, दो अवखण्डने), **तुरः**=(तुर्वी हिंसायाम्) सब आसुर वृत्तियों का संहार करनेवाले व **भगस्य**=ऐश्वर्य के पुञ्ज प्रभु के **अनुरोधनम्**=पूजन को, पूजा द्वारा अनुकूलता को **हस्ताभ्याम्**=हाथों से, नकि कानों से **उद्भरे**=धारण करता हूँ। २. हाथों से पूजन को धारण करने का भाव यह है कि मैं अपने कर्त्तव्यकर्मों के द्वारा प्रभु का पूजन करता हूँ (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः)। गुण-कीर्तन तो श्रव्य भक्ति है। यहाँ ये कर्म आँखों से दीखते हैं। 'भूखे को रोटी देना, प्यासे को पानी पिलाना, रोगी का उपचार करना' प्रभु का हाथों द्वारा उपासन है। इसे करता हुआ उपासक जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करता है (आञ्जन), जीवन को आनन्द से सिक्त करता है (मदुघ), बुराइयों को दूर करता है (कुष्ठ), अन्ततः बन्धनों को काटनेवाला होता है (नलद)। यही मार्ग है जिससे कि उपासक आसुरवृत्तियों का हिंसन करके (तुर) वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करता है (भग)।

भावार्थ—हम कर्त्तव्य कर्मों के द्वारा प्रभु का पूजन करते हुए 'आञ्जन, मदुघ, कुष्ठ, नलद, तुर व भग' बनें।

विशेष—प्रभुपूजन द्वारा सब आसुर वृत्तियों को दूर करके जीवन को उत्कृष्ट दीप्ति से युक्त करनेवाला यह 'उच्छोचन' अगले सूक्त का ऋषि=द्रष्टा है।

अथ पञ्चदशः प्रपाठकः

१०३. [त्र्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**उच्छोचनः** ॥ देवता—**बृहस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रु-नियमन

संदानं वो बृहस्पतिः संदानं सविता करत्।
संदानं मित्रो अर्यमा संदानं भगो अश्विना॥ १ ॥

१. हे शत्रुओ! **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **वः**=तुम्हारा **सन्दानम्**=बन्धन करे। **सविता**=सर्वप्रेरक प्रभु **सन्दानं करत्**=तुम्हें बन्धन में डाले। ज्ञान के स्वामी, प्रेरक प्रभु से उत्तम प्रेरणा प्राप्त करके स्वाध्याय में निरत हम लोग काम-क्रोध आदि को वश में करनेवाले हों। २. **मित्रः**=सबके प्रति स्नेहवाला, **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) ईर्ष्या-द्वेष आदि का नियमन करनेवाला प्रभु **सन्दानम्**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का बन्धन करे। हम सबके प्रति स्नेह की साधना करते हुए शत्रुओं का नियमन करनेवाले बनें। **भगः**=वह ऐश्वर्य का पुञ्ज प्रभु **सन्दानम्**=शत्रुओं का बन्धन करे। भग का स्मरण करते हुए हम सब ऐश्वर्यों के स्वामी प्रभु को जानें और इसप्रकार काम-क्रोध आदि को वशीभूत करें तथा विषयों में फँसने से बचें। **अश्विना**=प्राणापान शत्रुओं का बन्धन करें। प्राणसाधना हमें काम-क्रोध आदि को वश में करने में सहायक हो।

भावार्थ—हम प्रभु को 'बृहस्पति, सविता, मित्र, अर्यमा व भग' के रूप में स्मरण करते हुए तथा प्राणसाधना में प्रवृत्त होकर काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नियमन करें।

ऋषिः—**उच्छोचनः** ॥ देवता—**बृहस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उपासक का दृढ़ निश्चय

सं प॒रमान्त्सम॑व॒मानथो॒ सं द्या॑मि मध्य॒मान्। इन्द्र॒स्तान्पर्य॑हा॒र्दाम्ना॒ तान॑ग्ने॒ सं द्या॒ त्वम्॥ २ ॥

१. प्राणसाधना करता हुआ उपासक दृढ़ निश्चय करता है कि **परमान्**=उत्कृष्ट शत्रुओं को—ज्ञान-संग व सुख-संग को **संद्यामि**=सम्यक् बद्ध करता हूँ—इन्हें वशीभूत करता हूँ। सत्त्वगुण के ये ही बन्धन है—'सुखसंगेन बध्नाति (सत्त्वं) ज्ञानसंगेन चानघ'। **अवमान्**=निकृष्ट शत्रुओं को—प्रमाद, आलस्य व निद्रा को **सं (द्यामि)**=सम्यक् बाँधता हूँ—इन्हें भी वशीभूत करता हूँ। ये ही तमोगुण के बन्धन हैं 'प्रमादालस्य निद्राभिस्तन्निबध्नाति धनञ्जय'। **अथो**=और **अव मध्यमान्**=रजोगुणजनित मध्यम बन्धनों को भी **सं (द्यामि)**=वशीभूत करता हूँ। यह रजोगुण हमें 'तृष्णा व धनोपार्जनोपायभूत कर्मों में लगे रहनेरूप' बन्धन से बाँधता है। मैं इनसे भी ऊपर उठता हूँ। २. **इन्द्रः**=बल से होनेवाले सब कर्मों को करनेवाला प्रभु **तान्**=उन 'ज्ञान-संग, सुख-संग, प्रमाद, आलस्य, निद्रा, तृष्णा व कर्मसंग' को **पर्यहाः**=(परि ह) परिवर्जित करे। हम 'इन्द्र' अर्थात् जितेन्द्रिय बनकर इन शत्रुओं को वशीभूत करें। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **तान्**=उन शत्रुओं को **दाम्ना**=रज्जु—संयम-रज्जु से **संद्य**=बाँध डालिए। हम अग्नि बनते हुए—आगे बढ़ने की वृत्तिवाले होते हुए इन शत्रुओं को वशीभूत कर सकें।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व आगे बढ़ने की भावनावाले (इन्द्र+अग्नि) बनकर 'परम, अवम व मध्यम' सभी शत्रुओं का नियमन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**उच्छोचनः** ॥ देवता—**बृहस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्र+अग्नि (सेनापति+राजा)

अ॒मी ये यु॒धमा॒यन्ति॑ के॒तून्कृ॒त्वानी॒कशः॑। इन्द्र॒स्तान्पर्य॑हा॒र्दाम्ना॒ तान॑ग्ने॒ सं द्या॒ त्वम्॥ ३ ॥

१. **अमी**=वे **ये**=जो शत्रु **युधम् आयन्ति**=युद्ध को—युद्ध करने के लिए आते हैं, जो **केतून् कृत्वा**=ध्वजाओं को लेकर **अनीकशः**=(संघशः) समूहों में उपस्थित होते हैं, **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावक सेनापति **तान्**=उन्हें **पर्यहाः**=दूर परिवर्जित करे। सेनापति शत्रुसैन्य को रण में पराजित करके दूर भगा दे। हे **अग्ने**=राष्ट्र को आगे ले-जानेवाले राजन्! **त्वम्**=आप **तान्**=उन शत्रुओं को **संद्य**=सम्यक् बन्धन में डालो।

भावार्थ—सेनापति व राजा मिलकर राष्ट्र को शत्रुकृत उपद्रवों से रहित करें।

विशेष—अन्त:शत्रुओं का विजेता व प्रकृष्ट दीप्तियुक्त जीवनवाला 'प्रशोचन' अगले सूक्त का ऋषि है।

१०४. [चतुरुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषि:—**प्रशोचनः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आदान-सन्दान

आदानेन सन्दानेनामित्राना द्यामसि।
अपाना ये चैषां प्राणा असुनासून्त्समच्छिदन्॥ १॥

१. **आदानेन**=(आदीयते आबध्यते अनेन इति) पाश=यन्त्रविशेष से **सन्दानेन**=बन्धन के द्वारा **अमित्रान्**=शत्रुओं को **आद्यामसि**=हम समन्तात् बद्ध करते हैं। २. **ये च**=और जो **एषाम्**=इनके **अपानाः प्राणाः**=अन्तर्मुख प्राणवृत्तिवाले और बहिर्मुख श्वासवृत्तिवाले **असून्**=प्राण हैं, उन्हें **असुना समच्छिदन्**=प्राण से काट डालते हैं—गलगत पाशयन्त्र से प्राणापान की गति को रोककर उन्हें नष्ट कर डालते हैं।

भावार्थ—गलगत पाशयन्त्र द्वारा हम शत्रुओं के प्राणों का उच्छेद करते हैं।

ऋषि:—**प्रशोचनः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'तपसा इन्द्रेण संशितम्' आदानम्

इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम्।
अमित्रा येऽत्र नः सन्ति तानग्न आ द्या त्वम्॥ २॥

१. **इन्द्रेण**=जितेन्द्रिय पुरुष के द्वारा **तपसा**=तप से **संशितम्**=तीक्ष्ण किये हुए **इदम्**=इस **आदानम्**=शत्रुओं के बन्धन-पाश को **अकरम्**=किया है—जितेन्द्रिय व तपस्वी बनकर मैंने शत्रुबन्धन पाश बनाया है। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अत्र**=इस जीवन में **ये**=जो **नः**=हमारे **अमित्राः**=शत्रु **सन्ति**=हैं, **तान्**=उन्हें **त्वम्**=आप **आ द्या**=बन्धन में डालो। आपके अनुग्रह से हमारे सब शत्रु हमारे द्वारा बद्ध किये जाएँ।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से जितेन्द्रिय व तपस्वी बनकर हम सब शत्रुओं को बाँधनेवाले बनें। हम काम-क्रोधादि को वश में कर सकें।

ऋषि:—**प्रशोचनः** ॥ देवता—**सोमः, इन्द्रश्च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्र+मरुत्वान्

ऐनान्द्यतामिन्द्राग्नी सोमो राजा च मेदिनौ।
इन्द्रो मरुत्वानादानममित्रेभ्यः कृणोतु नः॥ ३॥

१. **इन्द्राग्नी**=जितेन्द्रियता व आगे बढ़ने की वृत्ति **एनान्**=इन शत्रुओं को **आद्यताम्**=सर्वथा बन्धन में करनेवाली हो। इन शत्रुओं को बन्धन में करने (के लिए) **सोमः**=शरीरस्थ (वीर्य) **च**=और

राजा=(राजृ दीप्तौ) जीवन की दीप्ति **मेदिनौ**=हमारे प्रति स्नेह करनेवाली हों। शत्रुओं को वशीभूत करने पर शरीर में सोम का रक्षण होता है और जीवन दीप्त बनता है। २. **मरुत्वान्**=प्राणोंवाला **इन्द्रः**=इन्द्र **नः**=हमारे **अमित्रेभ्यः**=शत्रुओं के लिए **आदानम्**=बन्धन को **कृणोतु**=करे। प्राणसाधना करता हुआ जितेन्द्रिय पुरुष काम-क्रोध आदि शत्रुओं को वशीभूत करनेवाला हो।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें, आगे बढ़ने की वृत्तिवाले हों। ऐसा होने पर ही हम सोम का रक्षण कर पाएँगे और जीवन को दीप्ति बना पाएँगे। प्राणसाधना करते हुए जितेन्द्रिय बनना ही काम-क्रोध आदि के वशीकरण का उपाय है।

विशेष—जितन्द्रिय पुरुष ही नीरोग बनता है। यह 'कासा' आदि रोगों का विजेता 'उन्मोचन' कहलता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

१०५. [पञ्चोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**उन्मोचनः** ॥ देवता—**कासा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कासा का दूर गमन (यथा मनः)

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत मनसोऽनु प्रवाय्य᳡म्॥ १॥

१. **यथा**=जैसे **मनः**=मन **मनस्केतैः**=(मनसा बुद्धिवृत्त्या) बुद्धिवृत्ति से ज्ञायमान विषयों के साथ **आशुमत्**=शीघ्रता से युक्त हुआ-हुआ **परापतति**=दूर-दूर जाता है **एव**=इसीप्रकार हे **कासे**=श्लेष्मरोग! **त्वम्**=तू **मनसः प्रवाय्यम्**=मन की प्रगन्तव्य अवधि को **अनु प्रपत**=लक्ष्य करके गतिवाला हो—तू मनोवेग से इस पुरुष से निकलकर दूर देश में चला जा।

भावार्थ—जैसे मन शीघ्रता से दूर देश में चला जाता है, उसी प्रकार यह खाँसी हमें छोड़कर दूर चली जाए।

ऋषिः—**उन्मोचनः** ॥ देवता—**कासा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यथा बाणः

यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम्॥ २॥

१. **यथा**=जैसे **सुसंशितः**=सम्यक् तीक्ष्ण किया हुआ **बाणः**=बाण धनुष् से विमुक्त हुआ-हुआ **आशुमत् परापतति**=शीघ्र दूर जाता है, **एव**=इसीप्रकार हे **कासे**=श्लेष्मरोग! **त्वम्**=तू **पृथिव्याः**=पृथिवी के **संवतम्**=निम्न प्रदेश को **अनु प्रपत**=लक्ष्य करके गतिवाला हो, बाण के वेग से तू पाताल में जा।

भावार्थ—जैसे धनुष् से छोड़ा बाण शीघ्रता से दूर जाता है, वैसे ही यह कासारोग हमसे दूर चला जाए।

ऋषिः—**उन्मोचनः** ॥ देवता—**कासा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यथा सूर्यस्य रश्मयः

यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत्। एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानु विक्षरम्॥ ३॥

१. **यथा**=जैसे उदय के पश्चात् **सूर्यस्य रश्मयः**=सूर्य की किरणें **आशुमत् परापतन्ति**=शीघ्रता से सुदूर पहुँच जाती हैं, **एव**=उसी प्रकार हे **कासे**=श्लेष्मरोग! **त्वम्**=तू **समुद्रस्य**=समुद्र के **विक्षरम् अनु**=विविध क्षरणवाले देश का लक्ष्य करके **अनु प्रपत**=शीघ्रता से दूर जा। इस पुरुष

को छोड़कर तू सूर्य-रश्मियों की भाँति शीघ्र समुद्रपर्यन्त चला जा।

भावार्थ—कासा हमसे इसप्रकार दूर भाग जाए जैसेकि सूर्य-रश्मियाँ समुद्रपर्यन्त देशों में जा पहुँचती हैं।

विशेष—रोगों से बचने के लिए गृहों का उचित निर्माण नितान्त आवश्यक है। घर का उचित निर्माण करके रोगों को दूर रखनेवाला 'प्रमोचन' अगले सूक्त का ऋषि=द्रष्टा है।

१०६. [षडुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रमोचनः** ॥ देवता—**दूर्वा, शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आदर्शगृह

आय॑ने ते प॒राय॑णे॒ दूर्वा॑ रोहन्तु पु॒ष्पिणीः॑।
उत्सो॑ वा॒ तत्र॒ जाय॑तां ह्र॒दो वा॑ पु॒ण्डरी॑कवान्॥ १ ॥

१. हे शाले! **ते**=तेरे **आयने**=आगमन मार्ग में और **परायणे**=निकास में अथवा अगले तथा पिछले भाग में **पुष्पिणीः**=फूलोंवाली **दूर्वाः**=घास **रोहन्तु**=उगें **वा**=और **तत्र**=वहाँ **उत्सः**=उदकप्रस्रवण (चश्मा) **जायताम्**=हो **वा**=अथवा **पुण्डरीकवान्**=कमलोंवाला **ह्रदः**=तालाब हो।

भावार्थ—घर में आगे-पीछे दूर्वा लगी हो। उसमें उत्स व कमलयुक्त तालाब की भी व्यवस्था की जाए।

ऋषिः—**प्रमोचनः** ॥ देवता—**दूर्वा, शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मध्ये ह्रदस्य

अ॒पामि॒दं न्यय॑नं समु॒द्रस्य॑ नि॒वेश॑नम्।
मध्ये॑ ह्र॒दस्य॑ नो गृ॒हाः प॑रा॒चीना॒ मुखा॑ कृधि॥ २ ॥

१. **इदम्**=यह **अपाम्**=प्रजाओं का **न्ययनम्**=निवास-स्थान और **समुद्रस्य निवेशनम्**=जलसमूह का गृह हो (निविशतेऽस्मिन् इति)। **नः गृहाः**=हमारे घर **ह्रदस्य मध्ये**=तालाब के मध्य में हों। हे अग्ने! तू अपने **मुखाः**=ज्वालारूप मुखों को **पराचीना कृधि**=पराङ्मुख कर। ऐसे घरों में अग्निदाह का भय नहीं होता।

भावार्थ—घरों में जलों के सुप्रबन्ध से अग्निदाह की आशंका नहीं रहती।

ऋषिः—**प्रमोचनः** ॥ देवता—**दूर्वा, शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हिमस्य जरायुणा

हि॒मस्य॑ त्वा ज॒रायु॑णा॒ शाले॒ परि॑ व्ययामसि।
शी॒तह्र॑दा॒ हि नो॑ भु॒वो॒ऽग्निष्कृ॑णोतु भेष॒जम्॥ ३ ॥

१. हे **शाले**=निवासस्थान! **त्वा**=तुझे **हिमस्य जरायुणा**=हिम (शीतल जल) के वेष्टन से **परिव्ययामसि**=चारों ओर से घेरते हैं, तू **नः**=हमारे लिए **शीतह्रदाः भुवः**=शीतल जलवाले तालाब से युक्त हो। **हि**=निश्चय से इस स्थिति में **अग्निः**=अग्नि **भेषजं कृणोतु**=हमारे रोगों के निवारण करने का साधन होकर रोगों को दूर करे।

भावार्थ—घर तालाब आदि से घिरे हुए हों, जिससे बाहर की आग उस तक न पहुँच सके। घरों के अन्दर अग्नि भी भेषज बने—कष्टों को दूर करने का साधन बने।

विशेष—इन घरों में शान्तिपूर्वक निवास करनेवाला 'शन्ताति' अगले सूक्त का ऋषि है।

१०७. [सप्तोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वजित्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

त्रायमाणायै

विश्वजित् त्रायमाणायै मा परि देहि।
त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम्॥ १॥

१. हे **विश्वजित्**=सम्पूर्ण संसार को जीतनेवाले प्रभो! **मा**=मुझे **त्रायमाणायै**=जल व अग्नि की उचित व्यवस्था के द्वारा रक्षा करनेवाली शाला के लिए **परिदेहि**=दीजिए—सौंपिए। मुझे ऐसा घर प्राप्त कराइए जो रक्षण करनेवाला हो, जिसमें अग्निदाहादि उपद्रवों व रोगों का भय न हो। २. **त्रायमाणे**=हे रक्षा करनेवाली शाले! **नः**=हमारे **सर्वम्**=सब **द्विपात्**=दो पाँवोंवाले मनुष्यों **च**=और **चतुष्पात्**=चार पैरवाले गौ आदि पशुओं को **रक्ष**=सुरक्षित कर **च**=और **यत्**=जो **नः**=हमारा **स्वम्**=धन है, उसकी भी रक्षा करनेवाली हो।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए 'त्रायमाण' शाला प्राप्त कराएँ। इसमें हमारे सब मनुष्य व पशु सुरक्षित रूप से निवास करें। यह शाला हमारे सब द्रव्यों का भी रक्षण करनेवाली हो।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वजित्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्वजिते

त्रायमाणे विश्वजिते मा परि देहि।
विश्वजिद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम्॥ २॥

१. हे **त्रायमाणे**=रक्षा करनेवाली शाले! तू **मा**=मुझे **विश्वजिते**=सम्पूर्ण संसार का विजय करनेवाले प्रभु के लिए **परिदेहि**=अर्पित कर। तुझमें निवास करता हुआ मैं प्रभु का स्मरण करनेवाला बनूँ। २. हे **विश्वजित्**=संसार के विजेता प्रभो! **नः**=हमारे **सर्वम्**=सब **द्विपात्**=दो पाँवोवाले मनुष्यों तथा **चतुष्पात्**=चार पाँववाले गवादि पशुओं का **रक्ष**=रक्षण कीजिए, **च**=और **यत्**=जो **नः**=हमारा **स्वम्**=धन है, उसका भी रक्षण कीजिए।

भावार्थ—सुरक्षित घरों में निवास करते हुए हम प्रभु का स्मरण करें। प्रभु हमारे मनुष्यों, पशुओं व धनों को सुरक्षित करें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वजित्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कल्याण्यै

विश्वजित्कल्याण्यै मा परि देहि।
कल्याणि द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम्॥ ३॥

१. **विश्वजित्**=संसार के विजेता हे प्रभो! आप **मा**=मुझे **कल्याण्यै**=शुभों की साधिका याग आदि क्रिया के लिए **परिदेहि**=अर्पित कीजिए। आपकी प्रेरणा से सुरक्षित घर में मैं यज्ञादि करनेवाला बनूँ। २. हे **कल्याणि**=शुभ-साधिके यज्ञादि क्रिये! तू **नः**=हमारे **सर्वम्**=सब **द्विपात्**=दोपाये मनुष्यादि को **च**=तथा **चतुष्पात्**=गवादि पशुओं को **रक्ष**=रक्षित कर, **च**=तथा **यत् नः स्वम्**=जो हमारा धन है, उसे भी रक्षित कर।

भावार्थ—प्रभु हमें याज्ञादि शुभ-साधिका क्रियाओं में प्रवृत्त करें। इन क्रियाओं को करते हुए हम सभी प्रकार से सुरक्षित हों।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वजित्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सर्वविदे

कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि।
सर्वविद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम्॥ ४॥

१. हे **कल्याणि**=शुभ-साधिके यज्ञादि क्रिये! **मा**=मुझे **सर्वविदे परिदेहि**=सर्वज्ञ प्रभु के प्रति अर्पित कर। यज्ञादि शुभ कर्मों को करते हुए हम प्रभु को प्राप्त करें। २. हे **सर्ववित्**=सर्वज्ञ प्रभो! आप **नः**=हमारे **सर्वम्**=सब **द्विपात्**=दो पाँववाले मनुष्यादि को **च**=तथा **चतुष्पात्**=चार पाँववाले गौ आदि पशुओं को **रक्ष**=रक्षित कीजिए, **च**=और **यत् नः स्वम्**=जो हमारा धन है, उसका भी रक्षण कीजिए।

भावार्थ—हम यज्ञादि शुभ कर्मों को करते हुए प्रभु को प्राप्त करें। प्रभु हमारे रक्षक हों।

विशेष—इस सूक्त का सामान्य भाव यह है कि १. प्रभु हमें ऐसा घर प्राप्त कराएँ जो हमारा रक्षण करनेवाला हो, २. इस घर में सुरक्षित रहते हुए हम विश्वजित् प्रभु का स्मरण करें, ३. प्रभु हमें याग आदि शुभ क्रियाओं में प्रेरित करें, ४. ये शुभ क्रियाएँ हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाली हों।

प्रभु को प्राप्त करनेवाला और परिणामतः आनन्दमय जीवनवाला यह 'शौनक' बनता है (शुनं सुखम्)। शौनक ही अगले सूक्त का ऋषि है। यह मेधा के लिए प्रार्थना करता है।

१०८. [अष्टोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मेधा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'गोभिः अश्वेभिः' मेधा

त्वं नो मेधे प्रथमा गोभिरश्वेभिरा गहि।
त्वं सूर्यस्य रश्मिभिस्त्वं नो असि यज्ञिया॥ १॥

१. हे **मेधे**=आत्मा को धारण करनेवाली चितिशक्ते! **त्वम्**=तू **नः**=हमें **गोभिः अश्वेभिः**=ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के साथ **आगहि**=प्राप्त हो। हमें उत्तम ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के साथ बुद्धि प्राप्त हो। तू ही **प्रथमा**=सबसे मुख्य है। हे मेधे! तू **सूर्यस्य रश्मिभिः**=ज्ञान के सूर्य प्रभु की ज्ञानमयी किरणों के साथ प्राप्त हो, **त्वम्**=तू ही **नः**=हमारे **यज्ञिया**=जीवन-यज्ञ का सम्पादन करनेवाली **असि**=है।

भावार्थ—हमें उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों के साथ मेधा प्राप्त हो। इसके द्वारा हम ज्ञानसूर्य प्रभु से ज्ञान की रश्मियों को प्राप्त करें। यह हमारे जीवन-यज्ञ का सम्पादन करनेवाली हो।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मेधा** ॥ छन्दः—**उरोबृहती** ॥

मेधां 'प्रपीतां ब्रह्मचारिभिः'

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे॥ २॥

१. **अहं मेधाम्**=मैं मेधा बुद्धि को **देवानाम् अवसे हुवे**=अपने जीवन में दिव्य गुणों के रक्षण के लिए पुकारता हूँ, उस मेधा को जो **प्रथमाम्**=सबसे मुख्य स्थान में स्थित है, **ब्रह्मण्वतीम्**=वेदज्ञानवाली है **ब्रह्मजूताम्**=ज्ञानियों से सेवित हुई है, **ऋषिष्टुताम्**=तत्त्वद्रष्टाओं से स्तुत हुई है और **ब्रह्मचारिभिः**=ज्ञान का चरण करनेवाले विद्यार्थियों से **प्रपीताम्**=प्रवर्धित हुई है,

अथवा पी गई है, सम्यक् ग्रहण की गई है।

भावार्थ—बुद्धि हमारे जीवनों में दिव्य गुणों के रक्षण का साधन बनती है। इसी से ज्ञान का वर्धन होता है और 'ज्ञान प्राप्त करना' ही इसकी वृद्धि का साधन बनता है।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मेधा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋभवः, असुराः, ऋषयः (वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण)

यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्या वेशयामसि॥ ३॥

१. **यां मेधाम्**=जिस मेधाबुद्धि को **ऋभवः**=(उरु भान्ति) विविध कला-कौशल के ज्ञान से सुशोभित शिल्पी **विदुः**=जानते हैं, **यां मेधाम्**=जिस मेधाबुद्धि को **असुराः**=प्राणसाधना करनेवाले (असु=प्राण) और प्राणसाधना द्वारा शत्रुओं को परे फेंकने (अस् क्षेपणे) **विदुः**=जानते हैं और **याम्**=जिस **भद्राम्**=कल्याणी व स्तुत्य **मेधाम्**=मेधाबुद्धि को **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **विदुः**=जानते हैं, **ताम्**=उस मेधा को **मयि**=हम सब अपने में **आवेशयामसि**=सब प्रकार से स्थापित करते हैं।

भावार्थ—बुद्धि ही हमें सब कलाओं में प्रवीण करती है (ऋभवः)। यही हमें शत्रुओं को विनष्ट करने की शक्ति प्रदान करती है (असुराः), इसी से हम तत्त्वद्रष्टा बनकर कल्याण को सिद्ध कर पाते हैं (ऋषयः)। इसे प्राप्त करने के लिए हम यत्नशील हों।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'भूतकृतः' ऋषयः

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु॥ ४॥

१. **याम्**=जिस **मेधाम्**=मेधाबुद्धि को **भूतकृतः**=(भूतम्) प्रत्येक कार्य को उचितरूप में करनेवाले **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा अथवा बुराइयों का संहार करनेवाले (ऋष् to kill) **मेधाविनः**=प्रशस्त मेधावाले पुरुष **विदुः**=जानते हैं, हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **तया मेधया**=उस मेधा से **माम्**=मुझे भी **अद्य**=आज **मेधाविनं कृणु**=मेधावी कीजिए।

भावार्थ—हमें वह मेधा प्राप्त हो, जिसके प्राप्त होने पर हम उचित ही कर्म करते हैं और सब बुराइयों को दूर करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मेधा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूर्यरश्मिभिः वचसा

मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे॥ ५॥

१. **मेधाम्**=इस मेधाबुद्धि को **सायम्**=सायंकाल, इस **मेधाम्**=मेधा को **प्रातः**=प्रातःकाल तथा इस **मेधाम्**=मेधाबुद्धि को **मध्यन्दिनं परि**=मध्याह्न में **वेशयामहे**=अपने अन्दर स्थापित करने के लिए यत्नशील होते हैं। यह प्रयत्न ही वस्तुतः 'प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन व सायन्तन सवन' हैं। २. हम इस **मेधाम्**=मेधा को **सूर्यस्य रश्मिभिः**=ज्ञान के सूर्य प्रभु के ज्ञान की किरणों के द्वारा तथा **वचसा**=वेदवचनों के द्वारा अपने में धारण करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। उस सूर्य की रश्मियों की प्राप्ति के लिए साधनभूत ध्यान, प्राणायाम आदि को अपनाते हैं तथा वेदवचनों का स्वाध्याय करते हैं।

भावार्थ—हम 'प्रातः, मध्याह्न व सायं' सदा मेधा को प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों। हम ध्यान द्वारा ज्ञान के सूर्य प्रभु की रश्मियों को देखने का यत्न करें और स्वाध्याय द्वारा वेदवाणी को प्राप्त करें। यही मेधावी बनने का मार्ग है।

विशेष—बुद्धि की साधना में प्रवृत्त मनुष्य 'अथर्वा' बनता है—संसार के विषयों से आन्दोलित न होनेवाला। अगले चार सूक्तों का यही ऋषि है। यह पिप्पली के प्रयोग से शरीर को नीरोग रखता है।

१०९. [नवोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पिप्पली** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्षिप्तभेषजी अतिविद्धभेषजी

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू३तातिविद्धभेषजी।
तां देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम्॥ १॥

१. **पिप्पली**=यह 'कणा' आदि नामोंवाली ओषधि **क्षिप्तभेषजी**=(क्षिप्तानि अन्यानि भेषजानि यया) अन्य सब ओषधियों को तिरस्कृत करनेवाली है—सबसे श्रेष्ठ है, अथवा (क्षिप्तस्य भेषजी) वातरोगनाशक है **उत**=और **अतिविद्धभेषजी**=(कृत्स्नं रोगं अतिविध्यति निपीडयति इति अतिविद्धा, सा चासौ भेषजः) सब रोगों का अतिशयेन वेधन करनेवाली औषध है, अथवा 'क्षिप्त' रोग को दूर करनेवाली है, जिसमें कि रोगी वेदना से हाथ-पैर पटका करता है। यह 'अतिविद्ध' रोग को भी दूर करती है—जिसमें जाँघ में तीव्र वेदना होती है। २. **ताम्**=उस पिप्पली को **देवाः**=वायु-सूर्य आदि सब देव **समकल्पयन्**=बड़ा शक्तिशाली बनाते हैं। **इयम्**=यह **जीवितवै अलम्**=जिलाने के लिए पर्याप्त है।

भावार्थ—पिप्पली नामक ओषधि 'क्षिप्त व अतिविद्ध' आदि रोगों को दूर करती हुई दीर्घ-जीवन का कारण बनती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पिप्पली** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पिप्पलियों का संवाद

पिप्पल्य१ः समवदन्तायतीर्जननादधि। यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः॥ २॥

१. **पिप्पल्यः**=पिप्पलियाँ **जननात् अधि**=जन्म से ही **आयतीः**=आती हुई **सम् अवदन्त**=परस्पर बात करती हैं कि **यं जीवम्**=जिस जीव को **अश्नवामहै**=हम औषधरूपेण प्राप्त होती हैं, **सः**=वह **पूरुषः**=पुरुष **न रिष्याति**=नष्ट नहीं होता—हिंसित नहीं होता।

भावार्थ—पिप्पलियाँ जब अंकुरित होकर भूमि से ऊपर आती हैं तब मानो परस्पर बात करती हैं कि हमें औषधरूपेण प्राप्त करनेवाला पुरुष कभी हिंसित नहीं होता।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पिप्पली** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

असुराः देवाः (न्यखनन्, उदवपन्)

असुरास्त्वा न्य॑खनन्देवास्त्वोद॑वपन्पुनः।
वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम्॥ ३॥

१. **असुराः**=प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले वैद्य **त्वा न्यखनन्**=तुझे खोदते हैं। **देवाः**=रोगों को जीतने की कामनावाले वैद्य **त्वा**=तुझे **पुनः उत् अवपन्**=फिर से बोते हैं। २. उस तुझे जो तू **वातीकृतस्य भेषजीम्**=वातकृत रोगों की भेषज है **अथो**=और **क्षिप्तस्य**=उन्माद रोग को दूर

करनेवाली **भेषजम्**=ओषधि है।

भावार्थ—इस 'वातीकृत तथा क्षिप्त' की भेषजभूत पिप्पली को देव तथा असुर खोदते हैं तथा पुनः बो देते हैं। ये पिप्पली का मूलोच्छेद नहीं होने देते।

११०. [दशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

प्रभु का शरीररूप 'आत्मा' (स्वां तन्वम्)

प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि।
स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रायस्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व॥ १॥

१. हे प्रभो! आप **प्रत्नः**=सनातन हैं, **हि**=निश्चय से **कम्**=आनन्दस्वरूप आप **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हैं **च**=और **अध्वरेषु**=यज्ञों में आप ही **सनात्**=सदा से **होता**=आहुति देनेवाले हैं—आपके द्वारा ही सब यज्ञ परिपूर्ण होते हैं, **च**=और **नव्यः**=आप अपने इस शरीर को, अर्थात् मैं जो आपका शरीर हूँ, उसे **पिप्रायस्व**=प्रीणित कीजिए। आपकी कृपा से मैं अपना पूरण कर सकूँ. **च**=और आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सौभगम्**=सौभाग्य को **आयजस्व**=सर्वथा प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु सनातन हैं, सदा स्तुत्य हैं, वे ही सब यज्ञों के होता हैं, वे ही स्तुत्य हैं। हम प्रभु के शरीररूप हैं, हममें प्रभु का निवास है। प्रभु इस शरीर का पूरण करें और हमें सौभाग्य प्रदान करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सब दुरितों से दूर

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात्परि पाह्येनम्।
अत्येनं नेषद्दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ २॥

१. **ज्येष्ठघ्न्याम्**=(हन् गतौ) अत्यन्त प्रशस्त क्रियाओं में **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए हे अग्ने! आप **एनम्**=अपने इस उपासक को **विचृतोः यमस्य**=(विमोचयित्रोः) अन्धकार से छुड़ानेवाले सूर्य-चन्द्र के नियम के **मूलबर्हणात्**=मूल छेदन से **परिपाहि**=बचाइए। प्रशस्त क्रियाओं में लगा हुआ उपासक अपने हृदय में आपके प्रकाश को देखता है। आप इस उपासक को सूर्य-चन्द्रमा के नियम को न तोड़ने के लिए प्रेरित कीजिए—'स्वस्तिपन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव'—सूर्य-चन्द्रमा की भाँति नियमित गति से मार्ग पर चलता हुआ यह उपासक कल्याण प्राप्त करता है। २. आप **एनम्**=इस उपासक को **विश्वा दुरितानि**=सब दुरितों—अशुभाचरणों से **अति**=उलाँघकर **शतशारदाय**=सौ वर्ष के **दीर्घायुत्वाय**=दीर्घ जीवन के लिए **नेषत्**=ले-चलिए।

भावार्थ—हम उत्तम क्रियाओं को करते हुए प्रभु के प्रकाश को देखें। प्रभु हमें सूर्य और चन्द्रमा की भाँति नियमित गतिवाला बनाएँ और सब दुरितों को दूर करके हमें सौ वर्ष का दीर्घजीवन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

व्याघ्रे अह्नि

व्याघ्रेऽह्न्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः।
स मा वधीत्पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनीज्जनित्रीम्॥ ३॥

१. **व्याघ्रे**=(घ्रा गन्धोपादाने, गन्ध=सम्बन्ध) विशिष्ट सम्बन्ध का उपादान करनेवाले (त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिम्०) **अह्नि**=(न जहाति) कभी भी हमें न छोड़नेवाले उस प्रभु में **वीरः अजनिष्ट**=वीर प्रादुर्भूत होता है। अन्य लोग विपत्ति में हमारा साथ छोड़ जाते हैं, परन्तु उस समय प्रभु के साथ हमारा सम्बन्ध और घनिष्ठ हो जाता है। प्रभु ही वस्तुतः हमारे माता और पिता हैं 'वे अपने इस सम्बन्ध को कभी छोड़ देंगे' ऐसी बात नहीं। हम ही उन्हें भूले रहते हैं। उस प्रभु में स्थित होनेवाला व्यक्ति वीर बनता है। यह **नक्षत्रजाः**=विज्ञान के नक्षत्रों में विकास प्राप्त करता हुआ **जायमानः**=उत्तरोत्तर शक्ति के प्रादुर्भाववाला **सुवीरः**=उत्तम वीर बनता है। २. **सः**=वह सुवीर **वर्धमानः**=वृद्धि को प्राप्त होता हुआ **पितरं मा वधीत्**=पिता का हिंसन करनेवाला न हो—पिता की बात को न माननेवाला न हो तथा **जनित्रीम्**=जन्म देनेवाली **मातरं मा प्रमिनीत्**=माता को हिंसित न करे—माता के अनुशासन में चले। 'प्रभु' पिता हैं, 'वेद' माता है। यह सुवीर प्रभु-प्रेरणा के अनुसार और वेद के आदेश के अनुसार आचरण करनेवाला हो।

भवार्थ—हम उस विशिष्ट सम्बन्धवाले, कभी भी हमारा साथ न छोड़नेवाले प्रभु में स्थित होते हुए 'वीर' बनें। विज्ञान के नक्षत्रों में दीप्त बनकर उत्तम वीर हों। माता-पिता के कहने में चलें—प्रभु की प्रेरणा और वेद के आदेश-अनुसार।

१११. [एकादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**परानुष्टुप्त्रिष्टुप्** ॥

अनुन्मदितः

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति।
अतोऽधि ते कृणवद्भागधेयं यदानुन्मदितोऽसति॥ १॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **इमं मे पुरुषम्**=मेरे इस पुरुष को **मुमुग्धि**=रोगों के कारणभूत पापों से मुक्त कीजिए। **अयम्**=यह **यः**=जो **बद्धः**=इन्द्रियों से बद्ध हुआ-हुआ **सुयतः**=विषयों से खूब ही जकड़ा हुआ—इन्द्रियाँ जिसके लिए ग्रह बनी हुई हैं और विषय अतिग्रह बने हुए हैं—**लालपीति**=बहुत ही बड़बड़ाता है—असम्बद्ध प्रलाप करता है, इसे आप मुक्त कीजिए। २. **अतः**=अब **यदा अनुन्मदितः असति**=जब यह उन्मादरहित हो जाए तब **ते**=आपके **भागधेयम्**=भाग को **अधिकृणवत्**=अधिक करे, अर्थात् यह खूब ही आपका उपासन करे, जिससे पुनः उन्मादवाला न हो जाए।

भावार्थ—प्रभु की उपासना ही हमें विषयोन्माद से बचानेवाली औषध है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु-स्मरण=उन्माद-भेषज

अग्निष्टे नि शमयतु यदि ते मन उद्युतम्।
कृणोमि विद्वान्भेषजं यथानुन्मदितोऽससि॥ २॥

१. हे साधक! **यदि**=यदि **ते**=तेरा **मनः**=मन **उद्युतम्**=(युज् बन्धने) विषयों से बद्ध हुआ है तो **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **ते निशमयतु**=(शमो दर्शने) तुझे तत्त्वज्ञान प्राप्त कराएँ। विषयों की असारता दिखलाकर तुझे विषयों से पराङ्मुख करें। २. प्रभु कहते हैं कि **विद्वान्**=ज्ञानी मैं तेरे लिए **भेषजं कृणोमि**=औषध करता हूँ **यथा**=जिससे तू **अनुन्मदितः अससि**=उन्मादरहित होता है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण ही वह औषध है जो विषयों की असारता दिखाकर हमें विषयोन्माद से बचाती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवैनसात् रक्षसः

देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि। कृणोमि विद्वान्भेषजं यदानुन्मदितोऽसति॥ ३॥

१. **देवैनसात्**=देवों के विषयों में किये गये पाप से **उन्मदितम्**=उन्मादयुक्त हुए-हुए को अथवा **रक्षसः**=(अपने रमण के लिए औरों को क्षय करनेवाले) रोगकृमियों से **उन्मत्तं परि**=उन्मत्त हुए पुरुष को लक्ष्य करके विद्वान्—ज्ञानी मैं **यदा**=जब **भेषजं कृणोमि**=चिकित्सा करता हूँ तब **अनुन्मदितः असति**=यह उन्मादरहित हो जाता है।

भावार्थ—उन्माद के दो कारण हो सकते हैं—एक, देवों के विषय में कोई पाप करना और इससे मानस सन्तुलन खो बैठना। दूसरे, किसी रोगकृमि से उत्पन्न विकार के कारण। ज्ञानी पुरुष इन दोनों प्रकार के उन्माद को उचित औषध-प्रयोग से दूर करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पागलपन के कारण

पुनस्त्वा दुरप्सरसः पुनरिन्द्रः पुनर्भगः। पुनस्त्वा दुर्विश्वेदेवा यथानुन्मदितोऽससि॥ ४॥

१. हे उन्मादयुक्त पुरुष! **अप्सरसः**=कर्मों में विचरनेवाले **त्वा**=तुझे **पुनः**=फिर से **दुः**=चेतना प्राप्त कराएँ, अर्थात् 'कर्मों में लगे रहना' उन्माद के आक्रमण से बचने का उपाय है। **इन्द्रः**=इन्द्र **पुनः**=फिर से चेतना दे। जितेन्द्रियता हमें उन्माद का शिकार होने से बचाती है। **भगः**=ऐश्वर्य का पुञ्ज प्रभु **पुनः**=फिर से चैतन्य प्राप्त कराए। 'सेवनीय ऐश्वर्य का होना' हमें उन्मत्त नहीं होने देता। २. **विश्वेदेवाः**=सब देव (दिव्य गुण) **त्वा**=तुझे **पुनः**=फिर **दुः**=चेतना प्राप्त कराएँ। राक्षसीभाव भी मनुष्य को उन्मत्त कर देते हैं, मैं तुझे दिव्य भाव प्राप्त करता हूँ **यथा**=जिससे **अनुन्मदितः अससि**=तू उन्मादरहित होता है।

भावार्थ—'अकर्मण्यता, अजितेन्द्रियता, दरिद्रता व दिव्य गुणों का न होना' उन्माद का कारण बनता है। हम 'क्रियाशील, जितेन्द्रिय, सौभाग्यसम्पन्न व दैवी सम्पदावाले' बनकर पूर्ण स्वस्थ मस्तिष्कवाले हों।

११२. [द्वादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ग्राही के पाश से मुक्ति

मा ज्येष्ठं वधीदयमग्न एषां मूलबर्हणात्परि पाह्येनम्।
स ग्राह्याः पाशान्वि चृत प्रजानन्तुभ्यं देवा अनु जानन्तु विश्वे॥ १॥

१. **अयम्**=यह रोग **एषाम्**=इस परिवार के लोगों में हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ज्येष्ठं मा वधीत्**=विद्या और वय (अवस्था) में बड़े को न मारे। **एनम्**=इस ज्येष्ठ को **मूलबर्हणात्**=रोग के मूल के विनाश व उच्छेद के द्वारा **परिपाहि**=रक्षित कर। २. **प्रजानन्**=ज्ञानी होता हुआ **सः**=वह तू **ग्राह्याः पाशान्**=जकड़ लेनेवाले गठिया आदि रोगों के फन्दों को **विचृत**=खोल डाल। प्रभु तुझे ग्राही के पाशों से मुक्त करें। **विश्वेदेवाः**=सूर्य-चन्द्र आदि सब देव **तुभ्यम् अनुजानन्तु**=तुझे अनुज्ञा देनेवाले हों। उनकी अनुज्ञा से तू ग्राही के फन्दों को परे फेंक डाल। सूर्य आदि देवों के सम्पर्क में जीवन बिताने पर ग्राही इत्यादि रोग हमें पीड़ित नहीं कर पाते।

भावार्थ—प्रभुकृपा से घर का बड़ा व्यक्ति ग्राही इत्यादि रोगों के फन्दे में पड़कर शरीर को छोड़नेवाला न हो। रोगों के मूल के नाश से यह सुरक्षित रहे। सूर्यादि देवों के सम्पर्क में

यह इन रोगों से आक्रान्त न हो (अन्य व्यक्ति भी रोगाक्रान्त न हों। सामान्यतः वृद्धावस्था में ये रोग आ घेरते हैं, अतः बड़ों के लिए प्रार्थना की गई है)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'माता-पिता, पुत्र' सभी का स्वास्थ्य

उन्मुञ्च पाशांस्त्वमग्न एषां त्रयस्त्रिभिरुत्सिता येभिरासन्।
स ग्राह्याः पाशान्वि चृत प्रजानन्पितापुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान्॥ २॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **एषाम्**=इनके **पाशान्**=रोग के फन्दों को **उन्मुञ्च**=खोल दीजिए। **त्रयः**=तीनों—'माता-पिता, पुत्र' **येभिः त्रिभिः**=जिन तीन ग्राही पाशों से (gout, rheumatism, arthritis) **उत्सिताः**=बद्ध **आसन्**=हैं। प्रभु इन तीनों पाशों को खोलने का अनुग्रह करें। २. हे **प्रजानन्**=समझदार गृहस्थ! **सः**=वह तू **ग्राह्याः पाशान्**=ग्राही के पाशों को **विचृत**=खोल दे। उचित औषध-प्रयोग से व सूर्यादि देवों के सम्पर्क में रहने से तू इन पाशों में न जकड़ा जाए। तू **पितापुत्रौ**=पिता व पुत्र को तथा **मातरम्**=माता को—इन **सर्वान्**=सबको **मुञ्च**=इस ग्राही के फन्दे से छुड़ा।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से घर में माता-पिता व पुत्र सभी ग्राही आदि रोगों के पाशों से मुक्त हों, तभी घर स्वर्ग बनता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

घर के दो महान् कष्ट

येभिः पाशैः परिवित्तो विबद्धोऽङ्गेअङ्ग आर्पित उत्सितश्च।
वि ते मुच्यन्तां विमुचो हि सन्ति भ्रूणघ्नि पूषन्दुरितानि मृक्ष्व॥ ३॥

१. **परिवित्तः**=विवाहित छोटे भाई का अविवाहित बड़ा भाई **येभिः पाशैः**=जिन ग्राही आदि रोगों के फन्दों से **विबद्धः**=बँधा हुआ, **अङ्गे-अङ्गे अर्पितः**=(आर्पयितृ=one who injures or hurts) अङ्ग-अङ्ग में पीड़ित है, **च**=और **उत्सितः**=प्रबलरूप से जकड़ा हुआ है, **ते**=वे सब पाश **विमुच्यन्ताम्**=छूट जाएँ। **विमुचः**=इन पाशों से छुड़ानेवाली कितनी ही औषध **हि**=निश्चय से **सन्ति**=हैं। बड़े का स्वस्थ होना परिवार के हित के दृष्टिकोण से नितान्त आवश्यक है। २. हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! **भ्रूणघ्नि**=जिनके सन्तान गर्भ में ही नष्ट हो जाते हैं, उस स्त्री में **दुरितानि मृक्ष्व**=दुर्गति के कारणभूत कष्टों को दूर कीजिए। पूषा प्रभु की कृपा से सन्तान का गर्भ में ठीक से पोषण हो और माता स्वस्थ सन्तान को जन्म देनेवाली हो।

भावार्थ—परिवार में आनेवाले दो बड़े भारी कष्ट हैं—एक, अविवाहित बड़े भाई का ग्राही आदि रोग से पीड़ित हो जाना। दूसरे, पुत्रवधू का गर्भ बीच में ही गिर जाना। प्रभु इन दोनों ही कष्टों को दूर करने का अनुग्रह करें।

११३. [त्र्योदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

त्रित में पाप का शोधन

त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनन्मनुष्येषु ममृजे।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु॥ १॥

१. **त्रिते**=(त्रीन् लोकान् तनोति) त्रिलोकी का विस्तार करनेवाले प्रभु में—प्रभु की उपासना

में **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **एतत् एनः**=इस पाप को **अमृजत**=शुद्ध कर डालते हैं, प्रभु की उपासना से पाप को अपने से दूर कर देते हैं। **त्रितः**=त्रिलोकी का विस्तारक प्रभु **मनुष्येषु**=मनुष्यों में स्थित **एनत्**=इस पाप को **ममृजे**=दूर कर देता है—प्रभु पाप का सफ़ाया कर देते हैं। २. **ततः**=तब **यदि**=यदि **त्वा**=तुझे **ग्राही**=जकड़ लेनेवाला कोई रोग **आनशे**=व्याप्त कर लेता है तो **देवाः**=ज्ञानी पुरुष तथा सूर्य-चन्द्र आदि देव **ते ताम्**=तेरी उस व्याधि को **ब्रह्मणा नाशयन्तु**=ज्ञान के द्वारा नष्ट कर डालें।

भावार्थ—प्रभु उपासना में चलने से मनुष्य पापों से बचेगा, तब रोग भी इसे पीड़ित नहीं करेंगे। सहसा कोई रोग आ भी जाए तो ज्ञानी पुरुष ज्ञान के द्वारा उस रोग को नष्ट करने में यत्नशील हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पाप का विनाश

मरीचीर्धूमान्प्र विशानु पाप्मन्नुदारान्गच्छोत वा नीहारान्।
नदीनां फेनाँ अनु तान्वि नश्य भ्रूणघ्नि पूषन्दुरितानि मृक्ष्व॥ २॥

१. हे **पाप्मन्**=पाप! तू **मरीचीः**=सूर्य-किरणों में **अनुप्रविश**=प्रविष्ट हो—उन किरणों के सन्ताप से तू नष्ट हो जा, **धूमान्**=धुएँ में प्रविष्ट हो—धूम की भाँति कम्पित होकर दूर चला जा, **उदारान्**=(उत् ऋ गतौ) ऊपर गति करनेवाले उन मेघों में **गच्छ**=चला जा। **उत वा**=अथवा **नीहारान्**=कोहरों को प्राप्त हो, कोहरे में विलीन होकर तू अदृष्ट हो जा। २. **नदीनाम्**=नदियों के **तान्**=उन **फेनान् अनु**=फेनों (झागों) के पीछे **विनश्य**=तू नष्ट हो जा, अर्थात् हमसे तू दूर चला जा हमारा तुझसे किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहे। ३. हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! **भ्रूणघ्नि**=गर्भ में ही जिसके सन्तान विनष्ट हो जाते हैं, उस स्त्री में **दुरितानि मृक्ष्व**=दुर्गति के कारणभूत पापों को आप नष्ट कर डालिए। किन्हीं पापों से जनित शरीर-विकारों को दूर करके आप इसे उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाला बनाइए।

भावार्थ—पाप हमें छोड़कर कहीं दूर प्रदेश में चला जाए। स्त्री पाप-जनित दोष से रहित होकर उत्तम सन्तान को जन्म दे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

मनुष्यैनसानि

द्वादशधा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैनसानि।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु॥ ३॥

१. **मनुष्यैनसानि**=मनुष्यों में आजानेवाले पाप **द्वादशधा**=बारह प्रकार के—पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों तथा मन और बुद्धि में **निहितम्**=स्थापित हुए हैं। हम इन्द्रियों, मन व बुद्धि से ही पाप कर बैठते हैं—**'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते'**। ये सब पाप **त्रितस्य**='ज्ञान, कर्म व उपासना' का विस्तार करने से **अपमृष्टम्**=धुल जाते हैं। (त्रीन् तनोति) 'काम, क्रोध व लोभ'—इन तीनों को तैर जानेवालों के ये पाप नष्ट हो जाते हैं (त्रीन् तरति)। २. हे मनुष्य! **यदि**=यदि तुझमें **ग्राहिः**=गठिया आदि रोग **आनशे**=व्याप्त होते हैं तो **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **ते**=तेरे **ताम्**=उस ग्राहीरूप रोग को **ब्रह्मणा नाशयन्तु**=ज्ञान के द्वारा नष्ट कर डालें। ज्ञान से पापों का परिमार्जन (सफ़ाया) होता है और तब पापमूलक सब रोग भी विनष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा मन व बुद्धि से हो जानेवाले पापों को 'ज्ञान, कर्म

व उपासना' में लगकर नष्ट करनेवाले हों। ज्ञान के द्वारा ग्राही आदि रोग दूर हो जाएँ।

विशेष—पूर्ण नीरोग, निष्पाप व ज्ञानी बनकर यह 'ब्रह्मा' बनता है। अगले दो सूक्तों का ऋषि यह 'ब्रह्मा' ही है।

११४. [चतुर्दशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋतस्य ऋतेन

यद्देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्। आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत ॥ १ ॥

१. हे **देवाः**=माता, पिता, आचार्य आदि देवो! **यत् देवहेडनम्**=देवों के निरादररूप जिस पाप को **देवासः**=(देवासः देवनशीला इन्द्रियपरवशाः सन्तः—सा०) व्यर्थ की क्रीड़ा में फँसे हुए इन्द्रियों के परवश **वयम्**=हम लोग **चकृम**=कर बैठते हैं। इन्द्रिय परवशता में पाप हो ही जाता है, उस समय देवों के प्रति अपने कर्त्तव्यों को हम नहीं कर पाते। २. हे **आदित्याः**=अदिति के पुत्रो! स्वस्थ ज्ञानी पुरुषो! **यूयम्**=आप **तस्मात्**=उस पाप से **ऋतस्य ऋतेन**=यज्ञ-सम्बन्धी सत्य के द्वारा (ऋतम्=यज्ञ, सत्य) **न मुञ्चत**=हमें छुड़ाओ। हम यज्ञ-सम्बन्धी सत्य कर्मों को करते हुए 'देवहेडन' की वृत्ति से मुक्त हों।

भावार्थ—इन्द्रिय परवशता से मनुष्य पाप कर बैठता है। स्वस्थ ज्ञानी पुरुष यज्ञ-सम्बन्धी सत्य-कर्मों में प्रवृत्त करके मनुष्यों को उस पाप से मुक्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यज्ञवाहसः

ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः। यज्ञं यद्यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ २ ॥

१. हे **यजत्राः**=संगतिकरण योग्य व आदरणीय **आदित्याः**=पूर्ण स्वस्थ, ज्ञानी पुरुषो! आप **इह**=इस जीवन में **नः**=हमें **ऋतस्य ऋतेन**=यज्ञ-सम्बन्धी सत्यकर्मों के द्वारा **मुञ्चत**=पाप से मुक्त करो। आपकी संगति व प्रेरणा से हम भी यज्ञशील बनते हुए पापों से मुक्त रहें। २. हे **यज्ञवाहसः**=यज्ञों को वहन करनेवाले देवो! हम **यज्ञम्**=यज्ञ **शिक्षन्तः**=करना चाहते हुए भी **यत्**=जिस पाप के कारण से **न उपशेकिम**=करने में समर्थ नहीं होते, उस पाप से हमें छुड़ाइए। आपकी प्रेरणा व उदाहरण से हम यज्ञों में प्रवृत्त होते हुए अशुभवृत्तियों से बचे रहें।

भावार्थ—आदित्य विद्वान् हमें यज्ञ-सम्बन्धी सत्य-कर्मों के द्वारा पाप से छुड़ाएँ। इस पाप के कारण ही हम चाहते हुए भी यज्ञ नहीं कर पाते।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मेदस्वता स्त्रुचा

मेदस्वता यजमानाः स्त्रुचाज्यानि जुह्वतः।
अकामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोप शेकिम ॥ ३ ॥

१. प्रतिदिन काम में आनेवाला चम्मच चिकनाईवाला हो जाता है। इस चम्मच को यहाँ 'मेदस्वान्'—मेदसवाला कहा है। **मेदस्वता**=इस चिकनाईवाले **स्त्रुचा**=चम्मच में **आज्यानि**=घृतों को **जुह्वतः**=करते हुए **यजमानाः**=यज्ञशील, **अकामाः**=लौकिक फलों की कामना न करनेवाले—कर्तव्य-बुद्धि से यज्ञों को करनेवाले हे **विश्वेदेवाः**=देववृत्ति के सब मनुष्यो! हम भी **वः**=आपके हैं। हमें भी तो आपने अपनी ही भाँति यज्ञशील बनाना था। हम **शिक्षन्तः**=यज्ञ करना चाहते हुए भी, न जाने किस अशुभ प्रभाव से न **उपशेकिम**=यज्ञों को करने में समर्थ नहीं

हो पाते। आप उस वृत्ति से हमें बचाइए और यज्ञ में प्रवृत्त कीजिए।

भावार्थ—देववृत्तिवाले पुरुषों की भाँति हम भी यज्ञशील बनें। सदा यज्ञ करने से हमारे चम्मच घृत की चिकनाईवाले हो जाएँ।

११५. [पञ्चदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जाने व अनजाने हो जानेवाले पाप

यद्विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम्।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वेदेवाः सजोषसः॥ १॥

१. **यत्**=जिस पाप-निमित्त को **विद्वांसः**=जानते हुए और **यत्**=जिस पापनिमित्त को **अविद्वांसः**=न जानते हुए, अर्थात् ज्ञान से वा अज्ञान से **वयम्**=हम **एनांसि**=जिन भी पापों को **चकृम**=कर बैठते हैं, हे **विश्वेदेवाः**=देववृत्ति के सब पुरुषो! **यूयम्**=आप **सजोषसः**=समानरूप से प्रीतिवाले होते हुए **नः**=हमें **तस्मात् मुञ्चत**=उस पाप से छुड़ाइए।

भावार्थ—देवों से उचित प्रेरणा प्राप्त करते हुए हम अशुभ कर्मों से बचें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

एनस्यः

यदि जाग्रद्यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम्। भूतं मा तस्माद्भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम्॥ २॥

१. (एनः पापं प्रियम् अस्य, एनसि साधुर्वा) **एनस्यः**=अज्ञानवश पाप की प्रवृत्तिवाला मैं **यदि जाग्रत्**=यदि जागता हुआ, **यदि स्वपन्**=यदि सोता हुआ **एनः अकरम्**=पाप कर बैठता हूँ तो **तस्मात्**=उस पाप से **मा**=मुझे **भूतं भव्यं च**=इहलोक और परलोक (अयं वै लोको भूतं, असौ भविष्यत्—तै० ब्रा० ३.८.१८.६) इसप्रकार **मुञ्चताम्**=छुड़ाएँ **इव**=जैसे **द्रुपदात्**=पादबन्धनार्थ द्रुम से किसी पशु को छुड़ाते हैं। २. इहलोक व परलोक में प्राप्त होनेवाले पाप के अशुभ परिणाम को सोचता हुआ मैं पाप से मुक्त होने का प्रयत्न करूँ।

भावार्थ—पापवृत्ति के उत्पन्न हो जाने पर सोते-जागते पाप होने लगते हैं। मैं इन पापों के इहलोक और परलोक में होनेवाले अशुभ परिणामों को सोचूँ और पापवृत्ति से बचूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

द्रुपदादिव मुमुचानः

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव। पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः॥ ३॥

१. **विश्वे**=सब देव **मा**=मुझे **एनसः**=पाप से इसप्रकार **शुम्भन्तु**=शुद्ध करें **इव**=जैसेकि कोई **द्रुपदात्**=काष्ठमय पादबन्धन से **मुमुचानः**=छूटता है। मैं पाप से इसीप्रकार छूट जाऊँ **इव**=जैसे **स्विन्नः**=स्वेदयुक्त पुरुष **स्नात्वा**=स्नान करके **मलात्**=मल से पृथक् हो जाता है। **इव**=जैसे **पवित्रेण**=पवन-साधन वस्त्र आदि से **पूतम्**=शुद्ध किया हुआ **आज्यम्**=घृत शुद्ध हो जाता है; इसीप्रकार सब देव मुझे पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—हम पाप से इसप्रकार छूट जाएँ जैसेकि एक पशु खूँटे से, जैसेकि स्विन्न पुरुष स्नान द्वारा स्वेदमल से तथा जैसे छाना हुआ घृत मल से पृथक् हो जाता है।

विशेष—पापों का संहार करनेवाला यह पुरुष 'जाटिकायन' (जट संघाते) कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

११६. [षोडशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—जाटिकायनः ॥ देवता—विवस्वान् ॥ छन्दः—जगती ॥

'यज्ञिय मधुमत्' अन्न

यद्यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया।
वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम्॥ १ ॥

१. **कार्षीवणाः**=कृषिकर्म का सेवन करनेवाले **अन्नविदः न**=अन्न प्राप्त करानेवालों के समान **विद्यया**=कृषिविद्या के अनुसार **निखनन्तः**=भूमि को खोदते हुए, अर्थात् हल आदि चलाकर भूमि में बीजों को बोते हुए **अग्रे**=सर्वप्रथम **यत् यामं चक्रुः**=जिस नियम को कर देते हैं, **तत्**=उस नियमित अंश को निर्धारित कर के रूप में दिये जानेवाले भाग को **वैवस्वते राजनि**=प्रजा में ज्ञान का प्रकाश फैलानेवाले राजा में **जुहोमि**=आहुत करता हूँ। २. **अथ**=अब—कर के रूप में निधारित अंश को दे देने पर **नः**=हमारे लिए **अन्नम्**=यह अन्न **यज्ञियम्**=संगतिकरण योग्य व पवित्र तथा **मधुमत्**=प्रशस्त माधुर्यवाला **अस्तु**=हो।

भावार्थ—हम ज्ञानपूर्वक कृषिकार्य करते हुए राष्ट्र में अन्न की कमी न होने दें। राजा को कर के रूप में उचित अन्नभाग प्राप्त कराके अविशिष्ट यज्ञिय, मधुमत् अन्न का सेवन करें।

ऋषिः—जाटिकायनः ॥ देवता—विवस्वान् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पितृयज्ञावशिष्ट अन्न का सेवन

वैवस्वतः कृणवद्भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति।
मातुर्यदेन इषितं न आगन्यद्वा पिताऽपराद्धो जिहीडे॥ २ ॥

१. हमारे द्वारा उत्पन्न किये गये अन्न में **वैवस्वतः**=ज्ञान-किरणों को फैलानेवाला राजा **भागधेयम्**=भाग को **कृणवत्**=करे, अर्थात् राजा अपने कर-भाग को ग्रहण करे। राजा तो ग्रहण करे ही, राजा के अतिरिक्त हम अपने मान्य व आश्रित व्यक्तियों के लिए भी अन्न-भाग देनेवाले हों। विशेषकर माता-पिता को अन्न-भाग देकर ही बचे हुए को खाएँ। यही पितृयज्ञ कहलाता है। इस पितृयज्ञ को करनेवाला व्यक्ति गतमन्त्र के अनुसार (यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम्) माधुर्योपेत अन्न का सेवन करता है। यह **मधुभागः**=माधुर्योपेत अन्न का सेवन करनेवाला अपने जीवन को **मधुना संसृजाति**=माधुर्य से संसृष्ट कर लेता है। २. इसके विपरीत, अर्थात् पितृयज्ञ के न करने पर **मातुः यत् एनः**=माता के विषय में किया गया जो पाप है, वह **इषितम्**=प्रेरित हुआ हुआ **नः आगन्**=हमें प्राप्त होता है **वा**=अथवा **यत्**=जब यह **पिता अपराद्धः**=पिता हमसे अनादृत होता है—हम पिता को आदरपूर्वक भोजन नहीं कराते तब वह **जिहीडे**=हमारे प्रति क्रोधवाला होता है। हमें माता-पिता के क्रोध का भाजन बनना पड़ता है, इनका अभिशाप हमें लगता है।

भावार्थ—हम राजा के लिए तो उत्पन्न अन्न का भाग दें ही तथा सदा माता-पिता को खिलाकर ही पितृयज्ञ से अवशिष्ट अन्न का ही सेवन करें।

ऋषिः—जाटिकायनः ॥ देवता—विवस्वान् ॥ छन्दः—जगती ॥

अतिथियज्ञावशिष्ट अन्न का सेवन

यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परि भ्रातुः पुत्राच्चेतस एन आगन्।
यावन्तो अस्मान्पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः॥ ३ ॥

१. **यदि**=यदि **इदम्**=यह **मातुः**=माता से **यदि वा**=अथवा यदि **पितुः**=पिता से **नः**=हमें

एनः आगन्=पाप प्राप्त हुआ है, अर्थात् उनका उचित आदर न करने से हमें दोष लगा है। **भ्रातुः**=भ्राता से **परि**=अन्य परिजनों से **पुत्रात्**=पुत्र से तथा **चेतसः**=ज्ञान देनेवाले आचार्य से (चेतयति) हमें पाप प्राप्त हुआ है, अर्थात् इन्हें अन्नभाग न देने से जो दोष हमें लगा है, वह सब अन्न का भाग करनेवाले हमसे दूर हो। २. **यावन्तः**=जितने भी **पितरः**=पालक लोग—हमारे बड़े **अस्मान्**=हमें **सचन्ते**=प्राप्त होते हैं, **तेषां सर्वेषाम्**=उन सबका **मन्युः**=क्रोध **शिवः अस्तु**=शान्त हो (शो तनूकरणे)। हम उनका अन्न आदि द्वारा उचित आदर करें और कभी भी उनके क्रोध के पात्र न हों।

भावार्थ—हम माता-पिता, भाई, पुत्र व आचार्य आदि को खिलाकर बचे हुए को ही खाएँ। अतिथियज्ञ को भी महत्त्व दें। यह यज्ञशेष सेवन हमारे लिए अमृत-सेवन होगा।

विशेष—यज्ञशेष-अमृत का सेवन करनेवाला यह व्यक्ति सब बुराइयों को समाप्त करके 'कौशिक' बनता है (कु+शो तनूकरणे—बुराई को क्षीण करनेवाला)। यही अगले पाँच सूक्तों का ऋषि है।

११७. [सप्तदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौशिकः (अनृणकामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'ऋण' उतारना व 'कर' देना

अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि यमस्य येन बलिना चरामि।
इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान्विचृतं वेत्थ सर्वान्॥ १॥

१. **अपमित्यम्**=(अपमातव्यं, अपाकर्त्तव्यम्) अपाकर्त्तव्य—फिर लौटाने योग्य जो धनादि ऋणरूप में उत्तमर्ण से लिया है, परन्तु **अप्रतीत्तम्**=फिर उसे लौटाया नहीं है, ऐसा **यत्**=जो ऋण मैं **अस्मि**=(असामि-अस-ग्रहणे) ग्रहण करता हूँ और **यमस्य**=उस नियामक राजा के **येन बलिना**=(भागधेयः करो बलिः) जिस देय कर से **चरामि**=स्वयं अपना भोजन करता हूँ—कर न देकर खा लेता हूँ, हे **अग्ने**=प्रभो! मैं आपके अनुग्रह से **इदम्**=अब **अनृणः**=उस ऋण से ऋणरहित **भवामि**=होता हूँ। २. हे प्रभो! **त्वम्**=आप उन **सर्वान्**=सब **पाशान्**=ऋण के कारण होनेवाले पाशों को—बन्धनों को **विचृतम्**=काटना **वेत्थ**=जानते हो। आप मुझे ऋण से अनृण होने की प्रेरणा व क्षमता देते हुए ऋणरहित करते हो।

भावार्थ—हम उत्तमर्ण से लिये गये ऋण को चुकाने का पूरा ध्यान रक्खें तथा राजा के लिए देय कर अवश्य दें।

ऋषिः—**कौशिकः (अनृणकामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

जीवनकाल में ही ऋण चुकाना

इहैव सन्तः प्रति दद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो नि हराम एनत्।
अपमित्य धान्यं यज्जघासाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि॥ २॥

१. **इह एव सन्तः**=इस लोक में होते हुए ही हम **एनत् प्रति दद्मः**=इस ऋण को उत्तमर्ण के लिए प्रत्यर्पित कर देते हैं। **जीवाः**=जीते हुए ही हम—अपने जीवनकाल में ही **जीवेभ्यः**=जीवित उत्तमर्णों के लिए देह त्यागने से पहले ही **एनत् निहरामः**=इस ऋण को नियम से चुका देते हैं। २. **धान्यम्**=व्रीहि, यवादि को उत्तमर्ण से **अपमित्य**=उधार लेकर **यत् अहं जघास**=जो मैंने खाया है, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **इदम्**=अब (इदानीन् तत्=तस्मात्) उस परकीय धान्य-भक्षण से **अनृणः**=ऋणरहित **भवामि**=होता हूँ। ऋण चुकाने के कारण नरकपात से मैं बच जाता हूँ।

भावार्थ—हम लिये हुए ऋण को जीवनकाल में ही चुकाने का प्रयत्न करें। ऋण न चुकाना नरक-पात का कारण बनता है।

ऋषिः—**कौशिकः (अनृणकामः)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तीनों लोकों में अनृण

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन्तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान्पथो अनृणा आ क्षियेम॥ ३॥

१. हम **अस्मिन्**=इस ब्रह्मचर्याश्रम में—ब्रह्मचर्यपूर्वक स्वाध्याय में तत्पर होते हुए **अनृणाः**=ऋषिऋण से अनृण हों। इसके पश्चात् अगले **परस्मिन्**=उत्कृष्ट गृहस्थाश्रम में सन्तानों का उत्तमता से पालन करते हुए **अनृणाः**=पितृऋण से अनृण होने के लिए यत्नशील हों, फिर **तृतीये लोके**=वानप्रस्थरूप तृतीय स्थान में भी **अनृणाः स्याम**=यज्ञादि उत्तम कर्म करते हुए देवऋण से मुक्त हों। २. **ये देवयानाः**=जो देवों के मार्ग हैं **च**=और जो **पितृयाणाः लोकाः**=पितृयाण लोक हैं—जिन मार्गों से रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त लोग चलते हैं, उन **सर्वान्**=सब **पथः**=मार्गों को **अनृणाः आक्षियेम**=हम ऋणरहित होकर ही आक्रान्त करें।

भावार्थ—हम सर्वप्रथम ब्रह्मचर्याश्रम में ऋषिऋण से अनृण होने के लिए यत्नशील हों। गृहस्थ में सन्तान-पालन द्वारा पितृऋण को चुकाएँ और वानप्रस्थ में यज्ञों के द्वारा देवऋण को उतार दें। अब अनृण होकर 'देवयान व पितृयाण' मार्गों का आक्रमण करें।

११८. [अष्टादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौशिकः (अनृणकामः)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'उग्रंपश्ये उग्रजितौ' अप्सरसौ

यद्धस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाण्यक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः।
उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदद्याप्सरसावनु दत्तामृणं नः॥ १॥

१. **यत्**=जो **हस्ताभ्याम्**=(इन्द्रियाणामुपलक्षणमेतत्) हाथ-पाँव आदि इन्द्रियों से **किल्बिषाणि**=पाप **चकृम**=हम कर बैठते हैं, **अक्षाणाम्**=इन्द्रियों के **गत्नुम्**=गन्तव्य शब्द-स्पर्शादि विषयों को **उपलिप्समानाः**=प्राप्त करने की इच्छा करते हुए जो ऋण आदि ले-बैठे हैं, हे **उग्रंपश्ये**=(High, noble) उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करानेवाली ज्ञानेन्द्रियो! तथा **उग्रजितौ**=उत्कृष्ट कर्मों का विजय करानेवाली कर्मेन्द्रियो! **अप्सरसौ**=अपने-अपने कार्यों में विचरती हुई आप दोनों **अद्य**=अब **नः**=हमारे **तत्**=उपर्युक्त पाप को व **ऋणम्**=ऋण को **अनुदत्ताम्**=आनुकूल्य से उत्तमर्णों के लिए दिला दो।

भावार्थ—विषयों की ओर आकृष्ट हुई इन्द्रियों से हम पाप कर बैठते हैं, तभी हम ऋण आदि के बोझ से भी दब जाते हैं। प्रभुकृपा से हमारी ज्ञान व कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों में उचितरूप से वर्तती हुई हमें इस योग्य बनाएँ कि हम लिये हुए ऋण को उत्तमर्णों को लौटाकर शुभ मनवाले ही बनें।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अस्मान् अधिरज्जुः न आयत्

उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत्किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत्।
ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत्॥ २॥

१. हे **उग्रंपश्ये**=उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करानेवाली ज्ञानेन्द्रियो! हे **राष्ट्रभृत्**=इस शरीर-राष्ट्र का भरण करनेवाली कर्मेन्द्रियो! जो हमारे द्वारा किये गये **किल्बिषाणि**=पाप हैं, **यत्**=और जो **अक्षवृत्तम्**=इन्द्रियों से पाप निष्पन्न हो गया है, **नः**=हमारे **एतत्**=इस ऋण ले-लेने आदि सब पापों को **अनुदत्तम्**=आनुकूल्येण निवारित करो। ऋणादि को लौटाकर आगे से हम इस मार्ग पर न जाने का निश्चय करें। २. **ऋणात्**=(भावप्रधानो निर्देशः—ऋणित्वात्) ऋणी होने के कारण **नः**=हमें **यमस्य लोके**=पुण्य-पापानुसार दण्ड देनेवाले सर्वनियन्ता प्रभु के इस लोक में **ऋणम् एर्त्समानः**=ऋण को सदा बढ़ाने की इच्छा करता हुआ यह उत्तमर्ण (ऋध+सन्) **अधिरज्जुः**=हमारे बन्धन के लिए पाशहस्त होकर न **आयत्**=प्राप्त न हो। हम इसके ऋण को न बढ़ने दें और पिछले ऋण को लौटाकर पाप-निवृत्त हो जाएँ।

भावार्थ—इन्द्रियों के विषय-प्रवण होने पर मनुष्य ऋण आदि लेने को बाध्य होता है। उन्हें न चुकाने पर बन्धन में पड़ता है। प्रभुकृपा से हम इस मार्ग से दूर रहें।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अनिरादर

यस्मा ऋणं यस्य जायामुपैमि यं याचमानो अभ्यैमि देवाः।
ते वाचं वादिषुर्मोत्तरां मद्देवपत्नी अप्सरसावधीतम्॥ ३॥

१. **यस्मै**=जिस उत्तमर्ण के लिए **ऋणम्**=मैं ऋण धारण करता हूँ, **यस्य जायाम् उपैमि**=जिसकी पत्नी को अनुनय-विनय के लिए मैं प्राप्त होता हूँ—ऋण के लिए खुशामद-सी करता हूँ। अथवा **यम्**=जिस उत्तमर्ण को **याचमानः**=इष्ट धन के लिए प्रार्थना करता हुआ हे **देवाः**=देवो! **अभि आ एमि**=मैं सम्मुख प्राप्त होता हूँ, **ते**=वे **उत्तरां वाचम् मा वादिषुः**=उलटी—प्रतिकूल वाणी को न बोलें। मैं कभी विषयासक्त होकर ऋण लौटाने में असमर्थ होकर उत्तमर्णों के द्वारा किये जानेवाले निरादर का पात्र न होऊँ। २. हे **देवपत्नी**=आत्मा की पत्नीरूप ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप **अप्सरसौ**=अप्सराओ (कर्मों में व्याप्त होनेवाली इन्द्रियो)! आप **मत् अधीतम्**=मेरे इस उपर्युक्त विज्ञान को अच्छी प्रकार समझ लो—चित्त में धारण कर लो।

भावार्थ—विषयासक्ति हमें कभी ऋणपंक में न डुबा दे। हम ऋण लौटाने की अक्षमतावाले होकर कभी निरादर के पात्र न हो जाएँ।

११९. [एकोनविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ऋण न लेना

यददीव्यन्नृणमहं कृणोम्यदास्यन्नग्न उत संगृणामि।
वैश्वानरो नो अधिपा वसिष्ठ उदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम्॥ १॥

१. **यत्**=जो **अदीव्यन्**=जीवकोपार्जन के लिए व्यवहार (कार्य) न करता हुआ **अहम्**=मैं **ऋणं कृणोमि**=अपने ऊपर ऋण कर लेता हूँ। काम न करने पर खाने के लिए ऋण तो लेना ही पड़ता है, परन्तु यह ठीक नहीं। चाहिए तो यही कि पुरुषार्थ से ही धनार्जन किया जाए, किन्तु ऋण लेकर हे **अग्ने**=परमात्मन्! **उत**=यदि मैं **अदास्यन्**=उसे न लौटाता हुआ **संगृणामि**=केवल लौटाने की प्रतिज्ञा ही करता रहता हूँ तो **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों को हित करनेवाला **अधिपा**=अधिष्ठातृरूपेण पालन करनेवाला **वसिष्ठः**=सबको बसानेवाला वह प्रभु **नः**=हमें **इत्**=निश्चय से **उत् नयाति**=इन अशुभवृत्तियों से बाहर (out) ले-चलता है और **सुकृतस्य लोकम्**=पुण्य के

प्रकाश को प्राप्त कराता है। २. 'पुरुषार्थ न करके ऋणी हो जाना' प्रथम पाप है और उस ऋण को न उतारना दूसरा। प्रभु हमें इन पापों से ऊपर उठाएँ। हमें पुण्य का प्रकाश प्राप्त हो।

भावार्थ—हम पुरुषार्थ से धनार्जन करते हुए अपने पोषण की व्यवस्था करें। कभी ऋण ले-भी लें तो उसे विश्वासपात्रतापूर्वक लौटानेवाले बनें। प्रभुकृपा से हम पुण्य के मार्ग का ही आक्रमण करें।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञानरुचिता

वैश्वानराय प्रति वेदयामि यद्यृणं संगरो देवतासु।
स एतान्पाशान्विचृतं वेद सर्वानथ पक्वेन सह सं भवेम॥ २॥

१. **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभु के चरणों में **प्रतिवेदयामि**=निवेदन करता हूँ कि **यदि ऋणम्**=यदि मैं अकर्मण्यतावश ऋण लेने के लिए बाधित होता हूँ तथा **देवतासु संगरः**=देवताओं के विषय में प्रतिज्ञा ही करता हूँ—उनके प्रति कर्त्तव्यों का ठीक से पालन नहीं करता तो **सः**=वह वैश्वानर प्रभु ही **एतान् सर्वान् पाशान्**=लौकिक व वैदिक ऋणरूप इन सब पाशों को **विचृतं वेद**=विश्लिष्ट करना जानते हैं—प्रभु ही मुझे इन पापों से मुक्त कर सकते हैं। २. प्रभुकृपा से **अथ**=अब लौकिक व वैदिक ऋण से अनृण होकर हम **पक्वेन सह**=जीवन को परिपक्व करनेवाले ज्ञान के साथ **संभवेम**=सदा निवास करें। हम अपने को व्यर्थ की विषय-वासनाओं में व भोगविलास के जीवन में न डलकर ज्ञान की रुचिवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु-चरणों में मनुष्य की प्रार्थना यही हो कि हम अपने को लौकिक व वैदिक कर्मों के बन्धन में न डाल बैठें। सदा ज्ञान की रुचिवाले होकर ऋणों को ठीक से चुकाते रहें।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु-स्मरण व पाप-शोधन

वैश्वानरः पविता मा पुनातु यत्संगरमभिधावाम्याशाम्।
अनाजानन्मनसा याचमानो यत्तत्रैनो अप तत्सुवामि॥ ३॥

१. **पविता**=हमारे जीवनों को शुद्ध बनानेवाला **वैश्वानरः**=सबका हित करनेवाला प्रभु **मा पुनातु**=मुझे पवित्र जीवनवाला बनाए। **अनाजानन्**=हिताहित विभाग को न जानता हुआ अथवा कर्त्तव्याकर्त्तव्य को ठीक से न समझता हुआ **यत्**=जो मैं **संगरम् अभिधावामि**=ऋणापकरण-विषयक प्रतिज्ञा की ओर ही दौड़ता हूँ। 'उस दिन लौटा दूँगा', ऐसी प्रतिज्ञाएँ ही करता रहता हूँ, लौटाता नहीं। इसप्रकार **आशाम्**=(धावामि) मैं उन उत्तमर्णों की आशा पर पानी फेर देता हूँ (धाव् शुद्धौ), उनकी आशाओं का सफ़ाया ही कर डालता हूँ। मैं **मनसा**=मन से **याचमानः**=ऐहिक सुखों की ही याचना करता रहता हूँ। ऐहिक सुखों में फँसने के कारण ही तो ऋणी बनता हूँ और ऋणशोधन में समर्थ नहीं होता। २. हे प्रभो! आपसे शक्ति पाकर **तत्र**=उस वैषयिक सुखासक्ति में और ऋण का आदान करने में **यत्**=जो **एनः**=पाप है **तत्**=उस पाप को **अपसुवामि**=मैं अपने से दूर प्रेरित करता हूँ। हे प्रभो! मेरे इस पापमय जीवन को आपको ही शुद्ध करना है।

भावार्थ—'ऋण न चुकाकर यूँ ही प्रतिज्ञा करते रहना, उत्तमर्ण की आशा पर पानी फेर देना, ऐहिक सुखों में फँसे रहना' यह पाप का मार्ग है। प्रभु-प्रेरणा से मैं इस मार्ग में

न जाकर अपने जीवन को शुद्ध बनाऊँ।

१२०. [विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अन्तरिक्षादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अग्निहोत्र व उत्तम जीवन

यद॒न्तरि॑क्षं पृथि॒वीमु॒त द्यां यन्मा॒तरं॑ पि॒तरं॑ वा जिहिंसि॒म।
अ॒यं तस्मा॒द्गार्ह॑पत्यो नो अ॒ग्निरुदिन्न॑याति सुकृ॒तस्य॑ लो॒कम्॥ १ ॥

१. **यत्**=जो **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **पृथिवीम्**=शरीररूप पृथिवी को **उत**=और **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **जिहिंसिम**=हम हिंसित करते हैं। इन्हें ठीक न रखने के द्वारा इनका हिंसन करते हैं, **वा**=तथा **यत्**=जो **मातरं पितरम्**=अपने माता-पिता को हिंसित करते हैं—उनका उचित आदर व ध्यान नहीं करते, **अयं गार्हपत्यः अग्निः**=यह हमारे घरों का रक्षक यज्ञ-अग्नि **नः**=हमें **तस्मात्**=उस पाप से दूर करके **उत् इत्**=इस पाप से बाहर (out) करके निश्चय से **सुकृतस्य लोकं नयाति**=पुण्य के लोकों में प्राप्त कराता है।

भावार्थ—यह अग्निहोत्र वायुमण्डल की शुद्धि के द्वारा, रोगकृमियों के विनाश के द्वारा तथा सौमनस्य प्राप्त कराने के द्वारा हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क को उत्तम बनाता है और हमें उत्तमवृत्ति का बनाकर माता-पिता का आदर करनेवाला बनाता है।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अन्तरिक्षादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

माता-पिता का आदर

भूमि॑र्मा॒तादि॑ति॒र्नो ज॒नित्रं॒ भ्राता॒न्तरि॑क्षम॒भिश॑स्त्या नः।
द्यौर्न॑: पि॒ता पित्र्या॒च्छं भ॑वाति जा॒मिमृ॒त्वा माव॑ पत्सि लो॒कात्॥ २ ॥

१. **भूमिः**=यह पृथिवी **माता**=हमारी माता है, **अदितिः**=अदीना देवमाता—कभी क्षीण न होनेवाली सूर्यादि देवों की उपादानभूत यह प्रकृति **नः जनित्रम्**=हमारे शरीर को जन्म देनेवाली है, **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक वृष्टि आदि के द्वारा भरण करने से **भ्राता**=भाई है। **द्यौः**=द्युलोक **नः पिताः**=हमारा पिता है। ये सब **अभिशस्त्या**=अभिशंसन से—मिथ्यापवादजनित पाप से **नः**=हमें बचाकर **शं भवाति**=शान्ति प्राप्त करानेवाले हों। २. हे प्रभो! **जामिम् ऋत्वा**=रिश्तेदारों को प्राप्त करके—उनके सम्पर्क में आकर मैं **पित्र्यात् लोकात् मा अवपत्सि**=पिता से प्राप्त होनेवाले प्रकाश से कभी पृथक् न होऊँ, अर्थात् किन्हीं भी बन्धुओं की बातों में आकर पिता की अवज्ञा करनेवाला न बन जाऊँ।

भावार्थ—त्रिलोकी हमें मिथ्यापवादजनित पापों से बचाकर शान्ति प्राप्त करानेवाली हो। हम बन्धुवर्ग की बातों में आकर माता-पिता की अवज्ञा करनेवाले न बन जाएँ।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अन्तरिक्षादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वर्ग-तुल्य गृह

यत्रा॑ सु॒हार्द॑: सु॒कृतो॒ मद॑न्ति वि॒हाय॒ रोगं॑ त॒न्व१ः स्वायाः॑।
अश्लो॑णा॒ अङ्गै॒रह्रु॑ताः स्व॒र्गे तत्र॑ पश्येम पि॒तरौ॑ च पु॒त्रान्॥ ३ ॥

१. **यत्र**=जिस गृह में **सुहार्दः**=शोभन हृदयोंवाले, **सुकृतः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले लोग **स्वायाः तन्वः**=अपने शरीर के **रोगम्**=पापमूलभूत ज्वरादि को **विहाय**=छोड़कर **मदन्ति**=दुख से असम्भिन्न सुख के अनुभव में आनन्दित होते हैं, वही तो स्वर्ग है। वह गृहस्थ स्वर्ग है जहाँ

लोगों के हृदय पवित्र हैं, जहाँ लोग यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे हुए हैं और जहाँ उनके शरीरों में रोग नहीं है। २. हमें **अङ्गैः अश्लोणाः**=अङ्गों से अविकृत होते हुए—कुष्ठ आदि रोगों से रहित **अह्रुताः**=अकुटिल गतिवाले व सरल स्वभाववाले होते हुए **तत्र स्वर्गे**=वहाँ स्वर्ग-तुल्य घर में **पितरौ**=माता-पिता को **च**=और **पुत्रान्**=पुत्रों को **पश्येम**=देखें। माता-पिता का भी ध्यान करें, उनके भोजन आदि की व्यवस्था में गड़बड़ न हो और पुत्रों के शिक्षण-दीक्षण में त्रुटि न रह जाए।

भावार्थ—स्वर्ग-तुल्य गृह वह है जहाँ (क) सबके हृदय पवित्र हैं, (ख) सब यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले हैं, (ग) सबके शरीर नीरोग हैं, (घ) अङ्ग अविकृत हैं, (ङ) स्वभाव सरल व अकुटिल हैं, (च) माता-पिता का आदर है और (छ) सन्तानों का शिक्षण-दीक्षण ठीक है।

१२१. [एकविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

बन्धन-मोक्ष

विषाणा पाशान्वि ष्याध्यस्मद्य उत्तमा अधमा वारुणा ये।
दुःष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्॥ १॥

१. हे प्रभो! **वि-षाणा**=(सन् संभक्तौ) विशिष्ट सम्भजन (उपासन) के द्वारा **पाशान्**=विषयवासनाओं के बन्धनों को **अस्मत्**=हमसे **अधिविष्य**=पृथक् कीजिए **ये**=जो **उत्तमाः**=उत्कृष्ट 'ज्ञानसङ्ग व सुखसङ्ग' रूप सात्त्विक बन्धन हैं, **अधमाः**=जो निकृष्ट 'प्रमाद, आलस्य व निद्रा' रूप तामस् बन्धन हैं, तथा **ये**=जो **वारुणाः**=हमें उत्तम कर्मों से रोककर तृष्णासङ्ग के कारण अन्याय से अर्थसंग्रहों में प्रवृत्त करते हैं, उन राजस् बन्धनों से भी हमें मुक्त कीजिए। २. उपासना करते हुए हम जब बन्धनों से मुक्त हों तब **अस्मत्**=हमसे **दुःष्वप्न्यम्**=अशुभ स्वप्नों के कारणभूत **दुरितम्**=अशुभाचरणों को **निष्व**=पृथक् कीजिए (षू प्रेरणे)। **अथ**=अब-पाशविमोचन के पश्चात् **सुकृतस्य**=पुण्य के **लोकम्**=प्रकाश को **गच्छेम**=प्राप्त हों—सदा पुण्य कर्मों को करते हुए प्रकाशमय लोक में रहनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु की उपासना के द्वारा हम 'सात्त्विक, राजस् व तामस्' बन्धनों से ऊपर उठें, अशुभ स्वप्नों के कारणभूत दुराचरणों से दूर होकर पुण्य से प्राप्त प्रकाशमयलोक में निवास करें।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गार्हपत्य अग्नि द्वारा सुकृत के लोक में

यद्दारुणि बध्यसे यच्च रज्ज्वां यद्भूम्यां बध्यसे यच्च वाचा।
अयं तस्माद्गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम्॥ २॥

१. **यत्**=जो तू **दारुणि**=(ore) इन सोना-चाँदी आदि धातुओं में **बध्यसे**=बद्ध हो जाता है—सोने व चाँदी के मोह में फँस जाता है **च**=और **यत्**=जो **रज्ज्वाम्**=बालों के गुम्फनविशेषों में (a lock of braided hair) आसक्त हो जाता है। एक युवति नाना प्रकार से बालों का गुम्फन करती हुई अपने को सुन्दर बनाने में आसक्त हो जाती है। **यत् भूम्यां बध्यसे**=जो तू भूमि में बाँधा जाता है, अधिकाधिक भूमि के स्वामित्व के लिए लालायित हो जाता है, **च**=और **यत्**=जो **वाचा**=वाणी से तू बद्ध होता है—बोलने का व्यसन लग जाता है—मौन रहना कठिन हो जाता है, **अयम्**=यह **गार्हपत्यः अग्निः**=गृहों का रक्षण करनेवाली यज्ञिय अग्नि **तस्मात्**=उस सब

बन्धन से **नः**=हमें **इत्**=निश्चय से **उन्नयाति**=बाहर प्राप्त कराता है और **सुकृतस्य लोकम्**=हमें पुण्य के लोक में ले-चलता है।

भावार्थ—यज्ञिय वृत्ति होने पर हमारे 'सोने-चाँदी, बालों का सौन्दर्य, भूमि-संग्रह व बहुत बोलने' आदि के बन्धन विनष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विचृतौ नाम तारके

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके।
प्रेहामृतस्य यच्छतां प्रैतु बद्धकमोचनम्॥ ३॥

१. हमारे जीवनों में **भगवती**=उत्तम सौजन्य को प्राप्त करानेवाली **विचृतौ नाम**=पाप-बन्धन को विच्छिन्न करनेवाली **तारके**=पराविद्या व अपराविद्यारूप ताराएँ **उदगाताम्**=उदित हों। ये तारे **इह**=इस जीवन में हमें **अमृतस्य प्रयच्छताम्**=अमृत प्रदान करें। अपराविद्या से हम अभ्युदय को प्राप्त करते हुए दरिद्रता व रोगादिरूप मृत्युओं से बचें तथा पराविद्या से हम निष्काम कर्म करते हुए जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ पाएँ—निःश्रेयस को प्राप्त करनेवाले हों। हमें **बद्धकमोचनं प्र एतु**=कुत्सित बन्धनों से मोक्ष प्राप्त हो। हम विषय-वासनाओं के बन्धन से ऊपर उठें।

भावार्थ—हम पराविद्या व अपराविद्या के नक्षत्रों को अपने मस्तिष्क-गगन में उदित करते हुए बन्धनों से मुक्त हों और अमृतत्व को प्राप्त करें।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

बालक की भाँति निर्दोष

वि जिहीष्व लोकं कृणु बन्धान्मुञ्चासि बद्धकम्।
योन्याइव प्रच्युतो गर्भः पथः सर्वाँ अनु क्षिय॥ ४॥

१. हे मनुष्य! तू **विजिहीष्व**=विशिष्टरूप से अपने कर्त्तव्यकर्मों में गतिवाला हो। **लोकं कृणु**=अपने जीवन को प्रकाशमय बना। **बद्धकम्**=कुत्सित विषयों में बद्ध इस मन को **बन्धात् मुञ्चासि**=तू बन्धन से मुक्त करता है। २. **योन्याः**=माता के गर्भाशय से **प्रच्युतः**=बाहर आये हुए **गर्भः इव**=गर्भस्थ बालक की भाँति **सर्वान् पथः**=सब मार्गों को **अनुक्षिय**=अनुकूलता से आक्रान्त कर। एक बालक की भाँति निर्दोषभाव (As innocent as a child) से मार्गों का आक्रमण कर।

भावार्थ—हम मन को विषयों से मुक्त करते हुए ज्ञान के प्रकाश में कर्त्तव्य-मार्गों पर चलें। उत्पन्न हुए-हुए बालक की भाँति हमारा जीवन निर्दोष हो।

विशेष—ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाला यह 'भृगु' बनता है। अगले दो सूक्त इसी के हैं।

१२२. [द्वाविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

नियम से अग्निहोत्र करना

एतं भागं परि ददामि विद्वान्विश्वकर्मन्प्रथमजा ऋतस्य।
अस्माभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु सं तरेम॥ १॥

१. हे **विश्वकर्मन्**=ब्रह्माण्ड के निर्माता प्रभो! आप ही **ऋतस्य प्रथमजाः**=सत्य वेदवाणी का सृष्टि के आरम्भ में प्रादुर्भाव करनेवाले हैं। **विद्वान्**=इस बात को जानता हुआ मैं **एतं भागं परिददामि**=इस अपने अर्जित धन के अंश को हविरूप से वायु आदि देवों के लिए देता हूँ। ये यज्ञ वेद के 'जरामर्य सत्र' हैं। इनसे तो जीवन में कभी छुटकारा होता ही नहीं। २. इसप्रकार **अस्माभिः दत्तम्**=हमारे द्वारा तो यह भाग दिया ही गया है और हमने देवऋण से अनृण होने का प्रयत्न किया है। अब **जरसः परस्तात्**=(देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा। तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति) जरा के पश्चात्—दीर्घजीवन प्राप्त करके देहान्तर प्राप्त होने पर भी **अच्छिन्नं तन्तुम् अनु**=अविच्छिन्न पुत्र-पौत्रादिलक्षण सन्तान-तन्तु में अनुप्रविष्ट होकर (तायते कुलम् अनेनेति तन्तुः) **सन्तरेम**=यज्ञों द्वारा देवऋण को तैरनेवाले बनें, अर्थात् हमारे वंश में यह यज्ञ की परिपाटी बनी ही रहे।

भावार्थ—हम आजीवन अग्निहोत्र को अपनाते हैं। मृत्यु होने पर भी सन्तानों में अनुप्रविष्ट होकर इस देवऋण से अनृण होने का प्रयत्न करते हैं, अर्थात् हमारे वंश में यह यज्ञ अविच्छिन्नरूप में चलता ही है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

भूतयज्ञ

तुतं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दुत्तं पित्र्यमायनेन।
अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव॥ २॥

१. **येषाम्**=जिनका **पित्र्यम्**=पिता से प्राप्त धन **आयनेन**=(आ+अय गतौ) आगम—वेदशास्त्र के अनुसार यज्ञों में **दत्तम्**=दिया गया है, ऐसे **एके**=विलक्षण **पुरुषं ततं तन्तुम् अनु**=विस्तृत पुत्र-पौत्रादिलक्षण सन्तान-तन्तु में प्रविष्ट होकर **तरन्ति**=इन ऋणों से अनृण हो ही जाते हैं। पिता से प्राप्त धन को विलास में खर्च न करके जो वेदोपदिष्ट यज्ञादि में विनियुक्त करते हैं, वे सन्तानों में अनुप्रविष्ट होकर भी इन ऋणों से तरने का ध्यान रखते हैं। २. **एके**=कई अबन्धु=(अबन्धवे) अनाथों के लिए **ददतः**=देते हुए और **प्रयच्छन्तः**=खूब ही देनेवाले होते हैं और इसप्रकार **चेत्**=यदि वे **दातुं शिक्षान्**=देने के लिए समर्थ होने की इच्छा करते हैं, अर्थात् यदि उनकी इन अनाथों के पालने की वृत्ति बनी रहती है तो उनका **सः स्वर्गः एव**=वह भूतयज्ञ स्वर्ग ही है, अर्थात् इस भूतयज्ञ को करने से उनका जीवन स्वर्ग का जीवन बना रहा है—न व्यसन आते हैं, न रोग। वे जीवन में अमर (नीरोग बने रहते हैं)।

भावार्थ—हम पिता से प्राप्त धनों को यज्ञों में ही विनियुक्त करें। यदि उसे विलास में व्यय करेंगे तो सन्तानों की वृत्ति भी विलासी ही बनेगी और यज्ञ विच्छन्न हो जाएँगे। अनाथों के हित के लिए देते हुए और इस दान के लिए सदा सशक्त होने की इच्छा करते हुए हम स्वर्गोपम सुख को अनुभव करते हैं। ऐसे जीवन में न व्यसन होते हैं, न रोग। यही भूतयज्ञ है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अतिथियज्ञ व देवयज्ञ

अन्वारभेथामनुसंरभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते।
यद्वां पुक्वं परिविष्टमुग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम्॥ ३॥

१. हे **दम्पती**=पति-पत्नी! आप दोनों **अनुआरभेथाम्**=वेद के आदेश के अनुसार इन यज्ञों का प्रारम्भ करो, **अनुसंरभेथाम्**=आरम्भ करके इन यज्ञों में लगे रहो। इन यज्ञों को आरम्भ करना,

आरम्भ किये हुए यज्ञों का परित्याग सर्वथा अनुचित है। **एतं लोकम्**=यज्ञादि से प्राप्य इस स्वर्गलोक को **श्रद्दधानाः सचन्ते**=श्रद्धावाले—आस्तिक बुद्धिवाले लोग ही सेवन करते हैं, अतः इन यज्ञों में तुम्हारी श्रद्धा बनी ही रहे। आप दोनों (दम्पती) भी श्रद्धावाले बनो और **यत् वां पक्वम्**=आपका जो अन्न अतिथियज्ञ के लिए परिपक्व होता है तथा जो **अग्नौ परिविष्टम्**=हविरूप में अग्नि में प्रक्षिप्त होता है **तस्य**=उस देवयज्ञ और अतिथियज्ञ के **गुप्तये**=रक्षण के लिए **संश्रयेथाम्**=मिलकर उत्तम कर्मों का सेवन करनेवाले बनो। इन अतिथि व देवयज्ञों को करते हुए आप संसार के विषयों में बद्ध होने से बचे रहोगे और अजर व अमर बनकर स्वर्गोपम जीवन को प्राप्त करोगे।

भावार्थ—घर में पति-पत्नी यज्ञों का प्रारम्भ करें। प्रारम्भ किये हुए यज्ञों का त्याग कभी न करें। अतिथि-यज्ञ व देवयज्ञ को सुरक्षित रखते हुए वे सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्रभु-उपासना के साथ यज्ञमय जीवन

यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तमन्वारोहामि तपसा सयोनिः।
उपहूता अग्ने जरसः परस्तात्तृतीये नाके सधमादं मदेम॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! मैं **मनसा**=मनन—विचार के साथ तथा **तपसा**=तप के साथ **सयोनिः**=समान स्थान में निवास करता हुआ **यन्तम्**=जीवन में निरन्तर चलते हुए **बृहन्तम्**=वृद्धि के कारणभूत **यज्ञम् अनु**=यज्ञ के अनुसार **आरोहामि**=ऊपरले और ऊपरले लोक में आरोहण करता हूँ—**पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहं, अन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्**=मननशील व तपस्वी बनकर मनुष्य यज्ञों में प्रवृत्त होता है और उत्कृष्ट गति को प्राप्त करता है। ये यज्ञ उसकी वृद्धि—उन्नति का कारण बनते हैं। २. हे परमात्मन्! इसप्रकार यज्ञशील बनकर हम **उपहूताः**=आपकी पुकार करते हुए (उपहूतम् अस्य अस्ति इति उपहूतः) आपकी उपासना करते हुए **जरसः परस्तात्**=बुढ़ापे की समाप्ति पर **तृतीये नाके**=प्रकृति व जीवन के क्षेत्र से ऊपर उठकर परमात्मरूप तृतीय मोक्षलोक में (न अकं दुःखम् अस्मिन् इति) **सधमादं मदेम**=आपके साथ आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—प्रभु की उपासना के साथ यज्ञमय जीवन मोक्ष का साधक है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

कामधुक् यज्ञ

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक्सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे॥ ५॥

१. यज्ञों में ऋत्विजों का वरण करता हुआ यजमान कहता है कि **इमाः**=ये जल जिन्हें कि मैं आपके वरण के समय आपके हाथ धुलाता हुआ **ब्रह्मणां हस्तेषु**=इन चारों आर्षेय ब्राह्मण ऋत्विजों के हाथों में **पृथक्**=अलग-अलग **प्रसादयामि**=प्रक्षालन के हेतु स्थापित करता हूँ, **शुद्धाः**=शुद्ध हैं, **पूताः**=पवित्र हैं, अतएव **योषितः**=(युष्यन्ते, युष सेवायाम्) सेवनीय हैं, **यज्ञियाः**=यज्ञ के योग्य हैं—पवित्र कर्म में उपयोग के योग्य हैं। २. **अहम्**=मैं **यत्कामः**=जिस कामनावाला होता हुआ **वः**=आपके हाथों में **इदम्**=इस जल को **अभिषिञ्चामि**=अभिषिक्त करता हूँ और आपके द्वारा इस यज्ञ को पूर्ण करता हूँ, **सः**=वह **मरुत्वान् इन्द्रः**=प्रशस्त प्राणशक्ति को प्राप्त करानेवाला, सब शत्रुओं का विनाशक प्रभु **तत् मे ददातु**=उस कामना का मुझे देनेवाला

हो—मेरी उस इच्छा को पूर्ण करे।

भावार्थ—पवित्र होकर हम जिस कामना से यज्ञ करते हैं, हमारी उस कामना को प्रभु पूर्ण करते ही हैं।

१२३. [त्रयोविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञरूप शेवधि

एतं सधस्थाः परि वो ददामि यं शेवधिमावहाज्जातवेदाः।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ति तं स्म जानीत परमे व्योमन्॥ १॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **सधस्थाः**=यज्ञवेदि पर मिलकर बैठनेवाले यज्ञशील लोगो! **एतम्**=इस यज्ञ को **वः परिददामि**=तुम्हें देता हूँ। उस यज्ञ को तुम्हारे लिए देता हूँ **तम्**=जिस यज्ञरूप **शेवधिम्**=कोश को **जातवेदाः**=यह यज्ञाग्नि (जातं वेदः—धनं यस्मात्) **आवहात्**=तुम्हारे लिए प्राप्त कराता है। यज्ञ एक कोश है, क्योंकि इसी से पर्जन्यों की उत्पत्ति होकर विविध अन्नों का उत्पादन होगा। २. यह **यजमानः**=यज्ञशील पुरुष **स्वस्ति अनु आगन्ता**=क्रमशः अधिकाधिक कल्याण को प्राप्त होगा। हे यज्ञशील पुरुषो! तुम **तम्**=उस मुझे (परमात्मा को) **परमे व्योमन् जानीत स्म**=इस परम आकाश में सर्वत्र व्याप्त जानो।

भावार्थ—यज्ञ एक शेवधि—कोश है। यज्ञशील पुरुष उत्तरोत्तर कल्याण को प्राप्त होता है। यह प्रभु को जाननेवाला बनता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञों से कल्याण व प्रभु-प्राप्ति

जानीत स्मैनं परमे व्योमन्देवाः सधस्था विद लोकमत्र।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्तीष्टापूर्तं स्म कृणुताविरस्मै॥ २॥

१. हे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! **सधस्थाः**=यज्ञवेदि पर मिलकर बैठनेवाले आप **एनम्**=इस प्रभु को **परमे व्योमन् जानीत स्म**=परम आकाश में सर्वत्र व्याप्त जानो, और **अत्र**=इस जीवन में भी **लोकं विद**=उत्तम प्रकाशमय जीवन को प्राप्त करो (जानो)। २. यह निश्चय से समझ लो कि **यजमानः स्वस्ति अनु आगन्ता**=यह यज्ञशील पुरुष अधिक-से-अधिक सुख को प्राप्त करेगा, अतः तुम **अस्मै**=इस कल्याण व प्रभु-प्राप्ति के लिए **इष्टापूर्तम्**=यज्ञों व कूप-निर्माण आदि लोकहित के कार्यों को **आविः कृणुत**=अपने जीवन में प्रादुर्भूत करो। ये पवित्र कर्म ही तुम्हारा कल्याण करेंगे—ये प्रभु-प्राप्ति का साधन बनेंगे।

भावार्थ—यज्ञों व लोकहित के कार्यों के द्वारा हम स्वर्ग को प्राप्त करें और प्रभु को भी जानें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**३ द्विपदासाम्न्यनुष्टुप्, ४ द्विपदाप्राजापत्या भुरिगनुष्टुप् (एकावसाना)** ॥

देवाः पितरः पितरो देवाः। यो अस्मि सो अस्मि॥ ३॥
स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूषम्॥ ४॥

१. **देवाः**=दिव्यवृत्तिवाले पुरुष **पितरः**=रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। **पितरः**=ये रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोग ही **देवाः**=देव हैं। यहाँ साहित्य की शैली का सौन्दर्य द्रष्टव्य

है। देव 'पितर' हैं, 'पितर' ही तो देव है। देवों का काम रक्षण है, दैत्यों का विध्वंस। मैं भी **यो** (या+उ) **अस्मि**=गतिशील बनता हूँ और **सः अस्मि** (षोऽन्तकर्मणि) दु:खों का अन्त करनेवाला होता हूँ। २. **सः**=वह मैं **पचामि**=घर में भोजन का परिपाक करता हूँ तो पहले **सः ददामि**=वह मैं पितरों व अतिथियों के लिए देता हूँ और इसप्रकार **सः यजे**=वह मैं देकर-देवपूजन करके बचे हुए को ही (यज्ञशेष को ही खाता हूँ)। **सः**=वह मैं **दत्तात्**=इस देने की प्रक्रिया से **मा यूषम्**=कभी पृथक् न होऊँ। सदा यज्ञशील बना रहूँ। यहाँ मन्त्र में 'स पचामि' में पचामि परस्मैपद है—दूसरों के लिए ही पकाता हूँ, इसीप्रकार दूसरों के लिए देता हूँ, परन्तु 'स यजे' में यजे 'आत्मनेपद' है। यज्ञ अपने लिए करता हूँ। मैं बड़ों को खिलाता हूँ तो मेरे सन्तान भी इस पितृयज्ञ का अनुकरण क्यों न करेंगे?

भावार्थ—देव सदा रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। मैं भी गतिशील बनकर पर-दुखों का हरण करनेवाला बनूँ। पकाऊँ, यज्ञ करूँ और यज्ञशेष ही खाऊँ।

ऋषि:—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नाके

नाके राजन्प्रति तिष्ठ तत्रैतत्प्रति तिष्ठतु।
विद्धि पूर्तस्य नो राजन्त्स देव सुमना भव॥ ५॥

१. हे **राजन्**=यज्ञादि उत्तम कर्मों से दीप्त जीवनवाले साधक! **नाके प्रतितिष्ठ**=तू सुखमय लोक में प्रतिष्ठित हो। **तत्र**=वहाँ—सुखमय लोक में **एतत्**=तेरा यह यज्ञरूप श्रेष्ठ कर्म भी **प्रतितिष्ठतु**=प्रतिष्ठित हो। २. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **राजन्**=दीप्त जीवनवाले साधक! **नः पूर्तस्य विद्धि**=हमसे वेद द्वारा उपदिष्ट प्रजा के पालन व पूरणात्मक कर्मों को तू जान—तू पूर्तकर्मों को करनेवाला बन। हे **देव**=दिव्य गुणयुक्त प्रकाशमय जीवनवाले साधक! **सः**=वह तू **सुमना भव**=प्रशस्त मनवाला हो।

भावार्थ—यज्ञादि उत्तम कर्मों से सुखमय जीवनवाले बनकर हम इन यज्ञादि कर्मों में और अधिक प्रवृत्त हों। प्रभु से उपदिष्ट इष्ट व पूर्त कर्मों को करनेवाले बनें। सदा प्रसन्न व प्रशस्त मनवाले बनें।

विशेष—इन यज्ञादि कर्मों में स्थिरता से चलनेवाला 'अथर्वा' अगले तीन सूक्तों का ऋषि है।

१२४. [चतुर्विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**दिव्या आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अपां स्तोकः

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादपां स्तोको अभ्य[पप्तद्रसेन।
समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन॥ १॥

१. साधक अपनी अनुभूति व्यक्त करते हुए कहता है कि **नु**=अब **माम्**=मुझे **दिवः**=उस प्रकाशमय **बृहतः**=महान् **अन्तरिक्षात्**=(अन्तराक्षि) सबके अन्दर निवास करनेवाले अन्तर्यामी प्रभु से **अपां स्तोकः**=ज्ञान-जल का लव (थोड़ा-सा) **रसेन**=आनन्द के साथ **अभ्यपप्तत्**=प्राप्त हुआ है। जब मनुष्य 'अथ अर्वाङ्' अन्तर्दृष्टिवाला बनता है तब उसे प्रकाशमय प्रभु से ज्ञान का अंश व रस (आनन्द) प्राप्त होता है। २. हे **अग्ने**=प्रभो! **अहम्**=आपका प्रिय अथर्वा मैं आपकी कृपा से **इन्द्रियेण**=वीर्य से, **पयसा**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति से—आप्यायन से

छन्दोभिः=वेदवाणियों से **यज्ञैः**=यज्ञों से तथा **सुकृतां कृतेन**=पुण्यशील लोगों के पुण्य कर्मों से **सम्**=सङ्गत होऊँ।

भावार्थ—हम अथर्वा बनकर अन्तर्दृष्टि बनें, जिससे प्रभु के ज्ञान-जल के लव व रस को प्राप्त कर सकें। हम वीर्य, शक्ति के आप्यायन, वेदज्ञान, यज्ञ व पुण्य कर्मों से सङ्गत हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**दिव्या आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

फल-वायु-जल

यदि वृक्षादभ्यपप्तत्फलं तद्यद्यन्तरिक्षात्स उ वायुरेव।
यत्रास्पृक्षत्तन्वो३ यच्च वासस आपो नुदन्तु निर्ऋतिं पराचैः ॥ २ ॥

१. अथर्वा प्रार्थना करता है कि **यदि वृक्षात् अभि अपप्तत्**=यदि वृक्षों से कोई वस्तु मेरी ओर गिरे, अर्थात् मुझे प्राप्त हो तो **तत् फलम्**=वह फल ही हो। मैं वृक्षों के फलों का सेवन करनेवाला बनूँ। **यदि अन्तरिक्षात् सः उ वायुः एव**=यदि अन्तरिक्ष से मुझे कोई वस्तु प्राप्त हो तो वह निश्चय से वायु ही हो। मैं अन्तरिक्ष की खुली वायु में निवास करनेवाला बनूँ। तङ्ग गलियों में जहाँ वायु का खुला प्रवेश नहीं, वहाँ मेरा निवास न हो। २. **यत्र**=जहाँ कहीं भी शरीर पर मल का **अस्पृक्षत्**=स्पर्श हो **च**=और **यत्**=जो वस्त्र पर मल लगे तो उस **निर्ऋतिम्**=मलरूप बुराई (Evil) को **आपः**=जल **पराचैः**=दूर ले-जाने की क्रियाओं द्वारा **तन्वः**=शरीर से और **वाससः**=वस्त्रों से **नुदन्तु**=परे धकेल दे।

भावार्थ—अथर्वा चाहता है कि १. वह वृक्षों के फलों का सेवन करे, २. अन्तरिक्ष की शुद्ध वायु में विचरे तथा ३.जलों द्वारा शरीर व वस्त्रों को शुद्ध रक्खे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**दिव्या आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'निर्ऋति व अराति' से दूर

अभ्यञ्जनं सुरभि सा समृद्धिर्हिरण्यं वर्चस्तदु पूत्रिममेव।
सर्वा पवित्रा वितताध्यस्मत्तन्मा तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ॥ ३ ॥

१. **अभ्यञ्जनम्**=आँखों में अञ्जन का प्रयोग और उससे नेत्र-मल को दूर करना, अर्थात् ज्ञानाञ्जन द्वारा अज्ञानतिमिर को दूर करना, **सुरभि**=सुगन्धित-(मधुर)-वाणी बोलना (सुरभिर्नो मुखा करत्प्र ण आयूँषि तारिषत्) **सा समृद्धिः**=वह सुपथ से कमाया धन, **हिरण्यम्**=वीर्य, **वर्चः**=रोगनिरोधक शक्ति **तत्**=वह सब **उ**=निश्चय से **पूत्रिमम् एव**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाला है। धन भी जीवन को पवित्र रखने का साधन बनता है। धन के अभाव में 'बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्'—भूखा क्या पाप नहीं कर बैठता? २. **सर्वा पवित्रा**=पवित्र करने के सब साधन **अस्मत् अधि**=हमपर **वितता**=विस्तृत हुए-हुए हैं, **तत्**=इसलिए **मा**=मुझे **निर्ऋतिः मा तारीत्**=अनिष्टकारिणी पापदेवता (मलदेवता) मत अतिक्रान्त करे **उ**=और **अरातिः मा**=अदानवृत्ति मत अतिक्रान्त करनेवाली हो। पवित्रता के साधनों से आच्छादित मैं 'निर्ऋति व अराति' का शिकार न होऊँ—न दुर्गति—दुराचरणवाला बनूँ, न अदानवृत्तिवाला।

भावार्थ—ज्ञानाञ्जन-शलाका से अज्ञानतिमिर को दूर करना, 'मधुर शब्द, सुपथार्जित धन, वीर्य व रोग निरोधक शक्ति'—ये सब मेरे जीवन को पवित्र करें। पवित्रता के इन साधनों से आच्छादित हुआ-हुआ मैं दुराचरण व अदानवृत्ति से दूर रहूँ।

१२५. [पञ्चविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वीड्वङ्गः वीडयस्व

वन॑स्पते वी॒ड्व॑ङ्गो॒ हि भू॒या अ॒स्मत्स॑खा प्र॒तर॑णः सु॒वीरः॑।
गोभि॒: सन्न॑द्धो असि वी॒डय॑स्वास्था॒ता ते॑ जयतु॒ जेत्वा॑नि॥ १ ॥

१. अथर्वा अपने शरीर को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे **वनस्पते**=वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से बने हुए देह! तू **हि**=निश्चय से **वीडु अङ्गः भूयाः**=दृढ़ अङ्गोंवाला हो। **अस्मत् सखा**=तू हमारा मित्र हो, **प्रतरणः**=संसार-सागर को तैरनेवाला व **सुवीरः**=उत्तम वीरतावाला हो। २. **गोभिः सन्नद्धः असि**=तू ज्ञानरश्मियों से सम्बद्ध है, **वीडयस्व**=तू पराक्रम कर **ते आस्थाता**=तुझ शरीर-रथ पर स्थित होनेवाला यह जीवात्मा (रथी) **जेत्वानि**=जेतव्य शत्रुओं को **जयतु**=जीतनेवाला बने।

भावार्थ—वनस्पति-विकार यह शरीर हमारा साथी हो। यह दृढ़ अङ्गोंवाला बने, ज्ञान की रश्मियों से सम्बद्ध हो। इसपर अधिष्ठित जीव जेतव्य शत्रुओं को जीतनेवाला बने।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

शरीर-रथ

दि॒वस्पृ॑थि॒व्याः पर्योज॒ उद्भृ॑तं॒ वन॒स्पति॑भ्य॒: पर्याभृ॑तं॒ सह॑:।
अ॒पामो॒ज्मानं॒ परि॒ गोभि॒रावृ॑त॒मिन्द्र॑स्य॒ वज्रं॑ ह॒विषा॒ रथं॑ यज॥ २ ॥

१. 'यह शरीर-रथ क्या है'? इसका विवेचन करते हुए कहते हैं कि इसमें **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक का तथा **पृथिव्याः**=अन्नमयकोशरूप पृथिवी का **ओजः**=बल **परि उद्भृतम्**=सब प्रकार से धारण किया गया है। इस शरीर में **वनस्पतिभ्यः**=वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से **सहः**=शत्रुमर्षक बल **पर्याभृतम्**=चारों ओर-अङ्ग-प्रत्यङ्ग में भृत हुआ है। २. इस **अपाम् ओज्मानम्**=(आपो रेतो भूत्वा०) रेत:कणों के बलवाले **गोभिः परि आवृतम्**=ज्ञानरश्मियों से समन्तात् आच्छादित **इन्द्रस्य वज्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष के आयुध के समान **रथम्**=इस शरीर-रथ को **हविषा यज**=दानपूर्वक अदन से युक्त कर। यज्ञशेष के सेवन के द्वारा इसे नीरोग व अमर बना—'यज्ञशेषममृतम्'।

भावार्थ—इस शरीर में हम मस्तिष्क व शरीर दोनों को ही सबल बनाएँ। वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से इसे रोगनिरोधक शक्ति से युक्त करें। यह रेत:कणों के बलवाला हो। ज्ञानरश्मियों से आवृत हो। रोगरूप शत्रुओं के लिए वज्र हो। यज्ञशेष के सेवन द्वारा हम इसे नीरोग बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मित्रस्य गर्भः, वरुणस्य नाभिः

इन्द्र॑स्यौजो॑ म॒रुता॒मनी॑कं मि॒त्रस्य॒ गर्भो॒ वरु॑णस्य॒ नाभि॑:।
स इ॒मां नो॑ ह॒व्यदा॑तिं जुषा॒णो देव॑रथ॒ प्रति॑ ह॒व्या गृ॑भाय॥ ३ ॥

१. यह शरीर-रथ **इन्द्रस्य ओजः**=जितेन्द्रिय पुरुष का ओज है। इसमें **मरुताम् अनीकम्**=प्राणों का बल है, **मित्रस्य गर्भः**=प्राण का गर्भ है—गर्भवत् अन्त:स्थित व पालनीय है, **वरुणस्य नाभिः**=अपान का यह नाभि है—अपने में बाँधनेवाला। अपान के ठीक कार्य करने पर ही सब अङ्ग सुदृढ़ बने रहते हैं। २. **सः**=वह तू हे **देवरथ**=रोगरूप शत्रुओं की विजिगीषवाले शरीर-

रथ! **नः**=हमारी **इमाम्**=इस **हव्यदातिम्**=हव्य देने की क्रिया का **जुषाणः**=सेवन करता हुआ **हव्या प्रतिगृभाय**=हव्य—यज्ञिय पवित्र पदार्थों को ही ग्रहण कर।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर शरीर-रथ को सबल व सुदृढ़ बनाए रक्खें। इसमें प्राणापान का बल ठीक बना रहे। हम यज्ञशील हों और यज्ञशेष के रूप में पवित्र पदार्थों का ही सेवन करें।

१२६. [षड्विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

दुन्दुभिनाद से पृथिवी व द्युलोक का उच्छ्वसित हो उठना

उप॑ श्वासय पृथि॒वीमु॒त द्यां पु॑रु॒त्रा ते॑ वन्वतां॒ विष्ठि॑तं॒ जग॑त्।
स दु॑न्दुभे स॒जूरिन्द्रे॑ण दे॒वैर्दू॒राद्दवी॑यो॒ अप॑ सेध॒ शत्रू॑न्॥ १ ॥

१. देश के स्वातन्त्र्य के रक्षण के लिए युद्ध करना पड़े तो यह अथर्वा युद्ध से पराङ्मुख न होकर युद्धवाद्य को सम्बोधित करते हुए कहता है कि **दुन्दुभे**=हे रणभेरि! तू **पृथिवीम् उत द्याम्**=पृथिवी व द्युलोक को **उपश्वासय**=अपने घोष से आपूरित कर दे। यह **विष्ठितम्**=विविधरूप में अवस्थित **जगत्**=प्राणिसमूह **पुरुत्रा**=बहुत प्रदेशों में **ते**=तेरे जयघोष का **वन्वताम्**=संभजन करे। २. हे दुन्दुभे! **सः**=वह तू **इन्द्रेण**=शत्रु-विद्रावक सेनापति तथा **देवैः**=शत्रुविजिगीषावाले सैनिकों के **सजूः**=साथ **दूरात् दवीयः**=दूर से भी दूर **शत्रून् अपसेध**=शत्रुओं को भगा डाल (अपगमय)।

भावार्थ—युद्ध के समय भेरीनाद पृथिवी को गुंजा दे। अपने-अपने स्थान में स्थित हुए सब इस जयघोष को चाहें। सेनापति व सैनिकों के साथ यह भेरीनाद शत्रुओं को दूर भगानेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

शत्रुभञ्जन

आ क्र॑न्दय॒ बल॒मोजो॑ न॒ आ धा॑ अ॒भि ष्ट॑न दुरि॒ता बाध॑मानः।
अप॑ सेध दुन्दुभे दु॒च्छुना॑मि॒त इन्द्र॑स्य मु॒ष्टिर॑सि वी॒डय॑स्व॥ २ ॥

१. हे **दुन्दुभे**=रणभेरि! **बलम्**=शत्रु-सैन्य को **आक्रन्दय**=विलापयुक्त कर दे। **नः**=हममें **ओजः आधाः**=बल की स्थापना कर। **दुरिता बाधमानः**=शत्रुकृत दुर्गतों व दुःखों को निवृत्त करती हुई—दूर करती हुई तू **अभिष्टन**=अभितः शत्रुहृदयभञ्जक परुष शब्द कर। २. हे दुन्दुभे! **इतः**=इस युद्धरङ्ग से **दुच्छुनाम्**=दुःखकारी शत्रुसेना को **अपसेध**=दूर भगा दे। **इन्द्रस्य**=शत्रुविद्रावक सेनापति की तू **मुष्टिः असि**=मुष्टिवत् शत्रुओं की भञ्जक है, अतः तू **वीडयस्व**=अत्यन्त दृढ़ हो—शत्रुओं पर पराक्रम प्रकट करनेवाली हो।

भावार्थ—दुन्दुभिनाद शत्रुओं में क्रन्दन मचा दे और हमारे सैन्य में ओजस्विता का आधान करे, शत्रुकृत दुर्गतियों को यह दूर करनेवाला हो। यह मुष्टिप्रहार की भाँति शत्रुभञ्जक बने।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**पुरोबृहतीगर्भात्रिष्टुप्** ॥

शत्रु-पराजय—स्वकीय विजय

प्रामूं ज॑या॒भी३॒मे जय॑न्तु के॒तुम॒द्दुन्दु॒भिर्वा॑वदीतु।
सम॑श्वप॒र्णाः प॑तन्तु नो॒ नरो॒ऽस्माक॑मिन्द्र र॒थिनो॑ जयन्तु॥ ३ ॥

१. हे **इन्द्र**=बल के कार्यों को करनेवाले सेनापते! **अमूम्**=उस दूर दृश्यमान सेना को **जय**=जीत। **इमे**=ये हमारे सैनिक **अभिजयन्तु**=शत्रुओं के अभिमुख जाते हुए जय को प्राप्त हों। **केतुमत् दुन्दुभिः वावदीतु** (प्रज्ञानवत् उच्चैर्वदन्) यह खूब ऊँचे शब्द करे। **नः**

नरः=हमारे सेनानायक **अश्वपर्णाः**=(अश्वपतनाः) अश्वारूढ़ होते हुए **सम्पतन्तु**=युद्धभूमि में इधर-उधर जाएँ। हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **अस्माकं रथिनः**=हमारे रथारोही **जयन्तु**=विजयी हों।

भावार्थ—यह उच्चस्वर से बजाई जाती हुई रणभेरी शत्रुओं को परास्त करती है और हमें विजयी बनाती है। हमारे घुड़सवार शत्रु-सैन्य में इधर-उधर विचरें तथा हमारे रथी विजयी हों।

विशेष—अगले सूक्त में 'उचित जीवन-मार्ग पर चलने से मनुष्य शत्रुओं को भून डालता है', अतः 'भृगु' कहलाता है, अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला यह 'अङ्गिराः' है।

१२७. [सप्तविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'विद्रध, बलास, लोहित, विसल्पक' की चिकित्सा

विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते।
विसल्पकस्योषधे मोच्छिषः पिशितं चन॥ २॥

१. हे **वनस्पते**=चतुरंगुलपलाशवृक्ष! **ओषधे**=विसपर्क आदि व्याधियों के औषधभूत वटादिवृक्ष! **विद्रधस्य**=विदारणशील हृदयव्रण के—चेतना को नष्ट करनेवाले व्रणविशेष के **बलासस्य**=(बलम् अस्यति क्षिपति) कास-श्वास आदि के, **लोहितस्य**=रुधिरस्रावात्मक रोग के तथा **विसल्पकस्य**=(विविधं सर्पति नाडीमुखेन) शरीर में फैलनेवाले हड्फूटन के **पिशितं चन**=निदानभूत दुष्ट मांस को भी—दुष्ट त्वक् (चमड़ी) आदि को **मा उच्छिषः**=शेष मत छोड़।

भावार्थ—वात, पित्त, कफ के दोषों के तारतम्य से 'त्वचा, रुधिर, मांस' आदि धातुओं को दूषित करके विसर्पक आदि रोग उत्पन्न होते हैं। उन्हें निदानसहित पलाश-वट आदि वनस्पतियों के प्रयोग से दूर करो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

चीपुद्रु

यौ ते बलास तिष्ठतः कक्षे मुष्कावपश्रितौ। वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिचक्षणम्॥ २॥

१. हे **बलास**=कास-श्वासादि रोग! **ते**=तेरे **यौ**=जो विसपर्क आदि विकार **कक्षे तिष्ठतः**=बाहूमूल में स्थिर होते हैं और **मुष्कौ अपश्रितौ**=जो अण्डाकृति गिल्टियाँ बुरी तरह से उत्पन्न हो गई हैं, मैं **तस्य**=उसके **भेषजं वेद**=औषध को जानता हूँ। **चीपुद्रुः**='चीपुद्रु' नामवाला द्रुमविशेष **अभिचक्षणम्**=(अभिचक्ष्य निवर्तकम्) व्याधिमूल का सम्यक् निवर्तक औषध है।

भावार्थ—बलास नामक रोग में विसपर्क आदि विकार बाहूमूल में उत्पन्न हो जाते हैं, गिल्टियाँ भी बुरी भाँति पीड़ित करने लगती हैं। 'चिपुद्रु' उस रोग का औषध है। वह चीपुद्रु 'चीवृ आदानसंवरणयोः' रोग के मूलभूत दोष का आदान करके रोग के लिए द्वार बन्द कर देता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

विरेचन द्वारा रोगविनाश

यो अङ्ग्यो यः कर्ण्यो यो अक्ष्योर्विसल्पकः।
वि वृहामो विसल्पकं विद्रधं हृदयामयम्।
परा तमज्ञातं यक्ष्ममधराञ्चं सुवामसि॥ ३॥

१. **यः विसल्पकः**=जो विसर्पक रोग **अङ्ग्यः**=हाथ-पाँव आदि अङ्गों में होनेवाला है, **यः**

कर्ण्यः=जो कानों में उत्पन्न हो जाता है, **यः अक्ष्योः**=जो आँखों में उत्पन्न हो जाता है, उस **विसल्पकम्**=बहुविध विसर्पक को **विवृहामः**=हम उखाड़ फेंकते हैं तथा **विद्रधम्**=विदरणस्वभाव व्रणविशेष को **हृदयामयम्**=हृदय के रोग को भी दूर करते हैं। २. **तम्**=उस **अज्ञातम्**=अनिर्ज्ञातस्वरूप **यक्ष्मम्**=रोग को **अधराञ्चम्**=(अधस्तात् अञ्चन्तम्) नीचे गति करते हुए को **परासुवामसि**=पराङ्मुख प्रेरित करते हैं। विरेचक ओषधियों के द्वारा उसे नष्ट करते हैं।

भावार्थ—हाथ-पैर आदि अङ्गों में, कानों व आँखों में हो जानेवाले विसर्पक रोग को विदरणस्वभाव व्रणविशेष को, हृद्रोग को तथा अज्ञात यक्ष्मरोग को भी विरेचक औषधों के प्रयोग से नष्ट करते हैं।

विशेष—रोगों को दूर करके यह 'अङ्गिरा' बनता है—अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला। यह प्रभु-स्मरणपूर्वक राष्ट्र में उत्तम राज्यव्यवस्था करके कल्याण प्राप्त करता है। 'अङ्गिरा' ही अगले सूक्त का ऋषि है।

१२८. [अष्टाविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**शकधूमः, सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'शकधूम' को राजा बनाना

शकधूमं नक्षत्राणि यद्राजानमकुर्वत। भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति॥ १॥

१. **नक्षत्राणि**=(न क्षत्र त्र) क्षतों से अपना रक्षण न कर सकनेवाली प्रजाएँ **यत्**=जब **शकधूमम्**=शक्तिशाली बनकर शत्रुओं को कम्पित करनेवाले व्यक्ति को **राजानम् अकुर्वत**=राजा बनाती है, तब **अस्मै इदं राष्ट्रं प्रायच्छन्**=इसके लिए इस राष्ट्र को सौंप देती हैं, **भद्राहम् असात् इति**=इस कारण से सौंप देती हैं कि सब प्रजाओं के लिए अब दिन मंगलमय हों।

भावार्थ—प्रजा राजा को चुने। उस व्यक्ति को इस पद के लिए चुने जोकि 'शकधूम' हो। चुनने के पश्चात् उसे सर्वाधिकार सौंप दे, जिससे वह अपने रक्षणात्मक कार्य को सम्यक् रूप से कर सके। सीमित शक्तिवाले राजा के लिए यह सम्भव नहीं होता। राजा को सर्वाधिकार सौंप देने पर ही प्रजा सुखमय दिनों का अनुभव करती है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**शकधूमः, सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भद्राहम्

भद्राहं नो मध्यन्दिने भद्राह्नं सायमस्तु नः।
भद्राहं नो अह्नां प्राता रात्री भद्राहमस्तु नः॥ २॥

१. **मध्यन्दिने**=मध्याह्न के समय **नः**=हमारा **भद्राहम्**=शोभन दिन हो। इसीप्रकार **नः**=हमारा **सायम्**=सूर्यास्त के समय भी **भद्राहम् अस्तु**=पुण्य-दिन हो। **अह्नां प्रातः**=पूर्वाह्नकाल में भी **नः**=हमारा **भद्राहम्**=पुण्य-दिन हो और इसीप्रकार **रात्री**=सारी रात **नः**=हमारे लिए **भद्राहम् अस्तु**=शुभ काल ही प्रमाणित हो।

भावार्थ—राष्ट्र-व्यवस्था के उत्तम होने पर दिन-रात हमारा कल्याण-ही-कल्याण हो।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**शकधूमः, सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'आधिदैविक आपत्ति' निराकरण

अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्। भद्राहमस्मभ्यं राजञ्छकधूम त्वं कृधि॥ ३॥

१. हे **शकधूम राजन्**=शक्ति के द्वारा शत्रुओं को कम्पित करनेवाले राजन्! **त्वम्**=आप

अहोरात्राभ्याम्=दिन और रात से **नक्षत्रेभ्यः**=अश्विनी-भरणी आदि नक्षत्रों से तथा **सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्**=सूर्य और चन्द्रमा से **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **भद्राहं कृधि**=पुण्याह (पुण्य-दिन) को करने की कृपा करें।

भावार्थ—राष्ट्रव्यवस्था के उत्तम होने पर 'दिन-रात, सूर्य-चन्द्र व नक्षत्र' सब प्रजा के लिए कल्याणकारक होते हैं, अर्थात् सुव्यवस्थित राष्ट्र में आधिदैविक आपत्तियाँ नहीं आतीं।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**शकधूमः, सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शकधूम को प्रणाम

यो नौ भद्राहमकरः सायं नक्तमथो दिवा।
तस्मै ते नक्षत्रराज शकधूम सदा नमः ॥ ४ ॥

१. हे **शकधूम**=शक्ति के द्वारा शत्रुओं को कम्पित करनेवाले **नक्षत्रराज**=अपना त्राण स्वयं न कर सकनेवाली प्रजाओं के शासक! **यः**=जो आप **नः**=हमारे लिए **सायं नक्तम् अथो दिवा**=सायं, रात्रि और दिन में **भद्राहम् अकरः**=कल्याण करते हैं **तस्मै ते**=उस आपके लिए हम **सदा नमः**=सदा नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—राजा प्रजाओं का रक्षण करता है। प्रजा को चाहिए कि इस राजा का उचित आदर करे।

विशेष—सुरक्षित राष्ट्र में स्वस्थ वृत्ति से आगे बढ़नेवाला यह स्थिर चित्तवाला (अथर्वा) तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति के रसवाला (अंगिराः) 'अथर्वाङ्गिराः' अगले चार सूक्तों का ऋषि है।

१२९. [एकोनत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शांशप भग

भगेन मा शांशपेन साकमिन्द्रेण मेदिना। कृणोमि भगिनं माप द्रान्त्वरातयः ॥ १ ॥

१. मैं **शांशपेन**=(शम् शप्—शपते स्पृशतिकर्मणः—नि० ३.१२) शान्ति के स्पर्श से युक्त **भगेन**=ऐश्वर्य से **मा**=मुझे तथा **मेदिना**=सबके प्रति स्नेहवाले **इन्द्रेण**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के **साकम्**=साथ **मा**=अपने-आपको **भगिनम्**=ऐश्वर्यशाली **कृणोमि**=करता हूँ। **अरातयः**=सब अदानवृत्तियाँ व शत्रु **अपद्रान्तु**=मुझसे दूर भाग जाएँ। २. ऐश्वर्य में यह आशंका बनी रहती है कि जीवन कहीं विषय-विलास की वृत्तिवाला न बन जाए, परन्तु यदि ऐश्वर्य के साथ प्रभु-स्मरण भी बना रहे तो ऐसी आशंका नहीं रह जाती, अतः मन्त्र में ऐश्वर्य के साथ प्रभु-स्मरण को जोड़ दिया गया है।

भावार्थ—सुव्यवस्थावाले राष्ट्र में मैं पुरुषार्थ से उस धन का अर्जन करूँ, जिसमें किसी प्रकार की अशान्ति नहीं है। इस धन के साथ प्रभु-स्मरणपूर्वक चलता हुआ मैं विलास में बह जाने से बचा रहता हूँ और धन को लोकहित के कार्यों में व्यय करता हूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वृक्ष का अभिभव

येन वृक्षाँ अभ्यभवो भगेन वर्चसा सह। तेन मा भगिनं कृणवप द्रान्त्वरातयः ॥ २ ॥

१. हे प्रभो! **येन भगेन**=जिस ऐश्वर्य से **वर्चसा सह**=वर्चस् के साथ—रोगनिरोधक शक्ति के साथ **वृक्षान् अभि अभवः**=(वृक्षते to cover) बुद्धि को आच्छादित कर लेनेवाली लोभवृत्तियों

को आप जीत लेते हो **तेन**=उस ऐश्वर्य से **मा भगिनं कृणु**=मुझे ऐश्वर्यशाली कीजिए। २. प्रभु हमें वह ऐश्वर्य प्राप्त कराएँ, जिसमें कि हम विलास के शिकार न बनकर वर्चस्वी बनें रहें तथा जो ऐश्वर्य हमें लोभाभिभूत करके बुद्धिशून्य न कर दे। हे प्रभो! आपके अनुग्रह से **अरातयः अपद्रान्तुः**=अदानवृत्तियाँ हमसे दूर ही रहें। हम धनों का सदा लोकहित—यज्ञों में विनियोग करनेवाले बनें।

भावार्थ—मुझे ऐश्वर्य प्राप्त हो। मैं वर्चस्वी बनूँ और लोभाभिभूत न होकर दानवृत्तिवाला बना रहूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अन्धा, पुनःसरः, वृक्षाहितः

यो अन्धो यः पुनःसरो भगो वृक्षेष्वाहितः। तेन मा भगिनं कृणवप द्रान्त्वरातयः ॥ ३ ॥

१. हे प्रभो! आप **मा**=मुझे **तेन**=उस ऐश्वर्य से **भगिनं कृणु**=ऐश्वर्यवाला कीजिए **यः**=जोकि **अन्धः**=मेरा भोजन बनता है (अन्धः=अन्नम्), अर्थात् वह धन दीजिए जिससे मैं भोजन जुटा सकूँ। **यः**=जो **पुनःसरः**=फिर गतिवाला होता है, अर्थात् मेरी पेटी में बन्द न रहकर लोकहित के कार्यों में विनियुक्त होता है (सृ गतौ)। **यः भगः**=जो ऐश्वर्य **वृक्षेषु**=(व्रश्चू छेदने) वासनाओं का दहन करनेवाले व्यक्तियों में स्थापित होता है। २. हे प्रभो! आपके अनुग्रह से **अरातयः अपद्रान्तु**=अदानवृत्तियाँ हमसे दूर रहें। हम इन धनों को सदा देनेवाले बनें और इसप्रकार 'वृक्ष' वासनाओं का छेदन करनेवाले बनें (व्रश्च छेदने, वृश्चति)। ये धन हमारे लिए वृक्ष (वृक्षते to cover) न बन जाएँ, ये हमारी बुद्धि पर पर्दा न डाल दें।

भावार्थ—प्रभु मुझे वह धन दें जिससे मैं परिवार के लिए अन्न जुटा सकूँ, लोकहित के कार्य कर सकूँ तथा वासनाओं का विच्छेद करनेवाला ही बना रहूँ।

१३०. [त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्मरः** ॥ छन्दः—**१ विराट्पुरस्ताद्बृहती; २-३ अनुष्टुप्** ॥

कामवासना की उत्पत्ति कहाँ?

रथजितां राथजितेयीनामप्सरसामयं स्मरः। देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥

असौ मे स्मरतादिति प्रियो मे स्मरतादिति। देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ २ ॥

यथा मम स्मरादसौ नामुष्याहं कदा चन। देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ ३ ॥

१. **रथजिताम्**=रमण के साधनभूत पदार्थों का विजय (संग्रह) करनेवाले पुरुषों का तथा **राथजितेयीनाम्**=रमण-साधन पदार्थों को जीतनेवाले पुरुषों की **अप्सरसाम्**=इन सुन्दर स्त्रियों का अर्थ **अयं स्मरः**=यह 'काम' है। काम-वासना का सम्बन्ध इन रथजितों व राथजितेयी अप्सराओं से ही है। 'रमणसाधन पदार्थों का संग्रह व शारीरिक सौन्दर्य' काम-वासना की उत्पत्ति के साधन बनते हैं। २. हे **देवाः**=देवो! **स्मरम्**=इस 'काम' को **प्रहिणुत**=मुझसे दूर ही भेजो, **असौ माम् अनुशोचतु**=यह काम मेरा शोक करता रहे कि 'किस प्रकार उस पुरुष के हृदय में मेरा निवास था और किस प्रकार मुझे वहाँ से निकलना पड़ गया'। २. **असौ**=वह काम **मे स्मरतात्**=मुझे स्मरण करता रहे **इति**=बस। **मे प्रियः**=मेरा बड़ा प्रिय था, इति **स्मरतात्**=इसप्रकार मेरा स्मरण करके दुखी होता रहे। २. हे देवो! आप ऐसी कृपा करो कि **यथा**=जिससे **असौ मम स्मरतात्**=वह काम मेरा स्मरण करे, **अहं कदाचन अमुष्य न**=मैं कभी उसका स्मरण न करूँ। मुझसे वियोग के कारण 'काम' ही दुःखी हो। 'काम' से पृथक् होकर मैं दुःखी न होऊँ।

भावार्थ—कामवासना की उत्पत्ति वहीं होती है, जहाँ रमणसाधन पदार्थों के संग्रह व सौन्दर्य की ओर झुकाव हो। देवों की कृपा से काम मुझसे दूर हो जाए। स्थान-भ्रंश के कारण 'काम' दु:खी हो। मैं कभी इस काम का स्मरण न करूँ।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्मर:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

काम का उन्माद

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय। अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु॥ ४॥

१. हे **मरुत:**=वसन्तऋतु की सुन्दर वायुओ! आप इस 'काम' को **उन्मादयत**=उन्मत्त कर दो। हे **अन्तरिक्ष**=सम्पूर्ण वातावरण! **उत् मादय**=तू भी इस काम को उन्मत्त कर दे। हे **अग्ने**=शरीरस्थ अग्नितत्व (Excitement) **त्वम् उन्मादय**=तू भी इस काम को उन्मत्त कर, **असौ माम् अनुशोचतु**—वह मेरा शोक करे। २. वसन्त की वायुएँ, अन्तरिक्ष का सौन्दर्य व उत्तेजना उत्पन्न करनेवाला अग्नितत्त्व मुझे कामातुर न बनाकर 'काम' को ही उन्मत्त बनानेवाले हों और इसप्रकार यह काम मेरे हृदय में स्थान न पाकर, वह मेरा शोक करता रहे।

भावार्थ—कामवासना की उत्पत्ति के लिए कारणभूत वस्तुएँ काम को ही उन्मत्त करें, न कि मुझे। मेरे लिए तो यह काम विलाप ही करता रहे 'कि मेरा निवास-स्थान छिन गया'।

१३१. [एकत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्मर:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

सिर से पैर तक कामजनित पीड़ा

नि शीर्षतो नि पत्तत आध्यो३ नि तिरामि ते।
देवा: प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥ १॥
अनुमतेऽन्विदं मन्यस्वाकूते समिदं नम:।
देवा: प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥ २॥

१. काम से पीड़ित मनुष्य सिर से पैर तक एक विचित्र-सी व्यथा को अनुभव करता है। वह व्यथा ही यहाँ 'आधि' शब्द से कही गई है। 'काम' के विनाश के लिए कटिबद्ध व्यक्ति 'काम' को ही सम्बोधित करके कहता है कि हे काम! **नि शीर्षत: नि पत्तत:**=सिर से लेकर पाँव तक **ते आध्य:**=तेरे कारण उत्पन्न इन मानस पीड़ाओं को **नितिरामि**=विनष्ट (destroy) व पराभूत करता हूँ। २. हे **देवा:**=देवो! **स्मरं प्रहिणुत**=इस काम को मुझसे दूर भेजो, **असौ माम् अनुशोचतु**=यह काम मेरा शोक करे। मैं 'काम' के कारण शोकातुर न होऊँ। काम ही निर्वासित होकर, स्थान छिन जाने से मेरा शोक करे कि 'किस प्रकार उसके हृदय में रहता था और अब निकाल दिया गया हूँ'। ३. हे **अनुमते**=शास्त्रानुकूल कार्यों को करने की बुद्धे! तू **इदम् अनुमन्यस्व**=इस 'काम-निर्वासन'- रूप मेरी अभिलाषा को अनुज्ञात कर। हे **आकूते**=दृढ़-संकल्प! तेरे लिए **इदं नम: सम्** (प्रापयामि)=इस नमस्कार व आदरभाव को प्राप्त कराता हूँ। तू भी इस कामनिर्वासन का अनुज्ञान कर—मुझे कामनिर्वासन के योग्य बना।

भावार्थ—हम कामवासना को दूर करके कामजनित पीड़ाओं को विनष्ट करें। इस कार्य में शास्त्रानुकूल कार्य करने की बुद्धि तथा दृढ़ संकल्प हमारे सहायक हों। 'देव भी इस 'काम' को हमसे दूर भेजें'—इसका भाव यह है कि हम सूर्य-चन्द्र, वायु आदि देवों के सम्पर्क में जितना अधिक अपने जीवन को बिताएँगे, अर्थात् जीवन जितना स्वाभाविक होगा, उतना ही हम वासना को जीत पाएँगे। कृत्रिम, विलासमय जीवन वासना को जाग्रत् करने में सहायक

होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

काम-विनाश व शक्ति-सम्पादन

यद्धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम्।
ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता॥ ३॥

१. **यत्**=यदि **त्रियोजनं धावसि**=तू तीन योजनपर्यन्त गतिवाला होता है, अथवा **आश्विनम्**=(अश्वेन प्रापणीयम्) घोड़े द्वारा प्राप्त करने योग्य **पञ्चयोजनम्**=पाँच योजन तक (धावसि) गतिवाला होता है, अर्थात् अश्वारूढ़ होकर पाँच योजन जाता है और **ततः**=उस त्रियोजन व पञ्चयोजन दूर स्थित देश से **त्वम्**=तू **पुनः आयसि**=फिर लौट भी आता है, तो **नः पुत्राणां पिता असः**=हम पुत्रों का पिता बन।

भावार्थ—यहाँ स्पष्ट संकेत है कि वासना को जीतकर हम इतने शक्तिशाली हों कि तीन योजन व घोड़े द्वारा पाँच योजन तक आ-जा सकें, तभी हमें गृहस्थ बनकर पिता बनने का अधिकार है।

१३२. [द्वात्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—**१ त्रिपादनुष्टुप्; २, ४, ५ (महा) बृहती; ३ भुरिगनुष्टुप्**॥

देवा, विश्वेदेवाः, इन्द्राणी, इन्द्राग्नी, मित्रावरुणौ

यं देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा॥ १॥
यं विश्वेदेवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा॥ २॥
यमिन्द्राणी स्मरमसिञ्चदप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा॥ ३॥
यमिन्द्राग्नी स्मरमसिञ्चतामप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा॥ ४॥
यं मित्रावरुणौ स्मरमसिञ्चतामप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा॥ ५॥

१. **यं स्मरम्**=जिस काम को **देवाः**=वासनाओं को जीतने की कामनावाले ज्ञानी लोग **असिञ्चन्**=अपने हृदय में सिक्त करते हैं, **ते**=तेरे लिए भी **तम्**=उस काम को **वरुणस्य धर्मणा**=पापों से निवृत्त करनेवाले प्रभु के धारण के द्वारा **तपामि**=उज्ज्वल बनाता हूँ। सामान्यतः 'काम' वासना का रूप ले-लेता है और यह वासनात्मक काम **आध्या सह**=(कामो गन्धर्वः, तस्याधयोऽप्सरसः—तै० ३.४.७.३) मानस पीड़ारूप अपनी पत्नी के साथ **अप्सु अन्तः**=प्रजाओं में **शोशुचानम्**=अतिशयेन विरहाग्नि से गात्रों को सन्तप्त करनेवाला होता है। यही काम वरुण के धारण से—प्रभु-स्मरण से पवित्र व उज्ज्वल होकर सन्तान को जन्म देनेवाला होता है। (धर्माविरुद्धा कामोऽस्मि भूतेषु भरतर्षभ, प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः)। देवलोग इसी काम को अपने हृदय में सिक्त करते हैं। २. **यम्**=जिस काम को **विश्वेदेवाः**=देववृत्ति के सब

पुरुष अपने में **असिञ्चत्**=सिक्त करते हैं, **यं स्मरम्**=जिस काम को **इन्द्राणी**=इन्द्रपत्नी—जितेन्द्रिय पुरुष की आत्मशक्ति **असञ्चत्**=अपने में सिक्त करती हैं और **यं स्मरम्**=जिस काम को **इन्द्राग्नी**=शत्रुविद्रावक व आगे बढ़ने की वृत्तिवाले पुरुष **असिञ्चताम्**=अपने में सिक्त करते हैं और **यं स्मरम्**=जिस काम को **मित्रावरुणौ**=प्राण-अपान की साधना करनेवाले पुरुष **असिञ्चताम्**=अपने में सिक्त करते हैं, तेरे लिए भी उस काम को प्रभु-स्मरण द्वारा उज्ज्वल बनाता हूँ।

भावार्थ—सामान्यः 'काम' वासना का रूप धारण करके मानस पीड़ा से मनुष्य को विरहाग्नि में सन्तप्त करनेवाला बनता है, परन्तु यदि हम 'देव, विश्वेदेवा, इन्द्राणी, इन्द्राग्नी व मित्रावरुणौ' के समान काम को अपने हृदयों में सिक्त करेंगे तो यह काम प्रभु-स्मरण के द्वारा पवित्र बना रहेगा और सन्तति को जन्म देनेवाला होगा। कामवासना को जीतने का उपाय यही है कि हम ज्ञानी बनें (देवाः), देववृत्ति के बनने का यत्न करें (विश्वेदेवाः), आत्मिक शक्ति का वर्धन करें (इन्द्राणी), जितेन्द्रिय व आगे बढ़ने की वृत्तिवाले हों (इन्द्राग्नी) और प्राणायाम द्वारा प्राणापान की साधना करें (मित्रावरुणौ)।

विशेष—'काम'-वासना को जीतनेवाला यह व्यक्ति सब अविद्याओं व पापों का विध्वंस करनेवाला 'अग-स्त्य' बनता है। यह पाप को पराजित करने के लिए ही मेखला धारण करता है—कटिबद्ध होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१३३. [त्रयस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अगस्त्यः** ॥ देवता—**मेखला** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

मेखला-बन्धन

य इमां देवो मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उ नो युयोज।
यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमिच्छात्स उ नो वि मुञ्चात्॥ १ ॥

१. **यः**=जो **देवः**=शत्रुहनन-कुशल प्रभु **इमां मेखलां आबबन्ध**=इस मेखला को हमारे कटि-प्रदेश में बाँधते हैं और इस मेखला-बन्धन द्वारा **यः संननाह**=जो हमें कर्त्तव्यकर्मों को करने में सन्नद्ध करते हैं, और **उ**=निश्चय से **नः युयोज**=हमें अपने साथ युक्त करते हैं। ऐसा होने पर **यस्य देवस्य**=जिस सर्वान्तर्यामी देव के **प्रशिषा**=प्रशासन से **चरामः**=हम वर्त्तते हैं—कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, **सः**=वे प्रभु **पारम् इच्छात्**=हमारे प्रारिप्सित कर्म के पार तक हमें ले-चलना चाहें, **उ**=और **सः**=वे ही **नः**=हमें **विमुञ्चात्**=शत्रुओं से मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु ने वेद के द्वारा मेखला-बन्धन का निर्देश किया है। इसके द्वारा प्रभु हमें कर्त्तव्यकर्मों को करने में सन्नद्ध करते हैं और हमें उन कर्मों में सफलता प्राप्त कराते हैं। प्रभु के शासन में चलने पर हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होते।

ऋषिः—**अगस्त्यः** ॥ देवता—**मेखला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋषीणाम् आयुधम्

आहुतास्यभिहुत ऋषीणामस्यायुधम्। पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले॥ २ ॥

१. हे **मेखले**=कटिबन्धभूत मेखले! **आहुता असि**=तू आहुतियों से संस्कृत हुई-हुई है। मेखला-बन्धन के समय किये जानेवाले यज्ञ में दी गई आहुतियों से तू पूजित हुई है, **अभिहुता**=सब ओर तेरी पूजा हुई है (अभिहु=to worship)। मेखला आदि प्रतीकों का उसी प्रकार आदर है जैसाकि देश के झण्डे का। तू **ऋषीणाम् आयुधम् असि**=वासनाओं को विनष्ट

करनेवाले का (ऋष् to kill) आयुध है। ब्रह्मचारी को वासनाओं का शिकार न होने के लिए प्रतिक्षण कटिबद्ध रखती है। २. प्रत्येक **व्रतस्य**=व्रत के **पूर्वा प्राश्नती**=प्रारम्भ में कटिप्रदेश को व्याप्त करती हुई हे **मेखले**=मेखले! तू **वीरघ्नी भव**=इन वीर पुरुषों को प्राप्त होनेवाली हो। (हन् गतौ)।

भावार्थ—यज्ञपूर्वक बाँधी गई यह मेखला वासना-विनाशक पुरुषों का आयुध बनती है। प्रत्येक व्रत के पहले हमें प्राप्त होती हुई यह हमें वीर बनाती है।

ऋषिः—**अगस्त्यः** ॥ देवता—**मेखला** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

(मृत्योः ब्रह्मचारी) ब्रह्मणा, तपसा, श्रमेण, मेखलया

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन्भूतात्पुरुषं यमाय।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि॥ ३॥

१. आचार्य स्वयं ब्रह्मचारी होता हुआ शिष्य को ब्रह्मचारी बनाता है (आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते), अतः वह कहता है कि—**यत्**=क्योंकि **अहम्**=मैं **मृत्योः**=आचार्य का (आचार्यो मृत्युः वरुणः सोम ओषधयः पयः) **ब्रह्मचारी अस्मि**=ब्रह्मचारी हूँ, अतः मैं भी **भूतात्**=प्राणीसमूह से **पुरुषम्**=एक पुरुष को **यमाय**=यम-नियम आदि के पालन के लिए **निर्याचत्**=माँगने का इच्छुक हूँ—मैं भी उसे ब्रह्मचारी बनाने का प्रयत्न करता हूँ। २. **तम्**=उसे **अहम्**=मैं **ब्रह्मणा**=ज्ञान से, **तपसा**=तप से, **श्रमेण**=श्रम से तथा **एनम्**=इस पुरुष को **अनया मेखलया सिनामि**=इस मेखला से बद्ध करता हूँ।

भावार्थ—आचार्य को स्वयं ब्रह्मचारी रहकर एक अन्य व्यक्ति को ब्रह्मचारी बनाने की कामना करनी है। उसमें 'ब्रह्म, तप व श्रम' को स्थापित करने का प्रयत्न करना है और उसे मेखला-बद्ध करके दृढ़निश्चयी बनाना है।

ऋषिः—**अगस्त्यः** ॥ देवता—**मेखला** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

मति, मेधा, तप, वीर्य

श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधि जाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव।
सा नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च॥ ४॥

१. यह मेखला **श्रद्धायाः दुहिता**=श्रद्धा की दुहिता है, आस्तिक्य बुद्धि का प्रपूरण करनेवाली है, **तपसः अधिजाता**=तप से इसका प्रादुर्भाव हुआ है। **भूतकृतां ऋषीणां स्वसा बभूव**=यथार्थ कर्मों को करनेवाले ऋषियों की यह बहिन है। मेखला का धारण श्रद्धा से होता है, धारित हुई-हुई यह हमें तपस्वी बनाती है और उत्तम कर्मों को कराती हुई यह हमें उत्तम स्थिति में ले-जाती है। २. **मेखले**=मेखले! **सा**=वह तू **नः**=हमारे लिए **मतिम्**=मनन-शक्ति को **आधेहि**=धारण कर, **मेधाम्**=मेधा बुद्धि को **अथो**=और **नः**=हमारे लिए **तपः**=तप को **च इन्द्रियम्**=और वीर्य को **धेहि**=धारण कर।

भावार्थ—मेखला का धारण श्रद्धा से होता है। यह हमें तपस्वी बनाती है और उत्तम कर्मों को कराती हुई उत्तम स्थिति में लाती है। यह हममें 'मति, तप व वीर्य' का स्थापन करती है।

ऋषिः—**अगस्त्यः** ॥ देवता—**मेखला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दीर्घायुत्वाय

यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिबेधिरे।
सा त्वं परि ष्वजस्व मा दीर्घायुत्वाय मेखले॥ ५॥

१. हे **मेखले**=मेखले! **यां त्वा**=जिस तुझे **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **भूतकृता**=यथार्थ कर्मों को करनेवाले **ऋषयः**=वासना-विनाशक (ऋष् to kill) तत्त्वद्रष्टा पुरुष **परिबेधिरे**=बाँधते हैं, **सा त्वम्**=वह तू **मां परिष्वजस्व**=मेरा आलिङ्गन कर, जिससे **दीर्घायुत्वाय**=मैं दीर्घजीवन को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मेखला धारण करनेवाला 'अपना पालन व पूरण करता है, यथार्थ कर्मों को करता है, वासनाओं का विनाश करता है, तत्त्वद्रष्टा बनता है, और इसप्रकार दीर्घजीवनवाला होता है'।

विशेष—यह दृढ़निश्चयी पुरुष वासनाओं का विनाश करके शक्तिशाली बनता है, अतः 'शुक्रः' (शुक्रं वीर्यम् अस्य अस्ति इति शुक्रः) कहलाता है। यही अगले दो सूक्तों का ऋषि है।

१३४. [चतुस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वज्रः** ॥ छन्दः—**परानुष्टुप्त्रिष्टुप्** ॥

वज्र का प्रयोजन

अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावास्य राष्ट्रमप हन्तु जीवितम्।
शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातूष्णिहा वृत्रस्येव शचीपतिः॥ १॥

१. **अयं वज्रः**=यह पापों का वर्जन करनेवाला दण्ड **ऋतस्य तर्पयताम्**=सत्य-व्यवस्था का प्रीणन करे और **अस्य**=इस शत्रुभूत राजा के **राष्ट्रम् अवहन्तु**=राष्ट्र को सुदूर नष्ट करे, **जीवितम् अप** (हन्तु)=इसके जीवन को भी नष्ट करनेवाला हो। २. **इव**=जैसे **शचीपतिः**=शक्तियों का स्वामी सूर्य **वृत्रस्य**=आच्छादक मेघ के आवरण को छिन्न-भिन्न कर देता है, उसी प्रकार यह वज्र दुष्ट पुरुषों की **ग्रीवाः शृणातु**=गर्दनों को काट डाले और **उष्णिहाः प्र शृणातु**=गुद्दी की नाड़ियों को भी काट दे।

भावार्थ—हम शक्तिशाली बनें। हमारा वज्र शत्रुभूत राजा के राष्ट्र व जीवन को नष्ट करनेवाला हो। यह वज्र ऋत का प्रीणन करे।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वज्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिपदागायत्री** ॥

अधर्मी का पतन

अधरोऽधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोत्सृपत्। वज्रेणावहतः शयाम्॥ २॥

१. यह शत्रु **वज्रेण अवहतः**=वज्र से चूर्णीकृत हुआ-हुआ **शयाम्**=सो जाए—मर जाए। यह **उत्तरेभ्यः**=उत्कृष्ट मनुष्यों से **अधरः अधरः**=नीचे-ही-नीचे रहकर **पृथिव्याः गूढः**=पृथिवी से संवृत हुआ-हुआ **मा उत्सृपत्**=कभी न उठे।

भावार्थ—अधर्मी कभी ऊपर न उठ सके।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वज्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

राष्ट्र की हानि करनेवाले का विनाश

यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिज्जहि।
जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्वञ्चमनु पातय॥ ३॥

१. **यः**=जो शत्रु **जिनाति**=हानि पहुँचाता है, हे वज्र! **तम् अनु इच्छ**=तू उसका लक्ष्य करके उसे ढूँढ—उसपर प्रहार करने की इच्छा कर। **यः जिनाति**=जो हानि करता है **तम् इत् जहि**=तू उसे ही नष्ट कर। २. हे **वज्र**=दुष्टों के दण्ड के साधनभूत आयुध। **त्वम्**=तू **जिनतः**=इस हानि

करनेवाले के **सीमन्तम्**=(सीम्नोरन्तः) सिर के मध्यदेश को **अन्वञ्चम् अनुपातय**=अनुक्रम से विदीर्ण कर डाल।

भावार्थ—राष्ट्र की हानि करनेवाले का वज्र के द्वारा विनाश किया जाए।

१३५. [पञ्चत्रिंशिदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वज्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अश्नामि बलं कुर्वे

यद॒श्नामि॒ बलं॑ कुर्व इ॒त्थं वज्र॒मा द॑दे।
स्क॒न्धान॒मुष्य॑ शा॒तय॑न्वृ॒त्रस्ये॑व॒ शची॒पतिः॑॥ १ ॥

१. मैं **यत् अश्नामि**=जो खाता हूँ, उससे **बलं कुर्वे**=बल का सम्पादन करता हूँ। **इत्थम्**=इसप्रकार शक्ति के दृष्टिकोण से ही भोजन करता हुआ, अर्थात् स्वाद के लिए न खाता हुआ **वज्रम् आददे**=वज्रतुल्य दृढ़ शरीर का आदान करता हूँ। २. अब **अमुष्य**=उस शत्रु के **स्कन्धान्**=कन्धों को मैं इसप्रकार **शातयन्**=नष्ट कर डालता हूँ, **इव**=जैसेकि **शचीपतिः**=शक्तियों का स्वामी सूर्य **वृत्रस्य**=आच्छादन करनेवाले मेघ के अवयवों को छिन्न-भिन्न कर देता है।

भावार्थ—भोजन में स्वाद को मापक न बनाकर मैं स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से खाता हूँ। इसप्रकार शक्ति का सम्पादन करके, वज्रतुल्य दृढ़ शरीरवाला होकर मैं शत्रु के कन्धों को काट डालता हूँ।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वज्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सं-पान-संगरण

यत्पिबा॑मि॒ सं पि॑बामि समु॒द्रइ॑व संपि॒बः।
प्रा॒णान॒मुष्य॑ सं॒पाय॒ सं पि॑बामो अ॒मुं व॒यम्॥ २ ॥
यद्गिरा॑मि॒ सं गि॑रामि समु॒द्रइ॑व संगि॒रः।
प्रा॒णान॒मुष्य॑ सं॒गीर्य॒ सं गि॑रामो अ॒मुं व॒यम्॥ ३ ॥

१. **यत् पिबामि**=मैं जो जल पीता हूँ तो **संपिबामि**=शत्रु का निग्रह करके उसके रस को ही पी जाता हूँ, उसी प्रकार **इव**=जैसेकि **समुद्रः**=समुद्र नदीमुख से सारे जल को लेकर **संपिबः**=सम्यक् पी जाता है। **वयम्**=हम भी **अमुष्य**=उस शत्रु के **प्राणान् संपाय**=प्राणापान आदि व्यापार को पीकर **अमुम्**=उस शत्रु को ही **संपिबामः**=पी जाते हैं। २. **यत् गिरामि**=जो कुछ मैं खाता हूँ तो **संगिरामि**=शत्रु को ही निगल जाता हूँ। **इव**=जैसेकि **समुद्रः**=समुद्र **संगिरः**=नदी-जल को निगीर्ण कर लेता है। **वयम्**=हम भी **अमुष्य**=उस शत्रु के **प्रणान् संगीर्य**=प्राणों को निगलकर **अमुं संगिरामः**=उस शत्रु को ही निगल जाते हैं।

भावार्थ—हम खाते-पीते इस दृष्टिकोण को न भूलें कि इस खान-पान से शक्ति का सम्पादन करके शत्रुओं को ही खा-पी जाना है, स्वाद का दृष्टिकोण तो हमें ही शत्रुओं का शिकार बना देगा।

विशेष—स्वस्थ शरीर के लिए वीतहव्य=पवित्र पदार्थों को खानेवाला ही होना चाहिए। यह 'वीतहव्य' शरीर को स्वस्थ बनाता हुआ अपने केशों को भी सुदृढ़ बनाता है। अगले दो सूक्तों का ऋषि यही है।

१३६. [षट्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वीतहव्यः (केशवर्धनकामः)**॥ देवता—**नितत्नी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—१ **अनुष्टुप्**; २ **द्विपदासाम्नीबृहती (एकावसाना)**॥

नितत्नी

देवी देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे।
तां त्वा नितत्नि केशेभ्यो दृंहणाय खनामसि॥ १॥
दृंह प्रत्नान् जनयाजातान् जातानु वर्षीयसस्कृधि॥ २॥

१. हे **ओषधे**=नितत्नी नामक ओषधे! तू **देवी**=रोगों को जीतने की कामनावाली है, **देव्यां पृथिव्याम् अधिजाता असि**=तू दिव्य गुणों से युक्त इस पृथिवी में उत्पन्न हुई है। हे **नितत्नि**=नितन्वाने=न्यक् प्रसरणशीले—नीचे की ओर फैलनेवाली ओषधे! **तम् त्वा**=उस तुझे **केशेभ्यः दृंहणाय**=केशों के दृढ़ीकरण के लिए **खनामसि**=खोदकर संग्रहीत करते हैं। २. हे ओषधे! तू **प्रत्नान्**=पुरातन केशों को **दृंह**=दृढ़ कर, **अजातान् जनय**=अनुत्पन्न केशों को उत्पन्न कर और **जातान् उ**=पैदा हुए-हुए को भी **वर्षीयसः कृधि**=प्रवृद्धतम व आयततम कर—दीर्घ बना।

भावार्थ—नितत्नी नामक ओषधि के द्वारा केशों से सम्बद्ध विकारों को दूर किया जा सकता है। यह पुराने बालों को दृढ़ करती है, अजातों को उत्पन्न करती है तथा उत्पन्न बालों को लम्बा करने का साधन बनती है। इसी से इसका नाम नितत्नी हुआ है।

ऋषिः—**वीतहव्यः (केशवर्धनकामः)**॥ देवता—**नितत्नी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विश्वभेषजी

यस्ते केशोऽवपद्यते समूलो यश्च वृश्चते।
इदं तं विश्वभेषज्याभि षिञ्चामि वीरुधा॥ ३॥

१. हे कृशदृंहणकाम पुरुष! **यः ते केशः अवपद्यते**=जो तेरा बाल बीच में ही टूटकर भूमि पर गिर पड़ता है **च**=और **यः समूलः वृश्चते**=जो जड़सहित छिन्न हो जाता है। **इदम्**=(इदानीम्) अब **तम्**=उस सब केश को **विश्वभेषज्या**=केशाश्रित सब रोगसमूह की निवर्तिका **वीरुधा**=ओषधि से **अभिषिञ्चामि**=अभितः सिक्त करता हूँ। इस औषध-प्रयोग से केशाश्रित सब रोगसमूह निवृत्त हो जाता है।

भावार्थ—इस विश्वभेषजी (नितत्नी) के प्रयोग से केशों के समस्त रोग दूर हो जाते हैं।

१३७. [सप्तत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वीतहव्यः (केशवर्धनकामः)**॥ देवता—**नितत्नी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जमदग्नि वीतहव्य

यां जमदग्निरखनद्दुहित्रे केशवर्धनीम्। तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्यः॥ १॥

१. **यां केशनवर्धनीम्**=जिस केशों को बढ़ानेवाली ओषधि को **जमदग्निः**=(जमत् इति ज्वलतिकर्मसु—नि० १.१७, ज्वलन्तः अग्नयो यस्य) जिसके घर में यज्ञाग्नि सदा प्रज्वलित रहती है, वह जमदग्नि **दुहित्रे अखनत्**=दुहिता के लिए खोदता है, **ताम्**=उस ओषधि को **यः वीतहव्यः**=हव्य पदार्थों का ही सेवन करनेवाला **असितस्य गृहेभ्यः**=असित के—कृष्ण केशों के ग्रहण के लिए **आभरत्**=लाता है (आहरत्)।

भावार्थ—बालों के प्रपूरण (दुहित्र=दुह प्रपूरणे) के लिए तथा काला रखने के लिए (असितस्य) यह केशवर्धनी ओषधि उपयोगी है। बालों के रोगों को दूर करने के लिए यज्ञशील होना (जमदग्नि) तथा भोजन में हव्य पदार्थों का ही प्रयोग (वीतहव्य) भी आवश्यक है।

ऋषिः—**वीतहव्यः (केशवर्धनकामः)**॥ देवता—**नितत्नी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अभीशुना व्यामेन

अभीशुना मेया आसन्व्यामेनानुमेयाः।
केशा नडाइव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि॥ २॥
दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे।
केशा नडाइव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि॥ ३॥

१. हे केशाभिवृद्धिकाम पुरुष! तेरे बाल जो पहले **अभीशुना**=अंगुलियों में **मेयाः आसन्**=चार अंगुल—इसप्रकार मापने योग्य थे। अब **व्यामेन**=प्रसारित हस्तद्वय परिमाण से **अनुमेयाः**=परिच्छेद्य (मापने योग्य) हो गये हैं। हे **ओषधे**=ओषधे! तू **मूलं दृंह**=केशों के मूल को दृढ़ कर, **अग्रम् आयच्छ**=इन केशों के अग्रभाग को आयामयुक्त कर तथा **मध्यं वियामय**=(यमय) मध्यभाग को विशेषरूप से स्थिर कर। २. हे पुरुष! **ते**=तेरे **शीर्ष्णः परि**=सिर के चारों ओर **असिताः केशाः**=ये काले-काले बाल **नडाः इव वर्धन्ताम्**=तृणविशेषों की भाँति खूब बढ़ जाएँ।

भावार्थ—केशवर्धनी के प्रयोग से अंगुलियों से मापने योग्य बाल हाथों से मापने योग्य हो जाते हैं। उनका मूल, अग्र व मध्य—सब दृढ़ व आयत हो जाता है। ये काले-काले बाल नड़ों (तृणों) की भाँति बढ़ जाते हैं।

विशेष—अगले तीन सूक्तों का ऋषि 'अथर्वा' है—स्थिर वृत्तिवाला। यह अपने को स्वस्थ व शक्तिशाली बनाता है।

१३८. [अष्टात्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'श्रेष्ठतमा अभिश्रुता' वीरुध्

त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे। इमं मे अद्य पूरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि॥ १॥

१. हे **ओषधे**=दोषों का दहन करनेवाली ओषधे! **त्वम्**=तू **वीरुधाम्**=सब लताओं में **श्रेष्ठतमा**=सर्वश्रेष्ठ **अभिश्रुता असि**=विख्यात है। तू **मे**=मेरे **इमम्**=इस **क्लीबम् पुरुषम्**=बलहीन पुरुष को **अद्य**=आज **ओपशिनं कृधि**=(ओपश A kind of head ornament) शिरोभूषणवाला कर दे। क्लीबता के कारण यह झुके हुए सिरवाला न होकर, सशक्त बनकर अलंकृत मस्तिष्कवाला हो।

भावार्थ—उत्तम ओषधि-सेवन से यह बलहीन पुरुष सबल बन जाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ओपशिनं कुरीरिणम्

क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि।
अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्ड्यौ ॥ २॥

१. हे ओषधे! तू **क्लीबम्**=इस बलहीन पुरुष को **ओपशिनं कृधि**=शिरोभूषणवाला कर दे। यह सशक्त बनकर अलंकृत मस्तिष्कवाला हो, **अथो**=और इस पुरुष को **कुरीरिणं कृधि**=प्रशस्त

कर्मोंवाला कर दे (कुञ उच्च—उणा० ४.३३) शक्तिशाली बनकर यह क्रियाशील हो। २. **अथ**=अब **इन्द्रः**=रोगरूप शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला यह उत्तम वैद्य **ग्रावभ्याम्**=पाषाणों द्वारा **अस्य उभे आण्ड्यौ**=इसके दोनों अण्डकोशों के रोगों को **भिनत्तु**=विदीर्ण कर दे।

भावार्थ—ओषधि-प्रयोग से इस रोगी की क्लीबता दूर हो, यह अलंकृत मस्तिष्कवाला बने, क्रियाशील हो, इसके अण्डकोशों का रोग दूर हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

कुरीरं, कुम्बम्

क्लीब क्लीबं त्वाकरं वध्रे वध्रिं त्वाकरमरसारसं त्वाकरम्।
कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधिनिदध्मसि॥ ३॥

१. वैद्य रोग को सम्बोधित करते हुए कहता है—**क्लीब**=हे निर्बलता के रोग! **त्वा क्लीबम् अकरम्**=तुझे निर्बल करता हूँ। **वध्रे**=हे शक्तिबन्धक रोग! **त्वा वध्रिम् अकरम्**=तुझे शक्तिहीन करता हूँ। हे **अरस**=नीरस (शुष्क) करनेवाले रोग! मैंने **त्वा अरसम् अकरम्**=तुझे नीरस कर दिया है। २. इसप्रकार रोग को नीरस करके **अस्य**=इस पुरुष के जीवन में **कुरीरम्**=क्रियाशीलता को **च**=तथा **शीर्षणि**=मस्तिष्क में **कुम्बम्**=शत्रुओं के आक्रमण से बचानेवाली सुगहन बाढ़ को **अधिनिदध्मसि**=हम स्थापित करते हैं।

भावार्थ—क्लीबता को दूर करके वैद्य रोगी को स्वस्थ कर इसे खूब क्रियाशील व ज्ञानवाला बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विकृत वीर्य-नाड़ियों का छेदन

ये ते नाड्यौ देवकृते ययोस्तिष्ठति वृष्ण्यम्।
ते ते भिनद्मि शम्ययामुष्या अधि मुष्कयोः॥ ४॥

१. **ये**=जो **ते**=तेरी **नाड्यौ**=दो नाड़ियाँ **देवकृते**=(दिव क्रिडायाम्=कुञ हिंसायाम्) विषय-क्रीड़ा के कारण हिंसित-सी हो गई हैं, **ययोः वृष्ण्यम् तिष्ठति**=जिनमें वीर्य की स्थिति है, **ते**=तेरी **ते**=उन हिंसित नाड़ियों को **अधिमुष्कयोः**=अण्डकोशों के ऊपर **अमुष्याः**=उस स्वस्थ नाड़ी **शम्यया**=युगकीलक-तुल्य शस्त्र के द्वारा **भिनद्मि**=अलग करता हूँ। इन नाड़ियों के पार्थक्य के द्वारा विषय-उन्माद को दूर करता हूँ।

भावार्थ—यदि विषय-क्रीड़ा के कारण वीर्यवाहिनी नाड़ियाँ दूषित हो गई हैं, तो वैद्य उनका छेदन करके इस रोगी को विषय-उन्मादशून्य करने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विषय-उन्माद निरास

यथा नडं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना।
एवा भिनद्मि ते शेपोऽमुष्या अधि मुष्कयोः॥ ५॥

१. **यथा**=जैसे **स्त्रियः**=स्त्रियाँ **कशिपुने**=(कटं निर्मातुम्) चटाई बनाने के लिए **नडम्**=नरकट घास को—तृणविशेष को **अश्मना भिन्दन्ति**=पत्थर से विदीर्ण करती (कूटती) हैं, **एव**=इसीप्रकार **अधिमुष्कयोः**=अण्डकोशों के ऊपर **ते शेपः**=तेरी जननेन्द्रिय को **अमुष्याः भिनद्मि**=उस स्वस्थ नाड़ी से अलग विदीर्ण करता हूँ। इसप्रकार विषयोन्माद को समाप्त करके वैद्य रुग्ण पुरुष को

स्वस्थ व सबल बनाने का यत्न करे।

१३९. [एकोनचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाविराड्जगती** ॥

सुभगंकरणी 'न्यस्तिका'

न्यस्तिका रुरोहिथ सुभगंकरणी मम।
शतं तव प्रतानास्त्रयस्त्रिंशन्नितानाः। तया सहस्रपर्ण्या हृदयं शोषयामि ते॥ १॥

१. एक युवक विद्या आदि गुणों से अपने को इसप्रकार सुशोभित करे कि एक युवति उसके गुणों को सुनकर उसके प्रति प्रेमवाली हो। वह उसे ही जीवन-साथी के रूप में प्राप्त करने की कामनावाली हो। इसीप्रकार युवति के गुण युवक को प्रेमयुक्त करें। युवक कहता है **न्यस्तिका**=निश्चय से दीप्त होनेवाली (अस् दीप्तौ) अथवा अविद्यान्धकार को परे फेंकनेवाली (अस् क्षेपणे) विद्या का **रुरोहिथ**=मुझमें प्रादुर्भाव हुआ है। यह विद्या **मम सुभगंकरणी**=मेरा सौभाग्य बढ़ानेवाली है। २. हे विद्ये! **शतं तव प्रतानाः**=तेरे सैकड़ों प्रतान—फैलाव हैं, अर्थात् शतवर्षपर्यन्त (आजीवन) होनेवाले तेरे प्रतान हैं, तेरे **त्रयः त्रिंशत्**=तेतीस **नितानाः**=नियमित विस्तार हैं, तेतीस देव तेरे ज्ञान का विषय बनते हैं। हे युवति! **तया सहस्रपर्ण्या**=उस सहस्रों प्रकार से पालन करनेवाली विद्या से **ते हृदयं शोषयामि**=तेरे हृदय को शुष्क करता हूँ—अपने प्रति प्रेमाकुल करता हूँ।

भावार्थ—एक युवक अपने में विद्यादि गुणों का प्रादुर्भाव करके एक युवति को अपने प्रति प्रेममग्न करने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परस्पर प्रेमाकुलता

शुष्यतु मयि ते हृदयमथो शुष्यत्वास्य॑म्।
अथो नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर॥ २॥

१. हे युवति! ते **हृदयम्**=तेरा हृदय **मयि शुष्यतु**=मेरे विषय में प्रेमान्वित होकर शुष्क हो जाए **अथो आस्यं शुष्यतु**=और मेरे वियोग में तेरा मुख भी शुष्कतावाला **अथो**=और **माम्**=मुझे भी तू **कामेन**=तेरे प्रति प्रेम से **निशुष्य**=शुष्क करके स्वयं भी **अथो**=अब **शुष्कास्या**=शुष्क मुखवाली होकर **चर**=विचर।

भावार्थ—विद्यादि गुणों से अलंकृत युवक व युवति एक-दूसरे के गुणश्रवण से प्रेमाकुलता अनुभव करें और एक-दूसरे को जीवन-साथी बनाने का निश्चय करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अन्योन्य हृदयाकर्षण

संवननी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद।
अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि॥ ३॥

१. हे **बभ्रु**=जीवन में हमारा भरण करनेवाली! **कल्याणि**=मंगलकारिणि विद्ये! तू **संवननी**=सम्यक् सेवनीय व हमें **समुष्पला**=(सं वस् पल गतौ रक्षणे च) उत्तम निवास की ओर ले-जानेवाली है। तू **संनुद**=हमें सम्यक् प्रेरित कर। २. **अमूं च मां च संनुद**=उस युवति को और मुझे एक-दूसरे के प्रति प्रेरित कर। **समानं हृदयं कृधि**=हमें समान हृदयवाला बना।

मेरा हृदय उस युवति का हृदय हो, उस युवति का हृदय मेरा हृदय हो।

भावार्थ—युवक व युवति विद्यादि गुणों से एक-दूसरे के हृदय को अपने प्रति आकृष्ट करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रेमजल के अभाव में शुष्कास्यता

यथोदकमपपुषोऽ पशुष्यत्यास्य ∫ म्।
एवा नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर॥ ४॥

१. **यथा**=जैसे **उदकम् अपपुषः**=जल न पीनेवाले पुरुष का **आस्यम् अपशुष्यति**=मुख सूख जाता है, **एव**=इसीप्रकार हे युवति! तू **माम्**=मुझे अपने प्रति **कामेन निशुष्य**=दीप्त प्रेम से सुखाकर **अथो**=अब स्वयं भी मेरे प्रति प्रेम से **शुष्कास्या चर**=शुष्क मुखवाली होकर विचर।

भावार्थ—जैसे प्यासे को जल का ही ध्यान रहता है, इसीप्रकार ये युवक और युवति परस्पर एक-दूसरे की प्राप्ति की कामनावाले हों ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पवित्र प्रेम

यथा नकुलो विच्छिद्य सन्दधात्यहिं पुनः।
एवा कामस्य विच्छिन्नं सं धेहि वीर्यावति॥ ५॥

१. **यथा**=जैसे नकुलः (न-कुला आदाने) कुत्सित कर्मों का आदान न करनेवाला व्यक्ति **अहिं विच्छिद्य**=(आहन्ति) विनाशक वासना को विच्छिन्न करके **पुनः संदधाति**=फिर अपना सम्यक् धारण करता है, एव उसी प्रकार हे **वीर्यावति**=प्रशस्त बलवाली युवति! तू **कामस्य विच्छिन्नं संधेहि**=काम के—प्रेमाकुलता के घाव को भरनेवाली हो, अर्थात् तुझे प्राप्त करके मैं स्वस्थ हो जाऊँ। तेरे प्रति मेरा प्रेम वासनात्मक न होकर पवित्र हो।

भावार्थ—एक युवक का युवति के प्रति पवित्र प्रेम उसका धारण करनेवाला बनता है।

१४०. [चत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, दन्ताः** ॥ छन्दः—**उरोबृहती** ॥

दन्तौ न कि व्याघ्रौ

यौ व्याघ्रावरूढौ जिघत्सतः पितरं मातरं च।
तौ दन्तौ ब्रह्मणस्पते शिवौ कृणु जातवेदः॥ १॥

१. **यौ**=जो दाँत **व्याघ्रौ**=भेड़िये के समान **अवरूढौ**=उत्पन्न हुए-हुए **पितरं मातरं च जिघत्सतः**=पिता व माता को खाना चाहते हैं, अर्थात् मांसाहार में प्रवृत्त होते हैं, हे **जातवेदः**=(जाते-जाते विद्यते) सर्वव्यापक **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन्! प्रभो! **तौ दन्तौ**=हमारे उन दाँतों को **शिवौ कृणु**=कल्याणकर कीजिए, उनमें मांसाहार की प्रवृत्ति ही न हो। २. वस्तुतः मांसाहार से स्वार्थ की भावना बढ़ती है और गतसूक्त में वर्णित युवक-युवति का परस्पर पवित्र प्रेम होना सम्भव नहीं रहता। पवित्र प्रेम के लिए सात्त्विक अन्न का सेवन आवश्यक है।

भावार्थ—हमारी ऊपर-नीचे की दन्तपंक्तियाँ मांसाहार से दूर ही रहें। ये व्याघ्र न बन जाएँ। मांसाहार से दूर रहने में ही कल्याण है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः, दन्ताः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिष्मतीत्रिष्टुप्** ॥

व्रीहि, यव, माष, तिल

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च॥ २॥

१. हे दन्तपंक्तियो! **व्रीहिम् अत्तम्**=चावल खाओ, **यवम् अत्तम्**=जौ खाओ, **अथो**=और **माषम्**=उड़द **अथो**=तथा **तिलम्**=तिल खाओ। हे **दन्तौ**=दन्तपंक्तियो! **एषः**=यह ही **वाम्**=आपका **भागः**=भाग **रत्नधेयाय**=शरीर में 'रस, रुधिर, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा व वीर्य' रूप सात रत्नों के धारण के लिए **निहितः**=स्थापित किया गया है। २. हे दाँतो! आप **पितरं मातरं च**=पिता और माता को **मा हिंसिष्टम्**=हिंसित मत करो। जहाँ मातृत्व व पितृत्व का सम्भव है, वह वस्तु तुम्हारा भोजन न बने, अर्थात् तुम मांसाहार से सर्वथा दूर रहो।

भावार्थ—हे दाँतो! तुम्हारा भोजन 'चावल, जौ, उड़द व तिल' है। तुम्हें मांसाहार से दूर रहना है। इसी से शरीर में रस-रुधिर आदि रत्नों का स्थापन होगा।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, दन्ताः** ॥ छन्दः—**आस्तारपंक्तिः** ॥

'स्योनौ सयुजौ' दन्तौ

उपहूतौ सयुजौ स्योनौ दन्तौ सुमङ्गलौ।
अन्यत्र वां घोरं तन्व१ः परैतु दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च॥ ३॥

१. हे **दन्तौ**=दोनों दन्तपंक्तियो! आप **उपहूतौ**=(समीपं आहूतौ) एक-दूसरे के समीप पुकारे जाओ, **सयुजौ**=(समानं युञ्जानौ) मिलकर कार्य करनेवाले होओ। **स्योनौ**=सुख देनेवाले व **सुमंगलौ**=उत्तम मंगल के हेतु बनो। २. **वाम्**=आपका **घोरम्**=मांसाहाररूप घोरकर्म **तन्वः अन्यत्र**=हमारे शरीर से अन्यत्र ही **परैतु**=सुदूर स्थान में चला जाए। हे **दन्तौ**=दाँतो! तुम **पितरं मातरं च मा हिंसिष्टम्**=पिता व माता को हिंसित मत करो, अर्थात् किसी भी प्राणी का मांस मत खाओ।

भावार्थ—हमारे दाँत मिलकर मङ्गल कार्य करनेवाले हों। ये मांसाहार से दूर ही रहें। मांसाहाररूप घोर कर्म हमारे शरीर से दूर ही रहे।

विशेष—मांसाहार से दूर रहता हुआ, सबके प्रति प्रेमवाला यह व्यक्ति 'विश्वामित्र' कहलाता है। यही अगले दो सूक्तों का ऋषि है। इस विश्वामित्र का भोजन 'गोदुग्ध' व 'यव' हैं। इन्हीं का अगले सूक्तों में उल्लेख है।

१४१. [एकचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गोदुग्ध सेवन

वायुरेनाः समाकरत्त्वष्टा पोषाय ध्रियताम्।
इन्द्र आभ्यो अधि ब्रवद्रुद्रो भूम्ने चिकित्सतु॥ १॥

१. **वायुः**=वायु **एनाः**=इन हमारी गौओं को **समाकरत्**=संघशः अपने में प्राप्त कराए, अर्थात् ये गौएँ खुली वायु में भ्रमण (चारागाहों में चरने) के लिए जाएँ—'वायुर्येषां सहचारं जुजोष', **त्वष्टा**=पशु के रूप को बनानेवाला यह सूर्य **पोषाय**=अभिवृद्धि के लिए इन गौओं को **ध्रियताम्**=धारण करे। **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **आभ्यः**=इनके रक्षण के लिए **अधिब्रवत्**=आधिक्येन उपदेश

करता है। वेद में गोपालन का स्थान-स्थान पर उपदेश किया गया है। **रुद्रः**=रोगों का चिकित्सक **भूम्ने**=इनके बाहुल्य के लिए **चिकित्सतु**=इनकी व्याधियों का प्रतीकार करे।

भावार्थ—हमारी गौएँ खुली वायु में चारागाहों में चरने के लिए जाएँ। सूर्य अपनी किरणों द्वारा इनमें प्राणशक्ति का धारण करे। प्रभु (राजा) इनके दुग्ध के सेवन के लिए हमें उपदेश दे। रुद्र (पशुचिकित्सक) इनके रोगों को दूर करनेवाला हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गोवत्सों का कर्णवेध

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि।
अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु॥ २॥

१. हे गोपाल! **लोहितेन**=लोहितवर्ण ताम्रविकार **स्वधितिना**=शस्त्र से **कर्णयोः**=वत्स-सम्बन्धी कानों में **मिथुनं कृधि**=स्त्री-पुंसात्मक चिह्न कर। **अश्विनौ**=गृहस्थ दम्पती (माता-पिता) **लक्ष्म अकर्ताम्**=इस चिह्न को करें। **तत्**=वह चिह्न **प्रजया बहु अस्तु**=पुत्र-पौत्रादि प्रजा से समृद्ध हो, अर्थात् कानों में किया गया वह चिह्न हमारे गोधन की समृद्धि का कारण बने।

भावार्थ—अपनी गौओं के बछड़ों के कानों में गृहस्थ दम्पती गोपालों द्वारा ताम्रशस्त्र से चिह्न कराएँ (कर्णवेध कराएँ)। यह चिह्न गोसन्तति की वृद्धि के लिए आवश्यक है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देव-असुर-मनुष्य

यथा चक्रुर्देवासुरा यथा मनुष्या ऽ उत।
एवा सहस्रपोषाय कृणुतं लक्ष्माश्विना॥ ३॥

१. सामान्य मनुष्य यदि 'मनुष्य' शब्द वाच्य हैं, तो उत्तम मनुष्य 'देव' तथा अधम 'असुर' कहलाते हैं। ये क्रमशः राजस्, सात्त्विक व तामस् होते हुए भी गौओं को रखते हैं और अपने गोवत्सों के कानों पर स्त्री-पुंसात्मक चिह्नों को करते हैं। **यथा**=जैसे **देवासुराः**=देव व असुर **चक्रुः**=करते हैं, **उत**=और **यथा**=जैसे **मनुष्याः**=सामान्य मनुष्य भी करते हैं, **एव**=उसी प्रकार **अश्विना**=गृहस्थ दम्पती **लक्ष्म कृणुतम्**=गोवत्सों के कर्णों पर चिह्नों को करें, जिससे **सहस्रपोषाय**=सहस्रों की संख्या में उनका पोषण हो।

भावार्थ—हम 'सात्त्विक, राजस् व तामस्' इनमें से किसी भी श्रेणी में हों, गौओं को रक्खें। उनके वत्सों के कर्णों पर लक्ष्म (चिह्न) बनाएँ, जिससे उनका सहस्रशः पोषण होता रहे।

१४२. [द्विचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यव द्वारा रोगकृमि विनाश

उच्छ्रयस्व बहुर्भव स्वेन महसा यव।
मृणीहि विश्वा पात्राणि मा त्वा दिव्याशनिर्वधीत्॥ १॥

हे **यव**=जौ! तू **उच्छ्रयस्व**=ऊपर उठ—प्ररूढ होकर उन्नत हो **बहुः भव**=तू अनेकविध व बहुत हो, **स्वेन महसा**=अपने तेज से—रस-वीर्य से **विश्वा पात्राणि**=(पा रक्षणे, रक्षितव्यम् अस्मात् रक्षांसि) सब रोगकृमियों को **मृणीहि**=नष्ट कर डाल। **दिव्या अशनिः**=आकाश से गिरनेवाली विद्युत् **त्वा मा वधीत्**=तुझे हिंसित न करे।

भावार्थ—हमारे क्षेत्रों में जौ की खूब उत्पत्ति हो। यह यव अपनी प्राणशक्ति से (यवे ह प्राण अहितः) शरीरस्थ रोगकृमियों को नष्ट करे। हमारे यव-क्षेत्र विद्युत् गिरने से नष्ट न हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वायुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

समुद्र के समान अक्षीण

आशृण्वन्तं यवं देवं यत्र त्वाच्छावदामसि।
तदुच्छ्रयस्व द्यौरिव समुद्रइवैध्यक्षितः॥ २॥

१. यह 'यव' देव हमारी प्रार्थना को सुनता है। **आशृण्वन्तम्**=हमारी प्रार्थना को सुनते हुए **यवं देवम्**=इस 'यव' देव को **यत्र त्वा अच्छ आवदामसि**=जिस भूमि पर तुझे लक्ष्य करके प्रार्थना करते हैं कि **तत्**=वह तू **द्यौ इव उच्छ्रयस्व**=आकाश की भाँति उन्नत हो, समस्यावस्था में खूब फूल-फलवाला और फलावस्था में **समुद्रइव अक्षितः एधि**=समुद्र के समान क्षयरहित हो।

भावार्थ—ये देवयव—दिव्य गुणयुक्त जौ—रोगों को पराजित करनेवाले जौ-क्षेत्रों में खूब उन्नत हों—आकाश में खूब ऊपर उठें और इनका फल समुद्र के समान अक्षीण हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वायुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यव व अक्षीणता

अक्षितास्त उपसदोऽक्षिताः सन्तु राशयः।
पृणन्तो अक्षिताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिताः॥ ३॥

१. हे यव! **ते उपसदः**=तेरे रक्षण के लिए तेरे समीप बैठनेवाले रक्षकलोग **अक्षिताः**=विनष्ट न हों। **राशयः अक्षिताः सन्तु**=हे यव! तेरे धान्यसमूह कभी क्षीण न हों, **पृणन्तः**=तेरे द्वारा घरों का पूरण करनेवाले **अक्षिताः सन्तु**=अक्षीण हों, **अत्तारः अक्षिताः सन्तु**=तेरा भोजन करनेवाले पुरुष भी अक्षीण हों।

भावार्थ—यव खानेवाले कभी क्षीण नहीं होते, अतः राष्ट्र में यव के उत्पादन पर बल दिया। राष्ट्रं यवः (तै० ३.९.७२) इस वाक्य से यह स्पष्ट है कि यव का राष्ट्रोन्नति से विशेष सम्बन्ध है। सेनान्यं वा एतदोषधीनां यद् यवाः—ऐ० ८.१६ में यव को ओषधियों का मुखिया कहा है।

॥ इति षष्ठं काण्डम्॥